रागायनमः ।

ना-कथाकोश ।

पहला भाग ।

ब्रह्मचारी-श्रीमन्नेमिदत्तके संस्कृत आराधना-
कथाकोशका स्वतंत्र हिन्दी अनुवाद ।

अनुवादक—

पंडित उदयलाल काशलीवाल ।

प्रकाशक—

जैनमित्र कार्यालय हीराबाग ।

वीरनिर्वाण सं० २४४० ।

प्रथम संस्करण]   [मूल्य १।

Printed by
Ganpat Narayen Kulkarni at his Karnatak Press,
No 7, Girgaum Back Road, Bombay
and
Published by
Brahmachari Sitalprasad Editor, Jain Mitra,
at Hirabagh, opposite to C. P. Tank, Bombay.

ॐ

यह पवित्र भेंट

खण्डेलवाल-कुलतिलक

श्रीयुत पंडित धन्नालालजी काशलीवालके

चरणकमलोंमें लेखक द्वारा सभक्ति

समर्पित हुई ।

पूज्यपाद,

आपके उपकारोंके भारने मुझे यह पवित्र और धार्मिक भेंट लेकर आपके सम्मुख उपस्थित किया है, आप इसे स्वीकार कर मेरे हृदयको पुण्यमय आशीर्वाद-सुधाधारासे परिप्लुत कीजिये ।

विनीत—

उदयलाल काशलीलाल ।

कथाओंकी सूची।

दो अशुद्धियां।

पृष्ट १६२ में पंक्ति १९ से-"मुनिराज श्रीवन्दकको अपने स्थानपर लिवा ले गये" ऐसा लिखा है, वह ठीक नहीं है। वहां केवल इतना ही समझना चाहिये कि-"मुनिराजने श्रीवन्दकको धर्मोपदेश देकर श्रावक बना लिया और आप अपने स्थानपर चले गये।"

इसी तरह पृष्ट १७९ पंक्ति ३ से-" गुवाल अपने घर गया और आधी रात-के समय अपनी स्त्रीको लेकर पीछा मुनिराजके पास आया।" ऐसा लिखा है, वह गल्तीसे लिखा गया है। इस जगह इतना समझना चाहिये कि-"गुवाला अपने घर चला गया। जब कुछ रात बाकी रही, तब वह अपनी गायोंको लेकर चरानेको चला। वह मुनिराजके पास फिर आया।"

प्रस्तावना।

आराधना कथाकोश कई आचार्योंने बनाये हैं। हमारी इच्छा किसी अधिक प्राचीन कथाकोशके प्रकाशित करनेकी थी, पर प्रयत्न करने पर और कई सरस्वती भवनोंको लिखनेसे भी जब किसी प्राचीन आचार्यका बनाया कथाकोश नहीं मिला, तब लाचार होकर हमें श्रीयुत ब्रह्मचारी नेमिदत्तका बनाया कथाकोश ही प्रकाशित करना पड़ा। यद्यपि इसमें भी कथायें वे ही हैं, परन्तु इसकी कथाओंमें संक्षेप अधिक किया जानेसे साहित्य-सौन्दर्यकी दृष्टिसे कुछ कमी है—कथा-नायकोंके बोल-चाल, और परस्परमें वार्तालापके ढंगको इससे और भी सुश्रीक होनेकी आवश्यकता थी। हमने अपने हिन्दी अनुवादमें उन संक्षिप्त कथाओंको पल्लवित करनेका कुछ यत्न अपनी ओरसे किया है, पर उसमें हम कहांतक सफल हुए हैं और वह पाठकोंको कहांतक पसन्द पड़ेगा, इसका भार हम अपने सुविज्ञ पाठकोंपर ही छोड़ते हैं। यदि हमारा यह यत्न पाठकोंको पसन्द पड़ा तो हम अपने श्रमको सफल समझेंगे। इसके सिवा उनसे हमारी यह भी प्रार्थना है कि हमारे इस प्रयासमें उन्हें कोई त्रुटि जान पड़े तो वे निडर और निस्संकोच होकर उस विषयमें अपनी अपनी सम्मति प्रगट करें।

उदाहरणके लिये हम यहांपर एक दो प्रकरणोंका उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। पृष्ठ ७५ में अनन्तमतीकी कथा पढ़िये। अनन्तमती एक सेठकी लड़की है। वह बाल ब्रह्मचारिणी है। उसे एक विद्याधर कामवासनाके वश होकर उड़ा ले जाता है। पर बाद ही वह अपनी स्त्रीके आजानेसे अनन्तमतीको एक भयंकर बनीमें छोड़ देता है। वहांसे एक भीलोंका राजा अनन्तमतीको अपने घर ले जाता है और

उससे बलात्कार करना चाहता है। अनन्तमतीके शीलके प्रभावसे एक पुरदेवी आकर उसे बचाती है और भीलराजको उसके पापका दण्ड देती है। भीलराज डरकर अनन्तमतीको एक सेठके हाथ सौंप देता है। सेठ भी उसके त्रिभुवन-सुन्दर रूपको देखकर उसपर अपनी पाप-वासना प्रगट करता है। वह कहता है:—

"सुन्दरि, तुम बड़ी भाग्यवती हो, जो एक नरपिशाचके हाथसे छूटकर पुण्य पुरुषके सुपुर्द हुई। कहां तो यह तुम्हारी अनिन्द्य स्वर्गीय सुन्दरता और कहाँ वह भीम राक्षस कि जिसे देखते ही हृदय काँप उठता है। मैं तो आज अपनेको देवोंसे भी कहीं बढ़कर भाग्यशाली समझता हूँ, जो मुझे अनमोल स्त्रीरत्न सुलभताके साथ प्राप्त हुआ। भला विना महाभाग्यके कहीं ऐसा रत्न मिल सकता है? सुन्दरि, देखती हो, मेरे पास अटूट धन है, अनन्त वैभव ह, पर उस सबको तुमपर न्यौछावर करनेको तैयार हूं और तुम्हारे चरणोंका अत्यन्त दास बनता हूं। कहो मुझपर प्रसन्न हो न? मुझे अपने हृदयमें जगह दोगी न? दो, और मेरे जीवनको, मेरे धन-वैभवको सफल करो।

अनंतमतीने समझा था कि इस भले मानसकी कृपासे मैं सुख-पूर्वक पिताजीके पास पहुंच जाऊंगी, पर वह बेचारी पापियोंके पापी हृदयकी बातको क्या जाने? उसे जो मिलता था, उसे वह भला ही समझती थी। यह स्वाभाविक बात है कि अच्छेको संसार अच्छा ही दिखता है। अनन्तमतीने पुष्पक सेठकी पापपूर्ण बातें सुनकर बड़े कोमल शब्दोंमें कहा-महाशय, आपको देखकर तो मुझे विश्वास हुआ था कि अब मेरे लिये कोई डरकी बात नहीं रही-मैं निर्विघ्न अपने घरपर पहुँच जाऊंगी। क्योंकि मेरे एक दूसरे पिता मेरी रक्षाके लिये आगये हैं। पर मुझे अत्यन्त दुःखके साथ कहना पड़ता है, कि आप सरीखे भले मानसके मुहँसे और ऐसी नीच बातें? जिसे मैंने रस्सी समझकर हाथमें लिया था, मैं नहीं समझती थी कि वह इतना भयंकर सर्प होगा। क्या बाहरी चमक-

दमक और सीधापना केवल दाम्भिकपना है, केवल बगुलोंकी हंसोंमें गणना करानेके लिये है? यदि ऐसा है तो मैं तुम्हें, तुम्हारे इस ठगी वेषको, तुम्हारे कुलको, तुम्हारे धन-वैभवको और तुम्हारे जीवनको धिक्कार देती हूं-अत्यन्त घृणाकी दृष्टिसे देखती हूं। जो मनुष्य केवल संसारको ठगनेके लिये ऐसे मायाचार करता है, बाहर धर्मात्मा बननेका ढोंग रचता है, लोगोंको धोखा देकर अपने मायाजालमें फँसाता है, वह मनुष्य नहीं है; किन्तु पशु है, पिशाच है, राक्षस है। वह पापी मुहँ देखने योग्य नहीं, नाम लेने योग्य नहीं। उसे जितना धिक्कार दिया जाय थोड़ा है। मैं नहीं जानती थी कि आप भी उन्हीं पुरुषोंमें एक होंगे। अनन्तमती और भी कहती, पर वह ऐसे कुलकलंक नीचोंके मुहँ लगाना उचित नहीं समझ चुप हो रही। अपने क्रोधको वह दबा गई।"

ऊपर जहांसे सेठकी उक्तिका उल्लेख है वह सब हमने अपनी ओ-रसे बढ़ाया है। मूल ग्रन्थमें इस सम्बन्धमें यों लिखा है कि-

"सोपि तद्रूपसंसक्तः प्रोवाच मलिनं वचः।
एतान्याभरणान्युच्चैर्नाना सद्वस्त्रसञ्चयम्।
गृहाण तव दासोस्मि मामिच्छेति प्रणष्टधीः॥
तयोक्तं यादृशं मेस्ति प्रियदत्तः पितापरः।
तादृशस्त्वमपि भ्रष्ट मा वादीः पापदं वचः॥

अर्थात्—अनन्तमतीकी सुन्दरता देखकर पुष्पक सेठने उससे कहा-इन भूषण और वस्त्रोंको तुम लेओ और मुझपर प्रसन्न होओ। मैं तुम्हारा दास हूं। तब अनन्तमतीने उससे कहा-हे भ्रष्ट, जैसे मेरे पिता प्रियदत्त हैं उसी प्रकार तू भी मेरे पिताके ही समान है, इसलिये ऐसे पापमय वचन मत कह।"

इसी प्रकार पृष्ठ १०५ में वारिषेणकी कथा पढ़िये। वारिषेण श्रेणिकका पुत्र है। वह बड़ा धर्मात्मा और वैरागी है। उसपर एक दिन

चोरीका झूठा अभियोग लगाया जाता है। श्रेणिक उसका धर्म कर्म सब एक प्रकारसे लोगोंको धोखा देनेवाला ढोंग समझकर और बड़े क्रोधमें आकर उसके मार डालनेकी आज्ञा देते हैं । वारिषेण वध्यभूमिमें ले-जाया जाता है। एक जल्लाद उसका सिर काटनेके लिये उसकी गरदनपर तलवार मारता है। वारिषेणका पुण्य-कर्म उसे बचाता है। तलवारका वार एक फूलमालाके कोमल आघातके रूपमें परिणत हो जाता है। सबको आश्चर्य होता है। देवता वारिषेणपर फूलोंकी वर्षा करते हैं । श्रेणिक इस वृत्तान्तसे प्रसन्न होते हैं, पर साथ ही अपने अज्ञानपर उन्हें बहुत पश्चात्ताप होता है । वे पुत्रके पास श्मशानमें आते हैं और वारिषेणसे अपने अज्ञानकी क्षमा करानेके लिये कहते हैं—

"श्रेणिक बहुत कुछ पश्चात्ताप करके पुत्रके पास श्मशानमें आये। वारिषेणकी पुण्यमूर्तिको देखकर उनका हृदय पुत्रप्रेमसे भर आया। उनकी आँखोंसे आंसू बह निकले। उन्होंने पुत्रको छातीसे लगाकर रोते रोते कहा—प्यारे पुत्र, मेरी मूर्खताको क्षमा करो ! मैं क्रोधके मारे अन्धा बन गया था; इसलिये आगे पीछेका कुछ सोच विचार न कर मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया। पुत्र, पश्चात्तापसे मेरा हृदय जल रहा है, उसे अपने क्षमारूप जलसे बुझाओ. दुःखके समुद्रमें मैं गोते खा रहा हूं, मुझे सहारा देकर निकालो।

अपने पूज्य पिताकी यह हालत देखकर वारिषेणको बड़ा कष्ट हुआ। वह बोला—पिताजी, आप अपराधी कैसे ? आपने तो अपने कर्त्तव्यका पालन किया है और कर्त्तव्य पालन करना कोई अपराध नहीं है। मान लीजिये कि यदि आप पुत्र प्रेमके वश होकर मेरे लिये ऐसे दंडकी आज्ञा न देते, तो उससे प्रजा क्या समझती ? चाहे मैं अपराधी नहीं भी था, तब भी क्या प्रजा इस बातको देखती ? वह तो यही समझती कि आपने मुझे अपना पुत्र जानकर छोड़ दिया। पिताजी, आपने बहुत ही बुद्धिमानी और दूर-दर्शिताका काम किया है। आपकी नीतिपरायणता देखकर मेरा

हृदय आनन्दके समुद्रमें लहरें ले रहा हैं। आपने पवित्र वंशकी आज लाज रख ली। यदि आप ऐसे समयमें अपने कर्त्तव्यसे जरा भी खिसक जाते तो सदाके लिये अपने कुलमें कलंकका टीका लग जाता। इसके लिये तो आपको प्रसन्न होना चाहिये, न कि दुखी। हाँ इतना जरूर हुआ कि मेरे इस समय पापकर्मका उदय था; इसलिये मैं निरपराधी होकर भी अपराधी बना। पर इसका मुझे कुछ खेद नहीं। क्योंकि—

अवश्यं ह्यनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम्।

(वादीभसिंह)

अर्थात्- जो जैसा कर्म करता है उसका शुभ या अशुभ फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ता हैं। फिर मेरे लिये कर्मोंका फल भोगना कोई नई बात नहीं है।"

मूल ग्रन्थकारने उक्त घटनाके सम्बन्धमें यों लिखा है कि—

" श्रेणिकोपि महाराजः श्रुत्वा तद्वृत्तमद्भुतम्।
पश्चात्तापेन सन्तप्तो हा मया किं कृतं वृथा ॥
इत्यालोच्य समागत्य श्मशाने भूरि भीतिदे।
अहो पुत्र मया ज्ञान-शून्येनात्र विनिर्मितम् ॥
यत्र त्वया महाधीर क्षम्यतामिति वाग्भरैः।
तं पुत्रं विनयोपेतं सत्क्षमां नयति स्म सः ॥

अर्थात्—तलवारका गरदनपर वार करनेपर भी वारिषेणके न मारे जानेका अचंभा पैदा करनेवाला हाल सुनकर श्रेणिकको अपने अनुचित विचारपर—अनुचित आज्ञापर बहुत पश्चात्ताप हुआ। वे उसी समय उस भयंकर श्मशानमें आये और पुत्रसे बोले—पुत्र, मैंने अज्ञानके वश होकर बड़ा अनर्थ किया है। तुम मुझे क्षमा करो। यह कहकर उन्होंने वारिषेणसे क्षमा कराई।"

इसपर वारिषेणने पितासे क्या कहा? उसका उल्लेख मूल ग्रन्थमें नहीं, पर हमने ऐसी जगह वारिषेणसे कुछ कहलवाना उचित समझा। वारिषेणने क्या कहा, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसी प्रकार जहां जहां हमें उचित समझ पड़ा, हमने प्रत्येक कथामें अपनी ओरसे थोड़ा या बहुत अंश सम्मिलित किया है। कहां कितना अधिक अंश है, यह मूल ग्रन्थके साथ हिन्दी अनुवादका मिलान करनेसे जान पड़ेगा।

हमें अपने विश्वासके अनुसार यह जान पड़ा है कि—इस कथाकोशके संस्कृत–साहित्यको प्रौढ़ बनानेके लिये ग्रन्थकारका बहुत कम ध्यान रहा है। अथवा यह कहा जा सकता है कि ग्रन्थकारकी यह प्राथमिक अभ्यासके समयकी कृति हो। क्योंकि इसमें जगह जगहपर बहुतसे ऐसे शब्दोंका प्रयोग हुआ है कि जिनके न रहनेपर भी काम चल सकता था। संस्कृतके विद्वान् पाठक मूल ग्रंथको पढ़कर हमारे इस कथनकी प्रमाणताका परिचय पा सकेंगे। और इसी कारणसे हमने अपने अनुवादमें शब्द और विभक्तियोंका सहारा न लेकर केवल श्लोकोंके भावोंको अपनी टूटी फूटी भाषामें लिखनेका यत्न किया है।

यद्यपि यह ग्रन्थ संस्कृत उच्च साहित्यकी दृष्टिसे भगवज्जिनसे-नाचार्य, रविषेणाचार्य, वादीभसिंह आदिकी समानता नहीं कर सकता; परन्तु इससे कोई यह न समझें कि ऐसा होनेसे ग्रन्थकी उपयोगितामें कमी आगई होगी। नहीं, ग्रन्थका कथासाहित्य तो वैसा ही उपयोगी है जैसा और और ऋषियोंका कथासाहित्य। कारण इसमें जितनी कथायें हैं वे सब धार्मिक भावोंसे पूर्ण हैं और उन्हीं पुराने ऋषि-योंके अनेक ग्रन्थोंसे एक जगह संग्रह की गई हैं। हाँ इतना जरूर है कि ये सब धार्मिक और सीधी साधी कथायें हैं, इनमें वह उपन्यासों-

की उलझन, उनकी वह चटकीली भाषा और वह उत्कण्ठा बढ़ानेवाला कथानुसन्धान नहीं है, इसलिये संभव है हमारे बहुतसे उपन्यास-प्रेमी पाठक इन्हें पसन्द न भी करें। पर जिनका जीवन धर्ममय है, जो धर्मको कुछ महत्त्व देते हैं, उसे अपना कल्याणका पथ समझते हैं, उनके लिये तो निस्सन्देह ये कथायें बहुत ही उपयोगी होंगी और वे इनके द्वारा बहुत कुछ लाभ भी उठा सकेंगे। इसके सिवा कुछ हमें अपनी त्रुटियोंके सम्बन्धमें भी एक दो बातें लिखना हैं। वे ये हैं—

इतिहास—कुछ इतिहास-धुरन्धरोंका कहना है कि ग्रन्थकर्त्ताका जब तक ग्रन्थके साथ परिचय नहीं दिया जाता तब तक ग्रन्थमें जैसा महत्त्व आना चाहिये वह नहीं आता। और इसीलिये इतिहासके अन्वेषणमें उन्हें छोटी छोटी बातोंके लिये जीतोड़ परिश्रम करना पड़ता है। हां यह कहा जा सकता है कि इतिहासके सम्बन्धकी बातोंका परिचय हो जाना उपयोगी है, पर ग्रन्थमें महत्त्व भी तभी आता है, यह विश्वास करना भ्रम है। ग्रन्थका महत्त्व ग्रन्थकर्त्ताके पाण्डित्यपर निर्भर है, न कि उसके परिचय पर; और इसीलिये हमारे बड़े बड़े ऋषि और महात्माओंने इस विषयकी ओर कम ध्यान दिया है।

जो हो, इतिहासकी जितनी कुछ उपयोगिता है, उसकी दृष्टिसे भी यदि इसमें ग्रन्थकर्त्ताका परिचय रहता तो अच्छा ही था; पर खेद है कि इतिहास विषयसे हम सर्वथा अनभिज्ञ हैं, इसलिये पाठकोंसे इसके लिये क्षमा चाहते हैं।

दूसरी त्रुटि भाषाके सम्बन्धमें है। हमने हिन्दीकी शिक्षा बहुत ही थोडी पाई है। इसलिये जैसी शुद्ध और परिमार्जित हिन्दीभाषा होनी चाहिये वैसी हमारी भाषा होना बहुत कठिन है। बल्कि इस भाषाको आप एक ग्रामीण भाषा भी कहें तो कुछ हानि न होगी। क्योंकि इसमें

आपको जगह जगह निरर्थक शब्दोंका प्रयोग, बेढंगे वाक्य दीख पड़ेंगे। और इससे हिन्दी भाषाके प्रौढ़ लेखकोंको संभवतः इससे अरुचि भी हो, परन्तु जो बात हमारे हाथकी नहीं—जिसे हम कर नहीं सकते, उसके लिये सिवा इसके कि हम आपसे क्षमा मांगें, और कर ही क्या सकते हैं।

विचारदृष्टिसे देखनेपर इसके अतिरिक्त और भी आपको बहुतसी त्रुटियाँ दीख पड़ेंगी। उन सबके लिये हम आपसे क्षमा चाहते हैं। आशा है उदार पाठक क्षमा करेंगे।

विनीत—

उदयलाल काशलीवाल।
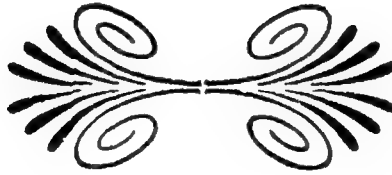
आराधना-कथाकोश।

मंगल और प्रस्तावना।

भव्य-पुरुषरूपी कमलोंके प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्य हैं और लोक तथा अलोकके प्रकाशक हैं-जिनके द्वारा संसारकी वस्तु-मात्रका ज्ञान होता है, उन जिन भगवान्‌को नमस्कार कर मैं आराधना कथाकोश नामक ग्रन्थ लिखता हूं।

उस सरस्वती-जिनवानी-के लिये नमस्कार है, जो संसारके पदार्थोंका ज्ञान करानेके लिये नेत्र है और जिसके नामहीसे प्राणी ज्ञानरूपी समुद्रके पार पहुँच सकता है-सर्वज्ञ हो सकता है।

उन मुनिराजोंके चरणकमलोंको मैं नमस्कार करता हूं, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी रत्नोंसे पवित्र हैं, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, ब्रह्मचर्य आदि गुणोंसे युक्त हैं और ज्ञानके समुद्र हैं।

इस प्रकार देव, गुरु और भारतीका स्मरण मेरे इस ग्रन्थरूपी महलपर कलशकी शोभाको बढ़ावे। अर्थात् आरंभसे अन्तपर्यन्त यह ग्रन्थ निर्विघ्न पूर्ण हो जाय।

श्रीमूलसंघ-भारतीयगच्छ-बलात्कारगण और कुन्द-कुन्दाचार्यकी आम्नायमें श्रीप्रभाचन्द्र नामके मुनि हुए हैं। वे बड़े तपस्वी थे। उनकी इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती-आदि सभी पूजा किया करते थे। उन्होंने संसारके उपकारार्थ सरल और सुबोध गद्य संस्कृतभाषामें एक आराधना-कथाकोश बनाया है। उसीके आधारपर मैं यह ग्रन्थ हिन्दी भाषामें लिखता हूँ। क्योंकि सूर्यके द्वारा प्रकाशित मार्गमें सभी चलते हैं।

कल्याणकी प्राप्तिके लिये आराधना शब्दका अर्थ जैन शास्त्रानुसार कहा जाता है। उसके सुननेसे सत्पुरुषोंको भी सन्तोष होगा।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये संसारबन्धनके नाश करनेवाले हैं, इनका स्वर्ग तथा मोक्षकी प्राप्तिके लिये भक्तिपूर्वक शक्तिके अनुसार उद्योत, उद्यमन, निर्वाहण, साधन और निस्तरण करनेको आचार्य आराधना कहते हैं। इन पाँचोंका खुलासा अर्थ यों है:—

उद्योत—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इनका संसारमें प्रकाश करना-लोगोंके हृदयपर इनका प्रभाव डालना-उद्योत है।

उद्यमन—स्वीकार किये हुए उक्त सम्यग्दर्शनादिका पालन करनेके लिये निरालस होकर बाह्य और अन्तरंगमें यत्न करना उद्यमन है

निर्वाहण—कभी कोई ऐसा बलवान् कारण उपस्थित हो जाय, जिससे सम्यग्दर्शनादिके छोड़नेकी नौबत आ जाय तो उस समय अनेक तरहके कष्ट उठाकर भी उन्हें न छोड़ना निर्वाहण है।

साधन—तत्वार्थादि महाशास्त्रके पठनके समय जो मुनियोंके उक्त दर्शनादिकी राग रहित पूर्णता होना वह साधन है।

निस्तरण—इन दर्शनादिका मरणपर्यन्त निर्विघ्न पालन करना वह निस्तरण है।

इस प्रकार जैनाचार्योंने आराधनाका क्रम पाँच प्रकार बतलाया है। उसे हमने लिख दिया। अब हम उनकी क्रमसे कथा लिखते हैं।

१—पात्रकेसरीकी कथा।
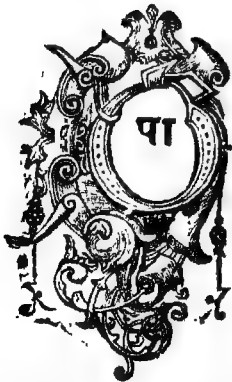
पात्रकेसरी आचार्यने सम्यग्दर्शनका उद्योत किया था। उनका चरित मैं लिखता हूँ। वह सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका कारण है।

भगवान्के पँचकल्याणोंसे पवित्र और सब जीवोंको सुखके देनेवाले इस भारतवर्षमें एक मगध नामका देश है। वह संसारके श्रेष्ठ वैभवका स्थान है। उसके अन्तर्गत एक अहिछत्र नामका सुन्दर शहर है। उसकी सुन्दरता संसारको चकित करनेवाली है।

नगरवासियोंके पुण्यसे उसका अवनिपाल नामका राजा बड़ा गुणी था, सब राजविद्याओंका पंडित था। अपने राज्यका पालन वह अच्छी नीतिके साथ करता था। उसके पास पाँचसौ अच्छे विद्वान् ब्राह्मण थे। वे वेद और वेदांगके जानकार थे। राजकार्यमें वे अवनिपालको अच्छी सहायता देते थे। उनमें एक अवगुण था, वह यह कि–उन्हें अपने कुलका बड़ा घमण्ड था। उससे वे सबको नीची दृष्टिसे देखा करते थे। वे प्रातःकाल और सायंकाल नियमपूर्वक अपना सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म करते थे। उनमें एक विशेष बात थी, वह यह कि वे जब राजकार्य करनेको राजसभामें जाते, तब उसके पहले कौतूहलसे पार्श्वनाथ जिनालयमें श्रीपार्श्वनाथकी पवित्र प्रतिमाका दर्शन कर जाया करते थे।

एक दिनकी बात है कि वे जब अपना सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म करके जिनमन्दिरमें आये तब उन्होंने एक चारित्रभूषण नामके मुनिराजको भगवान्के सम्मुख देवागम नामक स्तोत्रका पाठ करते देखा। उन सबमें प्रधान पात्रकेसरीने मुनिसे पूछा, क्या आप इस स्तोत्रका अर्थ भी जानते हैं? सुनकर मुनि बोले–मैं इसका अर्थ नहीं जानता। पात्रकेसरी फिर बोले–साधुराज, इस स्तोत्रको फिर तो एक वार पढ़ जाइये। मुनिराजने पात्रकेसरीके कहे अनुसार धीरे धीरे और पदान्तमें विश्रामपूर्वक फिर देवागमको पढ़ा, उसे सुनकर लोगोंका चित्त बड़ा प्रसन्न होता था।

पात्रकेसरीकी धारणाशक्ति बड़ी विलक्षण थी। उन्हें एक वारके सुननेसे ही सबका सब याद हो जाता था। देवा-

गमको भी सुनते ही उन्होंने याद कर लिया। अब वे उसका अर्थ विचारने लगे। उस समय दर्शनमोहनीकर्मके क्षयोपशमसे उन्हें यह निश्चय हो गया कि जिन भगवान्ने जो जीवाजीवादिक पदार्थोंका स्वरूप कहा है, वही सत्य है और सत्य नहीं है। इसके बाद वे घरपर जाकर वस्तुका स्वरूप विचारने लगे। सब दिन उनका उसी तत्त्वविचारमें बीता। रातको भी उनका यही हाल रहा। उन्होंने विचार किया— जैनधर्ममें जीवादिक पदार्थोंको प्रमेय–जानने योग्य माना है और तत्त्वज्ञान–सम्यग्ज्ञानको प्रमाण माना है। पर क्या आश्चर्य है कि अनुमान प्रमाणका लक्षण कहा ही नहीं गया। यह क्यों? जैनधर्मके पदार्थोंमें उन्हें कुछ सन्देह हुआ, उससे उनका चित्त व्यग्र हो उठा। इतनेहीमें पद्मावती देवीका आसन कम्पायमान हुआ। वह उसी समय वहां आई और पात्रकेसरीसे उसने कहा–आपको जैनधर्मके पदार्थोंमें कुछ सन्देह हुआ है, पर इसकी आप चिन्ता न करें। आप प्रातःकाल जब जिनभगवान्के दर्शन करनेको जायंगे तब आपका सब सन्देह मिटकर आपको अनुमान प्रमाणका निश्चय हो जायगा। पात्रकेसरीसे इस प्रकार कहकर पद्मावती जिनमन्दिर गई और वहां पार्श्वजिनकी प्रतिमाके फणपर एक श्लोक लिखकर वह अपने स्थानपर चली गई। वह श्लोक यह था–

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥

अर्थात्—जहांपर अन्यथानुपपत्ति है, वहां हेतुके दूसरे तीन रूप माननेसे क्या प्रयोजन है? तथा जहांपर अन्य-

थानुपपत्ति नहीं है, वहां हेतुके तीन रूप माननेसे भी क्या फल है। **भावार्थ** साध्यके अभावमें न मिलनेवालेको ही अन्यथानुपपन्न कहते हैं। इसलिये अन्यथानुपपत्ति हेतुका असाधारण रूप है। किन्तु बौद्ध इसको न मानकर हेतुके १–पक्षेसत्त्व, २–सपक्षेसत्त्व, ३–विपक्षाद्व्यावृत्ति ये तीन रूप मानता है, सो ठीक नहीं है। क्योंकि कहीं कहींपर त्रैरूप्यके न होनेपर भी अन्यथानुपत्तिके बलसे हेतु सद्धेतु होता है। और कहीं कहींपर त्रैरूप्यके होनेपर भी अन्यथानुपत्तिके न होनेसे हेतु सद्धेतु नहीं होता। जैसे एक मुहूर्तके अनन्तर शकटका उदय होगा, क्योंकि अभी कृत्तिकाका उदय है। यहांपर पक्षेसत्त्वके न होनेपर भी अन्यथानुपत्तिके बलसे हेतु सद्धेतु है। और 'गर्भस्थ पुत्र श्याम होगा, क्योंकि यह मित्रका पुत्र है। यहांपर त्रैरूप्यके रहनेपर भी अन्यथानुपपत्तिके न होनेसे हेतु सद्धेतु नहीं होता। *

पात्रकेसरीने जब पद्मावतीको देखा तब ही उनकी श्रद्धा जैनधर्ममें खूब दृढ़ हो गई थी, जो कि सुख देनेवाली और संसारके परिवर्तनका नाश करनेवाली है। पश्चात् जब वे प्रातः-काल जिनमन्दिर गये और श्रीपार्श्वनाथकी प्रतिमापर उन्हें अनुमान प्रमाणका लक्षण लिखा हुआ मिला तब तो उनके आनन्दका कुछ पार नहीं रहा। उसे देखकर उनका सब सन्देह दूर हो गया। जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकार नष्ट हो जाता है।

---

* इसका विशेष न्यायदीपिका आदि ग्रन्थोंसे जानना चाहिये।

इसके बाद ब्राह्मण-प्रधान, पुण्यात्मा और जिनधर्मके परम श्रद्धालु पात्रकेसरीने बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने हृदयमें निश्चयकर लिया कि जिन भगवान् ही निर्दोष और संसाररूपी समुद्रसे पार करनेवाले देव हो सकते हैं और जिनधर्म ही दोनों लोकमें सुख देनेवाला धर्म हो सकता है। इस प्रकार दर्शनमोहनीकर्मके क्षयोपशमसे उन्हें सम्यक्त्वरूपी परम रत्नकी प्राप्ति हो गई—उससे उनका मन बहुत प्रसन्न रहने लगा।

अब उन्हें निरन्तर जिनधर्मके तत्त्वोंकी मीमांसाके सिवा कुछ सूझने ही न लगा—वे उनके विचारमें मग्न रहने लगे। उनकी यह हालत देखकर उनसे उन ब्राह्मणोंने पूछा—आज कल हम देखते हैं कि आपने मीमांसा, गौतमन्याय, वेदान्त आदिका पठन पाठन बिलकुल ही छोड़ दिया है और उनकी जगह जिनधर्मके तत्त्वोंका ही आप विचार किया करते हैं। यह क्यों? सुनकर पात्रकेसरीने उत्तर दिया—आप लोगोंको अपने वेदोंका अभिमान है—उनपर ही आपका विश्वास है, इसलिये आपकी दृष्टि सत्य बातकी ओर नहीं जाती। पर मेरा विश्वास आपसे उल्टा है—मुझे वेदोंपर विश्वास न होकर जैनधर्मपर विश्वास है। वही मुझे संसारमें सर्वोत्तम धर्म दिखता है। मैं आप लोगोंसे भी आग्रहपूर्वक कहता हूं कि आप विद्वान् हैं—सच झूठकी परीक्षा कर सकते हैं, इसलिये जो मिथ्या हो—झूठा हो, उसे छोड़कर सत्यको गृहण कीजिये और ऐसा सत्य धर्म एक जिनधर्म ही है; इसलिये वह गृहण करने योग्य है।

मुनिराजकी वन्दना करनेको गई। साथमें दोनों भाई भी गये। मुनिराजकी वन्दना कर इनके मातापिताने आठ दिनके लिये ब्रह्मचर्य लिया और साथ ही विनोदवश अपने दोनों पुत्रोंको भी उन्होंने ब्रह्मचर्य दे दिया।

कुछ दिनोंके बाद पुरुषोत्तमने अपने पुत्रोंके ब्याहकी आयोजना की। यह देख दोनों भाइयोंने मिलकर पितासे कहा–पिताजी! इतना भारी आयोजन, इतना परिश्रम आप किस लिये कर रहे हैं? अपने पुत्रोंकी भोली बात सुनकर पुरुषोत्तमने कहा–यह सब आयोजन तुम्हारे ब्याहके लिये है। पिताका उत्तर सुनकर दोनों भाइयोंने फिर कहा–पिताजी! अब हमारा ब्याह कैसा? आपने तो हमें ब्रह्मचर्य दे दिया था न? पिताने कहा नहीं, वह तो केवल विनोदसे दिया गया था। उन बुद्धिमान् भाइयोंने कहा–पिताजी! धर्म और व्रतमें विनोद कैसा? यह हमारी समझमें नहीं आया। अच्छा आपने विनोदहीसे दिया सही, तो अब उसके पालनकरनेमें भी हमें लज्जा कैसी? पुरुषोत्तमने फिर कहा–अस्तु। जैसा तुम कहते हैं वही सही, पर तब तो केवल आठ ही दिनके लिये ब्रह्मचर्य दिया था न? दोनों भाइयोंने कहा–पिताजी हमें आठ दिनके लिये ब्रह्मचर्य दिया गया था, इसका न तो आपने हमसे खुलासा कहा था और न आचार्य महाराजने ही। तब हम कैसे समझें कि वह व्रत आठ ही दिनके लिये था। इसलिये हम तो अब उसका आजन्म पालन करेगें, ऐसी हमारी दृढ़ प्रतिज्ञा है। हम अब विवाह नहीं करेंगे। यह कह कर दोनों भाइयोंने घरका सब कारोबार छोड़कर

और अपना चित्त शास्त्राभ्यासकी ओर लगाया। थोड़े ही दिनोंमें ये अच्छे विद्वान् बन गये। इनके समयमें बौद्धधर्मका बहुत जोर था। इसलिये इन्हें उसके तत्त्व जाननेकी इच्छा हुई। उस समय मान्यखेटमें ऐसा कोई बौद्ध विद्वान् नहीं था, जिससे ये बौद्धधर्मका अभ्यास करते। इसलिये ये एक अज्ञ विद्यार्थीका वेष बनाकर महाबोधि नामक स्थानमें बौद्धधर्माचार्यके पास गये। आचार्यने इनकी अच्छी तरह परीक्षा करके कि—कहीं ये छली तो नहीं है, और जब उन्हें इनकी ओरसे विश्वास हो गया तब वे और और शिष्योंके साथ साथ इन्हें भी पढ़ाने लगे। ये भी अन्तरंगमें तो पक्के जिनधर्मी और बाहिर एक महामूर्ख बनकर स्वर व्यंजन सीखने लगे। निरंतर बौद्धधर्म सुनते रहनेसे अकलंकदेवकी बुद्धि बड़ी विलक्षण हो गई। उन्हें एक ही वारके सुननेसे कठिनसे कठिन बात भी याद हो जाने लगी और निकलंकको दो बार सुननेसे। अर्थात् अकलंक एक संस्थ और निकलंक दो संस्थ हो गये। इस प्रकार वहां रहते दोनों भाइयोंका बहुत समय बीत गया।

एक दिनकी बात है—बौद्धगुरु अपने शिष्योंको पढ़ा रहे थे। उस समय प्रकरण था जैनधर्मके सप्तभंगी सिद्धान्तका। वहां कोई ऐसा अशुद्धपाठ आ गया जो बौद्धगुरुकी समझमें न आया, तब वे अपने व्याख्यानको वहीं समाप्तकर कुछ समयके लिये बाहर चले आये। अकलंक बुद्धिमान् थे, वे बौद्धगुरुके भाव समझ गये; इसलिये उन्होंने बड़ी बुद्धिमानीके साथ उस पाठको शुद्धकर दिया और उसकी खबर किसीको न होने दी।

इतनेमें पीछे बौद्धगुरु आये । उन्होंने अपना व्याख्यान आरंभ किया । जो पाठ अशुद्ध था, वह अब देखते ही उनकी समझमें आ गया । यह देख उन्हें सन्देह हुआ कि अवश्य इस जगह कोई जिनधर्मरूप समुद्रका बढ़ानेवाला चन्द्रमा है और वह हमारे धर्मके नष्ट करनेकी इच्छासे बौद्धवेष धारणकर बौद्धशास्त्रका अभ्यास कर रहा है । उसका जल्दी ही पता लगाकर उसे मरवा डालना चाहिये । इस विचारके साथ ही बौद्धगुरुने सब विद्यार्थियोंको शपथ–प्रतिज्ञा आदि देकर पूछा, पर जैनधर्मीका पता उन्हें नहीं लगा । इसके बाद उन्होंने जिनप्रतिमा मँगवाकर उसे लाँघ जानेके लिये सबको कहा । सब विद्यार्थी तो लाँघ गये, अब अकलंककी बारी आई; उन्होंने अपने कपड़ेमेंसे एक सूतका सूक्ष्म धागा निकालकर उसे प्रतिमापर डाल दिया और उसे परिग्रही समझकर वे झटसे लाँघ गये । यह कार्य इतनी जल्दी किया गया कि किसीकी समझमें न आया । बौद्धगुरु इस युक्तिमें भी जब कृतकार्य नहीं हुए तब उन्होंने एक और नई युक्ति की । उन्होंने बहुतसे कांसीके वर्तन इकट्ठे करवाये और उन्हें एक बड़ी भारी गौनमें भरकर वह बहुत गुप्त रीतिसे विद्यार्थियोंके सोनेकी जगहके पास रखवादी और विद्यार्थियोंकी देख रेखके लिये अपना एक एक गुप्तचर रख दिया ।

आधी रातका समय था । सब विद्यार्थी निडर होकर निद्रादेवीकी गोदमें सुखका अनुभव कर रहे थे । किसीको कुछ मालूम न था कि हमारे लिये क्या क्या षड्यंत्र रचे जा रहे हैं । एका एक बड़ा विकराल शब्द हुआ । मानों

आसमानसे विजली टूटकर पड़ी । सब विद्यार्थी उस भयं-र आवाजसे काँप उठे । वे अपना जीवन बहुत थोड़े समयके लिये समझकर अपने उपास्य परमात्माका स्मरण कर उठे। अकलंक और निकलंक भी पंच नमस्कार मंत्रका ध्यान करने लग गये । पास ही बौद्धगुरुका जासूस खड़ा हुआ था । वह उन्हें बुद्ध भगवान्का स्मरण करनेकी जगह जिन भगवान्का स्मरण करते देखकर बौद्धगुरुके पास ले गया और गुरुसे उसने प्रार्थना की-प्रभो ! आज्ञा कीजिये कि इन दोनों धूर्तोंका क्या किया जाय ? ये ही जैनी हैं । सुनकर वह दुष्ट बौद्धगुरु बोला-इस समय रात थोड़ी बीती है, इस लिये इन्हें लेजाकर कैदखानेमें बन्द करदो, जब आधीरात हो जाय तब इन्हें मार डालना । गुप्तचरने दोनों भाइयोंको लेजाकर कैदखानेमें बन्द कर दिया ।

अपनेपर एक महाविपत्ति आई देखकर निकलंकने बड़े भाईसे कहा-भैया ! हम लोगोंने इतना कष्ट उठाकर तो विद्या प्राप्त की, पर कष्ट है कि उसके द्वारा हम कुछ भी जिनधर्मकी सेवा न कर सके और एका एक हमें मृत्युका सामना करना पड़ा । भाईकी दुःखभरी बात सुनकर महा धीर-वीर अकलंकने कहा-प्रिय ! तुम बुद्धिमान् हो, तुम्हें भय करना उचित नहीं । घबराओ मत । अब भी हम अपने जीवनकी रक्षा कर सकेंगे । देखो, मेरे पास यह छत्री है, इसके द्वारा अपनेको छुपा कर हम लोग यहाँसे निकल चलते हैं और शीघ्र ही अपने स्थानपर जा पहुँचते हैं । यह विचार कर वे दोनों भाई दबे पाँव निकल गये और जल्दी जल्दी रास्ता तय करने लगे ।

इधर जब आधी रात बीत चुकी, और बौद्धगुरुकी आज्ञानुसार उन दोनों भाईयोंके मारनेका समय आया; तब उन्हें पकड़ लानेके लिये नौकर लोग दौड़े गये, पर वे कै· खानेमें जाकर देखते हैं तो वहाँ उनका पता नहीं। उ· उनके एका एक गायब हो जानेसे बड़ा आश्चर्य हुआ पर कर क्या सकते थे। उन्हें उनके कहीं आस पास ही छु· रहनेका सन्देह हुआ। उन्होंने आस पासके बन, जंगल खंडहर, बावड़ी, कूए, पहाड़, गुफायें—आदि सब एक ए· करके ढूँढ़ डाले, पर उनका कहीं पता न चला। उन पापियों को तब भी सन्तोष न हुआ सो उनके मारनेकी इच्छासे अश्व द्वारा उन्होंने यात्रा की। उनकी दयारूपी वेल क्रोधरूपी दावा ग्निसे खूब ही झुलस गई थी, इसीलिये उन्हें ऐसा करनेको बाध्य होना पड़ा। दोनों भाई भागते जाते थे और पीछे फिर फिर कर देखते जाते थे, कि कहीं किसीने हमारा पीछा तो नहीं किया है। पर उनका सन्देह ठीक निकला। निकलंकने दूरतक देखा तो उसे आकाशमें धूल उठती हुई दीख पड़ी। उसने बड़े भाईसे कहा—भैया! हम लोग जितना कुछ करते हैं, वह सब निष्फल जाता है। जान पड़ता है दैवने अपनेसे पूर्ण शत्रुता बांधी है। खेद है— परम पवित्र जिनशासनकी हम लोग कुछ भी सेवा न कर सके और मृत्युने बीचहीमें आकर अपनेको धर दबाया। भैया! देखो, तो पापी लोग हमें मारनेके लिये पीछा किये चले आ रहे हैं। अब रक्षा होना असंभव है। हाँ मुझे एक उपाय सूझ पड़ा है और उसे आप करेंगे तो जैनधर्मका बड़ा उपकार होगा। आप बुद्धि-

मान् हैं, एकसंस्थ हैं। आपके द्वारा जिनधर्मका खूब प्रकाश होगा। देखते हैं—वह सरोवर है। उसमें बहुतसे कमल हैं। आप जल्दी जाइये और तालाबमें उतर कर कमलोंमें अपनेको छुपा लीजिये। जाइये, जल्दी कीजिये; देरीका काम नहीं है। शत्रु पास पहुँच आ रहे हैं। आप मेरी चिन्ता न कीजिये। मैं भी जहाँतक बन पड़ेगा, जीवनकी रक्षा करूँगा। और यदि मुझे अपना जीवन दे देना भी पड़े तो मुझे उसकी कुछ परवा नहीं, जब कि मेरे प्यारे भाई जीते रहकर पवित्र जिनशासनकी भरपूर सेवा करेंगे। आप जाइये, मैं भी अब यहाँसे भागता हूँ।

अकलंककी आँखोंसे आसुओंकी धार बह चली। उनका गला भातृप्रेमसे भर आया। वे भाईसे एक अक्षर भी न कह पाये कि निकलंक वहाँसे भाग खड़ा हुआ। लाचार होकर अकलंकको अपने जीवनकी—नहीं, पवित्र जिनशासनकी रक्षाके लिये कमलोंमें छुपना पड़ा। उनके लिये कमलोंका आश्रय केवल दिखाऊ था। वास्तवमें तो उन्होंने जिसके बराबर संसारमें कोई आश्रय नहीं हो सकता, उस जिनशासनका आश्रय लिया था।

निकलंक भाईसे विदा हो जी छोड़कर भागा जाता था। रास्तेमें उसे एक धोबी कपड़े धोते हुए मिला। धोबीने आकाशमें धूलकी छटा छाई हुई देखकर निकलंकसे पूछा, यह क्या हो रहा है? और तुम ऐसे जी छोड़कर क्यों भागे जा रहे हो? निकलंकने कहा—पीछे शत्रुओंकी सेना आ रही है। उसे जो मिलता है उसे ही वह मार डाल-

ती है। इसीलिये मैं भागा जा रहा हूं। सुनते ही धोबी भी कपड़े वगैरह सब वैसे ही छोड़कर निकलंकके साथ भाग खड़ा हुआ। वे दोनों बहुत भागे, पर आखिर कहांतक भाग सकते थे। सवारोंने उन्हें धर पकड़ा और उसी समय अपनी चमचमाती तलवारसे दोनोंका शिर काटकर उन्हें वे अपने मालिकके पास ले गये। सच है–पवित्र जिनधर्म-अहिंसाधर्म–से रहित और मिथ्यात्वको अपनाये हुए पापी लोगोंके लिये ऐसा कौन महापाप बाकी रह जाता है, जिसे वे नहीं करते। जिनके हृदयमें जीवमात्रको सुख पहुंचाने-वाले जिनधर्मका लेश भी नहीं है, उन्हें दूसरोंपर दया आ भी कैसे सकती है?

उधर शत्रु अपना काम कर वापिस लौटे और इधर अक-लंक अपनेको निर्विघ्न समझ सरोवरसे निकले और निडर होकर आगे बढ़े। वहांसे चलते चलते वे कुछ दिनों वाद कलिंगदेशान्तर्गत रत्नसंचयपुर नामक शहरमें पहुँचे। इसके बादका हाल हम नीचे लिखते हैं।

उस समय रत्नसंचयपुरके राजा हिमशीतल थे। उनकी रानीका नाम था मदनसुन्दरी। वह जिन भगवान्‌की बड़ी भक्त थी। उसने स्वर्ग और मोक्षसुखके देनेवाले पवित्र जिनधर्मकी प्रभावनाके लिये अपने बनाये हुए जिन मन्दि-रमें फाल्गुण शुक्र अष्टमीके दिनसे रथयात्रोत्सवका आरंभ करवाया था। उसमें उसने बहुत द्रव्य व्यय किया था।

वहाँ संघश्री नामक बौद्धोंका प्रधान आचार्य रहता था। उसे महारानीका कार्य सहन नहीं हुआ। उसने महाराजसे कहकर

रथयात्रोत्सव अटका दिया और साथ ही वहाँ जिनधर्मका प्रचार न देखकर शास्त्रार्थके लिये विज्ञापन भी निकाल दिया। महाराज शुभतुंगने अपनी महारानीसे कहा—प्रिये, जबतक कोई जैन विद्वान् बौद्धगुरुके साथ शास्त्रार्थ करके जिनधर्मका प्रभाव न फैलावेगा तबतक तुम्हारा उत्सव होना कठिन है। महाराजकी बातें सुनकर रानीको बड़ा खेद हुआ। पर वह कर ही क्या सकती थी। उस समय कौन उसकी आशा पूरी कर सकता था। वह उसी समय जिनमन्दिर गई और वहाँ मुनियोंको नमस्कार कर उनसे बोली—प्रभो, बौद्धगुरुने मेरा रथयात्रोत्सव रुकवा दिया है। वह कहता है कि—पहले मुझसे शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त करलो, फिर रथोत्सव करना। विना ऐसा किये उत्सव न हो सकेगा। इसलिये मैं आपके पास आई हूं। बतलाइए जैनदर्शनका अच्छा विद्वान् कौन है, जो बौद्धगुरुको जीतकर मेरी इच्छा पूरी करे? सुनकर मुनि बोले—इधर आसपास तो ऐसा विद्वान् नहीं दिखता जो बौद्धगुरुका सामना कर सके। हाँ मान्यखेट नगरमें ऐसे विद्वान् अवश्य हैं। उनके बुलवानेका आप प्रयत्न करें तो सफलता प्राप्त हो सकती है। रानीने कहा—वाह, आपने बहुत ठीक कहा, सर्प तो शिरके पास फुंकार कर रहा है और कहते हैं कि गारुड़ी दूर है। भला, इससे क्या सिद्धि हो सकती है? अस्तु। जान पड़ा कि आप लोग इस विपत्तिका सद्यः प्रतिकार नहीं कर सकते। दैवको जिनधर्मका पतन कराना ही इष्ट मालूम देता है। जब मेरे पवित्र धर्मकी दुर्दशा होगी तब मैं ही जीकर क्या करूंगी? यह

कहकर महारानी राजमहलसे अपना सम्बन्ध छोड़कर जिन-मन्दिर गई और उसने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की–" जब संघश्रीका मिथ्याभिमान चूर्ण होकर मेरा रथोत्सव बड़े ठाठबाटके साथ निकलेगा और जिनधर्मकी खूब प्रभावना होगी, तब ही मैं भोजन करूंगी, नहीं तो वैसे ही निराहार रहकर मर मिटूंगी; पर अपनी आँखोंसे पवित्र जैनशासनकी दुर्दशा कभी नहीं देखूँगी।" ऐसा हृदयमें निश्चय कर मदन-सुन्दरी जिन भगवान्के सम्मुख कायोत्सर्ग धारण कर पंच-नमस्कार मंत्रकी आराधना करने लगी। उस समय उसकी ध्यान–निश्चल अवस्था बड़ी ही मनोहर दीख पड़ती थी। मानो–सुमेरुगिरिकी श्रेष्ठ निश्चल चूलिका हो।

"भव्यजीवोंको जिनभक्तिका फल अवश्य मिलता है।" इस नीतिके अनुसार महारानी भी उससे बंचित नहीं रही। महारानीके निश्चल ध्यानके प्रभावसे पद्मावतीका आसन कंपित हुआ। वह आधीरातके समय आई और महारानीसे बोली–देवी, जब कि तुम्हारे हृदयमें जिनभगवान्के चरण कमल शोभित हैं, तब तुम्हें चिन्ता करनेकी कोई आवश्य-कता नहीं। उनके प्रसादसे तुम्हारा मनोरथ नियमसे पूर्ण होगा। सुनो, कल प्रातःकाल ही भगवान् अकलंकदेव इधर आवेंगे। वे जैनधर्मके बड़े भारी विद्वान् हैं। वे ही संघश्रीका दर्प चूर्णकर जिनधर्मकी खूब प्रभावना करेंगे और तुम्हारा रथोत्सवका कार्य निर्विघ्न समाप्त करेंगे। उन्हें अपने मनो-रथोंके पूर्ण करनेवाले मूर्त्तिमान् शरीर समझो। यह कहकर पद्मावती अपने स्थान चली गई।

देवीकी बात सुनकर महारानी अत्यन्त प्रसन्न हुई। उसने बड़ी भक्तिके साथ जिनभगवान्‌की स्तुति की और प्रातःकाल होते ही महाभिषेक पूर्वक पूजा की। इसके बाद उसने अपने राजकीय प्रतिष्ठित पुरुषोंको अकलंकदेवके ढूंढ-नेको चारों ओर दौड़ाये। उनमें जो पूर्व दिशाकी ओर गये थे, उन्होंने एक बगीचेमें अशोक वृक्षके नीचे बहुतसे शिष्योंके साथ एक महात्माको बैठे देखा। उनके किसी एक शिष्यसे महात्माका परिचय और नाम धाम पूछकर वे अपनी माल-किनके पास आये और सब हाल उन्होंने उससे कह सुनाया। सुनकर ही वह धर्मवत्सला खानपान आदि सब सामग्री लेकर अपने सधर्मियोंके साथ बड़े वैभवसे महात्मा अकलंक-के साम्हने गई। वहाँ पहुँचकर उसने बड़े प्रेम और भक्तिसे उन्हें प्रणाम किया। उनके दर्शनसे रानीको अत्यन्त आनन्द हुआ। जैसे सूर्यको देखकर कमलिनीको और मुनियोंका तत्त्वज्ञान देखकर बुद्धिको आनन्द होता है।

इसके बाद रानीने धर्मप्रेमके वश होकर अकलंकदेवकी चन्दन, अगुरु, फल, फूल, वस्त्रादिसे बड़े विनयके साथ पूजा की और पुनः प्रणाम कर वह उनके साम्हने बैठ गई। उसे आशीर्वाद देकर पवित्रात्मा अकलंक बोले—देवी, तुम अच्छी तरह तो हो, और सब संघ भी अच्छी तरह है न? महा-त्माके वचनोंको सुनकर रानीकी आँखोंसे आँसु बह निकले, उसका गला भर आया। वह बड़ी कठिनतासे बोली—प्रभो, संघ है तो कुशल, पर इस समय उसका घोर अपमान हो रहा है; उसका मुझे बड़ा कष्ट है। यह कहकर उसने संघ-

श्रीका सब हाल अकलंकसे कह सुनाया। पवित्र धर्मका अपमान अकलंक न सह सके। उन्हें क्रोध हो आया। वे बोले-वह वराक संघश्री मेरे पवित्र धर्मका अपमान करता है, पर वह मेरे साम्हने है कितना, इसकी उसे खबर नहीं है। अच्छा देखूंगा उसके अभिमानको कि वह कितना पाण्डित्य रखता है। मेरे साथ खास बुद्धतक तो शास्त्रार्थ करनेकी हिम्मत नहीं रखता, तब वह बेचारा किस गिनतीमें है? इस तरह रानीको सन्तुष्ट करके अकलंकने संघश्रीके शास्त्रार्थके विज्ञापनकी स्वीकारता उसके पास भेज दी और आप बड़े उत्सवके साथ जिनमन्दिर आ पहुँचे।

पत्र संघश्रीके पास पहुँचा। उसे देखकर और उसकी लेखनशैलीको पढ़कर उसका चित्त क्षुभित हो उठा। आखिर उसे शास्त्रार्थके लिये तैयार होना ही पड़ा।

अकलंकके आनेके समाचार महाराज हिमशीतलके पास पहुँचे। उन्होंने उसी समय बड़े आदर सम्मानके साथ उन्हें राजसभामें बुलवाकर संघश्रीके साथ उनका शास्त्रार्थ करवाया। संघश्री उनके साथ शास्त्रार्थ करनेको तो तैयार हो गया, पर जब उसने अकलंकके प्रश्नोत्तर करनेका पाण्डित्य देखा और उससे अपनी शक्तिकी तुलना की तब उसे ज्ञात हुआ कि मैं अकलंकके साथ शास्त्रार्थ करनेमें अशक्त हूं; पर राजसभामें ऐसा कहना भी उसने उचित न समझा। क्योंकि उससे उसका अपमान होता। तब उसने एक नई युक्ति सोचकर राजासे कहा-महाराज, यह धार्मिक विषय है, इसका निकाल होना कठिन है। इसलिये मेरी इच्छा है कि यह

शास्त्रार्थ सिलसिलेवार तबतक चलना चाहिये जबतक कि एक पक्ष पूर्ण निरुत्तर न हो जाय। राजाने अकलंककी अनुमति लेकर संघश्रीके कथनको मान लिया। उस दिनका शास्त्रार्थ बंद हुआ। राजसभा भंग हुई।

अपने स्थानपर आकर संघश्रीने जहाँ जहाँ बौद्धधर्मके विद्वान् रहते थे, उनके बुलवानेको अपने शिष्योंको दौड़ाये और आपने रात्रिके समय अपने धर्मकी अधिष्ठात्री देवीकी आराधना की। देवी उपस्थित हुई। संघश्रीने उससे कहा—देखती हो, धर्मपर बड़ा संकट उपस्थित हुआ है। उसे दूर कर धर्मकी रक्षा करनी होगी। अकलंक बड़ा पंडित है। उसके साथ शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त करना असंभव था। इसी लिये मैंने तुम्हें कष्ट दिया है। यह शास्त्रार्थ मेरे द्वारा तुम्हें करना होगा और अकलंकको पराजित कर बुद्धधर्मकी महिमा प्रगट करनी होगी। बोलो—क्या कहती हो? उत्तरमें देवीने कहा—हाँ मैं शास्त्रार्थ करूंगी सही, पर खुली सभामें नहीं; किन्तु पड़दे भीतर घड़ेमें रहकर। 'तथास्तु' कहकर संघश्रीने देवीको विसर्जित किया और आप प्रसन्नताके साथ दूसरी निद्रा—देवीकी गोदमें जा लेटा।

प्रातःकाल हुआ। शौच, स्नान, देवपूजन—आदि नित्य कर्मसे छुट्टी पाकर संघश्री राजसभामें पहुँचा और राजासे बोला—महाराज, हम आजसे शास्त्रार्थ पड़देके भीतर रहकर करेंगे। हम शास्त्रार्थके समय किसीका मुहँ नहीं देखेंगे। आप पूछेंगे क्यों? इसका उत्तर अभी न देकर शास्त्रार्थके अन्तमें दिया जायगा। राजा संघश्रीके कपट—जालको कुछ नहीं

समझ सके। उसने जैसा कहा वैसा उन्होंने स्वीकार क...
उसी समय वहाँ एक पड़दा लगवा दिया। संघश्रीने उसके
भीतर जाकर बुद्धभगवान्की पूजा की और देवीकी पूजा
कर उसका एक घड़ेमें आव्हान किया। धूर्त लोग बहुत कुछ
छल कपट करते हैं, पर अन्तमें उसका फल अच्छा न होकर
बुरा ही होता है।

इसके बाद घड़ेकी देवी अपनेमें जितनी शक्ति थी उसे
प्रगट कर अकलंकके साथ शास्त्रार्थ करने लगी। इधर
अकलंकदेव भी देवीके प्रतिपादन किये हुए विषयक
अपनी दिव्य भारती द्वारा खण्डन और अपने पक्षक
समर्थन तथा परपक्षका खण्डन करनेवाले परम पवित्र
अनेकान्त–स्याद्वादमतका समर्थन बड़ेही पाण्डित्यके साथ
निडर होकर करने लगे। इस प्रकार शास्त्रार्थ होते होते
छह महिना वीत गये, पर किसीकी विजय न हो पाई।
यह देखकर अकलंकदेवको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंनें
सोचा–संघश्री साधारण पढ़ा लिखा और जो पहले
दिन मेरे सम्मुख थोड़ी देर भी न ठरह सका था, वह आज
बराबर छह महिनासे शास्त्रार्थ करता चला आता है; इसका
क्या कारण है, सो नहीं जान पड़ता। उन्हें इसकी बड़ी
चिन्ता हुई। पर वे कर ही क्या सकते थे। एक दिन इसी
चिन्तामें वे डूबे हुए थे कि इतनेमें जिनशासनकी अधिष्ठात्री
चक्रेश्वरी देवी आई और अकलंकदेवसे बोली–प्रभो! आपके
साथ शास्त्रार्थ करनेकी मनुष्यमात्रमें शक्ति नहीं है और
बेचारा संघश्री भी तो मनुष्य है तब उसकी क्या मजाल

जो वह आपसे शास्त्रार्थ करे? पर यहाँ तो बात कुछ और ही है। आपके साथ जो शास्त्रार्थ करता है वह संघश्री नहीं है, किन्तु बुद्धधर्मकी अधिष्ठात्री तारा नामकी देवी है। इतने दिनोंसे वही शास्त्रार्थ कर रही है। संघश्रीने उसकी आराधना कर यहाँ उसे बुलाया है। इसलिये कल जब शास्त्रार्थ होने लगे और देवी उस समय जो कुछ प्रतिपादन करे तब आप उससे उसी विषयका फिरसे प्रतिपादन करनेके लिये कहिये। वह उसे फिर न कह सकेगी और तब उसे अवश्य नीचा देखना पड़ेगा। यह कहकर देवी अपने स्थानपर चली गई। अकलंकदेवकी चिन्ता दूर हुई। वे बड़े प्रसन्न हुए।

प्रातःकाल हुआ। अकलंकदेव अपने नित्यकर्मसे मुक्त होकर जिनमन्दिर गये। बड़े भक्तिभावसे उन्होंने भगवानकी स्तुति की। इसके बाद वे वहाँसे सीधे राजसभामें आये। उन्होंने महाराज शुभतुंगको सम्बोधन करके कहा—राजन्! इतने दिनोंतक मैंने जो शास्त्रार्थ किया, उसका यह मतलब नहीं था कि मैं संघश्रीको पराजित नहीं कर सका। परन्तु ऐसा करनेसे मेरा अभिप्राय जिनधर्मका प्रभाव बतलानेका था। वह मैंने बतलाया। पर अब मैं इस वादका अन्त करना चाहता हूं। मैंने आज निश्चय कर लिया है कि मैं आज इस वादकी समाप्ति करके ही भोजन करूंगा। ऐसा कहकर उन्होंने पड़देकी ओर देखकर कहा—क्या जैनधर्मके सम्बन्धमें कुछ और कहना बाकी है या मैं शास्त्रार्थ समाप्त करूं? वे कहकर जैसे ही चुप रहे कि पड़देकी ओरसे

फिर वक्तव्य आरंभ हुआ। देवी अपना पक्ष समर्थन क. चुप हुई कि अकलंकदेवने उसी समय कहा-जो विष अभी कहा गया है, उसे फिरसे कहो? वह मुझे ठीक नहीं सुन पड़ा। आज अकलंकका यह नया ही प्रश्न सुनकर देवीका साहस एक साथ ही न जाने कहाँ चला गया। देवता जो कुछ बोलते वे एक ही बार बोलते हैं-उसी बातको वे पुनः नहीं बोल पाते। तारा देवीका भी यही हाल हुआ। वह अकलंक देवके प्रश्नका उत्तर न दे सकी। आखिर उसे अपमानित होकर भाग जाना पड़ा। जैसे सूर्योदयसे रात्रि भाग जाती है।

इसके बाद ही अकलंकदेव उठे और पड़देको फाड़कर उसके भीतर घुस गये। वहां जिस घड़ेमें देवीका आव्हान किया गया था, उसे उन्होंने पाँवकी ठोकरसे फोड़ डाला-संघश्री सरीखे जिनशासनके शत्रुओंका-मिथ्यात्वियोंका-अभिमान चूर्ण किया। अकलंकके इस विजय और जिनधर्मकी प्रभावनासे मदनसुन्दरी और सर्वसाधारणको बड़ा आनन्द हुआ। अकलंकने सब लोगोंके सामने जोर देकर कहा-सज्जनो! मैंने इस धर्मशून्य संघश्रीको पहले ही दिन पराजित कर दिया था; किन्तु इतने दिन जो मैंने देवीके साथ शास्त्रार्थ किया, वह जिनधर्मका माहात्म्य प्रगट करनेके लिये और सम्यग्ज्ञानका लोगोंके हृदयपर प्रकाश डालनेके लिये था। यह कहकर अकलंकदेवने इस श्लोकको पढ़ा—

> नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं
> नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया।

राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धौघान्सकलान्विजित्य सुगतः पादेन विस्फालितः ॥

अर्थ—महाराज, हिमशीतलकी सभामें मैंने सब बौद्ध-विद्वानोंको पराजितकर सुगतको ठुकराया, यह न तो अभिमानके वश होकर किया गया और न किसी प्रकारके द्वेषभावसे। किन्तु नास्तिक बनकर नष्ट होते हुए जनोंपर मुझे बड़ी दया आई, इसलिये उनकी दयासे बाध्य होकर मुझे ऐसा करना पड़ा।

उस दिनसे बौद्धोंका राजा और प्रजाके द्वारा चारों ओर अपमान होने लगा। किसीकी बुद्धधर्मपर श्रद्धा नहीं रही। सब उसे घृणाकी दृष्टिसे देखने लगे। यही कारण है—बौद्ध-लोग यहाँसे भागकर विदेशोंमें जा बसे।

महाराज हिमशीतल और प्रजाके लोग जिनशासनकी प्रभावना देखकर बड़े खुश हुए। सबने मिथ्यात्वमत छोड़-कर जिनधर्म स्वीकार किया और अकलंकदेवका सोने, रत्न आदिके अलंकारोंसे खूब आदर सम्मान किया, खूब उनकी प्रशंसा की। सच बात है—जिनभगवान्के पवित्र सम्यग्ज्ञानके प्रभावसे कौन सत्कारका पात्र नहीं होता।

अकलंकदेवके प्रभावसे जिनशासनका उपद्रव टला देखकर महारानी मदनसुन्दरीने पहलेसे भी कई गुणे उत्साहके रथ निकलवाया। रथ बड़ी सुन्दरताके साथ सजाया गया था। उसकी शोभा देखते ही बन पड़ती थी। वह बेश कीमती वस्त्रोंसे शोभित था, छोटी छोटी घंटिया उसके चारों ओर लगी हुई थीं, उनकी मधुर आवाज एक बड़े

घंटेकी आवाजमें मिलकर, जो कि उन घंटियोंको ठीक था, बड़ी सुन्दर जान पड़ती थी, उसपर रत्नों, और [illegible] योंकी मालायें अपूर्व शोभा दे रही थीं, उसके [illegible] रत्नमयी सिंहासनपर जिनभगवान्‌की बहुत सुन्दर प्रतिमा शोभित थी। वह मौलिक छत्र, चामर, भामण्डल–आदिसे अलंकृत थी। रथ चलता जाता था और उसके आगे आगे भव्यपुरुष बड़ी भक्तिके साथ जिनभगवान्‌की जय बोलते हुए और भगवान्‌पर अनेक प्रकारके सुगन्धित फूलोंकी जिनकी महकसे सब दिशायें सुगन्धित होती थीं, वर्षा करते चले जाते थे। चारणलोग भगवान्‌की स्तुति पढ़ते जाते थे। कुलकामनियाँ सुन्दर सुन्दर गीत गाती जाती थीं। नर्तकियाँ नृत्य करती जाती थीं। अनेक प्रकारके वाजोंका सुन्दर शब्द दर्शकोंके मनको अपनी ओर आकर्षित करता था। इ[illegible] सब शोभाओंसे रथ ऐसा जान पड़ता था, मानो पुण्यरूप रत्नोंक उत्पन्न करनेको चलनेवाला वह एक दूसरा रोह[illegible] पर्वत उत्पन्न हुआ है। उस समय जो याचकोंको दान दि[illegible] जाता था, वस्त्राभूषण वितीर्ण किये जाते थे, उससे रथक[illegible] शोभा एक चलते हुए कल्पवृक्षकीसी जान पड़ती थी। ह[illegible] रथकी शोभाका कहांतक वर्णन करें ? आप इसीसे अनुमान कर लीजिये कि जिसकी शोभाको देखकर ही बहुतसे अन्य[illegible] धर्मी लोगोंने जब सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लिया तब उसकी सुन्दरताका क्या ठिकाना है ? इत्यादि दर्शनीय वस्तुओंसे सजाकर रथ निकाला गया, उसे देखकर यही जान पड़ता था, मानो महादेवी मदनसुन्दरीकी यशोराशि ही चल र[illegible]

। वह रथ भव्य–पुरुषोंके लिये सुखका देनेवाला था। उस न्दर रथकी हम प्रतिदिन भावना करते हैं–उसका ध्यान रते हैं। वह हमें सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी प्रदान करे।

जिस प्रकार अकलंकदेवने सम्यग्ज्ञानकी प्रभावना की, उसका महत्त्व सर्व साधारण लोगोंके हृदयपर अंकित कर- दिया उसी प्रकार और और भव्य पुरुषोंको भी उचित है कि वे भी अपनेसे जिस तरह बन पड़े जिनधर्मकी प्रभावना रें–जैनधर्मके प्रति उनका जो कर्तव्य है उसे वे पूरा करें।

संसारमें जिनभगवान्‌की सदा जय हो, जिन्हें इन्द्र, धर- न्द्र नमस्कार करते हैं और जिनका ज्ञानरूपी प्रदीप सारे सारको सुख देनेवाला है।

श्रीप्रभाचन्द्र मुनि मेरा कल्याण करें, जो गुण–रत्नोंके त्पन्न होनेके स्थान–पर्वत हैं और ज्ञानके समुद्र हैं।

३–सनत्कुमार चक्रवर्त्तीकी कथा।

र्ग और मोक्ष सुखके देनेवाले श्रीअर्हत्, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय और साधुओंको नमस्कार करके मैं सम्यक्चारित्रका उद्योत करनेवाले चौथे सनत्कुमार चक्रवर्त्तीकी कथा लिखता हूं।

अनन्तवीर्य भारतवर्षके अन्तर्गत वीतशोक नामक शहरके राजा थे। उनकी महारानीका नाम सीता था। हमारे चरित्र-

नायक सनत्कुमार इन्हींके पुण्यके फल थे। वे चक्रवर्ती थे। सम्यग्दृष्टियोंमें प्रधान थे। उन्होंने छहों खंड पृथ्वी अपने वश करली थी। उनकी विभूतिका प्रमाण ऋषियोंने इस प्रकार लिखा है–नवनिधि, चौदहरत्न, चौराशी लाख हाथी, इतने ही रथ, अठारा करोड़ घोड़े, चौरासी करोड़ शूरवीर, छयानवे करोड़ धान्यसे भरे हुए ग्राम, छयानवे हजार सुन्दरियां और सदा सेवामें तत्पर रहनेवाले बत्तीस हजार बड़े बड़े राजा, इत्यादि संसार–श्रेष्ठ सम्पत्तिसे वे युक्त थे। देव विद्याधर उनकी सेवा करते थे। वे बड़े सुन्दर थे, बड़े भाग्यशाली थे। जिनधर्मपर उनकी पूर्ण श्रद्धा थी। वे अपना नित्य नैमित्तिक कर्म श्रद्धाके साथ करते–कभी उनमें विघ्न नहीं आने देते। इसके सिवा अपने विशाल राज्यका वे बड़ी नीतिके साथ पालन करते और सुखपूर्वक दिन व्यतीत करते।

एक दिन सौधर्मस्वर्गका इन्द्र अपनी सभामें पुरुषोंके रूपसौंदर्यकी प्रशंसा कर रहा था। सभामें बैठे हुए एक विनोदी देवने उससे पूछा–प्रभो! जिस रूपगुणकी आप बेहद तारीफ कर रहे हैं, भला, ऐसा रूप भारतवर्षमें किसीका है भी या केवल यह प्रशंसा ही मात्र है?

उत्तरमें इन्द्रने कहा–हाँ इस समय भी भारत वर्षमें एक ऐसा पुरुष है, जिसके रूपकी मनुष्य तो क्या पर देव भी तुलना नहीं कर सकते। उसका नाम है सनत्कुमार चक्रवर्ती।

इन्द्रके द्वारा देव–दुर्लभ सनत्कुमार चक्रवर्तीके रूपसौंदर्य की प्रशंसा सुनकर मणिमाल और रत्नचूल नामके दो देव

चक्रवर्तीकी रूपसुधाके पानकी बढ़ी हुई लालसाको किसी तरह नहीं रोक सके। वे उसी समय गुप्त वेषमें स्वर्गधराको छोड़कर भारतवर्षमें आये और स्नान करते हुए चक्रवर्तीका वस्त्रालंकार रहित, पर उस हालतमें भी त्रिभुवनप्रिय और सर्व सुन्दर रूपको देखकर उन्हें अपना शिर हिलाना ही पड़ा। उन्हें मानना पड़ा कि चक्रवर्त्तीका रूप वैसा ही सुंदर है, जैसा इंद्रने कहा था। और सचमुच यह रूप देवोंके लिये भी दुर्लभ है। इसके बाद उन्होंने अपना असली वेष बनाकर पहरेदारसे कहा–तुम जाकर अपने महाराजसे कहो कि आपके रूपको देखनेके लिये स्वर्गसे दो देव आये हुए हैं। पहरेदारने जाकर महाराजसे देवोंके आनेका हाल कहा। चक्रवर्तीने उसी समय अपने श्रृंगार भवनमें पहुँचकर अपनेको बहुत अच्छी तरह वस्त्राभूषणोंसे सिंगारा। इसके बाद वे सिंहासनपर आकर बैठे और देवोंको राजसभामें आनेकी आज्ञा दी।

देव राजसभामें आये और चक्रवर्तीका रूप उन्होंने देखा। देखते ही वे खेदके साथ बोल उठे, महाराज! क्षमा कीजिये; हमें बड़े दुःखके साथ कहना पड़ता है कि स्नान करते समय वस्त्राभूषणरहित आपके रूपमें जो सुन्दरता, जो माधुरी हमने छुपपर देख पाई थी, वह अब नहीं रही। इससे जैनधर्मका यह सिद्धान्त बहुत ठीक है कि संसारकी सब वस्तुएं क्षणक्षणमें परिवर्त्तित होती हैं–सब क्षणभंगुर हैं।

देवोंकी विस्मय उत्पन्न करनेवाली बात सुनकर राजकर्मचारियोंने तथा और और उपस्थित सभ्योंने देवोंसे कहा-

हमें तो महाराजके रूपमें पहलेसे कुछ भी कमी नहीं दिखती, न जाने तुमने कैसे पहली सुन्दरतासे इसमें कमी बतलाई है। सुनकर देवोंने सबको उसका निश्चय करानेके लिये एक जल भरा हुआ घड़ा मँगवाया और उसे सबको बतलाकर फिर उसमेंसे तृण द्वारा एक जलकी बूंद निकाल- ली। उसके बाद फिर घड़ा सबको दिखलाकर उन्होंने उनसे पूछा–बतलाओ पहले जैसे घड़ेमें जल भरा था अब भी वैसा ही भरा है, पर तुम्हें पहलेसे इसमें कुछ विशेषता दिखती है क्या? सबने एक मत होकर यही कहा कि नहीं। तब देवोंने राजासे कहा–महाराज, घड़ा पहले जैसा था, उसमेंसे एक बूंद जलकी निकालली गई तब भी वह इन्हें वैसा ही दिखता है। इसी तरह हमने आपका जो रूप पहले देखा था, वह अब नहीं रहा। वह कमी हमें दिखती है, पर इन्हें नहीं दिखती। यह कहकर वे दोनों देव स्वर्गकी ओर चले गये।

चक्रवर्तीने इस चमत्कारको देखकर विचारा–स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु, धन, धान्य, दासी, दास, सोना, चांदी– आदि जितनी सम्पत्ति है, वह सब बिजलीकी तरह क्षणभरमें देखते देखते नष्ट होनेवाली है और संसार दुःखका समुद्र है। यह शरीर भी, जिसे दिनरात प्यार किया जाता है, घिनौना है, सन्तापको बढ़ानेवाला है, दुर्गन्धयुक्त है और अपवित्र वस्तुओंसे भरा हुआ है। तब इस क्षण– विनाशी शरीरके साथ कौन बुद्धिमान् प्रेम करेगा? ये पांच- इन्द्रियोंके विषय ठगोंसे भी बढ़कर ठग हैं। इनके द्वारा ठगाया हुआ प्राणी एक पिशाचिनीकी तरह उनके वश होकर

अपनी सब सुधि भूल जाता है और फिर जैसा वे नाच नचाते हैं नाचने लगता है। मिथ्यात्व जीवका शत्रु है, इसके वश हुए जीव अपने आत्महितके करनेवाले—संसारके दुःखोंसे छुटाकर अविनाशी सुखके देनेवाले—पवित्र जिनधर्मसे भी प्रेम नहीं करते। सच भी तो है—पित्तज्वरवाले पुरुषको दूध भी कड़वा ही लगता है। परन्तु मैं तो अब इन विषयोंके जालसे अपने आत्माको छुड़ाऊंगा। मैं आज ही मोहमायाका नाशकर अपने हितके लिये तैयार होता हूं। यह विचार कर वैरागी चक्रवर्तीने जिनमन्दिरमें पहुँचकर सब सिद्धिकी प्राप्ति करानेवाले भगवानकी पूजा की, याचकोंको दयाबुद्धिसे दान दिया और उसी समय पुत्रको राज्यभार देकर आप वनकी ओर रवाना हो गये; और चारित्रगुप्त मुनिराजके पास पहुँचकर उनसे जिनदीक्षा गृहण कर ली, जो कि संसारकी हित करनेवाली है। इसके बाद वे पंचाचार आदि मुनिव्रतोंका निरतिचार पालन करते हुए कठिनसे कठिन तपश्चर्या करने लगे। उन्हें न शीत सताती है और न आताप सन्तापित करता है। न उन्हें भूखकी परवा है और न प्यास की। वनके जीवजन्तु उन्हें खूब सताते हैं, पर वे उससे अपनेको कुछ भी दुखी ज्ञान नहीं करते। वास्तवमें जैन साधुओंका मार्ग बड़ा कठिन है, उसे ऐसे ही धीर वीर महात्मा पाल सकते हैं। साधारण पुरुषोंकी उसके पास गम्य नहीं। चक्रवर्ती इस प्रकार आत्मकल्याणके मार्गमें आगे आगे बढ़ने लगे।

एक दिनकी बात है कि—वे आहारके लिये शहरमें गये। आहार करते समय कोई प्रकृति—विरुद्ध वस्तु उनके खानेमें

आ गई। उसका फल यह हुआ कि उनका सारा शरीर खराब हो गया, उसमें अनेक भयंकर व्याधियाँ उत्पन्न हो गईं और सबसे भारी व्याधि तो यह हुई कि उनके सारे शरीरमें कोढ़ फूट निकली। उससे रुधिर, पीप बहने लगा, दुर्गंध आने लगी। यह सब कुछ हुआ पर इन व्याधियोंका असर चक्रवर्त्तीके मनपर कुछ भी नहीं हुआ। उन्होंने कभी इस बातकी चिन्तातक भी नहीं की कि मेरे शरीरकी क्या दशा है? किन्तु वे जानते थे कि—

> बीभत्सु तापकं पूति शरीरमशुचेर्गृहम्।
> का प्रीतिर्विदुषामत्र यत्क्षणार्धे परिक्षयि ॥

इसलिये वे शरीरसे सर्वथा निर्मोही रहे और बड़ी सावधानीसे तपश्चर्या करते रहे–अपने व्रत पालते रहे।

एक दिन सौधर्मस्वर्गका इन्द्र अपनी सभामें धर्म–प्रेमके वश हो मुनियोंके पाँच प्रकारके चारित्रका वर्णन कर रहा था। उस समय एक मदनकेतु नामक देवने उससे पूछा–प्रभो! जिस चारित्रका आपने अभी वर्णन किया उसका ठीक पालनेवाला क्या कोई इस समय भारतवर्षमें है? उत्तरमें इन्द्रने कहा, सनत्कुमार चक्रवर्ती हैं। वे छह खण्ड पृथ्वीको तृणकी तरह छोडकर संसार, शरीर, भोग–आदिसे अत्यन्त उदास हैं और दृढ़ताके साथ तपश्चर्या तथा पंचप्रकारका चारित्र पालन करते हैं।

मदनकेतु सुनते ही स्वर्गसे चलकर भारतवर्षमें जहाँ सनत्कुमार मुनि तपश्चर्या करते थे, वहाँ पहुँचा। उसने देखा कि–उनका सारा शरीर रोगोंका घर बन रहा है, तब

भी चक्रवर्ती सुमेरुके समान निश्चल होकर तप कर रहे हैं। उन्हें अपने दुःखकी कुछ परवा नहीं है। वे अपने पवित्र चारित्रका धीरताके साथ पालनकर पृथ्वीको पावन कर रहे हैं। उन्हें देखकर मदनकेतु बहुत प्रसन्न हुआ। तब भी वे शरीरसे कितने निर्मोही हैं, इस बातकी परीक्षा करनेके लिये उसने वैद्यका वेष बनाया और लगा वनमें घूमने। वह घूम घूम कर यह चिल्लाता था कि "मैं एक बड़ा प्रसिद्ध वैद्य हूँ, सब वैद्योंका शिरोमणी हूँ। कैसी ही भयंकरसे भयंकर व्याधि क्यों न हो उसे देखते देखते नष्ट करके शरीरको क्षणभरमें मैं निरोग कर सकता हूँ।" देखकर सनत्कुमार मुनिराजने उसे बुलाया और पूछा तुम कौन हो? किसलिये इस निर्जन वनमें घूमते फिरते हो? और क्या कहते हो? उत्तरमें देवने कहा—मैं एक प्रसिद्ध वैद्य हूँ। मेरे पास अच्छीसे अच्छी दवायें हैं। आपका शरीर बहुत बिगड़ रहा है, यदि आज्ञा दें तो मैं क्षणमात्रमें इसकी सब व्याधियाँ खोकर इसे सोने सरीखा बना सकता हूँ। मुनिराज बोले—हाँ तुम वैद्य हो? यह तो बहुत अच्छा हुआ जो तुम इधर अनायास आ निकले। मुझे एक बड़ा भारी और महाभयंकर रोग हो रहा है, मैं उसके नष्ट करनेका प्रयत्न करता हूँ पर सफल प्रयत्न नहीं होता। क्या तुम उसे दूर कर दोगे?

देवने कहा—निस्सन्देह मैं आपके रोगको जड़ मूलसे खोदूंगा। वह रोग शरीरसे गलनेवाला कोढ़ ही है न?

मुनिराज बोले—नहीं, यह तो एक तुच्छ रोग है। इसकी तो मुझे कुछ भी परवा नहीं। जिस रोगकी बाबत मैं तुमसे कह रहा हूं, वह तो बड़ा ही भयंकर है।

देव बोला—अच्छा, तब बतलाइये वह क्या रोग है जिसे आप इतना भयंकर बतला रहे हैं?

मुनिराजने कहा—सुनो, वह रोग है संसारका परिभ्रमण। यदि तुम मुझे उससे छुड़ा दोगे तो बहुत अच्छा होगा। बोलो क्या कहते हो? सुनकर देव बड़ा लज्जित हुआ। वह बोला, मुनिनाथ! इस रोगको तो आप ही नष्ट कर सकते हैं। आप ही इसके दूर करनेको शूरवीर और बुद्धिमान् हैं। तब मुनिराजने कहा—भाई, जब इस रोगको तुम नष्ट नहीं कर सकते तब मुझे तुम्हारी आवश्यकता भी नहीं। कारण—विनाशीक, अपवित्र, निर्गुण और दुर्जनके समान इस शरीरकी व्याधियोंको तुमने नष्ट कर भी दिया तो उसकी मुझे जरूरत नहीं। जिस व्याधिका वमनके स्पर्शमात्रसे ही जब क्षय हो सकता है, तब उसके लिये बड़े बड़े वैद्यशिरोमणीकी और अच्छी अच्छी दवाओंकी आवश्यकता ही क्या है? यह कहकर मुनिराजने अपने वमन द्वारा एक हाथके रोगको नष्ट कर उसे सोनेसा निर्मल बना दिया। मुनिकी इस अतुल शक्तिको देखकर देव भौंचकसा रह गया। वह अपने कृत्रिम वेषको पलटकर मुनिराजसे बोला—भगवन्! आपके विचित्र और निर्दोष चारित्रकी तथा शरीरमें निर्मोहपनेकी सौधर्मेन्द्रने धर्मप्रेमके वश होकर जैसी प्रशंसा की थी, वैसा ही मैंने आपको पाया। प्रभो! आप धन्य हैं, संसारमें आपहीका मनुष्य जन्म प्राप्त करना सफल और सुख देनेवाला है। इस प्रकार मदनकेतु सनत्कुमार मुनिराजकी प्रशंसाकर और बड़ी भक्तिके साथ उन्हें वारम्बार नमस्कार कर स्वर्गमें चला गया।

इधर सनत्कुमार मुनिराज क्षणक्षणमें बढ़ते हुए वैराग्यके साथ अपने चारित्रको क्रमशः उन्नत करने लगे और अन्तमें शुक्लध्यानके द्वारा घातिया कर्मोंका नाशकर उन्होंने लोकालोकका प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया और इन्द्र धरणेन्द्रादि द्वारा पूज्य हुए।

इसके बाद वे संसार–दुःखरूपी अग्निसे झुलसते हुए अनेक जीवोंको सद्धर्मरूपी अमृतकी वर्षासे शान्तकर–उन्हें मुक्तिका मार्ग बतलाकर, और अन्तमें अघातिया कर्मोंका भी नाशकर मोक्षमें जा विराजे, जो कभी नाश नहीं होनेवाला है।

उन स्वर्ग और मोक्ष–सुख देनेवाले श्रीसनत्कुमार केवलीकी हम भक्ति और पूजन करते हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं। वे हमें भी केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी प्रदान करें।

जिस प्रकार सनत्कुमार मुनिराजने सम्यक्चारित्रका उद्योत किया उसी तरह सब भव्य पुरुषोंको भी करना उचित है। वह सुखका देनेवाला है।

श्रीमूलसंघ–सरस्वतीगच्छमें चारित्रचूड़ामणी श्रीमल्लिभूषण भट्टारक हुए। सिंहनन्दी मुनि उनके प्रधान शिष्योंमें थे। वे बड़े गुणी थे और सत्पुरुषोंको आत्मकल्याणका मार्ग बतलाते थे। वे मुझे भी संसारसमुद्रसे पार करें।

४–समन्तभद्राचार्यकी कथा।

संसारके द्वारा पूज्य और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानका उद्योत करनेवाले श्रीजिनभगवानको नमस्कार कर श्रीसमन्तभद्राचार्यकी पवित्र कथा लिखता हूं, जो कि सम्यक्चारित्रकी प्रकाशक है।

भगवान् समन्तभद्रका पवित्र जन्म दक्षिणप्रान्तके अन्तर्गत कांची नामकी नगरीमें हुआ था। वे बड़े तत्त्वज्ञानी और न्याय, व्याकरण, साहित्य–आदि विषयोंके भी बड़े भारी विद्वान् थे। संसारमें उनकी बहुत ख्याति थी। वे कठिनसे कठिन चारित्रका पालन करते, दुस्सह तप तपते और बड़े आनन्दसे अपना समय आत्मानुभव, पठनपाठन, ग्रन्थरचना आदिमें व्यतीत करते।

कर्मोंका प्रभाव दुर्निवार है। उसके लिये राजा हो या रंक हो, धनी हो या निर्धन हो, विद्वान् हो या मूर्ख हो, साधु हो या गृहस्थ हो, सब समान हैं–सबको अपने अपने कर्मोंका फल भोगना ही पड़ता है। भगवान् समन्तभद्रके लिये भी एक ऐसा ही कष्टका समय आया। वे बड़े भारी तपस्वी थे, विद्वान् थे, पर कर्मोंने इन बातोंकी कुछ परवा न कर उन्हें अपने चक्रमें फँसाया। असातावेदनीके तीव्र उदयसे भस्मव्याधि नामका एक भयंकर रोग उन्हें हो गया। उससे वे जो कुछ खाते वह उसी समय भस्म हो जाता और भूख वैसीकी वैसी बनी रहती। उन्हें इस बातका बड़ा कष्ट हुआ कि हम विद्वान् हुए और पवित्र जिनशासनका संसारभरमें

प्रचार करनेके लिये समर्थ भी हुए तब भी उसका कुछ उपकार नहीं कर पाते। इस रोगने असमयमें बड़ा कष्ट पहुंचाया। अस्तु। अब कोई ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे इसकी शान्ति हो। अच्छे अच्छे स्निग्ध, सचिक्कण और पौष्टिक पक्वान्नका आहार करनेसे इसकी शान्ति हो सकेगी; इसलिये ऐसे भोजनका योग मिलाना चाहिये। पर यहां तो इसका कोई साधन नहीं दीख पड़ता। इसलिये जिस जगह, जिस तरह ऐसे भोजनकी प्राप्ति हो सकेगी मैं वहीं जाऊंगा और वैसा ही उपाय करूंगा।

यह विचार कर वे कांचीसे निकले और उत्तरकी ओर रवाना हुए। कुछ दिनोंतक चलकर वे पुण्ड्र नगरमें आये। वहां बौद्धोंकी एक बड़ीभारी दानशाला थी। उसे देखकर आचार्यने सोचा, यह स्थान अच्छा है। यहां अपना रोग नष्ट हो सकेगा। इस विचारके साथ ही उन्होंने बुद्धसाधुका वेष बनाया और दानशालामें प्रवेश किया। पर वहां उन्हें उनकी व्याधिशान्तिके योग्य भोजन नहीं मिला। इसलिये वे फिर उत्तरकी ओर आगे बढ़े और अनेक शहरोंमें घूमते हुए कुछ दिनोंके बाद दशपुर—मन्दोसोरमें आये। वहां उन्होंने भागवत—वैष्णवोंका एक बड़ा भारी मठ देखा। उसमें बहुतसे भागवतसम्प्रदायके साधु रहते थे। उनके भक्तलोग उन्हें खूब अच्छा अच्छा भोजन देते थे। यह देखकर उन्होंने बौद्धवेषको छोड़कर भागवत—साधुका वेष ग्रहण कर लिया। वहां वे कुछ दिनोंतक रहे, पर उनकी व्याधिके योग्य उन्हें वहां भी भोजन नहीं मिला। तब वे वहांसे

भी निकलकर और अनेक देशों और पर्वतोंमें घूमते हुए बनारस आये। उन्होंने यद्यपि बाह्यमें जैनमुनियोंके वेषको छोड़कर कुलिंग धारण कर रक्खा था, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके हृदयमें सम्यग्दर्शनकी पवित्र ज्योति जगमगा रही थी। इस वेषमें वे ठीक ऐसे जान पड़ते थे, मानों कीचड़से भरा हुआ कान्तिमान् रत्न हो। इसके बाद आचार्य योगलिंग धारण कर शहरमें घूमने लगे।

उस समय बनारसके राजा थे शिवकोटी। वे शिवके बड़े भक्त थे। उन्होंने शिवका एक विशाल मन्दिर बनवाया था। वह बहुत सुन्दर था। उसमें प्रतिदिन अनेक प्रकारके व्यंजन शिवकी भेंट चढ़ा करते थे। आचार्यने देखकर सोचा कि यदि किसी तरह अपनी इस मन्दिरमें कुछ दिनोंके लिये स्थिति हो जाय, तो निस्सन्देह अपना रोग शान्त हो सकता है। यह विचार वे कर ही रहे थे कि इतनेमें पुजारी लोग महादेवकी पूजा करके बाहर आये और उन्होंने एक बड़ी भारी व्यंजनोंकी राशि, जो कि शिवकी भेंट चढ़ाई गई थी, लाकर बाहर रख दी। उसे देखकर, आचार्यने कहा, क्या आप लोगोंमें ऐसी किसीकी शक्ति नहीं जो महाराजके भेजे हुए इस दिव्य भोजनको शिवकी पूजाके बाद शिवको ही खिला सके? तब उन ब्राह्मणोंने कहा, तो क्या आप अपनेमें इस भोजनको शिवको खिलानेकी शक्ति रखते हैं? आचार्यने कहा—हाँ मुझमें ऐसी शक्ति है। सुनकर उन बेचारोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने उसी समय जाकर यह हाल राजासे कहा—प्रभो! आज एक योगी आया है।

उसकी बातें बड़ी विलक्षण हैं। हमने महादेवकी पूजा करके उनके लिये चढ़ाया हुआ नैवेद्य बाहर लाकर रक्खा, उसे देखकर वह योगी बोला कि–"आश्चर्य है, आप लोग इस महादिव्य भोजनको पूजनके बाद महादेवको न खिला कर पीछा उठा ले आते हो! भला, ऐसी पूजासे लाभ? उसने साथ ही यह भी कहा कि मुझमें ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा यह सब भोजन मैं महादेवको खिला सकता हूं। यह कितने खेदकी बात है कि जिसके लिये इतना आयोजन किया जाता है, इतना खर्च उठाया जाता है, वह यों ही रह जाय और दूसरे ही उससे लाभ उठावें? यह ठीक नहीं। इसके लिये कुछ प्रबन्ध होना चाहिये, जो जिसके लिये इतना परिश्रम और खर्च उठाया जाता है वही उसका योग भी कर सके।"

महाराजको भी इस अभूतपूर्व बातके सुननेसे व॰ हुआ। वे इस विनोदको देखनेके लिये उसी समय, प्रकारके सुन्दर और सुस्वादु पकान्न अपने साथ ले शिवमन्दिर गये और आचार्यसे बोले–योगिराज! सु॰ कि आपमें कोई ऐसी शक्ति है, जिसके द्वारा शिवमूर्तिक॰ भी आप खिला सकते हैं, तो क्या यह बात सत्य है? और सत्य है तो लीजिये यह भोजन उपस्थित है, इसे महादेवको खिलाइये।

उत्तरमें आचार्यने 'अच्छी बात है' यह कहकर राजाके लाये हुए सब पकानोंको मन्दिरके भीतर रखवा दिया और सब पुजारी पंडोंको मन्दिर बाहर निकालकर भीतरसे आपने

मन्दिरके किवाँड़ बन्दकर लिये। इसके बाद लगे उसे आप उदरस्थ करने। आप भूखे तो खूब थे ही, इसलिये थोड़ी ही देरमें सब आहारको हजमकर आपने झटसे मन्दिरका दरवाजा खोल दिया और निकलते ही नौकरोंको आज्ञा की कि सब बरतन बाहर निकललो। महाराज इस आश्चर्यको देखकर भौंचकसे रह गये। वे राजमहल लौट गये। उन्होंने बहुत तर्कवितर्क उठाये पर उनकी समझमें कुछ भी नहीं आया कि वास्तवमें बात क्या है?

अब प्रतिदिन एकसे एक बढ़कर पकान्न आने लगे और आचार्य महाराज भी उनके द्वारा अपनी व्याधि नाश करने लगे। इस तरह पूरे छह महिना बीत गये। आचार्यका रोग नष्ट हो गया।

दिन आहारराशिको ज्योंकी त्यों बची हुई देख-ी–पण्डोंने उनसे पूछा, योगिराज! यह क्या बात ? आज यह सब आहार यों ही पड़ा रहा? आचार्यने दिया–राजाकी परम भक्तिसे भगवान् बहुत खुश हुए–ब तृप्त हो गये हैं। पर इस उत्तरसे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने जाकर आहारके बाकी बचे रहनेका हाल राजासे कहा। सुनकर राजाने कहा–अच्छा इस बातका पता लगाना चाहिये, कि वह योगी मन्दिरके किवाँड़ देकर भीतर क्या करता है? जब इस बातका ठीक ठीक पता लग जाय तब उससे भोजनके बचे रहनेका कारण पूछा जा सकता है और फिर उसपर विचार भी किया जा सकता है। बिना ठीक हाल जाने उससे कुछ पूछना ठीक नहीं जान पड़ता।

एक दिनकी बात है कि आचार्य कहीं गये हुए थे और उन सबने मिलकर एक चालाक लड़केको महादेवके जलके निकलेनेकी नालीमें छुपा दिया और उसे पत्तोंसे ढक दिया। वह वहाँ छिपकर आचार्यकी गुप्त क्रिया देखने लगा।

सदाके माफिक आज भी खूब अच्छे अच्छे पकान्न आये। योगिराजने उन्हें भीतर रखवाकर भीतरसे मन्दिरका दरवाजा बन्द कर लिया और आप लगे भोजन करने। जब आपका पेट भर गया, तब किवाँड़ खोलकर आप नौकरोंसे उस बचे सामानको उठा लेनेके लिये कहना ही चाहते थे कि उनकी दृष्टि साह्मने ही खड़े हुए राजा और ब्राह्मणोंपर पड़ी। आज एकाएक उन्हें वहाँ उपस्थित देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। वे झटसे समझ गये कि आज अवश्य कुछ न कुछ दालमें काला है। इतनेहीमें वे ब्राह्मण उनसे पूछ बैठे कि योगिराज! क्या बात है, जो कई दिनोंसे बराबर आहार बचा रहता है? क्या शिवजी अब कुछ नहीं खाते? जान पड़ता है, वे अब खूब तृप्त हो गये हैं। इसपर आचार्य कुछ कहना ही चाहते थे कि वह धूर्त लड़का उन फूल पत्तोंके नीचेसे निकलकर महाराजके सामने आ खड़ा हुआ और बोला-राजराजेश्वर! ये योगी तो यह कहते थे कि मैं शिवजीको भोजन कराता हूं, पर इनका यह कहना बिलकुल झूठा है। असलमें ये शिवजीको भोजन न कराकर स्वयं ही खाते हैं। इन्हें खाते हुए मैंने अपनी आँखोंसे देखा है। योगिराज! सबकी आँखोंमें आपने तो बड़ी बुद्धिमानीसे धूल झोंकी है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आप योगी नहीं, वि
बड़े भारी धूर्त हैं। और महाराज! इनकी धूर्तता
जो शिवजीको हाथ जोड़ना तो दूर रहा उल्टा ये
विनय करते हैं। इतनेमें वे ब्राह्मण भी बोल उठे,
जान पड़ता है यह शिवभक्त भी नहीं है। इसलिये
शिवजीको हाथ जोड़नेके लिये कहा जाय, तब सब पो
स्वयं खुल जायगी। सब कुछ सुनकर महाराजने आचार्य
कहा–अच्छा जो कुछ हुआ उसपर ध्यान न देक
हम यह जानना चाहते हैं कि तुम्हारा असल धर्म क्य
है? इसलिये तुम शिवजीको नमस्कार करो। सुनक
भगवान्समन्तभद्र बोले–राजन्! मैं नमस्कार कर सकता
हूं, पर मेरा नमस्कार स्वीकार कर लेनेको शिवजी
समर्थ नहीं हैं। कारण- वे राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया
आदि विकारोंसे दूषित हैं। जिस प्रकार पृथ्वीके पालनका
भार एक सामान्य मनुष्य नहीं उठा सकता, उसी प्रकार
मेरी पवित्र और निर्दोष नमस्कृतिको एक रागद्वेषा-
विकारोंसे अपवित्र देव नहीं सह सकता। किन्तु जो क्षुधा
तृषा, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ--आदि अठार
दोषोंसे रहित है, केवलज्ञानरूपी प्रचण्ड तेजका धारक है
और लोकालोकका प्रकाशक है, वही जिनसूर्य मेरे नम-
स्कारके योग्य है और वही उसे सह भी सकता है। इस
लिये मैं शिवजीको नमस्कार नहीं करूंगा। इसके सिवा भी
यदि आप आग्रह करेंगे तो आपको समझ लेना चाहिये कि
इस शिवमूर्तिकी कुशल नहीं है, यह तुरत ही फट पड़ेगी।

आचार्यकी इस बातसे राजाका विनोद और भी बढ़ गया। उन्होंने कहा—योगिराज! आप इसकी चिन्ता न करे, यह मूर्ति यदि फट पड़ेगी तो इसे फट पड़ने दीजिये, पर आपको तो नमस्कार करना ही पड़ेगा। राजाका बहुत ही आग्रह देख आचार्यने "तथास्तु" कहकर कहा—अच्छा तो कल प्रातःकाल ही मैं अपनी शक्तिका आपको परिचय कराऊँगा। 'अच्छी बात है, यह कहकर राजाने आचार्यको मन्दिरमें बन्द करवा दिया और मन्दिरके चारों ओर नंगी तलवार लिये सिपाहियोंका पहरा लगवा दिया। इसके बाद "आचार्यकी सावधानीके साथ देखरेख की जाय, वे कहीं निकल न भागें" इस प्रकार पहरेदारोंको खूब सावधान कर आप राजमहल लौट गये।

आचार्यने कहते समय तो कह डाला, पर अब उन्हें खयाल आया कि मैंने यह ठीक नहीं किया। क्यों मैंने बिना कुछ सोचे विचारे जल्दीसे ऐसा कह डाला! यदि मेरे कहनेके अनुसार शिवजीकी मूर्ति न फटी तब मुझे कितना नीचा देखना पड़ेगा और उस समय राजा क्रोधमें आकर न जाने क्या कर बैठे! खैर, उसकी भी कुछ परवा नहीं पर इससे धर्मकी कितनी हँसी होगी! जिस परमात्माकी राजाके साम्हने मैं इतनी प्रशंसा कर चुका हूँ, उसे और मेरी झूठको देखकर सर्व साधारण क्या विश्वास करेंगे, आदि एकपर एक चिन्ता उनके हृदयमें उठने लगी। पर अब हो भी क्या सकता था। आखिर उन्होंने यह सोचकर—कि जो होना था वह तो हो चुका और कुछ बाकी है वह कल

सवेरे हो जायगा; अब व्यर्थ चिन्तासे ही लाभ क्या–। जिन-भगवानकी आराधनामें अपने ध्यानको लगाया और बड़े पवित्र भावोंसे उनकी स्तुति करने लगे।

आचार्यकी पवित्र भक्ति और श्रद्धाके प्रभावसे शासनदेवी-का आसन कम्पित हुआ। वह उसी समय आचार्यके पास आई और उनसे बोली–"हे जिनचरणकमलोंके भ्रमर! हे प्रभो! आप किसी बातकी चिन्ता न कीजिये। विश्वास रखिये कि जैसा आपने कहा है वह अवश्य ही होगा। आप स्वयंभुवा भूतहितेन भूतले इस पद्यांशको लेकर चतुर्विं-शति तीर्थंकरोंका एक स्तवन रचियेगा। उसके प्रभावसे आपका कहा हुआ सत्य होगा और शिवमूर्त्ति भी फट पड़ेगी। इतना कह कर अम्बिका देवी अपने स्थानपर चली गई।

आचार्यको देवीके दर्शनसे बड़ी प्रसन्नता हुई। उनके हृदयकी चिन्ता मिटी, आनन्दने अब उसपर अपना अधि-कार किया। उन्होंने उसी समय देवीके कहे अनुसार एक बहुत सुन्दर जिनस्तवन बनाया, जो कि इस समय स्वयं-भूस्तोत्र–के नामसे प्रसिद्ध है।

रात सुखपूर्वक बीती। प्रातःकाल हुआ। राजा भी इसी समय वहाँ आ उपस्थित हुआ। उसके साथ और भी बहुतसे अच्छे अच्छे विद्वान् आये। अन्य साधारण जनसमूह भी बहुत इकट्ठा हो गया। राजाने आचार्यको बाहर ले आनेकी आज्ञा दी। वे बाहर लाये गये। अपने साम्हने आते हुए आचार्यको खूब प्रसन्न और उनके मुहँको सूर्यके समान तेजस्वी देखकर

राजाने सोचा—इनके मुहँपर तो चिन्ताके बदले स्वर्गीय तेजकी छटायें छुट रही हैं, इससे जान पड़ता है—ये अपनी प्रतिज्ञा अवश्य पूरी करेंगे। अस्तु। तब भी देखना चाहिये कि ये क्या करते हैं। इसके साथ ही उसने आचार्यसे कहा—योगिराज! कीजिये नमस्कार, जिससे हम भी आपकी अद्भुत शक्तिका परिचय पा सकें।

राजाकी आज्ञा होते ही आचार्यने संस्कृत भाषामें एक बहुत ही सुन्दर और अर्थपूर्ण जिनस्तवन आरंभ किया। स्तवन रचते रचते जहाँ उन्होंने चन्द्रप्रभभगवानकी स्तुतिका "चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरम्" यह पद्यांश रचना शुरू किया कि उसी समय शिवमूर्ती फटी और उसमेंसे श्रीचन्द्रप्रभभगवानकी चतुर्मुख प्रतिमा प्रगट हुई। इस आश्चर्यके साथ ही जयध्वनिके मारे आकाश गूंज उठा। आचार्यके इस अप्रतिम प्रभावको देखकर उपस्थित जनसमूहको दाँतोंतले अंगुली दबाना पड़ी। सबके सब आचार्यकी ओर देखतेके देखते ही रह गये।

इसके बाद राजाने आचार्यमहाराजसे कहा—योगिराज! आपकी शक्ति, आपका प्रभाव, आपका तेज देखकर हमारे आश्चर्यका कुछ ठिकाना नहीं रहता। बतलाइये तो आप हैं कौन? और आपने वेष तो शिवभक्तका धारणकर रक्खा है, पर आप शिवभक्त हैं नहीं। सुनकर आचार्यने नीचे लिखे दो श्लोक पढ़े—

> कांच्यां नग्नाटकोहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः,
> पुण्ड्रोण्डे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मृष्टभोजी परिव्राट्।
> वाणारस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुराङ्गस्तपस्वी
> राजन् यस्यास्तिशक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी॥

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुढक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोहं करहाटकं बहुभटैर्विद्योत्कटैः सकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्॥

भावार्थ—मैं कांचीमें नग्न दिगम्बर साधु होकर रहा। इसके बाद शरीरमें रोग हो जानेसे पुंड्र नगरमें बुद्धभिक्षुक, दशपुर (मन्दोसोर) में मिष्टान्नभोजी परिव्राजक और बनारसमें शैवसाधु बनकर रहा। राजन्, मैं जैननिर्ग्रन्थवादी-स्याद्वादी हूं। जिसकी शक्ति वाद करनेकी हो, वह मेरे साम्हने आकर वाद करे।

पहले मैंने पाटलीपुत्र (पटना) में वादभेरी बजाई। इसके बाद मालवा, सिन्धुदेश, ढक्क (ढाका-बंगाल) कांचीपुर और विदिश नामक देशमें भेरी बजाई। अब वहाँसे चलकर मैं बड़े बड़े विद्वानोंसे भरे हुए इस करहाटक (कराड़ जिला सतारा) में आया हूं। राजन्, शास्त्रार्थ करनेकी इच्छासे मैं सिंहके समान निर्भय होकर इधर उधर घूमता ही रहता हूं।

यह कहकर ही समन्तभद्रस्वामीने शैव-वेप छोड़कर पीछा जिनमुनिका वेप धारण कर लिया, जिसमें साधुलोग जीवोंकी रक्षाके लिये हाथमें मोरकी पींछी रखते हैं।

इसके बाद उन्होंने शास्त्रार्थ कर बड़े बड़े विद्वानोंको, जिन्हें अपने पाण्डित्यका अभिमान था, अनेकान्त-स्याद्वादके बलसे पराजित किया और जैनशासनकी खूब प्रभावना की, जो स्वर्ग और मोक्षकी देनेवाली है। भगवान्समन्तभद्र भावी तीर्थंकर हैं। उन्होंने कुदेवको नमस्कार न कर सम्य-

ग्दर्शनका खूब प्रकाश किया—सबके हृदयपर उसकी श्रेष्ठता अंकित करदी। उन्होंने अनेक ऐकान्तवादियोंको जीतकर म्यग्ज्ञानका भी उद्योत किया।

आश्चर्यमें डालनेवाली इस घटनाको देखकर राजाकी जैनधर्मपर बड़ी श्रद्धा हुई। विवेकबुद्धिने उसके मनको खूब ऊंचा बना दिया और चारित्रमोहनीकर्मका क्षयोपशम हो जानेसे उसके हृदयमें वैराग्यका प्रवाह बह निकला। उसने उसे सब राज्यभार छोड़ देनेके लिये बाध्य किया। शिवकोटीने क्षणभरमें सब मोहमायाके जालको तोड़कर जिनदीक्षा ग्रहण करली। साधु बनकर उन्होंने गुरुके पास खूब शास्त्रोंका अभ्यास किया। इसके बाद उन्होंने श्रीलोहाचार्यके बनाये हुए चौरासी हजार श्लोक प्रमाण आराधनाग्रन्थको संक्षेपमें लिखा। वह इसलिये कि अब दिनपर दिन मनुष्योंकी आयु और बुद्धि घटती जाती है, और वह ग्रन्थ बड़ा और गंभीर था—सर्व साधारण उससे लाभ नहीं उठा सकते थे। शिवकोटी मुनिके बनाये हुए ग्रन्थके चवालीस अध्याय हैं और उसकी श्लोकसंख्या साढ़े तीन हजार है। उससे संसारका बहुत उपकार हुआ।

वह आराधना ग्रन्थ और समन्तभद्राचार्य तथा शिवकोटी मुनिराज मुझे सुखके देनेवाले हों। तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप परम रत्नोंके समुद्र और कामरूपी प्रचंड बलवान् हाथीके नष्ट करनेको सिंह समान विद्यानन्दी गुरु और छहों शास्त्रोंके अपूर्व विद्वान् तथा श्रुतज्ञानके समुद्र श्रीमल्लिभूषणमुनि मुझे मोक्षश्री प्रदान करें।

५–संजयन्तमुनिकी कथा।
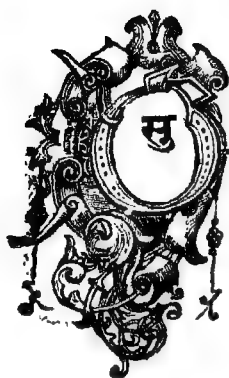
सुखके देनेवाले श्रीजिनभगवानके चरणकमलोंको नमस्कार कर श्रीसंजयन्त मुनिराजकी कथा लिखता हूं, जिन्होंने सम्यक्तपका उद्योत किया था।

सुमेरुके पश्चिमकी ओर विदेहके अन्तर्गत गन्धमालिनी नामका देश है। उसकी प्रधान राजधानी वीतशोकपुर है। जिस समयकी बात हम लिख रहे हैं उस समय उसके राजा वैजयन्त थे। उनकी महारानीका नाम भव्यश्री था। उनके दो पुत्र थे। उनके नाम थे संजयन्त और जयन्त।

एक दिनकी बात है कि बिजलीके गिरनेसे महाराज वैजयन्तका प्रधान हाथी मर गया। यह देख उन्हें संसारसे बड़ा वैराग्य हुआ। उन्होंने राज्य छोड़नेका निश्चय कर अपने दोनों पुत्रोंको बुलाया और उन्हें राज्यभार सौंपना चाहा; तब दोनों भाईयोंने उनसे कहा--पिताजी, राज्य तो संसारके बढ़ानेका कारण है, इससे तो उल्टा हमें सुखकी जगह दुःख भोगना पड़ेगा। इसलिये हम तो इसे नहीं लेते। आप भी तो इसीलिये छोड़ते हैं न? कि यह बुरा है–पापका कारण है। इसलिये हमारा तो विश्वास है कि बुद्धिमानोंको–आत्महितके चाहनेवालोंको, राज्य सरीखी झंझटोंको शिरपर उठा कर अपनी स्वाभाविक शान्तिको नष्ट नहीं करना चाहिये।

यही विचार कर हम राज्य लेना उचित नहीं समझते। बल्कि हम तो आपके साथ ही साधु बनकर अपना आत्म-हित करेंगे।

वैजयन्तने पुत्रोंपर अधिक दबाव न डालकर उनकी इच्छा-के अनुसार उन्हें साधु बननेकी आज्ञा देदी और राज्यका भार संजयन्तके पुत्र वैजयन्तको देकर स्वयं भी तपस्वी बन गये। साथ ही वे दोनों भाई भी साधु हो गये।

तपस्वी बनकर वैजयन्त मुनिराज खूब तपश्चर्या करने लगे, कठिनसे कठिन परीषह सहने लगे। अन्तमें ध्यान-रूपी अग्निसे घातिया कर्मोंका नाश कर उन्होंने लोकालोकका प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया। उस समय उनके ज्ञान-कल्याणकी पूजा करनेको स्वर्गसे देव आये। उनके स्वर्गीय ऐश्वर्य और उनकी दिव्य सुन्दरताको देखकर संजयन्तके छोटे भाई जयन्तने निदान किया—" मैंने जो इतना तपश्चरण किया है, मैं चाहता हूं कि उसके प्रभावसे मुझे दूसरे जन्ममें ऐसी ही सुन्दरता और ऐसी ही विभूति प्राप्त हो।" वही हुआ। उसका किया निदान उसे फला। वह आयुके अन्तमें मरकर धरणेन्द्र हुआ।

इधर संजयन्तमुनि पन्द्रह पन्द्रह दिनके, एक एक महि-नाके उपवास करने लगे, भूख प्यासकी कुछ परवा न कर बड़ी धीरताके साथ परीषह सहने लगे। शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया, तब भी भयंकर वनीमें सुमेरुके समान निश्चल रह कर सूर्यकी ओर मुहँ किये वे तपश्चर्या करने लगे। गरमीके दिनोंमें अत्यन्त गरमी पड़ती, शीतके दिनोंमें जाड़ा

खूब सताता, वर्षाके समय मूसलधार पानी वर्षा करता और आप वृक्षोंके नीचे बैठकर ध्यान करते। बनके जीव-जन्तु सताते, पर इन सब कष्टोंकी कुछ परवा न कर आप सदा आत्मध्यानमें लीन रहते।

एक दिनकी बात है—संजयन्त मुनिराज तो अपने ध्यानमें डूबे हुए थे कि उसी समय एक विद्युद्दंष्ट्र नामका विद्याधर आकाशमार्गसे उधर होकर निकला। पर मुनिके प्रभावसे उसका विमान आगे नहीं बढ़ पाया। एकाएक विमानको रुका हुआ देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने नीचेकी ओर दृष्टि डालकर देखा तो उसे संजयन्त मुनि दीख पड़े। उन्हें देखते ही उसका आश्चर्य क्रोधके रूपमें परिणत हो गया। उसने मुनिराजको अपने विमानको रोकनेवाले समझकर उनपर नाना तरहके भयंकर उपद्रव करना शुरू किया-उससे जहाँतक बना उसने उन्हें बहुत कष्ट पहुँचाया। पर मुनिराज उसके उपद्रवोंसे रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए। वे जैसे निश्चल थे वैसे ही खड़े रहे। सच है—वायुका कितना ही भयंकर वेग क्यों न चले, पर सुमेरु हिलता तक भी नहीं।

इन सब भयंकर उपद्रवोंसे भी जब उसने मुनिराजको पर्वतसे अचल देखा तब उसका क्रोध और भी बहुत बढ़ गया। वह अपने विद्याबलसे मुनिराजको वहाँसे उठा ले चला और भारतवर्षमें पूर्व दिशाकी ओर बहनेवाली सिंहवती नामकी एक बड़ी भारी नदीमें, जिसमें कि पाँच बड़ी बड़ी नदियाँ और मिली थीं, डाल दिया। भाग्यसे उस प्रान्तके लोग भी बड़े पापी थे। सो उन्होंने मुनिको एक राक्षस समझकर

और सर्वसाधारणमें यह प्रचारकर, कि यह हमें खानेके लिये आया है, पत्थरोंसे खूब मारा। मुनिराजने सब उपद्रव बड़ी शान्तिके साथ सहा—उन्होंने अपने पूर्ण आत्मबलके प्रभावसे हृदयको लेशमात्र भी अधीर नहीं बनने दिया। क्योंकि सच्चे साधु वेही हैं-

तृणं रत्नं वा रिपुरिव परममित्रमथवा,
स्तुतिर्वा निन्दा वा मरणमथवा जीवितमथ।
सुखं वा दुःखं वा पितृवनमहोत्सौधमथवा,
स्फुटं निर्ग्रन्थानां द्वयमपि समं शान्तमनसाम्॥

जिनके पास रागद्वेषका बढ़ानेवाला परिग्रह नहीं है—जो निर्ग्रन्थ हैं, और सदा शान्तचित्त रहते हैं, उन साधुओंके लिये तृण हो या रत्न, शत्रु हो या मित्र, उनकी कोई प्रशंसा करो या बुराई, वे जीवें अथवा मर जायँ, उन्हें सुख हो या दुःख और उनके रहनेको श्मशान हो या महल, पर उनकी दृष्टि सबपर समान रहेगी—वे किसीसे प्रेम या द्वेष न कर सबपर समभाव रक्खेंगे। यही कारण था कि संजयन्त मुनिने विद्याधरकृत सब कष्ट समभावसे सहकर अपने अलौकिक धैर्यका परिचय दिया। इस अपूर्व ध्यानके बलसे संजयन्तमुनिने चार घातिया कर्मोंका नाशकर केवलज्ञान प्राप्त किया और इसके बाद अघातिया कर्मोंका भी नाशकर वे मोक्ष चले गये। उनके निर्वाणकल्याणकी पूजन करनेको देव आये। वह धरणेन्द्र भी इनके साथ था, जो संजयन्त मुनिका छोटा भाई था और निदान करके धरणेन्द्र हुआ था। धरणेन्द्रको अपने भाईके शरीरकी दुर्दशा देखकर

बड़ा क्रोध आया। उसने भाईको कष्ट पहुँचानेका कारण वहांके नगरवासियोंको समझकर उन सबको अपने नागपाशमें बांध लिया और लगा उन्हें वह दुःख देने। नगरवासियोंने हाथ जोड़कर उससे कहा–प्रभो, हम तो इस अपराधसे सर्वथा निर्दोष हैं। आप हमें व्यर्थ ही कष्ट दे रहे हो। यह सब कर्म तो पापी विद्युद्दंष्ट्र विद्याधरका है। आप उसे ही पकड़िये न? सुनते ही धरणेन्द्र विद्याधरको पकड़नेके लिये दौड़ा और उसके पास पहुँचकर उसे उसने नागपाशसे बांध लिया। इसके बाद उसे खूब मार पीटकर धरणेन्द्रने समुद्रमें डालना चाहा।

धरणेन्द्रका इस प्रकार निर्दय व्यवहार देखकर एक दिवाकर नामके दयालु देवने उससे कहा–तुम इसे व्यर्थ ही क्यों कष्ट दे रहे हो? इसकी तो संजयन्त मुनिके साथ कोई चार भवसे शत्रुता चली आती है। इसीसे उसने मुनिपर उपसर्ग किया था।

धरणेन्द्र बोला-यदि ऐसा है तो उसका कारण मुझे बतलाइये?

दिवाकरदेवने तब यों कहना आरंभ किया—

पहले समयमें भारतवर्षमें एक सिंहपुरनामका शहर था। उसके राजा सिंहसेन थे। वे बड़े बुद्धिमान् और राजनीतिके अच्छे जानकार थे। उनकी रानीका नाम रामदत्ता था। वह बुद्धिमती और बड़ी सरल स्वभावकी थी। राजमंत्रीका नाम श्रीभूति था। वह बड़ा कुटिल था। दूसरोंको धोखा देना उन्हें ठगना यह उसका प्रधान कर्म था।

एक दिन पद्मखंडपुरके रहनेवाले सुमित्र सेठका पुत्र समुद्रदत्त श्रीभूतिके पास आया और उससे बोला—"महाशय, मैं व्यापारके लिये विदेश जा रहा हूं। दैवकी विचित्र लीलासे न जाने कौन समय कैसा आवे? इसलिये मेरे पास ये पाँच रत्न हैं, इन्हें आप अपनी सुरक्षामें रक्खें तो अच्छा होगा और मुझपर भी आपकी बड़ी दया होगी। मैं पीछा आकर अपने रत्न ले लूंगा।" यह कहकर और श्रीभूतिको रत्न सौंपकर समुद्रदत्त चल दिया।

कई वर्ष वाद समुद्रदत्त पीछा लौटा। वह बहुत धन कमाकर लाया था। जाते समय जैसा उसने सोचा था, दैवकी प्रतिकूलतासे वही घटना उसके भाग्यमें घटी। किनारे लगते लगते जहाज फट पड़ा। सब माल असबाव समुद्रके विशाल उदरमें समा गया। पुण्योदयसे समुद्रदत्तको कुछ ऐसा सहारा मिल गया, जिससे उसकी जान बच गई—वह कुशलपूर्वक अपना जीवन लेकर घर लौट आया।

दूसरे दिन वह श्रीभूतिके पास गया और अपनेपर जैसी विपत्ति आई थी उसे उसने आदिसे अन्ततक कहकर श्रीभूतिसे अपने अमानत रखे हुए रत्न पीछे मांगे। श्रीभूतिने आँखें चढ़ाकर कहा—कैसे रत्न तूं मुझसे मांगता है? जान पड़ता है जहाज डूब जानेसे तेरा मस्तक बिगड़ गया है। श्रीभूतिने बेचारे समुद्रदत्तको मनमानी फटकार बताकर और अपने पास बैठे हुए लोगोंसे कहा—देखिये न साहब, मैंने आपसे अभी ही कहा था न? कि कोई निर्धन मनुष्य पागल बनकर मेरे पास आवेगा और झूठा ही बखेड़ाकर झगड़ा क-

रेगा। वही सत्य निकला। कहिये तो ऐसे दरिद्रीके पास रत्न आ कहाँसे सकते हैं? भला, किसीने भी इसके पास कभी रत्न देखे हैं। यों ही व्यर्थ गले पड़ता है। ऐसा कहकर उसने नौकरों द्वारा समुद्रदत्तको निकलवा दिया। बेचारा समुद्रदत्त एक तो वैसे ही विपत्तिका मारा हुआ था; इसके सिवा उसे जो एक बड़ी भारी आशा थी उसे भी पापी श्रीभूतिने नष्ट कर दिया। वह सब ओरसे अनाथ हो गया। निराशाके अथाह समुद्रमें गोते खाने लगा। पहले उसे अच्छा होनेपर भी श्रीभूतिने पागल बना डाला था; पर अब वह सचमुच ही पागल हो गया। वह शहरमें घूम घूमकर चिल्लाने लगा कि पापी श्रीभूतिने मेरे पाँच रत्न ले लिये और अब वह उन्हें देता नहीं है। राजमहलके पास भी उसने बहुत पुकार मचाई, पर उसकी कहीं सुनाई नहीं हुई। सब उसे पागल समझकर दुतकार देते थे। अन्तमें निरुपाय हो उसने एक वृक्षपर चढ़कर, जो कि रानीके महलके पीछे ही था, पिछली रातको बड़े जोरसे चिल्लाना आरंभ किया। रानीने बहुत दिनोंतक तो उसपर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। उसने भी समझ लिया कि कोई पागल चिल्लाता होगा। पर एक दिन उसे खयाल हुआ कि वह पागल होता तो प्रतिदिन इसी समय आकर क्यों चिल्लाता? सारे दिन ही इसी तरह क्यों न चिल्लाता फिरता? इसमें कुछ रहस्य अवश्य है। यह विचार कर उसने एक दिन राजासे कहा–प्राणनाथ! आप इस चिल्लानेवालेको पागल बताते हैं, पर मेरी समझमें यह बात नहीं आती। क्योंकि यदि वह पागल होता तो

न तो बराबर इसी समय चिल्लाता और न सदा एक ही वाक्य बोलता। इसलिये इसका ठीक ठीक पता लगाना चाहिये कि बात क्या है? ऐसा न हो कि अन्यायसे बेचारा एक गरीब विना मौत मारा जाय। रानीके कहनेके अनुसार राजाने समुद्रदत्तको बुलाकर सब बातें पूछीं। समुद्रदत्तने जैसी अपनेपर बीती थी, वह ज्योंकी त्यों महाराजसे कह सुनाई। तब रत्न कैसे प्राप्त किये जायँ, इसके लिये राजाको चिन्ता हुई। रानी बड़ी बुद्धिमती थी, इसलिये रत्नोंके मँगालेनेका भार उसने अपनेपर लिया।

रानीने एक दिन श्रीभूतिको बुलाया और उससे कहा—मैं आपकी सतरंज खेलनेमें बड़ी तारीफ सुना करती हूँ। मेरी बहुत दिनोंसे इच्छा थी कि मैं एक दिन आपके साथ खेलूं। आज बड़ा अच्छा सुयोग मिला जो आप यहींपर उपस्थित हैं। यह कहकर उसने दासीको सतरंज ले आनेकी आज्ञा दी।

श्रीभूति रानीकी बात सुनते ही घबरा गया। उसके मुहँसे एक शब्दतक निकलना मुश्किल पड़ गया। उसने बड़ी घबराहटके साथ काँपते काँपते कहा—महारानीजी, आज आप यह क्या कह रही हैं। मैं एक क्षुद्र कर्मचारी और आपके साथ खेलूं? यह मुझसे न होगा। भला, राजा साहब सुन पावें तो मेरा क्या हाल हो?

रानीने कुछ मुस्कराते हुए कहा—वाह, आप तो बड़े ही डरते हैं। आप घबराइये मत। मैंने खुद राजा साहबसे पूछ लिया है। और फिर आप तो हमारे बुजुर्ग हैं। इसमें डरकी बात ही क्या है। मैं तो केवल विनोदवश होकर खेल रही हूँ।

“ राजाकी मैंने स्वयं आज्ञा लेली ” जब रानीके मुँहसे यह वाक्य सुना तब श्रीभूतिके जीमें जी आया और वह रानीके साथ खेलनेके लिये तैयार हुआ।

दोनोंका खेल आरंभ हुआ। पाठक जानते हैं कि रानीके लिये खेलका तो केवल बहाना था। असलमें तो उसे अपना मतलब गाँठना था। इसीलिये उसने यह चाल चली थी। रानीने खेलते खेलते श्रीभूतिको अपनी बातोंमें लुभाकर उसके घरकी सब बातें जानली और इशारेसे अपनी दासीको कुछ बातें बतलाकर उसे श्रीभूतिके यहां भेजा। दासीने जाकर श्रीभूतिकी पत्नीसे कहा–तुम्हारे पति बड़े कष्टमें फँसे हैं, इसलिये तुम्हारे पास उन्होंने जो पाँच रत्न रक्खे हैं, उनके लेनेको मुझे भेजा है। कृपा करके वे रत्न जल्दी देदो जिससे उनका छुटकारा हो जाय।

श्रीभूतिकी स्त्रीने उसे फटकार दिखला कर कहा चल, मेरे पास रत्न नहीं हैं और न मुझे कुछ मालूम है। जाकर उन्हींसे कहदे कि जहाँ रत्न रक्खे हों, वहाँसे तुम्हीं जाकर ले आओ।

दासीने पीछी लौट आकर सब हाल अपनी मालकिनसे कह दिया। रानीने अपनी चालका कुछ उपयोग नहीं हुआ देखकर दूसरी युक्ति निकाली। अबकी वार वह हारजीतका खेल खेलने लगी। मंत्रीने पहले तो कुछ आनाकानी की, पर फिर “ रानीके पास धनका तो कुछ पार नहीं है और मेरी जीत होगी तो मैं मालामाल हो जाऊँगा” यह सोचकर वह खेलनेको तैयार हो गया।

रानी बड़ी चतुर थी। उसने पहले ही पासेमें श्रीभूतिकी एक कीमती अंगूठी जीत ली। उस अंगूठीको चुपकेसे दासीके हाथ देकर और कुछ समझाकर उसने श्रीभूतिके घर फिर भेजा और आप उसके साथ खेलने लगी।

अबकी वार रानीका प्रयत्न व्यर्थ नहीं गया। दासीने पहुँचते ही बड़ी घबराहटके साथ कहा—देखो, पहले तुमने रत्न नहीं दिये, उससे उन्हें बहुत कष्ट उठाना पड़ा। अब उन्होंने यह अँगूठी देकर मुझे भेजा है और यह कहलाया है कि यदि तुम्हें मेरी जान प्यारी हो, तब तो इस अगूँठीको देखते ही रत्नोंको दे देना और रत्न प्यारे हों तो न देना। इससे अधिक मैं और कुछ नहीं कहता।

अब तो वह एक साथ घबरा गई। उसने उससे कुछ विशेष पूछताछ न करके केवल अँगूठीके भरोसेपर रत्न निकालकर दासीके हाथ सौंप दिये। दासीने रत्नोंको लाकर रानीको दे दिये और रानीने उन्हें महाराजके पास पहुंचा दिये।

राजाको रत्न देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने रानीकी बुद्धिमानीको बहुत वहुत धन्यवाद दिया। इसके बाद उन्होंने समुद्रदत्तको बुलाया और उन रत्नोंको और बहुतसे रत्नोंमें मिलाकर उससे कहा—देखो, इन रत्नोंमें तुम्हारे रत्न हैं क्या? और हों तो उन्हें निकाललो। समुद्रदत्तने अपने रत्नोंको पहचान कर निकाल लिया। सच है—बहुत समय बीत जानेपर भी अपनी वस्तुको कोई नहीं भूलता।

इसके बाद राजानें श्रीभूतिको राजसभामें बुलाया और रत्नोंको उसके सामने रखकर कहा–कहिये आप तो इस बेचारके रत्नोंको हड़पकर भी उल्टा इसे ही पागल बनाते थे न? यदि महारानी मुझसे आग्रह न करती और अपनी बुद्धिमानीसे इन रत्नोंको प्राप्त नहीं करती, तब यह बेचारा गरीब तो व्यर्थ मारा जाता और मेरे सिरपर कलंकका टीका लगता। क्या इतने उच्च अधिकारी बनकर मेरी प्यारी प्रजाका इसी तरह तुमने सर्वस्व हरण किया है?

राजाको बड़ा क्रोध आया। उसने अपने राज्यके कर्मचारियोंसे पूछा–कहो, इस महापापीको इसके पापका क्या प्रायश्चित्त दिया जाय, जिससे आगेके लिये सब सावधान हो जायँ और इस दुरात्माका जैसा भयंकर कर्म है, उसीके उपयुक्त इसे उसका प्रायश्चित्त भी मिल जाय?

राज्यकर्मचारियोंने विचार कर और सबकी सम्मति मिलाकर कहा–महाराज, जैसा इन महाशयका नीच कर्म है, उसके योग्य हम तीन दंड उपयुक्त समझते हैं और उनमेंसे जो इन्हें पसन्द हो, वही ये स्वीकार करें। १–एक सेर पक्का गोमय खिलाया जाय; २–मल्लके द्वारा बत्तीस घूंसे लगवाये जायँ; या ३–सर्वस्व हरण पूर्वक देश निकाला दे दिया जाय।

राजाने अधिकारियोंके कहे माफिक दंडकी योजना कर श्रीभूतिसे कहा कि–तुम्हें जो दंड पसन्द हो, उसे बतलाओ। पहले श्रीभूतिने गोमय खाना स्वीकार किया, पर उसका उससे एक ग्रास भी नहीं खाया गया। तब उसने मल्लके घूँसे खाना स्वीकार किया। मल्ल बुलवाया गया। घूँसे

लगना आरंभ हुआ। कुछ घूँसोंकी मार पड़ी होगी कि उसका आत्मा शरीर छोड़कर चल बसा। उसकी मृत्यु बड़े आर्त्तध्यानसे हुई। वह मरकर राजाके खजानेपर ही एक विकराल सर्प हुआ।

इधर समुद्रदत्तको इस घटनासे बड़ा वैराग्य हुआ। उसने संसारकी दशा देखकर उसमें अपनेको फँसाना उचित नहीं समझा। वह उसी समय अपना सब धन परोपकारके कामोंमें लगाकर वनकी ओर चल दिया और धर्माचार्य नामके महामुनिसे पवित्र धर्मका उपदेश सुनकर साधु बन गया। बहुत दिनोंतक उसने तपश्चर्या की। इसके बाद आयुके अन्तमें मृत्यु प्राप्त कर वह इन्हीं सिंहसेन राजाके सिंहचन्द्र नामक पुत्र हुआ।

एक दिन राजा अपने खजानेको देखनेके लिये गये थे, उन्हें देखकर श्रीभूतिके जीवको, जो कि खजानेपर सर्प हुआ है, बड़ा क्रोध आया। क्रोधके वश हो उसने महाराजको काट खाया। महाराज आर्त्तध्यानसे मरकर सल्लकी नामक वनमें हाथी हुए। राजाकी सर्प द्वारा मृत्यु देखकर सुघोष मंत्रीको बड़ा क्रोध आया। उसने अपने मंत्रबलसे बहुतसे सर्पोंको बुलाकर कहा—यदि तुम निर्दोष हो, तो इस अग्निकुण्डमें प्रवेश करते हुए अपने अपने स्थानपर चले जाओ। तुम्हें ऐसा करनेसे कुछ भी कष्ट न होगा। जितने बाहरके सर्प आये थे वे सब तो चले गये। अब श्रीभूतिका जीव बाकी रह गया। उससे कहा गया कि या तो तू विष खींचकर महाराजको छोड़ दे, या इस अग्निकुण्डमें प्रवेश कर। पर वह महाक्रोधी था। उसने

अग्निकुण्डमें प्रवेश करना अच्छा समझा, पर विष खींच लेना उचित नहीं समझा। वह क्रोधके वश हो अग्निमें प्रवेश कर गया। प्रवेश करते ही वह देखते देखते जलकर खाक हो गया। जिस सल्लकी वनमें महाराजका जीव हाथी हुआ था, वह सर्प भी मरकर उसी वनमें मुर्गा हुआ। सच है—पापियोंका कुयोनियोंमें उत्पन्न होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। इधर तो ये सब अपने अपने कर्मोंके अनुसार दूसरे भवोंमें उत्पन्न हुए और उधर सिंहसेनकी रानी पति-वियोगसे बहुत दुखी हुई। उसे संसारकी क्षणभंगुर लीला देखकर बड़ा वैराग्य हुआ। वह उसी समय संसारका माया-जाल तोड़ ताड़कर वनश्री आर्यिकाके पास साध्वी बन गई। सिंहसेनका पुत्र सिंहचंद्र भी वैराग्यके वश हो अपने छोटे भाई पूर्णचन्द्रको राज्यभार सौंपकर सुव्रत नामक मुनिराजके पास दीक्षित हो गया। साधु होकर सिंहचन्द्रमुनिने खूब तपश्चर्या की, शान्ति और धीरताके साथ परीषहोंपर विजय प्राप्त किया, इन्द्रियोंको वश किया, और चंचल मनको दूसरी ओरसे रोककर ध्यानकी ओर लगाया। अन्तमें ध्यानके बलसे उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्राप्त हुआ। उन्हें मनःपर्ययज्ञानसे युक्त देखकर उनकी माताने, जो कि इन्हींके पहले आर्यिका हुई थीं, नमस्कार कर पूछा—साधुराज! मेरी कूंख धन्य है—वह आज कृतार्थ हुई, जिसने आपसे पुरुषोत्तमको धारण किया। पर अब यह तो कहिये कि आपके छोटे भाई पूर्णचंद्र आत्महितके लिये कब उद्युक्त होंगे?

उत्तरमें सिंहचंद्रमुनि बोले—माता, सुनो तो मैं तुम्हें संसारकी विचित्र लीला सुनाता हूं, जिसे सुनकर तुम भी

आश्चर्य करोगी। तुम जानती हो कि पिताजीको सर्पने काटा था और उसीसे उनकी मृत्यु हो गई थी। वे मरकर सल्लकीवनमें हाथी हुए। वे ही पिता एक दिन मुझे मारनेके लिये मेरे पर झपटे, तब मैंने उस हाथीको समझाया और कहा—गजेन्द्रराज, जानते हो, तुम पूर्व जन्ममें राजा सिंहसेन थे और मैं प्राणोंसे भी प्यारा सिंहचंद्र नामका तुम्हारा पुत्र था। कैसा आश्चर्य है कि आज पिता ही पुत्रको मारना चाहता है। मेरे इन शब्दोंको सुनते ही गजेन्द्रको जाति मरण हो आया—पूर्वजन्मकी उसे स्मृति हो गई। वह रोने लगा, उसकी आँखोंसे आसुओंकी धारा वह चली। वह मेरे सामने चित्र लिखासा खड़ा रह गया। उसकी यह अवस्था देखकर मैंने उसे जिनधर्मका उपदेश दिया और पंचाणुव्रतका स्वरूप समझाकर उसे अणुव्रत ग्रहण करनेको कहा। उसने अणुव्रत ग्रहण किये और पश्चात् वह प्रासुक भोजन और प्रासुक जलसे अपना निर्वाहकर व्रतका दृढ़ताके साथ पालन करने लगा।

एक दिन वह जल पीनेके लिये नदीपर पहुँचा। जलके भीतर प्रवेश करते समय वह कीचड़में फँस गया। उसने निकलनेकी बहुत चेष्टा की, पर वह सफल प्रयत्न नहीं हुआ। अपना निकलना असंभव समझकर उसने समाधिमरणकी प्रतिज्ञा लेली। उस समय वह श्रीभूतिका जीव, जो मुर्गा हुआ था, हाथीके सिरपर बैठकर उसका मांस खाने लगा। हाथीपर बड़ा भारी उपसर्ग आया, पर उसने उसकी कुछ परवा न कर बड़ी धीरताके साथ पंच नमस्कार मंत्रकी आराधना

करना शुरू कर दिया, जो कि सब पापोंका नाश करने वाला है। आयुके अन्तमें शान्तिके साथ मृत्यु प्राप्तकर वह सहस्रारस्वर्गमें देव हुआ। सच है–धर्मके सिवा और कल्याणका कारण हो ही क्या सकता है?

वह सर्प भी बहुत कष्टोंको सहनकर मरा और तीव्र पापकर्मके उदयसे चौथे नरकमें जाकर उत्पन्न हुआ, जहाँ अनन्त दुःख हैं और जबतक आयु पूर्ण नहीं होती तबतक पलक गिराने मात्र भी सुख प्राप्त नहीं होता।

सिंहसेनका जीव जो हाथी मरा था, उसके दांत और कपोलोंमेंसे निकले हुए मोती, एक भीलके हाथ लगे। भीलने उन्हें एक धनमित्र नामक साहूकारके हाथ बेंच दिये और धनमित्रने उन्हें सर्वश्रेष्ठ और कीमती समझकर राजा पूर्णचंद्रकी भेंट कर दिये। राजा देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उनके बदलेमें धनमित्रको खूब धन दिया। इसके बाद राजाने दांतोंके तो अपने पलंगके पाये बनवाये और मोतियोंका रानीके लिये हार बनवा दिया। इस समय वे विषयसुखमें खूब मग्न होकर अपना काल बिता रहे हैं। यह संसारकी विचित्र दशा है। क्षणक्षणमें क्या होता है सो सिवा ज्ञानीके कोई नहीं जान पाता और इसीसे जीवोंको संसारके दुःख भोगना पड़ते हैं। माता, पूर्णचंद्रके कल्याणका एक मार्ग है, यदि तुम जाकर उपदेश दो और यह सब घटना उसे सुनाओ, तो वह अवश्य अपने कल्याणकी ओर दृष्टि देगा।

सुनते ही वह उठी और पूर्णचंद्रके महल पहुँची। अपनी माताको देखते ही पूर्णचंद्र उठे और बड़े विनयसे उसका

सत्कार कर उन्होंने उसके लिये पवित्र आसन दिया और हाथ जोड़कर वे बोले–माताजी, आपने अपने पवित्र चरणोंसे इस समय भी इस घरको पवित्र किया, उससे मुझे जो प्रसन्नता हुई वह वचनों द्वारा नहीं कही जा सकती। मैं अपने जीवनको सफल समझूंगा यदि मुझे आप अपनी आज्ञाका पात्र बनावेंगी। वह बोली–मुझे एक आवश्यक बातकी ओर तुम्हारा ध्यान आकर्षित करना है। इसीलिये मैं यहां आई हूं। और वह बड़ी विलक्षण बात है, सुनते हो न? इसके बाद आर्यिकाने यों कहना आरंभ किया—

"पुत्र, जानते हो, तुम्हारे पिताको सर्पने काटा था, उसकी वेदनासे मरकर वे सल्लकीवनमें हाथी हुए और वह सर्प मरकर उसी वनमें मुर्गा हुआ। एक दिन हाथी जल पीने गया। वह नदीके किनारेपर खूब गहरे कीचड़में फँस गया। वह उसमेंसे किसी तरह निकल नहीं सका। अन्तमें निरुपाय होकर वह मर गया। उसके दांत और मोती एक भीलके हाथ लगे। भीलने उन्हें एक सेठके हाथ बेंच दिये। सेठके द्वारा वे ही दांत और मोती तुम्हारे पास आये। तुमने दांतोंके तो पलंगके पाये बनवाये और मोतियोंकी अपनी पत्नी-के लिये हार बनवाया। यह संसारकी विचित्र लीला है। इसके बाद तुम्हें उचित जान पड़े सो करो"। आर्यिका इतना कहकर चुप हो रही। पूर्णचन्द्र अपने पिताकी कथा सुनकर एक साथ रो पड़े। उनका हृदय पिताके शोकसे सन्तप्त हो उठा। जैसे दावाग्निसे पर्वत सन्तप्त हो उठता है। उनके रोनेके साथ ही सारे अन्तःपुरमें हाहाकार मच गया। उन्होंने पितृ-

प्रेमके वश हो उन पलंगके पायोंको छातीसे लगाया। इसके बाद उन्होंने पलंगके पायों और मोतियोंकी चन्दनादिसे पूजा कर उन्हें जला दिया। ठीक है—मोहके वश होकर यह जीव क्या क्या नहीं करता?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मोहका चक्र जब अच्छे अच्छे महात्माओंपर भी चल जाता है, तब पूर्णचन्द्रपर उसका प्रभाव पड़ना कोई आश्चर्यका कारण नहीं है। पर पूर्णचन्द बुद्धिमान् थे, उन्होंने झटसे अपनेको सम्हाल लिया और पवित्र श्रावकधर्मको ग्रहण कर बड़ी श्रद्धा और भक्तिके साथ उनका वे पालन करने लगे। फिर आयुके अन्तमें वे पवित्रभावोंसे मत्यु लाभकर महाशुक्र नामक स्वर्गमें देव हुए। उनकी माता भी अपनी शक्तिके अनुसार तपश्चर्याकर उसी स्वर्गमें देव हुई। सच है—संसारमें जन्म लेकर कौन कौन कालके ग्रासें नहीं बने? मनःपर्ययज्ञानके धारक सिंहचंद्रमुनि भी तपश्चर्या और निर्मल चारित्रके प्रभावसे मत्यु प्राप्त कर ग्रैवेयकमें जाकर देव हुए।

भारतवर्षके अन्तर्गत सूर्याभपुरनामक एक शहर है। उसके राजाका नाम सुरावर्त्त है। वे बड़े बुद्धिमान् और तेजस्वी हैं। उनकी महारानीका नाम था यशोधरा। वह बड़ी सुन्दरी थी, बुद्धिमती थी, सती थी, सरल स्वभाववाली थी, और विदुषी थी। वह सदा दान देती, जिन भगवानकी पूजा करती, और बड़ी श्रद्धाके साथ उपवासादि करती।

सिंहसेन राजाका जीव, जो हाथीकी पर्यायसे मरकर स्वर्ग गया था, यशोधरा रानीका पुत्र हुआ। उसका नाम

था रश्मिवेग। कुछ दिनों बाद महाराज सुरावर्त तो राज्य-भार रश्मिवेगके लिये सौंपकर साधु बन गये और राज्य-काम रश्मिवेग चलाने लगा।

एक दिनकी बात है कि धर्मात्मा रश्मिवेग सिद्धकूट जिनालयकी वन्दनाके लिये गया। वहां उसने एक हरिचंद्र नामके मुनिराजको देखा; उनसे धर्मोपदेश सुना। धर्मोपदेशका उसके चित्तपर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसे बहुत वैराग्य हुआ। संसार शरीरभोगादिकोंसे उसे बड़ी घृणा हुई। उसने उसी समय मुनिराजसे दीक्षा ग्रहण करली।

एक दिन रश्मिवेग महामुनि एक पर्वतकी गुफामें कायोत्सर्ग धारण किये हुए थे कि एक भयानक अजगरने, जो कि श्रीभूतिका जीव सर्पपर्यायसे मरकर चौथे नरक गया था और वहांसे आकर यह अजगर हुआ, उन्हें काट खाया। मुनिराज तब भी ध्यानमें निश्चल खड़े रहे, जरा भी विचलित नहीं हुए। अन्तमें मृत्यु प्राप्तकर समाधिमरणके प्रभावसे वे कापिष्ठस्वर्गमें जाकर आदित्यप्रभ नामक महर्द्धिक देव हुए, जो कि सदा जिनभगवानके चरणकमलोंकी भक्तिमें लीन रहते थे। और वह अजगर मरकर पापके उदयसे फिर चौथे नरक गया। वहां उसे नारकियोंनें कभी तलवारसे काटा और कभी करौतीसे, कभी उसे अग्निमें जलाया और कभी घानीमें पेला, कभी अतिशय गरम तेलकी कढ़ाईमें डाला और कभी लोहेके गरम खंभोंसे आलिंगन कराया। मतलब यह कि नरकमें उसे घोर दुःख भोगना पड़े।

चक्रपुर नामका एक सुन्दर शहर है। उसके राजा हैं चक्रायुध और उनकी महारानीका नाम चित्रादेवी है। पूर्व-जन्मके पुण्यसे सिंहसेन राजाका जीव स्वर्गसे आकर इनका पुत्र हुआ। उसका नाम था वज्रायुध। जिनधर्मपर उसकी बड़ी श्रद्धा थी। जब वह राज्य करनेको समर्थ हो गया, तब महाराज चक्रायुधने राज्यका भार उसे सौंपकर जिनदीक्षा ग्रहण करली। वज्रायुध सुख और नीतिके साथ राज्यका पालन करने लगे। उन्होंने बहुत दिनोंतक राज्यसुख भोगा। पश्चात् एक दिन किसी कारणसे उन्हें भी वैराग्य हो गया। वे अपने पिताके पास दीक्षा लेकर साधु बन गये। वज्रा-युधमुनि एक दिन पियंगु नामक पर्वतपर कायोत्सर्ग ध्यान कर रहे थे कि इतनेमें एक दुष्ट भीलने, जो कि सर्पका जीव चौथे नरक गया था और वहांसे अब यही भील हुआ, उन्हें बाणसे मार दिया। मुनिराज तो समभावोंसे प्राण त्याग कर सर्वार्थसिद्धि गये और वह भील रौद्रभावसे मरकर सातवें नरक गया।

सर्वार्थसिद्धिसे आकर वज्रायुधका जीव तो संजयन्त हुआ, जो संसारमें प्रसिद्ध है और पूर्णचंद्रका जीव उनका छोटा-भाई जयन्त हुआ। वे दोनों भाई छोटी ही अवस्थामें काम-भोगोंसे विरक्त होकर पिताके साथ मुनि हो गये। और वह भीलका जीव सातवें नरकसे निकल कर अनेक कुग-तियोंमें भटका। उनमें उसने बहुत कष्ट सहा। अन्तमें वह मरकर ऐरावत क्षेत्रान्तर्गत भूतरमण नामक वनमें बहने-वाली वेगवती नामकी नदीके किनारेपर गोश्रृंगतापसकी

शंखिनी नामकी स्त्रीके हरिणशृंग नामक पुत्र हुआ। वही पंचाग्नितप तपकर यह विद्युदंष्ट्र विद्याधर हुआ है, जिसने कि संजयन्त मुनिपर पूर्वजन्मके बैरसे घोर उपसर्ग किया। और उनके छोटे भाई जयन्तमुनि निदान करके जो धरणेन्द्र हुए, वे तुम हो।

संजयन्त मुनिपर पापी विद्युदंष्ट्रने घोर उपसर्ग किया, तब भी वे पवित्रात्मा रंच मात्र विचलित नहीं हुए और सुमेरुके समान निश्चल रहकर उन्होंने सब परीषहोंको सहा और सम्यक्तपका उद्योत कर अन्तमें मोक्ष प्राप्त किया। वहाँ उनके अनन्तज्ञानादि स्वाभाविक गुण प्रगट हुए। वे अनन्त कालतक मोक्षमें ही रहेंगे। अब वे संसारमें नहीं आवेंगे।"

दिवाकरने कहा—नागेन्द्रराज! यह संसारकी स्थिति है। इसे देखकर इस बेचारेपर तुम्हें क्रोध करना उचित नहीं। इसे दया करके छोड़ दीजिये। सुनकर धरणेन्द्र बोला, मैं आपके कहनेसे इसे छोड़ देता हूं; परन्तु इसे अपने अभिमानका फल मिले, इसलिये मैं शाप देता हूं कि "मनुष्यपर्यायमें इसे कभी विद्याकी सिद्धि न हो।" इसके बाद धरणेन्द्र अपने भाई संजयन्तमुनिके मृतशरीरकी बड़ी भक्तिके साथ पूजा कर अपने स्थानपर चला गया।

इस प्रकार उत्कृष्ट तपश्चर्या करके श्रीसंजयन्तमुनिने अविनाशी मोक्षश्रीको प्राप्त किया। वे हमें भी उत्तम सुख प्रदान करें।

श्रीमल्लिभूषण गुरु कुन्दकुन्दाचार्यकी परम्परामें हुए। वे जिनभगवानके चरणकमलोंके भ्रमर थे–उनकी भक्तिमें सदा लीन रहते थे, सम्यग्ज्ञानके समुद्र थे, पवित्र चारित्रके धारक थे और संसार–समुद्रसे भव्य जीवोंको पार करनेवाले थे। वे ही मल्लिभूषण गुरु मुझे भी सुख–सम्पत्ति प्रदान करें।

६–अंजनचोरकी कथा।

खके देनेवाले श्रीसर्वज्ञ वीतराग भगवानके चरणकमलोंको नमस्कार कर अंजनचोरकी कथा लिखता हूं, जिसने सम्यग्दर्शनके निःशंकित अंगका उद्योत किया है।

भारतवर्ष–मगधदेशके अन्तर्गत राजगृह नामक शहरमें एक जिनदत्त सेठ रहता था। वह बड़ा धर्मात्मा था। वह निरन्तर जिनभगवानकी पूजा करता, दीन दुखियोंको दान देता, श्रावकोंके व्रतोंका पालन करता और सदा शान्त और विषयभोगोंसे विरक्त रहता। एक दिन जिनदत्त चतुर्दशीके दिन आधीरातके समय श्मशानमें कायोत्सर्ग ध्यान कर रहा था। उस समय वहाँ दो देव आये। उनके नाम अमितप्रभ और विद्युत्प्रभ थे। अमितप्रभ जैनधर्मका विश्वासी था और विद्युत्प्रभ दूसरे धर्मका। वे अपने अपने स्थानसे परस्परके धर्मकी परीक्षा करनेको निकले थे। पहले उन्होंने एक पँचाग्नितप करनेवाले तापसकी परीक्षा की। वह अपने

ध्यानसे विचलित हो गया। इसके बाद उन्होंने जिनदत्तको स्मशानमें ध्यान करते देखा। तब अमितप्रभने विद्युत्प्रभसे कहा—प्रिय, उत्कृष्ट चारित्रके पालनेवाले जिनधर्मके सच्चे साधुओंकी परीक्षाकी बातको तो जाने दो, परन्तु देखते हो, वह गृहस्थ जो कायोत्सर्गसे खड़ा हुआ है, यदि तुममें कुछ शक्ति हो, तो तुम उसे ही अपने ध्यानसे विचलित करदो। यदि तुमने उसे ध्यानसे चला दिया तो हम तुम्हारा ही कहना सत्य मानलेंगे।

अमितप्रभसे उत्तेजना पाकर विद्युत्प्रभने जिनदत्तपर अत्यन्त दुस्सह और भयानक उपद्रव किया, पर जिनदत्त उससे कुछ भी विचलित न हुआ और पर्वतकी तरह खड़ा रहा। जब सबेरा हुआ तब दोनों देवोंने अपना असली वेष प्रगट कर बड़ी भक्तिके साथ उसका खूब सत्कार किया और बहुत प्रशंसा कर जिनदत्तको एक आकाशगामिनी विद्या दी। इसके बाद वे जिनदत्तसे यह कहकर, कि श्रावकोत्तम! तुम्हें आजसे आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हुई; तुम पंच नमस्कार मंत्रकी साधनविधिके साथ इसे दूसरोंको प्रदान करोगे तो उन्हें भी यह सिद्ध होगी—अपने स्थानपर चले गये।

विद्याकी प्राप्तिसे जिनदत्त बड़ा प्रसन्न हुआ। उसकी अकृत्रिम चैत्यालयोंके दर्शन करनेकी इच्छा पूरी हुई। वह उसी समय विद्याके प्रभावसे अकृत्रिम चैत्यालयके दर्शन करनेको गया और खूब भक्तिभावसे उसने जिनभगवानकी पूजा की, जो कि स्वर्गमोक्षकी देनेवाली है।

इसी प्रकार अब जिनदत्त प्रतिदिन अकृत्रिम जिनमन्दिरोंके दर्शन करनेके लिये जाने लगा। एक दिन वह जानेके लिये तैयार खड़ा हुआ था कि उससे एक सोमदत्त नामके मालीने पूछा—आप प्रतिदिन सबेरे ही उठकर कहाँ जाय करते हैं? उत्तरमें जिनदत्त सेठने कहा—मुझे दो देवोंकी कृपासे आकाशगामिनी विद्याकी प्राप्ति हुई है। सो उसके बलसे सुवर्णमय अकृत्रिम जिनमन्दिरोंकी पूजा करनेके लिये जाया करता हूं, जो कि सुखशान्तिकी देनेवाली है। तब सोमदत्तने जिनदत्तसे कहा—प्रभो, मुझे भी विद्या प्रदान कीजिये न? जिससे मैं भी अच्छे सुन्दर सुगन्धित फूल लेकर प्रतिदिन भगवानकी पूजा करनेको जाया करूं और उसके द्वारा शुभकर्म उपार्जन करूं। आपकी बड़ी कृपा होगी यदि आप मुझे विद्या प्रदान करेंगे।

सोमदत्तकी भक्ति और पवित्रता देखकर जिनदत्तने उसे विद्या साधन करनेकी रीति बतला दी। सोमदत्त उससे सब विधि ठीक ठीक समझकर विद्या साधनेके लिये कृष्ण पक्षकी चतुर्दशीकी अन्धेरी रातमें स्मशानमें गया, जो कि बड़ा भयंकर था। वहाँ उसने एक बड़की डालीमें एकसौ आठ लड़ीका एक दूबाका सींका बांधा और उसके नीचे अनेक भयंकर तीखे तीखे शस्त्र सीधे मुहँ गाड़कर उनकी पुष्पादिसे पूजा की। इसके वाद वह सींकेपर बैठकर पंच नमस्कार मंत्र जपने लगा। मंत्र पूरा होनेपर जब सींकाके काटनेका समय आया और उसकी दृष्टि चमचमाते हुए शस्त्रोंपर पड़ी तब उन्हें देखते ही वह कांप उठा। उसने विचारा—यदि जिनद-

त्तने मुझे झूठ कह दिया हो तब तो मेरे प्राण ही चले जायंगे; यह सोच कर वह नीचे उतर आया । उसके मनमें फिर कल्पना उठी कि भला जिनदत्तको मुझसे क्या लेना है जो वह झूठ कहकर मुझे ऐसे मृत्युके मुखमें डालेगा ? और फिर वह तो जिनधर्मका परम श्रद्धालु है—उसके रोम रोममें दया भरी हुई है, उसे मेरी जान लेनेसे क्या लाभ ? इत्यादि विचारोंसे अपने मनको सन्तुष्ट कर वह फिर सींकेपर चढ़ा, पर जैसे ही उसकी दृष्टि फिर शस्त्रोंपर पड़ी कि वह फिर भयके मारे नीचे उतर आया। इसी तरह वह बारबार उतरने और चढ़ने लगा, पर उसकी हिम्मत सींका काट देनेकी नहीं हुई। सच है जिन्हें स्वर्गमोक्षका सुख देनेवाले जिनभगवानके बचनोंपर विश्वास नहीं—मनमें उनपर निश्चय नहीं, उन्हें संसारमें कोई सिद्धि कभी प्राप्त नहीं होती।

उसी रातको एक और घटना हुई। वह उल्लेख योग्य है और खासकर उसका इसी घटनासे सम्बन्ध है। इसलिये उसे लिखते हैं। वह इस प्रकार है—

इधर तो सोमदत्त सशंक होकर क्षणभरमें वृक्षपर चढ़ता और क्षणभरमें उसपरसे उतरता था, और दूसरी ओर इसी समय माणिकांजन सुन्दरी नामकी एक वेश्याने अपनेपर प्रेम करनेवाले एक अंजन नामके चोरसे कहा—प्राणवल्लभ, आज मैंने प्रजापाल महाराजकी कनकवती नामकी पट्टरानीके गलेमें रत्नका हार देखा है। वह बहुत ही सुन्दर है। मेरा तो यह भी विश्वास है कि संसार भरमें उसकी तुलना करनेवाला कोई और हार होगा ही नहीं। सो आप उसे

लाकर मुझे दीजिये, तब ही आप मेरे स्वामी हो सकेंगे अन्यथा नहीं ।

माणिकांजन सुन्दरीकी ऐसी कठिन प्रतिज्ञा सुनकर पहले तो वह कुछ हिचका, पर साथ ही उसके प्रेमने उसे वैसा करनेको बाध्य किया। वह अपने जीवनकी भी कुछ परवा न कर हार चुरा लानेके लिये राजमहल पहुँचा और मौका देखकर महलमें घुस गया। रानीके शयनागारमें पहुँचकर उसने उसके गलेमेंसे बड़ी कुशलताके साथ हार निकाल लिया। हार लेकर वह चलता बना। हजारों पहरेदारोंकी आँखोंमें धूल डालकर वह साफ निकल जाता, पर अपने दिव्य प्रकाशसे गाढ़ेसे गाढ़े अंधकारको भी नष्ट करनेवाले हारने उसे सफल प्रयत्न नहीं होने दिया। पहरेवालोंने उसे हार ले जाते हुए देख लिया। वे उसे पकड़नेको दौड़े। अंजन चोर भी खूब जी छोड़कर भागा, पर आखिर कहाँतक भाग सकता था। पहरदार उसे पकड़ लेना ही चाहते थे कि उसने एक नई युक्ति की। वह हारको पीछेकी ओर जोरसे फैंक कर भागा। सिपाही लोग तो हार उठानेमें लगे और इधर अंजनचोर बहुत दूर निकल आया। सिपाहियोंने तब भी उसका पीछा न छोड़ा। वे उसका पीछा किये चले ही गये। अंजनचोर भागता भागता श्मशानकी ओर जा निकला, जहाँ जिनदत्तके उपदेशसे सोमदत्त विद्यासाधनके लिये व्यग्र हो रहा था। उसका यह भयंकर उपक्रम देखकर अंजनने उससे पूछा कि तुम यह क्या कर रहे हो? क्यों अपनी जान दे रहे हो? उत्तरमें सोमदत्तने सब बातें

उसे बतादीं, जैसी कि जिनदत्तने उसे बतलाई थीं। सोमदत्तकी बातोंसे अंजनको बड़ी खुशी हुई। उसने सोचा कि सिपाही लोग तो मुझे मारनेके लिये पीछे आ ही रहे हैं और वे अवश्य मुझे मार भी डालेंगे। क्योंकि मेरा अपराध कोई साधारण अपराध नहीं है। फिर यदि मरना ही हैं तो धर्मके आश्रित रहकर ही मरना अच्छा है। यह विचार कर उसने सोमदत्तसे कहा—बस, इसी थोड़ीसी बातके लिये इतने डरते हो? अच्छा लाओ, मुझे तलवार दो, मैं भी तो जरा आजमा लूं। यह कहकर उसने सोमदत्तसे तलवार लेली और वृक्षपर चढ़कर सींकेपर जा बैठा। वह सींकेको काटनेके लिये तैयार हुआ कि सोमदत्तके बताये मंत्रको भूल गया। पर उसकी वह कुछ परवा न कर और केवल इस बातपर विश्वास करके कि "जैसा सेठने कहा उसका कहना मुझे प्रमाण है।" उसने निःशंक होकर एक ही झटकेमें सारे सींकेको काट दिया। काटनेके साथ ही जबतक वह शस्त्रोंपर गिरता है कि तबतक आकाशगामिनी विद्याने आकर उससे कहा—देव, आज्ञा कीजिये, मैं उपस्थित हूँ। विद्याको अपने सामने खड़ी देखकर अंजनचोरको बड़ी खुशी हुई। उसने विद्यासे कहा, मेरु पर्वतपर जहाँ जिनदत्त सेठ भगवानकी पूजा कर रहा है, वहीं मुझे पहुँचा दो। उसके कहनेके साथ ही विद्याने उसे जिनदत्तके पास पहुँचा दिया। सच है—जिनधर्मके प्रसादसे क्या नहीं होता?

सेठके पास पहुँचकर अंजनने बड़ी भक्तिके साथ उन्हें प्रणाम किया और वह बोला—हे दयाके समुद्र! मैंने आपकी

कृपासे आकाशगामिनी विद्या तो प्राप्त की, पर अब आप मुझे कोई ऐसा मंत्र बतलाइये जिसमें मैं संसार समुद्रसे पार होकर मोक्षमें पहुँच जाऊँ—सिद्ध हो जाऊँ।

अंजनकी इस प्रकार वैराग्य भरी बातें सुनकर परोपकारी जिनदत्तने उसे एक चारणऋद्धिके धारक मुनिराजके पास लिवा लेजाकर उनसे जिन दीक्षा दिलवादी। अंजनचोर साधु बनकर धीरे धीरे कैलासपर जा पहुँचा। वहाँ खूब तपश्चर्या कर ध्यानके प्रभावसे उसने घातिया कर्मोंका नाश किया और केवलज्ञान प्राप्त कर वह त्रैलोक्य द्वारा पूजित हुआ। अन्तमें अघातिया कर्मोंका भी नाश कर अंजनमुनि-राजने अविनाशी, अनन्त गुणोंके समुद्र मोक्षपदको प्राप्त किया।

सम्यग्दर्शनके निःशंकितगुणका पालनकर अंजनचोर भी निरंजन हुआ-कर्मोंके नाश करनेमें समर्थ हुआ। इसलिये भव्यपुरुषोंको तो निःशंकितअंगका पालन करना ही चाहिये।

मूलसंघमें श्रीमल्लिभूषण भट्टारक हुए। वे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—रूप उत्कृष्ट रत्नोंसे अलंकृत थे, बुद्धिमान् थे, और ज्ञानके समुद्र थे। सिंहनन्दीमुनि उनके शिष्य थे। वे मिथ्यात्वमतरूपी पर्वतोंको तोड़नेके लिये वज्रके समान थे—वड़े पाण्डित्यके साथ वे अन्य सिद्धान्तो-का खण्डन करते थे और भव्यपुरुषरूपी कमलोंको प्रफु-ल्लित करनेके लिये वे सूर्यके समान थे। वे चिरकाल तक जीयें उनका यशःशरीर इस नश्वर संसारमें सदा बना रहे।

७—अनन्तमतीकी कथा ।

मोक्ष-सुखके देनेवाले श्रीअर्हन्त भगवानके चरणोंको भक्तिपूर्वक नमस्कार कर अनन्तमतीकी कथा लिखता हूं, जिसके द्वारा सम्यग्दर्शनके निःकांक्षित-गुणका प्रकाश हुआ है।

संसारमें अंगदेश बहुत प्रसिद्ध देश है। जिस समयकी हम कथा लिखते हैं, उस समय उसकी प्रधान राजधानी चम्पापुरी थी। उसके राजा थे वसुवर्धन और उनकी रानीका नाम लक्ष्मीमती था। वह सती थी, गुणवती थी और बड़ी सरल स्वभावकी थी। उनके एक पुत्र था। उसका नाम था प्रियदत्त। प्रियदत्तकी जिनधर्मपर पूर्ण श्रद्धा थी। उसकी गृहिणीका नाम अंगवती था। वह बड़ी धर्मात्मा थी, उदार थी। अंगवतीके एक पुत्री थी। उसका नाम अनन्तमती था। वह बहुत सुन्दर थी, गुणोंकी समुद्र थी।

अष्टाह्निका पर्व आया। प्रियदत्तने धर्मकीर्ति मुनिराजके पास आठ दिनके लिये ब्रह्मचर्य व्रत लिया। साथहीमें उसने अपनी प्रिय पुत्रीको भी विनोदके वश होकर ब्रह्मचर्य व्रत दे दिया। कभी कभी सत्पुरुषोंका विनोद भी सत्य मार्गका प्रदर्शक बन जाता है। अनंतमतीके चित्तपर भी प्रियदत्तके दिलाये व्रतका ऐसा ही प्रभाव पड़ा। जब अनन्तमतीके ब्याहका समय आया और उसके लिये आयोजन होने लगा, तब अतन्तमतीने अपने पितासे कहा—पिताजी! आ-

पने मुझे ब्रह्मचर्य व्रत दिया था न? फिर यह ब्याहका आयोजन आप किस लिये करते हैं?

उत्तरमें प्रियदत्तने कहा–पुत्री, मैंने तो तुझे जो व्रत दिलवाया था वह केवल मेरा विनोद था। क्या तू उसे सच समझ बैठी है?

अनन्तमती बोली–पिताजी, धर्म और व्रतमें हँसी विनोद कैसा, यह मैं नहीं समझी?

प्रियदत्तने फिर कहा–मेरे कुलकी प्रकाशक प्यारी पुत्री, मैंने तो तुझे ब्रह्मचर्य केवल विनोदसे दिया था। और तू उसे सच ही समझ बैठी है, तो भी वह आठ ही दिनके लिये था। फिर अब तू ब्याहसे क्यों इन्कार करती है?

अनन्तमतीने कहा–मैं मानती हूं कि आपने अपने भावोंसे मुझे आठ ही दिनका ब्रह्मचर्य दिया होगा; परन्तु न तो आपने उस समय मुझसे ऐसा कहा और न मुनि महाराजने ही, तब मैं कैसे समझूं कि वह आठ ही दिनके लिये था। इसलिये अब जैसा कुछ हो, मैं तो जीवन पर्यन्त ही उसे पालूंगी। मैं अब ब्याह नहीं करूंगी।

अनन्तमतीकी बातोंसे उसके पिताको बड़ी निराशा हुई; पर वे कर भी क्या सकते थे। उन्हें अपना सब आयोजन समेट लेना पड़ा। इसके बाद उन्होंने अनन्तमतीके जीवनको धार्मिक–जीवन बनानेके लिये उसके पठनपाठनका अच्छा प्रबन्ध कर दिया। अनन्तमती भी निराकुलतासे शास्त्रोंका अभ्यास करने लगी।

इस समय अनन्तमती पूर्ण युवती है। उसकी सुन्दरताने स्वर्गीय सुन्दरता धारण की है। उसके अंग अंगसे लावण्य-सुधाका झरना बह रहा है। चन्द्रमा उसके अप्रतिम मुखकी शोभाको देखकर फीका पड़ रहा है और नखोंके प्रतिबिम्बके बहानेसे उसके पावोंमें पड़कर अपनी इज्जत बचालेनेके लिये उससे प्रार्थना करता है। उसकी बड़ी बड़ी और प्रफुल्लित आँखोंको देखकर बेचारे कमलोंसे मुख भी ऊँचा नहीं किया जाता है। यदि सच पूछो तो उसके सौन्दर्यकी प्रशंसा करना मानो उसकी मर्यादा बांध देना है, पर वह तो अमर्याद है, स्वर्गकी सुन्दरियोंको भी दुर्लभ है।

चैत्रका महिना था। एक दिन अनन्तमती विनोदवश हो, अपने बगीचेमें अकेली झूलेपर झूल रही थी। इसी समय एक कुण्डलमंडित नामका विद्याधरोंका राजा, जो कि विद्याधरोंकी दक्षिणश्रेणीके किन्नरपुरका स्वामी था, इधर ही होकर अपनी प्रियाके साथवा युयानमें बैठा हुआ जा रहा था। एकाएक उसकी दृष्टि झूलती हुई अनन्तमतीपर पड़ी। उसकी स्वर्गीय सुन्दरताको देखकर कुंडलमंडित कामके बाणोंसे बुरी तरह बींधा गया। उसने अनंतमतीकी प्राप्तिके विना अपने जन्मको व्यर्थ समझा। वह उस बेचारी बालिकाको उड़ा तो उसी वक्त ले जाता, पर साथमें प्रियाके होनेसे ऐसा अनर्थ करनेके लिये उसकी हिम्मत न पड़ी। पर उसे विना अनन्तमतीके कब चैन पड़ सकता था? इसलिये वह अपने विमानको शीघ्रतासे घर लौटा ले गया और वहाँ अपनी प्रियाको रखकर उसी समय अनंतमतीके बगीचेमें आ उपस्थित हुआ और

बड़ी फुर्तीसे उस भोली बालिकाको उठा ले चला। उधर उसकी प्रियाको भी इसके कर्मका कुछ कुछ अनुसंधान लग गया था। इसलिये कुण्डलमंडित तो उसे घरपर छोड़ आया था, पर वह घरपर न ठहर कर उसके पीछे पीछे हो चली। जिस समय कुण्डलमण्डित अनन्तमतीको लेकर आकाशकी ओर जा रहा था, कि उसकी दृष्टि अपनी प्रिया पर पड़ी। उसे क्रोधके मारे लाल मुख किये हुई देखकर कुण्डलमंडितके प्राणदेवता एक साथ शीतल पड़ गये। उसके शरीरको काटो तो खून नहीं। ऐसी स्थितिमें अधिक गोलमाल होनेके भयसे उसने बड़ी फुर्तीके साथ अनन्तमतीको एक पर्णलघ्वी नामकी विद्याके आधीन कर उसे एक भयंकर बनीमें छोड़ देनेकी आज्ञा दे दी और आप पत्नीके साथ घर लौट गया और उसके सामने अपनी निर्दोषताका यह सार्टिफिकट पेश कर दिया कि अनन्तमती न तो विमानमें उसे देखनेको मिली और न विद्याके सुपुर्द करते समय कुण्डलमंडितने ही उसे देखने दी।

उस भयंकर बनीमें अनन्तमती बड़े जोर जोरसे रोने लगी, पर उसके रोनेको सुनता भी कौन? वह तो कोसों-तक मनुष्योंके पदचारसे रहित थी। कुछ समय बाद एक भीलोंका राजा शिकार खेलता हुआ उधर आ निकला। उसने अनन्तमतीको देखा। देखते ही वह भी कामके बाणोंसे घायल हो गया और उसी समय उसे उठाकर अपने गांवमें ले गया। अनन्तमती तो यह समझी कि दैवने मुझे इसके हाथ सौंपकर मेरी रक्षाकी है और अब मैं अपने घर पहुँचा

दी जाऊँगी। पर नहीं, उसकी यह समझ ठीक नहीं थी। वह छुटकारेके स्थानमें एक और नई विपत्तिके मुखमें फँस गई है।

राजा उसे अपने महल लेजाकर बोला—बाले, आज तुम्हें अपना सौभाग्य समझना चाहिये कि एक राजा तुमपर मुग्ध है, और वह तुम्हें अपनी पट्टरानी बनाना चाहता है। प्रसन्न होकर उसकी प्रार्थना स्वीकार करो और अपने स्वर्गीय समागमसे उसे सुखी करो। वह तुम्हारे सामने हाथ जोड़े खड़ा है—तुम्हें वनदेवी समझकर अपना मन चाहा वर माँगता है। उसे देकर उसकी आशा पूरी करो। बेचारी भोली अनन्तमती उस पापीकी बातोंका क्या जबाब देती? वह फूट फूटकर रोने लगी और आकाश पाताल एक करने लगी। पर उसकी सुनता कौन? वह तो राज्य ही मनुष्यजातिके राक्षसोंका था।

भीलराजाके निर्दयी हृदयमें तब भी अनन्तमतीके लिये कुछ भी दया नहीं आई। उसने और भी बहुत बहुत प्रार्थना की, विनय अनुनय किया, भय दिखाया, पर अनन्तमतीने उसपर कुछ ध्यान नहीं दिया। किन्तु यह सोचकर, कि इन नारकियोंके सामने रोने धोनेसे कुछ काम नहीं चलेगा, उसने उसे फटकारना शुरू किया। उसकी आँखोंसे क्रोधकी चिनगारियाँ निकलने लगीं, उसका चेहरा लालसुर्ख पड़ गया। सब कुछ हुआ, पर उस भीम राक्षसपर उसका कुछ प्रभाव न पड़ा। उसने अनन्तमतीपर बलात्कार करना चाहा। इतनेमें उसके पुण्यप्रभावसे, नहीं, शीलके

अखंड बलसे वनदेवीने आकर अनन्तमतीकी रक्षा की और उस पापीको उसके पापका खूब फल दिया और कहा– नीच, तू नहीं जानता यह कौन है ? याद रख यह संसारकी पूज्य एक महादेवी है, जो इसे तूने सताया कि समझ तेरे जीवनकी कुशल नहीं है। यह कहकर वनदेवी अपने स्थान- पर चली गई। उसके कहनेका भीलराजपर बहुत असर पड़ा और पड़ना चाहिये ही था। क्योंकि थी तो वह देवी ही न ? देवीके डरके मारे दिन निकलते ही उसने अनन्तम- तीको एक साहूकारके हाथ सौंपकर उससे कह दिया कि इसे इसके घर पहुँचा दीजियेगा। पुष्पक सेठने उस समय तो अनन्तमतीको उसके घर पहुँचा देनेका इकरार कर भीलराजसे लेली। पर यह किसने जाना कि उसका हृदय भी भीतरसे पापपूर्ण होगा। अनन्तमतीको पाकर वह समझने लगा कि मेरे हाथ अनायास स्वर्गकी सुन्दरी लग गई। यह यदि मेरी बात प्रसन्नता पूर्वक मानले तब तो अच्छा ही है, नहीं तो मेरे पंजेसे छूट कर भी तो यह नहीं जा सकती। यह विचारकर उस पापीने अनन्तमतीसे कहा–सुन्दरी, तुम बड़ी भाग्यवती हो, जो एक नरपिशाचके हाथसे छूटकर पुण्यपुरुषके सुपुर्द हुई। कहाँ तो यह तुम्हारी अनिन्द्य स्व- र्गीय सुन्दरता और कहाँ वह भीमराक्षस, कि जिसे देखते ही हृदय कांप उठता है ? मैं तो आज अपनेको देवोंसे भी कहीं बढ़कर भाग्यशाली समझता हूं, जो मुझे अनमोल स्त्री- रत्न सुलभताके साथ प्राप्त हुआ। भला, विना महाभाग्यके कहीं ऐसा रत्न मिल सकता है ? सुन्दरी, देखती हो, मेरे पास

अटूट धन है, अनन्त वैभव है, पर उस सबको तुमपर न्यौछावर करनेको तैयार हूं और तुम्हारे चरणोंका अत्यन्त दास बनता हूं। कहो, मुझपर प्रसन्न हो? मुझे अपने हृदयमें जगह दोगी न? दो, और मेरे जीवनको, मेरे धन–वैभवको सफल करो।

अनंतमतीने समझा था कि इस भले मानसकी कृपासे मैं सुखपूर्वक पिताजीके पास पहुंच जाऊंगी, पर वह बेचारी पापियोंके पापी हृदयकी बातको क्या जाने? उसे जो मिलता था, उसे वह भला ही समझती थी। यह स्वाभाविक बात है कि अच्छेको संसार अच्छा ही दिखता है। अनन्तमतीने पुष्पक सेठकी पापपूर्ण बातें सुनकर बड़े कोमल शब्दोंमें कहा-महाशय, आपको देखकर तो मुझे विश्वास हुआ था कि अब मेरे लिये कोई डरकी बात नहीं रही–मैं निर्विघ्न अपने घरपर पहुँच जाऊंगी। क्योंकि मेरे एक दूसरे पिता मेरी रक्षाके लिये आगये हैं। पर मुझे अत्यन्त दुःखके साथ कहना पड़ता है कि आप सरीखे भले मानसके मुहँसे और ऐसी नीच बातें? जिसे मैंने रस्सी समझकर हाथमें लिया था, मैं नहीं समझती थी कि वह इतना भयंकर सर्प होगा। क्या यह बाहरी चमक दमक और सीधापन केवल दाम्भिकपना है? केवल बगुलोंकी हंसोंमें गणना करानेके लिये है? यदि ऐसा है तो मैं तुम्हें, तुम्हारे इस ठगी वेषको, तुम्हारे कुलको, तुम्हारे धन–वैभवको और तुम्हारे जीवनको धिक्कार देती हूं–अत्यन्त घृणाकी दृष्टिसे देखती हूं। जो मनुष्य केवल संसारको ठगानेके लिये ऐसे मायाचार करता है, बाहर धर्मा-

त्मा बननेका ढोंग रचता है, लोगोंको धोखा देकर अपने मायाजालमें फँसाता है, वह मनुष्य नहीं है; किन्तु पशु है, पिशाच है, राक्षस है। वह पापी मुहँ देखने योग्य नहीं, नाम लेने योग्य नहीं। उसे जितना धिक्कार दिया जाय थोड़ा है। मैं नहीं जानती थी कि आप भी उन्ही पुरुषोंमेंसे एक होंगे। अनन्तमती और भी कहती, पर वह ऐसे कुलकलंक नीचोंके मुहँ लगना उचित नहीं समझ चुप हो रही। अपने क्रोधको वह दबा गई।

उसकी जली भुनी बातें सुनकर पुष्पक सेठकी अक्ल ठिकाने आ गई। वह जलकर खाक हो गया, क्रोधसे उसका सारा शरीर कांप उठा, पर तब भी अनन्तमतीके दिव्य तेजके सामने उससे कुछ करते नहीं बना। उसने अपने क्रोधका बदला अनन्तमतीसे इस रूपमें चुकाया कि वह उसे अपने शहरमें लेजाकर एक कामसेना नामकी कुट्टिनीके हाथ सौंप दिया। सच बात तो यह है कि यह सब दोष दिया किसे जा सकता है, किन्तु कर्मोंकी ही ऐसी विचित्र स्थिति है, जो जैसा कर्म करता है उसका उसे वैसा फल भोगना ही पड़ता है। इसमें नई बात कुछ नहीं है।

कामसेनाने भी अनन्तमतीको कष्ट देनेमें कुछ कसर नहीं की। जितना उससे बना उसने भयसे, लोभसे उसे पवित्र पथसे गिराना चाहा–उसके सतीत्वधर्मको भ्रष्ट करना चाहा, पर अनन्तमती उससे नहीं डिगी। वह सुमेरुके समान निश्चल बनी रही। ठीक तो है–जो संसारके दुःखोंसे डरते हैं, वे ऐसे भी सांसारिक कामोंके करनेसे घबरा उठते हैं,

जो न्यायमार्गसे भी क्यों न प्राप्त हुए हों, तब भला उन पुरुषोंकी ऐसे घृणित और पाप कार्योंमें कैसे प्रीति हो सकती है? कभी नहीं होती।

कामसेनाने उसपर अपना चक्र चला हुआ न देखकर उसे एक सिंहराज नामके राजाको सौंप दिया। बेचारी अनन्तमतीका जन्म ही न जाने कैसे बुरे समयमें हुआ था, जो वह जहाँ पहुँचती वहीं आपत्ति उसके सिरपर सवार रहती। सिंहराज भी एक ऐसा ही पापी राजा था। वह अनन्तमतीके देवांगनादुर्लभ रूपको देखकर उसपर मोहित हो गया। उसने भी उससे बहुत हाथाजोड़ी की, पर अनन्तमतीने उसकी बातोंपर कुछ ध्यान न देकर उसे भी फटकार डाला। पापी सिंहराजने अनन्तमतीका अभिमान नष्ट करनेको उससे बलात्कार करना चाहा। पर जो अभिमान मानवी प्रकृतिका न होकर अपने पवित्र आत्मीय तेजका होता है, भला, किसकी मजाल जो उसे नष्ट कर सके? जैसे ही पापी सिंहराजने उस तेजोमय मूर्त्तिकी ओर पाँव बढ़ाया कि उसी वनदेवीने, जिसने एक बार पहले भी अनन्तमतीकी रक्षा की थी, उपस्थित होकर कहा—खबरदार! इस सती देवीका स्पर्श भूलकर भी मत करना, नहीं तो समझ लेना कि तेरा जीवन जैसा संसारमें था ही नहीं। इसके साथ ही देवी उसे उसके पापकर्मोंका उचित दंड देकर अन्तर्हित हो गई। देवीको देखते ही सिंहराजका कलेजा काँप उठा। वह चित्रलिखेसा निश्चेष्ट हो गया। देवीके चले जानेपर बहुत देर बाद उसे होश हुआ। उसने

उसी समय नौकरको बुलवाकर अनन्तमतीको जंगलमें छोड़ आनेकी आज्ञा दी। राजाकी आज्ञाका पालन हुआ। अनन्तमती एक भयंकर वनमें छोड़ दी गई।

अनन्तमती कहाँ जायगी, किस दिशामें उसका शहर है और वह कितनी दूर है? इन सब बातोंका यद्यपि उसे कुछ पता नहीं था, तब भी वह पंचपरमेष्ठीका स्मरणकर वहाँसे आगे बढ़ी और फल फूलादिसे अपना निर्वाह कर वन, जंगल, पर्वतोंको लाँघती हुई अयोध्यामें पहुँच गई। वहाँ उसे एक पद्मश्री नामकी आर्यिकाके दर्शन हुए। आर्यिकाने अनन्तमतीसे उसका परिचय पूछा। उसने अपना सब परिचय देकर अपनेपर जो जो विपत्ति आई थी और उससे जिस जिस प्रकार अपनी रक्षा हुई थी उसका सब हाल आर्यिकाको सुना दिया। आर्यिका उसकी कथा सुनकर बहुत दुखी हुई। उसे उसने एक सती-शिरोमणि रमणी-रत्न समझकर अपने पास रख लिया। सच है सज्जनोंका व्रत परोपकारार्थ ही होता है।

उधर प्रियदत्तको जब अनन्तमतीके हरीजानेका समाचार मालूम हुआ तब वह अत्यन्त दुःखी हुआ। उसके वियोगसे वह अस्थिर हो उठा। उसे घर श्मशान सरीखा भयंकर दिखने लगा। संसार उसके लिये सूना हो गया। पुत्रीके विरहसे दुखी होकर तीर्थयात्राके बहानेसे वह घरसे निकल खड़ा हुआ। उसे लोगोंने बहुत समझाया, पर उसने किसीकी बातको न मानकर अपने निश्चयको नहीं छोड़ा। कुटुम्बके लोग उसे घरपर न रहते देखकर स्वयं भी उसके साथ साथ चले।

बहुतसे सिद्धक्षेत्रों और अतिशय-क्षेत्रोंकी यात्रा करते करते वे अयोध्यामें आये। वहींपर प्रियदत्तका साला जिनदत्त रहता था। प्रियदत्त उसीके घरपर ठहरा। जिनदत्तने बड़े आदर सम्मानके साथ अपने बहनोईकी पाहुनगति की। इसके बाद स्वस्थताके समय जिनदत्तने अपनी बहिन-आदिका समाचार पूछा। प्रियदत्तने जैसी घटना बीती थी, वह सब उससे कह सुनाई। सुनकर जिनदत्तको भी अपनी भानजीके बावत बहुत दुःख हुआ। दुःख सभीको हुआ पर उसे दूर करनेके लिये सब लाचार थे। कर्मोंकी विचित्रता देखकर सबहीको सन्तोष करना पड़ा।

दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर और स्नानादि करके जिनदत्त तो जिनमन्दिर चलकर गया। इधर उसकी स्त्री भोजनकी तैयारी करके पद्मश्री आर्यिकाके पास जो बालिका थी, उसे भोजन करनेको और आँगनमें चौक पूरनेको बुला लाई। बालिकाने आकर चौक पूरा और बाद भोजन करके वह अपने स्थानपर लौट आई।

जिनदत्तके साथ प्रियदत्त भी भगवानकी पूजा करके घरपर आया। आते ही उसकी दृष्टि चौकपर पड़ी। देखते ही उसे अनन्तमतीकी याद हो उठी। वह रो पड़ा। पुत्रीके प्रेमसे उसका हृदय व्याकुल हो गया। उसने रोते रोते कहा-जिसने यह चौक पूरा है, क्या मुझ अभागेको उसके दर्शन होंगे? जिनदत्त अपनी स्त्रीसे उस बालिकाका ठिकाना पूछ कर जहाँ वह थी, वहीं दौड़ा गया और झटसे उसे अपने घर लिवा लाया। बालिकाको देखते ही प्रियदत्तके नेत्रोंसे आसुं

वह निकले। उसका गला भर आया। आज वर्षों बाद उसे अपनी पुत्रीके दर्शन हुए। बड़े प्रेमके साथ उसने अपनी प्यारी पुत्रीको छातीसे लगाया और उसे गोदीमें बैठाकर उससे एक एक बातें पूछना शुरू कीं। उसके दुःखोंका हाल सुनकर प्रियदत्त बहुत दुःखी हुआ। उसने कर्मोंका, इसलिये कि अनन्तमती इतने कष्टोंको सहकर भी अपने धर्मपर दृढ़ रही और कुशलपूर्वक अपने पितासे आ मिली, बहुत बहुत उपकार माना। पितापुत्रीका मिलाप हो जानेसे जिनदत्तको बहुत प्रसन्नता हुई। उसने इस खुशीमें जिनभगवानका रथ निकलवाया, सबका यथायोग्य आदर सन्मान किया और खूब दान किया।

इसके बाद प्रियदत्त अपने घर जानेको तैयार हुआ। उसने अनन्तमतीसे भी चलनेको कहा। वह बोली—पिताजी, मैंने संसारकी लीलाको खूब देखा है। उसे देखकर तो मेरा जी काँप उठता है। अब मैं घरपर नहीं चलूंगी। मुझे संसारके दुःखोंसे बहुत डर लगता है। अब तो आप दया करके मुझे दीक्षा दिलवा दीजिये। पुत्रीकी बात सुनकर प्रियदत्त बहुत दुखी हुआ, पर अब उसने उससे घरपर चलनेको विशेष आग्रह न करके केवल इतना कहा कि—पुत्री, तेरा यह नवीन शरीर अत्यन्त कोमल है और दीक्षाका पालन करना बड़ा कठिन है—उसमें बड़ी बड़ी कठिन परीषह सहना पड़ती है। इसलिये अभी कुछ दिनोंके लिये मन्दिरहीमें रहकर अभ्यास कर और धर्मध्यान पूर्वक अपना समय बिता। इसके बाद जैसा तू चाहती है, वह स्वयं ही हो जायगा।

प्रियदत्तने इस समय दीक्षा लेनेसे अनन्तमतीको रोका, पर उसके तो रोम रोममें वैराग्य प्रवेश कर गया था; फिर वह कैसे रुक सकती थी? उसने मोहजाल तोड़कर उसी समय पद्मश्री आर्यिकाके पास जिनदीक्षा ग्रहण कर ही ली। दीक्षित होकर अनन्तमती खूब दृढ़ताके साथ तप तपने लगी, महिना महिनाके उपवास करने लगी, परीषह सहने लगी। उसकी उमर और तपश्चर्या देखकर सबको दांतोंतले अंगुली दबाना पड़ती थी। अनन्तमतीका जबतक जीवन रहा तबतक उसने बड़े साहससे अपने व्रतको निवाहा। अन्तमें वह सन्यासमरण कर सहस्रारस्वर्गमें जाकर देव हुई। वहाँ वह नित्य नये रत्नोंके स्वर्गीय भूषण पहरती है, जिन-भगवानकी भक्तिके साथ पूजा करती है, हजारों देव देवाङ्गनायें उसकी सेवामें रहती हैं। उसके ऐश्वर्यका पार नहीं और न उसके सुखहीकी सीमा है। बात यह है कि पुण्यके उदयसे क्या क्या नहीं होता?

अनन्तमतीको उसके पिताने केवल विनोदसे शीलव्रत दे दिया था। पर उसने उसका बड़ी दृढ़ताके साथ पालन किया—कर्मोंके पराधीन सांसारिक सुखकी उसने स्वप्नमें भी चाह नहीं की। उसके प्रभावसे वह स्वर्गमें जाकर देव हुई, जहां सुखका पार नहीं। वहां वह सदा जिनभगवानके चरणोंमें लीन रह कर बड़ी शान्तिके साथ अपना समय बिताती है। सती-शिरोमणि अनन्तमती हमारा भी कल्याण करे।

८—उद्दायन राजाकी कथा।

संसार-श्रेष्ठ जिनभगवान, जिनवानी और जैन ऋषियोंको नमस्कार कर उद्दायन राजाकी कथा लिखता हूं, जिन्होंने सम्यक्त्वके तीसरे निर्विचिकित्सा अंगका पालन किया है।

उद्दायन रौरवक नामक शहरके राजा थे, जो कि कच्छदेशके अन्तर्गत था। उद्दायन सम्यग्दृष्टि थे, दानी थे, विचारशाली थे, जिनभगवानके सच्चे भक्त थे और न्यायी थे। सुतरां प्रजाका उनपर बहुत प्रेम था और वे भी प्रजाके हितमें सदा उद्युक्त रहा करते थे।

उनकी रानीका नाम प्रभावती था। वह भी सती थी, धर्मात्मा थी। उसका मन सदा पवित्र रहता था। वह अपने समयको प्रायः दान, पूजा, व्रत, उपवास, स्वाध्यायादिमें बिताती थी।

उद्दायन अपने राज्यका शान्ति और सुखसे पालन करते और अपनी शक्तिके अनुसार जितना बन पड़ता, उतना धार्मिक काम करते। कहनेका मतलब यह कि वे सुखी थे—उन्हें किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं थी। उनका राज्य भी शत्रुरहित निष्कंटक था।

एक दिन सौधर्मस्वर्गका इन्द्र अपनी सभामें धर्मोपदेश कर रहा था "कि संसारमें सच्चे देव अर्हन्त भगवान हैं, जो कि भूख, प्यास, रोग, शोक, भय, जन्म, जरा, मरण आदि दोषोंसे रहित और जीवोंको संसारके दुःखोंसे छुड़ानेवाले

हैं; सच्चा धर्म, उत्तम क्षमा, मार्दव आर्जव–आदि दशलक्षण रूप है; गुरु निर्ग्रन्थ हैं, जिनके पास परिग्रहका नाम निशान नहीं और जो क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष-आदिसे रहित हैं और वह सच्ची श्रद्धा है, जिससे जीवाजीवादिक पदार्थोंमें रुचि होती है। यही रुचि स्वर्गमोक्षकी देनेवाली है। यह रुचि अर्थात् श्रद्धा धर्ममें प्रेम करनेसे, तीर्थयात्रा करनेसे, रथोत्सव करानेसे, जिनमन्दिरोंका जीर्णोद्धार करानेसे, प्रतिष्ठा करानेसे, प्रतिमा बनवानेसे और साधर्मियोंसे वात्सल्य अर्थात् प्रेम करनेसे उत्पन्न होती है । आप लोग ध्यान रखिये कि सम्यग्दर्शन संसारमें एक सर्व श्रेष्ठ वस्तु है। और कोई वस्तु उसकी समानता नहीं कर सकती । यही सम्यग्दर्शन दुर्गतियोंका नाश करके स्वर्ग और मोक्षका देनेवाला है। इसे तुम धारण करो।" इस प्रकार सम्यग्दर्शनका और उसके आठ अंगोंका वर्णन करते समय इन्द्रने निर्विचिकित्सा अंगका पालन करनेवाले उद्दायन राजाकी बहुत प्रशंसा की। इन्द्रके मुहँसे एक मध्यलोकके मनुष्यकी प्रशंसा सुनकर एक बासव नामका देव उसी समय स्वर्गसे भारतमें आया और उद्दायन राजाकी परीक्षा करनेके लिये एक कोढ़ी मुनिका वेश बनाकर भिक्षाके लिये दोपहरहीको उद्दायनके महल गया।

उसके शरीरसे कोढ़ गल रहा था, उसकी वेदनासे उसके पैर इधर उधर पड़ रहे थे, सारे शरीरपर मक्खियां भिनभिना रही थीं और सब शरीर विकृत हो गया था। उसकी यह हालत होनेपर भी जब वह राजद्वारपर पहुँचा और

महाराज उद्दायनकी उसपर दृष्टि पड़ी तब वे उसी समय सिंहासनसे उठकर आये और बड़ी भक्तिसे उन्होंने उस छली मुनिका आव्हान किया। इसके बाद नवधा भक्ति-पूर्वक हर्षके साथ राजाने मुनिको प्रासुक आहार कराया। राजा आहार कराकर निवृत्त हुए कि इतनेमें उस कपटी मुनिने अपनी मायासे महा दुर्गन्धित वमन कर दिया। उसकी असह्य दुर्गन्धके मारे जितने और लोग पास खड़े हुए थे, वे सब भाग खड़े हुए; किन्तु केवल राजा और रानी मुनिकी सम्हाल करनेको वहीं रह गये। रानी मुनिका शरीर पोंछनेको उसके पास गई। कपटी मुनिने उस बेचारीपर भी महा दुर्गन्धित उछाट करदी। राजा और रानीने इसकी कुछ परवा न कर उलटा इस बातपर बहुत पश्चात्ताप किया कि हमसे मुनिकी प्रकृति-विरुद्ध न जाने क्या आहार दे दिया गया, जिससे मुनिराजको इतना कष्ट हुआ। हम लोग बड़े पापी हैं। इसीलिये तो ऐसे उत्तम पात्रका हमारे यहां निरन्तराय आहार नहीं हुआ। सच है जैसे पापी लोगोंको मनोवांछितका देनेवाला चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्ष प्राप्त नहीं होता, उसी तरह सुपात्रके दानका योग भी पापियोंको नहीं मिलता है। इस प्रकार अपनी आत्मनिन्दा कर और अपने प्रमादपर बहुत बहुत खेद प्रकाश कर राजा रानीने मुनिका सब शरीर जलसे धोकर साफ किया। उनकी इस प्रकार अचलभक्ति देखकर देव अपनी माया समेटकर बड़ी प्रसन्नताके साथ बोला—राज-राजेश्वर, सचमुच ही तुम सम्यग्दृष्टि हो, महादानी हो।

निर्विचिकित्सा अंगके पालन करनेमें इन्द्रने जैसी तुम्हारी प्रशंसा की थी, वह अक्षर अक्षर ठीक निकली—वैसा ही मैंने तुम्हें देखा। वास्तवमें तुमहीने जैनशासनका रहस्य समझा है। यदि ऐसा न होता तो तुम्हारे विना और कौन मुनिकी दुर्गन्धित उछाट अपने हाथोंसे उठाता? राजन्! तुम धन्य हो, शायद ही इस पृथ्वीमंडलपर इस समय तुम सरीखा सम्यग्दृष्टियोंमें शिरोमणि कोई होगा? इस प्रकार उद्दायनकी प्रशंसा कर देव अपने स्थानपर चला गया और राजा फिर अपने राज्यका सुखपूर्वक पालन करते हुए दान, पूजा, व्रत आदिमें अपना समय बिताने लगे।

इसी तरह राज्य करते करते उद्दायनका कुछ और समय बीत गया। एक दिन वे अपने महलपर बैठे हुए प्रकृतिकी शोभा देख रहे थे कि इतनेमें एक बड़ा भारी बादलका टुकड़ा उनकी आँखोंके सामनेसे निकला। वह थोड़ी ही दूर पहुँचा होगा कि एक प्रबल वायुके वेगने उसे देखते देखते नामशेष कर दिया। क्षणभरमें एक विशाल मेघखंडकी यह दशा देखकर उद्दायनकी आँखें खुलीं। उन्हें सारा संसार ही अब क्षणिक जान पड़ने लगा। उन्होंने उसी समय महलसे उतरकर अपने पुत्रको बुलाया और उसके मस्तकपर राजतिलक करके आप भगवान वर्द्धमानके समवसरणमें पहुँचे और भक्तिके साथ भगवानकी पूजा कर उनके चरणोंके पास ही उन्होंने जिनदीक्षा ग्रहण करली, जिसका इन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्र आदि सभी आदर करते हैं।

साधु होकर उद्दायन राजाने खूब तपश्चर्या की, संसारका सर्व श्रेष्ठ पदार्थ रत्नत्रय प्राप्त किया। इसके बाद ध्यानरूपी

अग्निसे घातिया कर्मोंका नाशकर उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। उसके द्वारा उन्होंने संसारके दुःखोंसे तड़फते हुए अनेक जीवोंको उवारकर, अनेकोंको धर्मके पथपर लगाया और अन्तमें अघातिया कर्मोंका भी नाशकर अविनाशी, अनन्त मोक्षपद प्राप्त किया।

उधर उनकी रानी सती प्रभावती भी जिनदीक्षा ग्रहण-कर तपश्चर्या करने लगी और अन्तमें समाधि मृत्यु प्राप्त कर ब्रह्मस्वर्गमें जाकर देव हुई।

वे जिनभगवान मुझे मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करें, जो सब श्रेष्ठ गुणोंके समुद्र हैं, जिनका केवलज्ञान संसारके जीवोंका हृदयस्थ अज्ञानरूपी आताप नष्ट करनेको चन्द्रमा समान है, जिनके चरणोंको इन्द्र, नरेन्द्र, आदि सभी नमस्कार करते हैं, जो ज्ञानके समुद्र और साधुओंके शिरोमणि हैं।

९-रेवती रानीकी कथा।

संसारका हित करनेवाले जिनभगवानको परम भक्तिपूर्वक नमस्कार कर अमूढ़दृष्टि अंगका पालन करनेवाली रेवती रानीकी कथा लिखता हूं।

विजयार्धपर्वतकी दक्षिणश्रेणीमें मेघ-कूट नामका एक सुन्दर शहर है। उसके राजा हैं चन्द्र-

प्रभ। चंद्रप्रभने बहुत दिनोंतक सुखके साथ [illegible] कहना किया। एक दिन वे बैठे हुए थे कि एकाएक उन्हें [illegible] यात्रा करनेकी इच्छा हुई। राज्यका कारोबार अपने चन्द्रशेखर नामके पुत्रको सौंपकर वे तीर्थयात्राके लिये चल दिये। वे यात्रा करते हुए दक्षिणमथुरामें आये। उन्हें पुण्यसे वहां गुप्ताचार्यके दर्शन हुए। आचार्यसे चन्द्रप्रभने धर्मोपदेश सुना। उनके उपदेशका उनपर बहुत असर पड़ा। वे आचार्यके द्वारा—

प्रोक्तः परोपकारोऽत्र महापुण्याय भूतले।

[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्—परोपकार करना महान् पुण्यका कारण है, यह जानकर और तीर्थयात्रा करनेके लिये एक विद्याको अपने अधिकारमें रखकर क्षुल्लक बन गये।

एक दिन उनकी इच्छा उत्तरमथुराकी यात्रा करनेकी हुई। जब वे जानेको तैयार हुए तब उन्होंने अपने गुरु महाराजसे पूछा— हे दयाके समुद्र, मैं यात्राके लिये जा रहा हूं, क्या आपको कुछ समाचार तो किसीके लिये नहीं कहना है? गुप्ताचार्य बोले—मथुरामें एक सूरत नामके बड़े ज्ञानी और गुणी मुनिराज हैं, उन्हें मेरा नमस्कार कहना और सम्यग्दृष्टिनी धर्मात्मा रेवतीके लिये मेरी धर्मवृद्धि कहना।

क्षुल्लकने और पूछा कि इसके सिवा और भी आपको कुछ कहना है क्या? आचार्यने कहा नहीं। तब क्षुल्लकने विचारा कि क्या कारण है जो आचार्यने एकादशांगके ज्ञाता श्रीभव्यसेन मुनि तथा और और मुनियोंको रहते

मिथ्यादृष्टेः श्रुतं शास्त्रं कुमार्गाय प्रवर्तते ।
यथा मृष्टं भवेत्कष्टं सुदुग्धं तुम्बिकागतम् ॥
[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्—मूर्ख पुरुष मिथ्यात्वके वश होकर कौन बुरा काम नहीं करते? मिथ्यादृष्टियोंका ज्ञान और चारित्र मोक्षका कारण नहीं होता। जैसे सूर्यके उदयसे उल्लूको कभी सुख नहीं होता। मिथ्यादृष्टियोंका शास्त्र सुनना, शास्त्राभ्यास करना केवल कुमार्गमें प्रवृत्त होनेका कारण है। जैसे मीठा दूध भी तूंबड़ीके सम्बन्धसे कड़वा हो जाता है। इन सब बातोंको विचारकर क्षुल्लकने भव्यसेनके आचरणसे समझ लिया कि ये नाम मात्रके जैनी हैं, पर वास्तवमें इन्हें जैनधर्मपर श्रद्धान नहीं–ये मिथ्यात्वी हैं। उस दिनसे चन्द्रप्रभने भव्यसेनका नाम अभव्यसेन रक्खा। सच बात है–दुराचारसे क्या नहीं होता?

क्षुल्लकने भव्यसेनकी परीक्षा कर अब रेवती रानीकी परीक्षा करनेका विचार किया। दूसरे दिन उसने अपने विद्याबलसे कमलपर बैठे हुए और वेदोंका उपदेश करते हुए चतुर्मुख ब्रह्माका वेष बनाया और शहरसे पूर्व दिशाकी ओर कुछ दूरीपर जंगलमें वह ठहरा। यह हाल सुनकर राजा, भव्यसेन–आदि सभी वहां गये और ब्रह्माजीको उन्होंने नमस्कार किया। उनके पावों पड़ कर वे बड़े खुश हुए। राजाने चलते समय अपनी प्रिया रेवतीसे भी ब्रह्माजीकी वन्दनाके लिये चलनेको कहा था, पर रेवती सम्यक्त्व रत्नसे भूपित थी, जिनभगवानकी अनन्यभक्त थी; इसलिये वह नहीं गई। उसने राजासे कहा–महाराज, मोक्ष और

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रका प्राप्त करानेवाला सच्चा ब्रह्मा जिनशासनमें आदिजिनेन्द्र कहा गया है, उसके सिवा अन्य ब्रह्मा हो ही नहीं सकता और जिस ब्रह्माकी वन्दनाके लिये आप जा रहे हैं, वह ब्रह्मा नहीं है; किन्तु कोई धूर्त ठगानेके लिये ब्रह्माका वेष लेकर आया है। मैं तो नहीं चलूंगी।

दूसरे दिन क्षुल्लकने गरुड़पर बैठे हुए, चतुर्बाहु, शंख, चक्र, गदा—आदिसे युक्त और दैत्योंको कँपानेवाले वैष्णव भगवानका वेष बनाकर दक्षिण दिशामें अपना डेरा जमाया।

तीसरे दिन उस बुद्धिमान् क्षुल्लकने बैलपर बैठे हुए, पार्वतीके मुखकमलको देखते हुए, सिरपर जटा रखाये हुए, गणपति युक्त और जिन्हें हजारों देव आ आकर नमस्कार कर रहे हैं, ऐसा शिवका वेष धारणकर पश्चिम दिशाकी शोभा बढ़ाई।

चौथे दिन उसने अपनी मायासे सुन्दर समवसरणमें बिराजे हुए, आठ प्रातिहार्योंसे विभूषित, मिथ्यादृष्टियोंके मानको नष्ट करनेवाले मानस्तंभादिसे युक्त, निर्ग्रन्थ और जिन्हें हजारों देव, विद्याधर, चक्रवर्ती आ आकर नमस्कार करते हैं, ऐसा संसार श्रेष्ठ तीर्थंकरका वेष बनाकर पूर्व दिशाको अलंकृत किया। तीर्थंकर भगवानका आगमन सुनकर सबको बहुत आनन्द हुआ। सब प्रसन्न होते हुए भक्तिपूर्वक उनकी बन्दना करनेको गये। राजा, भव्यसेन आदि भी उनमें शामिल थे। तीर्थंकर भगवानके दर्शनोंके लिये भी रेवतीरानीको न जाती हुई देखकर सबको बड़ा आश्चर्य

हुआ। बहुतोंने उससे चलनेके लिये आग्रह भी किया, पर वह न गई। कारण वह सम्यक्त्वरूप मौलिक रत्नसे भूषित थी–उसे जिनभगवानके बचनोंपर पूरा विश्वास था कि तीर्थंकर परम देव चौवीस ही होते हैं, और वासुदेव नौ और रुद्र ग्यारा होते हैं। फिर उनकी संख्याको तोड़नेवाले ये दशवें वासुदेव, बारहवें रुद्र और पच्चीसवें तीर्थंकर आ कहाँसे सकते हैं? वे तो अपने अपने कर्मोंके अनुसार जहाँ उन्हें जाना था वहाँ चले गये। फिर यह नई सृष्टि कैसी? इनमें न तो कोई सच्चा रुद्र है, न वासुदेव है, और न तीर्थंकर है; किन्तु कोई मायावी ऐन्द्रजालिक अपनी धूर्ततासे लोगोंको ठगानेके लिये आया है। यह विचार कर रेवती रानी तीर्थंकरकी वन्दनाके लिये भी नहीं गई। सच है–कहीं वायुसे मेरु पर्वत भी चला है?

इसके बाद चन्द्रप्रभ, क्षुल्लक-वेषहीमें, पर अनेक प्रकारकी व्याधियोंसे युक्त तथा अत्यन्त मलिन शरीर होकर रेवतीके घर भिक्षाके लिये पहुँचे। आँगनमें पहुँचते ही वे मूर्छा खाकर पृथ्वीपर धड़ामसे गिर पड़े। उन्हें देखते ही धर्मवत्सला रेवती रानी हाय हाय कहती हुई उनके पास दौड़ी गई और बड़ी भक्ति और विनयसे उसने उन्हें उठाकर सचेत किया। इसके बाद अपने महलमें लिवा जाकर बड़े कोमल और पवित्र भावोंसे उसने उन्हें प्रासुक आहार कराया। सच है–जो दयावान होते हैं उनकी बुद्धि दान देनेमें स्वभावहीसे तत्पर रहती है।

क्षुल्लकको अबतक भी रेवतीकी परीक्षासे सन्तोष नहीं हुआ। सो उन्होंने भोजन करनेके साथ ही वमन कर दिया,

जिसमें अत्यन्त दुर्गन्ध आ रही थी। क्षुल्लककी यह हालत देखकर रेवतीको बहुत दुःख हुआ। उसने बहुत पश्चात्ताप किया कि न जाने क्या अपथ्य मुझ पापिनीके द्वारा इन्हें दिया गया, जिससे इनकी यह हालत हो गई। मेरी इस असावधानताको धिक्कार है। इस प्रकार बहुत कुछ पश्चात्ताप करके उसने क्षुल्लकका शरीर पोंछा और बाद कुछ कुछ गरम जलसे उसे धोकर साफ किया।

क्षुल्लक रेवतीकी भक्ति देखकर बहुत प्रसन्न हुए। वे अपनी माया समेटकर बड़ी खुशीके साथ रेवतीसे बोले–देवी, संसारश्रेष्ठ मेरे परम गुरु महाराज गुप्ताचार्यकी धर्मवृद्धि तेरे मनको पवित्र करे, जो कि सब सिद्धियोंकी देनेवाली है और तुम्हारे नामसे मैंने यात्रामें जहाँ जहाँ जिनभगवानकी पूजा की है वह भी तुम्हें कल्याणकी देनेवाली हो।

देवी, तुमने जिस संसारश्रेष्ठ और संसार–समुद्रसे पार करनेवाले अमूढ़दृष्टि अंगको ग्रहण किया है, उसकी मैंने नाना तरहसे परीक्षा की, पर उसमें तुम्हें अचल पाया। तुम्हारे इस त्रिलोकपूज्य सम्यक्त्वकी कौन प्रशंसा करनेको समर्थ है? कोई नहीं। इस प्रकार गुणवती रेवती रानीकी प्रशंसा कर और उसे सब हाल कहकर क्षुल्लक अपने स्थान चले गये।

इसके बाद वरुण नृपति और रेवती रानीका बहुत समय सुखके साथ बीता। एक दिन राजाको किसी कारणसे वैराग्य हो गया। वे अपने शिवकीर्ति नामक पुत्रको राज्य सौंपकर और सब मायाजाल तोड़कर तपस्वी बन

गये। साधु बनकर उन्होंने खूब तपश्चर्या की और आयुके अन्तमें समाधिमरण कर वे माहेन्द्रस्वर्गमें जाकर देव हुए।

जिनभगवानकी परम भक्त महारानी रेवती भी जिन-दीक्षा ग्रहण कर और शक्तिके अनुसार तपश्चर्या कर आयुके अन्तमें ब्रह्मस्वर्गमें जाकर महर्द्धिक देव हुई।

भव्य पुरुषो, यदि तुम भी स्वर्ग या मोक्ष-सुखको चाहते हो, तो जिस तरह श्रीमती रेवती रानीने मिथ्यात्व छोड़ा उसी तरह तुम भी मिथ्यात्वको छोड़कर स्वर्ग-मोक्षके देने-वाले, अत्यन्त पवित्र और बड़े बड़े देव, विद्याधर, राजा महाराजाओंसे भक्तिपूर्वक ग्रहण किये हुए जैनधर्मका आश्रय स्वीकार करो।

१०–जिनेन्द्रभक्तकी कथा।

र्ग-मोक्षके देनेवाले श्रीजिनभगवानको नम-स्कार कर मैं जिनेन्द्रभक्तकी कथा लिखता हूं, जिन्होंने कि सम्यग्दर्शनके उपगूहन अंगका पालन किया था।

नेमिनाथ भगवानके जन्मसे पवित्र और दयालु पुरुषोंसे परिपूर्ण सौराष्ट्र देशके अन्तर्गत एक पाटलिपुत्र नामका शहर था। जिस समयकी यह कथा है, उस समय उसके राजा यशोध्वज थे। उनकी रानीका नाम सुसीमा था। वह बड़ी सुन्दरी थी। उसके एक पुत्र था। उसका नाम था सुवीर। बेचारी सुसीमाके पापके उदयसे वह महा व्यसनी

और चोर हुआ। सच तो यह है—जि॰
दुःख भोगना होता है, उनका न तो अच॰
काम आता है और न ऐसे पुत्रोंसे वे॰
कभी सुख होता है।

गौड़देशके अन्तर्गत तामलिप्ता नामकी
उसमें एक सेठ रहते हैं। उनका नाम है
जैसा उनका नाम है वैसे ही वे जिनभग
भी। जिनेन्द्रभक्त सच्चे सम्यग्दृष्टि थे और
धर्मका बराबर सदा पालन करते थे। उन्होंने बड़े॰
जिनमन्दिर बनवाये, बहुतसे जीर्ण मन्दिरोंका उद्धार॰
जिनप्रतिमायें बनवाकर उनकी प्रतिष्ठा करवाई और च॰
संघोंको खूब दान दिया, खूब उनका सत्कार किया।

सम्यग्दृष्टि शिरोमणि जिनेन्द्रभक्तका महल सात म॰
था। उसकी अन्तिम मंजिलपर एक बहुत ही सुन्दर ज॰
चैत्यालय था। चैत्यालयमें श्रीपार्श्वनाथ भगवानकी ब॰
मनोहर और रत्नमयी प्रतिमा थी। उसपर तीन छत्र
कि रत्नोंके बने हुए थे, बड़ी शोभा दे रहे थे। उन छ॰
एक वैडूर्यमणि नामका [illegible] बहुमूल
लग॰ [illegible]

ाता, तो मैं उसे क्षणभरमें ला सकता था।
जो जितने ही दुराचारी होते हैं वे उतना
ार सकते हैं।
ये रत्न लानेकी आज्ञा हुई। वहांसे आकर
क्षुल्लकका वेष धारण किया। क्षुल्लक बनकर
सादि करने लगा। उससे उसका शरीर
ातला हो गया। इसके बाद वह अनेक शहरों
घूमता हुआ और लोगोंको अपने कपटी वेषसे
ुआ कुछ दिनोंमें ताम्रलिप्ता पुरीमें आ पहुंचा।
द्रभक्त सच्चे धर्मात्मा थे, इसलिये उन्हें धर्मात्माओंको
ाकर बड़ा प्रेम होता था। उन्होंने जब इस धूर्त क्षुल्लकक
ागमन सुना तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उसी समय
ारका सब कामकाज छोड़कर क्षुल्लक महाराजकी वन्दना
करनेके लिये गये। उसे तपश्चर्यासे क्षीण शरीर देखकर
ाकी उसपर और अधिक श्रद्धा हुई। उन्होंने भक्तिके
थ क्षुल्लकको प्रणाम किया और बाद वे उसे अपने
लिवा लाये। सच बात यह है कि—

अहो धूर्त्तस्य धूर्त्तत्वं [illegible] केन भूतले।
[illegible] ॥

सन्तुष्ट हुए। जैसे सुनार अपने पास कोई रकम बनवानेके लिये लाये हुए पुरुषके पासका सोना देखकर प्रसन्न होता है। क्योंकि उसकी नियत सदा चोरीकी ओर ही लगी रहती है।

जिनेन्द्रभक्तको उसके मायाचारका कुछ पता नहीं लगा। इसलिये उन्होंने उसे बड़ा धर्मात्मा समझ कर और मायाचारीसे क्षुल्लकके मना करनेपर भी जबरन अपने जिनालयकी रक्षाके लिये उसे नियुक्त कर दिया और आप उससे पूछकर समुद्रयात्रा करनेके लिये चल पड़े।

जिनेन्द्रभक्तके घर बाहर होते ही क्षुल्लकजीकी बन पड़ी। आधी रातके समय आप उस तेजस्वी रत्नको कपड़ोंमें छुपाकर घर बाहर हो गये। पर पापियोंका पाप कभी नहीं छुपता। यही कारण था कि रत्न लेकर भागते हुए उसे सिपाहियोंने देख लिया। वे उसे पकड़नेको दौड़े। क्षुल्लकजी दुबले पतले तो पहलेहीसे हो रहे थे, इसलिये वे अपनेको भागनेमें असक्त समझ लाचार होकर जिनेन्द्रभक्तकी ही शरणमें गये और प्रभो, बचाइये! बचाइये! यह कहते हुए उनके पावोंमें गिर पड़े। जिनेन्द्रभक्तने, "चोर भागा जाता है! इसे पकड़ना" ऐसा हल्ला सुन करके जान लिया कि यह चोर है और क्षुल्लक वेषमें लोगोंको ठगता फिरता है। यह जानकर भी दर्शनकी निन्दाके भयसे जिनेन्द्रभक्तने क्षुल्लकके पकड़नेको आये हुए सिपाहियोंसे कहा—आप लोग बड़े कम समझ हैं! आपने बहुत बुरा किया जो एक तपस्वीको चोर बतला दिया। रत्न तो ये मेरे कहनेसे लाये हैं। आप नहीं जानते कि ये बड़े सच्चरित्र साधु हैं? अस्तु।

आगेसे ध्यान रखियें । जिनेन्द्रभक्तके बचनोंको सुनते ही सब सिपाही लोग ठंडे पड़ गये और उन्हें नमस्कार कर चलते बने।

जब सब सिपाही चले गये तब जिनेन्द्रभक्तने क्षुल्लक जीसे रत्न लेकर एकान्तमें उनसे कहा–बड़े दुःखकी बात है कि तुम ऐसे पवित्र वेषको धारण कर उसे ऐसे नीच कर्मोंसे लजा रहे हो? तुम्हें यही उचित है क्या? याद रक्खो, ऐसे अनर्थोंसे तुम्हें कुगतियोंमें अनन्त काल दुःख भोगना पड़ेंगे। शास्त्रकारोंने पापी पुरुषोंके लिये लिखा है कि—

> ये कृत्वा पातकं पापाः पोषयन्ति स्वकं भुवि।
> त्यक्त्वा न्यायक्रमं तेषां महादुःखं भवार्णवे॥
>
> [ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्—जो पापी लोगः न्यायमार्गको छोड़कर और पापके द्वारा अपना निर्वाह करते हैं, वे संसारसमुद्रमें अनन्त काल दुःख भोगते हैं। ध्यान रक्खो कि अनीतिसे चलनेवाले, और अत्यन्त तृष्णावान तुम सरीखे पापी लोग बहुत ही जल्दी नाशको प्राप्त होते हैं। तुम्हें उचित है–तुम बड़ी कठिनतासे प्राप्त हुए इस मनुष्य जन्मको इस तरह बर्बाद न कर कुछ आत्महित करो। इस प्रकार शिक्षा देकर जिनेन्द्रभक्तने अपने स्थानसे उसे अलग कर दिया।

इसी प्रकार और भी भव्य पुरुषोंको, दुर्जनोंके मलिन कर्मोंसे निन्दाको प्राप्त होनेवाले सम्यग्दर्शनकी रक्षा करनी उचित है।

जिनभगवानका शासन पवित्र है–निर्दोष है, उसे जो सदोष बनानेकी कोशिश करते हैं, वे मूर्ख हैं, उन्मत्त

हैं। ठीक भी है—उन्हें वह निर्दोष धर्म अच्छा जान भी नहीं पड़ता। जैसे पित्तज्वरवालेको अमृतके समान मीठा दूध भी कड़वा ही लगता है।

११—वारिषेण मुनिकी कथा।

मैं संसारपूज्य जिनभगवानको नमस्कार कर श्रीवारिषेण मुनिकी कथा लिखता हूं, जिन्होंने सम्यग्दर्शनके स्थितिकरण नामक अंगका पालन किया है।

अपनी सम्पदासे स्वर्गको नीचा दिखानेवाले मगधदेशके अन्तर्गत राजगृह नामका एक सुन्दर शहर है। उसके राजा हैं श्रेणिक। वे सम्यग्दृष्टि हैं, उदार हैं और राजनीतिके अच्छे विद्वान् हैं। उनकी महारानीका नाम चेलनी है। वह भी सम्यक्त्वरूपी अमोल रत्नसे भूषित है, बड़ी धर्मात्मा है, सती है और विदुषी है। उसके एक पुत्र है। उसका नाम है वारिषेण। वारिषेण बहुत गुणी है, धर्मात्मा है और श्रावक है।

एक दिन मगधसुन्दरी नामकी एक वेश्या राजगृहके उपवनमें क्रीड़ा करनेको आई हुई थी। उसने वहाँ श्रीकीर्ति नामक सेठके गलेमें एक बहुत ही सुन्दर रत्नोंका हार पड़ा हुआ देखा। उसे देखते ही मगधसुन्दरी उसके लिये लालायित हो उठी। उसे हारके विना अपना जीवन निरर्थक जान पड़ने लगा। सारा संसार उसे हारमय दिखने लगा। वह उदास मुहँ घरपर लौट आई। रातके

समय उसका प्रेमी विद्युतचोर जब घरपर आया तब उसने मगधसुन्दरीको उदास मुहँ देखकर बड़े प्रेमसे पूछा–प्रिये, आज मैं तुम्हें उदास देखता हूं; क्या इसका कारण तुम बतलाओगी? तुम्हारी यह उदासी मुझे अत्यन्त दुखी कर रही है।

मगधसुन्दरीने विद्युतपर कटाक्षबाण चलाते हुए कहा–प्राणवल्लभ, तुम मुझपर इतना प्रेम करते हो, पर मुझे तो जान पड़ता है कि यह सब तुम्हारा दिखाऊ प्रेम है। और सचमुच ही तुम्हारा यदि मुझपर प्रेम है तो कृपाकर श्रीकीर्ति-सेठके गलेका हार, जिसे कि आज मैंने बगीचेमें देखा है और जो बहुत ही सुन्दर है, लाकर मुझे दीजिये; जिससे मेरी इच्छा पूरी हो। तब ही मैं समझूंगी कि आप मुझसे सच्चा प्रेम करते हैं और तब ही मेरे प्राणवल्लभ होनेके अधिकारी हो सकेंगे।

मगधसुन्दरीके जालमें फँसकर उसे इस कठिन कार्यके लिये भी तैयार होना पड़ा। वह उसे सन्तोष देकर उसी समय वहाँसे चल दिया और श्रीकीर्ति सेठके महलपर पहुँचा। वहाँसे वह श्रीकीर्तिके शयनागारमें गया और अपनी कार्यकुशलतासे उसके गलेमेंसे हार निकाल लिया और बड़ी फुर्त्तिके साथ वहाँसे चल दिया। हारके दिव्य तेजको वह नहीं छुपा सका। सो भागते हुए उसे सिपाहियोंने देख लिया। वे उसे पकड़नेको दौड़े। वह भागता हुआ श्मशानकी ओर निकल आया। वारिषेण इस समय श्मशानमें कार्यो-त्सर्ग ध्यान कर रहा था। सो विद्युत चोर मौका देखकर

पीछे आनेवाले सिपाहियोंके पंजेसे छूटनेके लिये उस हारको वारिषेणके आगे पटक कर वहांसे भाग खड़ा हुआ। इतनेमें सिपाही भी वहीं आ पहुँचे, जहाँ वारिषेण ध्यान किये खड़ा हुआ था। वे वारिषेणको हारके पास खड़ा देखकर भौंचकसे रह गये। वे उसे उस अवस्थामें देखकर हँसे और बोले—वाह, चाल तो खूब खेली गई? मानो मैं कुछ जानता ही नहीं। मुझे धर्मात्मा जानकर सिपाही छोड़ जायँगे। पर याद रखिये हम अपने मालिककी सच्ची नौकरी खाते हैं। हम तुम्हें कभी नहीं छोड़ेंगे! यह कह कर वे वारिषेणको बांधकर श्रेणिकके पास ले गये और राजासे बोले—महाराज, ये हार चुरा कर लिये जाते थे, सो हमने इन्हें पकड़ लिया।

सुनते ही श्रेणिकका चेहरा क्रोधके मारे लाल सुर्ख हो गया, उनके ओठ कांपने लगे, आँखोंसे क्रोधकी ज्वालायें निकलने लगीं। उन्होंने गर्जकर कहा—देखो, इस पापीका नीच कर्म जो श्मशानमें जाकर ध्यान करता है और लोगोंको, यह बतलाकर कि मैं बड़ा धर्मात्मा हूं, ठगता है—धोखा देता है। पापी! कुल-कलंक! देखा मैंने तेरा धर्मका ढोंग! सच है—दुराचारी, लोगोंको धोखा देनेके लिये क्या क्या अनर्थ नहीं करते? जिसे मैं राज्यसिंहासन बैठाकर संसारका अधीश्वर बनाना चाहता था, मैं नहीं जानता था कि वह इतना नीच होगा? इससे बढ़कर और क्या कष्ट हो सकता है? अच्छा तो जो इतना दुराचारी है और प्रजाको धोखा देकर ठगता है उसका जीता रहना सिवा हानिके लाभदायक नहीं हो सकता। इसलिये जाओ इसे लेजाकर मार डालो।

अपने खास पुत्रके लिये महाराजकी ऐसी कठोर आज्ञा सुनकर सब चित्र लिखसे होकर महाराजकी ओर देखने लगे। सबकी आँखोंमें पानी भर आया। पर किसकी मजाल जो उनकी आज्ञाका प्रतिवाद कर सके। जल्लाद लोग उसी समय वारिषेणको वध्यभूमिमें ले गये। उनमेंसे एकने तलवार खींचकर बड़े जोरसे वारिषेणकी गर्दनपर मारी, पर यह क्या आश्चर्य ? जो उसकी गर्दनपर बिलकुल घाव नहीं हुआ; किन्तु वारिषेणको उलटा यह जान पड़ा–मानो किसीने उसपर फूलोंकी माला फैंकी है। जल्लाद लोग देखकर दांतोंमें अंगुली दबा गये। वारिषेणके पुण्यने उसकी रक्षा की। सच है—

अहो पुण्येन तीव्राग्निर्जलत्वं याति भूतले।
समुद्रः स्थलतामेति दुर्विषं च सुधायते॥
शत्रुर्मित्रत्वमाप्नोति विपत्तिः सम्पदायते।
तस्मात्सुखैषिणो भव्याः पुण्यं कुर्वन्तु निर्मलम्॥

[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्—पुण्यके उदयसे अग्नि जल बन जाता है, समुद्र स्थल हो जाता है, विष अमृत हो जाता है, शत्रु मित्र बन जाता है और विपत्ति सम्पत्तिके रूपमें परिणत हो जाती है। इसलिये जो लोग सुख चाहते हैं, उन्हें पवित्र कार्यों द्वारा सदा पुण्य उत्पन्न करना चाहिये।

जिनभगवानकी पूजा करना, दान देना, व्रत उपवास करना, सदा विचार पवित्र और शुद्ध रखना, परोपकार करना, हिंसा, झूठ, चोरी–आदि पापकर्मोंका न करना, ये पुण्य उत्पन्न करनेके कारण हैं।

वारिषेणकी यह हालत देखकर सब उसकी जयजयकार करने लगे । देवोंने प्रसन्न होकर उसपर सुगंधित फूलोंकी वर्षा की। नगरवासियोंको इस समाचारसे बड़ा आनन्द हुआ। सबने एक स्वरसे कहा कि, वारिषेण तुम धन्य हो, तुम वास्तवमें साधु पुरुष हो, तुम्हारा चारित्र बहुत निर्मल है, तुम जिनभगवानके सच्चे सेवक हो, तुम पवित्र पुरुष हो, तुम जैनधर्मके सच्चे पालन करनेवाले हो। पुण्य-पुरुष, तुम्हारी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी थोड़ी है। सच है—पुण्यसे क्या नहीं होता ?

श्रेणिकने जब इस अलौकिक घटनाका हाल सुना तो उन्हें भी अपने अविचारपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे दुखी होकर बोले—

ये कुर्वन्ति जडात्मानः कार्यं लोकेऽविचार्य च ।
ते सीदन्ति महन्तोपि मादृशा दुःखसागरे ॥

[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्—जो मूर्ख लोग आवेशमें आकर विना विचारे किसी कामको कर बैठते हैं, वे फिर बड़े भी क्यों न हों, उन्हें मेरी तरह दुःख ही उठाना पड़ते हैं। इसलिये चाहे कैसा ही काम क्यों न हो, उसे बड़े विचारके साथ करना चाहिये।

श्रेणिक बहुत कुछ पश्चात्ताप करके पुत्रके पास श्मशानमें आये। वारिषेणकी पुण्यमूर्तिको देखते ही उनका हृदय पुत्र-प्रेमसे भर आया। उनकी आँखोंसे आंसु बह निकले। उन्होंने पुत्रको छातीसे लगाकर रोते रोते कहा—प्यारे पुत्र,

मेरी मूर्खताको क्षमा करो! मैं क्रोधके मारे अन्धा बन गया था; इसलिये आगे पीछेका कुछ सोच विचार न कर मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया। पुत्र, पश्चात्तापसे मेरा हृदय जल रहा है, उसे अपने क्षमारूप जलसे बुझाओ! दुःखके समुद्रमें मैं गोते खा रहा हूं, मुझे सहारा देकर निकालो!

अपने पूज्य पिताकी यह हालत देखकर वारिषेणको बड़ा कष्ट हुआ। वह बोला—पिताजी, आप यह क्या कहते हैं? आप अपराधी कैसे? आपने तो अपने कर्त्तव्यका पालन किया है और कर्त्तव्य पालन करना कोई अपराध नहीं है। मान लीजिये कि यदि आप पुत्र-प्रेमके वश होकर मेरे लिये ऐसे दंडकी आज्ञा न देते, तो उससे प्रजा क्या समझती? चाहे मैं अपराधी नहीं भी था, तब भी क्या प्रजा इस बातको देखती? वह तो यही समझती कि आपने मुझे अपना पुत्र जानकर छोड़ दिया। पिताजी, आपने बहुत ही बुद्धिमानी और दूरदर्शिताका काम किया है। आपकी नीतिपरायणता देखकर मेरा हृदय आनन्दके समुद्रमें लहरें ले रहा है। आपने पवित्र वंशकी आज लाज रख ली। यदि आप ऐसे समयमें अपने कर्त्तव्यसे जरा भी खिसक जाते, तो सदाके लिये अपने कुलमें कलंकका टीका लग जाता। इसके लिये तो आपको प्रसन्न होना चाहिये न कि दुखी। हाँ इतना जरूर हुआ कि मेरे इस समय पापकर्मका उदय था; इसलिये मैं निरपराधी होकर भी अपराधी बना। पर इसका मुझे कुछ खेद नहीं। क्योंकि—

अवश्यं ह्यनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम्।

[वादीभसिंह.]

अर्थात्–जो जैसा कर्म करता है उसका शुभ या अशुभ फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है। फिर मेरे लिये कर्मोंका फल भोगना कोई नई बात नहीं है।

पुत्रके ऐसे उन्नत और उदार विचार सुनकर श्रेणिक बहुत आनन्दित हुए। वे सब दुःख भूल गये। उन्होंने कहा, पुत्र, सत्पुरुषोंने बहुत ठीक लिखा है–

चंदनं घृष्यमाणं च दह्यमानो यथाऽगुरुः।
न याति विक्रियां साधुः पीडितो पि तथाऽपरैः॥

[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्–चन्दनको कितना भी घिसिये, अगुरुको खूब जलाइये, उससे उनका कुछ न बिगड़कर उलटा उनमेंसे अधिक अधिक सुगन्ध निकलेगी। उसी तरह सत्पुरुषोंको दुष्ट लोग कितना ही सतावें–कितना ही कष्ट दें, पर वे उससे कुछ भी विकारको प्राप्त नहीं होते–सदा शान्त रहते हैं और अपनी बुराई करनेवालेका भी उपकार ही करते हैं।

वारिषेणके पुण्यका प्रभाव देखकर विद्युतचोरको बड़ा भय हुआ। उसने सोचा कि राजाको मेरा हाल मालूम हो जानेसे वे मुझे बहुत कड़ी सजा देंगे। इससे यही अच्छा है कि मैं स्वयं ही जाकर उनसे सब सच्चा सच्चा हाल कह दूं। ऐसा करनेसे वे मुझे क्षमा भी कर सकेंगे। यह विचार कर विद्युतचोर महाराजके सामने जा खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर उनसे बोला–प्रभो, यह सब पापकर्म मेरा है। पवित्रात्मा वारिषेण सर्वथा निर्दोष है। पापिनी वेश्याके जालमें फँसकर ही मैंने यह नीच काम किया था; पर आजसे मैं कभी ऐसा काम नहीं करूंगा। मुझे दया करके क्षमा कीजिये।

विद्युतचोरको अपने कृतकर्मके पश्चात्तापसे दुखी देख श्रेणिक उसे अभय देकर अपने प्रिय पुत्र वारिषेणसे बोले–पुत्र, अब राजधानीमें चलो, तुम्हारी माता तुम्हारे वियोगसे बहुत दुखी हो रही होंगी।

उत्तरमें वारिषेणने कहा–पिताजी, मुझे क्षमा कीजिये। मैंने संसारकी लीला देख ली। मेरा आत्मा उसमें और प्रवेश करनेके लिये मुझे रोकता है। इसलिये मैं अब घरपर न जाकर जिनभगवानके चरणोंका आश्रय ग्रहण करूंगा। सुनिये, अबसे मेरा कर्तव्य होगा कि मैं हाथहीमें भोजन करूंगा, सदा वनमें रहूंगा और मुनि मार्गपर चलकर अपना आत्महित करूंगा। मुझे अब संसारमें पैठनकी इच्छा नहीं, विषयवासनासे प्रेम नहीं। मुझे संसार दुःखमय जान पड़ता है, इसलिये मैं जान बूझकर अपनेको दुःखोंमें फँसाना नहीं चाहता। क्योंकि—

निजे पाणौ दीपे लसति भुवि कूपे निपततां
फलं किं तेन स्यादिति—

[जीवंधर चम्पू]

अर्थात्–हाथमें प्रदीप लेकर भी यदि कोई कूएमें गिरना चाहे, तो बतलाइये उस दीपकसे क्या लाभ? जब मुझे दो अक्षरोंका ज्ञान है और संसारकी लीलासे मैं अपरिचित नहीं हूं; इतना होकर भी फिर मैं यदि उसमें फसूँ, तो मुझसा मूर्ख और कौन होगा? इसलिये आप मुझे क्षमा कीजिये कि मैं आपकी पालनीय आज्ञाका भी बाध्य होकर विरोध कर रहा हूं। यह कहकर वारिषेण फिर एक मिनटके लिये भी

न ठहर कर वनकी ओर चल दिया और श्रीसूरदेवमुनिके पास जाकर उसने जिनदीक्षा ग्रहण करली।

तपस्वी बनकर वारिषेणमुनि बड़ी दृढ़ताके साथ चारित्रका पालन करने लगे। वे अनेक देशों विदेशोंमें घूम घूम कर धर्मोपदेश करते हुए एकवार पलाशकूट नामक शहरमें पहुँचे। वहाँ श्रेणिकका मंत्री अग्निभूति रहता था। उसका एक पुष्पडाल नामका पुत्र था। वह बहुत धर्मात्मा था और दान, व्रत, पूजा आदि सत्कर्मोंके करनेमें सदा तत्पर रहा करता था। वह वारिषेणमुनिको भिक्षार्थ आये हुए देखकर बड़ी प्रसन्नताके साथ उनके साम्हने गया और भक्तिपूर्वक उनका आव्हान कर उसने नवधा भक्तिसहित उन्हें प्रासुक आहार दिया। आहार करके जब वारिषेणमुनि वनमें जाने लगे तब पुष्पडाल भी कुछ तो भक्तिसे, कुछ बालपनेकी मित्रताके नातेसे और कुछ राजपुत्र होनेके लिहाजसे उन्हें थोड़ी दूर पहुँचा आनेके लिये अपनी स्त्रीसे पूछकर उनके पीछे पीछे चल दिया। वह दूरतक जानेकी इच्छा न रहते भी मुनिके साथ साथ चलता गया। क्योंकि उसे विश्वास था कि थोड़ी दूर गये बाद ये मुझे लौट जानेके लिये कहेंगे ही। पर मुनिने उसे कुछ नहीं कहा, तब उसकी चिन्ता बढ़ गई। उसने मुनिको यह समझानेके लिये, कि मैं शहरसे बहुत दूर निकल आया हूं, मुझे घरपर जल्दी लौट जाना है, कहा—कुमार, देखते हैं यह वही सरोवर है, जहाँ हम आप खेला करते थे; यह वही छायादार और उन्नत आमका वृक्ष है, जिसके नीचे आप हम

बाललीलाका सुख लेते थे; और देखो, यह वही विशाल भूभाग है, जहाँ मैंने और आपने बालपनमें अनेक खेल खेले थे। इत्यादि अपने पूर्व परिचित चिन्होंको बार बार दिखलाकर पुष्पडालने मुनिका ध्यान अपने दूर निकल आनेकी ओर आकर्षित करना चाहा, पर मुनि उसके हृदयकी बात जानकर भी उसे लौट जानेको न कह सके। कारण वैसा करना उनका मार्ग नहीं था। इसके विपरीत उन्होंने पुष्पडालके कल्याणकी इच्छासे उसे खूब वैराग्यका उपदेश देकर मुनिदीक्षा देदी। पुष्पडाल मुनि हो गया, संयमका पालन करने लगा और खूब शास्त्रोंका अभ्यास करने लगा; पर तब भी उसकी विषयवासना न मिटी--उसे अपनी स्त्रीकी बार बार याद आने लगी। आचार्य कहते हैं कि—

धिक्कामं धिङ्महामोहं धिङ्भोगान्यैस्तु वंचितः।
सन्मार्गेपि स्थितो जन्तुर्न जानाति निजं हितम्॥

(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्—उस कामको, उस मोहको, उन भोगोंको धिक्कार है, जिनके वश होकर उत्तम मार्गमें चलनेवाले भी अपना हित नहीं कर पाते। यही हाल पुष्पडालका हुआ, जो मुनि होकर भी वह अपनी स्त्रीको हृदयसे न भुला सका।

इसी तरह पुष्पडालको बारह वर्ष बीत गये। उसकी तपश्चर्या सार्थक होनेके लिये गुरुने उसे तीर्थयात्रा करनेकी आज्ञा दी और उसके साथ वे भी चले। यात्रा करते करते एक दिन वे भगवान् वर्धमानके समवसरणमें पहुँच गये। भगवान्‌को उन्होंने भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। उस समय

वहाँ गंधर्वदेव भगवान्‌की भक्ति कर रहे थे। उन्होंने कामकी निन्दामें एक पद्य पढ़ा। वह पद्य यह था–

मइलकुचेली दुम्मणी णाहे पवसियएण।
कह जीवेसइ धणियधर उब्भते विरहेण॥
(कोई कवि)

अर्थात्–स्त्री चाहे मैली हो, कुचेली हो, हृदयकी मलिन हो, पर वह भी अपने पतिके प्रवासी होनेपर–विदेशमें रहने-पर–नहीं जीकर पतिवियोगसे वन वन, पर्वतों पर्वतोंमें मारी मारी फिरती है। अर्थात्–कामके वश होकर नहीं करनेके काम भी कर डालती है।

उक्त पद्यको सुनते ही पुष्पडालमुनि भी कामसे पीड़ित होकर अपनी स्त्रीकी प्राप्तिके लिये अधीर हो उठे। वे व्रतसे उदासीन होकर अपने शहरकी ओर रवाना हुए। उनके हृदयकी बात जानकर वारिषेणमुनि भी उन्हें धर्ममें दृढ़ करनेके लिये उनके साथ साथ चल दिये।

गुरु और शिष्य अपने शहरमें पहुँचे। उन्हें देखकर सती चेलनाने सोचा–कि जान पड़ता है, पुत्र चारित्रसे चलायमान हुआ है। नहीं तो ऐसे समय इसके यहां आनेकी क्या आवश्यकता थी? यह विचार कर उसने उसकी परी-क्षाके लिये उसके बैठनेको दो आसन दिये। उनमें एक काष्ठका था और दूसरा रत्नजड़ित। वारिषेणमुनि रत्नज-ड़ित आसनपर न बैठकर काष्टके आसनपर बैठे। सच है–जो सच्चे मुनि होते हैं वे कभी ऐसा तप नहीं करते जिससे उनके आचरणमें किसीको सन्देह हो। इसके बाद वारिषेण

मुनिने अपनी माताके सन्देहको दूर करके उससे कहा-माता, कुछ समयके लिये मेरी सब स्त्रियोंको यहाँ बुलवा तो लीजिये। महारानीने वैसा ही किया। वारिषेणकी सब स्त्रियाँ खूब वस्त्राभूषणोंसे सजकर उनके साम्हने आ उपस्थित हुईं। वे बड़ी सुन्दरी थीं। देवकन्यायें भी उनके रूपको देखकर लज्जित होती थीं। मुनिको नमस्कार कर वे सब उनकी आज्ञाकी प्रतिक्षाके लिये खड़ी रहीं।

वारिषेणने तब अपने शिष्य पुष्पडालसे कहा—क्यों देखते हो न? ये मेरी स्त्रियाँ हैं, यह राज्य है, यह सम्पत्ति है, यदि तुम्हें ये अच्छी जान पड़ती हैं—तुम्हारा संसारसे प्रेम है, तो इन्हें तुम स्वीकार करो। वारिषेणमुनिराजका यह आश्चर्यमें डालनेवाला कर्त्तव्य देखकर पुष्पडाल बड़ा लज्जित हुआ। उसे अपनी मूर्खतापर बहुत खेद हुआ। वह मुनिके चरणोंको नमस्कार कर बोला—प्रभो, आप धन्य हैं, आपने लोभरूपी पिशाचको नष्ट कर दिया है, आपहीने जिनधर्मका सच्चा सार समझा है। संसारमें वे ही बड़े पुरुष हैं—महात्मा हैं, जो आपके समान संसारकी सब सम्पत्तिको लात मारकर वैरागी बनते हैं। उन महात्माओंके लिये फिर कौन वस्तु संसारमें दुर्लभ रह जाती है? दयासागर, मैं तो सचमुच जन्मान्ध हूं, इसीलिये तो मौलिक तपरत्नको प्राप्तकर भी अपनी स्त्रीको चित्तसे अलग नहीं कर सका। प्रभो, जहाँ आपने बारह वर्ष पर्यन्त खूब तपश्चर्या की वहाँ मुझ पापीने इतने दिन व्यर्थ गँवा दिये—सिवा आत्माको कष्ट पहुँचानेके कुछ नहीं किया। स्वामी, मैं बहुत

अपराधी हूं, इसलिये दया करके मुझे अपने पापका प्राय-श्चित्त देकर पवित्र कीजिये। पुष्पडालके भावोंका परिवर्तन और कृतकर्मके पश्चात्तापसे उनके परिणामोंकी कोमलता तथा पवित्रता देखकर वारिषेणमुनिराज बोले—धीर, इतने दुखी न बनिये। पापकर्मोंके उदयसे कभी कभी अच्छे अच्छे विद्वान् भी हतबुद्धि हो जाते हैं। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। यही अच्छा हुआ जो तुम पीछे अपने मार्गपर आ गये। इसके बाद उन्होंने पुष्पडालमुनिको उचित प्राय-श्चित्त देकर पीछा धर्ममें स्थिर किया—अज्ञानके कारण सम्य-ग्दर्शनसे विचलित देखकर उनका धर्ममें स्थितिकरण किया।

पुष्पडालमुनि गुरु महाराजकी कृपासे अपने हृदयको शुद्ध बनाकर बड़े वैराग्यभावोंसे कठिन कठिन तपश्चर्या करने लगे, भूख प्यासकी कुछ परवा न कर परीषह सहने लगे।

इसी प्रकार अज्ञान वा मोहसे कोई धर्मात्मा पुरुष धर्म-रूपी पर्वतसे गिरता हो, तो उसे सहारा देकर न गिरने देना चाहिये। जो धर्मज्ञ पुरुष इस पवित्र स्थितिकरण अंगका पालन करते हैं, समझो कि वे स्वर्ग और मोक्ष-सुखके देने-वाले धर्मरूपी वृक्षको सींचते हैं। शरीर, सम्पत्ति, कुटुम्ब-आदि अस्थिर हैं—विनाशीक हैं, इनकी रक्षा भी जब कभी कभी सुख देनेवाली हो जाती है तब अनन्तसुख देनेवाले धर्मकी रक्षाका कितना महत्त्व होगा, यह सहजमें जाना जा सकता है। इसलिये धर्मात्माओंको उचित है कि वे दुःख देनेवाले प्रमादको छोड़कर संसार-समुद्रसे पार करनेवाले पवित्र धर्मका सेवन करें।

श्रीवारिषेणमुनि, जो कि सदा जिनभगवान्की भक्ति-में लीन रहते हैं, तप पर्वतसे गिरते हुए पुष्पडालमुनिको हाथका सहारा देकर तपश्चर्या और ध्यानाध्ययन करनेके लिये वनमें चले गये, वे प्रसिद्ध महात्मा आत्मसुख प्रदान कर मुझे भी संसार-समुद्रसे पार करें।

१२—विष्णुकुमारमुनिकी कथा।

अनन्त सुख प्रदान करनेवाले जिनभगवान, जिनवानी और जैन साधुओंको नमस्कार कर मैं वात्सल्यांगके पालन करनेवाले श्री विष्णुकुमार मुनिराजकी कथा लिखता हूं।

अवन्तिदेशके अन्तर्गत उज्जयिनी बहुत सुन्दर और प्रसिद्ध नगरी है। जिस समयका यह उपाख्यान है, उस समय उसके राजा श्रीवर्मा थे। वे बड़े धर्मात्मा थे, सब शास्त्रोंके अच्छे विद्वान थे, विचारशील थे और अछे शूरवीर थे। वे दुराचारियोंको उचित दण्ड देते और प्रजाका नीतिके साथ पालन करते। सुतरां प्रजा उनकी बड़ी भक्त थी।

उनकी महारानीका नाम था श्रीमती। वह भी विदुषी थी। उस समयकी स्त्रियोंमें वह प्रधान सुन्दरी समझी जाती थी। उसका हृदय बड़ा दयालु था। वह जिसे दुखी देखती, फिर उसका दुःख दूर करनेके लिये जी जानसे प्रयत्न करती। महारानीको सारी प्रजा देवी ज्ञान करती थी।

श्रीवर्माके राजमंत्री चार थे। उनके नाम थे बलि, बृहस्पति, प्रल्हाद और नमुचि। ये चारों ही धर्मके कट्टर शत्रु थे। इन पापी मंत्रियोंसे युक्त राजा ऐसे जान पड़ते थे मानो जहरीले सर्पसे युक्त जैसे चन्दनका वृक्ष हो।

एक दिन ज्ञानी अकम्पनाचार्य देश विदेशोंमें पर्यटन कर भव्य पुरुषोंको धर्मरूपी अमृतसे सुखी करते हुए उज्जयिनीमें आये। उनके साथ सातसौ मुनियोंका बड़ा भारी संघ था। वे शहर बाहर एक पवित्र स्थानमें ठहरे। अकम्पनाचार्यको निमित्तज्ञानसे उज्जयिनीकी स्थिति अनिष्टकर जान पड़ी। इसलिये उन्होंने सारे संघसे कह दिया कि देखो, राजा, वगैरह कोई आवे पर आप लोग उनसे वादविवाद न कीजियेगा। नहीं तो सारा संघ बड़े कष्टमें पड़ जायगा—उसपर घोर उपसर्ग आवेगा। गुरुकी हितकर आज्ञाको स्वीकार कर सब मुनि मौनके साथ ध्यान करने लगे। सच है—

> शिष्यास्तेत्र प्रशस्यन्ते ये कुर्वन्ति गुरोर्वचः।
> प्रीतितो विनयोपेता भवन्त्यन्ये कुपुत्रवत्॥
>
> (ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्—शिष्य वे ही प्रशंसाके पात्र हैं, जो विनय और प्रेमके साथ अपने गुरुकी आज्ञाका पालन करते हैं। इसके विपरीत चलनेवाले कुपुत्रके समान निन्दाके पात्र हैं।

अकम्पनाचार्यके आनेके समाचार शहरके लोगोंको मालूम हुए। वे पूजाद्रव्य लेकर बड़ी भक्तिके साथ आचार्यकी वन्दनाको जाने लगे। आज एकाएक अपने शहरमें

आनन्दकी धूमधाम देखकर महलपर बैठे हुए श्रीवर्माने मंत्रियोंसे पूछा-ये सब लोग आज ऐसे सजधजकर कहाँ जा रहे हैं? उत्तरमें मंत्रियोंने कहा-महाराज, सुना जाता है कि अपने शहरमें नंगे जैनसाधु आये हुए हैं। ये सब उनकी पूजाके लिये जा रहे हैं। राजाने प्रसन्नताके साथ कहा-तब तो हमें भी चलकर उनके दर्शन करना चाहिये। वे महापुरुष होंगे! यह विचार कर राजा भी मंत्रियोंके साथ आचार्यके दर्शन करनेको गये। उन्हें आत्मध्यानमें लीन देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने क्रमसे एक एक मुनिको भक्तिपूर्वक नमस्कार किया। सब मुनि अपने आचार्यकी आज्ञानुसार मौन रहे। किसीने भी उन्हे धर्मवृद्धि नहीं दी। राजा उनकी वन्दना कर वापिस महल लौट चले। लौटते समय मंत्रियोंने उनसे कहा-महाराज, देखे साधुओंको? बेचारे बोलना तक भी नहीं जानते, सब नितान्त मूर्ख हैं। यही तो कारण है कि सब मौनी बने बैठे हुए हैं। उन्हें देखकर सर्व साधारण तो यह समझेंगे कि ये सब आत्मध्यान कर रहे हैं, बड़े तपस्वी हैं। पर यह इनका ढोंग है। अपनी सब पोल न खुल जाय, इसलिये उन्होंने लोगोंको धोखा देनेको यह कपटजाल रचा है। महाराज, ये दाम्भिक हैं। इस प्रकार त्रैलोक्यपूज्य और परम शान्त मुनिराजोंकी निन्दा करते हुए ये मलिन-हृदयी मंत्री राजाके साथ लौटे आ रहे थे कि रास्तेमें इन्हें एक मुनि मिल गये, जो कि शहरसे आहार करके वनकी ओर आ रहे थे। मुनिको देखकर इन पापियोंने उनकी हँसी की, कि महाराज, देखिये वह एक

बैल और पेटभरकर चला आ रहा है! मुनिने मंत्रियोंके निन्दा-वचनोंको सुन लिया। सुनकर भी उनका कर्त्तव्य था कि वे शान्त रह जाते, पर वे निन्दा न सह सके। कारण वे आहारके लिये शहरमें चले गये थे, इसलिये उन्हें अपने आचार्य महाराजकी आज्ञा मालूम न थी। मुनिने यह समझकर, कि इन्हें अपनी विद्याका बड़ा अभिमान है, उसे मैं चूर्ण करूंगा, कहा—तुम व्यर्थ क्यों किसीकी बुराई करते हो? यदि तुममें कुछ विद्या हो, आत्मबल हो, तो मुझसे शास्त्रार्थ करो! फिर तुम्हें जान पड़ेगा कि बैल कौन है? भला वे भी तो राजमंत्री थे, उसपर भी दुष्टता उनके हृदयमें कूट कूटकर भरी हुई थी; फिर वे कैसे एक अकिंचन्य साधुके वचनोंको सह सकते थे? उन्होंने मुनिके साथ शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया। अभिमानमें आकर उन्होंने कह तो दिया कि हम शास्त्रार्थ करेंगे, पर जब शास्त्रार्थ हुआ तब उन्हें जान पड़ा कि शास्त्रार्थ करना बच्चोंकासा खेल नहीं है। एक ही मुनिने अपने स्याद्वादके बलसे बातकी बातमें चारों मंत्रियोंको पराजित कर दिया। सच है—एक ही सूर्य सारे संसारके अन्धकारको नष्ट करनेके लिये समर्थ है।

विजय लाभकर श्रुतसागरमुनि अपने आचार्यके पास आये। उन्होंने रास्तेकी सब घटना आचार्यसे ज्योंकी त्यों कह सुनाई। सुनकर आचार्य खेदके साथ बोले—हाय! तुमने बहुत ही बुरा किया, जो उनसे शास्त्रार्थ किया। तुमने अपने हाथोंसे सारे संघका घात किया—संघकी अब कुशल नहीं है। अस्तु, जो हुआ, अब यदि तुम सारे संघकी

जीवनरक्षा चाहते हो, तो पीछे जाओ और जहाँ मंत्रियोंके साथ शास्त्रार्थ हुआ है, वहीं जाकर कायोत्सर्ग ध्यान करो। आचार्यकी आज्ञाको सुनकर श्रुतसागरमुनिराज जरा भी विचलित नहीं हुए। वे संघकी रक्षाके लिये उसी समय वहांसे चल दिये और शास्त्रार्थकी जगहपर आकर मेरुकी तरह निश्चल हो बड़े धैर्यके साथ कायोत्सर्ग ध्यान करने लगे।

शास्त्रार्थमें मुनिसे पराजित होकर मंत्री बड़े लज्जित हुए। अपने मानभंगका बदला चुकानेका विचार कर मुनिवधके लिये रात्रिके समय वे चारों शहरसे बाहर हुए। रास्तेमें उन्हें श्रुतसागरमुनि ध्यान करते हुए मिले। पहले उन्होंने अपना मानभंग करनेवालेहीको परलोक पहुँचा देना चाहा। उन्होंने मुनिकी गर्दन काटनेको अपनी तलवारको म्यानसे खींचा और एक ही साथ उनका काम तमाम करनेके विचारसे उनपर वार करना चाहा कि, इतनेमें मुनिके पुण्यप्रभावसे पुरदेवीने आकर उन्हें तलवार उठाये हुए ही कील दिये।

प्रातःकाल होते ही बिजलीकी तरह सारे शहरमें मंत्रियोंकी दुष्टताका हाल फैल गया। सब शहर उनके देखनेको आया। राजा भी आये। सबने एक स्वरसे उन्हें धिक्कारा। है भी तो ठीक, जो पापी लोग निरापराधोंको कष्ट पहुँचाते हैं वे इस लोकमें भी घोर दुःख उठाते हैं और परलोकमें नरकोंके असह्य दुःख सहते हैं। राजाने उन्हें बहुत धिक्कार कर कहा–पापियो, जब तुमने मेरे सामने इन निर्दोष और संसारमात्रका उपकार करनेवाले मुनियोंकी

निन्दा की थी, तब मैं तुम्हारे विश्वासपर निर्भर रहकर यह समझा था कि संभव है मुनि लोग ऐसे ही हों, पर आज मुझे तुम्हारी नीचताका ज्ञान हुआ–तुम्हारे पापी हृदयका पता लगा। तुम इन्हीं निर्दोष साधुओंकी हत्या करनको आये थे न ? पापियो, तुम्हारा मुख देखना भी महापाप है। तुम्हें तुम्हारे इस घोर कर्मका उपयुक्त दंड तो यही देना चाहिये था कि जैसा तुम करना चाहते थे, वही तुम्हारे लिये किया जाता। पर पापियो, तुम ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न हुए हो और तुम्हारी कितनी ही पीढ़ियां मेरे यहाँ मंत्रीपदपर प्रतिष्ठा पा चुकी हैं; इसलिये उसके लिहाजसे तुम्हें अभय देकर अपने नौकरोंको आज्ञा करता हूं कि वे तुम्हें गधोंपर बैठाकर मेरे देशकी सीमासे बाहर करदें। राजाकी आज्ञाका उसी समय पालन हुआ। चारों मंत्री देशसे निकाल दिये गये। सच है– पापियोंकी ऐसी दशा होना उचित ही है।

धर्मके ऐसे प्रभावको देखकर लोगोंके आनन्दका ठिकाना न रहा। वे अपने हृदयमें बढ़ते हुए हर्षके वेगको रोकनेमें समर्थ नहीं हुए। उन्होंने जयध्वनिके मारे आकाशपातालको एक कर दिया। मुनिसंघका उपद्रव टला। सबके चित्त स्थिर हुए। अकम्पनाचार्य भी उज्जयिनीसे विहार कर गये।

हस्तिनापुर नामका एक शहर है। उसके राजा हैं महापद्म। उनकी रानीका नाम लक्ष्मीमती था। उसके पद्म और विष्णु नामके दो पुत्र हुए।

एक दिन राजा संसारकी दशापर विचार कर रहे थे। उसकी अनित्यता और निस्सारता देखकर उन्हें बहुत वै-

राग्य हुआ। उन्हें संसार दुःखमय दिखने लगा। वे उसी-समय अपने बड़े पुत्र पद्मको राज्य देकर अपने छोटे पुत्र विष्णुकुमारके साथ वनमें चले गये और श्रुतसागरमुनि-के पास पहुँचकर दोनों पितापुत्रने दीक्षा ग्रहण करली। विष्णुकुमार बालपनसे ही संसारसे विरक्त थे। इसलिये पिताके रोकनेपर भी वे दीक्षित हो गये। विष्णुकुमारमुनि साधु बनकर खूब तपश्चर्या करने लगे। कुछ दिनों बाद तप-श्चर्याके प्रभावसे उन्हें विक्रियाऋद्धि प्राप्त हो गई।

पिताके दीक्षित हो जानेपर हस्तिनापुरका राज्य पद्मराज करने लगे। उन्हें सब कुछ सुख होनेपर भी एक बातका बड़ा दुःख था। वह यह कि, कुंभपुरका राजा सिंहबल उन्हें बड़ा कष्ट पहुंचाया करता था। उनके देशमें अनेक उपद्रव किया करता था। उसके अधिकारमें एक बड़ा भारी सुदृढ़ किला था। इसलिये वह पद्मराजकी प्रजापर एकाएक धावा मारकर अपने किलेमें जाकर छुप रहता। तब पद्मराज उ-सका कुछ अनिष्ट नहीं कर पाते थे। इस कष्टकी उन्हें सदा चिन्ता रहा करती थी।

इसी समय श्रीवर्माके चारों मंत्री उज्जयिनीसे निकलकर कुछ दिनों बाद हस्तिनापुरकी ओर आ निकले। उन्हें किसी तरह राजाके इस दुःखका सूत्र मालूम हो गया। वे राजासे मिले और उन्हें चिन्तासे निर्मुक्त करनेका वचन देकर कुछ सेनाके साथ सिंहबलपर जा चढ़े और अपनी बुद्धिमानीसे किलेको तोड़कर सिंहबलको उन्होंने बांध लिया और लाकर पद्मराजके साम्हने उपस्थित कर दिया। पद्मराज

उनकी वीरता और बुद्धिमानीसे बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उन्हें अपने मंत्री बनाकर कहा—कि तुमने मेरा बहुत उपकार किया है। तुम्हारा मैं बहुत कृतज्ञ हूं। यद्यपि उसका प्रतिफल नहीं दिया जा सकता, तब भी तुम जो कहो वह मैं तुम्हें देनेको तैयार हूं। उत्तरमें बलि नामके मंत्रीने कहा—प्रभो, आपकी हमपर कृपा है, तो हमें सब कुछ मिल चुका। इसपर भी आपका आग्रह है, तो उसे हम अस्वीकार भी नहीं कर सकते। अभी हमें कुछ आवश्यकता नहीं है। जब समय होगा तब आपसे प्रार्थना करेंगे ही।

इसी समय श्रीअकम्पनाचार्य अनेक देशोंमें विहार करते हुए और धर्मोपदेश द्वारा संसारके जीवोंका हित करते हुए हस्तिनापुरके बगीचेमें आकर ठहरे। सब लोग उत्सवके साथ उनकी वन्दना करनेको गये। अकम्पना-चार्यके आनेका समाचार राजमंत्रियोंको मालूम हुआ। मालूम होते ही उन्हें अपने अपमानकी बात याद हो आई। उनका हृदय प्रतिहिंसासे उद्विग्न हो उठा। उन्होंने परस्परमें विचार किया कि समय बहुत उपयुक्त है, इसलिये बदला लेना ही चाहिये। देखो न, इन्हीं दुष्टोंके द्वारा अपनेको कितना दुःख उठाना पड़ा था? सबके हम धिक्कार पात्र बने और अपमानके साथ देशसे निकाले गये। पर हाँ अपने मार्गमें एक कांटा है। राजा इनका बड़ा भक्त है। वह अपने रहते हुए इनका अनिष्ट कैसे होने देगा? इसके लिये कुछ उपाय सोच निकालना आवश्यक है। नहीं तो ऐसा न हो कि ऐसा अच्छा समय हाथसे निकल जाय?

इतनेमें बलि मंत्री बोल उठा कि, हाँ इसकी आप चिन्ता न करें। अपना सिंहबलके पकड़ लानेका पुरस्कार राजासे पाना बाकी है, उसकी ऐवजमें उससे सात दिनका राज्य ले लेना चाहिये। फिर जैसा हम करेंगे वही होगा। राजाको उसमें दखल देनेका कुछ अधिकार न रहेगा। यह प्रयत्न सबको सर्वोत्तम जान पड़ा। बलि उसी समय राजाके पास पहुँचा और बड़ी विनीततासे बोला—महाराज, आपपर हमारा एक पुरस्कार पाना है। आप कृपाकर अब उसे दीजिये। इस समय उससे हमारा बड़ा उपकार होगा। राजा उसका कूट कपट न समझ और यह विचार कर, कि इन लोगोंने मेरा बड़ा उपकार किया था, अब उसका बदला चुकाना मेरा कर्त्तव्य है, बोला—बहुत अच्छा, जो तुम्हें चाहिये वह माँगलो, मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी करके तुम्हारे ऋणसे उऋण होनेका यत्न करूंगा।

बलि बोला—महाराज, यदि आप वास्तवमें ही हमारा हित चाहते हैं, तो कृपा करके सात दिनके लिये अपना राज्य हमें प्रदान कीजिये।

राजा सुनते ही अवाक् रह गया। उसे किसी बड़े भारी अनर्थकी आशंका हुई। पर अब उसका वश ही क्या था? उसे वचनबद्ध होकर राज्य दे देना ही पड़ा। राज्यके प्राप्त होते ही उनकी प्रसन्नताका कुछ ठिकाना न रहा। उन्होंने मुनियोंके मारनेके लिये यज्ञका बहाना बनाकर षड्यंत्र रचा, जिससे कि सर्वसाधारण न समझ सकें।

मुनियोंके बीचमें रखकर यज्ञके लिये एक बड़ा भारी मंडप तैयार किया गया। उनके चारों ओर काष्ठ ही काष्ठ रखना दिया गया। हजारों पशु इकट्ठे किये गये। यज्ञ आरंभ हुआ। वेदोंके जानकार बड़े बड़े विद्वान यज्ञ कराने लगे। वेदध्वनिसे यज्ञमंडप गूँजने लगा। बेचारे निरपराध पशु बड़ी निर्दयतासे मारे जाने लगे। उनकी आहुतियाँ दी जाने लगीं। देखते देखते दुर्गन्धित धुएसे आकाश परिपूर्ण हुआ। मानो इस महापापको न देख सकनेके कारण सूर्य अस्त हुआ। मनुष्योंके हाथसे राज्य राक्षसोंके हाथोंमें गया।

सारे मुनिसंघपर भयंकर उपसर्ग हुआ। परन्तु उन शान्तिकी मूर्त्तियोंने इसे अपने किये कर्मोंका फल समझकर बड़ी धीरताके साथ सहना आरंभ किया। वे मेरु समान निश्चल रहकर एक चित्तसे परमात्माका ध्यान करने लगे। सच है—जिन्होंने अपने हृदयको खूब उन्नत और दृढ़ बना लिया है, जिनके हृदयमें निरन्तर यह भावना बनी रहती है—

अरि मित्र, महल मसान, कंचन काच, निन्दन थुतिकरन।
अर्घावतारन असिप्रहारनमें सदा समता धरन॥

वे क्या कभी ऐसे उपसर्गोंसे विचलित होते हैं? नहीं। पाण्डवोंको शत्रुओंने लोहेके गरम गरम भूषण पहना दिये। अग्निकी भयानक ज्वाला उनके शरीरको भस्म करने लगी। पर वे विचलित नहीं हुए। धैर्यके साथ उन्होंने सब उपसर्ग सहा। जैनसाधुओंका यही मार्ग है कि वे आये हुए कष्टोंको शान्तिसे सहें और वे ही यथार्थ साधु

हैं। जिनका हृदय दुर्बल है, जो रागद्वेषरूपी शत्रुओंको जीतनेके लिये ऐसे कष्ट नहीं सह सकते–दुःखोंके प्राप्त होनेपर समभाव नहीं रख सकते, वे न तो अपने आत्म-हितके मार्गमें आगे बढ़ पाते हैं और न वे साधुपद स्वीकार करने योग्य हो सकते हैं।

मिथिलामें श्रुतसागरमुनिको निमित्तज्ञानसे इस उपसर्गका हाल मालूम हुआ। उनके मुँहसे बड़े कष्टके साथ वचन निकले–हाय! हाय!! इस समय मुनियोंपर बड़ा उप-सर्ग हो रहा है। वहीं एक पुष्पदन्त नामक क्षुल्लक भी उप-स्थित थे। उन्होंने मुनिराजसे पूछा–प्रभो, यह उपसर्ग कहाँ हो रहा है? उत्तरमें श्रुतसागरमुनि बोले–हस्तिनापुरमें सातसौ मुनियोंका संघ ठहरा हुआ है। उसके संरक्षक अकम्पनाचार्य हैं। उस सारे संघपर पापी बलिके द्वारा यह उपसर्ग किया जा रहा है।

क्षुल्लकने फिर पूछा–प्रभो, कोई ऐसा उपाय भी है, जिससे यह उपसर्ग दूर हो?

मुनिने कहा–हाँ उसका एक उपाय है। श्रीविष्णुकुमार मुनिको [illegible] प्राप्त हो गई है। वे अपनी ऋद्धिके बलसे उपसर्गको रोक सकते हैं।

पुष्पदन्त फिर एक क्षणभर भी वहां न ठहरे और जहां विष्णुकुमार मुनि तपश्चर्या कर रहे थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर उन्होंने सब हाल विष्णुकुमार मुनिसे कह सुनाया। विष्णु-कुमारको ऋद्धि प्राप्त होनेकी पहले खबर नहीं हुई थी। पर जब पुष्पदन्तके द्वारा उन्हें मालूम हुआ, तब उन्होंने परीक्षाके

लिये एक हाथ पसारकर देखा। पसारते ही उनका हाथ बहुत दूरतक चला गया। उन्हें विश्वास हुआ। वे उसी समय हस्तिनापुर आये और अपने भाईसे बोले—भाई, आप किस नींदमें सोते हुए हो? जानते हो, शहरमें कितना बड़ा भारी अनर्थ हो रहा है? अपने राज्यमें तुमने ऐसा अनर्थ क्यों होने दिया? क्या पहले किसीने भी अपने कुलमें ऐसा घोर अनर्थ आजतक किया है? हाय! धर्मके अवतार, परम शान्त और किसीसे कुछ लेते देते नहीं, उन मुनियोंपर यह अत्याचार? और वह भी तुम सरीखे धर्मात्माओंके राज्यमें? खेद! भाई, राजाओंका धर्म तो यह कहा गया है कि वे सज्जनोंकी, धर्मात्माओंकी रक्षा करें और दुष्टोंको दंड दें। पर आप तो विलकुल इससे उलटा कर रहे हैं। समझते हो, साधुओंका सताना ठीक नहीं। ठंडा जल भी गरम होकर शरीरको जला डालता है। इसलिये जबतक कोई आपत्ति तुमपर न आवे, उसके पहले ही उपसर्गकी शान्ति करवा दीजिये।

अपने भाईका उपदेश सुनकर पद्मराज बोले—मुनिराज, मैं क्या करूं? मुझे क्या मालूम था कि ये लोग मिलकर मुझे ऐसा धोखा देंगे? अब तो मैं बिलकुल विवश हूं। मैं कुछ नहीं कर सकता। सात दिनतक जैसा कुछ ये करेंगे वह सब मुझे सहना होगा। क्योंकि मैं वचनबद्ध हो चुका हूं। अब तो आप ही किसी उपाय द्वारा मुनियोंका उपसर्ग दूर कीजिये। आप इसके लिये समर्थ भी हैं और सब जानते हैं। उसमें मेरा दखल देना तो ऐसा है जैसा सूर्यको दीपक

दिखलाना। आप अब जाइये और शीघ्रता कीजिये। विलम्ब करना उचित नहीं।

विष्णुकुमारमुनिने विक्रियाऋद्धिके प्रभावसे बावन ब्राह्मणका वेष बनाया और बड़ी मधुरतासे वेदध्वनिका उच्चारण करते हुए वे यज्ञमंडपमें पहुंचे। उनका सुन्दर स्वरूप और मनोहर वेदोच्चार सुनकर सब बड़े प्रसन्न हुए। बलि तो उनपर इतना मुग्ध हुआ कि उसके आनन्दका कुछ पार नहीं रहा। उसने बड़ी प्रसन्नतासे उनसे कहा—महाराज, आपने पधारकर मेरे यज्ञकी अपूर्व शोभा करदी। मैं बहुत खुश हुआ। आपको जो इच्छा हो, मांगिये। इस समय मैं सब कुछ देनेको समर्थ हूं।

विष्णुकुमार बोले—मैं एक गरीब ब्राह्मण हूं। मुझे अपनी जैसी कुछ स्थिति है, उसमें सन्तोष है। मुझे धन-दौलतकी कुछ आवश्यकता नहीं। पर आपका जब इतना आग्रह है, तो आपको असन्तुष्ट करना भी मैं नहीं चाहता। मुझे केवल तीन पैंड पृथ्वीकी आवश्यकता है। यदि आप कृपा करके उतनी भूमि मुझे प्रदान कर देंगे तो मैं उसमें टूटी फूटी झोंपड़ी बनाकर रह सकूंगा। स्थानकी निराकुलतासे मैं अपना समय वेदाध्ययनादिमें बड़ी अच्छी तरह बिता सकूंगा। बस, इसके सिवा मुझे और कुछ आशा नहीं है।

विष्णुकुमारकी यह तुच्छ याचना सुनकर और और ब्राह्मणोंको उनकी बुद्धिपर बड़ा खेद हुआ। उन्होंने कहा भी-कृपानाथ, आपको थोड़ेमें ही सन्तोष था, तब भी आपका यह कर्त्तव्य तो था कि आप बहुत कुछ माँगकर अपने जाति भाइयोंका ही उपकार करते? उसमें आपका बिगड़ क्या जाता था?

बलिने भी उन्हें बहुत समझाया
कुछ भी नहीं माँगा। मैं तो यह
इच्छासे माँगते हैं, इसलिये जो
माँगेंगे; परन्तु आपने तो मुझे ब[illegible]
आप मेरे वैभव और मेरी श[illegible]क अनु[illegible]
बहुत सन्तोष होता। महाराज, अब भी आप चाहें तो और भी
अपनी इ[illegible]नुसार माँग सकते हैं। मैं देनेको प्रस्तुत हूँ।

विष्णुकुमार बोले—नहीं, मैंने जो कुछ माँगा है, मेरे लिये वही बहुत है। अधिक मुझे चाह नहीं। आपको देना ही है तो और बहुतसे ब्राह्मण मौजूद हैं, उन्हें दीजिये। बलिने अगत्या कहा कि—जैसी आपकी इच्छा। आप अपने पाँवोंसे भूमि माप लीजिये। यह कहकर उसने हाथमें जल लिया और संकल्प कर उसे विष्णुकुमारके हाथमें छोड़ दिया। संकल्प छोड़ते ही उन्होंने पृथ्वी मापना शुरू की। पहला पाँव उन्होंने सुमेरु पर्वतपर रक्खा, दूसरा मानुषोत्तर पर्वतपर, अब तीसरा पाँव रखनेको जगह नहीं। उसे वे कहाँ रक्खें? उनके इस प्रभावसे सारी पृथ्वी काँप उठी, सब पर्वत चल-गये, समुद्रोंने मर्यादा तोड़ दी, देवों और ग्रहोंके—विमान
एकसे एक टकराने लगे और देवगण
कसे रह गये। वे सब
बांधकर [illegible]

ंघका उपद्रव दूर किया। सबको
ारों मंत्री तथा प्रजाके सब लोग
ाचार्यकी वन्दना करनेको गये।
ा और मंत्रियोंने अपना अपराध
उन... ... अ... उसी दिनसे मिथ्यात्वमत छोड़कर
सब अहिंसामयी पवित्र जिनशासनके उपासक बने।

देवोंने प्रसन्न होकर विष्णुकुमारकी पूजनके लिये तीन बहुत ही सुन्दर स्वर्गीय वीणायें प्रदान कीं, जिनके द्वारा उनका गुणानुवाद गा गाकर लोग बहुत पुण्य उत्पन्न करेंगे। जैसा विष्णुकुमारने वात्सल्य अंगका पालनकर अपने धर्म बन्धुओंके साथ प्रेमका अपूर्व परिचय दिया, उसी प्रकार और और भव्य पुरुषोंको भी अपने और दूसरोंके हितके लिये समय समयपर दूसरोंके दुःखोंमें शामिल होकर वात्सल्य—उदारप्रेम—का परिचय देना उचित है।

इस प्रकार जिनभगवान्के परमभक्त विष्णुकुमारने धर्मप्रेमके वश हो मुनियोंका उपसर्ग दूरकर वात्सल्य अंगका पालन किया और पश्चात् ध्यानाग्नि द्वारा कर्मोंका नाश कर ... ... वि...णुकुमार मुनिराज मुझे भवसमुद्रसे पारकर

१३–वज्रकुमारकी कथा।
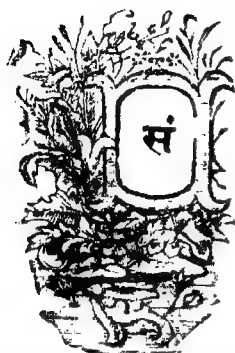
संसारके परम गुरु श्रीजिनभगवान्‌को नमस्कार कर मैं प्रभावनांगके पालन करनेवाले श्रीवज्रकुमारमुनिकी कथा लिखता हूं।

जिस समयकी यह कथा है, उस समय हस्तिनापुरके राजा थे बल। वे राजनीतिके अच्छे विद्वान् थे, बड़े तेजस्वी थे और दयालु थे। उनके मंत्रीका नाम था गरुड़। उसका एक पुत्र था। उसका नाम सोमदत्त था। वह सब शास्त्रोंका विद्वान् था और सुन्दर भी बहुत था। उसे देखकर सबको बड़ा आनन्द होता था। एक दिन सोमदत्त अपने मामाके यहाँ गया, जो कि अहिछत्रपुरमें रहता था। उसने मामासे विनयपूर्वक कहा–मामाजी, यहाँके राजासे मिलनेकी मेरी बहुत उत्कंठा है। कृपाकर आप मेरी उनसे मुलाकात करवा दीजिये न? सुभूतिने अभिमानमें आकर अपने महाराजसे सोमदत्तकी मुलाकात नहीं कराई। सोमदत्तको मामाकी यह बात बहुत खटकी। आखिर वह स्वयं ही दुर्मुख महाराजके पास गया और मामाका अभिमान नष्ट करनेके लिये राजाको अपने पाण्डित्य और प्रतिभाशालिनी बुद्धिका परिचय कराकर स्वयं भी उनका राजमंत्री बन गया। ठीक भी है–सबको अपनी ही शक्ति सुख देनेवाली होती है।

है। जिसके जितने जितने परिणाम उन्नत होते जायँगे और राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ-आदि आत्मशत्रु नष्ट होकर अपने स्वभावकी प्राप्ति होती जायगी वह उतना ही अन्तिम साध्य मोक्षके पास पहुँचता जायगा। पर यह पूर्ण रीतिसे ध्यानमें रखना चाहिये कि मोक्ष होगा तो मुनिधर्म-हीसे।

इस प्रकार श्रावक और मुनिधर्म तथा उनकी विशेषतायें सुनकर सोमदत्तको मुनिधर्म ही बहुत पसन्द पड़ा। उसने अत्यन्त वैराग्यके वश होकर मुनिधर्मकी ही दीक्षा ग्रहण की, जो कि सब पापोंकी नाश करनेवाली है। साधु बनकर गुरुके पास उसने खूब शास्त्राभ्यास किया। सब शास्त्रोंमें उसने बहुत योग्यता प्राप्त करली। इसके बाद सोमदत्त मुनिराज नाभिगिरी नामक पर्वतपर जाकर तपश्चर्या करने लगे और परीषह सहन द्वारा अपनी आत्मशक्तिको बढ़ाने लगे।

इधर यज्ञदत्ताके समय पाकर पुत्र हुआ। उसकी दिव्य सुन्दरता और तेजको देखकर यज्ञदत्ता बड़ी प्रसन्न हुई। एक दिन उसे किसीके द्वारा अपने स्वामीके समाचार मिले। उसने वह हाल अपने और घरके लोगोंसे कहा और उनके पास चलनेके लिये उनसे आग्रह किया। उन्हें साथ लेकर यज्ञदत्ता नाभिगिरीपर पहुँची। मुनि इस समय तापसयोगसे अर्थात् सूर्यके सामने मुहँ किये ध्यान कर रहे थे। उन्हें मुनिवेषमें देखकर यज्ञदत्ताके क्रोधका कुछ ठिकाना नहीं रहा-उसने गर्जकर कहा-दुष्ट! पापी!! यदि तुझे ऐसा

करना था–मेरी जिन्दगी बिगाड़ना थी, तो पहलेहीसे मुझे न व्याहता? बतला तो अब मैं किसके पास जाकर रहूँ? निर्दय! तुझे दया भी न आई जो मुझे निराश्रय छोड़कर तप करनेको यहां चला आया? अब इस बच्चेका पालन कौन करेगा? जरा कह तो सही! मुझसे इसका पालन नहीं होता। तू ही इसे लेकर पाल। यह कहकर निर्दयी यज्ञदत्ता बेचारे निर्दोष बालकको मुनिके पाँवोंमें पटक कर घर चली गई। उस पापिनीको अपने हृदयके टुकड़ेपर इतनी भी दया नहीं आई कि मैं सिंह, व्याघ्र, आदि हिंस्र जीवोंसे भरे हुए ऐसे भयंकर पर्वतपर उसे कैसे छोड़ी जाती हूं? उसकी कौन रक्षा करेगा? सच तो यह है–क्रोधके वश हो स्त्रियाँ क्या नहीं करतीं?

इधर तो यज्ञदत्ता पुत्रको मुनिके पास छोड़कर घरपर गई और इतनेहीमें दिवाकरदेव नामका एक विद्याधर इधर आ निकला। वह अमरावतीका राजा था। पर भाई भाईमें लड़ाई हो जानेसे उसके छोटे भाई पुरसुन्दरने उसे युद्धमें पराजित कर देशसे निकाल दिया था। सो वह अपनी स्त्रीको साथ लेकर तीर्थयात्राके लिये चल दिया। यात्रा करता हुआ वह नाभिपर्वतकी ओर आ निकला। पर्वतपर मुनिराजको देखकर उनकी वन्दनाके लिये नीचे उतरा। उसकी दृष्टि उस खेलते हुए तेजस्वी बालकके प्रसन्न मुखकमलपर पड़ी। बालकको भाग्यशाली समझकर उसने अपनी गोदमें उठा लिया और बड़ी प्रसन्नताके साथ उसे अपनी प्रियाके सौंपकर कहा–प्रिये, यह कोई बड़ा पुण्यपुरुष है।

आज अपना जीवन कृतार्थ हुआ जो हमें अनायास ऐसे पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई। उसकी स्त्री भी बच्चेको पाकर बहुत खुश हुई। उसने बड़े प्रेमके साथ उसे अपनी छातीसे लगाया और अपनेको कृतार्थ माना। बालक होन हार था। उसके हाथोंमें वज्रका चिह्न था। उसका सारा शरीर शुभ लक्षणोंसे विभूषित था। वज्रका चिह्न देखकर विद्या-धरमहिलाने उसका नाम भी वज्रकुमार रख दिया। इसके बाद वे दम्पत्ति मुनिको प्रणाम कर अपने घरपर लौट आये। यज्ञदत्ता तो अपने औरस पुत्रको भी छोड़कर चली आई, पर जो भाग्यवान् होता है उसका कोई न कोई रक्षक बनकर आ ही जाता है। बहुत ठीक लिखा है––

प्रकृष्टपूर्वपुण्यानां न हि कष्टं जगत्त्रये !

[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्–पुण्यवानोंको कहीं कष्ट प्राप्त नहीं होता। विद्या-धरके घरपर पहुंच कर वज्रकुमार द्वितीयाके चन्द्रमाकी तरह बढ़ने लगा–और अपनी बाललीलाओंसे सबको आनन्द देने लगा। जो उसे देखता वही उसकी स्वर्गीय सुन्दरता-पर मुग्ध हो उठता था।

दिवाकरदेवके सम्बन्धसे वज्रकुमारका मामा कनकपुरीका राजा विमलवाहन हुआ। अपने मामाके यहाँ रहकर वज्र-कुमारने खूब शास्त्राभ्यास किया। छोटी ही उमरमें वह एक प्रसिद्ध विद्वान् बन गया। उसकी बुद्धिको देखकर विद्याधर बड़ा आश्चर्य करने लगे।

एक दिन वज्रकुमार ह्रीमंतपर्वतपर प्रकृतिकी शोभा देखनेको गया हुआ था। वहींपर एक गरुड़वेग विद्याधरकी पवनवेगा नामकी पुत्री विद्या साध रही थी। सो विद्या साधते साधते भाग्यसे एक कांटा हवासे उड़कर उसकी आँखमें गिर गया। उसके दुःखसे उसका चित्त चंचल हो उठा। उससे विद्यासिद्ध होनेमें उसके लिये बड़ी कठिनता आ उपस्थित हुई। इसी समय वज्रकुमार इधर आ निकला। उसे ध्यानसे विचलित देखकर उसने उसकी आँखमेंसे कांटा निकाल दिया। पवनवेगा स्वस्थ होकर फिर मंत्र साधनमें तत्पर हुई। मंत्रयोग पूरा होनेपर उसे विद्या सिद्ध हो गई। वह सब उपकार वज्रकुमारका समझकर उसके पास आई और उससे बोली—आपने मेरा बहुत उपकार किया है। ऐसे समय यदि आप उधर नहीं आते तो कभी संभव नहीं था, कि मुझे विद्या सिद्ध होती। इसका बदला मैं एक क्षुद्र बालिका क्या चुका सकती हूं, पर यह जीवन आपके लिये समर्पण कर आपकी चरणदासी बनना चाहती हूं। मैंने संकल्प कर लिया है कि इस जीवनमें आपके सिवा किसीको मैं अपने पवित्र हृदयमें स्थान न दूंगी। मुझे स्वीकार कर कृतार्थ कीजिये। यह कहकर वह सतृष्ण नयनोंसे वज्रकुमारकी ओर देखने लगी। वज्रकुमारने मुस्कुराकर उसके प्रेमोपहारको बड़े आदरके साथ ग्रहण किया। दोनों वहाँसे विदा होकर अपने अपने घर गये। शुभ दिनमें गरुड़वेगने पवनवेगाका परिणय संस्कार वज्रकुमारके साथ कर दिया। दोनों दम्पति सुखसे रहने लगे।

एक दिन वज्रकुमारको मालूम हो गया कि मेरे पिता थे तो राजा, पर उन्हें उनके छोटे भाईने लड़ झगड़कर अपने राज्यसे निकाल दिया है। यह देख उसे अपने काकापर बड़ा क्रोध आया। वह पिताके बहुत कुछ मना करनेपर भी कुछ सेना और अपनी पत्नीकी विद्याको लेकर उसी समय अमरावतीपर जा चढ़ा। पुरन्दरदेवको इस चढ़ाईका हाल कुछ मालूम नहीं हुआ था, इसलिये वह बातकी बातमें पराजित कर बाँध लिया गया। राज्यसिंहासन पीछा दिवाकरदेवके अधिकारमें आया। सच है-"सुपुत्रः कुलदीपकः" अर्थात् सुपुत्रसे कुलकी उन्नति ही होती है। इस वीर वृत्तान्तसे वज्रकुमार बहुत प्र[illegible]द्ध हो गया। अच्छे अच्छे शूरवीर उसका नाम सुनकर काँपने लगे।

इसी समय दिवाकरदेवकी प्रिया जयश्रीके भी एक औरस पुत्र उत्पन्न हो गया। अब उसे वज्रकुमारसे डाह होने लगी। उसे एक भ्रम सा हो गया कि इसके साम्हने मेरे पुत्रको राज्य कैसे मिलेगा? खैर, यह भी मान लूं कि मेरे आग्रहसे प्राणनाथ अपने ही पुत्रको राज्य दे भी दें तो यह क्यों उसे देने देगा? ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो—

> आश्रयन्तीं श्रियं को वा पादेन भुवि ताडयेत्।
>
> [वादीभसिंह]

आती हुई लक्ष्मीको पाँवकी ठोकरसे ठुकरावेगा? तब अपने पुत्रको राज्य मिलनेमें यह एक कंटक है। इसे किसी तरह उखाड़ फैंकना चाहिये। यह विचार कर वह मौका देखने

लगी। एक दिन वज्रकुमारने अपनी माताके मुहँसे यह सुन-लिया कि "वज्रकुमार बड़ा दुष्ट है। देखो, तो कहाँ तो उत्पन्न हुआ और किसे कष्ट देता है?" उसकी माता किसीके साम्हने उसकी बुराई कर रही थी। सुनते ही वज्रकुमारके हृदयमें मानो आग बरस गई। उसका हृदय जलने लगा। उसे फिर एक क्षरणभर भी उस घरमें रहना नर्क बराबर भयंकर हो उठा। वह उसी समय अपने पिताके पास गया और बोला–पिताजी, जल्दी बतलाइये मैं किसका पुत्र हूं? और क्यों कर यहाँ आया? मैं जानता हूं कि आपने मेरा अपने बच्चेसे कहीं बढ़कर पालन किया है, तब भी मुझे कृपाकर बतला दीजिये कि मेरे सच्चे पिता कौन हैं? और कहाँ हैं? यदि आप मुझे ठीक ठीक हाल नहीं कहेंगे तो मैं आजसे भोजन नहीं करूंगा!

दिवाकरदेवने आज एका एक वज्रकुमारके मुँहसे अचम्भेमें डालनेवाली बातें सुनकर वज्रकुमारसे कहा–पुत्र, क्या आज तुम्हें कुछ हो तो नहीं गया है, जो बहकी बहकी बातें करते हो? तुम समझदार हो, तुम्हें ऐसी बातें करना उचित नहीं, जिससे मुझे कष्ट हो।

वज्रकुमार बोला–पिताजी, मैं यह नहीं कहता कि मैं आपका पुत्र नहीं, क्योंकि मेरे सच्चे पिता तो आप ही हैं–आपहीने मुझे पालापोषा है। पर जो सच्चा वृत्तान्त है, उसके जाननेकी मेरी बड़ी उत्कण्ठा है; इसलिये उसे आप न छिपाइये। उसे कहकर मेरे अशान्त हृदयको शान्त कीजिये। बहुत सच है–बड़े पुरुषोंके हृदयमें जो बात एक बार समा जाती है फिर वे उसे तबतक नहीं छोड़ते जबतक उसका उन्हें

आदि अन्त मालूम न हो जाय। वज्रकुमारके आग्रहसे दिवा-करदेवको उसका पूर्व हाल सब ज्योंका त्यों कह देना ही पड़ा। क्योंकि आग्रहसे कोई बात छुपाई नहीं जा सकती। वज्रकुमार अपना हाल सुनकर बड़ा विरक्त हुआ। उसे संसारका मायाजाल बहुत भयंकर जान पड़ा। वह उसी समय विमानमें चढ़कर अपने पिताकी वन्दना करनेको गया। उसके साथ ही उसका पिता तथा और और बन्धु-लोग भी गये। सोमदत्त मुनिराज मथुराके पास एक गुहामें ध्यान कर रहे थे। उन्हें देखकर सब ही बहुत आनन्दित हुए। सब बड़ी भक्तिके साथ मुनिको प्रणामकर जब बैठे, तब वज्रकुमारने मुनिराजसे कहा–पूज्यपाद, आज्ञा दीजिये, जिससे मैं साधु बनकर तपश्चर्या द्वारा अपना आत्मकल्याण करूँ। वज्रकुमारको एक साथ संसारसे विरक्त देखकर दिवा-करदेवको बहुत आश्चर्य हुआ। उसने इस अभिप्रायसे, कि सोमदत्त मुनिराज वज्रकुमारको कहीं मुनि हो जानेकी आज्ञा न देदें, उनसे वज्रकुमार उन्हींका पुत्र है, और उसीपर मेरा राज्यभार भी निर्भर है–आदि सब हाल कह दिया। इसके बाद वह वज्रकुमारसे भी बोला-पुत्र, तुम यह क्या करते हो? तप करनेका मेरा समय है या तुम्हारा? तुम अब सब तरह योग्य हो गये, राजधानीमें जाओ और अपना कारो-बार सम्हालो। अब मैं सब तरह निश्चिन्त हुआ। मैं आज ही दीक्षा ग्रहण करूंगा। दिवाकरदेवने उसे बहुत कुछ सम-झाया और दीक्षा लेनेसे रोका, पर उसने किसीकी एक न सुनी और सब वस्त्राभूषण फेंककर मुनिराजके पास दीक्षा

लेली। कन्दर्पकेसरी वज्रकुमारमुनि साधु बनकर खूब तपश्चर्या करने लगे। कठिनसे कठिन परीषह सहने लगे। वे जिनशासनरूप समुद्रके बढ़ानेवाले चन्द्रमाके समान शोभने लगे।

वज्रकुमारके साधु बनजानेके बादकी कथा अब लिखी जाती है। इस समय मथुराके राजा थे पूतगन्ध। उनकी रानीका नाम था उर्विला। वह बड़ी धर्मात्मा थी, सती थी, विदुषी थी और सम्यग्दर्शनसे भूषित थी। उसे जिनभगवान्‌की पूजासे बहुत प्रेम था। वह प्रत्येक नन्दीश्वरपर्वमें आठ दिनतक खूब पूजा महोत्सव करवाती, खूब दान करती। उससे जिनधर्मकी बहुत प्रभावना होती। सर्व साधारणपर जैनधर्मका अच्छा प्रभाव पड़ता। मथुराहीमें एक सागरदत्त नामका सेठ था। उसकी गृहिणीका नाम था समुद्रदत्ता। पूर्व पापके उदयसे उसके दरिद्रा नामकी पुत्री हुई। उसके जन्मसे माता पिताको सुख न होकर दुःख हुआ। धन सम्पत्ति सब जाती रही। माता पिता मर गये। बेचारी दरिद्राके लिये अब अपना पेट भरना भी मुश्किल पड़ गया। अब वह दूसरोंका झूठा खा खाकर दिन काटने लगी। सच है—पापके उदयसे जीवोंको दुःख भोगना ही पड़ता है।

एक दिन दो मुनि भिक्षाके लिये मथुरामें आये। उनके नाम थे नन्दन और अभिनन्दन। उनमें नन्दन बड़े थे और अभिनन्दन छोटे। दरिद्राको एक एक अन्नका झूठा कण खाती हुई देखकर अभिनन्दनने नन्दनसे कहा—मुनिराज, दे-

खिये, हाय ! यह बेचारी बालिका कितनी दुखी है ! कैसे कष्टसे अपना जीवन बिता रही है ! तब नन्दनमुनिने अव-धिज्ञानसे विचार कर कहा—हाँ यद्यपि इस समय इसकी दशा अच्छी नहीं है, तथापि इसका पुण्यकर्म बहुत प्रबल है उससे यह पूतीगंध राजाकी पट्टरानी बनेगी। मुनिने दरिद्राका जो भविष्य सुनाया, उसे भिक्षाके लिये आये हुए एक बौद्ध भिक्षुकने भी सुन लिया। उसे जैन ऋषियोंके विषयमें बहुत विश्वास था, इसलिये वह दरिद्राको अपने स्थानपर लिवा लाया और उसका पालन करने लगा।

दरिद्रा जैसी जैसी बड़ी होती गई वैसे ही वैसे योवनने उसकी श्रीको खूब सम्मान देना आरंभ किया। वह अब युवती हो चली। उसके सारे शरीरसे सुन्दरताकी सुधा-धारा बहने लगी। आँखोंने चंचल मीनको लजाना शुरू किया। मुहँने चन्द्रमाको अपना दास बनाया। नितम्बोंको अपनेसे जल्दी बढ़ते देखकर शर्मके मारे स्तनोंका मुह काला पड़ गया। एक दिन युवती दरिद्रा शहरके बगीचेमें जाकर झूलेपर झूल रही थी कि कर्मयोगसे उसी दिन राजा भी वहीं आ गये। उनकी नजर एकाएक दरिद्रापर पड़ी। उसे देखकर वे अचम्भेमें आ गये कि यह स्वर्ग सुन्दरी कौन हैं ? उन्होंने दरिद्रासे उसका परिचय पूछा। उसने निस्संकोच होकर अपना स्थान वगैरह सब उन्हें बता दिया। वह बेचारी भोली थी। उसे क्या मालूम कि मुझसे खास मथु-राके राजा पूछताछ कर रहे हैं। राजा तो उसे देखकर कामान्ध हो गये। वे बड़ी मुश्किलसे अपने महलपर आये

आते ही उन्होंने अपने मंत्रीको श्रीवन्दकके पास भेजा। मंत्रीने पहुँचकर श्रीवन्दकसे कहा–आज तुम्हारा और तुम्हारी कन्याका बड़ा ही भाग्य है, जो मथुराधीश्वर उसे अपनी महारानी बनाना चाहते हैं। कहो, तुम्हें भी यह बात सम्मत है न? श्रीवन्दक बोला–हाँ मुझे महाराजकी बात स्वीकार है, पर एक शर्तके साथ। वह शर्त यह है कि–महाराज बौद्धधर्म स्वीकार करें तो मैं इसका ब्याह महाराजके साथ कर सकता हूं। मंत्रीने महाराजसे श्रीवन्दककी शर्त कह सुनाई। महाराजने उसे स्वीकार किया। सच है–लोग कामके वश होकर धर्मपरिवर्तन तो क्या पर बड़े बड़े अनर्थ भी कर बैठते हैं।

आखिर महाराजका दरिद्राके साथ ब्याह हो गया। दरिद्रा मुनिराजके भविष्य कथनानुसार पट्टरानी हुई। दरिद्रा इस समय बुद्धदासीके नामसे प्रसिद्ध है। इसलिये आगे हम भी इसी नामसे उसका उल्लेख करेंगे। बुद्धदासी पट्टरानी बनकर बुद्धधर्मका प्रचार बढ़ानेमें सदा तत्पर रहने लगी। सच है–जिनधर्म संसारमें सुखका देनेवाला और पुण्यप्राप्तिका खजाना है, पर उसे प्राप्त कर पाते हैं भाग्यशाली ही। बेचारी अभागिनी बुद्धदासीके भाग्यमें उसकी प्राप्ति कहाँ?

अष्टान्हिका पर्व आया। उर्विला महारानीने सदाके नियमानुसार अबकी बार भी उत्सव करना आरंभ किया। जब रथ निकालनेका दिन आया और रथ, छत्र, चवंर, वस्त्र, भूषण, पुष्पमाला आदिसे खूब सजाया गया, उसमें भगवानकी प्रतिमा विराजमान की जाकर वह निकाला जाने

लगा, तब बुद्धदासीने राजासे यह कह कर, कि पहले मेरा रथ निकलेगा, उर्विला रानीका रथ रुकवा दिया। राजाने भी उसपर कुछ बाधा न देकर उसके कहनेको मान लिया। सच है–

मोहान्धा नैव जानंति गोक्षीरार्कपयोन्तरम्।

(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात् मोहसे अन्धे हुए मनुष्य गायके दूधमें और आंकड़े दूधमें कुछ भी भेद नहीं समझते। बुद्धदासीके प्रेमने यही हालत पूतगंधराजाकी करदी। उर्विलाको इससे बहुत कष्ट पहुंचा। उसने दुखी होकर प्रतिज्ञा करली कि जब पहले मेरा रथ निकलेगा तब ही में भोजन करूंगी। यह प्रतिज्ञा कर वह क्षत्रिया नामकी गुहामें पहुँची। वहाँ योगिराज सोमदत्त और वज्रकुमार महामुनि रहा करते हैं। वह उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार कर बोली–हे जिनशासनरूप समुद्रके बढ़ानेवाले चन्द्रमाओ, और हे मिथ्यात्वरूप अन्धकारके नष्ट करनेवाले सूर्य ! इस समय आप ही मेरे लिये शरण हैं। आप ही मेरा दुःख दूर सकते हैं। जैनधर्मपर इस समय बड़ा संकट उपस्थित है, उसे नष्ट कर उसकी रक्षा कीजिये। मेरा रथ निकलनेवाला था, पर उसे बुद्धदासीने महाराजसे कहकर रुकवा दिया है। आजकल वह महाराजकी बड़ी कृपापात्र है, इसलिये जैसा वह कहती है महाराज भी विना विचारे वही कहते हैं। मैंने प्रतिज्ञा करली है कि सदाकी भांति मेरा रथ पहले यदि निकलेगा तब ही मैं भोजन करूंगी। अब जैसा आप उचित समझें वह कीजिये। उर्विला अपनी बात

कह रही थी कि इतनेमें वज्रकुमार तथा सोमदत्त मुनिकी वन्दना करनेको दिवाकरदेव आदि बहुतसे विद्याधर आये। वज्रकुमारमुनिने उनसे कहा—आप लोग समर्थ हैं और इस समय जैनधर्मपर कष्ट उपस्थित है। बुद्धिदासीने महारानी उर्विलाका रथ रुकवा दिया है। सो आप जाकर जिस तरह बन सके इसका रथ निकलवाइये। वज्रकुमारमुनिकी आज्ञानुसार सब विद्याधर लोग अपने अपने विमानपर चढ़कर मथुरा आये। सच है—जो धर्मात्मा होते हैं वे धर्म प्रभावनाके लिये स्वयं प्रयत्न करते हैं, तब उन्हें तो मुनिराजने स्वयं प्रेरणा की है, इसलिये रानी उर्विलाको सहायता देना तो उन्हें आवश्यक ही था। विद्याधरोंने पहुँचकर बुद्धदासीको बहुत समझाया और कहा, जो पुरानी रीति है उसे ही पहले होने देना अच्छा है। पर बुद्धदासीको तो अभिमान आ रहा था, इसलिये वह क्यों मानने चली? विद्याधरोंने सीधे पनसे अपना कार्य होता हुआ न देखकर बुद्धदासीके नियुक्त किये हुए सिपाहियोंसे लड़ना शुरू किया और बातकी बातमें उन्हें भगाकर बड़े उत्सव और आनन्दके साथ उर्विलारानीका रथ निकलवा दिया। रथके निर्विघ्न निकलनेसे सबको बहुत आनन्द हुआ। जैनधर्मकी भी खूब प्रभावना हुई। बहुतोंने मिथ्यात्व छोड़कर सम्यग्दर्शन ग्रहण किया। बुद्धदासी और राजापर भी इस प्रभावनाका खूब प्रभाव पड़ा। उन्होंने भी शुद्धान्तःकरणसे जैनधर्म स्वीकार किया।

जिस प्रकार श्रीवज्रकुमार मुनिराजने धर्मप्रेमके वश होकर जैनधर्मकी प्रभावना करवाई उसी तरह और और धर्मात्मा

पुरुषोंकोभी संसारका उपकार करनेवाली और स्वर्गसुखकी देनेवाली धर्म प्रभावना करना चाहिये। जो भव्य पुरुष, प्रतिष्ठा, जीर्णोद्धार, रथयात्रा, विद्यादान, आहारदान, अभयदान, आदि द्वारा जिनधर्मकी प्रभावना करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि होकर त्रिलोक पूज्य होते हैं और अन्तमें मोक्षसुख प्राप्त करते हैं।

धर्मप्रेमी श्रीवज्रकुमार मुनि मेरी बुद्धिको सदा जैनधर्ममें दृढ़ रक्खें, जिसके द्वारा मैं भी कल्याण पथपर चलकर अपना अन्तिमसाध्य मोक्ष प्राप्त कर सकूं।

श्रीमल्लिभूषण गुरु मुझे मंगल प्रदान करें, वे मूल संघके प्रधान शारदागच्छेमें हुए हैं। वे ज्ञानके समुद्र हैं और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र रूपी रत्नोंसे अलंकृत हैं। मैं उनकी भक्तिपूर्वक आराधना करता हूं।

१४–नागदत्तमुनिकी कथा।

क्षराज्यके अधीश्वर श्रीपंचपरमगुरुको नमस्कार कर श्रीनागदत्तमुनिका सुन्दर चरित मैं लिखता हूं।

मगधदेशकी प्रसिद्ध राजधानी राजगृहमें प्रजापाल नामके राजा हैं। वे विद्वान् हैं, उदार हैं, धर्मात्मा हैं, जिनभगवान्के भक्त हैं और नीतिपूर्वक प्रजाका पालन करते हैं। उनकी रानीका नाम है प्रियधर्मा। वह भी बड़ी सरल

स्वभावकी और सुशीला है। उसके दो पुत्र हुए। उनके नाम थे प्रियधर्म और प्रियमित्र। दोनों भाई बड़े बुद्धिमान् और सुचरित थे।

किसी कारणसे दोनों भाई संसारसे विरक्त होकर साधु बन गये। और अन्तसमय समाधिमरण कर अच्युतस्वर्गमें जाकर देव हुए। उन्होंने वहां परस्परमें प्रतिज्ञा की कि, "जो दोनोंमेंसे पहले मनुष्यपर्याय प्राप्त करे उसके लिये स्वर्गस्थ देवका कर्त्तव्य होगा कि वह उसे जाकर सम्बोधे और संसारसे विरक्त कर मोक्षसुखकी देनेवाली जिनदीक्षा ग्रहण करनेके लिये उसे उत्साहित करे।" इस प्रकार प्रतिज्ञा कर वे वहाँ सुखसे रहने लगे। उन दोनोंमेंसे प्रियदत्तकी आयु पहले पूर्ण हो गई। वह वहाँसे उज्जयिनीके राजा नागधर्मकी प्रिया नागदत्ताके, जो कि बहुत ही सुन्दरी थी, नागदत्त नामक पुत्र हुआ। नागदत्त सर्पोंके साथ क्रीड़ा करनेमें बहुत चतुर था, सर्पके साथ उसे विनोद करते देखकर सब लोग बड़ा आश्चर्य प्रगट करते थे।

एक दिन प्रियधर्म, जो कि स्वर्गमें नागदत्तका मित्र था, गारुड़िका वेष लेकर नागदत्तको सम्बोधनेको उज्जयिनीमें आया। उसके पास दो भयंकर सर्प थे। वह शहरमें घूम-घूमकर लोगोंको तमाशा बताता और सर्व साधारणमें यह प्रगट करता कि मैं सर्पक्रीड़ाका अच्छा जानकार हूं। कोई और भी इस शहरमें सर्पक्रीड़ाका अच्छा जानकार हो, तो फिर उसे मैं अपना खेल दिखलाऊं। यह हाल धीरे धीरे नागदत्तके पास पहुँचा। वह तो सर्पक्रीड़ाका पहलेहीसे

बहुत शोकीन था, फिर अब तो एक और उसका साथी मिल गया। उसने उसी समय नौकरोंको भेजकर उसे अपने पास बुला मँगाया। गारुड़ि तो इसी कोशिशमें था ही कि नागदत्तको किसी तरह मेरी खबर लग जाय औ वह मुझे बुलावे। प्रियधर्म उसके पास गया। उसे पहुंचते नागदत्तने अभिमानमें आकर उससे कहा—मंत्रवित्, तुम अपने सर्पोंको बाहर निकालो न? मैं उनके साथ कुछ खेल तो देखूं कि वे कैसे जहरीले हैं।

प्रियदत्त बोला—मैं राजपुत्रोंके साथ ऐसी हँसी दिल्लगी या खेल करना नहीं चाहता कि जिसमें जानकी तक जोखम हो। बतलाओ मैं तुम्हारे सामने सर्प निकाल कर रख दूं और तुम उनके साथ खेल खेलो, इस बीचमें कुछ तुम्हें जोखम पहुँच जाय तब राजा मेरी क्या बुरी दशा करें? क्या उस समय वे मुझे छोड देंगे? कभी नहीं। इसलिये न तो मैं ही ऐसा कर सकता हूं और न तुम्हें ही इस विषयमें कुछ विशेष आग्रह करना उचित है। हां तुम कहो तो मैं तुम्हें कुछ खेल दिखा सकता हूं।

नागदत्त बोला—तुम्हें पिताजीकी ओरसे कुछ भय नहीं करना चाहिये। वे स्वयं अच्छी तरह जानते हैं कि मैं इस विषयमें कितना विज्ञ हूं और इसपर भी तुम्हें सन्तोष न हो तो आओ मैं पिताजीसे तुम्हें क्षमा करवाये देता हूं। यह कहकर नागदत्त प्रियदत्तको पिताके पास ले गया और मारे अभिमानमें आकर बड़े आग्रहके साथ महाराजसे उसे अभय दिलवा दिया। नागधर्म कुछ तो नागदत्तका सर्पोंके

साथ खेलना देख चुके थे और इस समय पुत्रका बहुत आग्रह था, इसलिये उन्होंने विशेष विचार न कर प्रियदत्तको अभयप्रदान कर दिया। नागदत्त बहुत प्रसन्न हुआ। उसने प्रियदत्तसे सर्पोंको बाहर निकालनेके लिये कहा। प्रियदत्तने पहले एक साधारण सर्प निकाला। नागदत्त उसके साथ क्रीड़ा करने लगा और थोड़ी देरमें उसे उसने पराजित कर दिया—निर्विष कर दिया! अब तो नागदत्तका साहस खूब बढ़ गया। उसने दूने अभिमानके साथ कहा कि तुम क्या ऐसे मुर्दे सर्पको निकालकर और मुझे शर्मिन्दा करते हो? कोई अच्छा विषधर सर्प निकालो न? जिससे मेरी शक्तिका तुम भी परिचय पा सको।

प्रियधर्म बोला—आपका होश पूरा हुआ। आपने एक सर्पको हरा भी दिया है। अब आप अधिक आग्रह न करें तो अच्छा है। मेरे पास एक सर्प और है, पर वह बहुत जहरीला है, दैवयोगसे उसने काट खाया तो समझिये फिर उसका कुछ उपाय ही नहीं है। उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। इसलिये उसके लिये मुझे क्षमा कीजिये। उसने नागदत्तसे बहुत बहुत प्रार्थना की पर नागदत्तने उसकी एक नहीं मानी। उलटा उसपर क्रोधित होकर वह बोला—तुम अभी नहीं जानते कि इस विषयमें मेरा कितना प्रवेश है? इसीलिये ऐसी डरपोंकपनेकी बातें करते हो। पर मैंने ऐसे ऐसे हजारों सर्पोंको जीतकर पराजित किया है। मेरे साम्हने यह बेचारा तुच्छ जीव कर ही क्या सकता है? और फिर इसका डर तुम्हें या मुझे? वह काटेगा तो मुझे ही न? तुम

मत घबराओ, उसके लिये मेरे पास बहुतसे ऐसे साधन हैं, जिससे भयंकरसे भयंकर सर्पका जहर भी क्षणमात्रमें उत्तर सकता है।

प्रियधर्मने कहा–अच्छा यदि तुम्हारा अत्यन्त ही आग्रह है तो उससे मुझे कुछ हानि नहीं। इसके बाद उसने राजा आदिकी साक्षीसे अपने दूसरे सर्पको पिटारेमेंसे निकाल बाहर कर दिया। सर्पने निकलते ही फुंकार मारना शुरू किया। वह इतना जहरीला था कि उसके साँसकी हवाही-से लोगोंके सिर घूमने लगते थे। जैसे ही नागदत्त उसे हाथमें पकड़नेको उसकी ओर बढ़ा कि सर्पने उसे बड़े जोरसे काट खाया। सर्पका काटना था कि नागदत्त उसी समय चक्कर खाकर धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़ा और अचेत हो गया। उसकी यह दशा देखकर हाहाकार मच गया। सबकी आँखोंसे आँसुकी धारा बह चली। राजाने उसी समय नौकरोंको दौड़ाकर सर्पका विष उतारनेवालोंको बुलवाया। बहुतसे मांत्रिक तांत्रिक इकट्ठे हुए। सबने अपनी अपनी करनीमें कोई बात उठा नहीं रक्खी। पर किसीका किया कुछ नहीं हुआ। सबने राजाको यही कहा कि महाराज, युवराजको तो कालसर्पने काटा है, अब ये नहीं जी सकेंगे। राजा बड़े निराश हुए। उन्होंने सर्पवालेसे यह कह कर, कि यदि तू इसे जिला देगा तो मैं तुझे अपना आधा राज्य दे दूंगा, नागदत्तको उसीके सुपुर्द कर दिया। प्रियधर्म तब बोला–महाराज, इसे काटा तो है कालसर्पने, और इसका जी जाना भी असंभव है, पर मेरा कहा मानकर मत निकालिये

यदि यह जी जाय तो आप इसे मुनि हो जानेकी आज्ञा दें तो, मैं भी एक वार इसके जिलानेका यत्न कर देखूं।

राजाने कहा—मैं इसे भी स्वीकार करता हूँ। तुम इसे किसी तरह जिला दो, यही मुझे इष्ट है।

इसके बाद प्रियधर्मने कुछ मंत्र पढ़ पढ़ाकर उसे जीता कर दिया। जैसे मिथ्यात्वरूपी विषसे अचेत हुए मनुष्योंको परोपकारी मुनिराज अपना स्वरूप प्राप्त करा देते हैं। जैसे ही नागदत्त सचेत होकर उठा और उसे राजाने अपनी प्रतिज्ञा कह सुनाई। वह उससे बहुत प्रसन्न हुआ। पश्चात् एक क्षणभर ही वह वहाँ न ठहर कर वनकी ओर रवाना हो गया और यमधर मुनिराजके पास पहुँच कर उसने जिन-दीक्षा ग्रहण करली। उसे दीक्षित हो जानेपर प्रियधर्म, जो गारुड़िका वेष लेकर स्वर्गसे नागदत्तके सम्बोधनेको आया था, उसे सब हाल कहकर और अन्तमें नमस्कार कर पीछा स्वर्ग चला गया।

मुनि बनकर नागदत्त खूब तपश्चर्या करने लगे और अपने चारित्रको दिनपर दिन निर्मल करके अन्तमें जिन-कल्पीमुनि हो गये। अर्थात् जिनभगवान्की तरह अब वे अकले ही विहार करने लगे। एक दिन वे तीर्थयात्रा करते हुए एक भयानक वनीमें निकल आये। वहाँ चोरोंका अड्डा था, सो चोरोंने मुनिराजको देख लिया। उन्होंने यह समझ कर, कि ये हमारा पता लोगोंको बता देगें और फिर हम पकड़ लिये जावेंगे, उन्हें पकड़ लिया और अपने मुखि-याके पास वे लिवा ले गये। मुखियाका नाम था सूरदत्त।

वह मुनिको देखकर बोला—तुमने इन्हें क्यों पकड़ा ? ये तो बड़े सीधे और सरल स्वभावी हैं। इन्हें किसीसे कुछ लेना देना नहीं, किसीपर इनका राग द्वेष नहीं। ऐसे साधुको तुमने कष्ट देकर अच्छा नहीं किया। इन्हें जल्दी छोड़ दो। जिस भयकी तुम इनके द्वारा आशंका करते हो, वह तुम्हारी भूल है। ये कोई बात ऐसी नहीं करते जिससे दूसरोंको कष्ट पहुँचे। अपने मुखियाकी आज्ञाके अनुसार चोरोंने उसी समय मुनिराजको छोड़ दिया।

इसी समय नागदत्तकी माता अपनी पुत्रीको साथ लिये हुए वत्स देशकी ओर जा रही थी। उसे उसका ब्याह कोशाम्बीके रहनेवाले जिनदत्त सेठके पुत्र धनपालसे करना था। अपने जमाईको दहेज देनेके लिये उसने अपने पास उपयुक्त धन—सम्पत्ति भी रखली थी। उसके साथ और भी पुरजन परिवारके लोग थे। सो उसे रास्तेमें अपने पुत्र नागदत्तमुनिके दर्शन हो गये। उसने उन्हें प्रणाम कर पूछा—प्रभो, आगे रास्ता तो अच्छा है न ? मुनिराज इसका कुछ उत्तर न देकर मौन सहित चले गये। क्योंकि उनके लिये तो शत्रु और मित्र दोनों ही समान हैं।

आगे चलकर नागदत्ताको चोरोंने पकड़कर उसका सब माल असबाव छीन लिया और उसकी कन्याको भी उन पापियोंने छुड़ाली। तब सूरदत्त उनका मुखिया उनसे बोला—क्यों आपने देखी न उस मुनिकी उदासीनता और निस्पृहता ? जो इस स्त्रीने मुनिको प्रणाम किया और उनकी भक्ति की तब भी उन्होंने इससे कुछ नहीं कहा और हम

लोगोंने उन्हें बाँधकर कष्ट पहुँचाया तब उन्होंने हमसे कुछ द्वेष नहीं किया। सच बात तो यह है कि उनकी वह वृत्ति ही इतने ऊँचे दरजेकी है, जो उसमें भक्ति करनेवालेपर तो प्रेम नहीं और शत्रुता करनेवालेसे द्वेष नहीं। दिगम्बर मुनि बड़े ही शान्त, धीर, गंभीर और तत्त्वदर्शी हुआ करते हैं।

नागदत्ता यह सुनकर, कि यह सब कारस्थानी मेरे ही पुत्रकी है, यदि वह मुझे इस रास्तेका सब हाल कह देता, तो क्यों आज मेरी यह दुर्दशा होती? क्रोधके तीव्र आवेगसे थरथर काँपने लगी। उसने अपने पुत्रकी निर्दयतासे दुःखी होकर चोरोंके मुखिया सूरदत्तसे कहा–भाई, जरा अपनी छुरी तो मुझे दे, जिससे मैं अपनी कूंखको चीरकर शान्तिलाभ करूं। जिस पापीका तुम जिकर कर रहे हो, वह मेरा ही पुत्र है। जिसे मैंने नौ महीने इस कूँखमें रक्खा और बड़े बड़े कष्ट सहे उसीने मेरे साथ इतनी निर्दयता की कि मेरे पूछनेपर भी उसने मुझे रास्तेका हाल नहीं बतलाया। तब ऐसे कुपुत्रको पैदाकर मुझे जीते रहनेसे ही क्या लाभ?

नागदत्ताका हाल जानकर सूरदत्तको बड़ा वैराग्य हुआ। वह उससे बोला–जो उस मुनिकी माता है, वही मेरी भी माता है। माता, क्षमा करो! यों कहकर उसने उसका सब धन असबाब उसी समय पीछा लोटा दिया और आप मुनिके पास पहुँचा। उसने बड़ी भक्तिके साथ परम गुणवान् नागदत्त मुनिकी स्तुति की और पश्चात् उन्हींके द्वारा दीक्षा लेकर वह तपस्वी बन गया।

साधु बनकर सूरदत्तने तपश्चर्या और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र द्वारा घातिया कर्मोंका नाशकर

लोकालोकका प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया और संसार द्वारा पूज्य होकर अनेक भव्य जीवोंको कल्याणका रास्ता बतलाया और अन्तमें अघातिया कर्मोंका भी नाश कर अविनाशी, अनन्त, मोक्षपद प्राप्त किया।

श्रीनागदत्त और सूरदत्त मुनि संसारके दुःखोंको नष्ट कर मेरे लिये शान्ति प्रदान करें, जो कि गुणोंके समुद्र हैं, जो देवों द्वारा सदा नमस्कार किये जाते हैं और जो संसारी जीवोंके नेत्ररूपी कुमुद पुष्पोंको प्रफुल्लित करनेके लिये चंद्रमा समान हैं—जिन्हें देखकर नेत्रोंको बड़ा आनन्द मिलता है—शान्ति मिलती है।

१५. शिवभूति पुरोहितकी कथा।

मैं संसारके हित करनेवाले जिनभगवान्को नमस्कार कर दुर्जनोंकी संगतिसे जो दोष उत्पन्न होते हैं, उससे सम्बन्ध रखनेवाली एक कथा लिखता हूं, जिससे कि लोग दुर्जनोंकी संगति छोड़नेका यत्न करें।

यह कथा उस समय की है, जब कि कोशाम्बीका राजा धनपाल था। धनपाल अच्छा बुद्धिमान् और प्रजाहितैषी था। शत्रु तो उसका नाम सुनकर काँपते थे। राजाके यहाँ एक पुरोहित था। उसका नाम था शिवभूति। वह पौराणिक अच्छा था।

वहीं दो शूद्र रहते थे। उनके नाम कल्पपाल और पूर्णचन्द्र थे। उनके पास कुछ धन भी था। उनमें पूर्णचन्द्रकी स्त्रीका नाम था मणिप्रभा। उसके एक सुमित्रा नामकी लड़की थी। पूर्णचन्द्रने उसके विवाहमें अपने जातीय भाइयोंको जिमाया और उसका राज पुरोहितसे कुछ परिचय होनेसे उसने उसे भी निमंत्रित किया। पर पुरोहित महाराजने उसमें यह बाधा दी कि भाई, तुम्हारा भोजन तो मैं नहीं कर सकता। तब कल्पपालने बीचमें ही कहा--अस्तु। आप हमारे यहाँका भोजन न करें। हम ब्राह्मणोंके द्वारा आपके लिये भोजन तैयार करवा देगें तब तो आपको कुछ उजर न होगा। पुरोहितजी आखिर थे तो ब्राह्मण ही न? जिनके विषयमें यह नीति प्रसिद्ध है कि "असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः" अर्थात् लोभमें फँसकर ब्राह्मण नष्ट हुए। सो वे अपने एकवारके भोजनका लोभ नहीं रोक सके। उन्होंने यह विचार कर, कि जब ब्राह्मण भोजन बनानेवाले हैं, तब तो कुछ नुकसान नहीं, उसका भोजन करना स्वीकार कर लिया। पर इस बातपर उन्होंने तनिक भी विचार नहीं किया कि ब्राह्मणोंने ही भोजन बना दिया तो हुआ क्या? आखिर पैसा तो उसका है और न जाने उसने कैसे कैसे पापों द्वारा उसे कमाया है?

जो हो, नियमित समयपर भोजन तैयार हुआ। एक ओर पुरोहित देवता भोजनके लिये बैठे और दूसरी ओर पूर्णचन्द्रका परिवारवर्ग। इस जगह इतना और ध्यानमें रखना चाहिये कि दोनोंका चौका अलग अलग था। भोजन

होने लगा। पुरोहितजीने मनभर माल उड़ाया। मानो उन्हें कभी ऐसे भोजनका मौका ही नसीब नहीं हुआ था। पुरोहित-जीको वहाँ भोजन करते हुए कुछ लोगोंने देख लिया। उन्होंने पुरोहितजीकी शिकायत महाराजसे करदी। महा-राजने एक शूद्रके साथ भोजन करनेवाले—वर्णव्यवस्थाको धूलमें मिलानेवाले ब्राह्मणको अपने राज्यमें रखना उचित न समझ देशसे निकलवा दिया। सच है—"कुसंगो कष्टदो ध्रुवम्" अर्थात् बुरी संगति दुःख देनेवाली ही होती है। इसलिये अच्छे पुरुषोंको उचित है कि वे बुरोंकी संगति न कर सज्जनोंकी संगति करें, जिससे वे अपने धर्म, कुल, मान—मर्यादाकी रक्षा कर सकें।

१६. पवित्र हृदयवाले एक बालककी कथा।
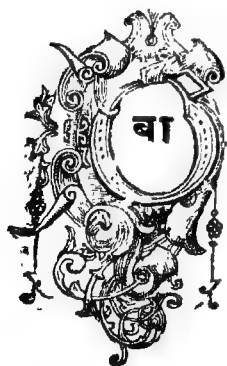
बालक जैसा देखता है, वैसा ही कह भी देता है। क्योंकि उसका हृदय पवित्र रहता है। यहाँ मैं जिनभगवान्को नमस्कार कर एक ऐसी ही कथा लिखता हूं, जिसे पढ़-कर सर्व साधारणका ध्यान पापकर्मोंके छोड़नेकी ओर जाय।

कौशाम्बीमें जयपाल नामके राजा हो गये हैं। उनके समयमें वहीं एक सेठ हुआ है। उसका नाम समुद्रदत्त था और उसकी स्त्रीका नाम समुद्रदत्ता। उसके एक पुत्र

हुआ। उसका नाम सागरदत्त था। वह बहुत ही सुन्दर था। उसे देखकर सबका चित्त उसे खेलानेके लिये व्यग्र हो उठता था। समुद्रदत्तका एक गोपायन नामका पड़ौसी था। पूर्वजन्मके पापकर्मके उदयसे वह दरिद्री हुआ। इसलिये धनकी लालसाने उसे व्यसनी बना दिया। उसकी स्त्रीका नाम सोमा था। उसके भी एक सोमक नामका पुत्र था। वह धीरे धीरे कुछ बड़ा हुआ और अपनी मीठी और तोतली बोलीसे मातापिताको आनन्दित करने लगा।

एक दिन गोपायनके घरपर सागरदत्त और सोमक अपना बालसुलभ खेल खेल रहे थे। सागरदत्त इस समय गहना पहरे हुए था। उसी समय पापी गोपायन आ गया। सागरदत्तको देखकर उसके हृदयमे पापवासना हुई। दरवाजा बन्दकर वह कुछ लोभके बहाने सागरदत्तको घरके भीतर लिवा ले गया। उसीके साथ सोमक भी दौड़ा गया। भीतर लेजाकर पापी गोपायनने उस अबोध बालकका बड़ी निर्दयतासे छुरी द्वारा गला घोट दिया और उसका सब गहना उतारकर उसे गड्ढेमें गाढ़ दिया।

कई दिनोंतक बराबर कोशिश करते रहनेपर भी जब सागरदत्तके मातापिताको अपने बच्चेका कुछ हाल नहीं मिला, तब उन्होंने जान लिया कि किसी पापीने उसे धनके लोभसे मारडाला है। उन्हें अपने प्रिय बच्चेकी मृत्युसे जो दुःख हुआ उसे वे ही पाठक अनुभव कर सकते हैं जिनपर कभी ऐसा दैवी प्रसंग आया हो। आखिर बेचारे अपना मन मसोस कर रह गये। इसके सिवा वे और करते भी तो क्या?

कुछ दिन बीतनेपर एक दिन सोमक समुद्रदत्तके घरके आंगनमें खेल रहा था। तब समुद्रदत्ताके मनमें न जाने क्या बुद्धि उत्पन्न हुई सो उसने सोमकको बड़े प्यारसे अपने पास बुलाकर उससे पूछा—भैया, बतला तो तेरा साथी समुद्रदत्त कहाँ गया है? तूने उसे देखा है?

सोमक बालक था और साथ ही बालस्वभावके अनुसार पवित्र हृदयी था। इसलिये उसने झटसे कह दिया कि वह तो मेरे घरमें एक खाड़ेमें गड़ा हुआ है। बेचारी सागरदत्ता अपने बच्चेकी दुर्दशा सुनते ही धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़ी। इतनेमें सागरदत्त भी वहीं आ पहुँचा। उसने उसे होशमें लाकर उसके मूर्छित हो जानेका कारण पूछा। सागरदत्ताने सोमकका कहा हाल उसे सुना दिया। सागरदत्तने उसी समय दौड़े जाकर यह खबर पुलिसको दी। पुलिसने आकर मृत बच्चेकी लाश सहित गोपायनको गिरफ्तार किया मुकुदमा राजाके पास पहुँचा। उन्होंने गोपायनके कर्मके अनुसार उसे फाँसीकी सजा दी। बहुत ठीक कहा है—

पापी पापं करोत्यत्र प्रच्छन्नमपि पापतः।
तत्प्रसिद्धं भवत्येव भवभ्रमणदायकः॥

[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात् पापी लोग बहुत छुपकर भी पाप करते हैं, पर वह नहीं छुपता और प्रगट हो ही जाता है। और परिणाममें अनन्त कालतक संसारके दुःख भोगना पड़ता है। इसलिये सुख चाहनेवाले पुरुषोंको हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, आदि पाप, जो कि दुःखके देनेवाले हैं, छोड़कर सुख देनेवाला दयाधर्म—जिनधर्म ग्रहण करना उचित है।

बालपनेमें विशेष ज्ञान नहीं होता, इसलिये बालक अपना हिताहित नहीं जान पाता, युवावस्थामें कुछ ज्ञानका विकाश होता है, पर काम उसे अपने हितकी ओर नहीं फटकने देता और वृद्धावस्थामें इन्द्रियाँ जर्जर हो जाती हैं—किसी कामके करनेमें उत्साह नहीं रहता और न शक्ति ही रहती है। इसके सिवा और और जो अवस्थायें हैं, उनमें कुटुम्ब परिवारके पालनपोषणका भार सिरपर रहनेके कारण सदा अनेक प्रकारकी चिन्तायें घेरे रहती हैं—कभी स्वस्थचित्त होने ही नहीं पाता, इसलिये तब भी आत्महितका कुछ साधन प्राप्त नहीं होता। आखिर होता यह है कि जैसे पैदा हुए, वैसे ही चल बसते हैं। अत्यन्त कठिनतासे प्राप्त हुई मनुष्य पर्यायको समुद्रमें रत्न फैंक देनेकी तरह गवाँ बैठते हैं। और प्राप्त करते हैं वही एक संसारभ्रमण। जिसमें अनन्त काल ठोकरें खाते खाते बीत गये। पर ऐसा करना उचित नहीं; किन्तु प्रत्येक जीवमात्रको अपने आत्महितकी ओर ध्यान देना परमावश्यक है। उन्हें सुख प्रदान करनेवाला जिनधर्म ग्रहणकर शान्तिलाभ करना चाहिये।

१७-धनदत्त राजाकी कथा।

देवादिके द्वारा पूज्य और अनन्तज्ञान, दर्शनादि आत्मीयश्रीसे विभूषित जिनभगवान्को नमस्कार कर मैं धनदत्त राजाकी पवित्र कथा लिखता हूं।

अन्ध्रदेशान्तर्गत कनकपुर नामक एक प्रसिद्ध और मनोहर शहर था। उसके राजा थे धनदत्त। वे सम्यग्दृष्टि थे, गुणवान् थे, और धर्मप्रेमी थे। राजमंत्रीका नाम श्रीवन्दक था। वह बौद्धधर्मानुयायी था। परन्तु तब भी राजा अपने मंत्रीकी सहायतासे राजकाम अच्छा चलाते थे। उन्हें किसी प्रकारकी बाधा नहीं पहुँचती थी।

एक दिन राजा और मंत्री राजमहलके ऊपर बैठे हुए कुछ राज्य सम्बन्धी विचार कर रहे थे कि राजाको आकाशमार्गसे जाते हुए दो चारणऋद्धि धारी मुनियोंके दर्शन हुए। राजाने हर्षके साथ उठकर मुनिराजको बड़े विनयसे नमस्कार किया और अपने महलमें उनका आव्हान किया। ठीक भी है-"साधुसंगः सतां प्रियः" अर्थात्-साधुओंकी संगति सज्जनोंको बहुत प्रीतिकर जान पड़ती है।

इसके बाद राजाके प्रार्थना करनेपर मुनिराजने उसे धर्मोपदेश दिया और चलते समय वे श्रीवन्दक मंत्रीको अपने साथ लिवा ले गये। लेजाकर उन्होंने उसे समझाया और आत्महितकी इच्छासे उसके प्रार्थना करनेपर उसे

श्रावकके व्रत दे दिये। श्रीवन्दक अपने स्थान लौट आया। इसके पहले श्रीवन्दक अपने बुद्धगुरुकी वन्दनाभक्ति करनेको प्रतिदिन उनके पास जाया करता था। सो जब उसने श्रावकव्रत ग्रहण कर लिये तबसे वह नहीं जाने लगा। यह देख बौद्धगुरुने उसे बुलाया, पर जब श्रीवन्दकने आकर भी उसे नमस्कार नहीं किया तब संघश्रीने उससे पूछा—क्यों आज तुमने मुझे नमस्कार नहीं किया? उत्तरमें मंत्रीने मुनिके आने, उपदेश करने और अपने व्रत ग्रहण करनेका सब हाल संघश्रीसे कह सुनाया। सुनकर संघश्री बड़े दुःखके साथ बोला—हाय! तू ठगा गया, पापियोंने तुझे बड़ा धोखा दिया। क्या कभी यह संभव है कि निराश्रय आकाशमें भी कोई चल सकता है? जान पड़ता है तुम्हारा राजा बड़ा कपटी और ऐन्द्रजालिक है। इसीलिये उसने तुम्हें ऐसा आश्चर्य दिखला कर अपने धर्ममें शामिल कर लिया। तुम तो भगवान् बुद्धके इतने विश्वासी थे, फिर भी तुम उस पापी राजाकी बहकावटमें आगये? इस तरह उसे बहुत कुछ ऊँचा नीचा समझाकर संघश्रीने कहा—अब तुम कभी राजसभामें नहीं जाना और जाना भी पड़े तो यह आजका हाल राजसे नहीं कहना। कारण वह जैनी है। सो बुद्धधर्मपर स्वभावहीसे उसे प्रेम नहीं होगा। इसलिये क्या मालूम कब वह बुद्धधर्मका अनिष्ट करनेको तैयार हो जाय? बेचारा श्रीवन्दक फिर संघश्रीकी चिकनी चुपड़ी बातोंमें आ गया। उसने श्रावक धर्मको भी उसी समय जलाञ्जलि देदी। बहुत ठीक कहा गया है—

स्वयं ये पापिनो लोके परं कुर्वन्ति पापिनम् ।
यथा संतप्तमानोसौ दहत्यग्निर्न संशयः ॥

(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्—जो स्वयं पापी होते हैं वे औरोंको भी पापी बना डालते हैं। यह उनका स्वभाव ही होता है। जैसे अग्नि स्वयं भी गरम होता है और दूसरोंको भी जलाता है।

दूसरे दिन धनदत्तने राजसभामें बड़े आनन्द और धर्म-प्रेमके साथ चारणमुनिका हाल सुनाया। उनमें प्रायः लोगों-को, जो कि जैन नहीं थे, बहुत आश्चर्य हुआ। उनका विश्वास राजाके कथनपर नहीं जमा। सब आश्चर्य भरी दृष्टिसे राजाके मुहँकी ओर देखने लगे। राजाको जान पड़ा कि मेरे कहनेपर लोगोंको विश्वास नहीं हुआ। तब उन्होंने अपनी गंभीरताको हँसीके रूपमें परिवर्तित कर झटसे कहा, हाँ यह कहना तो मैं भूल ही गया कि उस समय हमारे मंत्री महाशय भी मेरे पास ही थे। यह कहकर ही उन्होंने मंत्रीपर नजर दौड़ाई पर वे उन्हें नहीं दीख पड़े। तब रा-जाने उसी समय नौकरोंको भेजकर श्रीवन्दकको बुलवाया। उसके आते ही राजाने अपने कथनकी सत्यता प्रमाणित करनेके लिये उससे कहा—मंत्रीजी, कल दोपहरका हाल तो इन सबको सुनाइये कि वे चारणमुनि कैसे थे? तब बौद्ध-गुरुका बहकाया हुआ पापी श्रीवन्दक बोल उठा कि महा-राज, मैंने तो उन्हें नहीं देखा और न यह संभव ही है कि *आकाशमें कोई चल सके? पापी* श्रीवन्दकके मुहँसे उक्त वाक्योंका निकलना था कि उसी समय उसकी दोनों आँखें मुनिनिन्दाके तीव्र पापके उदयसे फूट गईं। सच है—

प्रभावो जिनधर्मस्य सूर्यस्येव जगत्रये।
नैव संछाद्यते केन घूकप्रायेण पापिना॥

(ब्रह्म नेमिदत्त)

जैसे संसारमें फैले हुए सूर्यके प्रभावको उल्लू नहीं रोक सकता, ठीक उसी तरह पापी लोग पवित्र जिनधर्मके प्रभावको कभी नहीं रोक सकते। उक्त घटनाको देखकर राजा वगैरहने जिनधर्मकी खूब प्रशंसा की और श्रावक धर्म स्वीकार कर वे उसके उपासक बन गये।

इस प्रकार निर्मल और देवादिकें द्वारा पूज्य जिनशासनका प्रभाव देखकर भव्य पुरुषोंको उचित है कि वे निर्भ्रान्त होकर सुखके खजाने और स्वर्ग-मोक्षके देनेवाले पवित्र जिनधर्मकी ओर अपनी निर्मल और मनोवांछितकी देनेवाली बुद्धिको लगावें।

१८—ब्रह्मदत्तकी कथा।

परम भक्तिसे संसार पूज्य जिन भगवान्‌को नमस्कार कर मैं ब्रह्मदत्तकी कथा लिखता हूं। वह इसलिये कि सत्पुरुषोंको इसके द्वारा कुछ शिक्षा मिले।

कांपिल्य नामक नगरमें एक ब्रह्मरथ नामका राजा रहता था। उसकी रानीका नाम था रामिली। वह सुन्दरी थी, विदुषी थी और राजाको प्राणोंसे भी कहीं प्यारी थी, बारहवें चक्रवर्त्ती ब्रह्मदत्त इसीके पुत्र थे। वे

छह खंड पृथ्वीको अपने वश करके सुख पूर्वक अपना राज्य शासनका काम करते थे।

एक दिन राजा भोजन करनेको बैठे उस समय उनके विजयसेन नामके रसोइयेने उन्हें खीर परौसी। पर वह बहुत गरम थी, इसलिये राजा उसे खा न सके। उसे इतनी गरम देखकर राजा रसोइयेपर बहुत गुस्सा हुए। गुस्सेमें आकर उन्होंने खीरके उसी वर्तनको रसोइयेके सिरपर देमारा। उसका सिर सब जल गया। साथ ही वह मर गया। हाय! ऐसे क्रोधको धिक्कार है, जिससे मनुष्य अपना हिताहित न देखकर बड़े बड़े अनर्थ कर बैठता है और फिर अनन्त कालतक कुगतियोंमें दुख भोगता रहता है।

रसोइया बड़े दुःखसे मरा सही, पर उसके परिणाम उस समय भी शान्त रहे। वह मरकर लवण समुद्रान्तर्गत विशाल-रत्न नामक द्वीपमें व्यन्तर देव हुआ। विभंगावधिज्ञानसे वह अपने पूर्वभवकी कष्ट कथा जानकर क्रोधके मारे काँपने लगा। वह एक सन्यासीके वेपमें राजाके पास आया और राजाको उसने केला, आम, सेव, सन्तरा, आदि बहुतसे फल भेंट किये। राजा जीभकी लोलुपतासे उन्हें खाकर सन्यासीसे बोला—साधुजी, कहिये—आप ये फल कहाँसे लाये? और कहाँ मिलेंगे? ये तो बड़े ही मीठे हैं। मैंने तो आजतक ऐसे फल कभी नहीं खाये। मैं आपकी इस भेंटसे बहुत खुश हुआ।

सन्यासीने कहा, महाराज, मेरा घर एक टापूमें है। वहीं एक बहुत सुन्दर बगीचा है। उसीके ये फल हैं। और

अनन्त फल उसमें लगे हुए हैं। सन्यासीकी रसभरी बात सुनकर राजाके मुहँमें पानी भर आया। उसने सन्यासीके साथ जानेकी तैयारी की। सच है—

शुभाऽशुभं न जानाति हा कष्टं लंपटः पुमान्।

(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्–जिह्वालोलुपी पुरुष भला बुरा नहीं जान पाते, यह बड़े दुःखकी बात है। यही हाल राजाका हुआ। जब वह लोलुपताके वश हो उस सन्यासीके साथ समुद्रके बीचमें पहुँचा, तब उसने राजाको मारनेके लिये बड़ा कष्ट देना शुरू किया। चक्रवर्ती अपनेको कष्टोंसे घिरा देखकर पंचनमस्कार मंत्रकी आराधना करने लगा। उसके प्रभावसे कपटी सन्यासीकी सब शक्ति रुद्ध हो गई। वह राजाको कुछ कष्ट न दे सका। आखिर प्रगट होकर उसने राजासे कहा–दुष्ट, याद है ? मैं जब तेरा रसोइया था, तब तूने मुझे जानसे मार डाला था ? वही आग आज मेरे हृदयको जला रही है, और उसीको बुझानेके लिये–अपने पूर्व भवका बैर निकालनेके लिये मैं तुझे यहाँ छलकर लाया हूँ और बहुत कष्टके साथ तुझे जानसे मारूंगा, जिससे फिर कभी तू ऐसा अनर्थ न करे। पर यदि तू एक काम करे तो बच भी सकता है। वह यह कि तू अपने मुहँसे पहले तो यह कहदे कि संसारमें जिनधर्म ही नहीं हैं और जो कुछ है वह अन्यधर्म है। इसके सिवा पंचनमस्कार मंत्रको जलमें लिखकर उसे अपने पाँवोंसे मिटादे, तब मैं तुझे छोड़ सकता हूं। मिथ्यादृष्टि ब्रह्मदत्तने उसके बहकानेमें आकर वही किया जैसा उसे देवने कहा

था। उसका व्यन्तरके कहे अनुसार करना था कि उसने चक्रवर्त्तीको उसी समय मारकर समुद्रमें फैंक दिया। अपना वैर उसने निकाल लिया। चक्रवर्त्ती मरकर मिथ्यात्वके उदयसे सातवें नरक गया। सच है–मिथ्यात्व अनन्त दुःखों-का देनेवाला है। जिसका जिनधर्मपर विश्वास नहीं, क्या उसे इस अनन्त दुःखमय संसारमें कभी सुख हुआ है? नहीं। मिथ्यात्वके समान संसारमें और कोई इतना निन्द्य नहीं है। उसीसे तो चक्रवर्त्ती ब्रह्मदत्त सातवें नरक गया। इसलिये आत्माहितके चाहनेवाले पुरुषोंको दूरसे ही मि-थ्यात्व छोड़कर स्वर्ग-मोक्षकी प्राप्तिका कारण सम्यक्त्व ग्रहण करना उचित है।

संसारमें सच्चे देव अरहन्त भगवान् हैं, जो क्षुधा, तृषा, जन्म, मरण, रोग, शोक, चिन्ता, भय, आदि दोषोंसे और धन धान्य, दासी दास, सोना, चांदी आदि दश प्रकारके परिग्र-हसे रहित हैं, जो इन्द्र, चक्रवर्त्ती, देव, विद्याधरों द्वारा वन्द्य हैं, जिनके वचन जीव मात्रको सुख देनेवाले और भवसमु-द्रसे तिरनेके लिये जहाज समान हैं, उन अर्हन्त भगवान्का आप पवित्र भावोंसे सदा ध्यान किया कीजिये कि जिससे वे आपके लिये कल्याण पथके प्रदर्शक हों।

१९. श्रेणिक राजाकी कथा।

केवल ज्ञानरूपी नेत्रके द्वारा समस्त संसारके पदार्थोंके देखने जाननेवाले और जगत्पूज्य श्रीजिनभगवान्को नमस्कार कर मैं राजा श्रेणिककी कथा लिखता हूं, जिसके पढ़नेसे सर्वसाधारणका हित होगा।

श्रेणिक मगध देशके अधीश्वर थे। मगधकी प्रधान राजधानी राजगृह थी। श्रेणिक कई विषयोंके सिवा राजनीतिके बहुत अच्छे विद्वान् थे। उनकी महारानी चेलनी बड़ी धर्मात्मा जिनभगवान्की भक्त और सम्यग्दर्शनसे विभूषित थी।

एक दिन श्रेणिकने उससे कहा-देखो, संसारमें वैष्णव धर्मकी बहुत प्रतिष्ठा है और वह जैसा सुख देनेवाला है वैसा और धर्म नहीं। इसलिये तुम्हें भी उसी धर्मका आश्रय स्वीकार करना उचित है।

सुनकर चेलनी देवी, जिसे कि जिनधर्मपर अगाध विश्वास है, बड़े विनयसे बोली—नाथ, अच्छी बात है, समय पाकर मैं इस विषयकी परीक्षा करूंगी।

इसके कुछ दिनों बाद चेलनीने कुछ भागवत साधुओंका अपने यहाँ निमंत्रण किया और बड़े गौरवके साथ अपने यहाँ उन्हें बुलाया। वहाँ आकर अपना ढोंग दिखलानेके लिये वे कपट मायाचारसे ईश्वराराधन करनेको

बैठे। उस समय चेलनीने उनसे पूछा, आप लोग क्या करते हैं? उत्तरमें उन्होंने कहा—देवी, हम लोग मलमूत्रादि अपवित्र वस्तुओंसे भरे हुए शरीरको छोड़कर अपने आत्माको विष्णु अवस्थामें प्राप्तकर स्वानुभवजन्य सुख भोगते हैं।

सुनकर देवी चेलनीने उस मंडपमें, जिसमें सब साधु ध्यान करनेको बैठे थे, आग लगवा दी। आग लगते ही वे सब कव्वेकी तरह भाग खड़े हुए। यह देख कर श्रेणिकने बड़े क्रोधके साथ चेलनीसे कहा—आज तुमने साधुओंके साथ बड़ा अनर्थ किया। यदि तुम्हारी उनपर भक्ति नहीं थी, तो क्या उसका यह अर्थ है कि उन्हें जानसे ही मार डालना? बतलाओ तो उन्होंने तुम्हारा क्या अपराध किया जिससे तुम उनके जीवनकी ही प्यासी हो उठी?

रानी बोली-नाथ, मैंने तो कोई बुरा काम नहीं किया और जो किया वह उन्हींके कहे अनुसार उनके लिये सुखका कारण था। मैंने तो केवल परोपकार बुद्धिसे ऐसा किया था। जब वे लोग ध्यान करनेको बैठे तब मैंने उनसे पूछा कि आप लोग क्या करते हैं? तब उन्होंने मुझे कहा था कि हम अपवित्र शरीर छोड़कर उत्तम सुखमय विष्णुपद प्राप्त करते हैं। तब मैंने सोचा कि ओहो, ये जब शरीर छोड़कर विष्णुपद प्राप्त करते हैं तब तो बहुत ही अच्छा है और इससे उत्तम यह होगा कि यदि ये निरन्तर विष्णु बने रहें। संसारमें बार बार आना और जाना यह इनके पीछे पचड़ा क्यों? यह विचार कर वे निरन्तर विष्णुपदमें रहकर सुखभोग करें,

इस परोपकार बुद्धिसे मैंने मंडपमें आग लगवा दी थी। आप ही अब विचार कर बतलाइये कि इसमें मैंने सिवा परोपकारके कौन बुरा काम किया? और सुनिये मेरे बचनोंपर आपको विश्वास हो, इसलिये एक कथा भी आपको सुनाये देती हूं।

"जिस समयकी यह कथा है, उस समय वत्सदेशकी राजधानी कोशाम्बीके राजा प्रजापाल थे। वे अपना राज्य-शासन नीतिके साथ करते हुए सुखसे समय विताते थे। कोशाम्बीमें दो सेठ रहते थे। उनके नाम थे सागरदत्त और समुद्रदत्त। दोनों सेठोंमें परस्पर बहुत प्रेम था। उनका प्रेम उन्होंने सदा ऐसा ही दृढ़ बना रहे, इसलिये परस्परमें एक शर्त की। वह यह कि—"मेरे यदि पुत्री हुई तो मैं उसका ब्याह तुम्हारे लड़केके साथ कर दूंगा और इसी तरह मेरे पुत्र हुआ तो तुम्हें अपनी लड़कीका ब्याह उसके साथ कर देना पड़ेगा।"

दोनोंने उक्त शर्त स्वीकार की। इसके कुछ दिनों बाद सागरदत्तके घर पुत्रजन्म हुआ। उसका नाम वसुमित्र हुआ। पर उसमें एक बड़े भारी आश्चर्यकी बात थी। वह यह कि—वसुमित्र न जाने किस कर्मके उदयसे रातके समय तो एक दिव्य मनुष्य होकर रहता और दिनमें एक भयानक सर्प।

उधर समुद्रदत्तके घर कन्या हुई। उसका नाम रक्खा गया नागदत्ता। वह बड़ी खूब सूरत सुन्दरी थी। उसके पिताने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार उसका ब्याह वसुमित्रके साथ कर दिया। सच है—

नैव वाचा चलत्वं स्यात्सतां कष्टशतैरपि।
(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्—सत्पुरुष सैकड़ों कष्ट सह लेते हैं, पर अपनी प्रतिज्ञासे कभी विचलित नहीं होते। वसुमित्रका ब्याह हो गया। वह अब प्रतिदिन दिनमें तो सर्प बनकर एक पिटारेमें रहता और रातमें एक दिव्य पुरुष होकर अपनी प्रियाके साथ सुखोपभोग करता। सचमुच संसारकी विचित्र ही स्थिति होती है। इसी तरह उसे कई दिन बीत गये। एक दिन नागदत्ताकी माता अपनी पुत्रीको एक ओर तो यौवन अवस्थामें पदार्पण करती हुई और दूसरी ओर उसके विपरीत भाग्यको देखकर दुखी होकर बोली–हाय! दैवकी कैसी विटम्बना है, जो कहाँ तो देवबाला सरीखी सुन्दरी मेरी पुत्री और कैसा उसका अभाग्य जो उसे पति मिला एक भयंकर सर्प? उसकी दुःख भरी आहको नागदत्ताने सुन लिया। वह दौड़ी आकर अपनी मातासे बोली–माता, इसके लिये आप क्यों दुःख करती हैं? मेरा जब भाग्य ही ऐसा था, तब उसके लिये दुःख करना व्यर्थ है। और अभी मुझे विश्वास है कि मेरे स्वामीका इस दशासे उद्धार हो सकता है। इसके बाद नागदत्ताने अपनी माताको स्वामीके उद्धार सम्बन्धकी बात समझा दी।

सदाके नियमानुसार आज भी रातके समय वसुमित्र अपना सर्पका शरीर छोड़कर मनुष्यरूपमें आया और अपने शय्या-भवनमें पहुँचा। इधर समुद्रदत्ता छुपी हुई आकर वसुदत्तके पिटारेको वहाँसे उठाले आई और उसे उसी समय उसने जला डाला। तबसे वसुमित्र मनुष्यरूपमें ही अपनी प्रियाके साथ सुख भोगता हुआ अपना समय आनन्दसे

बिताने लगा *।" नाथ! उसी तरह ये साधु भी निरन्तर विष्णुलोकमें रहकर सुख भोगें यह मेरी इच्छा थी; इसलिये मैंने वैसा किया था। महारानी चेलनी की कथा सुनकर श्रेणिक उत्तर तो कुछ नहीं दे सके, पर वे उसपर बहुत गुस्सा हुए और उपयुक्त समय न देखकर वे अपने क्रोधको उस समय दबा भी गये।

एक दिन श्रेणिक शिकारके लिये गये हुए थे। उन्होंने वनमें यशोधर मुनिराजको देखा। वे उस समय आतप योग धारण किये हुए थे। श्रेणिकने उन्हें शिकारके लिये विघ्नरूप समझकर मारनेका विचार किया और बड़े गुस्सेमें आकर अपने क्रूर शिकारी कुत्तोंको उनपर छोड़ दिया। कुत्ते बड़ी निर्दयताके साथ मुनिके मारनेको झपटे। पर मुनिराजकी तपश्चर्याके प्रभावसे वे उन्हें कुछ कष्ट न पहुँच सके। बल्कि उनकी प्रदक्षिणा देकर उनके पाँवोंके पास खड़े रह गये। यह देख श्रेणिकको और भी क्रोध आया। उन्होंने क्रोधान्ध होकर मुनिपर शर चलाना आरंभ किया। पर यह कैसा आश्चर्य जो शरोंके द्वारा उन्हें कुछ क्षति न पहुँच कर वे ऐसे जान पड़े मानो किसीने उनपर फूलोंकी वर्षा की है। सच बात यह है कि तपस्वियोंका प्रभाव कह कौन सकता है? श्रेणिकनें मुनिहिंसारूप तीव्र परिणामों द्वारा उस समय सातवें नरककी आयुका बन्ध किया, जिसकी स्थिति तेतीस सागरकी है।

* यह कथा जैन धर्मसे विरुद्ध है। जान पड़ता है चेलिनीरानीने अपनी बातको पुष्ट करनेके लिये अन्यमतके ग्रन्थोंका प्रमाण देकर इसे उद्धृत किया है।

इन सब अलौकिक घटनाओंको देखकर श्रेणिकका पत्थरके समान कठोर हृदय फूलसा कोमल हो गया। उनके हृदयकी सब दुष्टता निकलकर उसमें मुनिके प्रति पूज्यभाव पैदा हो गया। वे मुनिराजके पास गये और भक्तिसे उन्होंने मुनिके चरणोंको नमस्कार किया। यशोधर मुनिराजने श्रेणिकके हितके लिये उपयुक्त समय समझकर उन्हें अहिंसामयी पवित्र जिनशासनका उपदेश दिया। उसका श्रेणिकके हृदयपर बहुत ही असर पड़ा। उनके परिणामोंमें विलक्षण परिवर्तन हुआ। उन्हें अपने कृतकर्मपर अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ। मुनिराजके उपदेशानुसार उन्होंने सम्यक्त्व ग्रहण किया। उसके प्रभावसे, उन्होने जो सातवें नर्ककी आयुका बन्ध किया था, वह उसी समय घटकर पहले नरकका रह गया, जहांकी स्थिति चौरासी हजार वर्षोंकी है। ठीक है सम्यग्दर्शनके प्रभावसे भव्यपुरुषोंको क्या प्राप्त नहीं होता?

इसके बाद श्रेणिकने श्रीचित्रगुप्त मुनिराजके पास क्षयोपशमसम्यक्त्व प्राप्त किया और अन्तमें भगवान् वर्धमान स्वामीके द्वारा शुद्ध क्षायिकसम्यक्त्व, जो कि मोक्षका कारण है, प्राप्त कर पूज्य तीर्थंकर नाम प्रकृतिका बन्ध किया। श्रेणिक महाराज अब तीर्थंकर होकर निर्वाण लाभ करेंगे।

वे केवल ज्ञानरूपी प्रदीप श्रीजिनभगवान् संसारमें सदाकाल विद्यमान रहें, जो इंद्र, देव, विद्याधर, चक्रवर्त्ती द्वारा पूज्य हैं और जिनके पवित्र उपदेशके हृदयमें मनन और ग्रहण द्वारा मनुष्य निर्मल लक्ष्मीको प्राप्त करनेका पात्र होता है–मोक्षलाभ करता है।

२०–पद्मरथ राजाकी कथा।

इंद्र, धरणेन्द्र, विद्याधर, राजा, महाराजाओं द्वारा पूज्य जिनभगवान्‌के चरणोंको नमस्कार कर मैं पद्मरथ राजाकी कथा लिखता हूं, जो प्रसिद्ध जिनभक्त हुआ है।

मगध देशके अन्तर्गत एक मिथिला नामकी सुन्दर नगरी थी। उसके राजा थे पद्मरथ। वे बड़े बुद्धिमान् और राजनीतिके अच्छे जाननेवाले थे, उदार और परोपकारी थे। सुतरां वे खूब प्रसिद्ध थे।

एक दिन पद्मरथ शिकारके लिये वनमें गये हुए थे। उन्हें एक खरगोश दीख पड़ा। उन्होंने उसके पीछे अपना घोड़ा दौड़ाया। खरगोश उनकी नजर बाहर होकर न जाने कहाँ अदृश्य हो गया। पद्मरथ भाग्यसे कालगुफा नामकी एक गुहामें जा पहुँचे। वहाँ एक मुनिराज रहा करते थे। वे बड़े तपस्वी थे। उनका दिव्य देह तपके प्रभावसे अपूर्व तेज धारण कर रहा था। उनका नाम था सुधर्म। पद्मरथ रत्नत्रय विभूषित और परम शान्त मुनिराजके पवित्र दर्शनसे बहुत शान्त हुए। जैसे तपा हुआ लोहपिंड जलसे शान्त हो जाता है। वे उसी समय घोड़ेपरसे उतर पड़े और मुनिराजको भक्तिपूर्वक नमस्कार कर उन्होंने उनके द्वारा धर्मका पवित्र उपदेश सुना। उपदेश उन्हें बहुत रुचा। उन्होंने सम्यक्त्व पूर्वक अणुव्रत ग्रहण किये। इसके बाद उन्होंने मुनिराजसे पूछा–हे प्रभो हे! संसारके आधार! कहिये तो

इस समय जिनधर्मरूप समुद्रको बढ़ानेवाले आप सरीखे गुणज्ञ चन्द्रमा और भी कोई है या नहीं? और है तो कहाँ है? हे करुणासागर! मेरे इस सन्देहको मिटाइये।

उत्तरमें मुनिराजने कहा–राजन्! चम्पानगरीमें इस समय बारवें तीर्थंकर भगवान् वासुपूज्य विराजमान हैं। उनके भौतिक शरीरके तेजकी समानता तो अनेक सूर्य मिलकर भी नहीं कर सकते और उनके अनन्त ज्ञानादि गुणोंको देखते हुए मुझमें और उनमें राई और सुमेरुका अन्तर है। भगवान् वासुपूज्यका समाचार सुनकर पद्मरथको उनके दर्शनोंकी अत्यन्त उत्कण्ठा हुई। वे उसी समय फिर वहाँसे बड़े वैभवके साथ भगवान्के दर्शनोंके लिये चले। यह हाल धन्वन्तरी और विश्वानुलोम नामके दो देवोंको जान पड़ा। सो वे पद्मरथकी परीक्षाके लिये मध्यलोकमें आये। उन्होंने पद्मरथकी भक्तिकी दृढ़ता देखनेके लिये रास्तेमें उनपर उपद्रव करना शुरू किया। पहले उन्होंने उन्हें एक भयंकर कालसर्प दिखलाया, इसके बाद राज्यछत्रका भंग, अग्निका लगना, प्रचण्ड वायुद्वारा पर्वत और पत्थरोंका गिरना, असमयमें भयंकर जलवर्षा और खूब कीचड़ मय मार्ग और उसमें फँसा हाथी आदि दिखलाया। यह उपद्रव देखकर साथके सब लोग भयके मारे अधमरे हो गये। मंत्रियोंने यात्रा अमंगलमय बतलाकर पद्मरथसे पीछे लौट चलनेके लिये आग्रह किया। परन्तु पद्मरथने किसीकी बात नहीं सुनी और बड़ी प्रसन्नताके साथ "नमः श्रीवासुपूज्याय" कहकर अपना हाथी आगे

बढ़ाया। पद्मरथकी इस प्रकार अचल भक्ति देखकर दोनों देवोंने उनकी बहुत बहुत प्रशंसा की। इसके बाद वे पद्मरथको सब रोगोंको नष्ट करनेवाला एक दिव्य हार और एक बहुत सुन्दर वीणा, जिसकी आवाज एक योजन पर्यन्त सुनाई पड़ती है, देकर अपने स्थान चले गये। ठीक कहा है—जिनके हृदयमें जिनभगवान्‌की भक्ति सदा विद्यमान रहती है, उनके सब काम सिद्ध हों, इसमें कोई सन्देह नहीं।

पद्मरथने चम्पानगरीमें पहुँच कर समवसरणमें विराजे हुए, आठ प्रातिहार्योंसे विभूषित, देव, विद्याधर, राजा, महाराजाओं द्वारा पूज्य, केवलज्ञान द्वारा संसारके सब पदार्थोंको जानकर धर्मका उपदेश करते हुए और अनन्त जन्मोंमें बाँधे हुए मिथ्यात्वको नष्ट करनेवाले भगवान् वासुपूज्यके पवित्र दर्शन किये, उनकी पूजा की, स्तुति की और उपदेश सुना। भगवान्‌के उपदेशका उनके हृदयपर बहुत प्रभाव पड़ा। वे उसी समय जिनदीक्षा लेकर तपस्वी हो गये। प्रवृजित होते ही उनके परिणाम इतने विशुद्ध हुए कि उन्हें अवधि और मनःपर्ययज्ञान हो गया। भगवान् वासुपूज्यके वे गणधर हुए। इसलिये भव्य पुरुषोंको उचित है कि वे मिथ्यात्व छोड़कर स्वर्ग-मोक्षकी देनेवाली जिनभगवान्‌की भक्ति निरन्तर पवित्र भावोंके साथ करें और जिस प्रकार पद्मरथ सच्चा जिनभक्त हुआ उसी प्रकार वे भी हों।

जिनभक्ति सब प्रकारका सांसारिक सुख देती है और परम्परा मोक्षकी प्राप्तिका कारण है, जो केवलज्ञान द्वारा संसारके प्रकाशक हैं, और सत्पुरुषों द्वारा पूज्य हैं, वे भग-

वान् वासुपूज्य सारे संसारको मोक्ष सुख प्रदान करें-कर्मोंके उदयसे घोर दुःख सहते हुए जीवोंका उद्धार करें।

२१-पंच नमस्कारमंत्र-माहात्म्य कथा।

मोक्षसुख प्रदान करनेवाले श्रीअर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओंको नमस्कार कर पंच नमस्कारमंत्रकी आराधना द्वारा फल प्राप्त करनेवाले सुदर्शनकी कथा लिखी जाती है।

अंगदेशकी राजधानी चम्पानगरीमें गजवाहन नामके एक राजा हो चुके हैं। वे बहुत खूबसूरत और साथ ही बड़े भारी शूरवीर थे। अपने तेजसे शत्रुओंपर विजय प्राप्तकर सारे राज्यको उन्होंने निष्कण्टक बना लिया था। वहीं वृषभदत्त नामके एक सेठ रहा करते थे। उनकी गृहिणीका नाम था अर्हद्दासी। अपनी प्रियापर सेठका बहुत प्रेम था। वह भी सच्ची पतिभक्तिपरायणा थी, सुशीला थी, सती थी, वह सदा जिनभक्तिमें तत्पर रहा करती थी।

वृषभदत्तके यहाँ एक गुवाल नौकर था। एक दिन वह वनसे अपने घरपर आ रहा था। समय शीतकालका था। जाड़ा खूब पड़ रहा था। उस समय रास्तेमें उसे एक ऋद्धिधारी मुनिराजके दर्शन हुए, जो कि एक शिलापर ध्यान लगाये बैठे हुए थे। उन्हें देखकर गुवालेको बड़ी दया आई।

वह यह विचार कर, कि अहा! इनके पास कुछ वस्त्र नहीं हैं और जाड़ा इतने जोरका पड़ रहा है, तब भी ये इसी शिलापर बैठे हुए ही रात बिता डालेंगे, अपने घर गया और आधी रातके समय अपनी स्त्रीको साथ लिये पीछा मुनिराजके पास आया। मुनिराजको जिस अवस्थामें बैठे हुए वह देख गया था, वे अब भी उसी तरह ध्यानस्थ बैठे हुए थे। उनका सारा शरीर ओससे भींग रहा था। उनकी यह हालत देखकर दयाबुद्धिसे उसने मुनिराजके शरीरपरसे ओसको साफ किया और सारी रात वह उनके पाँव दाबता रहा—सब तरह उनकी वैयावृत्य करता रहा। सबेरा होते ही मुनिराजका ध्यान पूरा हुआ। उन्होंने आँख उठाकर देखा तो गुवालेको पास ही बैठा पाया। मुनिराजने गुवालेको निकटभव्य समझकर पंच नमस्कारमंत्रका उपदेश किया, जो कि स्वर्ग-मोक्षकी प्राप्तिका कारण है। इसके बाद मुनिराज भी पंचनमस्कारमंत्रका उच्चारण कर आकाशमें विहार कर गये।

गुवालेकी धीरे धीरे मंत्रपर बहुत श्रद्धा हो गई। वह किसी भी कामको जब करने लगता तो पहले ही नमस्कारमंत्रका स्मरण कर लिया करता था। एक दिन जब गुवाला मंत्र पढ़ रहा था, तब उसे उसके सेठने सुन लिया। वे मुस्कुराकर बोले—क्योंरे, तूने यह मंत्र कहाँसे उड़ाया? गुवालेने पहलेकी सब बात अपने स्वामीसे कहदी। सेठने प्रसन्न होकर गुवालेसे कहा—भाई, क्या हुआ यदि तू छोटे भी कुलमें उत्पन्न हुआ? पर आज तू कृतार्थ हुआ, जो तुझे त्रिलोकपूज्य

मुनिराजके दर्शन हुए। सच बात है सत्पुरुष धर्मके बड़े प्रेमी हुआ करते हैं।

एक दिन गुवाला भैंसें चरानेके लिये जंगलमें गया। समय वर्षाका था। नदी नाले सब पूर थे। उसकी भैंसें चरनेके लिये नदी पार जाने लगीं। सो उन्हें लौटा लानेकी इच्छासे गुवाला भी उनके पीछे ही नदीमें कूद पड़ा। जहाँ वह कूदा वहीं एक नुकीला लकड़ा गड़ा हुआ था। सो उसके कूदते ही लकड़ेकी नोख उसके पेटमें जा घुसी। उससे उसका पेट फट गया। वह उसी समय मर गया। वह जिस समय नदीमें कूदा था, उस समय सदाके नियमानुसार पंचनमस्कारमंत्रका उच्चारण कर कूदा था। वह मरकर मंत्रके प्रभावसे वृषभदत्तके यहाँ पुत्र हुआ। वह जाता तो कहीं स्वर्गमें, पर उसने वृषभदत्तके यहीं उत्पन्न होनेका निदान कर लिया था, इसलिये निदान उसकी ऊँची गतिका बाधक बन गया। उसका नाम रक्खा गया सुदर्शन। सुदर्शन बड़ा सुन्दर था। उसका जन्म मातापिताके लिये खूब उत्कर्षका कारण हुआ। पहलेसे कई गुणी सम्पत्ति उनके पास बढ़ गई। सच है–पुण्यवानोंके लिये कहीं भी कुछ कमी नहीं रहती।

वहीं एक सागरदत्त सेठ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम था सागरसेना। उसके एक पुत्री थी। उसका नाम मनोरमा था। वह बहुत सुन्दरी थी। देवकन्यायें भी उसकी रूपमाधुरीको देखकर शर्मा जाती थी। उसका ब्याह सुदर्शनके साथ हुआ। दोनों दम्पति सुखसे रहने लगे।

एक दिन वृषभदत्त समाधिगुप्त मुनिराजके दर्शन करनेके लिये गये। वहाँ उन्होंने मुनिराज द्वारा धर्मोपदेश सुना। उपदेश उन्हें बहुत रुचा और उसका प्रभाव भी उनपर खूब पड़ा। संसारकी दशा देखकर उन्हें बहुत वैराग्य हुआ। वे घरका कारोबार सुदर्शनके सुपुर्दकर समाधिगुप्त मुनिराजके पास दीक्षा लेकर तपस्वी बन गये।

पिताके प्रव्रजित हो जानेपर सुदर्शनने भी खूब प्रतिष्ठा सम्पादन की। राजदरबारमें भी उसकी पिताके जैसी ही पूछताछ होने लगी। वह सर्व साधारणमें खूब प्रसिद्ध हो गया। सुदर्शन न केवल लौकिक कामोंमें ही प्रेम करता था; किन्तु वह उस समय एक बहुत धार्मिक पुरुष गिना जाता था। वह सदा जिनभगवान्की भक्तिमें तत्पर रहता, श्रावकके व्रतोंका श्रद्धाके साथ पालन करता, दान देता, पूजन स्वाध्याय करता। यह सब होनेपर भी ब्रह्मचर्यमें वह बहुत दृढ़ था।

एक दिन मगधाधीश्वर गजवाहनके साथ सुदर्शन वनविहारके लिये गया। राजाके साथ राजमहिषी भी थी। सुदर्शन सुन्दर तो था ही, सो उसे देखकर राजरानी कामके पाशमें बुरी तरह फँसी। उसने अपनी एक परिचारिकाको बुलाकर पूछा—क्यों तू जानती है कि महाराजके साथ आगन्तुक कौन हैं? और ये कहाँ रहते हैं?

परिचारिकाने कहा—देवी, आप नहीं जानतीं, ये तो अपने प्रसिद्ध राजश्रेष्ठी सुदर्शन हैं।

राजमहिषीने कहा–हाँ! तब तो ये अपनी राजधानीके भूषण हैं। अरी, देख तो इनका रूप कितना सुन्दर, कितना मनको अपनी ओर खींचनेवाला है? मैंने तो आजतक ऐसा सुन्दर नररत्न नहीं देखा। मैं तो कहती हूं, इनका रूप स्वर्गके देवोंसे भी कहीं बढ़कर है। तूने भी कभी ऐसा सुन्दर पुरुष देखा है।

वह बोली–महारानीजी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनके समान सुन्दर पुरुषरत्न तीन लोकमें भी नहीं मिलेगा।

राजमहिषीने उसे अपने अनुकूल देखकर कहा–हाँ तो तुझसे मुझे एक बात कहना है।

वह बोली–वह क्या, महारानीजी?

महारानी बोली–पर तू उसे करदे तो मैं कहूं।

वह बोली–देवी, भला, मैं तो आपकी गुलाम हूं, फिर मुझे आपकी आज्ञा पालन करनेमें क्यों इन्कार होगा। आप निःसंकोच होकर कहिये। जहाँतक मेरा बस चलेगा, मैं उसे पूरी करूंगी।

महारानीने कहा–देख, मेरा तेरेपर पूर्ण विश्वास है, इसलिये मैं अपने मनकी बात तुझे कहती हूं। देखना कहीं मुझे धोका न देना? तो सुन, मैं जिस सुदर्शनकी बाबत ऊपर तुझसे कह आई हूं, वह मेरे हृदयमें स्थान पा गया है। उसके बिना मुझे संसार निस्सार और सूना जान पड़ता है। तू यदि किसी प्रयत्नसे मुझे उससे मिलादे तब ही मेरा जीवन बच सकता है। अन्यथा समझ संसारमें मेरा जीवन कुछ ही दिनोंके लिये है।

वह महारानीकी बात सुनकर पहले तो कुछ विस्मित-सी हुई, पर थी तो आखिर पैसेकी गुलाम ही न? उसने महारानीकी आशा पूरी कर देनेके बदलेमें अपनेको आशातीत धनकी प्राप्ति होगी, इस विचारसे कहा—महारानीजी, बस यही बात है? इसीके लिये आप इतनी निराश हुई जाती हैं? जबतक मेरे दममें दम है तबतक आपको निराश होनेका कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। मैं आपकी आशा अवश्य पूरी करूंगी। आप घबरावें नहीं। बहुत ठीक लिखा है—

असभ्य दुष्टनारीभिर्निन्दितं क्रियते न किम्।

[ब्रह्म नेमिदत्त.]

अर्थात्—असभ्य [illegible] स्त्रियाँ कौन बुरा काम नहीं [illegible]तीं? अभ[illegible] निधि [illegible] भी ऐसी ही स्त्रियोंमेंसे थी। [illegible]र वह क्यों इस काम[illegible] अपना हाथ न डालती? वह अब सुदर्शनको राजमहलमें [illegible] आनेके प्रयत्नमें लगी।

सुदर्शन एक धर्मात्मा श्रावक था। वह वैरागी था। संसारमें रहता तब भी सदा उससे छुटकारा पानेके उपायमें लगा रहता था। इसीलिये वह ध्यानका भी अभ्यास किया करता था। अष्टमी और चतुर्दशीकी रात्रिमें वह भयंकर श्मशानमें जाकर ध्यान करता। धायको सुदर्शनके ध्यानकी बात मालूम थी। उसने सुदर्शनको राजमहलमें लिवा लेजानेको एक षड्यंत्र रचा। एक दिन वह एक कुम्हारके पास गई और उससे मनुष्यके आकारका एक मिट्टीका पुतला बनवाया और उसे वस्त्र पहराकर वह राज-

महल लिवा ले चली। महलमें प्रवेश करते समय पहरेदारोंने उसे रोका और पूछा कि यह क्या है? वह उसका कुछ उत्तर न देकर आगे बढ़ी। पहरेदारोंने उसे नहीं जाने दिया। उसने गुस्सेका ढोंग बनाकर पुतलेको जमीनपर दे मारा। वह चूर चूर हो गया। इसके साथ ही उसने कड़क कर कहा– पापियो, दुष्टो, तुमने आज बड़ा अनर्थ किया है। तुम नहीं जानते कि महारानीके नरव्रत था, सो वे इस पुतलेकी पूजा करके भोजन करतीं। सो तुमने इसे फोड़ डाला है। अब वे कभी भोजन नहीं करेंगी। देखो, मैं अब महारानीसे जाकर तुम्हारी दुष्टताका हाल कहती हूं। फिर वे सबेरे ही तुम्हारी क्या गति करती हैं? तुम्हारी दुष्टता सुनकर ही वे तुम्हें जानसे मरवा डालेंगी। धायकी धरदे तो बेचारे पहरेदारोंके प्राण सूख गये। उन्हें काटो तो सी आपकी गुरे डरके वे थर थर काँपने लगे। वे उसके पाँवोंमें पड़कर अपने प्राण बचानेकी उससे भीख माँगने लगे। बड़ आर्जू मिन्नत करनेपर उसने उनसे कहा–तुम्हारी यह दशा देखकर मुझे दया आती है। खैर, मैं तुम्हारे बचानेका उपाय करूंगी। पर याद रखना अब तुम मुझे कोई काम करते समय मत छेड़ना। तुमने इस पुतलेको तो फोड़ डाला, बतलाओ अब महारानी आज अपना व्रत कैसे पूरा करेंगी? और न इसी समय और दूसरा पुतला ही बन सकता है। अस्तु। फिर भी मैं कुछ उपाय करती हूं। जहाँतक बन पड़ा वहाँतक तो दूसरा पुतला ही बनवाकर लाती हूं और यदि नहीं बन सका तो किसी जिन्दा ही पुरुषको मुझे थोड़ी देरके लिये लाना पड़ेगा। तुम्हें

सचेत करती हूं कि उस समय मैं किसीसे नहीं बोलूंगी, इस लिये तुम मुझसे कुछ कहना सुनना नहीं। बेचारे पहरेदारोंको तो अपनी जानकी पड़ी हुई थी, इसलिये उन्होंने हाथ जोड़कर कह दिया कि—अच्छा, हम लोग आपसे अब कुछ नहीं कहेंगे। आप अपना काम निडर होकर कीजिये।

इस प्रकार वह धूर्त्ता सब पहरेदारोंको अपने वशकर उसी समय श्मशानमें पहुँची। श्मशान जलती हुई चिताओंसे बड़ा भयंकर बन रहा था। उसी भयंकर श्मशानमें सुदर्शन कायोत्सर्ग ध्यान कर रहा था। महारानी अभयाकी परिचारिकाने उसे उठा लाकर महारानीके सुपुर्द कर दिया। अभया अपनी परिचारिकापर बहुत प्रसन्न हुई। सुदर्शनको प्राप्तकर उसके आनन्दका कुछ ठिकाना न रहा, मानो उसे अपनी मनमानी निधि मिल गई। वह कामसे तो अत्यन्त पीड़ित थी ही, उसने सुदर्शनसे बहुत अनुनय विनय किया, इसलिये कि वह उसकी इच्छा पूरी करके उसे सुखी करे—कामाग्निसे जलते हुए शरीरको आलिंगनसुधा प्रदान कर शीतल करे। पर सुदर्शनने उसकी एक भी बातका उत्तर नहीं दिया। यह देख रानीने उसके साथ अनेक प्रकारकी कुचेष्टायें करनी आरंभ की, जिससे वह विचलित हो जाय। पर तब भी रानीकी इच्छा पूरी नहीं हुई। सुदर्शन मेरुसा निश्चल और समुद्रसा गंभीर बना रहकर जिनभगवान्‌के चरणोंका ध्यान करने लगा। उसने प्रतिज्ञा की कि यदि मैं इस उपसर्गसे बच गया तो अब संसारमें न रहकर साधु हो जाऊँगा। प्रतिज्ञाकर वह काष्ठकी तरह निश्चल होकर ध्यान करने लगा। बहुत ठीक लिखा है—

सन्तः कष्टशतैश्चापि चारित्रान्न चलत्य हो।

[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्—सत्पुरुष सैकडों कष्ट सहलेते हैं, पर अपने व्रत-से कभी नहीं चलते। अनेक तरहका यत्न, अनेक कुचेष्टायें करनेपर भी जब रानी सुदर्शनको शीलशैलसे न गिरा सकी, उसे तिलभर भी विचलित नहीं कर सकी, तब शर्मिन्दा होकर उसने सुदर्शनको कष्ट देनेके लिये एक नया ही ढोंग रचा। उसने अपने शरीरको नखोंसे खूब खुजा डाला, अपने कपड़े फाड़ डाले, भूषण तोड़ फोड़ डाले और यह कहती हुई वह जोर जोरसे हिचकियाँ ले लेकर रोने लगी कि हाय! इस पापी दुराचारीने मेरी यह हालत करदी। मैंने तो इसे भाई समझकर अपने महल बुलाया था। मुझे क्या मालूम था कि यह इतना दुष्ट होगा? हाय! दौड़ो!! मुझे बचाओ! मेरी रक्षा करो! यह पापी मेरा सर्व नाश करना चाहता है। रानीके चिल्लाते ही बहुतसे नौकर चाकर दौड़े आये और सुदर्शनको बांधकर वे महाराजके पास लिवाले गये। सच है–

किं न कुर्वन्ति पापिन्यो निंद्यं दुष्टस्त्रियो भुवि।

(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्–पापिनी और दुष्ट स्त्रियाँ संसारमें कौन बुरा काम नहीं करतीं? अभया भी ऐसी ही स्त्रियोंमें एक थी। इसलिये उसने अपना चरित कर बतलाया। महाराजको जब यह हाल मालूम हुआ, तो उन्होंने क्रोधमें आकर सुद-

र्शनको मार डालनेका हुकुम दे दिया। महाराजकी आज्ञा होते ही जल्लाद लोग उसे श्मशानमें लिवा ले गये। उनमेंसे एकने अपनी तेज तलवार सुदर्शनके गलेपर दे मारी। पर यह हुआ क्या? जो सुदर्शनको उससे कुछ कष्ट नहीं पहुँचा और उलटा उसे वह तलवारका मारना ऐसा जान पड़ा, मानो किसीने उसपर फूलकी माला फैंकी हो। जान पड़ा यह सब उसके अखण्ड शीलव्रतका प्रभाव था। ऐसे कष्टके समय देवोंने आकर उसकी रक्षा की और स्तुति की कि सुदर्शन, तुम धन्य हो, तुम सच्चे जिनभक्त हो, सच्चे श्रावक हो, तुम्हारा ब्रह्मचर्य अखण्ड है, तुम्हारा हृदय सुमेरुसे भी कहीं अधिक निश्चल है। इस प्रकार प्रशंसा कर देवोंने उसपर सुगन्धित फूलोंकी वर्षा की और धर्मप्रेमके वश होकर उसकी पूजा की। सच है—

अहो पुण्यवतां पुंसां कष्टं चापि सुखायते।
तस्माद्भव्यैः प्रयत्नेन कार्यं पुण्यं जिनोदितम्॥

[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्-पुण्यवानोंके लिये दुःख भी सुखके रूपमें परिणित हो जाता है। इसलिये भव्य पुरुषोंको जिनभगवान्के कहे मार्गसे पुण्यकर्म करना चाहिये। भक्तिपूर्वक जिनभगवान्की पूजा करना, पात्रोंको दान देना, ब्रह्मचर्यका पालना, अणुव्रतोंका पालन करना, अनाथ, अपाहिज दुखियोंको सहायता देना, विद्यालय, पाठशाला खुलवाना, उनमें सहायता देना, विद्यार्थियोंको छात्र वृत्तियाँ देना, आदि पुण्यकर्म हैं। सुदर्शनके व्रतमाहात्म्यका हाल महाराजको मालूम हुआ। वे

उसी समय सुदर्शनके पास आये और उन्होंने उससे अपने अविचारके लिये क्षमा माँगी।

सुदर्शनको संसारकी इस लीलासे बड़ा वैराग्य हुआ। वह अपना कारोबार सब सुकान्त पुत्रको सौंपकर वनमें गया और त्रिलोकपूज्य विमलवाहन मुनिराजको नमस्कार कर उनके पास प्रव्रजित हो गया। मुनि होकर सुदर्शनने दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपश्चर्या द्वारा घातिया कर्मोंका नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया और अनेक भव्य पुरुषोंको कल्याणका मार्ग दिखलाकर तथा देवादि द्वारा पूज्य होकर अन्तमें वह निराबाध, अनन्त सुखमय मोक्षधाममें पहुँच गया।

इस प्रकार नमस्कार मंत्रका माहात्म्य जानकर भव्योंको उचित है कि वे प्रसन्नताके साथ उसपर विश्वास करें और प्रतिदिन उसकी आराधना करें।

धर्मात्माओंके नेत्ररूपी कुमुद-पुष्पोंके प्रफुल्लित करनेवाले –आनन्द देनेवाले, और श्रुतज्ञानके समुद्र, तथा मुनि, देव, द्याधर, चक्रवर्ती–आदि द्वारा पूज्य, केवलज्ञान रूपी न्नसे शोभायमान भगवान् जिनचन्द्र संसारमें सदा ल रहे।

२१–यममुनिकी कथा।

मैं देव, गुरु और जिनवाणीको नमस्कार कर यममुनिकी कथा लिखता हूं, जिन्होंने बहुत ही थोड़ा ज्ञान होनेपर भी अपनेको मुक्तिका पात्र बना लिया और अन्तमें वे मोक्ष गये। यह कथा सब सुखकी देनेवाली है।

उड्रदेशके अन्तर्गत एक धर्म नामका प्रसिद्ध और सुन्दर शहर है। उसके राजा थे यम। वे बुद्धिमान् और शास्त्रज्ञ थे। उनकी रानीका नाम धनवती था। धनवतीके एक पुत्र और एक पुत्री थी। उनके नाम थे गर्दभ और कोणिका। कोणिका बहुत सुन्दरी थी। धनवतीके अतिरिक्त राजाकी और भी कई रानियाँ थीं। उनके पुत्रोंकी संख्या पाँचसौ थी। ये पाँचसौ ही भाई धर्मात्मा थे और संसारसे उदासीन रहा करते थे। राजमंत्रीका नाम था दीर्घ। वह बहुत बुद्धिमान् और राजनीतिका अच्छा जानकार था। राजा इन सब साधनोंसे बहुत सुखी थे। और अपना राज्य भी बड़ी शान्तिसे करते थे।

एक दिन एक राज ज्योतिषीने कोणिकाके लक्षण वगैरह देखकर राजासे कहा–महाराज, राजकुमारी बड़ी भाग्यवती है। जो इसका पति होगा वह सारी पृथ्वीका स्वामी

होगा। यह सुनकर राजा बहुत खुश हुए और उस दिनसे वे उसकी बड़ी सावधानीसे रक्षा करने लगे, उन्होंने उसके लिये एक बहुत सुन्दर और भव्य तलग्रह बनवा दिया। वह इसलिये कि उसे और छोटा मोटा बलवान् राजा न देख पाये।

एक दिन उसकी राजधानीमें पाँचसौ मुनियोंका संघ आया। संघके आचार्य थे महामुनि सुधर्माचार्य। संसारका हित करना उनका एक मात्र व्रत था। बड़े आनन्द उत्साहके साथ शहरके सब लोग अनेक प्रकारका पूजनद्रव्य हाथोंमें लिये हुए आचार्यकी पूजाके लिये गये। उन्हें जाते हुए देख राजा भी अपने पाण्डित्यके अभिमानमें आकर मुनियोंकी निन्दा करते हुए उनके पास गये। मुनिनिन्दा और ज्ञानका अभिमान करनेसे उसी समय उनके कोई ऐसा कर्मोंका तीव्र उदय आया कि उनकी सब बुद्धि नष्ट हो गई। वे महामूर्ख बन गये। इसलिये जो उत्तम पुरुष हैं और ज्ञानी बनना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि वे कभी ज्ञानका गर्व न करें और ज्ञानहीका क्यों? किन्तु कुल, जाति, बल, ऋद्धि, ऐश्वर्य, शरीर, तप, पूजा, प्रतिष्ठा आदि किसीका भी गर्व–अभिमान न करें। इनका अभिमान करना बड़ा दुःखदायी है।

अपनी यह हालत देखकर राजाका होश ठिकाने आया। वे एक साथ ही दाँतरहित हाथीकी तरह गर्व रहित हो गये। उन्होंने अपने कृत कर्मोंका बहुत पश्चात्ताप किया और मुनिराजको भक्तिपूर्वक नमस्कार कर उनसे धर्मोपदेश सुना, जो कि जीव मात्रको सुखका देनेवाला है। धर्मो-

पदेशसे उन्हें बहुत शान्ति मिली। उसका असर भी उन-पर बहुत पड़ा। वे संसारसे विरक्त हो गये। वे उसी समय अपने गर्दभनामके पुत्रको राज्य सौंपकर अपने अन्य पाँचसौ पुत्रोंके साथ, जो कि बालपनहीसे वैरागी रहा करते थे, मुनि हो ये। मुनि हुए बाद उ सबने खूब शास्त्रोंका अभ्यास किया। आश्चर्य है कि व पाँचसौ ही भाई तो खूब विद्वान् हो गये, पर राजाको—यममुनिको पंच नमस्कार मंत्रका उच्चारण करना तक भी नहीं आया। अपनी यह दशा देखकर यममुनि बड़े शर्मिन्दा और दुःखी हुए। उन्होंने वहाँ रहना उचित न समझ अपने गुरुसे तीर्थ-यात्रा करनेकी आज्ञा ली और अकेले ही वहाँसे वे निकल पड़े। यममुनि अकेले ही यात्रा करते हुए एक दिन स्वच्छन्द होकर रास्तेमें जा रहे थे। जाते हुए उन्होंने एक रथ देखा। रथमें गधे जुते हुए थे और उसपर एक आद-मी बैठा हुआ था। गधे उसे एक हरे धानके खेतकी ओर लिये जा रहे थे। रास्तेमें मुनिको जाते हुए देखकर रथपर बैठे हुए मनुष्यने उन्हें पकड़ लिया और लगा वह उन्हें कष्ट पहुँचाने। मुनिने कुछ ज्ञानका क्षयोपशम होजानेसे एक खण्ड गाथा बनाकर पढ़ी। वह गाथा यह थी—

कट्टसि पुण णिक्खेवसि रे गद्दहा जवं पेच्छसि
खादिदुमिति।

अर्थात्—रे गधो, कष्ट उठाओगे, तो तुम जव भी खा सकोगे।

इसी तरह एक दिन कुछ बालक खेल रहे थे। वहीं को-णिका भी न जाने किसी तरह पहुँच गई। उसे देखकर सब

सुनकर वे दोनों बहुत प्रसन्न हुए। इसके बाद वे श्रावक-धर्म ग्रहणकर अपने स्थान लौट गये।

इधर यमधरमुनि भी अपनी चारित्रको दिन दूना निर्मल करने लगे, परिणामोंको वैराग्यकी ओर खूब लगाने लगे। उसके प्रभावसे थोड़े ही दिनोंमें उन्हें सातों ऋद्धियाँ प्राप्त हो गईं।

अहा! नाममात्र ज्ञान द्वारा भी यममुनिराज बड़े ज्ञानी हुए—उन्होंने अपने उन्नतिको अन्तिम सीढ़ीतक पहुँचा दिया। इसलिये भव्य पुरुषोंको संसारका हित करनेवाले जिन भगवान्के द्वारा उपदिष्ट सम्यग्ज्ञानकी सदा आराधना करना चाहिये।

देखो, यममुनिराजको बहुत थोड़ा ज्ञान था, पर उसकी उन्होंने बड़ी भक्ति और श्रद्धाके साथ आराधना की। उसके प्रभावसे वे संसारमें प्रसिद्ध हुए, मुनियोंमें प्रधान और मान्य हुए और सातों ऋद्धियाँ उन्हें प्राप्त हुईं। इसलिये सज्जन धर्मात्मा पुरुषोंको उचित है कि वे त्रिलोक-पूज्य जिनभगवान् द्वारा उपदिष्ट, सब सुखोंका देनेवाला और मोक्ष-प्राप्तिका कारण अत्यन्त पवित्र सम्यग्ज्ञान प्राप्त करनेका यत्न करें।

२३—दृढ़सूर्यकी कथा।

लोकालोकके प्रकाश करनेवाले—केवलज्ञान द्वारा संसारके सब पदार्थोंको जानकर उनका स्वरूप कहनेवाले और देवेन्द्रादि द्वारा पूज्य श्रीजिनभगवान्को नमस्कार कर मैं दृढ़सूर्यकी कथा लिखता हूं, जो कि जीवोंको विश्वासकी देनेवाली है।

उज्जयिनीके राजा जिस समय धनपाल थे, उस समयकी यह कथा है। धनपाल उस समयके राजाओंमें एक प्रसिद्ध राजा थे। उनकी महारानीका नाम धनवती था। एक दिन धनवती अपनी सखियोंके साथ वसन्तश्री देखनेको उपवनमें गई। उसके गलेमें एक बहुत कीमती रत्नोंका हार पड़ा हुआ था। उसे वहीं आई हुई एक वसन्तसेना नामकी वेश्याने देखा। उसे देखकर उसका मन उसकी प्राप्तिके लिये आकुलित हो उठा। उसके विना उसे अपना जीवन भी निष्फल जान पड़ने लगा। वह दुःखी होकर अपने घर लौटी। सारे दिन वह उदास रही। जब रातके समय उसका प्रेमी दृढ़सूर्य आया तब उसने उसे उदास देखकर पूछा—प्रिये, कहो! कहो! जल्दी कहो!! तुम आज अप्रसन्न कैसी? वसन्तसेनाने उसे अपने लिये इस प्रकार खेदित देखकर कहा—आज मैं उपवनमें गई हुई थी। वहाँ मैंने राजरानीके गलेमें एक हार देखा है। वह बहुत ही सुन्दर है।

उसे आप लाकर दें तब ही मेरा जीवन रह सकता है और तब ही आप मेरे सच्चे प्रेमी हो सकते हैं।

दृढ़सूर्य हारके लिये चला। वह सीधा राजमहल पहुँचा। भाग्यसे हार उसके हाथ पड़ गया। वह उसे लिये हुए राजमहलसे निकला। सच है—लोभी, लंपटी कौन काम नहीं करते? उसे निकलते ही पहरेदारोंने पकड़ लिया। सबेरा होनेपर वह राजसभामें पहुँचाया गया। राजाने उसे शूलीकी आज्ञा दी। वह शूलीपर चढ़ाया गया। इसी समय धनदत्त नामके एक सेठ दर्शन करनेको जिनमन्दिर जा रहे थे। दृढ़सूर्यने उनके चेहरे और चालढालसे उन्हें दयालु समझकर उनसे कहा—सेठजी, आप बड़े जिनभक्त और दयावान् हैं, इसलिये आपसे प्रार्थना है कि मैं इस समय बड़ा प्यासा हूं, सो आप कहींसे थोड़ासा जल लाकर मुझे पिलादें, तो आपका बड़ा उपकार हो। धनदत्तने उसकी भलाईकी इच्छासे कहा—भाई, मैं जल तो लाता हूं, पर इस बीचमें तुम्हें एक बात करनी होगी। वह यह कि—मैंने कोई बारह वर्षके कठिन परिश्रम द्वारा अपने गुरुमहाराजकी कृपासे एक विद्या सीख पाई है, सो मैं तुम्हारे लिये जल लेनेको जाते समय कदाचित् उसे भूल जाऊँ तो उससे मेरा सब श्रम व्यर्थ जायगा और मुझे बहुत हानि भी उठानी पड़ेगी, इसलिये उसे मैं तुम्हें सौंप जाता हूं। मैं जब जल लेकर आऊँ तब तुम मुझे वह पीछी लौटा देना। यह कहकर परोपकारी धनदत्त स्वर्ग-मोक्षक सुख देनेवाला पंच नमस्कारमंत्र उसे सिखाकर आप जल लेनेको चला गया। वह जल लेकर वापिस लौटा, इत-

नेमें दृढ़सूर्यकी जान निकल गई--वह मर गया। पर वह मरा नमस्कारमंत्रका ध्यान करता हुआ। उसे सेठके इस कहनेपर पूर्ण विश्वास होगया था कि वह विद्या महाफलके देनेवाली है। नमस्कारमंत्रके प्रभावसे वह सौधर्मस्वर्गमें जाकर देव हुआ। सच है--पंच नमस्कारमंत्रके प्रभावसे मनुष्यको क्या प्राप्त नहीं होता ?

इसी समय किसी एक दुष्टने राजासे धनदत्तकी शिकायत करदी कि, महाराज, धनदत्तने चोरके साथ कुछ गुप्त मंत्रणा की है, इसलिये उसके घरमें चोरीका धन होना चाहिये। नहीं तो एक चोरसे बातचीत करनेका उसे मतलब ? ऐसे दुष्टोंको और उनके दुराचारोंको धिक्कार है, जो व्यर्थ ही दूसरोंके प्राण लेनेके यत्नमें रहते हैं और परोपकार करनेवाले सज्जनोंको भी जो दुर्वचन कहते रहते हैं। राजा सुनते ही क्रोधके मारे आग बबूला हो गये। उन्होंने विना कुछ सोचे विचारे धनदत्तको बाँध ले आनेके लिये अपने नौकरोंको भेजा। इसी समय अवधिज्ञान द्वारा यह हाल सौधर्मेन्द्रको, जो कि दृढ़सूर्यका जीव था, मालूम हो गया। अपने उपकारीको कष्टमें फँसा देखकर वह उसी समय उज्जयिनीमें आया और स्वयं ही द्वारपाल बनकर उसके घरके दरवाजेपर पहरा देने लगा। जब राजनौकर धनदत्तको पकड़नेके लिये घरमें घुसने लगे तब देवने उन्हें रोका। पर जब वे हठ करने लगे और जबरन घरमें घुसने ही लगे तब देवने भी अपनी मायासे उन सबको एक क्षणभरमें धराशायी बना दिया। राजाने यह हाल सुनकर और भी

बहुतसे अपने अच्छे अच्छे शूरवीरोंको भेजा, देवने उन्हें भी देखते देखते पृथ्वीपर लौटा दिया। इससे राजाका क्रोध अत्यन्त बढ़ गया। तब वे स्वयं अपनी सेनाको लेकर धन-दत्तपर आ चढ़े। पर उस एक ही देवने उनकी सारी सेनाको तीन तेरह कर दिया। यह देखकर राजा भयके मारे भागने लगे। उन्हें भागते हुए देखकर देवने उनका पीछा किया और वह उनसे बोला-आप कहीं नहीं भाग सकते। आपके जीनेका एक मात्र उपाय है, वह यह कि आप धन-दत्तके आश्रय जायँ और उससे अपने प्राणोंकी भीख माँगे। विना ऐसा किये आपकी कुशल नहीं। सुनकर ही राजा धनदत्तके पास जिनमन्दिर गये और उन्होंने सेठसे प्रार्थना की कि–धनदत्त, मेरी रक्षा करो! मुझे बचाओ! मैं तुम्हारे शरणमें प्राप्त हूं। सेठने देवको पीछे ही आया हुआ देखकर कहा–तुम कौन हो? और क्यों हमारे महाराजको कष्ट दे रहे हो? देवने अपनी माया समेटी और सेठको प्रणाम करके कहा–हे जिनभक्त सेठ, मैं वही पापी चोरका जीव हूं, जिसे तुमने नमस्कारमंत्रका उपदेश दिया था। उसीके प्रभावसे मैं सौधर्मस्वर्गमें महर्द्धिक देव हुआ हूं। मैंने अवधिज्ञान द्वारा जब अपना पूर्वभवका हाल जाना तब मुझे ज्ञात हुआ कि इस समय मेरे उपकारीपर बड़ी आपत्ति आ रही है, इसलिये ऐसे समयमें अपना कर्तव्य पूरा करनेके लिये और आपकी रक्षाके लिए मैं आया हूं। यह सब माया मुझ सेवककी ही की हुई है। इस प्रकार सब हाल सेठसे कहकर और रत्नमय भूषणादिसे उसका यथोचित सत्कार कर देव स्वर्गमें चला

गया। जिनभक्त धनदत्तकी परोपकारबुद्धि और दूसरोंके दुःख दूर करनेकी कर्त्तव्यपरता देखकर राजा वगैरहने उसका खूब आदर सम्मान किया। सच है—"धार्मिकः कैर्न पूज्यते" अर्थात् धर्मात्माका कौन सत्कार नहीं करता?

राजा और प्रजाके लोग इस प्रकार नमस्कारमंत्रका प्रभाव देखकर बहुत खुश हुए और पवित्र जिनशासनके श्रद्धानी हुए। इसी तरह धर्मात्माओंको भी उचित है कि वे अपने आत्महितके लिये भक्तिपूर्वक जिनभगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्ममें अपनी बुद्धिको स्थिर करें।

२४ यमपाल चांडालकी कथा।
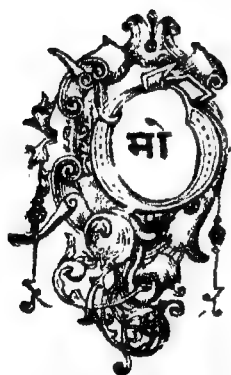
मोक्ष-सुखके देनेवाले श्रीजिनभगवान्को धर्मप्राप्तिके लिये नमस्कार कर मैं एक ऐसे चाण्डालकी कथा लिखता हूं, जिसकी कि देवों तकने पूजा की है।

काशीके राजा पाकशासनने एक समय अपनी प्रजाको महामारीसे पीड़ित देखकर ढिंढोरा पिटवा दिया कि "नन्दीश्वरपर्वमें आठ दिन पर्यन्त किसी जीवका वध न हो। इस राजाज्ञाका उल्लंघन करनेवाला प्राणदंडका भागी होगा।" वहीं एक सेठपुत्र रहता था। उसका नाम तो था धर्म, पर असलमें वह महा अधर्मी था। वह सात-व्यसनोंका सेवन करनेवाला था। उसे मांस खानेकी बुरी

आदत पड़ी हुई थी। एक दिन भी विना मांस खाये उससे नहीं रहा जाता था। एक दिन वह गुप्तरीतिसे राजाके बगीचेमें गया। वहाँ एक राजाका खास मेंढा बँधा करता था। उसने उसे मार डाला और उसके कच्चे ही मांसको खाकर वह उसकी हड्डियोंको एक गड्ढेमें गाड़ गया। सच है—

व्यसनेन युतो जीवः सत्यं पापपरो भवेत्।

[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्—व्यसनी मनुष्य नियमसे पापमें सदा तत्पर रहा करते हैं। दूसरे दिन जब राजाने बगीचेमें मेंढा नहीं देखा और उसके लिये बहुत खोज करनेपर भी जब उसका पता नहीं चला, तब उन्होंने उसका शोध लगानेको अपने बहुतसे गुप्तचर नियुक्त किये। एक गुप्तचर राजाके बागमें भी चला गया। वहांका बागमाली रातको सोते समय सेठपुत्रके द्वारा मेंढेके मारे जानेका हाल अपनी स्त्रीसे कह रहा था, उसे गुप्तचरने सुन लिया। सुनकर उसने महाराजसे जाकर सब हाल कह दिया। राजाको इससे सेठपुत्रपर बड़ा गुस्सा आया। उन्होंने कोतवालको बुलाकर आज्ञा की कि, पापी धर्मने एक तो जीवहिंसा की और दूसरे राजाज्ञाका उल्लंघन किया है, इसलिये उसे लेजाकर शूली चढ़ा दो। कोतवाल राजाज्ञाके अनुसार धर्मको शूलीके स्थानपर लिवा ले गया और नौकरोंको भेजकर उसने यमपाल चाण्डालको इसलिये बुलाया कि वह धर्मको शूलीपर चढ़ादे। क्योंकि यह काम उसीके सुपुर्द था। पर यमपालने एक दिन सर्वौषधिऋद्धिधारी मुनिराजके द्वारा जिनधर्मका

पवित्र उपदेश सुनकर, जो कि दोनों भवोंमें सुखका देने-वाला है, प्रतिज्ञा की थी कि "मैं चतुर्दशीके दिन कभी जीवहिंसा नहीं करूंगा।" इसलिये उसने राजनौकरोंको आते हुए देखकर अपने व्रतकी रक्षाके लिये अपनी स्त्रीसे कहा—प्रिये, किसीको मारनेके लिये मुझे बुलानेको राज-नौकर आ रहे हैं, सो तुम उनसे कह देना कि घरमें वे नहीं हैं, दूसरे ग्राम गये हुए हैं। इस प्रकार वह चाण्डाल अपनी प्रियाको समझाकर घरके एक कोनेमें छुप रहा। जब राज-नौकर उसके घरपर आये और उनसे चाण्डालप्रियाने अपने स्वामीके बाहर चले जानेका समाचार कहा, तब नौकरोंने बड़े खेदके साथ कहा—हाय! वह बड़ा अभागा है। दैवने उसे धोका दिया। आज ही तो एक सेठपुत्रके मारनेका मौका आया था और आज ही वह चल दिया! यदि वह आज सेठपुत्रको मारता तो उसे उसके सब वस्त्राभूषण प्राप्त होते। वस्त्राभूषणका नाम सुनते ही चाण्डालिनीके मुहँमें पानी भर आया। वह अपने लोभके सामने अपने स्वामीका हानि-लाभ कुछ नहीं सोच सकी। उसने रोनेका ढोंग बनाकर और यह कहते हुए, कि हाय वे आज ही गांवको चले गये, आती हुई लक्ष्मीको उन्होंने पाँवसे ठुकरादी, हाथके इशा-रेसे घरके भीतर छुपे हुए अपने स्वामीको बता दिया। सच है—

स्त्रीणां स्वभावतो माया किं पुनर्लोभकारणे।
प्रज्वलन्नेव दुर्वह्निः किं वाते वाति दारुणे॥

(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्–स्त्रियाँ एक तो वैसे ही मायाविनी होती हैं, और फिर लोभादिका कारण मिल जाय तब तो उनकी मायाका कहना ही क्या? जलता हुआ अग्नि वैसे ही भयानक होता है और यदि ऊपरसे खूब हवा चल रही हो तब फिर उसकी भयानकताका क्या पूछना?

यह देख राजनौकरोंने उसे घर बाहर निकाला। निकलते ही निर्भय होकर उसने कहा–आज चतुर्दशी है और मुझे आज अहिंसाव्रत है, इसलिये मैं किसी तरह–चाहे मेरे प्राण ही क्यों न जायें कभी हिंसा नहीं करूंगा। यह सुन नौकर लोग उसे राजाके पास लिवा ले गये। वहीं भी उसने वैसा ही कहा। ठीक है–

यस्य धर्मे सुविश्वासः क्वापि भीतिं न याति स
(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्–जिसका धर्मपर दृढ़ विश्वास है, उसे कहीं भी भय नहीं होता। राजा सेठपुत्रके अपराधके कारण उसपर अत्यन्त गुस्सा हो ही रहे थे कि एक चाण्डालकी निर्भयपनेकी बातोंने उन्हें और भी अधिक क्रोधी बना दिया। एक चाण्डालको राजाज्ञाका उल्लंघन करनेवाला और इतना अभिमानी देखकर उनके क्रोधका कुछ ठिकाना न रहा। उन्होंने उसी समय कोतवालको आज्ञा की कि जाओ, इन दोनोंको लेजाकर अपने मगर मच्छादि क्रूर जीवोंसे भरे हुए तालावमें डाल आओ। वही हुआ। दोनोंको कोतवालने तालावमें डलवा दिया। तालावमें डालते ही पापी धर्मको तो जलजीवोंने खा लिया। रहा यमपाल, सो वह अपने जीवनकी

कुछ परवा न कर अपने व्रतपालनमें निश्चल बना रहा। उसके उच्च भावों और व्रतके प्रभावसे देवोंने आकर उसकी रक्षा की। उन्होंने धर्मानुरागसे तालाबहीमें एक सिंहासनपर यमपाल चाण्डालको बैठाया, उसका अभिषेक किया और उसे खूब स्वर्गीय वस्त्राभूषण प्रदान किये—खूब उसका आदर सम्मान किया। जब राजा प्रजाको यह हाल सुन पड़ा, तो उन्होंने भी उस चाण्डालका बडे आनंद और हर्षके साथ सम्मान किया। उसे खूब धनदौलत दी। जिनधर्मका ऐसा अचिन्त्य प्रभाव देखकर और और भव्य पुरुषोंको उचित है कि वे स्वर्ग-मोक्षका सुख देनेवाले जिनधर्ममें अपनी बुद्धिको लगावें। स्वर्गके देवोंने भी एक अत्यन्त नीच चाण्डालका आदर किया, यह देखकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंको अपनी अपनी जातिका कभी अभिमान नहीं करना चाहिये। क्योंकि पूजा जातिकी नहीं होती, किन्तु गुणोंकी होती है।

यमपाल जातिका चाण्डाल था, पर उसके हृदयमें जिनधर्मकी पवित्र वासना थी, इसलिये देवोंने उसका सम्मान किया, उसे रत्नादिकोंके अलंकार प्रदान किये, अच्छे अच्छे वस्त्र दिये, उसपर फूलोंकी वर्षाकी। यह जिन-भगवान्के उपदिष्ट धर्मका प्रभाव है, वे ही जिनेन्द्रदेव, जिन्हें कि स्वर्गके देव भी पूजते हैं, मुझे मोक्षश्री प्रदान करें। यह मेरी उनसे प्रार्थना है।

जैनमित्रके १६ वें वर्षका उपहार।

श्रीवीतरागाय नमः।

आराधना-कथाकोश।

दूसरा भाग।

ब्रह्मचारी नेमिदत्तके संस्कृत आराधना-कथाकोशका
स्वतंत्र हिन्दी अनुवाद।

अनुवादक—

उदयलाल काशलीवाल।

प्रकाशक—

जैनमित्र कार्यालय, हीराबाग।

द्वि० बैसाख वीरनिर्वाण २४४१।

प्रथम संस्करण
प्रति २०००

मूल्य सादी जि० १।=)
कपड़ेकी जि० १॥)

Printed by G. N. Kulkarni, at the Karnatak Press,
No 7, Girgom Back Road
And
Published by Jain-Dharm-Bhushan Brahmachari Sital
Prasad Jain, Hirabag–Bombay.

कथाओंकी सूची।

आराधना-कथाकोश।

दूसरा भाग.

२५–मृगसेन धीवरकी कथा।

केवल ज्ञानरूपी नेत्रके धारक श्रीजिनभगवानको सभक्ति प्रणाम कर मैं एक अहिंसाव्रतका फल पाये हुए धीवरकी कथा लिखता हूं। वह सबके लिये सुखकी कारण होगी।

वह जिनभगवान्की वाणी संसारमें सदा काल रहे, जो सब सन्देहोंके मिटानेवाली और प्रीतिपूर्वक आराधना की हुई प्राणियोंके लिये सब सुखोंकी देनेवाली है।

वे ज्ञानके समुद्र मुनिराज निरन्तर मेरे हृदयमें विराजें, जो संसाररूपी अथाह समुद्रसे भव्य पुरुषोंको पार करनेके लिये पुलकी तरह हैं।

इस प्रकार पंचपरमेष्ठीका स्मरण और मंगल करके कर्मरूप शत्रुओंके नष्ट करनेको मैं अहिंसाव्रतकी पवित्र कथा लिखता हूं। जिस अहिंसाका नाम ही जीवोंको

जीवन देनेवाला है, तब उसका पालन करना तो निस्सन्देह सुखका कारण है। इसलिये दयालु पुरुषोंको मन, वचन और कायसे संकल्पी हिंसाका परित्याग करना उचित है। बहुतसे लोग अपने मृत पिता आदिकी शान्तिके लिये श्राद्ध वगैरहमें हिंसा करते हैं, बहुतसे देवताओंको सन्तुष्ट करनेके लये उन्हें जीवोंकी बलि देते हैं, और कितने महामारी आदिके मिट जानेके उद्देश्यसे जीवोंकी हिंसा करते हैं; परन्तु यह हिंसा सुखके लिये न होकर दुःखके लिये ही होती है। हिंसा द्वारा जो सुखकी कल्पना करते हैं, उनका वह अज्ञान है-पापकर्म कभी सुखका कारण हो ही नहीं सकता। सुख है अहिंसाव्रतके पालन करनेमें। आप सुनें, मैं अहिंसाव्रतके माहात्म्यकी एक कथा आपको सुनाता हूं, जो संसारका भ्रमण नष्ट कर सुखकी देनेवाली है।

सुरम्य और अपनी उत्तम सम्पत्तिसे स्वर्गको नीचा दिखानेवाले अवन्तिदेशके अन्तर्गत शिरीष नामका एक छोटासा पर बहुत सुन्दर गाँव था। उसमें एक मृगसेन नामका धीवर (भोई) रहा करता था। वह एक दिन अपने कन्धोंपर एक बड़ा भारी जाल लटकाये हुए जीवोंको मारनेके लिये सिप्रा नदीकी ओर जा रहा था। रास्तेमें उसे एक यशोधर नामके मुनिराजके दर्शन हुए। उस समय अनेक राजा महाराजा-आदि उनके पवित्र चरणोंकी पर्युपासना कर रहे थे, वे जैनसिद्धान्तके मूल रहस्य स्याद्वादके बहुत अच्छे विद्वान् थे, जीवमात्रका उद्धार करनेके लिये वे सदा कमर कसे तैयार रहते थे-जीवमात्रका उपकार करना ही एक

मात्र उनका व्रत था, धर्मोपदेशरूपी अमृतसे सारे संसारको उन्होंने सन्तुष्ट कर दिया था, अपने वचनरूपी प्रखर किर-णोंके तेजसे उन्होंने मिथ्यात्वरूपी गाढ़ान्धकारको नष्ट कर दिया था, उनके पास वस्त्र वगैरह कुछ नहीं थे, किन्तु सम्य-ग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी इन तीन मौलिक रत्नोंसे वे अवश्य अलंकृत थे। मुनिराजको देखते ही उसके कोई ऐसा पुण्यका उदय आया, जिससे उसके हृदयमें कोमलताने अपना अधिकार किया। वह कंधेपरसे जालको एक ओर रखकर मुनिराजके पास गया और बड़ी भक्तिके साथ उनके चरणोंको प्रणामकर उसने उनसे प्रार्थना की—हे स्वामी, हे कामरूपी हाथीके नष्ट करनेवाले केसरी, कोई ऐसा व्रत मुझे भी प्रदान कीजिये, जिससे मेरा जीवन सफल हो। यह कहकर और विनय-विनीत मस्तकसे वह मुनि-राजके पास बैठ गया। मुनिराजने उसकी ओर देखकर विचारा—यह महाहिंसक और आज एका एक ही इसके परिणाम कितने कोमल हो गये। सच है—

युक्तं स्यात्प्राणिनां भावि शुभाशुभनिभं मनः।

[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्—आगे जैसा अच्छा या बुरा होना होता है, जीवोंका मन भी उसी अनुसार पवित्र या अपवित्र बन जाता है। अर्थात् जिसका भविष्यत् अच्छा होता है, उसका मन पवित्र हो जाता है और जिसका बुरा होनहार होता है उसका मन भी बुरा हो जाता है। इसके बाद मुनिराजने अवधिज्ञान द्वारा मृगसेनकी आगेकी जिन्दगीपर जब विचार

किया, तब उन्हें जान पड़ा कि उसकी आयु अब बहुत थोड़ी रह गई है। यह देख उन्होंने करुणाबुद्धिसे उसे समझाया कि भव्य, मैं तुझे एक बात कहता हूं, तू उसे जबतक जीये तबतक पालन करना। वह यह कि, तेरी जालमें पहली बार जो जीव आवे उसे तू छोड़ देना और इस तरह जबतक तेरे हाथसे मरे हुए जीवका मांस तुझे प्राप्त न हो, तबतक तू पापसे निर्मुक्त ही रहेगा। इसके सिवा मैं तुझे एक मंत्र सिखाता हूं, जो जीवमात्रका हित करनेवाला है, उसका तू सुखमें दुःखमें, सरोग या निरोग अवस्थामें सदा ही ध्यान करते रहना। इस प्रकार मुनिराजके स्वर्ग-मोक्षके देनेवाले वचनोंको सुनकर मृगसेन बहुत प्रसन्न हुआ और उनके कहे अनुसार उसने व्रत भी स्वीकार किया। जो भक्तिके साथ अपने गुरुओंके वचनोंको मानते हैं—उनपर विश्वास लाते हैं, उन्हें सब सुख मिलता है और फिर वे परम्परा मोक्ष भी लाभ करते हैं।

व्रत लेकर मृगसेन नदीपर गया। उसने नदीमें जाल डाला। भाग्यसे एक बड़ा भारी मत्स्य उसके जालमें पड़ गया। उसे देखकर उसने विचारा—हाय! मैं निरन्तर ही तो महापाप करता हूं और आज गुरु महाराजने मुझे व्रत दिया है और भाग्यसे आज ही ऐसा बड़ा मच्छ जालमें आ फँसा। पर जो कुछ हो, मैं तो इसे कभी नहीं मारूंगा। यह सोचकर व्रती मृगसेनने अपने कपड़ेकी एक चिन्दी फाड़कर उस मत्स्यके कानमें इसलिये बाँधदी कि यदि वही मच्छ दूसरी वार जालमें आ जाय तो मालूम हो जाय। इसके बाद वह उसे बहुत दूर जाकर नदीमें छोड़ आया।

सच है–निर्विघ्न आमृत्यु पर्यन्त पालन किया हुआ व्रत सब प्रकारकी उत्तम सम्पत्तिका देनेवाला होता है।

वह फिर दूसरी ओर जाकर मछलियाँ पकड़ने लगा। पर भाग्यसे अबकी वार भी वही मच्छ उसकी जालमें आया। उसने उसे फिर छोड़ दिया। इसी तरह उसने जितनी वार जाल डाला उसमें वही वही मत्स्य आया, पर उससे वह खेदित न होकर अपने व्रतकी रक्षाके लिये खूब दृढ़ हो गया। उसे वहाँ इतना समय हो गया कि सूर्य भी अस्त हो चला, पर उसके जालमें उस मत्स्यको छोड़कर और कोई मत्स्य नहीं आया। अन्तमें मृगसेन निरुपाय होकर घरकी ओर लौट पड़ा। उसे अपने व्रतपर खूब श्रद्धा हो गई। वह रास्तेमें गुरु महाराज सिखाये मंत्रका स्मरण करता हुआ चला आया। जब वह अपने घरके दरबाजेपर पहुँचा और उसकी स्त्रीने उसें सूने हाथ देखा, तब वह कड़क कर उससे बोल उठी–रे मूर्ख! घरपर सूने हाथ तो चला आया, पर बतला तो सही कि खायगा क्या पत्थर? यह कहती हुई वह घरमें चली गई और भीतरसे उसने किवाड़ वन्द कर लिये। सच है-छोटे कुलशीलकी स्त्रियोंका अपने पतिपर प्रेम लाभ होते रहनेपर ही अधिक होता है। अपनी स्त्रीका इस प्रकार दुर्व्यवहार देखकर बेचारा मृगसेन किंकर्त्तव्यमूढ़ हो गया। उसकी कुछ नहीं चली। उसे घरके बाहर ही रह जाना पड़ा। वहीं एक पुराना बड़ा भारी लकड़ा पड़ा हुआ था। मृगसेन निरुपाय होकर पंच नमस्कारमंत्रका ध्यान करता हुआ उसी पर सो रहा।

रातके समय वह तो भरनींदमें सोया हुआ था कि उस लकड़ेमेंसे एक बड़े भारी भयंकर और जहरीले सर्पने निकल कर उसे काट खाया। वह उसी समय मर गया।

प्रातःकाल हुआ। उसकी स्त्रीने अपने पतिकी जब दुर्दशा देखी तो उसके दुःखका कुछ ठिकाना नहीं रहा। वह रोने लगी, छाती कूटने लगी और अपने नीच कर्मका बारबार पश्चात्ताप करने लगी। उसका दुःख शान्त न होकर बढ़ता ही गया। उसने यह प्रतिज्ञा करके, कि जो व्रत मेरे स्वामीने ग्रहण किया था वही मैं भी ग्रहण करती हूं, और निदान किया–“ ये ही मेरे अन्य जन्ममें भी स्वामी हों। ” इसके बाद वह साहस करके अपने स्वामीके साथ अग्निप्रवेश कर गई–अपघातसे उसने अपनी जान गवाँदी।

विशाला नामकी नगरीमें विश्वंभर राजा राज करते हैं। उनकी प्रियाका नाम विश्वगुणा है। वह राजाकी अत्यन्त प्यारी है। वहीं एक सेठ रहता है। उसका नाम गुणपाल है। उसकी स्त्रीका नाम धनश्री है। धनश्रीकी एक कन्या है। उसका नाम सुबन्धु है। वह सुन्दरी और गुणवती है। पुण्यके उदयसे मृगसेन धीवरका जीव धनश्रीके गर्भमें आया।

अपने नर्मभर्म नामक मंत्रीके अत्यन्त आग्रह और प्रार्थनासे राजाने गुणपालसे आग्रह किया कि वह मंत्रीपुत्र नर्मधर्मके साथ अपनी पुत्री सुबन्धुका ब्याह करदे। यह देखकर गुणपालको बड़ा दुःख हुआ। उसके साम्हने एक अत्यन्त कठिन समस्या उपस्थित हुई। उसने विचारा, कि पापी

राजा, मेरी प्यारी सुन्दरी सुबन्धुका, जो कि मेरे कुलरूपी बगीचेपर प्रकाश डालनेवाली है, नीच कर्म करनेवाले नर्म-धर्मके साथ ब्याह कर देनेको कहता है। उसने इस समय मुझे बड़े संकटमें डाल दिया। यदि सुबन्धुका नर्मधर्मके साथ ब्याह कर देता हूं, तो मेरे कुलका क्षय होता है और साथ ही अपयश होता है और यदि नहीं करता हूं, तो सर्वनाश होता है—राजा न जाने क्या करेगा? प्राण भी बचे या नहीं बचे? आखिर उसने निश्चय किया कि जो कुछ हो, पर मैं ऐसे नीचोंके हाथ तो कभी अपनी प्यारी पुत्रीका जीवन नहीं सौंपूंगा—उसकी जिन्दगी बरबाद नहीं करूंगा। इसके बाद वह अपने श्रीदत्त मित्रके पास गया और उससे सब हाल कह कर तथा उसकी सम्मतिसे अपनी गर्भिणी स्त्रीको उसीके घरपर छोड़कर आप रातके समय अपना कुछ धन और पुत्रीको साथ लिये वहांसे गुपचुप निकल खड़ा हुआ। वह धीरे धीरे कौशाम्बी आ पहुँचा। सच है—दुर्जनोंके सम्बन्धसे देश भी छोड़ देना पड़ता है।

श्रीदत्तके घरके पास ही एक श्रावक रहता था। एक दिन उसके यहाँ पवित्र चारित्रके धारक शिवगुप्त और मुनि-गुप्त नामके दो मुनिराज आहारके लिये आये। उन्हें श्रावक महाशयने अपने कल्याणकी इच्छासे विधिपूर्वक आहार दिया, जो कि सर्वोत्तम सम्पत्तिकी प्राप्तिका कारण है। मुनि-राजको आहार देकर उसने बहुत पुण्य उत्पन्न किया, जो कि दुःख दरिद्रता—आदिका नाश करनेवाला है। मुनिराज आहारके बाद जब वनमें जाने लगे तब उनमेंसे मुनिगुप्तकी

नजर धनश्रीपर पड़ी, जो कि श्रीदत्तके आँगनमें खड़ी हुई थी। उस समय उसकी दशा अच्छी नहीं थी। बेचारी पति और पुत्रीके वियोगसे दुःखी थी,पराये घरपर रह कर अनेक दुःखोंको सहती थी, आभूषण वगैरह सब उसने उतार डालकर शरीरको शोभाहीन बना डाला था, कुकविकी रचनाके समान उसका सारा शरीर रूक्ष और श्रीहीन हो रहा था और इन सब दुःखोंके होनेपर भी वह गर्भिणी थी, इससे और अधिक दुर्व्यवस्थामें वह फँसी थी। उसे इस हालतमें देखकर मुनिगुप्तने शिवगुप्त मुनिराजसे कहा—प्रभो, देखिये तो इस बेचारीकी कैसी दुर्दशा हो रही है—कैसे भयंकर कष्टका इसे साम्हना करना पड़ा है? जान पड़ता है इसके गर्भमें किसी अभागे जीवने जन्म लिया है, इसीसे इसकी यह दीन हीन दशा हो रही है। सुनकर जैनसिद्धान्तके विद्वान् और अवधिज्ञानी श्रीशिवगुप्त-मुनि बोले—मुनिगुप्त, तुम यह न समझो कि इसके गर्भमें कोई अभागा आया है; किन्तु इतना अवश्य है कि इस समय इसकी अवस्था ठीक नहीं है और यह दुःखी है; परंतु थोड़े ही दिनोंके बाद इसके दिन फिरेंगे और पुण्यका उदय आवेगा। इसके यहाँ जिसका जन्म होगा, वह बड़ा महात्मा, जिनधर्मका पूर्ण भक्त और राजसम्मानका पात्र होगा। होगा तो वह वैश्यवंशमें पर उसका ब्याह इन्हीं विश्वंभर राजाकी पुत्रीके साथ होगा—राजवंश भी उसकी सेवा करेगा।

मुनिराजकी भविष्य वाणी पापी श्रीदत्तने भी सुनी। वह था तो धनश्रीके पति गुणपालका मित्र, पर अपने एक जातीय बन्धुका उत्कर्ष होना उसे सह्य नहीं हुआ—उसका पापी हृदय

मत्सरताके द्वेषसे अधीर हो उठा। उसने बालकको जन्मते-ही मार डालनेका निश्चय किया। अबसे वह बाहर कहीं न जाकर बगुलेकी तरह सीधा साधा बनकर घरहीमें रहने लगा। सच है—

कारणेन विना वैरी दुर्जनः सुजनो भवेत्।

(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्—दुर्जन-शत्रु विना कारणके भी सुजन—मित्र बन जाया करते हैं। सो पहले तो श्रीदत्त बेचारी धनश्रीको कष्ट दिया करता था और अब उसके साथ बड़ी सज्जनताका वर्ताव करने लगा। धनश्री सेठानीने समय पाकर पुत्र प्रसव किया। वास्तवमें बालक बड़ा भाग्यशाली हुआ। वह उत्पन्न होते ही ऐसा तेजस्वी जान पड़ता था, मानो पुण्यसमूह हो। धनश्री पुत्रकी प्रसव वेदनासे मूर्छित हो गई। उसे अचेत देखकर पापी श्रीदत्तने अपने मनमें सोचा—बालक प्रज्वलित अग्निकी तरह तेजस्वी है, अपनेको आश्रय देनेवालेका ही क्षय करनेवाला होगा, इसलिये इसका जीता रहना ठीक नहीं। यह विचार कर उसने अपने घरकी बड़ी बूढ़ी स्त्रियों द्वारा यह प्रगट करवा कर, कि बालक मरा हुआ पैदा हुआ था, बालकको एक भंगीके हाथ सौंप दिया और उससे कह दिया कि इसे लेजाकर ही मार डालना। उचित तो यह था कि—

शत्रुजोपि न हन्तव्यो बालकः किं पुनर्वृथा।
हा कष्टं किं न कुर्वन्ति दुर्जनाः फणिनो यथा।

(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्—शत्रुका भी यदि बच्चा हो, तो उसे नहीं मारना चाहिये, तब दूसरोंके बच्चोंके सम्बन्धमें तो क्या कहें? परन्तु खेद

है कि सर्पके समान दुष्ट पुरुष कोई भी बुरा काम करते नहीं हिचकते। चाण्डाल बच्चेको एकान्तमें मारनेको ले गया, पर जब उसने उजेलेमें उसे देखा तो उसकी सुन्दरताको देखकर उसे भी दया आ गई–करुणासे उसका हृदय भर आया। सो वह उसे न: मारकर वहीं एक अच्छे स्थानपर रखकर अपने घर चला गया।

श्रीदत्तकी एक बहिन थी। उसका ब्याह इन्द्रदत्त सेठके साथ हुआ था। भाग्यसे उसके सन्तान नहीं हुई थी। बालकके पूर्व पुण्यके उदयसे इन्द्रदत्त माल बेचता हुआ इसी ओर आ निकला। जब वह गुवाल लोगोंके मोहल्लेमें आया तो उसने गुवालोंको परस्पर बातें करते हुए सुना कि "एक बहुत सुन्दर बालकको न जाने कोई अमुक स्थानकी सिलापर लेटा गया है, वह बहुत तेजस्वी है, उसके चारों ओर अपनी गायोंके बच्चे खेल रहे हैं और वह उनके बीचमें बड़े सुखसे खेल रहा है।" उनकी बातें सुनकर ही इन्द्रदत्त बालकके पास आया। वह एक दूसरे बाल सूर्यको देखकर बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसके कोई सन्तान तो थी ही नहीं, इसलिये बच्चेको उठाकर वह अपने घर ले आया और अपनी प्रियासे बोला–प्यारी राधा ? तुम्हें इसकी खबर भी नहीं कि तुम्हारे गूढ़गर्भसे अपने कुलका प्रकाशक पुत्र हुआ है ? और देखो वह यह है! इसे ले ओ और पालो। आज अपना जीवन कृतार्थ हुआ। यह कहकर उसने बालकको अपनी प्रियाकी गोदमें रख दिया। बालककी खुशीके उपलक्षमें इन्द्रदत्तने खूब उत्सव किया। खूब दान दिया। सच है—

प्राणिनां पूर्वपुण्यानां मापदासम्पदायते ।

(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्– पुण्यवानोंके लिये विपत्ति भी सम्पत्तिके रूपमें परिणत हो जाती है । पापी श्रीदत्तको यह हाल मालूम हो गया । सो वह इन्द्रदत्तके घर आया और मायाचारसे उसने अपने बहनोईसे कहा–देखोजी, हमारा भानजा बड़ा तेजस्वी है, बड़ा भाग्यवान् है, इसलिये उसे हम अपने घरपर ही रक्खेंगे । आप हमारी बहिनको भेज दीजिये । बेचारा इन्द्रदत्त उसके पापी हृदयकी बात नहीं जान पाया । इसलिये उसने अपने सीधे स्वभावसे अपनी प्रियाको पुत्र सहित उसके साथ कर दिया । बहुत ठीक लिखा है—

अहो दुष्टाशयः प्राणी चित्तेऽन्यद्वचनेऽन्यथा ।
कायेनान्यत्करोत्येव परेषां वचनं महत् ।

(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्–जिन लोगोंका हृदय दुष्ट होता है, उनके चित्तमें कुछ और रहता है, वचनोंसे वे कुछ और ही कहते हैं और शरीरसे कुछ और ही करते हैं । दूसरोंको ठगना–उन्हें धोखा देना ही एक मात्र ऐसे पुरुषोंका उद्देश्य रहता है । पापी श्रीदत्त भी एक ऐसा ही दुष्ट मनुष्य था । इसीलिये तो वह निरपराध बालकके खूनका प्यासा हो उठा । उसने पहलेकी तरह फिर भी उसे मार डालनेकी इच्छासे एक चाण्डालको बहुत कुछ लोभ देकर उसके हाथ सौंप दिया। चाण्डालने भी बालकको ले तो लिया पर जब उसने उसकी स्वर्गीय सुन्दरता देखी तो उसके हृदयमें भी दयादेवी

आ विराजी। उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि कुछ हो, मैं कभी इस बच्चेको न मारूंगा और इसे बचाऊंगा। वह अपना विचार श्रीदत्तसे नहीं कहकर बच्चेको लिवा ले गया। कारण श्रीदत्तकी पापवासना उसे कभी जिन्दा रहने न देगी; यह उसे उसकी बातचीतसे मालूम हो गया था। चाण्डाल बच्चेको एक नदीके किनारेपर लिवाले गया। वहीं एक सुन्दर गुहा थी, जिसके चारों ओर वृक्ष थे। वह बालकको उस गुहामें रखकर अपने घरपर लौट आया।

संध्याका समय था। गुवाललोग अपनी अपनी गायोंको घरपर लौटाये ला रहे थे। उनमेंसे कुछ गायें इस गुहाकी ओर आ गईं थीं, जहाँ गुणपालका पुत्र अपने पूर्वपुण्यके उदयसे रक्षा पा रहा था। धायके समान उन गायोंने आकर उस बच्चेको घेर लिया। मानो बच्चा प्रेमसे अपनी माकी ही गोदमें बैठा हो। बच्चेको देखकर गायोंके थनोंमेंसे दूध झरने लग गया। गुवाल लोग प्रसन्नमुख बच्चेको गायोंसे घिरा हुआ और निर्भय खेलता हुआ देखकर बहुत आश्चर्य करने लगे। उन्होंने जाकर अपनी जातिके मुखिया गोविन्दसे यह सब हाल कह सुनाया। गोविन्दके कोई संतान नहीं थी, इसलिये वह दौड़ा गया और बालकको उठा लाकर उसने अपनी सुनन्दा नामकी प्रियाको सौंप दिया। उसका नाम उसने धनकीर्ति रक्खा। वहीं-पर बड़े यत्न और प्रेमसे उसका पालन व संरक्षण होने लगा। धनकीर्ति भी दिनोंदिन बढ़ने लगा। वह ग्वालमहिलाओंके नेत्ररूपी कुमुदपुष्पोंको प्रफुल्लित करनेवाला चन्द्रमा था-उसे देखकर उनके नेत्रोंको बड़ी शान्ति मिलती थी। वह सब

सामुद्रिक लक्षणोंसे युक्त था। उसे देखकर सबको बड़ा प्रेम होता था। वह अपनी रूप मधुरिमासे कामदेव जान पड़ता था, कान्तिसे चन्द्रमा, और तेजसे एक दूसरा सूर्य। जैसे जैसे उसकी सुन्दरता बढ़ती जाती थी, वैसे वैसे ही उसमें अनेक उत्तम उत्तम गुण भी स्थान पाये चले जाते थे।

एक दिन पापी श्रीदत्त घीकी खरीद करता हुआ इधर आ गया। उसने धनकीर्तिको देखकर पहिचान लिया। अपना सन्देह मिटानेको और भी दूसरे लोगोंसे उसने उसका हाल दर्याफ्त किया। उसे निश्चय हो गया कि यह गुणपालहीका पुत्र है। तब उसने फिर उसके मारनेका षड्यंत्र रचा। उसने गोविन्दसे कहा—भाई, मेरा एक बहुत जरूरी काम है, यदि तुम अपने पुत्र द्वारा उसे करा दो तो बड़ी कृपा हो। मैं अपने घरपर भेजनेके लिये एक पत्र लिखे देता हूं, उसे यह पहुँचा आवे। बेचारे गोविन्दने कह दिया कि मुझे आपके कामसे कोई इन्कार नहीं है। आप लिख दीजिये, यह उसे दे आयगा। सच बात है—

अहो दुष्टस्य दुष्टत्वं लक्ष्यते केन वेगतः।

(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्—दुष्टोंकी दुष्टताका पता जल्दीसे कोई नहीं पा सकता। पापी श्रीदत्तने पत्रमें लिखा—

"पुत्र महाबल,

जो तुम्हारे पास पत्र लेकर आ रहा है, वह अपने कुलका नाश करनेके लिये भयंकरतासे जलता हुआ मानो प्रलय कालका अग्नि है—समर्थ होते ही यह अपना सर्वनाश कर देगा। इस लिये तुम्हें उचित है कि इसे गुप्तरीतिसे तलवार द्वारा वा मूसले

से मार डालकर अपना कांटा साफ कर दो। काम बड़ी सावधानी से हो, जिसे कोई जान न पावे।"

पत्रको अच्छी तरह बन्द करके उसने कुमार धर्मकीर्त्तिको सौंप दिया। धर्मकीर्त्तिने उसे अपने गलेमें पड़े हुए हारसे बाँध लिया और सेठकी आज्ञा लेकर उसी समय वह वहाँसे निडर होकर चल दिया। वह धीरे धीरे उज्जयिनीके उपवनमें आ पहुँचा। रास्तेमें चलते चलते वह थक गया था। इसलिये थकावट मिटानेके लिये वह वहीं एक वृक्षकी ठंडी छायामें सो गया। उसे वहाँ नींद आ गई।

इतनेहीमें वहाँ एक अनंगसेना नामकी वेश्या फूल तोड़नेके लिये आई। वह बहुत सुन्दरी थी। अनेक तरहके मौलिक भूषण और वस्त्र वह पहरे थी। उससे उसकी सुन्दरता भी बेहद बढ़ गई थी। वह अनेक विद्या-कलाओंकी जाननेवाली और बड़ी विनोदिनी थी। उसने धनकीर्त्तिको एक वृक्षके नीचे सोता देखा। पूर्वजन्ममें अपना उपकार करनेके कारणसे उसपर उसका बहुत प्रेम हुआ। उसके वश होकर ही उसे न जाने क्या बुद्धि उत्पन्न हुई जो उसने उसके गलेमें बँधे हुए श्रीदत्तके कागजको खोल लिया। पर जब उसने उसे बाँचा तो उसके आश्चर्यका कुछ ठिकाना न रहा। एक निर्दोष कुमारके लिये श्रीदत्तका ऐसा घोर पैशाचिक अत्याचारका हाल पढ़कर उसका हृदय काँप उठा। वह उसकी रक्षाके लिये घबरा उठी। वह भी थी बड़ी बुद्धिमती सो उसे झट एक युक्ति सूझ गई। उसने उस लिखावटको बड़ी सावधानीसे मिटाकर उसकी जगह अपनी आखोंमें

अँजे हुए काजलको पत्तोंके रससे गीलीकी हुई सलाईसे निकाल निकाल कर उसके द्वारा लिख दिया कि—

"प्रिये, यदि तुम मुझे सच्चा अपना स्वामी समझती हो, और पुत्र महाबल, तुम यदि वास्तवमें मुझे अपना पिता समझते हो, तो इस पत्र लानेवालेके साथ श्रीमतीका ब्याह तुरत कर देना। अपनेको बड़े भाग्यसे ऐसे वरकी प्राप्ति हुई है। मैंने इसकी साखें वगैरह सब अच्छी तरह देखली हैं। कहीं कोई बाधा नहीं आती है। इस काममें तुम मेरी भी कुछ अपेक्षा नहीं करना। कारण संभव है, मुझे आनेमें कुछ विलम्ब हो जाय। फिर ऐसा योग मिलता कठिन है। वरके मान सम्मानमें कोई कमी तुम लोग मत करना।"

इस प्रकार पत्र लिखकर अनंगसेनाने पहलेकी तरह उसे धनकीर्त्तिके गलेमें बाँध दिया अथवा यों कह लीजिये के उसने धनकीर्त्तिको मानो जीवन प्रदान किया। इसके बाद वह अपने घरपर लौट गई।

अनंगसेनाके चले जाने बाद धनकीर्त्तिकी भी नींद खुली। वह उठा और श्रीदत्तके घरपर पहुँचा। उसने पत्र निकालकर श्रीदत्तकी स्त्रीके हाथमें सौंपा। पत्रको उसके पुत्र महाबलने भी पढ़ा। पत्र पढ़कर उन्हें बहुत खुशी हुई। धनकीर्त्तिका उन्होंने बहुत आदर सन्मान किया। बाद शुभ मुहूर्त्तमें अपनी पुत्री श्रीमतीका उसके साथ ब्याह कर दिया। सच कहा है—

संभवेत्कृतपुण्यानां महापायेपि सत्सुखम्।

(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्—पुण्यवानोंके लिये महासंकटके समय भी–जीवनके नष्ट होनेके कारणोंके मिलनेपर भी सुख प्राप्त होता है। यह हाल जब श्रीदत्तको मालूम पड़ा, तब वह घबराकर उसी समय दौड़ा हुआ आया। उसने रास्तेमें ही धनकीर्तिके मार डालनेकी युक्ति सोचकर अपनी नगरीके बाहर पार्वतीके मन्दिरमें एक मनुष्यको इसलिये नियुक्त कर दिया कि मैं किसी बहानेसे धनकीर्त्तिको रातके समय यहीं भेजता हूं, सो उसे तुम मार डालना। इसके बाद वह अपने घरपर आया और एकान्तमें अपने जमाईको बुलाकर उसने कहा–देखोजी, मेरी कुलपरम्परामें एक रीति चली आती है, वह तुम्हें भी करनी होगी। वह यह है कि–नव विवाहित वर रात्रिके आरंभमें उड़दके आटेके बनाये हुए तोता, काक, मुर्गा–आदि जानवरोंको लाल वस्त्रसे ढककर और कंकण पहरे हाथमें रखकर बड़े आदरके साथ शहर बाहर पार्वतीके मंदिरमें ले जाय और शान्तिके लिये उनकी बलि दे।

सुनकर धनकीर्त्ति बोला–जैसी आपकी आज्ञा, मुझे उससे कुछ इन्कार नहीं है। इसके बाद वह बलि लेकर घरसे निकला। शहर बाहर पहुँचते उसे उसका साला महाबल मिला। महाबलने उससे पूछा क्योंजी, ऐसे अन्धकारमें अकेले कहाँ जा रहे हो? उत्तरमें धर्मकीर्त्तिने कहा–आपके पिताजीकी आज्ञासे मैं पार्वतीजीके मन्दिरमें बलि देनेके लिये जा रहा हूं। तब महाबलने कहा–अच्छा तो बलि मुझे दीजिये, मैं जाता हूं। आपके जानेकी वहाँ कोई आवश्यकता नहीं। आप घरपर जाइये। धनकीर्त्तिने कहा–देखिये, इससे

आपके पिताजी बुरा मानेंगे । इसलिए आप मुझे ही जाने दीजिए । महाबलने कहा—नहीं, मुझे बलि देनेकी सब विधि वगैरह मालूम है, इसलिए मैं ही जाता हूं । यह कहकर उसने धनकीर्त्तिको तो घर लौटा दिया और आप दुर्गाके मन्दिर जाकर कालके घरका पाहुना बना । सच है—

पुण्यवानोंके लिए कालरूपी अग्नि जल हो जाती है, समुद्र स्थल हो जाता है, शत्रु मित्र बन जाता है, विष अमृतके रूपमें परिणत हो जाता है, विपत्ति सम्पत्ति हो जाती है, और विघ्न डरके मारे नष्ट हो जाते हैं । इसलिए बुद्धिमानोंको सदा पुण्यकर्म करते रहना चाहिए । पुण्य उत्पन्न करनेके कारण ये हैं—भक्तिसे भगवानकी पूजा करना, पात्रोंको दान देना, व्रत पालना, उपवासादिके द्वारा इन्द्रियोंको जीतना, ब्रह्मचर्य रखना, दुखियोंकी सहायता करना, विद्या पढ़ाना, पाठशाला खोलना, अर्थात् अपनेसे जहाँतक बन पड़े तनसे, मनसे और धनसे दूसरोंकी भलाई करना ।

अपने पुत्रके मारे जानेकी जब श्रीदत्तको खबर हुई, तब वह बहुत दुखी हुआ । पर फिर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ । उसका हृदय अब प्रतिहिंसासे और अधिक जल उठा । उसने अपनी स्त्रीको एकान्तमें बुलाकर कहा—प्रिये, बतलाओ तो हमारे कुलरूपीवृक्षको जड़मूलसे उखाड़ फैंकनेवाले इस दुष्टकी हत्या कैसे हो ? कैसे यह मारा जा सके ? मैंने इसके मारनेको जितने उपाय किये, भाग्यसे वे सब व्यर्थ गये और उलटा उनसे मुझे ही अत्यन्त हानि उठाना पड़ी ।

सो मेरी बुद्धि तो बड़े असमंजसमें फँस गई है। देखो, कैसे अंचभेकी बात है जो इसके मारनेके लिए जितने उपाय किये, उन सबसे रक्षा पाकर और अपना ही बैरी बना हुआ यह अपने घरमें बैठा है।

श्रीदत्तकी स्त्रीने कहा–बात यह है कि अब आप बूढ़े हो गये। आपकी बुद्धि अब काम नहीं देती। अब जरा आप चुप होकर बैठे रहें। मैं आपकी इच्छा बहुत जल्दी पूरी करूंगी। यह कह कर उस पापिनीने दूसरे दिन विष मिले हुए कुछ लड्डू बनाये और अपनी पुत्रीसे कहा– बेटा श्रीमती, देख मैं तो अब स्नान करनेको जाती हूं और तूं इतना ध्यान रखना कि ये जो उजले लड्डू हैं, उन्हें तो अपने स्वामीको परोसना और जो मैले हैं, उन्हें अपने पिताको परोसना। यह कहकर श्रीमतीकी मा नहानेको चली गई। श्रीमती अपने पिता और पतिको भोजन करानेको बैठी। बेचारी श्रीमती भोलीभाली लड़की थी और न उसे अपनी माताका कूट-कपट ही मालूम था; इसलिए उसने अच्छे लड्डू अपने पिताके लिए ही परोसना उचित समझा, जिससे कि उसके पिताको अपने साम्हने श्रीमतीका बरताव बुरा न जान पड़े और यही एक कुलीन कन्याके लिए उचित भी था। क्योंकि अपने माता-पिता या बड़ोंके साम्हने ऐसा बेहयापनका काम अच्छी स्त्रियाँ नहीं करतीं। इसीलिए जो लड्डू उसके पतिके लिए उसकी माने बनाये थे, उन्हें उसने पिताकी थालीमें परोस दिया। सच है– “विचित्रा कर्मणां गतिः” अर्थात् कर्मोंकी गति विचित्र ही हुआ करती है।

विष मिले हुए लड्डुओंके खाते ही श्रीदत्तने अपने किये कर्मका उपयुक्त प्रायश्चित्त पा लिया–वह उसी समय मर गया। बहुत ठीक कहा है—

पापकर्म करनेवालोंका कल्याण नहीं होता! उधर जब नहाकर श्रीमतीकी मा लौटी और उसने अपने स्वामीको मरा पड़ा पाया तब उसके दुःखका कुछ पार नहीं रहा। उसने खूब रोया पीटा, पर अब होता क्या था? जो दूसरोंके लिए कूआ खोदते हैं, उसमें पहले वे स्वयं गिरते हैं, यह संसारका नियम है। श्रीमतीकी मा और उसका पति श्रीदत्त इसके उदाहरण हैं। इसलिए जो अपना बुरा नहीं चाहते उन्हें दूसरोंका बुरा करनेका कभी स्वप्नमें भी विचार नहीं करना चाहिए। अन्तमें श्रीमतीकी माताने अपनी पुत्रीसे कहा–पुत्री, तेरे पिताने और मैंने निर्दय होकर अपने हाथों ही अपने कुलका सर्वनाश किया। हमने दूसरेका अनिष्ट करनेके लिए जितना प्रयत्न किया वह सब व्यर्थ गया और अपने नीच कर्मोंका फल भी हमें हाथों हाथ मिल गया। अब जो तेरे पिताजीकी गति हुई, वही मेरे लिए भी इष्ट है। अन्तमें मैं तुझे आशीर्वाद देती हूं कि, तू और तेरे प्राणनाथ इस घरमें सुख-शान्तिसे रहें। जैसे इन्द्र अपनी प्रियाके साथ रहता है। यह कहकर उसने भी जहरके लड्डुओंको खा लिया। देखते देखते उसका आत्मा भी शरीरको छोड़कर चल बसा। ठीक है–दुर्बुद्धियोंकी ऐसी ही गति हुआ करती है। जो लोग दुष्ट हृदय बनकर दूसरोंके लिए बुरा सोचते हैं–उनका बुरा करते हैं,

वे स्वयं अपना बुरा कर अन्तमें कुगतियोंमें जाकर अनन्त दुःख उठाते हैं। इस प्रकार धनकीर्ति पुण्यके प्रभावसे अनेक बड़ी बड़ी आपत्तियोंसे रक्षा पाकर सुखपूर्वक रहने लगा।

जब महाराज विश्वंभरको धनकीर्तिका पुण्य और उसकी प्रतिष्ठा तथा गुणशालीनताका परिचय मिला तो वे उससे बहुत खुश हुए। यहांतक कि उन्होंने अपनी राजकुमारीका ब्याह भी उसीके साथ कर देनेका निश्चय कर लिया और शुभ दिनमें बहुत कुछ उत्सव-आनंदके साथ ब्याह कर भी दिया। धनकीर्त्तिको दहेजमें उन्होंने बहुत कुछ धन-सम्पत्ति दी, उसका खूब सम्मान किया और अपने राजसेठके पद पर भी उसे नियत कर दिया। इस पर किसीको आश्चर्य नहीं करना चाहिए। क्योंकि संसारमें ऐसी कोई वस्तु अप्राप्त नहीं जो जिनधर्मके प्रभावसे नहीं होती!

गुणपालको जब अपने पुत्रका हाल ज्ञात हुआ तब उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। वह उसी समय कौशाम्बीसे उज्जयिनीके लिए चला और बहुत जल्दी अपने पुत्रसे आ मिला। सबका फिर पुण्य-मिलाप हुआ। धनकीर्ति अब पुण्योदयसे प्राप्त हुए भोगोंको भोगता हुआ अपना समय सुखसे बिताने लगा। इससे कोई यह न समझें कि वह अब दिन रात विषयभोगोंमें ही फँसा रहता है, नहीं; उसका अपने आत्म-कल्याणकी ओर भी पूरा ध्यान है। वह बड़ी सावधानीके साथ सुख देनेवाले जिनधर्मकी सेवा करता है, भगवान्‌की प्रतिदिन पूजा करता है, पात्रोंको दान देता है, दुखी-अना-

थोंकी सहायता करता है और सदा स्वाध्यायाध्ययन करता है। मतलब यह कि धर्म-सेवा और परोपकार करना ही उसके जीवनका एकमात्र लक्ष्य होगया है। पुण्यके उदयसे जो प्राप्त होना चाहिए वह सब धनकीर्त्तिको इस समय प्राप्त है। इस प्रकार धनकीर्त्तिने बहुत दिनों तक खूब सुख भोगा और सबको प्रसन्न रखनेकी वह सदा चेष्टा करता रहा।

एक दिन धनकीर्त्तिका पिता गुणपाल सेठ अपनी स्त्री, पुत्र, मित्र, बन्धु, बान्धवको साथ लिए यशोध्वज मुनिराजकी वन्दना करनेको गया। भाग्यसे अनंगसेना भी इस समय पहुँच गई। संसारका उपकार करनेवाले उन मुनिराजकी सभीने बड़ी भक्तिके साथ वन्दना की। इसके बाद गुणपालने मुनिराजसे पूछा—प्रभो, कृपाकर बतलाइए कि मेरे इस धनकीर्त्ति पुत्रने ऐसा कौन महापुण्य पूर्व जन्ममें किया है, जिससे इसने इस बालपनमें ही भयंकरसे भयंकर कष्टोंपर विजय प्राप्त कर बहुत कीर्त्ति कमाई, खूब धन कमाया, और अच्छे अच्छे पवित्र काम किये, सुख भोगा, और यह बडा ज्ञानी हुआ, दानी हुआ तथा दयालु हुआ। भगवन् इन सब बातोंको मैं सुनना चाहता हूं।

करुणाके समुद्र और चार ज्ञानके धारी यशोध्वज मुनिराजने मृगसेन धीवरके अहिंसाव्रत ग्रहण करने, जालमें एक ही मच्छके बार बार आने, घरपर सूने हाथ लौट आने, स्त्रीके नाराज होकर घरमें न आने देने, आदिकी सब कथा गुणपालसे कहकर कहा— वह मृगसेन तो अहिंसाव्रतके प्रभावसे यह धनकीर्त्ति हुआ, जो कि सर्वश्रेष्ठ सम्पत्तिका

मालिक और महाभव्य है; और मृगसेनकी जो घण्टा नामकी स्त्री थी, वह निदान करके इस जन्ममें भी धनकीर्त्तिकी श्रीमती नामकी गुणवती स्त्री हुई है और जो मच्छ पाँच वार पकड़कर छोड़ दिया गया था, वह यह अनंगसेना हुई है, जिसने कि धनकीर्त्तिको जीवदान देकर अत्यन्त उपकार किया है। सेठ महाशय, यह सब एक अहिंसाव्रतके धारण करनेका फल है। और परम अहिंसामयी जिनधर्मके प्रसादसे सज्जनोंको क्या प्राप्त नहीं होता! मुनिराजके द्वारा इस सुखदायी कथाको सुनकर सब ही बहुत प्रसन्न हुए। जिनधर्म पर उनकी गाढ श्रद्धा होगई। अपने पूर्व भवका हाल सुनकर धनकीर्त्ति, श्रीमती और अनंगसेनाको जातिस्मरण होगया। उससे उन्हें संसारकी क्षणस्थायी दशापर बड़ा वैराग्य हुआ। धर्माधर्मका फल भी उन्हें जान पड़ा। उनमें धनकीर्त्तिने तो, जिसका कि सुयश सारे संसारमें विस्तृत है, यशोध्वज मुनिराजके पास ही एक दूसरे मोहपाशकी तरह जान पड़नेवाले अपने केशकलापको हाथोंसे उखाड़कर जिनदीक्षा ग्रहण करली, जो कि [illegible]ंसारके जीवोंका उद्धार करनेवाली है। साधु [illegible] हो जानेके बाद धन[illegible]त्तिने खूब निर्दोष तपस्या की, अनेक ज[illegible]वोंको कल्या[illegible] मार्गपर लगाया, जिनधर्मकी प्रभावना की, पवित्र रत्नत्रय[illegible]न किया और अन्तमें समाधिसहित मरकर सर्वार्थ[illegible] [illegible] सुख लाभ किया। धनकीर्त्ति आगे केवली होकर मु[illegible] प्राप्त करेगा। और और ऋषियोंने भी अहिंसाव्रतका फल [illegible]ते समय धनकीर्त्तिकी प्रशंसामें लिखा है–"धनकी[illegible]

भवमें एक मच्छको पाँच वार छोड़ा था, उसके फलसे वह स्वर्गीयश्रीका स्वामी हुआ।" इसलिए आत्महितकी इच्छा करनेवालोंको यह व्रत मन, वचन, कायकी पवित्रतापूर्वक निरन्तर पालते रहना चाहिए।

धनकीर्त्तिको दीक्षित हुआ देखकर श्रीमती और अनंगसेनाने भी हृदयसे विषयवासनाको दूरकर अपने योग्य जिनदीक्षा ग्रहण करली, जो कि सब दुःखोंकी नाश करनेवाली है। इसके बाद अपनी शक्तिके अनुसार तपस्या कर उन दोनोंने भी मृत्युके अन्तमें स्वर्ग प्राप्त किया। सच है–जिनशासनकी आराधना कर किस किसने सुख प्राप्त न किया! अर्थात् जिसने जिनधर्म ग्रहण किया उसे नियमसे सुख मिला है।

इस प्रकार मुझ अल्पबुद्धिने धर्म-प्रेमके वश हो यह अहिंसाव्रतकी पवित्र कथा जैनशास्त्रके अनुसार लिखी है। यह सब सुखोंकी देनेवाली माता है और विघ्नोंकी नाश करनेवाली है। इसे आप लोग हृदयमें धारण करें। वह इसलिए कि इसके द्वारा आपको शान्ति प्राप्त होगी।

मूलसंघके प्रधान प्रवर्तक श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकी परम्परामें मल्लिभूषण गुरु हुए। वे ज्ञानके समुद्र थे। उनके शिष्य श्रीसिंहनन्दी मुनि हुए। वे बड़े आध्यात्मिक विद्वान् थे। उन्हें अच्छे अच्छे परमार्थवित्–अध्यात्मशास्त्रके जानकार विद्वान् नमस्कार करते थे। वे सिंहनन्दी मुनि आपके लिए संसार-समुद्रसे पार करनेवाले होकर संसारमें चिरकाल तक बढ़ें–उनका यशःशरीर बहुत समय तक प्रकाशित रहे।

२६–वसुराजाकी कथा ।

संसारके बन्धु और देवों द्वारा पूज्य श्रीजिनेन्द्रको नमस्कार कर झूठ बोलनेसे नष्ट होनेवाले वसुराजाका चरित्र मैं लिखता हूं।

स्वस्तिकावती नामकी एक सुन्दर नगरी थी। उसके राजाका नाम विश्वावसु था। विश्वावसुकी रानी श्रीमती थी। उसके एक वसु नामका पुत्र था।

वहीं एक क्षीरकदम्ब उपाध्याय रहता था। वह बड़ा सुचरित्र और सरल-स्वभावी था। जिन भगवानका वह भक्त था और होम, शान्ति-विधान आदि जैन क्रियाओं द्वारा गृहस्थोंके लिए शान्ति-सुखार्थ अनुष्ठान करना उसका काम था। उसकी स्त्रीका नाम स्वस्तिमती था। उसके पर्वत नामका एक पुत्र था। भाग्यसे वह पापी और दुर्व्यसनी हुआ। कर्मोंकी कैसी विचित्र स्थिति है जो पिता तो कितना धर्मात्मा और सरल और उसका पुत्र दुराचारी! इसी समय एक विदेशी ब्राह्मण नारद, जो कि निरभिमानी और सच्चा जिनभक्त था, क्षीरकदम्बके पास पढ़नेके लिए आया। राजकुमार वसु, पर्वत और नारद ये तीनों एक साथ पढ़ने लगे। वसु और नारदकी बुद्धि अच्छी थी, सो वे तो थोड़े ही समयमें अच्छे विद्वान् हो गये। रहा पर्वत सो एक तो उसकी बुद्धि ही खराब, उस पर पापके उदयसे उसे कुछ नहीं आता-जाता भी था।

अपने पुत्रकी यह हालत देखकर उसकी माताने एक दिन अपने पतिसे गुस्सा होकर कहा– जान पड़ता है, आप बाहरके लड़कोंको तो अच्छी तरह पढ़ाते हैं और खास अपने पुत्र पर आपका ध्यान नहीं है–उसे आप अच्छी तरह नहीं पढ़ाते। इसीलिए उसे इतने दिन तक पढ़ते रहने पर भी कुछ नहीं आया। क्षीरकदम्बने कहा–इसमें मेरा कुछ दोष नहीं है। मैं तो सबके साथ एकहीसा श्रम करता हूं। तुम्हारा पुत्र ही मूर्ख है, पापी है, वह कुछ समझता ही नहीं। बोलो, अब इसके लिए मैं क्या करूं? स्वस्तिमतीको इस बात पर विश्वास हो, इसलिए उसने तीनों शिष्योंको बुलाकर कहा– पुत्रो, देखो तुम्हें यह एक एक पाई दी जाती है, इसे लेकर तुम बाजार जाओ; और अपने बुद्धिबलसे इसके द्वारा चने लेकर खा आओ और पाई पीछी वापिस भी लौटा लाओ। तीनों गये। उनमें पर्वत एक जगहसे चने मोल लेकर और वहीं खा–पीकर सूने हाथ घर लौट आया। अब रहे वसु और नारद, सो इन्होंने पहले तो चने मोल लिये और फिर उन्हें इधर उधर घूमकर बेचा, जब उनकी पाई वसूल हो गई तब बाकी बचे चनोंको खाकर वे लौट आये। आकर उन्होंने गुरुजीकी अमानत उन्हें वापिस सौंपदी। इसके बाद क्षीरकदम्बने एक दिन तीनोंको आटेके बने हुए तीन बकरे देकर उनसे कहा– देखो, इन्हें ले जाकर और जहाँ कोई न देख पाये ऐसे एकान्त स्थानमें इनके कानोंको छेद लाओ। गुरुकी आज्ञानुसार तीनों फिर इस नये कामके लिए गये।

पर्वतने तो एक जंगलमें जाकर बकरेका कान छेद डाला। वसु और नारद बहुत जगह गये, सर्वत्र उन्होंने एकान्त स्थान ढूंढ डाला, पर उन्हें कहीं उनके मनलायक स्थान नहीं मिला। अथवा यों कहिए कि उनके विचारानुसार एकान्त स्थान कोई था ही नहीं। वे जहाँ पहुँचते और मनमें विचार करते वहीं उन्हें चन्द्र, सूर्य, तारा, देव, व्यन्तर, पशु, पक्षी और अवधिज्ञानी मुनि आदि जान पड़ते। वे उस समय यह विचार कर, कि ऐसा कोई स्थान ही नहीं है जहाँ कोई न देखता हो, वापिस घर लौट आये। उन्होंने उन बकरोंके कानोंको नहीं छेदा। आकर उन्होंने गुरुजीको नमस्कार किया और अपना सब हाल उनसे कह सुनाया। सच है- बुद्धि कर्मके अनुसार ही हुआ करती है। उनकी बुद्धिकी इस प्रकार चतुरता देखकर उपाध्यायजीने अपनी प्रियासे कहा-क्यों देखी सबकी बुद्धि और चतुरता? अब कहो, दोष मेरा या पर्वतके भाग्यका?

एक दिनकी बात है कि वसुसे कोई ऐसा अपराध बन गया, जिससे उपाध्यायने उसे बहुत मारा। उस समय स्वस्तिमतीने बीचमें पड़कर वसुको बचा लिया। वसुने अपनी बचानेवाली गुरुमातासे कहा-माता, तुमने मुझे बचाया इससे मैं बड़ा उपकृत हुआ। कहो तुम्हें क्या चाहिए? वही लाकर मैं तुम्हें प्रदान करूं। स्वस्तिमतीने उत्तरमें राजकुमारसे कहा- पुत्र, इस समय तो मुझे कुछ आवश्यकता नहीं है, पर जब होगी तब माँगूंगी। तू मेरे इस बरको अभी अपने ही पास रख।

एक दिन क्षीरकदम्बके मनमें प्रकृतिकी शोभा देखनेके लिए उत्कंठा हुई। वह अपने साथ तीनों शिष्योंको भी

इसलिए लिवा ले गया कि उन्हें वहीं पाठ भी पढ़ा दूंगा। वह एक सुन्दर बगीचेमें पहुँचा। वहाँ कोई अच्छा पवित्र स्थान देखकर वह अपने शिष्योंको बृहदारण्यका पाठ पढ़ाने लगा। वहीं और दो ऋद्धिधारी महामुनि स्वाध्याय कर रहे थे। उनमेंसे छोटे मुनिने क्षीरकदम्बको पाठ पढ़ाते देखकर बड़े मुनिराजसे कहा- प्रभो, देखिए कैसे पवित्र स्थानमें उपाध्याय अपने शिष्योंको पढ़ा रहा है! गुरुने कहा—अच्छा है, पर देखो, इनमेंसे दो तो पुण्यात्मा हैं और वे स्वर्गमें जायँगे और दो पापके उदयसे नर्कोंके दुःख सहेंगे। सच है—

कर्मोंके उदयसे जीवोंको सुख या दुःख भोगना ही पड़ता है। मुनिके वचन क्षीरकदम्बने सुन लिये। वह अपने विद्यार्थियोंको घर भेजकर मुनिराजके पास गया। उन्हें नमस्कार कर उसने पूछा- हे भगवन, हे जैनसिद्धान्तके उत्तम विद्वान, कृपाकर मुझे कहिए कि हममेंसे कौन दो तो स्वर्ग जाकर सुखी होंगे और कौन दो नर्क जायँगें? कामके शत्रु मुनिराजने क्षीरकदम्बसे कहा—भव्य, स्वर्ग जानेवालोंमें एक तो तू जिनभक्त और दूसरा धर्मात्मा नारद है और वसु तथा पर्वत पापके उदयसे नर्क जायँगे। क्षीरकदम्ब मुनिराजको नमस्कार कर अपने घर आया। उसे इस बातका बड़ा दुःख हुआ कि उसका पुत्र नरकमें जायगा। क्योंकि मुनियोंका कहा अनन्तकालमें भी झूठा नहीं होता।

एक दिन कोई ऐसा कारण देख पड़ा, जिससे वसुके पिता विश्वावसु अपना राज—काज वसुको सौंपकर

आप साधु होगये। राज्य अब वसु करने लगा। एक दिन वसु वन-विहारके लिए उपवनमें गया हुआ था। वहाँ उसने आकाशसे लुढ़क कर गिरते हुए एक पक्षीको देखा। देखकर उसे आश्चर्य हुआ। उसने सोचा पक्षीके लुढ़कते हुए गिरनेका कोई कारण यहां अवश्य होना चाहिए। उसकी शोध लगानेको जिधरसे पक्षी गिरा था उधर ही लक्ष्य बाँधकर उसने बाण छोड़ा। उसका लक्ष्य व्यर्थ न गया। यद्यपि उसे यह नहीं जान पड़ा कि क्या गिरा, पर इतना उसे विश्वास हो गया कि उसके बाणके साथ ही कोई भारी वस्तु गिरी जरूर है। जिधरसे किसी वस्तुके गिरनेकी आवाज उसे सुन पड़ी थी वह उधर ही गया पर तब भी उसे कुछ नहीं देख पड़ा। यह देख उसने उस भागको हाथोंसे टटोलना शुरू किया। हस्तस्पर्शसे उसे एक बहुत निर्मल खंभा, जो कि स्फटिक-मणिका बना था, जान पड़ा। वसुराजा उसे गुप्तरीतिसे अपने महल पर ले आया। वसुने उस खंभेके चार पाये बनवाये और उन्हें अपने न्याय-सिंहासनके लगवा दिये। उन पायोंके लगनेसे सिंहासन ऐसा जान पड़ने लगा मानों वह आकाशमें ठहरा हुआ हो। धूर्त वसु अब उसी पर बैठकर राज्यशासन करने लगा। उसने सब जगह यह प्रगट कर दिया कि "राजा वसु बड़ा ही सत्यवादी है, उसकी सत्यताके प्रभावसे उसका न्याय-सिंहासन आकाशमें ठहरा हुआ है।" इस प्रकार कपटकी आड़में वह अब सर्वसाधारणके बहुत ही आदरका पात्र हो गया। सच है—

मायावी पुरुष संसारमें क्या ठगाई नहीं करते ! इधर सम्यग्दृष्टि, जिनभक्त क्षीरकदम्ब संसारसे विरक्त होकर तपस्वी होगया और अपनी शक्तिके अनुसार तपस्या कर अन्तमें समाधिमरण द्वारा उसने स्वर्ग लाभ किया । पिताका उपाध्याय पद अब पर्वतको मिला । पर्वतको जितनी बुद्धि थी, जितना ज्ञान था, उसके अनुकूल वह पिताके विद्यार्थियोंको पढ़ाने लगा । उसी वृत्तिके द्वारा उसका निर्वाह होता था । क्षीरकदम्बके साधु हुए बाद ही नारद भी वहाँसे कहीं अन्यत्र चल दिया । वर्षों तक नारद विदेशोंमें घूमा किया । घूमते फिरते वह फिर भी एकवार स्वस्तिपुरीकी ओर आ निकला । वह अपने सहाध्यायी और गुरुपुत्र पर्वतसे मिलनेको गया । पर्वत उस समय अपने शिष्योंको पढ़ा रहा था । साधारण कुशल प्रश्नके बाद नारद वहीं बैठ गया और पर्वतका अध्यापन कार्य देखने लगा । प्रकरण कर्मकाण्डका था । वहाँ एक श्रुति थी-" अजैर्यष्टव्यमिति ।" दुराग्रही पापी पर्वतने उसका अर्थ किया कि " अजैश्छागैः प्रयष्टव्यमिति" अर्थात्-बकरोंकी बलि देकर होम करना चाहिए । उसमें बाधा देखकर नारदने कहा-नहीं; इस श्रुतिकी यह अर्थ नहीं है । गुरुजीने तो हमें इसका अर्थ बतलाया था कि " अजैस्त्रिवार्षिकैर्धान्यैः प्रयष्टव्यम् " अर्थात्-तीन वर्षके पुराने धानसे, जिसमें उत्पन्न होनेकी शक्ति न हो, होम करना चाहिए । पापी, तू यह क्या अनर्थ करता है जो उल्टा ही अर्थ कर दिया ? उस पर पापी पर्वतने दुराग्रहके वश हो यही कहा कि नहीं, तुम्हारा कहना सर्वथा मिथ्या

है। असलमें 'अज' शब्दका अर्थ बकरा ही होता है और उसीसे होम करना चाहिए। ठीक कहा है—

जिसे दुर्गतिमें जाना होता है, वही पुरुष जानकर भी ऐसा झूठ बोलता है।

तब दोनोंमें सच्चा कौन है, इसके निर्णयके लिए उन्होंने राजा वसुको मध्यस्थ चुना। उन्होंने परस्परमें प्रतिज्ञा की कि जिसका कहना झूठ हो उसकी जबान काटदी जाय। पर्वतकी माको जब इस विवादका और परस्परकी प्रतिज्ञाका हाल मालूम हुआ तब उसने पर्वतको बुलाकर बहुत डाटा और गुस्सेमें आकर कहा—पापी, तूने यह क्या अनथ किया? क्यों उस श्रुतिका उलटा अर्थ किया? तुझे नहीं मालूम कि तेरा पिता जैनधर्मका पूर्ण श्रद्धानी था और वह 'अजै-र्यष्टव्यम्' इसका अर्थ तीन वर्षके पुराने धानसे होम करनेका करता था। और स्वयं भी वह पुराने धानहीसे सदा होमादिक किया करता था। स्वस्तिमतीने उसे और भी बहुत फटकारा, पर उसका फल कुछ नहीं निकला। पर्वत अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ बना रहा। पुत्रका इस प्रकार दुराग्रह देखकर वह अधीर हो उठी। एक ओर पुत्रके अन्याय-पक्षका समर्थन होकर सत्यकी हत्या होती है और दूसरी ओर पुत्र-प्रेम उसे अपने कर्तव्यसे विचलित करता है। अब वह क्या करे? पुत्र-प्रेममें फँसकर सत्यकी हत्या करे या उसकी रक्षाकर अपना कर्त्तव्य पालन करे? वह बड़े संकटमें पड़ी। आखिर दोनों शक्तियोंका युद्ध होकर पुत्र-प्रेमने विजय प्राप्त कर उसे अपने कर्त्तव्य पथसे गिरा

दिया–सत्यकी हत्या करनेको उसे सन्नद्ध किया। वह उसी समय वसुके पास पहुँची और उससे बोली–पुत्र, तुम्हें याद होगा कि मेरा एक वर तुमसे पाना बाकी है। आज उसकी मुझे जरूरत पड़ी है। इसलिए अपनी प्रतिज्ञाका निर्वाह कर मुझे कृतार्थ करो। बात यह है–पर्वत और नारदका किसी विषय पर झगड़ा होगया है। उसके निर्णयके लिए उन्होंने तुम्हें मध्यस्थ चुना है। इसलिए मैं तुम्हें कहनेको आई हूं कि तुम पर्वतके पक्षका समर्थन करना। सच है–

जो स्वयं पापी होते हैं, वे दूसरोंको भी पापी बना डालते हैं। जैसे सर्प स्वयं जहरीला होता है और जिसे काटता है उसे भी विषयुक्त कर देता है। पापियोंका यह स्वभाव ही होता है।

राजसभा लगी हुई थी। बड़े बड़े कर्मचारी यथा स्थान बैठे हुए थे। राजा वसु भी एक बहुत सुन्दर रत्न-जड़े सिंहासन पर बैठा हुआ था। इतनेमें पर्वत और नारद अपना न्याय करानेके लिए राजसभामें आये। दोनोंने अपना अपना कथन सुनाकर अन्तमें किसका कहना सत्य है और गुरुजीने अपनेको "अजैर्यष्टव्यम्" इसका क्या अर्थ समझाया था, इसका खुलासा करनेका भार वसु पर छोड़ दिया। वसु उक्त वाक्यका ठीक अर्थ जानता था और यदि वह चाहता तो सत्यकी रक्षा कर सकता था, पर उसे अपनी गुराणीजीके माँगे हुए वरने सत्यमार्गसे ढकेल कर आग्रही और पक्षपाती बना दिया। मिथ्या आग्रहके वश हो उसने अपनी मानमर्यादा और प्रतिष्ठाकी कुछ

परवा न कर नारदके विरुद्ध फैसला दिया। उसने कहा कि जो पर्वत कहता ही वही सत्य है और गुरुजीने हमें ऐसा ही समझाया था कि "अजैर्यष्टव्यम्" इसका अर्थ बकरोंको मार कर उनसे होम करना चाहिए। प्रकृतिको उसका यह महा अन्याय सहन नहीं हुआ। उसका परिणाम यह हुआ कि राजा वसु जिस स्फटिकके सिंहासन पर बैठकर प्रति दिन राजकार्य करता था और लोगोंको यह कहा करता था कि मेरे सत्यके प्रभावसे मेरा सिंहासन आकाशमें ठहरा हुआ है, वही सिंहासन वसुकी असत्यतासे टूट पड़ा और पृथ्वीमें घुस गया। उसके साथ ही वसु भी पृथ्वीमें जा घुँसा। यह देख नारदने उसे समझाया–महाराज, अब भी सत्य सत्य कह दीजिए, गुरुजीने जैसा अर्थ कहा था वह प्रगट कर दीजिए। अभी कुछ नहीं गया। सत्यव्रत आपकी इस संकटसे अवश्य रक्षा करेगा। कुगतिमें व्यर्थ अपने आत्माको न ले जाइए। अपनी इस दुर्दशा पर भी वसुको दया नहीं आई। वह और जोशमें आकर बोला–नहीं, जो पर्वत कहता है वही सत्य है। इतना उसका कहना था कि उसके पापके उदयने उसे पृथिवीतलमें पहुँचा दिया। वसु कालके सुपुर्द हुआ। मरकर वह सातवें नरकमें गया। सच है जिनका हृदय दुष्ट और पापी होता है उनकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। और अन्तमें उन्हें कुगतिमें जाना पड़ता है। इस लिए जो अच्छे पुरुष हैं और पापसे बचना चाहते हैं उन्हें प्राणोंपर कष्ट आने पर भी कभी झूठ न बोलना चाहिए। पर्वतकी यह दुष्टता देखकर प्रजाके लोगोंने उसे गधे पर बैठा कर शहरसे निकाल बाहर किया और नारदका बहुत आदर-सत्कार किया।

नारद अब वहीं रहने लगा । वह बड़ा बुद्धिमान् और धर्मात्मा था । सब शास्त्रोंमें उसकी गति थी । वह वहाँ रह-कर लोगोंको धर्मका उपदेश दिया करता, भगवान्‌की पूजा करता, पात्रोंको दान देता । उसकी यह धर्मपरायणता देख-कर वसुके बाद राज्य-सिंहासन पर बैठनेवाला राजा उस पर बहुत खुश हुआ । उस खुशीमें उसने नारदको गिरितट नामक नगरीका राज्य भेंटमें दे दिया । नारदने बहुत समय तक उस राज्यका सुख भोगा । अन्तमें संसारसे उदासीन होकर उसने जिनदीक्षा ग्रहण करली । मुनि होकर उसने अनेक जीवोंको कल्याणके मार्गमें लगाया और तपस्या द्वारा पवित्र रत्नत्रयकी आराधना कर आयुके अन्तमें वह [illegible] सिद्धि गया, जो कि सर्वो[illegible]
जैनधर्मकी कृपासे

निरभिम[illegible]

समय [illegible]

२७–श्रीभूति-पुरोहितकी कथा।

जिन्हें स्वर्गके देवता बड़ी भक्तिके साथ पूजते हैं, उन सुखके देनेवाले जिनभगवान्‌को नमस्कार कर मैं श्रीभूति पुरोहितका उपाख्यान कहता हूं, जो चोरी करके दुर्गतिमें गया है।

सिंहपुर नामका एक सुन्दर नगर था। उसका राजा सिंहसेन था। सिंहसेनकी रानीका नाम रामदत्ता था। राजा ...िमान और धर्मपरायण था। रानी भी बड़ी चतुर थी।
...ाथ करती थी। राजपुरोहित
... सम्बन्धमें यह बात
...नेवाला हूं।
...ेक बार
...ता

विचार कर यह सिंहपुर आया। यहाँ श्रीभूतिसे मिलकर इसने अपना विचार उसे कह सुनाया। श्रीभूतिने इसके रत्नोंका रखना स्वीकार कर लिया। समुद्रदत्तको इससे बड़ी खुशी हुई और साथ ही वह उन रत्नोंको श्रीभूतिको सौंपकर आप रत्नद्वीपके लिए रवाना होगया। वहाँ कई दिनों तक ठहर कर इसने बहुत धन कमाया। जब यह वापिस लौटकर जहाज द्वारा अपने देशकी ओर आ रहा था तब पापकर्मके उदयसे इसका जहाज टकरा कर फट गया। बहुतसे आदमी डूब मरे। बहुत ठीक लिखा है, कि विना पुण्यके कभी कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। समुद्रदत्त इस समय भाग्यसे मरते मरते बच गया। इसके हाथ जहाजका एक छोटासा टुकड़ा लग गया। यह उस पर बैठकर बड़ी कठिनताके साथ किसी तरह राम राम करता किनारे आलगा। यहाँसे यह सीधा श्रीभूति पुरोहितके पास पहुँचा। श्रीभूति इसे दूरसे देखकर ही पहिचान गया। वह धूर्त तो था ही, सो उसने अपने आसपासके बैठे हुए लोगोंसे कहा—देखिये, वह कोई दरिद्र भिखमंगा आ रहा है। अब यहाँ आकर व्यर्थ सिर खाने लगेगा। जिनके पास थोड़ा-बहुत पैसा होता है या जिनकी मान-मर्यादा लोगोंमें अधिक होती है तो उन्हें इन भिखारियोंके मारे चैन नहीं। एक न एक हर समय सिर-पर खड़ा ही रहता है। हम लोगोंने जो सुना था कि कल एक जहाज फटकर डूब गया है, मालूम होता है यह उसी परका कोई यात्री है और इसका सब धन नष्ट हो जानेसे यह पागल होगया जान पड़ता है। इसकी दुर्दशासे ज्ञात

होता है कि यह इस समय बड़ा दुखी है और इसीसे संभव है कि यह मुझसे कोई बड़ी भारी याचना करे। श्रीभूति तो इस तरह लोगोंको कह ही रहा था कि समुद्रदत्त उसके सामने जा खड़ा हुआ। वह श्रीभूतिको नमस्कार कर अपनी हालत सुनाना आरंभ करता है कि इतनेमें श्रीभूति बोल उठा कि मुझे इतना समय नहीं कि मैं तुम्हारी सारी दुःख-कथा सुनूं। हाँ तुम्हारी इस हालतसे जान पड़ता है कि तुम-पर कोई बड़ी भारी आफत आई है। अस्तु, मुझे तुम्हारे दुःखमें समवेदना है। अच्छा जाइए, मैं नौकरोंसे कहे देता हूं कि वे तुम्हें कुछ दिनोंके लिए खानेका सामान दिलवादें। यह कहकर ही उसने नौकरोंकी ओर मुहँ फेरा और आठ दिन तकका खानेका सामान समुद्रदत्तको दिलवा देनेके लिए उनसे कह दिया। बेचारा समुद्रदत्त तो श्रीभूतिकी बातें सुनकर हत-बुद्धि होगया। उसे काटो तो खून नहीं। उसने घबराते घबराते कहा–महाराज, आप यह क्या करते हैं? मेरे जो आपके पास पाँच रत्न रक्खे हैं, मुझे तो वे ही दीजिए। मैं आपका सामान-बामान नहीं लेता। श्रीभूतिने रत्नका नाम सुनते ही अपने चेहरेपरका भाव बदला और त्यौरी चढ़ाकर जोरके साथ कहा–रत्न! अरे दरिद्र! तेरे रत्न और मेरे पास! यह तू क्या बक रहा है? कह तो सही वास्तवमें तेरी मंशा क्या है? क्या मुझे तू बदनाम करना चाहता है? तू कौन, और कहाँका रहनेवाला? मैं तुझे जा-नता तक नहीं, फिर तेरे रत्न मेरे पास आये कहाँसे? जा जा, पागल तो नहीं होगया है? ठीक ध्यानसे विचार कर। किसी

औरके यहाँ रखकर उसके भ्रमसे मेरे पास आगया जान पड़ता है। इसके बाद ही उसने लोगोंकी ओर नजर फेरकर कहा—देखिये साहब, मैंने कहा था न ? कि यह मेरेसे कोई बड़ी भारी याचना न करे तो अच्छा। ठीक वही हुआ। बतलाइए, इस दरिद्रके पास रत्न आ कहाँसे सकते हैं ? धन नष्ट हो जानेसे जान पड़ता है यह बहक गया है। यह कहकर श्रीभूतिने नौकरों द्वारा समुद्रदत्तको घर बाहर निकलवा दिया। नीतिकारने ठीक लिखा है—जो लोग पापी होते हैं और जिन्हें दूसरोंके धनकी चाह होती है, वे दुष्ट पुरुष ऐसा कौन बुरा काम है जिसे लोभके वश हो न करते हों ? श्रीभूति ऐसे ही पापियोंमेंसे एक था, तब वह कैसे ऐसे निंद्य कर्मसे बचा रह सकता था ? पापी श्रीभूतिसे ठगा जा कर बेचारा समुद्रदत्त सचमुच ही पागल होगया। वह श्रीभूतिके मकानसे निकलते ही यह चिल्लाता हुआ, कि पापी श्रीभूति मेरे रत्न नहीं देता है, सारे शहरमें घूमने लगा। पर उसे एक भिखारीके वेषमें देखकर किसीने उसकी बात पर विश्वास नहीं किया। उलटा उसे ही सब पागल बताने लगे। समुद्रदत्त दिनभर तो इस तरह चिल्लाता हुआ सारे शहरमें घूमता फिरता और जब रात होती तब राजमहलके पीछे एक वृक्ष पर चढ़ जाता और सारी रात उसी तरह चिल्लाया करता। ऐसा करते करते उसे कोई छह महिना बीत गये। समुद्रदत्तका इस तरह रोज रोज चिल्लाना सुनकर एक दिन महारानी रामदत्ताने सोचा कि बात वास्तवमें क्या है, इसका पता जरूर लगाना चाहिए। तब एक दिन

उसने अपने स्वामीसे कहा–प्राणनाथ, मैं रोज एक गरीबकी पुकार सुनती हूं। मैं आज तक तो यह समझती रही, कि वह पागल होगया है और इसीसे दिन रात चिल्लाया करता है, कि श्रीभूति मेरे रत्न नहीं देता। पर प्रति दिन उसके मुहँसे एक ही वाक्य सुनकर मेरे मनमें कुछ खटका पैदा होता है। इस लिए आप उसे बुलाकर पूछिये तो कि वास्तवमें रहस्य क्या है। रानीके कहे अनुसार राजाने समुद्रदत्तको बुलाकर सब बातें पूछीं। समुद्रदत्तने जो यथार्थ घटना थी, वह राजासे कह सुनाई। सुनकर राजाने रानीसे कहा कि इसके चेहरेपरसे तो इसकी बात ठीक जँचती है। पर इसका भेद खुलेनेके लिए क्या उपाय है? रानीने थोड़ी देर तक विचारकर कहा–हाँ इसकी आप चिन्ता न करें। मैं सब बातें जान लूंगी।

दूसरे दिन रानीने पुरोहितजीको अपने अन्तःपुरमें बुलाया। आदर-सत्कार होनेके बाद रानीने उनसे कहा– मेरी इच्छा बहुत दिनोंसे आपके मिलनेकी थी, पर कोई ठीक समय ही नहीं मिल पाता था। आज बड़ी खुशी हुई कि आप ने यहां आनेकी कृपा की। इसके बाद रानीने पुरोहितजीसे कुछ इधर उधरकी बातें करके उनसे भोजनका हाल पूछा। उनके भोजनका सब हाल जानकर उसने अपनी एक विश्वस्त दासीको बुलाया और उसे कुछ बातें समझा बुझा-कर पीछी चली जानेको कह दिया। दासीके जाने बाद रानीने पुरोहितजीसे एक नई ही बातका जिकर उठाया। वह बोली–

पुरोहितजी, सुनती हूं कि आप पासे खेलनेमें बड़े चतुर और बुद्धिमान् हैं। मेरी बहुत दिनोंसे इच्छा होती थी कि

आपके साथ खेलकर मैं भी एक वार देखूं कि आप किस चतुराईसे खेलते हैं। यह कहकर रानीने एक दासीको बुलाकर चौपड़के ले आनेकी आज्ञा की ।

पुरोहितजी रानीकी बात सुनकर दंग रह गये । वे घबराकर बोले—हैं ! हैं ! महारानीजी, यह आप क्या करती हैं ? मैं एक भिक्षुक ब्राह्मण और आपके साथ मेरी यह धृष्टता । यदि महाराज सुन पावें तो वे मेरी क्या गति बनावेंगे ?

रानीने कहा—पुरोहितजी, आप इतने घबराइए मत । मेरे साथ खेलनेमें आपको किसी प्रकारके गहरे विचारमें पड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं । महाराज इस विषयमें आपसे कुछ नहीं कहेंगे । आप डरिये मत ।

बेचारे पुरोहितजी बड़े पशोपेशमें पड़े । रानीकी आज्ञा भी वे नहीं टाल सकते और इधर महाराजका उन्हें भय । वे तो इस उधेड़-बुनमें लगे हुए थे कि दासीने चौपड़ लाकर रानीके सामने रखदी । आखिर उन्हें खेलना ही पड़ा । रानीने पहली ही बाजीमें पुरोहितजीकी अंगूठी, जिस पर कि उनका नाम खुदा हुआ था, जीत ली । दोनों फिर खेलने लगे । इतनेमें पहली दासीने आकर रानीसे कुछ कहा । रानीने अबकी बार पुरोहितजीकी जीती हुई अंगूठी चुपकेसे उसे देकर चली जानेको कह दिया । दासी घण्टे भर बाद फिर आई । उसे कुछ निराशसी देखकर रानीने इशारेसे अपने कमरेके बाहर ही रहनेको कह दिया और आप अपने खेलमें लग गई । अबकी बार उसने पुरोहितजीका जनेऊ जीत लिया और किसी बहानेसे उस

दासीको बुलाकर चुपकेसे जनेऊ देकर भेज दिया। दासीके वापिस आने तक रानी और भी पुरोहितजीको खेलमें लगाये रही। इतनेमें दासी भी आ गई। उसे प्रसन्न देखकर रानीने अपना मनोरथ पूर्ण हुआ समझा। उसने उसी समय खेल बन्द किया और पुरोहितजीकी अंगूठी और जनेऊ उन्हें वापिस देकर वह बोली--आप सचमुच खेलनेमें बड़े चतुर हैं। आपकी चतुरता देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुई। आज मैंने सिर्फ इस चतुरताको देखनेके लिए ही आपको यह कष्ट दिया था। आप इसके लिए मुझे क्षमा करें। अब आप खुशीके साथ जा सकते हैं।

बेचारे पुरोहितजी रानीके महलसे बिदा हुए। उन्हें इसका कुछ भी पता नहीं पड़ा कि रानीने मेरी आँखोंमें दिन दहाड़े धूल झोंककर मुझे कैसा उल्लू बनाया है। बात असलमें यह थी कि रानीने पहले पुरोहितजीकी जीती हुई अंगूठी देकर दासीको उनकी स्त्रीके पास समुद्रदत्तके रत्न लेनेको भेजा, पर जब पुरोहितजीकी स्त्रीने अंगूठी देखकर भी उसे रत्न नहीं दिये तब यज्ञोपवीत जीता और उसे दासीके हाथ देकर फिर भेजा। अबकी वार रानीका मनोरथ सिद्ध हुआ। पुरोहितजीकी स्त्रीने दासीकी बातोंसे डरकर झटपट रत्नोंको निकाल दासीके हवाले कर दिया। दासीने लाकर रत्नोंको रानीको दे दिये। रानी प्रसन्न हुई। पुरोहितजी तो खेलते रहे और उधर उनका भाग्य फूट गया, इसकी उन्हें रत्तीभर भी खबर नहीं पड़ी।

रानीने रत्नोंको लेजाकर महाराजके सामने रख दिये और साथ ही पुरोहितजीके महलसे रवाना होनेकी खबर दी।

महाराजने उसी समय उनके गिरफ्तार करनेकी सिपाहियोंको आज्ञा की । बेचारे पुरोहितजी अभी महलके बाहर भी नहीं हुए थे कि सिपाहियोंने जाकर उनके हाथोंमें हथकड़ी डाल दी और उन्हे दरबारमें लाकर उपस्थित कर दिया ।

पुरोहितजी यह देखकर भौंचकसे रह गये । उनकी समझमें नहीं आया कि यह एकाएक क्या होगया और कौन मैंने ऐसा भारी अपराध किया जिससे मुझे एक शब्द तक न बोलने देकर मेरी यह दशा की गई । वे हत-बुद्धि होगये । उन्हें इस बातका और अधिक दुःख हुआ कि मैं एक राजपुरोहित, ऐसा वैसा गैर आदमी नहीं और मेरी यह दशा? और वह बिना किसी अपराधके? क्रोध, लज्जा, और आत्मग्लानिसे उनकी एक विलक्षण ही दशा होगई ।

रानीने जैसे ही रत्नोंको महाराजके सामने रक्खा, महाराजने उसी समय उन्हें अपने और बहुतसे रत्नोंमें मिलाकर समुद्रदत्तको बुलाया और उससे कहा—अच्छा, देखो तो इन रत्नोंमें तुम्हारे रत्न हैं क्या? और हों तो उन्हें निकाल्लो । महाराजकी आज्ञा पा[illegible]त्तने उन सब रत्नोंमेंसे अपने रत्नोंको पहिचान कर निकाल लिया । सच है, सज्जन पुरुष अपनी ही वस्तुको लेते हैं । दूसरोंकी वस्तु उन्हें विष समान जान पड़ती हैं । समुद्रदत्तने अपने रत्न पहिचान लिए, यह देख महाराज उस पर इतने प्रसन्न हुए कि उसे उन्होंने अपना राजसेठ बना लिया ।

महाराज त्वरित ही दरबारमें आये । जैसी ही उनकी दृष्टि पुरोहितजी पर पड़ी, उन्होंने बड़ी ग्लानिकी दृष्टिसे उनकी

ओर देखकर गुस्सेके साथ कहा—पापी, ठगी, मैं नहीं जानता था कि तू हृदयका इतना काला होगा और ऊपरसे ऐसा ढोंगीका वेष लेकर मेरी गरीब और भोली प्रजाको इस तरह धोखेमें फँसायगा? न मालूम तेरी इस कपटवृत्तिने मेरे कितने बन्धुओंको घर घरका भिखारी बनाया होगा? ऐ पापके पुतले, लोभके जहरीले सर्प, तुझे देखकर हृदय चाहता तो यह है, कि तुझे इसकी कोई ऐसा भयंकर सजा दी जाए, जिससे तुझे भी इसका ठीक प्रायश्चित्त मिल जाय और सर्व साधारणको दुराचारियोंके साथ मेरे कठिन शासनका ज्ञान हो जाय; उससे फिर कोई ऐसा अपराध करनेका साहस न करे। परन्तु तू ब्राह्मण है, इस लिए तेरे कुलके लिहाजसे तेरी सजाके विचारका भार मैं अपने मंत्री-मंडल पर छोड़ता हूं। यह कहकर ही राजाने अपने धर्माधिकारियोंकी ओर देखकर कहा—"इस पापीने एक विदेशी यात्रीके, जिसका कि नाम समुद्रदत्त है और वह यहीं बैठा हुआ भी है, कीमती पांच रत्नोंको हड़प कर लिया है, जिनको कि यात्रीने समुद्रयात्रा करनेके पहले श्रीभूतिको एक विश्वस्त और राजप्रतिष्ठित समझकर धरोहरके रूपमें रक्खे थे। दैवकी विचित्र गतिसे यात्रासे लौटते समय यात्रीका जहाज एकाएक फट गया और साथ ही उसका सब माल-असबाब भी डूब गया। यात्री किसी तरह बच गया। उसने जाकर पुरोहित श्रीभूतिसे अपनी धरोहर वापिस लौटा देनेके लिए प्रार्थना की। पुरोहितके मनमें पापका भूत सवार हुआ। बेचारे गरीब यात्रीको उसने धक्के देकर घर बाहर निकलवा दिया। यात्री अपनी इस

हालतसे पागलसा होकर सारे शहरमें यह पुकार मचाता हुआ महिनों फिरा किया कि श्रीभूतिने मेरे रत्न चुरा लिये, पर उस पर किसीका ध्यान न जाकर उलटा सबने उसे ही पागल करार दिया। उसकी यह दशा देखकर महारानी-को बड़ी दया आई। यात्री बुलाया जाकर उससे सब बातें दर्याफ्त की गई। बादमें महारानीने उपाय द्वारा वे रत्न अपने हस्तगत कर लिये। वे रत्न समुद्रदत्तके हैं या नहीं इसकी परीक्षा करनेके आशयसे उन पाँचों रत्नोंको मैंने बहु-तसे और रत्नोंमें मिला दिये। पर आश्चर्य है कि यात्रीने अपने रत्नोंको पहिचान कर निकाल लिये। श्रीभूतिके जिम्में धरोहर हड़प कर जानेका गुरुतर अपराध है। इसके सिवा धोखेबाजी, ठगाई आदि और भी बहुतसे अपराध हैं। इसकी इसे क्या सजा दी जाय, इसका आप विचार करें।"

धर्माधिकारियोंने आपसमें सलाह कर कहा—महाराज, श्रीभूति पुरोहितका अपराध बड़ा भारी है। इसके लिए हम तीन प्रकारकी सजायें नियत करते हैं। उनमेंसे फिर जिसे यह पसन्द करे, स्वीकार करे। या तो इसका सर्वस्व हरण कर लिया जाकर इसे देश बारह कर दिया जाय, या पहलवानोंकी बत्तीस मुक्कियाँ इस पर पड़ें, या तीन थालीमें भरे हुए गोबरको यह खा जाय। श्रीभूतिसे सजा पसन्द करनेको कहा गया। पह-ले उसने गोबर खाना चाहा, पर खाया नहीं गया, तब मुक्कियाँ खानेको कहा। मुक्कियाँ पडना शुरू हुई। कोई दश पन्द्रह मुक्कियाँ पड़ी होंगी कि पुरोहितजीकी अकल ठिकाने आगई। आप एकदम चक्कर खाकर जमीन पर ऐसे गिरे कि पीछे उठे ही

नहीं। महा आर्त्तध्यानसे उनकी मृत्यु हुई। वे दुर्गतिमें गये। धनमें अत्यन्त लम्पटताका उन्हें उपयुक्त प्रायश्चित्त मिला। इस लिए जो भव्य पुरुष हैं, उन्हें उचित है कि वे चोरीको अत्यन्त दुःखका कारण समझकर उसका परित्याग करें और अपनी बुद्धिको पवित्र जैनधर्मकी ओर लगावें, जो ऐसे महापापोंसे बचानेवाला है।

वे जिनभगवान्, जो सब सन्देहोंके नाश करनेवाले और स्वर्गके देवों और विद्याधरों द्वारा पूज्य हैं, वह जिनवाणी, जो सब सुखोंकी खान है और मेरे गुरु श्रीप्रभाचन्द्र, ये सब मुझे मंगल प्रदान करें–मुझे कल्याणका मार्ग बतलावें।

२८–नीलीकी कथा।

नभगवानके चरणोंको, जो कि कल्याणके करनेवाले हैं, नमस्कार कर श्रीमती नीली सुन्दरीकी मैं कथा कहता हूं। नीलीने चौथे अणुव्रत-ब्रह्मचर्यकी रक्षा कर प्रसिद्धि प्राप्त की है।

पवित्र भारतवर्षमें लाटदेश एक सुन्दर और प्रसिद्ध देश था। जिनधर्मका वहाँ खूब प्रचार था। वहाँकी प्रजा अपने धर्मकर्म पर बड़ी दृढ़ थी। इससे इस देशकी शोभाको उस समय

कोई देश नहीं पा सकता था । जिस समयकी यह कथा है, तब उसकी प्रधान राजधानी भृगुकच्छ नगर था । यह नगर बहुत सुन्दर और सब प्रकारकी योग्य और कीमती वस्तुओंसे पूर्ण था । इसका राजा तब वसुपाल था और वह जिससे अपनी प्रजा सुखी हो, धनी हो, सदाचारी हो, दयालु हो, इसके लिए कोई बात उठा न रखकर सदा प्रयत्नशील रहता था ।

यहीं एक सेठ रहता था । उसका नाम था जिनदत्त । जिनदत्तकी शहरके सेठ साहूकारोंमें बड़ी इज्जत थी । वह धर्मशील और जिनभगवान्का भक्त था । दान, पूजा, स्वाध्याय आदि पुण्यकर्मोंको वह सदा नियमानुसार किया करता था। उसकी धर्मप्रियाका नाम जिनदत्ता था। जैसा जिनदत्त धर्मात्मा और सदाचारी था, उसकी गुणवती साध्वी स्त्री भी उसीके अनुरूप थी और इसीसे इनके दिन बड़े ही सुखके साथ बीतते थे। अपने गार्हस्थ्य सुखको स्वर्ग सुखसे भी कहीं बढ़कर इन्होंने बना लिया था । जिनदत्ता बड़ी उदार प्रकृतिकी स्त्री थी । वह जिसे दुखी देखती उसकी सब तरह सहायता करती, और उनके साथ प्रेम करती । इसके सन्तानमें केवल एक पुत्री थी । उसका नाम नीली था । अपने मातापिताके अनुरूप ही इसमें गुण, और सदाचारकी सृष्टि हुई थी । जैसे सन्तोंका स्वभाव पवित्र होता है, नीली भी उसी प्रकार बड़े पवित्र स्वभावकी थी ।

इसी नगरमें एक और वैश्य रहता था । उसका नाम समुद्रदत्त था । यह जैनी नहीं था । इसकी बुद्धि बुरे उपदेशों-

को सुन-सुनकर बड़ी मट्टी होगई थी। अपने हितकी ओर कभी इसकी दृष्टि नहीं जाती थी। इसकी स्त्रीका नाम सागरदत्ता था। इसेके एक पुत्र था। उसका नाम था सागरदत्त। सागरदत्त एक दिन अचानक जिनमन्दिरमें पहुंच गया। इस समय नीली भगवान्की पूजा कर रही थी। वह एक तो स्वभावसे ही बड़ी सुन्दरी थी। इस पर उसने अच्छे अच्छे रत्न, जड़े गहने और बहुमूल्य वस्त्र पहर रक्खे थे। इससे उसकी सुन्दरता और भी बढ़ गई थी। वह देखनेवालोंको ऐसी जान पड़ती थी, मानों कोई स्वर्गकी देव-बाला भगवान्की खड़ी खड़ी पूजा कर रही है। सागरदत्त उसकी भुवन-मोहिनी सुन्दरताको देखकर मुग्ध होगया। कामने उसके मनको बेचैन कर दिया। उसने पास ही खड़े हुए अपने मित्रसे कहा–यह है कौन? मुझे तो नहीं जान पड़ता कि यह मध्यलोककी बालिका हो। या तो यह कोई स्वर्ग-बाला है, या नागकुमारी अथवा विद्याधर कन्या; क्योंकि मनुष्योंमें इतना सुन्दर रूप होना असंभव है।

सागरदत्तके मित्र प्रियदत्तने नीलीका परिचय देते हुए कहा कि यह तुम्हारा भ्रम है, जो तुम ऐसा कहते हो कि ऐसी सुन्दरता मनुष्योंमें नहीं हो सकती। तुम जिसे स्वर्ग-बाला समझ रहे हो वह न स्वर्ग-बाला है, न नागकुमारी और न किसी विद्याधर वगैरहकी ही पुत्री है; किन्तु मनुष्यनी है और अपने इसी शहरमें रहनेवाले जिनदत्त सेठके कुलकी एकमात्र प्रकाश करनेवाली उसकी नीली नामकी कन्या है।

अपने मित्र द्वारा नीलीका हाल जानकर सागरदत्त आश्चर्यके मारे दंग रह गया। साथ ही कामने उसके हृदय पर अपना पूरा अधिकार किया । वह घर पर आया सही, पर अपने मनको वह नीलीके पास ही छोड़ आया । अब वह दिन रात नीलीकी चिन्तामें घुल-घुलकर दुबला होने लगा । खाना-पीना उसके लिए कोई आवश्यक काम नहीं रहा । सच है, जिस कामके वश होकर श्रीकृष्ण लक्ष्मी द्वारा, महादेव गंगा द्वारा और ब्रह्मा उर्वशी द्वारा अपना प्रभुत्व—ईश्वरपना खो चुके तब बेचारे साधारण लोगोंकी तो कथा ही क्या कही जाय ?

सागरदत्तकी हालत उसके पिताको जान पड़ी। उसने एक दिन सागरदत्तसे कहा—देखो, जिनदत्त जैनी है, वह कभी अपनी कन्याको अजैनीके साथ नहीं ब्याहेगा । इस लिए तुम्हें यह उचित नहीं कि तुम अप्राप्य वस्तुके लिए इस प्रकार तड़फ तड़फ कर अपनी जानको जोखिममें डालो । तुम्हें यह अनुचित विचार छोड़ देना चाहिए । यह कहकर समुद्रदत्तने पुत्रके उत्तर पानेकी आशासे उसकी ओर देखा । पर जब सागरदत्त उसकी बातका कुछ भी जवाब न देकर नीची नजर किये ही बैठा रहा तब समुद्रदत्तको निराश हो जाना पड़ा । उसने समझ लिया कि इसके दो ही उपाय हैं । या तो पुत्रके जीवनकी आशासे हाथ धो बैठना या किसी तरह सेठकी लड़कीके साथ इसको ब्याह देना । पुत्रके जीनेकी आशाको छोड़ बैठनेकी अपेक्षा उसने किसी तरह नीलीके साथ उसका ब्याह कर देना ही अच्छा समझा । सच है, सन्तानका मोह मनुष्यसे सब कुछ करा

सकता है। इस सम्बन्धके लिए समुद्रदत्तके ध्यानमें एक युक्ति आई। वह यह कि इस दशामें उसने अपना और पुत्रका जैनी बनजाना बहुत ही अच्छा समझा और वे बन भी गये। अबसे वे मन्दिर जाने लगे, भगवान्की पूजा करने लगे, स्वाध्याय, व्रत, उपवास भी करने लगे। मतलब यह कि थोड़े ही दिनोंमें पिता-पुत्रने अपने जैनी हो जानेका लोगोंको विश्वास करा दिया और धीरे धीरे जिनदत्तसे भी इन्होंने अधिक परिचय बढ़ा लिया। बेचारा जिनदत्त सरल स्वभावका था और इसी लिए वह सबहीको अपनासा ही सरल-स्वभावी समझता था। यही कारण हुआ कि समुद्रदत्तका चक्र उस पर चल गया। उसने सागरदत्तको अच्छा पढ़ा लिखा, खूबसूरत और अपनी पुत्रीके योग्य वर समझकर नीलीको उसके साथ ब्याह दिया। सागरदत्तका मनोरथ सिद्ध हुआ। उसे नया जीनन मिला। इसके बाद थोड़े दिनों तक तो पिता-पुत्रने और अपनेको ढोंगी वेषमें रक्खा, पर फिर कोई प्रसंग लाकर वे पीछे बुद्धधर्मके माननेवाले होगये। सच है, मायाचारियों—पापियोंकी बुद्धि अच्छे धर्म पर स्थिर ही नहीं रहती। यह बात प्रसिद्ध है कि कुत्तेके पेटमें घी नहीं ठहरता।

जब इन पिता-पुत्रने जैनधर्म छोड़ा तब इन दुष्टोंने यहाँ तक अन्याय किया कि बेचारी नीलीका उसके पिताके घर-पर जाना-आना भी बन्द कर दिया। सच है, पापी लोग क्या नहीं करते! जब जिनदत्तको इनके मायाचारका यह हाल जान पड़ा तब उसे बहुत पश्चात्ताप हुआ—बेहद दुःख

हुआ। वह सोचने लगा—क्यों मैंने अपनी प्यारी पुत्रीको अपने हाथोंसे कूएमें ढकेल दिया ? क्यों मैंने उसे कालके हाथ सौंप दिया ? सच है, दुर्जनोंकी संगतिसे दुःखके सिवा कुछ हाथ नहीं पड़ता। नीचे जलती हुई अग्नि भी ऊपरकी छतको काली कर देती है।

जिनदत्तने जैसा कुछ किया उसका पश्चात्ताप उसे हुआ। पर इससे क्या नीली दुखी हो ? उसका यह धर्म था क्या ? नहीं ! उसे अपने भाग्यके अनुसार जो पति मिला, उसे ही वह अपना देवता समझती थी और उसकी सेवामें कभी रत्तीभर भी कमी नहीं होने देती थी। उसका प्रेम पवित्र और आदर्श था। यही कारण था कि वह अपने प्राणनाथकी अत्यन्त प्रेम-पात्र थी। विशेष इतना था कि नीलीने बुद्धधर्मके माननेवालोंके यहाँ आकर भी जिनधर्मको न छोड़ा था। वह बराबर भगवान्की पूजा, शास्त्र-स्वाध्याय, व्रत, उपवास—आदि पुण्यकर्म करती थी, धर्मात्माओंसे निष्कपट प्रेम करती थी और पात्रोंको दान देती थी। मतलब यह कि अपने धर्मकर्ममें उसे खूब श्रद्धा थी और भक्तिपूर्वक वह उसे पालती थी। पर खेद है कि समुद्रदत्तकी आँखोंमें नीलीका यह कार्य भी खटका करता था। उसकी इच्छा थी कि नीली भी हमारा ही धर्म पालने लगे। और इसके लिए उसने यह सोचकर, कि बुद्ध साधुओंकी संगतिसे या दर्शनसे या उनके उपदेशसे यह अवश्य बुद्धधर्मको मानने लगेगी। एक दिन नीलीसे कहा—पुत्री, तू पात्रोंको तो सदा दान दिया ही करती है, तब एक दिन अपने धर्मके ही अनुसार बुद्धसाधुओंको भी तो दान दे।

नीलीने श्वसुरकी बात मानली। पर उसे जिनधर्मके साथ उनकी यह ईर्षा ठीक नहीं लगी और इसी लिए उसने कोई ऐसा उपाय भी अपने मनमें सोच लिया, जिससे फिर कभी उससे ऐसा मिथ्या आग्रह किया जाकर उसके धर्म पालनमें किसी प्रकारकी बाधा न दी जाय। फिर कुछ दिन बाद उसने मौका देखकर कुछ बुद्ध साधुओंको भोजनके लिए बुलाया। वे आये। उनका आदरसत्कार भी हुआ। वे एक अच्छे सुन्दर कमरेमें बैठाये गये। इधर नीलीने उनके जूतोंको एक दासी द्वारा मँगवा लिया और उनका खूब बारीक बूरा बनवाकर उसके द्वारा एक किस्मकी बहुत ही बढ़िया मिठाई तैयार करवाई। इसके बाद जब वे साधु भोजन करनेको बैठे तब और और व्यंजन-मिठाइयोंके साथ वह मिठाई भी उन्हें परोसी गई। सबने उसे बहुत पसन्द किया। भोजन समाप्त हुए बाद जब जानेकी तैयारी हुई, तब वे देखते हैं तो जोड़े नहीं हैं। उन्होंने पूछा–जोड़े कहाँ गये? भीतरसे नीलीने आकर कहा–महाराज, सुनती हूं, साधु लोग बड़े ज्ञानी होते हैं, तब क्या आप अपने ही जूतोंका हाल नहीं जानते हैं? और यदि आपको इतना ज्ञान नहीं तो मैं बतला देती हूं कि जूते आपके पेटमें हैं। विश्वासके लिए आप उल्टी कर देखें। नीलीकी बात सुनकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने उल्टी करके देखा तो उन्हें जूतोंके छोटे छोटे बहुतसे टुकड़े देख पड़े। इससे उन्हें बहुत लज्जित होकर अपने स्थान पर आना पड़ा।

नीलीकी इस कार्रवाईसे–अपने गुरुओंके अपमानसे समुद्रदत्त, नीलीकी सासु, ननद आदिको बहुत ही गुस्सा

आया। पर भूल उनकी जो नीली द्वारा उसके धर्मविरुद्ध कार्य उन्होंने करवाना चाहा। इस लिए वे अपना मन मसोसकर रह गये—नीलीसे वे कुछ नहीं कह सके। पर नीलीकी ननदको इससे सन्तोष नहीं हुआ। उसने कोई ऐसा ही छल-कपटकर नीलीके माथे व्यभिचारका दोष मढ़ दिया। सच है, सत्पुरुषों पर किसी प्रकारका ऐब लगा देनेमें पापियोंको तनिक भी भय नहीं रहता। बेचारी नीली अपने पर झूठ-मूठ महान् कलंक लगा सुनकर बड़ी दुखी हुई। उसे कलंकित होकर जीते रहनेसे मर जाना ही उत्तम जान पड़ा। वह उसी समय जिनमन्दिरमें गई और भगवान्के सामने खड़ी होकर उसने प्रतिज्ञा की, कि मैं इस कलंकसे मुक्त होकर ही भोजन करूंगी, इसके अतिरिक्त मुझे इस जीवनमें अन्नपानीका त्याग है। इस प्रकार वह संन्यास लेकर भगवान्के सामने खड़ी हुई उनका ध्यान करने लगी। इस समय उसकी ध्यान मुद्रा देखनेके योग्य थी। वह ऐसी जान पड़ती थी मानों सुमेरु पर्वतकी स्थिर और सुन्दर जैसी चूलिका हो। सच है, उत्तम पुरुषोंको सुख या दुःखमें जिनेन्द्र भगवान् ही शरण होते हैं, जो अनेक प्रकारकी आपत्तियोंके नष्ट करनेवाले और इन्द्रादि देवों द्वारा पूज्य हैं।

नीलीकी इस प्रकार दृढ़ प्रतिज्ञा और उसके निर्दोष शीलके प्रभावसे पुरदेवताका आसन हिल गया। वह रातके समय नीलीके पास आई और बोली—सतियोंकी शिरोमणि, तुझे इस प्रकार निराहार रहकर प्राणोंको कष्टमें डालना उचित नहीं। सुन, मैं आज शहरके बड़े बड़े प्रतिष्ठित पुरुषोंको

तथा राजाको एक स्वप्न देकर शहरके सब दरवाजे बन्द कर दूंगी । वे तब खुलेंगे जब कि उन्हें कोई शहरकी महासती अपने पाँवोंसे छूएगी । सो जब तुझे राजकर्मचारी यहाँसे उठाकर लेजायँ तब तू उनका स्पर्श करना । तेरे पाँवके लगते ही दरवाजे खुल जायँगे और तू कलंक मुक्त होगी । यह कहकर पुरदेवता चली गई और सब दरवाजोंको बन्दकर उसने राजा वगैरहको स्वप्न दिया ।

सबेरा हुआ । कोई घूमनेके लिए, कोई स्नानके लिए और कोई किसी और कामके लिए शहर बाहर जाने लगे । जाकर देखते हैं तो शहर बाहर होनेके सब दरवाजे बन्द हैं । सबको बड़ा आश्चर्य हुआ । बहुत कुछ कोशिशें कीगईं, पर एक भी दरवाजा नहीं खुला । सारे शहरमें शोर मच गया । बातकी बातमें राजाके पास खबर पहुँची । इस खबरके पहुँचते ही राजाको रातमें आये हुए स्वप्नकी याद हो उठी । उसी समय एक बड़ी भारी सभा बुलाई गई । राजाने सबको अपने स्वप्नका हाल कह सुनाया । शहरके कुछ प्रतिष्ठित पुरुषोंने भी अपनेको ऐसा ही स्वप्न आया बतलाया । आखिर सबकी सम्मतिसे स्वप्नके अनुसार दरवाजोंका खोलना निश्चित किया गया । शहरकी स्त्रियाँ दरवाजोंका स्पर्श करनेको भेजी गईं । सबने उन्हें पाँवोंसे छूआ, पर दरवाजोंको कोई नहीं खोल सकी । तब किसीने, जो कि नीलीके संन्यासका हाल जानता था, नीलीको उठा लेजाकर उसके पावोंका स्पर्श करवाया । दरवाजे खुल गये । जैसे वैद्य सलाईके द्वारा आखोंको खोल देता है उसी तरह

नीलीने अपने चरणस्पर्शसे दरवाजोंको खोल दिया। नीलीके शीलकी बहुत प्रशंसा हुई। नीली कलंक-मुक्त हुई। उसके अखण्ड शीलप्रभावको देखकर लोगोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। राजा तथा शहरके और और प्रतिष्ठित पुरुषोंने बहुमूल्य वस्त्राभूषणों द्वारा नीलीका खूब सत्कार किया और इन शब्दोंमें उसकी प्रशंसा की—"हे जिनभगवान्‌के चरणकमलोंकी भौंरी, तुम खूब फूलो फलो। माता, तुम्हारे शीलका माहात्म्य कौन कह सकता है।" सती नीली अपने धर्मपर दृढ़ रही, उससे उसकी बड़े बड़े प्रतिष्ठित पुरुषोंने प्रशंसा की। इस लिए सर्व साधारणको भी सती नीलीका पथ ग्रहण करना चाहिए।

जिनके वचन सारे संसारका उपकार करनेवाले हैं, जो स्वर्गके देवों और बड़े बड़े राजा महाराजाओंसे पूज्य हैं और जिनका उपदेश किया हुआ पवित्र शील—ब्रह्मचर्य स्वर्ग तथा परम्परा मोक्षका देनेवाला है, वे जिनभगवान् संसारमें सदा काल रहें और उनके द्वारा कर्म-परवश जीवोंको कर्म पर विजय प्राप्त करनेका पवित्र उपदेश सदा मिलता रहे।

२९—कडारपिंगकी कथा।

अर्हन्त, जिनवाणी और गुरुओंको नमस्कार कर, कडारपिंगकी, जो कि स्वदारसन्तोषव्रत—ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट हुआ है, कथा लिखी जाती है।

कांपिल्य नामका एक प्रसिद्ध शहर था। उसके राजाका नाम नरसिंह था। नरसिंह बुद्धिमान् और धर्मात्मा थे। अपने राज्यका पालन वे नीतिके साथ करते थे। इस लिए प्रजा उन्हें बहुत चाहती थी।

राजमंत्रीका नाम सुमति था। इसके धनश्री स्त्री और कडारपिंग नामका एक पुत्र था। कडारपिंगका चाल-चलन अच्छा नहीं था। वह बड़ा कामी था। इसी नगरमें एक कुबेरदत्त सेठ रहता था। यह बड़ा धर्मात्मा और पूजा, प्रभावनाका करनेवाला था। इसकी स्त्री प्रियंगुसुन्दरी सरल स्वभावकी, पुण्यवती और बहुत सुन्दरी थी।

एक दिन कडारपिंगने प्रियंगुसुन्दरीको कहीं जाते देख लिया। उसकी रूप-मधुरिमाको देखकर इसका मन बेचैन हो उठा। यह जिधर देखता उधर ही इसे प्रियंगुसुन्दरी दिखने लगी। प्रियंगुसुन्दरीके सिवा इसे और कोई वस्तु अच्छी न लगने लगी। कामने इसे आपेसे भुला दिया। बड़ी कठिन-तासे उस दिन यह घर पर पहुँच पाया। इसे इस तरह बे-चैन और भ्रम-बुद्धि देखकर इसकी माको बड़ी चिन्ता हुई। उसने इससे पूछा–कडार, क्यों आज एकाएक तेरी यह दशा होगई? अभी तो तू घरसे अच्छी तरह गया था और थोड़ी ही देरमें तेरी यह हालत कैसे हुई? बतला तो, हुआ क्या? क्यों तेरा मन आज इतना खेदित हो रहा है? कडार-पिङ्गने कुछ न सोचा-विचारा, अथवा यों कह लीजिए कि सोच विचार करनेकी बुद्धि ही उसमें न थी। यही का-रण था कि उसने, कौन पूछनेवाली है, इसका भी कुछ खयाल

न कर कह दिया कि कुबेरदत्त सेठकी स्त्रीको मैं यदि किसी तरह प्राप्त कर सकूं, तो मेरा जीना हो सकता है। सिवा इसके मेरी मृत्यु अवश्यंभावी है। नीतिकार कहते हैं कि कामसे अन्धे हुए लोगोंको धिक्कार है जो लज्जा और भय-रहित होकर फिर अच्छे और बुरे कार्यको भी नहीं सोचते। बेचारी धनश्री पुत्रकी यह निर्लज्जता देखकर दंग रह गई। वह इसका कुछ उत्तर न देकर सीधी अपने स्वामीके पास गई और पुत्रकी सब हालत उसने उनसे कह सुनाई। सुमति एक राजमंत्री था और बुद्धिमान् था। उसे उचित था कि वह अपने पुत्रको पापकी ओरसे हटानेका यत्न करता, पर उसने इस डरसे, कि कहीं पुत्र मर न जाय, उलटा पाप-कार्यका सहायक बननेमें अपना हाथ बटाया। सच है, विनाश-काल जब आता है तब बुद्धि भी विपरीत हो जाया करती है। ठीक यही हाल सुमतिका हुआ। वह पुत्रकी आशा पूरी करनेके लिए एक कपट-जाल रचकर राजाके पास गया और बोला—महाराज, रत्नद्वीपमें एक किंजल्क जातिके पक्षी होते हैं, वे जिस शहरमें रहते हैं वहाँ महामारी, दुर्भिक्ष, रोग, अपमृत्यु—आदि नहीं होते तथा उस शहर पर शत्रुओंका चक्र नहीं चल पाता, और न चोर वगैरह उसे किसी प्रका-रकी हानि पहुँचा सकते हैं। और महाराज, उनकी प्राप्तिका भी उपाय सहज है। अपने शहरमें जो कुबेरदत्त सेठ हैं, उनका जाना आना प्रायः वहाँ हुआ करता है और वे हैं भी कार्यचतुर, इस लिए उन पक्षियोंके लानेको आप उन्हें आज्ञा कीजिये। अपने राजमंत्रीकी एक अभूतपूर्व बात सुन-

कर राजा तो पक्षियोंको मँगानेको अकुला उठे। भला, ऐसी आश्चर्य उपजानेवाली बात सुनकर किसे ऐसी अपूर्व वस्तुकी चाह न होगी? और इसी लिए महाराजने मंत्रीकी बातोंपर कुछ विचार न किया। उन्होंने उसी समय कुबेर-दत्तको बुलवाया और सब बात समझाकर उसे रत्नद्वीप जानेको कहा। बेचारा कुबेरदत्त इस कपट-जालको कुछ न समझ सका। वह राजाज्ञा पाकर घर पर आया और रत्नद्वीप जानेका हाल उसने अपनी विदुषी प्रियासे कहा। सुनते ही प्रियंगुसुन्दरीके मनमें कुछ खटका पैदा हुआ। उसने कहा—नाथ, जरूर कुछ दालमें काला है। आप ठगे गये हो। किंजल्क पक्षीकी बात बिल्कुल असंभव है। भला, कहीं पक्षियोंका भी ऐसा प्रभाव हुआ है? तब क्या रत्नद्वीपमें कोई मरता ही न होगा? बिल्कुल झूठ! अपने राजा सरल-स्वभावके हैं सो जान पड़ता है वे भी किसीके चक्रमें आगये हैं। मुझे जान पड़ता है, यह कारस्थान राजमंत्रीका किया हुआ है। उसका पुत्र कडारपिंग महा व्यभिचारी है। उसने मुझे एक दिन मन्दिर जाते समय देख लिया था। मैं उसकी पापभरी दृष्टिको उसी समय पहचान गई थी। मैं जितना ही ध्यानसे इस बात पर विचार करती हूं तो अधिक अधिक विश्वास होता जाता है कि इस षड्यंत्रके रचनेसे मंत्री महाशयकी मंशा बहुत बुरी है। उन्होंने अपनी पुत्रकी आशा पूरी करनेका और कोई उपाय न खोज पाकर आपको विदेश भेजना चाहा है। इस लिए अब आप यह करें कि यहाँसे तो आप रवाना हो जायँ, जिससे कि किसीको

सन्देह न हो, और रात होते ही जहाजको आगे जाने देकर आप वापिस लौट आइये। फिर देखिये कि क्या गुल खिलता है। यदि मेरा अनुमान ठीक निकले तब तो फिर आपके जानेकी कोई आवश्यकता नहीं और नहीं तो दश-पन्द्रह दिन बाद चले जाइयेगा।

प्रियंगुसुन्दरीकी बुद्धिमानी देखकर कुबेरदत्त बहुत खुश हुआ। उसने उसके कहे अनुसार ही किया। जहाज रवाना होगया। जब रात हुई तब कुबेरदत्त चुपचाप घर पर आकर छुप रहा। सच है, कभी कभी दुर्जनोंकी संगतिसे सत्पुरुषोंको भी वैसा ही हो जाना पड़ता है।

जब यह खबर कडारपिङ्गके कानोंमें पहुंची कि कुबेरदत्त रत्नद्वीपके लिए रवाना होगया तो उसकी प्रसन्नताका कुछ ठिकाना न रहा। वह जिस दिनके लिए तरस रहा था—बेचैन हो रहा था वही दिन उसके लिए जब उपस्थित हो गया तब वह क्यों न प्रसन्न होगा? प्रियंगुसुन्दरीके रूपका भूखा और कामसे उन्मत्त वह पापी कडारपिङ्ग बड़ी आशा और उत्सुकतासे कुबेरदत्तके घर पर आया। प्रियंगुसुन्दरीने इसके पहले ही उसके स्वागतकी तैयारीके लिए पाखाना जानेके कमरेको साफ-सुथरा करवाकर और उसमें बिना निवारका एक पलंग बिछवाकर उस पर एक चादर डलवा दी थी। जैसे ही मन्द मन्द मुसकाते हुए कुंवर कडारपिंग आये, उन्हें प्रियंगुसुन्दरी उस कमरेमें लिवा लेगई और पलंग पर बैठनेका उनसे उसने इशारा किया। कडारपिङ्ग प्रियंगुसुन्दरीको अपना इस प्रकार स्वागत करते देखकर,

जिसका कि उसे स्वप्नमें भी खयाल नहीं था, फूलकर कुप्पा होगया। वह समझने लगा, स्वर्ग अब थोड़ा ही ऊंचा रह गया है। पर उसे यह विचार भी न हुआ कि पापका फल बहुत बुरा होता है। खुशीमें आकर प्रियंगुसुन्दरीके इशारेके साथ ही जैसा वह पलंग पर बैठा कि धड़ामसे नीचे जा गिरा। जब वहाँकी भीषण दुर्गन्धने उसकी नाकमें प्रवेश किया तब उसे भान हुआ कि मैं कैसे अच्छे स्थान पर आया हूं। वह अपनी करनी पर बहुत पछताया, उसने बहुत आर्जू-मिन्नत अपने छुटकारा पानेके लिए की, पर उसकी इस आजिजी पर ध्यान देना प्रियंगुसुन्दरीको नहीं भाया। उसने उसे पापकर्मका उपयुक्त प्रायश्चित्त दिये विना छोड़ना उचित नहीं समझा। नारकी जैसे नरकोंमें पड़कर दुःख उठाते हैं, ठीक वैसे ही एक राजमंत्रीका पुत्र अपनी सब मान-मर्यादा पर पानी फेरकर अपने किये कर्मोंका फल आज पाखानेमें पड़ा पड़ा भोग रहा है। इस तरह कष्ट उठाते उठाते पूरे छह महिने बीत गये। इतनेमें कुबेरदत्तका जहाज भी रत्नद्वीपसे लौट आया। जहाजका आना सुनकर सारे शहरमें इस बातका शोर मच गया कि सेठ कुबेरदत्त किंजल्क पक्षी ले आये। इधर कुबेरदत्तने कडारपिंगको बाहर निकालकर उसे अनेक प्रकारके पक्षियोंके पीखोंसे खूब सजाया और काला मुहँ करके उसे एक विचित्र ही जीव बना दिया। इसके बाद उसने कडारपिंगके हाथ पांव बांध कर और उसे एक लोहेके पींजरेमें बन्दकर राजाके साम्हने ला उपस्थित किया। पश्चात्

कुबेरदत्तने मुसकुराते हुए यह कह कर, कि देव, यह आपका मँगाया किंजल्क पक्षी उपस्थित है, यथार्थ हाल राजासे कह दिया। सच्चा हाल जानकर राजाको मंत्री पुत्र पर बड़ा गुस्सा आया। उन्होंने उसी समय उसे गधे पर बैठाकर और सारे शहरमें घुमा-फिराकर उसके मार डालनेकी आज्ञा देदी। वही किया भी गया। कडारपिंगको अपनी करनीका फल मिल गया। वह बड़े खोटे परिणामोंसे मर कर नरक गया। सच है, परस्त्रीसक्त पुरुषकी नियमसे दुर्गति होती है। इसके विपरीत जो भव्य-पुरुष जिनभगवानके उपदेश किये और सुखोंके देनेवाले शीलव्रतके पालनेका सदा यत्न करते हैं, वे पद पद पर आदर-सत्कारके पात्र होते हैं। इस लिए उत्तम पुरुषोंको सदा परस्त्री-त्याग-व्रत ग्रहण किये रहना चाहिए।

भगवानके उपदेश किये हुए, देवों द्वारा प्रशंसित और स्वर्गमोक्षका सुख देनेवाले पवित्र शीलव्रतका जो मन, वचन, कायकी पवित्रताके साथ पालन करते हैं, वे स्वर्गोंका सुख भोगकर अन्तमें मोक्षके अनुपम सुखको प्राप्त करते हैं।

३०—देवरतिराजाकी कथा।

केवलज्ञान जिनका नेत्र है, उन जग-पवित्र जिनभगवानको नमस्कार कर देवरति नामक राजाका उपाख्यान लिखा जाता है, जो अयोध्याके स्वामी थे।

अयोध्या नगरीके राजा देवरति थे। उनकी रानीका नाम रक्ता था। वह बहुत सुन्दरी थी। राजा सदा उसीके नादमें लगे रहते थे। वे बड़े विषयी थे। शत्रु बाहरसे आकर राज्य पर आक्रमण करते, उसकी भी उन्हें कुछ परवा नहीं थी। राज्यकी क्या दशा है, इसकी उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की। जो धर्म और अर्थ पुरुपार्थको छोड़कर अनीतिसे केवल कामका सेवन करते हैं–सदा विषयवासनाके ही दास बने रहते हैं, वे नियमसे कष्टोंको उठाते हैं। देवरतिकी भी यही दशा हुई। राज्यकी ओरसे उनकी यह उदासीनता मंत्रियोंको बहुत बुरी लगी। उन्होंने राजकाजके सम्हालने की राजासे प्रार्थना भी की, पर उसका फल कुछ नहीं हुआ। यह देख मंत्रियोंने विचारकर देवरतिके पुत्र जयसेनको तो अपना राजा नियुक्त किया और देवरतिको उनकी रानीके साथ देश बाहर कर दिया। ऐसे कामको धिक्कार है, जिससे मान-मर्यादा धूलमें मिल जाय और अपनेको कष्ट सहना पड़े।

देवरति अयोध्यासे निकल कर एक भयानक वनीमें आये। रानीको भूखने सताया, पास खानेको एक अन्नका कण तक नहीं। अब वे क्या करें? इधर जैसे-जैसे समय बीतने लगा रानी भूखसे बेचैन होने लगी। रानीकी दशा देवरतिसे नहीं देखी गई। और देख भी वे कैसे सकते थे? उसीके लिए तो अपना राजपाट तक उन्होंने छोड़ दिया था। आखिर उन्हें एक उपाय सूझा। उन्होंने उसी समय अपनी जांघ काटकर उसका मांस पकाया और रानीको

खिलाकर उसकी भूख शान्त की। और प्यास मिटानेके लिए उन्होंने अपनी भुजाओंका खून निकाला और उसे एक औषधि बताकर पिलाया। इसके बाद वे धीरे धीरे यमुनाके किनारे पर आ पहुंचे। देवरतिने रानीको तो एक झाड़के नीचे बैठाया और आप भोजन-सामग्री लेनेको पासके एक गांवमें गये।

यहाँ पर एक छोटासा पर बहुत ही सुन्दर बगीचा था। उसमें एक कोई अपंग मनुष्य चड़स खींचता हुआ और गा रहा था। उसकी आवाज बड़ी मधुर थी। इस लिए उसका गाना बहुत मनोहारी और सुननेवालोंको प्रिय लगता था। उसके गानेकी मधुर आवाज रक्तारानीके भी कानोंसे टकराई। न जाने उसमें ऐसी कौनसी मोहक-शक्ति थी, जो रानीको उसने उसी समय मोह लिया और ऐसा मोहा कि उसे अपने निजत्वसे भी भुला दिया। रानी सब लाज-शरम छोड़कर उस अपंगके पास गई और उससे अपनी पाप-वासना उसने प्रगट की। वह अपंग कोई ऐसा सुन्दर न था, पर रानी तो उस पर जी जानसे न्यौछावर होगई। सच है, "काम न देखे जात कुजात"। राजरानीकी पाप-वासना सुनकर वह घबराकर रानीसे बोला—मैं एक भिखारी और आप राजरानी, तब मेरी आपकी जोड़ी कहाँ ? और मुझे आपके साथ देखकर क्या राजा साहब जीता छोड़ देंगे ? मुझे आपके शूरवीर और तेजस्वी प्रियतमकी सूरत देखकर कँपनी छूटती है। आप मुझे क्षमा कीजिये। उत्तरमें रानी महाशयाने कहा—इसकी तुम चिन्ता न करो। मैं उन्हें तो अभी ही परलोक पहुँचाये

देती हूं। सच है, दुराचारिणी स्त्रियाँ क्या क्या अनर्थ नहीं कर डालतीं। ये तो इधर बातें कर रहे थे कि राजा भी इतनेमें भोजन लेकर आगये। उन्हें दूरसे देखते ही कुलटा रानीने मायाचारसे रोना आरंभ किया। राजा उसकी यह दशा देखकर आश्चर्यमें आगये। हाथके भोजनको एक ओर पटककर वे रानीके पास दौड़े आकर बोले–प्रिये, प्रिये, कहो! जल्दी कहो!! क्या हुआ? क्या किसीने तुम्हें कुछ कष्ट पहुंचाया? तुम क्यों रो रही हो? तुम्हारा आज अकस्मात् रोना देखकर मेरा सब धैर्य छूटा जाता है। बतलाओ, अपने रोनेका कारण, जल्दी बतलाओ? रानी एक लम्बी आह भरकर बोली–प्राणनाथ, आपके रहते मुझे कौन कष्ट पहुंचा सकता है? परन्तु मुझे किसीके कष्ट पहुंचानेसे भी जितना दुःख नहीं होता उससे कहीं बढ़कर आज अपनी इस दशाका दुःख है। नाथ, आप जानते हैं आज आपकी जन्मगांठका दिन है। पर अत्यन्त दुःख है कि पापी दैवने आज मुझे इस भिखारिणीकी दशामें पहुंचा दिया। मेरे पास एक फूटी कौड़ी भी नहीं। बतलाइए, मैं आज ऐसे उत्सवके दिन आपकी जन्मगांठका क्या उत्सव मनाऊं? सच है नाथ, विना पुण्यके जीवोंको अथाह शोक-सागरमें डूब जाना पड़ता है। रानीकी प्रेम-भरी बातें सुनकर राजाका गला भर आया, आखोंसे आसू टपक पड़े। उन्होंने बड़े प्रेमसे रानीके मुंहको चूमकर कहा–प्रिये, इसके लिए कोई चिन्ता करनेकी बात नहीं। कभी वह दिन भी आयगा जिस दिन तुम अपनी कामनाओंको पूरी कर सकोगी। और न भी

आये तो क्या ? जब कि तुम जैसी भाग्यशालिनी जिसकी प्रिया है उसे इस बातकी कुछ परवा भी नहीं है। जिसने अपनी प्रियाकी सेवाके लिए अपना राजपाट तक तुच्छ समझा उसे ऐसी ऐसी छोटी बातोंका दुःख नहीं होता। उसे यदि दुःख होता है तो अपनी प्यारीको दुखी देखकर! प्रिये, इस शोकको छोड़ो। मेरे लिए तो तुम ही सब कुछ हो। हाय! ऐसे निष्कपट प्रेमका बदला जान लेकर दिया जायगा, इस बातकी खबर या संभावना बेचारे रतिदेवको स्वप्नमें भी नहीं थी। दैवकी विचित्र गति है।

राजाके इस हार्दिक और सच्चे प्रेमका पापिनी रानीके पत्थरके हृदय पर जरा भी असर न हुआ। वह ऊपरसे प्रेम बताकर बोली—अस्तु, नाथ, जो बात हो ही नहीं सकती उसके लिए पछाताना तो व्यर्थ ही है। पर तब भी मैं अपने चित्तको सन्तोषित करनेको इस पवित्र फूलकी माला द्वारा नाममात्रके ही लिए कुछ करती हूं। यह कहकर रानीने अपने हाथमें जो फूल गूँथनेकी रस्सी थी, उससे राजाको बांध दिया। बेचारा वह तब भी यही समझा कि रानी कोई जन्मगांठकी विधि करती होगी और यही समझ उसने खूब मजबूत बांधे जाने पर भी चूं तक नहीं किया। जब राजा बांध दिया गया और उसके निकलनेका कोई भय नहीं रहा तब रानीने इशारेसे उस अपंगको बुलाया और उसकी सहायतासे पास ही बहनेवाली यमुना नदीके किनारे-पर लेजाकर बड़े ऊँचेसे राजाको नदीमें ढकेल दिया और आप अब अपने दूसरे प्रियतमके पास रहकर अपनी

नीच मनोवृत्तियोंको सन्तुष्ट करने लगी। नीचता और कुलटापनकी हद होगई।

पुण्यका जब उदय होता है तब कोई कितना ही कष्ट क्यों न दे या कैसी ही भयंकर आपत्तिका क्यों न सामना करना पड़े, पर तब भी वह रक्षा पा जाता है। देवरतिके भी कोई ऐसा पुण्य-योग था, जिससे रानीके नदीमें डाल देनेपर भी वह बच गया। कोई गहरी चोट उसके नहीं आई। वह नदीसे निकलकर आगे बढ़ा। धीरे धीरे वह मंगलपुर नामक शहरके निकट आ पहुँचा। देवरति कई दिनों तक बराबर चलते रहनेसे बहुत थक गया था, उसे बीचमें कोई अच्छी जगह विश्राम करनेकी नहीं मिली थी, इस लिए अपनी थकावट मिटानेके लिए वह एक छायादार वृक्षके नीचे सोगया। मानों जैसे वह सुख देनेवाले जैनधर्मकी छत्रछायामें ही सोया हो।

मंगलपुरका राजा श्रीवर्धन था। उसके कोई सन्तान न थी। इसी समय उसकी मृत्यु होगई। मंत्रियोंने यह विचार कर, कि पट्टहाथीको एक जलभरा घड़ा दिया जाकर वह छोड़ा जाय और वह जिसका अभिषेक करे वही अपना राजा हो, एक हाथीको छोड़ा। दैवकी विचित्र लीला है, जो राजा है, उसे वह रंक बना देता है और जो रंक है, उसे संसारका चक्रवर्त्ती सम्राट बना देता है। देवरतिका दैव जब उसके विपरीत हुआ तब तो उसे उसने पथ पथका भिखारी बनाया, और अनुकूल होनेपर पीछा सब राज-योग मिला दिया। देवरति भरनींदमें झाड़के

नीचे सो रहा था। हाथी उधर ही पहुँचा और देवरतिका उसने अभिषेक कर दिया। देवरति बड़े आनन्द-उत्सवके साथ शहरमें लाया जाकर राज्य-सिंहासन पर बैठाया गया। सच है, पुण्य जब पल्लेमें होता है तब आपत्तियां भी सुखके रूपमें परिणत हो जाती हैं। इस लिए सुखकी चाह करनेवालोंको भगवान्के उपदेश किये हुए मार्ग द्वारा पुण्य-कर्म करना चाहिए। भगवान्की पूजा, पात्रोंको दान, व्रत, उपवास ये सब पुण्य-कर्म हैं। इन्हें सदा करते रहना चाहिए।

देवरति फिर राजा होगये। पर पहले और अबके राजापनमें बहुत फर्क है। अब वे स्वयं सब राज-काज देखा करते हैं। पहलेसे अब उनकी परिणतिमें भी बहुत भेद पड़ गया है। जो बातें पहले उन्हें बहुत प्यारी थीं और जिनके लिए उन्होंने राज्य-भ्रष्ट होना तक स्वीकार कर लिया था, अब वे ही बातें उन्हें अत्यन्त अप्रिय हो उठीं। अब वे स्त्री-नामसे घृणा करते हैं। वे एक कुलकलंकिनीका बदला सारे संसारकी स्त्रियोंको कुलकलंकिनी कहकर लेते हैं। वे अब गुणवती स्त्रियोंका भी मुहँ देखना पसन्द नहीं करते। सच है, जो एकवार दुर्जनों द्वारा ठग जाता है वह फिर अच्छे पुरुषोंके साथ भी वैसा ही व्यवहार करने लगता है। गरम दूधका जला हुआ छाछको भी फूँक फूँककर पीता है। देवरतिकी भी अब विपरीत गति है। अब वे स्त्रियोंको नहीं चाहते। वे सबको दान करते हैं, पर जो अपँग, लूला, लँगड़ा होता है, उसे वे एक अन्नका कण तक देना पाप समझते हैं।

इधर रक्तारानीने बहुत दिनों तक तो वहीं रहकर मजा मौज मारी और बाद वह उस अपँगको एक टोकरेमें रखकर देश

विदेश घूमने लगी। उस टोकरेको शिरपर रखे हुए वह जहाँ पहुँचती अपनेको महासती जाहिर करती और कहती कि माता-पिताने जिसके हाथ मुझे सौंपा वही मेरा प्राणनाथ है—देवता है। उसकी इस ठगाईसे बेचारे लोग ठगे जाकर उसे खूब रुपया पैसा देते। इसी तरह भिक्षा-वृत्ति करती करती रक्ता-रानी मंगलपुरमें आ निकली। वहाँ भी लोगोंकी उसके सतीत्व पर बड़ी श्रद्धा होगई। हाँ सच है, जिन स्त्रियोंने ब्रह्मा, विष्णु, महादेव सरीखे देवताओंको भी ठग लिया, तब साधा-रण लोग उनकी जालमें फँस जायँ इसका आश्चर्य क्या?

एक दिन ये दोनों गाते हुए राजमहलके सामने आये। इनके सुन्दर गानेको सुनकर ड्योढ़ीवानने राजासे प्रार्थना की—महाराज, सिंहद्वार पर एक सती अपने अपँग पतिको टोकरेमें रखकर और उसे सिर पर उठाये खड़ी है। वे दोनों बड़ा ही सुन्दर गाना जानते हैं। महाराजका वे दर्शन करना चाहते हैं। आज्ञा हो तो मैं उन्हें भीतर आनेदूं। इसके साथ ही सभामें बैठे हुए और और प्रतिष्ठित कर्मचारियोंने भी उनके देखनेकी इच्छा जाहिर की। राजाने एक पड़दा डलवाकर उन्हें बुलवानेकी आज्ञा की।

सती सिर पर टोकरा लिए भीतर आई। उसने कुछ गाया। उसके गानेको सुनकर सब मुग्ध होगये और उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे। राजाने उसकी आवाज सुनकर उसे पहिचान लिया। उसने पड़दा हटवाकर कहा—अहा, सचमुचमें यह महासती है! इसका सतीत्व मैं बहुत अच्छी तरह जानता हूं। इसके बाद ही उन्होंने अपनी सारी कथा

सभामें प्रगट करदी । लोग सुनकर दातोंतले अँगुली दबा गये । उसी समय महासती रक्ताके शहर बाहर करनेका हुक्म हुआ । देवरतिको स्त्रियोंका चरित देखकर बड़ा वैराग्य हुआ । उन्होंने अपने पहले पुत्र जयसेनको अयोध्यासे बुलवाया और उसे ही इस राज्यका भी मालिक कर आप श्रीयमधराचार्यके पास जिनदीक्षा ले गये, जो कि अनेक सुखोंकी देनेवाली है । साधु होकर देवरतिने खूब तपश्चर्या की, बहुतोंको कल्याणका मार्ग बतलाया और अन्तमें समाधिसे शरीर त्यागकर वे स्वर्गमें अनेक ऋद्धियोंके धारक देव हुए

रक्तारानी सरीखी कुलटा स्त्रियोंका घृणित चरित देखकर और संसार, शरीर, भोगादिकोंको इन्द्र-धनुषकी तरह क्षणिक समझकर जिन देवरति राजाने जिनदीक्षा ग्रहण कर मुनिपद स्वीकार किया, वे गुणोंके खजाने मुनिराज मुझे मोक्ष लक्ष्मीका स्वामी बनावें ।

३१—गोपवतीकी कथा ।

संसार द्वारा वन्दना-स्तुति किये गये और सब सुखोंको देनेवाले जिनभगवान्को नमस्कार कर गोपवतीकी कथा लिखी जाती है, जिसे सुनकर हृदयमें वैराग्य-भावना जगती है ।

पलासगांवमें सिंहबल नामका एक साधारण गृहस्थ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम गोपवती था। गोपवती बड़े दुष्ट स्वभावकी स्त्री थी। उसकी दिन रातकी खटपटसे बेचारा सिंहबल तबाह होगया। उसे एक पलभरके लिए भी गोपवतीके द्वारा कभी सुख नहीं मिला।

गोपवतीसे तंग आकर एक दिन सिंहबल पासहीके एक पद्मिनीखेट नामके गांवमें गया। वहां उसने अपनी पहली स्त्रीको विना कुछ पूछे-ताछे गुप्त रीतिसे सिंहसेन चौधरीकी सुभद्रा नामकी लड़कीसे, जो कि बहुत ही खूब सूरत थी, ब्याह कर लिया। किसी तरह यह बात गोपवतीको मालूम होगई। सुनते ही क्रोधके मारे वह आग-बबूला होगई। उससे सिंहबलका यह अपराध नहीं सहा गया। वह उसे उसके अपराधकी योग्य सजा देनेकी फिराकमें लगी।

एक दिन शामके कोई सात बजे होंगे कि गोपवती अपने घरसे निकलकर पद्मिनीखेट गई। उस समय कोई ग्यारह बज गये होंगे। गोपवती सीधी सिंहसेनके घर पहुँची। घरके लोगोंने समझा कि कोई आवश्यक कामके लिए यह आई होगी, सवेरा होने पर विशेष पूछ-ताछ करेंगे। यह विचार कर वे सब सोगये। गोपवती भी तब लोगोंको दिखानेके लिए सोगई। पर जब सबको नींद आगई, तब आप चुपकेसे उठी और जहाँ अपनी माके पास बेचारी सुभद्रा सोई हुई थी, वहाँ पहुँचकर उस पापि-नीने सुभद्राका मस्तक काट लिया और उसे लेकर आप रात-हीमें अपने घर पर आगई। सबेरा होते ही यह हाल सिंह-बलको मालूम हुआ। सुभद्राके मुर्देको देखकर उसे बेहद दुःख

हुआ। वह खिन्न मन होकर अपने घर आगया। उसे आया देखकर गोपवती अब उसका बड़ा आदर-सत्कार करने लगी। बड़ा स्नेह प्रगट कर उसे भोजन कराने लगी। पर सिंहबलके हृदय पर तो सुभद्राके मरणकी बड़ी गहरी चोट लगी थी, इस लिए उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता था और वह सदा उदास रहा करता था। और सच भी है, एक महा दुखीको भोजन वगैरहमें क्या प्रीति होनी होगी। सिंहबलकी सुभद्राके लिए यह दशा देख गोपवतीका क्रोध और भी बढ़ गया। एक दिन बेचारा सिंहबल उदास मनसे भोजन कर रहा था। यह देख गोपवतीने क्रोधसे सुभद्राका मस्तक लाकर उसकी थालीमें डाल दिया और बोली—हाँ विना इसके देखे तुझे भोजन अच्छा नहीं लगता था; अब तो अच्छा लगेगा न? सुभद्राके सिरको देखकर सिंहबल काँप गया। वह 'हाय! यह तो महाराक्षसी है' इस प्रकार जोरसे चिल्लाकर डरके मारे भागने लगा। इतनेमें राक्षसी गोपवतीने पास ही पड़े हुए भालेको उठाकर सिंहबलकी पीठमें इस जोरसे मारा कि वह उसी समय तड़फड़ा कर वहीं पर ढेर होगया। गोपवतीके ऐसे घृणित चारितको देखकर बुद्धिमानोंको उचित है कि वे दुष्ट स्त्रियों पर कभी विश्वास न लावें।

वे कर्मोंके जीतनेवाले जिनेन्द्र भगवान् संसारमें सर्व श्रेष्ठ कहलावें जो कामरूपी हाथीके मारनेको सिंह है, संसारका भय मिटानेवाले हैं, शान्ति, स्वर्ग और मोक्षके देनेवाले हैं और मोक्षरूपी रमणी-रत्नके स्वामी हैं। वे मुझे भी शान्ति प्रदान करें।

३२–वीरवतीकी कथा।
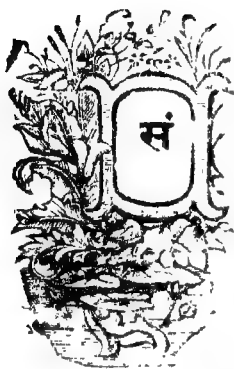
संसारके बन्धु, पवित्रताकी मूर्ति और मुक्तिका—स्वतंत्रताका सुख देनेवाले जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर वीरवती-का उपाख्यान लिखा जाता है, जो सत्पुरुषोंके लिए वैराग्यका बढ़ानेवाला है।

राजगृहमें धनमित्र नामका एक सेठ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम धारिणी और पुत्रका दत्त था। भूमिगृह नामक एक और नगर था। उसमें आनन्द नामका एक साधारण गृहस्थ रहता था। इसकी स्त्री मित्रवती थी। इसके एक वीरवती नामकी कन्या हुई। वीरवतीका ब्याह दत्तके साथ हुआ। सो ठीक ही है, जो सम्बन्ध दैवको मंजूर होता है उसे कौन रोक सकता है।

यहीं एक चोर रहता था। इसका नाम था गारक। किसी समय वीरवतीने इसे देखा। वह इसकी सुन्दरता पर मुग्ध होगई। एक वार दत्त रत्नद्वीपसे धन कमाकर घरकी ओर रवाना हुआ। रास्तेमें इसकी सुसराल पड़ी। इसे अपनी प्रियतमासे मिले बहुत दिन होगये थे, और यह उससे बहुत प्रेम भी करता था, इस लिए इसने सुसराल होकर घर जाना उचित समझा। यह रास्तेमें एक जंगलमें ठहरा। यहीं एक सहस्रभट नामके चोरने इसे

देखा। यहांसे चलते समय दत्तके पीछे यह चोर भी विनोदसे हो लिया और साथ साथ भूमिगृहमें आ पहुँचा।

सुसरालमें दत्तका बहुत कुछ आदर-सत्कार हुआ। वीरवती भी बड़े प्रेमके साथ इससे मिली। पर उसका चित्त स्वभाव-प्रसन्न न होकर कुछ बनावटको लिए था। उसका मन किसी गहरी चोटसे जर्जरित है, इस बातको चतुर पुरुष उसके चेहरेके रँगढँगसे बहुत जल्दी ताड़ सकता था। पर सरल-स्वभावी दत्त इसका रत्तीभर भी पता नहीं पा सका। कारण अपनी स्त्रीके सम्बन्धमें उसे स्वप्नमें भी किसी तरहका सन्देह न था। बात यह थी कि जिस चोरके साथ वीरवतीकी आशनाई थी, वह आज किसी बड़े भारी अपराधके कारण सूलीपर चढ़ाया जानेवाला था। वीरवतीको उसीका बड़ा रंज था और इसीसे उसका चित्त चल-विचल हो रहा था। रातके समय जब सब घरके लोग सोगये तब वीरवती अकेली उठी और हाथमें एक तलवार लिए वहीं पहुंची जहाँ अपराधी-सूली पर चढ़ाये जाते थे। इसे घरसे निकलते समय सहस्रभट चोरने देख लिया। वह यह देखनेके लिए कि इतनी रातमें वह अकेली कहाँ जाती है, उसके पीछे पीछे हो लिया। और वीरवतीको उसके पाँवोंकी आवाजसे जान पड़ा। कि अपने पीछे पीछे कोई आ रहा है, पर रात अँधेरी होनेसे वह उसे देख न सकी। तब उस दुष्टाने अपने हाथकी तलवारका एक वार पीछेकी ओर किया। उससे बेचारे सहस्रभटकी अँगुलियाँ कट गईं। तलवारको झटका लगनेसे उसे और दृढ़ विश्वास होगया कि पीछे कोई अवश्य

आ रहा है। वह देखनेके लिए खड़ी होगई, पर उसे कुछ सफलता प्राप्त न हुई। सहस्रभट कुछ ओर पीछे हट गया। वह फिर आगे बढ़ी। पास ही सूलीका स्थान उसे देख पड़ा। वह पीछे आनेवालेकी बात भूलकर दौड़ी हुई अपने जारके पास पहुँची। उसे सूली पर चढ़ाये बहुत समय नहीं हुआ था, इस लिए उसकी अभी कुछ साँसें बाकी थीं। वीरवतीको देखते ही उसने कहा— प्रिये, यही मेरी और तुम्हारी अन्तिम भेंट है। मैं तुम्हारी ही आशा लगाये अब तक जी रहा हूँ, नहीं तो कभीका मरमिटा होता। अब देर न कर मुझ दुखीको अन्तिम प्रेमालिंगन दे सुखी करो और आओ, अपने मुखका पान मेरे मुखमें देओ; जिससे मेरा जीवन जिसके लिए अब तक टिका है उस तुमसी सुन्दरीका आलिंगन कर शान्तिसे परमधाम सिधारे। हाय! इस कामको धिक्कार है, जो मृत्युके मुखमें पड़ा हुआ भी उसे चाहता है।

वीरवतीने अपने जारको सूली परसे उतारनेका कोई उपाय तत्काल न देखकर पासमें पड़े हुए कुछ मुर्दोंको इकट्ठा किया और उन्हें ऊपर तले रखकर वह उन पर चढ़ी और अपना मुँह उसके मुँहके पास लेजाकर बोली—प्रियतम, लो अपनी इच्छा पूरी करो। गारकने वीरवतीके मुँहका पान लेनेके लिए उसके ओठोंको अपने मुँहमें लिया था [illegible] ऐसा धक्का लगा जिससे वीरवतीके पाँव नीचेका मुर्दोंका ढेर खिसक जानेसे वीरवती नीचे आ गिरी और उसके ओठ कटकर गारकके ही मुँहमें रह गये। वीरवती वस्त्रसे अपना मुहँ छिपाकर दौड़ी दौड़ी घर पर आई और अपने पतिके सिरहाने पहुँचकर

उसने एक दम चिल्लाया कि दौड़ो! दौड़ो!! इस पापीने मेरा ओठ काट लिया और साथ ही बड़े जोरसे वह रोने लगी। उसी समय अड़ोस-पड़ोस और घरके लोगोंने आकर दत्तको बाँध लिया। सच है, पापिनी, कुलटा और अपने वंशका नाश करनेवाली स्त्रियाँ क्या नीच कर्म नहीं कर डालतीं?

सबेरा हुआ। दत्त राजाके सामने उपस्थित किया गया। उसका क्या अपराध है और वह सच है या झूठ, इसकी कुछ विशेष तलाश न की जाकर एकदम उसके मारनेका हुक्म दिया गया। पर यह सबको ध्यानमें रखना चाहिए कि जब पुण्यका उदय होता है तब मृत्युके समय भी रक्षा हो जाती है। पाठकोंको विनोदी सहस्रभटकी याद होगी। वह वीरवतीके अन्तिम कुकर्म तक उसके आगे पीछे उपस्थित ही रहा है। उसने सच्ची घटना अपनी आँखोंसे देखी है। वह इस समय यहीं उपस्थित था। राजाका दत्तके लिए मारनेका हुक्म सुनकर उससे न रहा गया। उसने अपनी कुछ परवा न कर सब सच्ची घटना राजासे कह सुनाई। राजा सुनकर दंग रह गया। उसने उसी समय अपने पहले हुक्मको रद्दकर निरपराध दत्तको रिहाई दी और वीरवतीको उसके अपराधकी उपयुक्त सजा दी। सच है पुण्यवानोंकी सभी रक्षा करते हैं।

दुष्ट स्त्रियोंका ऐसा घृणित और कलंकित चरित देखकर सबको उचित है कि वे दुःख देनेवाले विषयोंसे अपनी सदा रक्षा करें।

वे महात्मा धन्य हैं, जो भगवान्‌के उपदेश किये हुए पवित्र शील-व्रतसे विभूषित हैं, कामरूपी क्रूर हाथीको मारनेके लिए सिंह हैं–विषयोंको जिन्होंने जीत लिया है, ज्ञान, ध्यान, आत्मानुभवमें जो सदा मग्न हैं, विषयभोगोंसे निरन्तर उदास हैं, भव्यरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेमें जो सूर्य हैं और संसार-समुद्रसे पार करनेमें जो बड़े कर्मवीर खेवटिया हैं, वे सबका कल्याण करें।

३३–सुरत राजाकी कथा।

देवों द्वारा पूजा किये गये जिनभगवान्‌के चरणोंको भक्ति सहित नमस्कार कर सुरत नामके राजाका हाल लिखा जाता है।

सुरत अयोध्याके राजा थे। इनके पाँचसौ स्त्रियाँ थीं। उनमें पट्टरानीका पद महादेवी सतीको प्राप्त था। राजाका सती पर बहुत प्रेम था। वे रातदिन भोगोंमें ही आसक्त रहा करते थे–उन्हें राजकाजकी कुछ चिन्ता न थी। अन्तःपुरके पहरे पर रहनेवाले सिपाहीसे उन्होंने कह रक्खा था कि जब कोई खास मेरा कार्य हो या कभी कोई साधु-महात्मा यहाँ आवें तो मुझे उनकी सूचना देना। वैसे कभी कुछ कहनेको न आना।

एक दिन पुण्योदयसे एक महिनाके उपवासे दमदत्त और धर्मरुचि मुनि आहारके लिए राजमहलमें आये। उन्हें

देखकर द्वारपाल राजाके पास गया और नमस्कार कर उसने मुनियोंके आनेका हाल उनसे कहा। राजा इस समय अपनी प्राणप्रिया सतीके मुख-कमल पर तिलक-रचना कर रहे थे। वे सतीसे बोले—प्रिये, जब तक कि तुम्हारा तिलक न सूखे, मैं अभी मुनिराजोंको आहार देकर बहुत जल्दी आया जाता हूं। यह कहकर राजा चले आये। उन्होंने मुनिराजोंको भक्तिपूर्वक ऊँचे आसन पर बैठाकर नवधा भक्ति-सहित पवित्र आहार कराया, जो कि उत्तम सुखोंका देनेवाला है। सच है, दान, पूजा, व्रत, उपवासादिसे ही श्रावकोंकी शोभा है और जो इनसे रहित हैं वे फल-रहित वृक्षकी तरह निरर्थक समझे जाते हैं। इस लिए बुद्धिमानोंको उचित है कि वे पात्रदान, जिनपूजा, व्रत उपवासादिक सदा अपनी शक्तिके अनुसार करते रहें।

इधर तो राजाने मुनियोंको दान देकर पुण्य उत्पन्न किया और उधर उनकी प्राणप्रिया अपने विषय-सुखके अन्तराय करनेवाले मुनियोंका आना सुनकर बड़ी दुखी हुई। उसने अपना भला-बुरा कुछ न सोचकर मुनियोंकी निन्दा करना शुरू किया और खूब ही मनमाना उन्हें गालियाँ दीं। सन्तोंका यह कहना व्यर्थ नहीं है कि "इस हात दे, उस हात ले"। सतीके लिए यह नीति चरितार्थ हुई। अपने बाँधे तीव्र पापकर्मोंका फल उसे उसी समय मिल गया। रानीके कोढ़ निकल आया। सारा शरीर काला पड़ गया। उससे दुर्गन्ध निकलने लगी। आचार्य कहते हैं—हलाहल विष खालेना अच्छा है, जो एक ही जन्ममें कष्ट देता है,

पर जन्म जन्ममें दुःख देनेवाली मुनि-निन्दा करना कभी अच्छा नहीं। क्योंकि सन्त-महात्मा तो व्रत, उपवास, शील—आदिसे भूषित होते हैं और सच्चे आत्महितका मार्ग बतानेवाले हैं, वे निन्दा करने योग्य कैसे हों? और ये ही गुरु अज्ञानान्धकारको नष्ट करते हैं इस लिए दीपक हैं, सबका हित करते हैं, इस लिए बन्धु हैं, और संसाररूपी समुद्रसे पार करते हैं, इस लिए कर्मशील खेवटिया हैं। अतः हर प्रयत्न द्वारा इनकी आराधना, सेवा-शुश्रूषा करते रहना चाहिए।

जब राजा मुनिराजोंको आहार देकर निवृत्त हुए तब पीछे वे अपनी प्रियाके पास आगये। आते ही जैसे उन्होंने रानीका काला और दुर्गन्धमय शरीर देखा, वे बड़े अचंभेमें पड़ गये। पूछने पर उन्हें उसका कारण मालूम हुआ। सुनकर वे बहुत खिन्न हुए। संसार, शरीर, भोग उन्हें अब अप्रिय जान पड़ने लगे। उन्हें अपनी रानीका मुनि-निन्दारूप घृणित कर्म देखकर बड़ा वैराग्य हुआ। वे उसी समय सब राज-पाट छोड़कर योगी बन गये और अपना तथा संसारका हित करनेमें उद्यमी बने।

समय पाकर सतीकी मृत्यु हुई। अपने पापके फलसे वह संसाररूपी वनमें घूमने लगी। सो ठीक ही है, अपने किये पुण्य या पापका फल जीवोंको भोगना ही पड़ता है। इस प्रकार संसारकी विचित्र स्थिति जानकर आत्महितके चाहनेवाले सत्पुरुषोंको भगवान्‌के उपदेश किये पवित्र धर्म पर सदा विश्वास रखना चाहिए, जो कि स्वर्ग और मोक्षके सुखका प्रधान कारण है।

३४–विषयोंमें फँसे हुए संसारी जीवकी कथा।
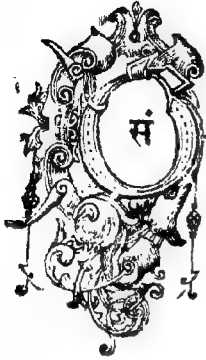
संसार-समुद्रसे पार करनेवाले सर्वज्ञ भगवानको नमस्कार कर संक्षेपसे संसारी जीवकी दशा दिखलाई जाती है, जो बहुत ही भयावनी है।

कभी कोई मनुष्य एक भयंकर वनीमें जा पहुँचा। वहाँ वह एक विकराल सिंहको देखकर डरके मारे भागा। भागते भागते अचानक वह एक गहरे कुएमें गिरा। गिरते हुए उसके हाथोंमें एक वृक्षकी जड़ें पड़ गईं। उन्हें पकड़ कर वह लटक गया। वृक्ष पर शहतका एक छत्ता जमा था। सो इस मनुष्यके पीछे भागे आते हुए सिंहके धक्केसे वृक्ष हिल गया। वृक्षके हिलजानेसे मधुमक्खियाँ उड़ गईं और छत्तेसे शहतकी बूँदें टप टप टपककर उस मनुष्यके मुहँमें गिरने लगीं। इधर कुएमें चार भयानक सर्प थे, सो वे उसे डसनेके लिए मुहँ बायें हुए फुंकार करने लगे और जिन जड़ोंको यह अभागा मनुष्य पकड़े हुए था, उन्हें एक काला और एक धोला ऐसे दो चूहे काट रहे थे। इस प्रकारके भयानक कष्टमें वह फँसा था, फिर भी उससे छुटकारा पानेका कुछ यत्न न कर वह मूर्ख स्वादकी लोलुपतासे उन शहतकी बूँदोंके लोभको नहीं रोक सका, और उलटा अधिक अधिक उनकी इच्छा करने लगा। इसी समय जाता हुआ कोई विद्याधर उस ओर आ निकला।

उस मनुष्यकी ऐसी कष्टमय दशा देखकर उसे बड़ी दया आई। विद्याधरने उससे कहा–भाई, आओ और इस वायुयानमें बैठो। मैं तुम्हें निकाले लेता हूं। इसके उत्तरमें उस अभागेने कहा–हाँ जरा आप ठहरें, यह शहतकी बूँद गिर रही है, मैं इसे लेकर ही निकलता हूं। वह बूँद गिर गई। विद्याधरने फिर उससे आनेको कहा। तब भी इसने वही उत्तर दिया कि हाँ यह बूँद आई जाती है, मैं अभी आया। गर्ज यह कि विद्याधरने उसे बहुत समझाया, पर वह "हाँ इस गिरती हुई बूँदको लेकर आता हूं," इसी आशामें फँसा रहा। लाचार होकर बेचारे विद्याधरको लौट जाना पड़ा। सच है, विषयों द्वारा ठगे गये जीवोंकी अपने हितकी ओर कभी प्रीति नहीं होती।

जैसे उस मनुष्यको उपकारी विद्याधरने कुएसे निकालना चाहा, पर वह शहतकी लोलुपतासे अपने हितको नहीं जान सका, ठीक इसी तरह विषयोंमें फँसा हुआ जीव संसाररूपी कुएमें कालरूपी सिंह द्वारा अनेक प्रकारके कष्ट पा रहा है, उसकी आयुरूपी डालीको दिनरात रु और काले चूहे काट रहे हैं, कुएके चार सर्परूपी चार गतियाँ इसे डसनेके लिए मुँह बायें खड़ी हैं, और गुरु इसे हितका उपदेश दे रहे हैं; तब भी यह अपना हित न कर शहतकी बूँदरूपी विषयोंमें लुब्ध हो रहा है और उनकी ही अधिक अधिक इच्छा करता जाता है। सच तो यह है कि अभी इसे दुर्गतियोंका दुःख बहुत भोगना है। इसी लिए सच्चे मार्गकी ओर इसकी दृष्टि नहीं जाती।

इस प्रकार यह संसाररूपी भयंकर समुद्र अत्यन्त दुःखोंका देनेवाला है और विषयभोग विष मिले भोजन या दुर्जनोंके समान कष्ट देनेवाले हैं। इस प्रकार संसारकी स्थिति देखकर बुद्धिमानोंको जिनेन्द्र भगवान्के उपदेश किये हुए पवित्र धर्मको, जो कि अविनाशी अनन्तसुखका देनेवाला है, स्थिर भावोंके साथ हृदयमें धारण करना उचित है।

३५–चारुदत्त सेठकी कथा।

देवों द्वारा पूजा किये गये जिनेन्द्र भगवान्के चरण-कमलोंको नमस्कार कर चारुदत्त सेठकी कथा लिखी जाती है।

जिस समयकी यह कथा है, तब चम्पापुरीका राजा शूरसेन था। राजा बड़ा बुद्धिवान् और प्रजाहितैषी [illegible] उसके नीतिमय शासनकी सारी प्रजा एक स्वरसे [illegible] यहीं एक इज्जतदार भानुदत्त सेठ रहता था। इसकी [illegible] नाम सुभद्रा था। सुभद्राके कोई सन्तान नहीं हुई। इस लिए वह सन्तान प्राप्तिकी इच्छासे नाना प्रकारके देवी-देवताओंकी पूजा किया करती थी, अनेक प्रकारकी मानताएं लिया करती थी; परन्तु तब भी उसका मनोरथ नहीं फला। सच तो है, कहीं कुदेवोंकी पूजा-स्तुतिसे कभी कार्य सिद्ध हुआ है क्या? एक दिन जब वह भगवान्के दर्शन करनेको मन्दिर गई तब वहाँ उसने एक चारण मुनिको देखे।

उन्हें नमस्कार कर उसने पूछा–प्रभो, क्या मेरा मनोरथ भी कभी पूर्ण होगा ? मुनिराज उसके हृदयके भावोंको जानकर बोले–पुत्री, इस समय तू जिस इच्छासे दिनरात कुदेवोंकी पूजा-मानता किया करती है, वह ठीक नहीं है। उससे लाभकी जगह उलटा हानि हो रही है। तू इस प्रकारकी पूजा-मानता द्वारा अपने सम्यक्त्वको नष्ट मत कर। तू विश्वास कर कि संसारमें अपने पुण्य-पापके सिवा और कोई देवी-देवता किसीको कुछ देने लेने समर्थ नहीं। अब तक तेरे पापका उदय था, इस लिए तेरी इच्छा पूरी न हो सकी। पर अब तेरे महान् पुण्यकर्मका उदय आवेगा, जिससे तुझे एक पुत्ररत्नकी प्राप्ति होगी। तू इसके लिए पुण्यके कारण पवित्र धर्मपर विश्वास कर।

मुनिराज द्वारा अपना भविष्य सुनकर सुभद्राको बहुत खुशी हुई। वह उन्हें नमस्कार कर घर चली गई। अबसे उसने सब कुदेवोंकी पूजा-मानता करना छोड़ दिया। वह अब जिन भगवान्के पवित्र धर्म पर विश्वास कर दान, पू[illegible]व्रत वगैरह करने लगी। इस दशामें उसके दिन बड़े [illegible] साथ कटने लगे। इसी तरह कुछ दिन बीतने पर मुनि[illegible]क [illegible] अनुसार उसके पुत्र हुआ। उसका नाम चारुदत्त रक्खा गया। वह जैसा जैसा बड़ा होता गया, साथमें उत्तम उत्तम गुण भी उसे अपना स्थान बनाते गये। सच है, पुण्यवानोंको अच्छी अच्छी सब बातें अपने आप प्राप्त होती चली आती हैं।

चारुदत्त बचपनहीसे पढ़ने लिखनेमें अधिक योग दिया करता था। यही कारण था कि उसे चौवीस पचीस वर्षका

होने पर भी किसी प्रकारकी विषय-वासना छू तक न गई थी। उसे तो दिन रात अपनी पुस्तकोंसे प्रेम था। उन्हींके अभ्यास, विचार, मनन, चिन्तनमें वह सदा मग्न रहा करता था और इसीसे बालपनसे ही वह बहुधा करके विरक्त रहता था। उसकी इच्छा नहीं थी कि वह ब्याहकर संसारके माया-जालमें अपनेको फँसावे, पर उसके माता-पिताने उससे ब्याह करनेका बहुत आग्रह किया। उनकी आज्ञाके अनुरोधसे उसे अपने मामाकी गुणवती पुत्री मित्रवतीके साथ ब्याह करना पड़ा।

ब्याह होगया सही, पर तब भी चारुदत्त उसका रहस्य नहीं समझ पाया। और इसी लिए उसने कभी अपनी प्रियाका मुँह तक नहीं देखा। पुत्रकी युवावस्थामें यह दशा देखकर उसकी माको बड़ी चिन्ता हुई। चारुदत्तकी विषयोंकी ओर प्रवृत्ति हो, इसके लिए उसने चारुदत्तको ऐसे लोगोंकी संगतिमें डाल दिया, जो व्यभिचारी थे। इससे उसकी माका अभिप्राय सफल अवश्य हुआ— चारुदत्त विषयोंमें फँस गया और खूब फँस गया। पर अब वह वेश्याका ही प्रेमी बन गया। उसने तबसे घरका मुंह तक नहीं देखा। उसे कोई लगभग बारह वर्ष वेश्याके यहीं रहते हुए बीत गये। इस अरसेमें उसने अपना घरका सब धन भी गमा दिया। चम्पामें चारुदत्तका घर अच्छे धनिकोंकी गिनतीमें था, पर अब वह एक साधारण स्थितिका आदमी रह गया। अभीतक चारुदत्तके खर्चके लिए उसके घरसे नगद रुपया आया करता था। पर अब

रुपया खुट जानेसे उसकी स्त्रीका गहना आने लगा। जिस वेश्याके साथ चारुदत्तका प्रेम था उसकी कुट्टिनी माने चारुदत्तको अब दरिद्र हुआ समझकर एक दिन अपनी लड़कीसे कहा–बेटी, अब इसके पास धन नहीं रहा, यह भिखारी हो चुका, इस लिए अब तुझे इसका साथ जल्दी छोड़ देना चाहिए। अपने लिए दरिद्र मनुष्य किस कामका। वही हुआ भी। वसन्तसेनाने उसे अपने घरसे निकाल बाहर किया। सच है, वेश्याओंकी प्रीति धनके साथ ही रहती है। जिसके पास जब तक पैसा रहता है उससे तभी तक वह प्रेम करती है। जहाँ धन नहीं वहाँ वेश्याका प्रेम भी नहीं। यह देख चारुदत्तको बहुत दुःख हुआ। अब उसे जान पड़ा कि विषय-भोगोंमें अत्यन्त आसक्तिका कैसा भयंकर परिणाम होता है। वह अब एक पलभरके लिए भी वहां पर न ठहरा और अपनी प्रियाके भूषण ले-लिवाकर विदेश चलता बना। उसे इस हालतमें माताको अपना कलंकित मुँह दिखलाना उचित नहीं जान पड़ा।

यहांसे चलकर चारुदत्त धीरे धीरे उत्कल देशके उशिरावर्त नामके शहरमें पहुँचा। चम्पासे जब यह रवाना हुआ तब साथमें इसका मामा भी होगया था। उशिरावर्तमें इन्होंने कपासकी खरीद की। यहाँसे कपास लेकर ये दोनों तामलिप्ता नामक पुरीकी ओर रवाना हुए। रास्तेमें ये एक भयंकर वनीमें जा पहुँचे। कुछ विश्रामके लिए इन्होंने यहीं डेरा डाल दिया। इतनेमें एक महा आँधी आई। उससे परस्परकी रगड़से बाँसोंमें आग लग उठी। हवा चल ही रही थी, सो आगकी

चिनगारियाँ उड़कर इनके कपासे पर जा पड़ी। देखते देखते वह सब कपास भस्मीभूत होगया। सच है, विना पुण्यके कोई काम सिद्ध नहीं हो पाता है। इस लिए पुण्य कमानेके लिए भगवान्के उपदेश किये मार्गपर सबको चलना कर्त्तव्य है। इस हानिसे चारुदत्त बहुत ही दुखी होगया। वह यहाँसे किसी दूसरे देशकी ओर जानेके लिए अपने मामासे सलाह कर समुद्रदत्त सेठके जहाज द्वारा पवनद्वीपमें पहुँचा। यहाँ इसके भाग्यका सितारा चमका। कुछ वर्ष यहाँ रहकर इसने बहुत धन कमाया। इसकी इच्छा अब देश लौट आनेकी हुई। अपनी माताके दर्शनोंके लिए इसका मन बड़ा अधीर हो उठा। इसने चलनेकी तैयारी कर जहाजमें सब धन-असबाब लाद दिया।

जहाज अनुकूल समय देख रवाना हुआ। अपनी 'स्वर्गादपि गरीयसी' जन्मभूमिकी ओ बढ़ा हुआ जा रहा था, चारुदत्तको उतनी ही प्रसन्नता होती जाती थी। पर यह कोई नहीं जान का चाहा कुछ नहीं होता। होता वही है जो दैव है। यही कारण हुआ कि चारुदत्तकी इच्छ और अचानक जहाज किसीसे टकरा कर दत्तका सब माल-असबाब समुद्रके चढ़ा। वह पीछा पहलेसा ही दरिद्र होगया। पर दुःख उठाते उठाते बड़ी सहन-शक्ति प्राप्त होगई थी। एक आनेवाले दुःखोंने उसे निराशाके गहरे गढ़ेसे निक. कर पूर्ण आशावादी और कर्त्तव्यशील बना दिया था। इस

लिए अबकी वार उसे अपनी हानिका कुछ विशेष दुःख नहीं हुआ। वह फिर धन कमानेके लिए विदेश चल पड़ा। उसने अबकी वार भी बहुत धन कमाया। घर लौटते समय फिर भी उसकी पहलेसी दशा हुई। इतनेमें ही उसके बुरे कर्मोंका अन्त न हो गया; किन्तु ऐसी ऐसी भयंकर घटनाओंका कोई सात वार उसे सामना करना पड़ा। इसने कष्ट पर कष्ट सहा, पर अपने कर्त्तव्यसे यह कभी विमुख नहीं हुआ। अबकी वार जहाजके फट जानेसे यह समुद्रमें गिर पड़ा। इसे अपने जीवनका भी सन्देह होगया था। इतनेमें भाग्यसे बहकर आता हुआ एक लकड़ेका तख्ता इसके हाथ पड़ गया। ``कर इसके जीमें जी आया। किसी तरह यह उसकी `े समुद्रके किनारे आ लगा। यहाँसे चलकर यह हुँचा। यहाँ इसे एक विष्णुमित्र नामका संन्यासी ासीने इसके द्वारा कोई अपना काम निकलता : बड़ी सज्जनताका इसके साथ बरताव किया। यह समझकर कि यह कोई भला आदमी है, ालत उससे कह दी। चारुदत्तको धनार्थी समझ- उससे बोला–मैं समझा, तुम धन कमानेको घर अच्छा हुआ तुमने मुझसे अपना सब हाल। प१ ।सर्फ धनके लिए अब तुम्हें इतना कष्ट न पड़ेगा। आओ, मेरो साथ आओ, यहाँसे कुछ दूर- जंगलमें एक पर्वत है। उसकी तलहटीमें एक कूआ है। वह रसायनसे भरा हुआ है। उससे सोना बनाया जाता है। सो तुम उसमेंसे कुछ थोड़ासा रस ले जाओ। उससे तुम्हारी

सब दरिद्रता नष्ट हो जायगी । चारुदत्त संन्यासीके पीछे पीछे हो लिया । सच है, दुर्जनों द्वारा धनके लोभी कौन कौन नहीं ठगे गये !

संन्यासी और उसके पीछे पीछे चारुदत्त ये दोनों एक पर्वतके पास पहुँचे । संन्यासीने रस लानेकी सब बातें समझाकर चारुदत्तके हाथमें एक तूँबी दी और एक सींके पर उसे बैठाकर कुएमें उतार दिया । चारुदत्त तूंबीमें रस भरने लगा । इतनेमें वहाँ बैठे हुए एक मनुष्यने उसे रस भरनेसे रोका । चारुदत्त पहले तो डरा, पर जब उस मनुष्यने कहा तुम डरो मत, तब कुछ सम्हलकर वह बोला–तुम कौन हो, और इस कुएमें कैसे आये ? कुएमें बैठा हुआ मनुष्य बोला, सुनिए, मैं उज्जयिनीमें रहता हूं । मेरा नाम धनदत्त है । मैं किसी कारणसे सिंहलद्वीप गया था । वहाँसे लौटते समय तूफानमें पड़कर मेरा जहाज फट गया । धन-जनकी बहुत हानि हुई । मेरे हाथ एक लकड़का पटिया लग जानेसे अथवा यों कहिए कि दैवकी दयासे मैं बच गया । समुद्रसे निकलकर मैं अपने शहरकी ओर जा रहा था कि रास्तेमें मुझे यही संन्यासी मिला । यह दुष्ट मुझे धोखा देकर यहाँ लाया । मैंने कुएमेंसे इसे रस भरकर ला दिया । इस पापीने पहले तूँबी मेरे हाथसे लेली और फिर आप रस्सी काटकर भाग-गया । मैं आकर कुएमें गिरा । भाग्यसे चोट तो अधिक न आई, पर दो तीन दिन इसमें पड़े रहनेसे मेरी तबियत बहुत बिगड़ गई और अब मेरे प्राण घुट रहे हैं । उसकी हा-लत सुनकर चारुदत्तको बड़ी दया आई । पर वह ऐसी

जगहमें फँस चुका था, जिससे उसके जिलानेका कुछ यत्न नहीं कर सकता था। चारुदत्तने उससे पूछा–तो मैं इस संन्यासीको रस भरकर न दूं? धनदत्तन कहा–नहीं, ऐसा मत करो; रस तो भरकर दे ही दो, अन्यथा यह ऊपरसे पत्थर वगैरह मारकर बड़ा कष्ट पहुँचायेगा। तब चारुदत्तने एक वार तो तूंबीको रससे भरकर सींकेमें रख दिया। संन्यासीने उसे निकाल लिया। अब चारुदत्तको निकालनेके लिए उसने फिर सींका कुएमें डाला। अबकी वार चारुदत्तने स्वयं सींके पर न बैठकर बड़े बड़े वजनदार पत्थरोंको उसमें रख दिया। संन्यासी उस पत्थर भरे सींके पर चारुदत्तको बैठा समझकर, जब सींका आधी दूर आया तब उसे काटकर आप चलता बना। चारुदत्तकी जान बच गई। उसने धनदत्तका बड़ा उपकार मानकर कहा–मित्र, इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज तुमने मुझे जीवन दान दिया और इसके लिए मैं तुम्हारा जन्मजन्ममें ऋणी रहूँगा। हाँ और यह तो कहिए कि इससे निकलनेका भी कोई उपाय है क्या? धनदत्त बोला–यहाँ रस पीनेको प्रतिदिन एक गो आया करती है। तब आज तो वह चली गई। कल सवेरे वह फिर आवेगी सो तुम उसकी पूँछ पकड़कर निकल जाना। इतना कहकर वह बोला–अब मुझसे बोला नहीं जाता। मेरे प्राण बड़े संकटमें हैं। चारुदत्तको यह देख बड़ा दुःख हुआ कि वह अपने उपकारीकी कुछ सेवा नहीं कर पाया। उससे और तो कुछ नहीं बना, पर इतना तो उसने तब भी किया कि धनदत्तको पवित्र जिनधर्मका उपदेश

देकर, जो कि उत्तम गतिका साधन है, पंच नमस्कार मंत्र सुनाया और साथ ही संन्यास भी लिवा दिया।

सबेरा हुआ। सदाकी भांति आज भी गो रस पीनेके लिए आई। रस पीकर जैसे ही वह जाने लगी चारुदत्तने उसकी पूँछ पकड़ली। उसके सहारेसे वह बाहर निकल आया। यहाँसे इस जंगलको लांघकर यह एक ओर जाने लगा। रास्तेमें इसकी अपने मामा रुद्रदत्तसे भेंट होगई। रुद्रदत्तने चारुदत्तका सब हाल जानकर कहा—तो चलिए अब हम रत्नद्वीपमें चलें। वहाँ अपना मनोरथ अवश्य पूरा होगा। धनकी आशासे ये दोनों अब रत्नद्वीप जानेको तैयार हुए। रत्नद्वीप जानेके लिए पहले एक पर्वत पर जाना पड़ता था, और पर्वत पर जानेका जो रास्ता था, वह बहुत सँकड़ा था। इस लिए पर्वत पर जानेके लिए इन्होंने दो बकरे खरीद किये और उन पर सवार होकर ये रवाना होगये। जब ये पर्वत पर कुशल पूर्वक पहुँच गये तब पापी रुद्रदत्तने चारुदत्तसे कहा—देखो, अब अपनेको यहाँ पर इन दोनों बकरोंको मारकर दो चमड़ेकी थैलियाँ बनानी चाहिए और उन्हें उलटकर उनके भीतर घुस दोनोंका मुहँ सीलेना चाहिए। मांसके लोभसे यहाँ सदा ही भेरुण्ड-पक्षी आया करते हैं। सो वे अपनेको उठा ले-जाकर उस पार रत्नद्वीपमें ले-जायंगे। वहाँ जब वे हमें खाने लगे तब इन थैलियोंको चीरकर हम बाहर हो जायँगे। मनुष्यको देखकर पक्षी उड़ जायँगे और ऐसा करनेसे बहुत सीधी तरह अपना काम बन जायगा।

चारुदत्तने रुद्रदत्तकी पापमयी बात सुनकर उसे बहुत फटकारा और वह साफ इंकार कर गया कि मुझे ऐसे पाप द्वारा

प्राप्त किये धनकी जरूरत नहीं। सच है, दयावान् कभी ऐसा अनर्थ नहीं करते। रातको ये दोनों सोगये। चारुदत्तको स्वप्नमें भी यह खयाल न था कि रुद्रदत्त सचमुच इतना नीच होगा और इसी लिए वह निःशंक होकर सो गया था। जब चारुदत्तको खूब गाढ़ी नींद आगई तब पापी रुद्रदत्त चुपकेसे उठा और जहाँ बकरे बँधे थे वहाँ गया। उसने पहले अपने बकरेको मार डाला और चारुदत्तके बकरेका भी उसने आधा गला काट दिया होगा कि अचानक चारुदत्तकी नींद खुल गई। रुद्रदत्तको अपने पास सोया न पाकर उसका सिर ठनका। वह उठकर दौड़ा और बकरोंके पास पहुँचा। जाकर देखता है तो पापी रुद्रदत्त बकरेका गला काट रहा है। चारुदत्तको काटो तो खून नहीं। वह क्रोधके मारे भर्रा गया। उसने रुद्रदत्तके हाथसे छुड़ी तो छुड़ाकर फैंकी और उसे खूब ही सुनाई। सच है, कौन ऐसा पाप है, जिसे निर्दयी पुरुष नहीं करते ?

उस अधमरे बकरेको टगर टगर देखते देखकर दयासे चारुदत्तका हृदय भर आया। उसकी आँखोंसे आसुओंकी बूँदें टपकने लगीं। पर वह उसके बचानेका प्रयत्न करनेके लिए लाचार था। इस लिए कि वह प्रायः काटा जा चुका था। उसकी शान्तिके साथ मृत्यु होकर वह सुगति लाभ करे, इसके लिए चारुदत्तने इतना अवश्य किया कि उसे पंच नमस्कारमंत्र सुनाकर संन्यास दे दिया। जो धर्मात्मा जिनेन्द्र भगवान्के उपदेशका रहस्य समझनेवाले हैं, उनका जीवन सच पूछो तो केवल परोपकारके लिए ही होता है।

चारुदत्तने बहुतेरा चाहा कि मैं पीछा लौट जाऊं, पर वापिस लौटनेका उसके पास कोई उपाय न था। इस लिए अत्यन्त लाचारीकी दशामें उसे भी रुद्रदत्तकी तरह उस थैली का शरण लेना पड़ा। उड़ते हुए भेरुण्ड-पक्षी पर्वत पर दो मांस-पिण्ड पड़े देखकर आये और उन दोनोंको चोंचोंसे उठा चलते बने। रास्तेमें उनमें परस्पर लड़ाई होने लगी। परिणाम यह निकला कि जिस थैलीमें रुद्रदत्त था, वह पक्षीकी चोंचसे छूट पड़ी। रुद्रदत्त समुद्रमें गिर कर मर गया। मरकर वह पापके फलसे कुगतिमें गया। ठीक भी है, पापियोंकी कभी अच्छी गति नहीं होती। चारुदत्तकी थैलीको जो पक्षी लिए था, उसने उसे रत्नद्वीपके एक सुन्दर पर्वतपर ले-जाकर रख दिया। इसके बाद पक्षीने उसे चोंचसे चीरना शुरू किया। उसका कुछ भाग चीरते ही उसे चारुदत्त देख पड़ा। पक्षी उसी समय डरकर उड़ भागा। सच है, पुण्यवानोंका कभी कभी तो दुष्ट भी हित करनेवाले हो जाते हैं। जैसे ही चारुदत्त थैलीके बाहर निकला कि धूपमें ध्यान लगाये एक महात्मा उसे देख पड़े। उन्हें ऐसी कड़ी धूपमें मेरुकी तरह निश्चल खड़े देखकर चारुदत्तकी उन पर बहुत श्रद्धा होगई। चारुदत्त उनके पास गया और बड़ी भक्तिसे उसने उनके चरणोंमें अपना सिर नवाया। मुनि-राजका ध्यान पूरा होते ही उन्होंने चारुदत्तसे कहा—चारु-दत्त, क्यों तुम अच्छी तरह तो हो न? मुनि द्वारा अपना नाम सुनकर चारुदत्तको कुछ सन्तोष तो इस लिए अवश्य हुआ कि एक अत्यन्त अपरिचित देशमें उसे कोई पहचा-

नता भी है, पर इसके साथ ही उसके आश्चर्यका भी कुछ ठिकाना न रहा। वह बड़े विचारमें पड़ गया कि मैंने तो कभी इन्हें कहीं देखा नहीं, फिर इन्होंने ही मुझे कहाँ देखा था! अस्तु, जो हो, इन्हींसे पूछता हूं कि ये मुझे कहाँसे जानते हैं। वह मुनिराजसे बोला–प्रभो, मालूम होता है आपने मुझे कहीं देखा है, बतलाइए तो आपको मैं कहाँ मिला था? मुनि बोले–"सुनो, मैं एक विद्याधर हूं। मेरा नाम अमितगति है। एक दिन मैं चम्पापुरीके बगीचेमें अपनी प्रियाके साथ सैर करनेको गया हुआ था। इसी समय एक धूमसिंह नामका विद्याधर वहाँ आगया। मेरी सुन्दर स्त्रीको देखकर उस पापीकी नियत डगमगी। कामसे अँधे-हुए उस पापीने अपनी विद्याके बलसे मुझे एक वृक्षमें कील दिया और मेरी प्यारीको विमानमें बैठाकर मेरे देखते देखते आकाश मार्गसे चल दिया। उस समय मेरे कोई ऐसा पुण्यकर्मका उदय आया सो तुम उधर आ निकले। तुम्हें दयावान समझकर मैंने तुमसे इशारा करके कहा–वे औषधियाँ रक्खी हैं, उन्हें पीसकर मेरे शरीर पर लेप दीजिए। आपने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर वैसा ही किया। उससे दुष्ट विद्याओंका प्रभाव नष्ट हुआ और मैं उन विद्याओंके पंजेसे छूट गया। जैसे गुरुके उपदेशसे जीव माया, मिथ्याकी कीलसे छूट जाता है। मैं उसी समय दौड़ा हुआ कैलास पर्वत पर पहुँचा और धूमसिंहको उसके कर्मका उचित प्रायश्चित्त देकर उससे अपनी प्रियाको छुड़ा लाया। फिर मैंने आपसे कुछ प्रार्थना की कि आप जो इच्छा हो वह मुझसे माँगे, पर आप मुझसे

कुछ भी लेनेके लिए तैयार नहीं हुए। सच तो यह है कि महात्मा लोग दूसरोंका भला किसी प्रकारकी आशासे करते ही नहीं। इसके बाद मैं आपसे बिदा होकर अपने नगरमें आ गया। मैंने इसके पश्चात् कुछ वर्षोंतक और राज्य किया—राज्यश्रीका खूब आनन्द लूटा। बाद आत्मकल्याणकी इच्छासे पुत्रोंको राज्य सौंपकर मैं दीक्षा ले-गया, जो कि संसारका भ्रमण मिटानेवाली है। चारणऋद्धिके प्रभावसे मैं यहाँ आकर तपस्या कर रहा हूं। मेरा तुम्हारे साथ पुराना परिचय है, इसी लिए मैं तुम्हें पहचानता हूं।" सुनकर चारुदत्त बहुत खुश हुआ। वह जब तक वहाँ बैठा रहा, इसी बीचमें इन मुनिराजके दो पुत्र इनकी पूजा करनेको वहाँ आये। मुनिराजने चारुदत्तका कुल हाल उन्हें सुनाकर उसका उनसे परिचय कराया। परस्परमें मिलकर इन सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। थोड़े ही समयके परिचयसे इनमें अत्यन्त प्रेम बढ़ गया।

इसी समय एक बहुत खूबसूरत युवा यहाँ आया। सबकी दृष्टि उसके दिव्य तेजकी ओर जा-लगी। उस युवाने सबसे पहले चारुदत्तको प्रणाम किया। यह देख चारुदत्तने उसे ऐसा करने रोक कर कहा—तुम्हें पहले गुरु महाराजको नमस्कार करना उचित है। आगत युवाने अपना परिचय देते हुए कहा—मैं बकरा था। पापी रुद्रदत्त जब मेरा आधा गला काट चुका होगा कि उसी समय मेरे भाग्यसे आपकी नींद खुल गई। आपने आकर मुझे नमस्कार मंत्र सुनाया और साथ ही संन्यास दे दिया। मैं शान्त भावोंसे मरकर

मंत्रके प्रभावसे सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ। इस लिए मेरे गुरु तो आप ही हैं–आपहीने मुझे सन्मार्ग बतलाया है। इसके बाद सौधर्म-देव धर्म-प्रेमसे बहुत सुन्दर सुन्दर और मूल्यवान् दिव्य वस्त्राभरण चारुदत्तकी भेंट कर और उसे नमस्कार कर स्वर्ग चला गया। सच है, जो परोपकारी हैं उनका सब ही बड़ी भक्तिके साथ आदर-सत्कार करते हैं।

इधर वे विद्याधर सिंहयश और वराहग्रीव मुनिराजको नमस्कार कर चारुदत्तसे बोले–चलिए, हम आपको आपकी जन्मभूमि चम्पापुरीमें पहुँचा आवें। इससे चारुदत्तको बड़ी प्रसन्नता हुई और वह जानेको सहमत होगया। चारुदत्तने इसके लिए उनसे बड़ी कृतज्ञता प्रगट की। उन्होंने चारुदत्तको उसके सब माल-असबाब सहित बहुत जल्दी विमान-द्वारा चम्पापुरीमें ला रक्खा। इसके बाद वे उसे नमस्कार कर और आज्ञा लेकर अपने स्थान लौट गये। सच है, पुण्यसे संसारमें क्या नहीं होता! और पुण्यप्राप्तिके लिए जिनभगवान्‌के द्वारा उपदेश किये दान, पूजा, व्रत, शीलरूप चार प्रकार पवित्र धर्मका सदा पालन करते रहना चाहिए।

अचानक अपने प्रिय पुत्रके आजानेसे चारुदत्तके माता-पिताको बड़ी खुशी हुई। उन्होंने बारबार उसे छातीसे लगा कर वर्षोंसे वियोगाग्निसे जलते हुए अपने हृदयको ठंडा किया। चारुदत्तकी प्रिया मित्रवतीके नेत्रोंसे दिनरात बहती हुई वियोग-दुःखाश्रुओंकी धारा और आज प्रियको देखकर बहनेवाली आनन्दाश्रुओंकी धाराका अपूर्व समागम हुआ। उसे जो सुख आज मिला, उसकी समानतामें स्वर्गका दिव्य

सुख तुच्छ है। बातकी बातमें चारुदत्तके आनेके समाचार सारी पुरीमें पहुँच गये। और उससे सभीको आनन्द हुआ।

चारुदत्त एक समय बड़ा धनी था। अपने कुकर्मोंसे वह पथ-पथका भिखारी बना। पर जबसे उसे अपनी दशाका ज्ञान हुआ तबसे उसने केवल कर्त्तव्यको ही अपना लक्ष्य बनाया और फिर कर्मशील बनकर उसने कठिनसे कठिन काम किया। उसमें कई वार उसे असफलता भी प्राप्त हुई, पर वह निराश नहीं हुआ और काम करता ही चला गया। अपने उद्योगसे उसके भाग्यका सितारा फिर चमक उठा और वह आज पूर्ण तेज प्रकाश कर रहा है। इसके बाद चारुदत्तने बहुत वर्षोंतक खूब सुख भोगा और जिनधर्मकी भी भक्तिके साथ उपासना की। अन्तमें उदासीन होकर वह अपनी जगह पर अपने सुन्दर नामके पुत्रको नियुक्तकर आप दीक्षा ले-गया। मुनि होकर उसने खूब तप किया और आयुके अन्तमें संन्यास सहित मृत्यु प्राप्त कर स्वर्ग लाभ किया। स्वर्गमें वह सुखके साथ रहता है, अनेक प्रकारके उत्तमसे उत्तम भोगोंको भोगता है, सुमेरु और कैलासपर्वत आदि स्थानोंके जिनमन्दिरोंकी यात्रा करता है, विदेहक्षेत्रमें जाकर साक्षात् तीर्थंकर केवली भगवान्की स्तुति-पूजा करता है और उनका सुख देनेवाला पवित्र धर्मोपदेश सुनता है। मतलब यह कि उसका प्रायः समय धर्मसाधन-हीमें वीतता है। और इसी जिनभगवान्के उपदेश किये निर्मल धर्मकी इन्द्र, नागेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि सभी सदा भक्ति पूर्वक उपासना करते हैं, यही धर्म स्वर्ग

और मोक्षका देनवाला है। इस लिए यदि तुम्हें श्रेष्ठ सुखकी चाह है तो तुम भी इसी धर्मका आश्रय लो।

३६–पाराशरमुनिकी कथा।

जिनेन्द्र भगवानको नमस्कार कर अन्यमतोंकी असत्कल्पनाओंका सत्पुरुषोंको ज्ञान हो, इस लिए उन्हींके शास्त्रोंमें लिखी हुई पाराशर नामक एक तपस्वीकी कथा यहाँ लिखी जाती है।

हस्तिनागपुरमें गंगभट नामका एक धीवर रहा करता था। एक दिन वह पाप-बुद्धि एक बड़ी भारी मछलीको नदीसे पकड़कर लाया। घर लाकर उस मछलीको जब उसने चीरा तो उसमेंसे एक सुन्दर कन्या निकली। उसके शरीरसे बड़ी दुर्गन्ध निकल रही थी। उस धीवरने उसका नाम सत्यवती रक्खा। वही उसका पालन पोषण भी करने लगा। पर सच पूछो तो यह बात सर्वथा असंभव है। कहीं मछलीसे भी कन्या पैदा हुई है? खेद है कि लोग आँख बन्द किये ऐसी ऐसी बातों पर भी अन्धश्रद्धा किये चले आते हैं।

जब सत्यवती बड़ी होगई तो एक दिनकी बात है कि गंगभट सत्यवतीको नदी किनारे नाव पर बैठा कर आप किसी कामके लिए घर पर आगया। इतनेमें रास्तेका थका हुआ

एक पाराशर नामका मुनि, जहाँ सत्यवती नाव लिए बैठी हुई थी, वहाँ आया। वह सत्यवतीसे बोला—लड़की, मुझे नदी पार जाना है, तू अपनी नाव पर बैठाकर पार उतार दे तो बहुत अच्छा हो। भोली सत्यवतीने उसका कहा मान लिया और नावमें उसे अच्छी तरह बैठाकर वह नाव खेने लगी। सत्यवती खूबसूरत तो थी ही और इस पर वह अब तेरह चौदह वर्षकी हो चुकी थी; इस लिए उसकी खिलती हुई नई जवानी थी। उसकी मनोमधुर सुन्दरताने तपस्वीके तपको डगमगा दिया। वह कामवासनाका गुलाम हुआ। उसने अपनी पापमयी मनोवृत्तिको सत्यवती पर प्रगट किया। सत्यवती सुनकर लजा गई, और डरी भी। वह बोली—महाराज, आप साधु-सन्त, सदा गंगास्नान करनेवाले और शाप देने तथा दया करनेमें समर्थ, और मैं नीच जातिकी लड़की, इस पर भी मेरा शरीर दुर्गन्धमय, फिर मैं आप सरीखोंके योग्य कैसे हो सकती हूं? पाराशरको इस भोली लड़कीके निष्कपट हृदयकी बात पर भी कुछ शर्म नहीं आई, और कामियोंको शर्म होती भी कहां? उसने सत्यवतीसे कहा—तू इसकी कुछ चिन्ता न कर। मैं तेरा शरीर अभी सुगन्धमय बनाये देता हूं। यह कहकर पाराशरने अपने विद्याबलसे उसके शरीरको देखते देखते सुगन्धमय कर दिया। उसके प्रभावको देखकर सत्यवतीको राजी हो जाना पड़ा। कामी पाराशरने अपनी वासना नावमें ही मिटाना चाहा, तब सत्यवती बोली—आपको इसका खयाल नहीं कि सब लोग देखकर क्या कहेंगे? तब पाराशरने आकाशको धुँधला कर,

जिससे कोई देख न सके, और अपनी इच्छा.................
इसके बाद उसने नदीके बीचमें ही एक छोटासा गाँव बसाया और सत्यवतीके साथ ब्याहकर आप वहीं रहने लगा।

एक दिन पाराशर अपनी वासनाओंकी तृप्ति कर रहा था कि उस समय सत्यवतीके एक व्यास नामका पुत्र हुआ। उसके सिरपर जटाएँ थीं, वह यज्ञोपवीत पहरे हुआ था और उसने उत्पन्न होते ही अपने पिताको नमस्कार किया। पर लोगोंका यह कहना उन्मत्त पुरुषोंके सरीखा है और न किसी ज्ञान-नेत्रवालेकी समझमें ये बातें आवेंगी ही। क्यों कि वे समझते हैं कि समझदार कभी ऐसी असंभव बातें नहीं कहते; किन्तु भक्तिके आवेशमें आकर असत्तत्त्वपर विश्वास लानेवालोंने ऐसा लिख दिया है। इस लिए बुद्धिवानोंको उचित है कि वे उन विद्वानोंकी संगति करें जो जैनधर्मका रहस्य समझनेवाले हैं, और जैनधर्मसे ही प्रेम करें, और उसीके शास्त्रोंका भक्ति और श्रद्धाके साथ अध्ययन करें– उनमें अपनी पवित्र बुद्धिको लगावें, इसीसे उन्हें सच्चा सुख प्राप्त होगा।

३७–सात्यकि और रुद्रकी कथा।

वलज्ञान ही जिनका नेत्र है, ऐसे जिनभगवानको नमस्कार कर शास्त्रोंके अनुसार-सात्यकि और रुद्रकी कथा लिखी जाती है।

गन्धारदेशमें महेश्वरपुर एक सुन्दर शहर था। उसके राजा सत्यन्धर थे। सत्यन्धरकी प्रियाका

नाम सत्यवती था। इनके एक पुत्र हुआ। उसका नाम सात्यकि था। सात्यकिने राजविद्यामें अच्छी कुशलता प्राप्त की थी। और ठीक भी है, राजा विना राजविद्याके शोभा भी नहीं पाता।

इस समय सिन्धुदेशकी विशाला नगरीका राजा चेटक था। चेटक जैनधर्मका पालक और जिनेन्द्रभगवान्का सच्चा भक्त था। इसकी रानीका नाम सुभद्रा था। सुभद्रा बड़ी पतिव्रता और धर्मात्मा थी। इसके सात कन्याएँ थीं। उनके नाम थे—पवित्रा, मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती, चेलिनी, जेष्ठा और चन्दना।

सम्राट् श्रेणिकने चेटकसे चेलिनीके लिए मँगनीकी थी, पर चेटकने उनकी आयु अधिक देखकर लड़की देनेसे इंकार कर दिया। इससे श्रेणिकको बहुत बुरा लगा। अपने पिताके दुःखका कारण जानकर अभयकुमार उनका एक बहुत ही बढ़िया चित्र बनवाकर विशालामें पहुँचा। उसने वह चित्र चेलिनीको बतलाकर उसे श्रेणिक पर मुग्ध कर लिया। पर चेलिनीके पिताको उसका ब्याह श्रेणिकसे करना सम्मत नहीं था। इस लिए अभयकुमारने गुप्त मार्गसे चेलिनीको ले जानेका विचार किया। जब चेलिनी उसके साथ जानेको तैयार हुई तब ज्येष्ठाने उससे अपनेको चलनेके लिए भी कहा। चेलिनी सहमत तो होगई, पर उसे उसका ले चलना इष्ट नहीं था; इस लिए जब ये दोनों बहिनें थोड़ी दूर गई होंगी कि धूर्त्ता चेलिनीने जेष्ठासे कहा—बहिन, मैं अपने आभूषण तो सब महलहीमें भूल आई हूं। तू जाकर उन्हें लेआ न?

मैं तब तक यही खड़ी हूं। बेचारी भोली जेष्ठा उसके झाँसेमें आकर चली गई। वह थोड़ी दूर पहुँची होगी कि इसने इधर आगेका रास्ता पकड़ा और जब तक जेष्ठा संकेत स्थान-पर आती है तब तक यह बहुत दूर आगे बढ़ आई। अपनी बहिनकी इस कुटिलता या धोखेबाजीसे जेष्ठाको बेहद दुःख हुआ। और इसी दुःखके मारे वह यशस्वती आर्यिकाके पास दीक्षा ले-गई। ज्येष्ठाकी सगाई सत्यन्धरके पुत्र सात्य-किसे हो चुकी थी। पर जब सात्यकिने उसका दीक्षा ले-लेना सुना तो वह भी विरक्त होकर समाधिगुप्त मुनि द्वारा दीक्षा लेकर मुनि बन गया।

एक दिन यशस्वती, ज्येष्टा आदि आर्यिकाएँ श्रीवर्द्धमान भगवान्‌की बन्दना करनेको चलीं। वे सब एक बनीमें पहुँची होगी कि पानी बरसने लगा, और खूब बरसा। इससे इस आर्यिकासंघको बड़ा कष्ट हुआ। कोई किधर और कोई किधर, इस तरह उनका सब संघ तितर बितर हो गया। ज्येष्टा एक कालगुहा नामकी गुहामें पहुँची। वह उसे एकान्त समझ-कर शरीरसे भीगे वस्त्रोंको उतार कर उन्हें निचोड़ने लगी। भाग्यसे सात्यकि मुनि भी इसी गुहामें ध्यान कर रहे थे। सो उन्होंने ज्येष्ठा आर्यिकाका खुला शरीर देख लिया। देखते ही विकारभावोंसे उनका मन भ्रष्ट हुआ और उन्होंने अपने शीलरूपी मौलिक रत्नको आर्यिकाके शरीररूपी अग्निमें झोंक दिया। सच है, कामसे अन्धा बना मनुष्य क्या नहीं कर डालता।

गुराणी यशस्वती ज्येष्ठाकी चेष्टा वगैरहसे उसकी दशा जान गई। और इस भयसे कि धर्मका अपवाद न हो, वह

ज्येष्ठाको चेलिनीके पास रख आई। चेलिनीने उसे अपने यहाँ गुप्त रीतिसे रख लिया। सो ठीक ही है, सम्यग्दृष्टि निन्दा आदिसे शासनकी सदा रक्षा करते हैं।

नौ महिने होने पर ज्येष्ठाके पुत्र हुआ। पर श्रेणिकने इस रूपमें प्रगट किया कि चेलिनीके पुत्र हुआ। ज्येष्ठा उसे वहीं रखकर आप पीछी आर्यिकाके संघमें चली आई और प्रायश्चित्त लेकर तपस्विनी हो गई। इसका लड़का श्रेणिकके यहीं पलने लगा। बड़ा होने पर वह और और लड़कोंके साथ खेलनेको जाने लगा। पर संगति इसकी अच्छे लड़कोंके साथ नहीं थी, इससे इसके स्वभावमें कठोरता अधिक आ गई। यह अपने साथके खेलनेवाले लड़कोंको रुद्रताके साथ मारने-पीटने लगा। इसकी शिकायत महारानीके पास आने लगी। महारानीको इस पर बड़ा गुस्सा आया। उसने इसका ऐसा रौद्र स्वभाव देखकर नाम भी इसका रुद्र रख दिया। सो ठीक ही है जो वृक्ष जड़से ही खराब होता है तब उसके फलोंमें मीठापन आ भी कहाँसे सकता है। इसी तरह रुद्रसे एक दिन और कोई अपराध बन पड़ा। सो चेलिनीने अधिक गुस्सेमें आकर यह कह डाला कि किसने तो इस दुष्टको जना और किसे यह कष्ट देता है! चेलिनीके मुँहसे, जिसे कि यह अपनी माता समझता है, ऐसी अचंभा पैदा करनेवाली बात सुनकर बड़े गहरे विचारमें पड़ गया। इसने सोचा कि इसमें कोई कारण जरूर होना चाहिए। यह सोचकर यह श्रेणिकके पास पहुँचा और उनसे इसने आग्रहके साथ पूछा—पिताजी, सच बतलाइए, मेरे वास्तवमें पिता कौन है और कहाँ है?

श्रेणिकने इस बातके बतानेको बहुत आनाकानी की। पर जब रुद्रने बहुत ही उनका पीछा किया और किसी तरह वह नहीं मानने लगा तब लाचार हो उन्हें सब सच्ची बात बता देनी पड़ी। रुद्रको इससे बड़ा वैराग्य हुआ और वह अपने पिताके पास जाकर मुनि होगया।

एक दिन रुद्र ग्यारह अंग और दश पूर्वका बड़े ऊँचेसे पाठ कर रहा था। उस समय श्रुतज्ञानके माहात्म्यसे पाँचसौ तो कोई बड़ी बड़ी विद्याएँ और सातसौ छोटी छोटी विद्याएँ सिद्ध होकर आई। उन्होंने अपनेको स्वीकार करनेकी रुद्रसे प्रार्थना की। रुद्रने लोभके वश हो उन्हें स्वीकार तो कर लिया, पर लोभ आगे होनेवाले सुख और कल्याणके नाशका कारण होता है, इसका उसने कुछ विचार न किया।

इस समय सात्यकि मुनि गोकर्ण नामके पर्वतकी ऊँची चोटी पर प्रायः ध्यान किया करते थे। समय गर्मीका था। उनकी बन्दनाको अनेक धर्मात्मा भव्य-पुरुष आया जाया करते थे। पर जबसे रुद्रको विद्याएँ सिद्ध हुई, तबसे वह मुनि-बन्दनाके लिए आनेवाले धर्मात्मा पुरुषोंको अपने विद्या-बलसे सिंह, व्याघ्र, गेंडा, चीता आदि हिंस्र और भयंकर पशुओं द्वारा डराकर पर्वत पर न जाने देता था। सात्यकि मुनिको जब यह हाल ज्ञात हुआ तब उन्होंने इसे समझाया और ऐसे दुष्ट कार्य करनेसे रोका। पर इसने उनका कहा नहीं माना और अधिक अधिक यह लोगोंको कष्ट देने लगा। सात्यकिने तब कहा–तेरे इस पापका फल बहुत बुरा होगा। तेरी तपस्या नष्ट होगी। तू स्त्रियों द्वारा तपभ्रष्ट होकर

आखिर मृत्युका ग्रास बनेगा । इस लिए अभी तुझे सम्हल जाना चाहिए । जिससे कुगतियोंके दुःख न भोगना पड़े । रुद्र पर उनके इस कहनेका भी कुछ असर न हुआ । वह और अपनी दुष्टता करता ही चला गया । सच है, पापियोंके हृदयमें गुरुओंका अच्छा उपदेश कभी नहीं ठहरता ।

एक दिन रुद्रमुनि प्रकृतिके दृश्योंसे अपूर्व मनोहरता धारण किये हुए कैलास पर्वत पर गया और वहाँ तापन योग द्वारा तप करने लगा । इसके बीचमें एक और कथा है, जिसका इसीसे सम्बन्ध है । विजयार्द्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें मेघनिबद्ध, मेघनिचय और मेघनिदान ऐसे तीन सुन्दर शहर हैं । उनका राजा था कनकरथ । कनकरथकी रानीका नाम मनोहरा था । इसके दो पुत्र हुए । एक देवदारु और दूसरा विद्युज्जिह्व । ये दोनों भाई खूबसूरत भी थे और विद्वान् भी थे । इन्हें योग्य देखकर इनका पिता कनथरथ राज्यशासनका भार बड़े पुत्र देवदारुको सौंप आप गणधर मुनिराजके पास दीक्षा लेकर योगी बन गया । सबको कल्याणके मार्ग पर लगाना ही एक मात्र अब इसका कर्त्तव्य होगया ।

दोनों भाइयोंकी कुछ दिनोंतक तो पटी, पर वादमें किसी कारणको लेकर बिगड़ पड़ी । उसका फल यह निकला कि छोटे भाईने राज्यके लोभमें फँस कर और अपने बड़े भाईके विरुद्ध षड्यंत्र रच उसे राज्यसे निकाल दिया । देवदारुको अपने मानभंगका बड़ा दुःख हुआ । वह वहाँसे चलकर कैलास पर आया और यहीं पर रहने भी लगा । सच है, घरेलू झगड़ोंसे कौन नष्ट नहीं हो जाता । देवदारुके

आठ कन्याएँ थीं और सब ही बड़ी सुन्दर थीं। सो एक दिन ये सब बहिनें मिलकर तलाब पर स्नान करनेको आईं। अपने सब कपड़े उतारकर ये नहानेको जलमें घुसीं। रुद्र मुनिने इन्हें खुले शरीर देखा। देखते ही वह कामसे पीड़ा जाकर इन पर मोहित हो गया। उसने अपनी विद्या द्वारा उनके सब कपड़े चुरा मँगाये। कन्याएँ जब नहाकर जल बाहर हुईं तब उन्होंने देखा कपड़े वहाँ नहीं; उन्हें बड़ा ही आश्चर्य हुआ। वे खड़ी खड़ी बेचारी लज्जाके मारे सिकुड़ने लगीं और व्याकुल भी वे अत्यन्त हुईं। इतनेमें उनकी नजर रुद्रमुनि पर पड़ी। उन्होंने मुनिके पास जाकर बड़े संकोचके साथ पूछा–प्रभो, हमारे वस्त्रोंको यहाँसे कौन ले गया? कृपाकर हमें बतलाइए। सच है, पापके उदयसे आपत्ति आ पड़ने पर लज्जा–संकोच सब जाता रहता है। पापी रुद्र मुनिने निर्लज्ज होकर उन कन्याओंसे कहा–हाँ मैं तुम्हारे वस्त्र वगैरह सब बता सकता हूं, पर इस शर्त पर कि यदि तुम मुझे चाहने लगो। कन्याओंने तब कहा–हम अभी अबोध ठहरीं, इस लिए हमें इस बात पर विचार करनेका कोई अधिकार नहीं। हमारे पिताजी यदि इस बातको स्वीकार करलें तो फिर हमें कोई उजर नहीं रहेगा। कुलबालिकाओंका यह उत्तर देना उचित ही था। उनका उत्तर सुनकर मुनिने उन्हें उनके वस्त्र वगैरह दे दिये। उन बालिकाओंने घर पर आकर यह सब घटना अपने पितासे कह सुनाई। देवदारुने तब अपने एक विश्वस्त कर्मचारीको मुनिके पास कुछ बातें समझाकर भेजा। उसने जाकर देवदारुकी ओरसे कहा–आपकी इच्छा देव-

दारु महाराजको जान पड़ी। उसके उत्तरमें उन्होंने यह कहा है कि हाँ मैं अपनी लड़कियोंको आपको अपर्ण कर सकता हूं, पर इस शर्त पर कि "आप विद्युज्जिह्वको मारकर मेरा राज्य पीछा मुझे दिलवादें।" रुद्रने यह स्वीकार किया। सच है, कामी पुरुष कौन पाप नहीं करता। रुद्रको अपनी इच्छाके अनुकूल देख देवदारु उसे अपने घर पर लिवा लाया। और बहुत ठीक है, राज्य-भ्रष्ट राजा राज्यप्राप्तिके लिए क्या काम नहीं करता।

इसके बाद रुद्र विजयार्द्ध पर्वत पर गया और विद्याओंकी सहायतासे उसने विद्युज्जिह्वको मारकर उसी समय देवदारुको राज्य-सिंहासन पर बैठा दिया। राज्यप्राप्तिके बाद ही देवदारुने भी अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। अपनी सब लड़कियोंका ब्याह आनन्द-उत्सवके साथ उसने रुद्रसे कर दिया। इसके सिवा उसने और भी बहुतसी कन्याओंको उसके साथ ब्याह दिया। रुद्र तब बहुत ही कामी होगया। उसके इस प्रकार तीव्र कामसेवनका नतीजा यह हुआ कि सैकडों बेचारी राजबालिकाएँ अकालहीमें मर गईं। पर यह पापी तब भी सन्तुष्ट नहीं हुआ। इसने अबकी बार पार्वतीके साथ ब्याह किया। उसके द्वारा इसकी कुछ तृप्ति जरूर हुई।

कामी होनेके सिवा इसे अपनी विद्याओंका भी बड़ा घमण्ड होगया था। इसने सब राजाओंको विद्याबलसे बड़ा कष्ट दे रक्खा था—विना ही कारण यह सबको तंग किया करता था। और सच भी है दुष्टसे किसे शान्ति मिल सकती है। इसके द्वारा बहुत तंग आकर पार्वतीके पिता

तथा और भी बहुतसे राजाओंने मिलकर इसे मार डालनेका विचार किया। पर इसके पास था विद्याओंका बल, सो उसके सामने होनेकी किसीकी हिम्मत न पड़ती और पड़ती भी तो वे कुछ कर नहीं सकते। तब उन्होंने इस बातका शोध लगाया कि विद्याएँ इससे किस समय अलग रहती हैं। इस उपायसे उन्हें सफलता प्राप्त हुई। उन्हें यह ज्ञात होगया कि कामसेवनके समय सब विद्याएँ रुद्रसे पृथक् हो जाती हैं। सो मौका देखकर पार्वतीके पिता वगैरहने खड्ग द्वारा रुद्रको सस्त्रीक मारडाला। सच है, पापियोंके मित्र भी शत्रु हो जाया करते हैं।

विद्याएँ अपने स्वामीकी मृत्यु देखकर बड़ी दुखी हुईं और साथ ही उन्हें क्रोध भी अत्यन्त आया। उन्होंने तब प्रजाको दुःख देना शुरू किया और अनेक प्रकारकी बीमारियाँ प्रजामें फैलादीं। उससे वेचारी गरीब प्रजा त्राह त्राह कर उठी। इसी समय एक ज्ञानी मुनि इस ओर आ निकले। प्रजाके कुछ लोगोंने जाकर मुनिसे इस उपद्रवका कारण और उपाय पूछा। मुनिने सब कथा कहकर कहा–जिस अवस्थामें रुद्र मारा गया है, उसकी एकबार स्थापना करके उससे क्षमा कराओ। वैसा ही किया गया। प्रजाका उपद्रव शान्त हुआ। पर तब भी लोगोंकी मूर्खता देखो जो एक-बार कोई काम किसी कारणको लेकर किया गया सो उसे अब तक भी गडारिया प्रवाहकी तरह करते चले आते हैं और देवताके रूपमें उसकी सेवा-पूजा करते हैं। पर यह ठीक नहीं। सच्चा देव वही हो सकता है जिसमें राग, द्वेष

नहीं, जो सबका जानने और देखनेवाला है और जिसे स्वर्ग-के देव, चक्रवर्त्ती, विद्याधर, राजा, महाराजा आदि सभी बड़े बड़े लोग मस्तक झुकाते हैं । और ऐसे देव एक अर्हन्त भगवान् ही हैं ।

वे जिन भगवान् मुझे शान्ति दें, जो अनन्त उत्तम उत्तम गुणोंके धारक हैं, सब सुखोंके देनेवाले हैं, दुःख, शोक, सन्तापके नाश करनेवाले हैं, केवलज्ञानके रूपमें जो संसा-रका आताप हर कर उसे शीतलता देनेवाले चन्द्रमा हैं और तीनों लोकोंके स्वामियों द्वारा जो भक्तिपूर्वक पूजे जाते हैं ।

३८—लौकिक ब्रह्माकी कथा ।

संसारके द्वारा पूजे गये भगवान् आदि ब्रह्मा (आदिनाथ स्वामी) को नमस्कार कर, देवपुत्र ब्रह्माकी कथा लिखी जाती है ।

कुछ असमझ लोग ऐसा कहते हैं कि एक दिन ब्रह्माजीके मनमें आया कि मैं इंद्रादिकोंका पद छीनकर सर्व श्रेष्ठ हो जाऊँ, और इसके लिए उन्होंने एक भयंकर बनीमें हाथ ऊँचा किये बड़ी घोर तपस्या की । वे कोई साढ़े चार हजार वर्ष पर्यन्त (यह वर्षसंख्या देवोंके वर्षके हिसाबसे है, जो कि मनुष्योंके वर्षोंसे कई गुणी होती है ।) एक ही पाँवसे खड़े रहकर तप करते रहे और केवल वायुका आहार करते रहे । ब्रह्माजीकी यह कठिन तपस्या निष्फल न गई ।

इन्द्रादिकोंका आसन हिल गया। उन्हें अपने राज्य नष्ट होनेका बड़ा भय हुआ। तब उन्होंने ब्रह्माजीको तपभ्रष्ट करनेके लिए स्वर्गकी एक तिलोत्तमा नामकी वेश्याको, जो कि गन्धर्व देवोंके समान गाने और बड़ी सुन्दर नाचनेवाली थी, भेजा। तिलोत्तमा उनके पास आई और अनेक प्रकारके हाव-भाव-विलास बतला-बतलाकर नाचने लगी। तिलोत्तमाका नृत्य, तिलोत्तमाकी भुवन मनोहारिणी रूपराशि, और उसका हाव-भाव-विलास देखकर ब्रह्माजी तपसे डगमगे। उन्होंने हजारों वर्षोंकी तपस्याको एक क्षणभरमें नष्टकर अपनेको कामके हाथ सौंप दिया। वे आँखें फाड़-फाड़कर तिलोत्तमाकी रूपराशिको बड़े चावसे देखने लगे। तिलोत्तमाने जब देखा कि हाँ योगीजी अब अपने आपेमें नहीं हैं और आँखें फाड़-फाड़कर मेरी ही ओर देख रहे हैं, तब उनकी इच्छाको और जागृत करनेके लिए वह उनकी बायीं ओर आकर नाचने लगी। ब्रह्माजीने तब अपनी हजारों वर्षोंकी तपस्याके प्रभावसे अपना दूसरा मुहँ बायीं ओर बना लिया। तिलोत्तमा जब उनकी पीठ पीछे आकर नाचने लगी। ब्रह्माजीने तब तीसरा मुँह पीछेकी ओर बना लिया। तिलोत्तमा फिर उनकी दाहिनी ओर जाकर नाचने लगी, ब्रह्माजीने उस ओर भी मुँह बना लिया। अन्तमें तिलोत्तमा आकाशमें जाकर नाचने लगी। तब ब्रह्माजीने अपना पाँचवा मुँह गधेके मुखके आकारका बनाया। कारण—अब उनकी तपस्याका फल बहुत थोडा बच रहा था। मतलब यह कि तिलोत्तमाने जिस प्रकार ब्रह्माजीको नचाया वे उसी प्रकार नाचे। इस प्रकार उन्हें

तपसे भ्रष्ट कर और उनके हृदयमें कामकी आग धधकाकर चालाक तिलोत्तमा अछूतीकी अछूती स्वर्गको चली गई और बेचारे ब्रह्माजी कामके तीव्र वेगसे मूर्च्छा खाकर पृथ्वी पर आ गिरे। तिलोत्तमाने सब हाल इन्द्रसे कहकर कहा— प्रभो, अब आप अनन्त कालतक सुखसे रहें। मैं ब्रह्माजीकी खूब ही गति बना आई हूं। तब इन्द्रने बहुत खुश होकर उससे पूछा-हाँ तिलोत्तमा, तू ब्रह्माजीके पास ठहरी नहीं? तिलोत्तमा बोली- वाह! प्रभो, भली उस बूढ़ेकी और मेरी आपने जोड़ी मिलाई! मैं तो कभी उसके पास खड़ी तक नहीं रह सकती। यह सुन इन्द्रको ब्रह्माजीकी हालत पर बड़ी दया आई। उसने फिर दयाके वश होकर ब्रह्माजीकी शान्तिके लिए उर्वशी नामकी एक दूसरी सुन्दर वेश्याको उनके पास भेजा। इन्द्रकी आज्ञा सिर पर चढ़ाकर उर्वशी ब्रह्माजीके पास आई। उनके पाँवोंको छूकर उन्हें उसने सचेत किया। ब्रह्माजी पाँव तले एक स्वर्गीय सुन्दरीको बैठी देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्हें मानों आज उनकी कड़ी तपस्याका फल मिल गया। ब्रह्माजी अब घर बनाकर उर्वशीके साथ रहने लगे और मनमाने भोग भोगने लगे, तबसे वे लौकिक ब्रह्मा कहलाने लगे।

बड़े दुःखकी बात है कि असमझ लोग देव या देवके सच्चे स्वरूपको जानते नहीं और जैसा अपनी इच्छामें आता है उन्मत्तकी तरह झूठा ही कह दिया करते हैं। क्या कोई हठ करके इन्द्रादिकोंका पद छीन सकता है? और क्या स्वर्गकी देवांगनाएँ व्यभिचार कर सकती हैं? और जो ब्रह्मा

तीन लोकका स्वामी देव कहा जाता है वह क्या ऐसा नीच-कर्म करेगा? समझदारोंको ये बातें झूठी समझना चाहिए। और जिसमें ऐसी बाते हैं वह कभी ब्रह्मा नहीं हो सकता। जैनशास्त्रोंमें ब्रह्मा उसे कहा है, जो मोक्षमार्गका बतानेवाला, सच्चे ज्ञान और सच्चे चारित्रकी प्राप्ति करानेवाला और आत्माको निजस्वरूपमें स्थिर करनेवाला है। वह अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन अवस्थाओंसे पाँच प्रकारका है। इनके सिवा संसारमें और कोई ब्रह्मा नहीं है। क्योंकि राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ–आदि दोषोंसे युक्त कभी ब्रह्मा–देव हो ही नहीं सकता। किन्तु जो इन रागादि दोषोंसे रहित हैं, लोक और अलोकके जाननेवाले हैं और केवलज्ञान रूपी नेत्रसे युक्त हैं वे ही ऋषभ भगवान् मेरे सच्चे ब्रह्मा हैं।

वे परम पवित्र आदिनाथ जिनेन्द्र मुझे संसारके दुःखोंसे छुटाकर शान्ति प्रदान करें, जो भव्यजनरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिए सूरजके समान हैं, संसार-समुद्रसे पार करनेवाले हैं, गुणोंके समुद्र हैं, स्वर्ग और मोक्षका पवित्र सुख देनेवाले हैं, इंद्रादि देवों द्वारा पूज्य हैं और केवलज्ञान-द्वारा सारे संसारके जानने और देखनेवाले हैं।

३९–परिग्रहसे डरे हुए दो भाइयोंकी कथा।

धन, धान, दास, दासी, सोना, चांदी, आदि, जो संसारके जीवोंको तृष्णाके जालमें फँसाकर कष्ट पर कष्ट देनेवाले हैं, ऐसे परिग्रहसे माया-ममता छोड़ने वाले जो साधु-सन्त हैं, उनसे भी जो ऊँचे हैं–जिनके त्यागसे आगे त्यागकी कोई सीमा नहीं, ऐसे सर्व-श्रेष्ठ जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर परिग्रहसे डरे हुए दो भाइयोंकी कथा लिखी जाती है।

दशार्ण देशमें बहुत सुन्दर एकरथ नामका एक शहर था। उसमें धनदत्त नामका सेठ रहता था। इसकी स्त्रीका नाम धनदत्ता था। इसके धनदेव और धनमित्र ऐस दो पुत्र और धनमित्रा नामकी एक सुन्दर लड़की थी।

धनदत्तकी मृत्युके बाद इन दोनों भाइयोंके कोई ऐसा पाप-कर्मका उदय आया, जिससे इनका सब धन-वन नष्ट होगया—ये महा दरिद्र बन गये। 'कुछ सहायता मिलेगी' इस आशासे ये दोनों भाई अपने मामाके यहाँ कौशाम्बी गये और इन्होंने बड़े दुःखके साथ पिताकी मृत्युका हाल मामाको सुनाया। मामा भी इनकी हालत देखकर बड़ा दुःखी हुआ। उसने अनेक प्रकार समझा-बुझाकर इन्हें धीरज दिया और साथ ही आठ कीमती रत्न दिये, जिससे कि ये अपना संसार

चला सकें। सच है, यही बन्धुपना है, यही दयालुपना है, और यही गंभीरता है जो अपने धन द्वारा याचकोंकी आशा पूरी की जाय।

दोनों भाई उन रत्नोंको लेकर पीछे अपने घरकी ओर रवाना हुए। रास्तेमें आते आते इन दोनोंकी नियत उन रत्नोंके लोभसे बिगड़ी। दोनोंहीके मनमें परस्परके मार डालनेकी इच्छा हुई। इतनेमें गांव पास आजानेसे इन्हें सुबुद्धि सूझ गई। दोनोंने अपने अपने नीच विचारों पर बड़ा ही पश्चात्ताप किया और परस्परमें अपना विचार प्रगट कर मनका मैल निकाल डाला। ऐसे पाप विचारोंके मूल कारण इन्हें वे रत्न ही जान पड़े। इस लिए उन रत्नोंको वेत्रवती नदीमें फैंककर ये अपने घर पर चले आये। उन रत्नोंको मांस समझकर एक मछली निगल गई। यही मछली एक धीवरके जालमें आ फँसी। धीवरने मछलीको मारा। उसमेंसे वे रत्न निकले। धीवरने उन्हें बाजारमें बेच दिया। धीरे धीरे कर्मयोगसे वे ही रत्न इन दोनों भाइयोंकी माके हाथ पड़े। माताने उनके लोभसे अपने लड़के लड़कीको ही मार डालना चाहा। परन्तु तत्काल सुबुद्धि उपज जानेसे उसने बहुत पश्चात्ताप किया और रत्नोंको अपनी लड़कीको दे दिये। धनमित्राकी भी यही दशा हुई। उसकी भी लोभके मारे नियत बिगड़ गई। उसने माता, भाई–आदिकी जान लेनी चाही। सच है, संसारमें सबसे बड़ा भारी पापका मूल लोभ है। अन्तमें धनमित्राको भी अपने विचार पर बड़ी घृणा हुई और उसने फिर उन रत्नोंको अपने भाइयोंके हाथ दे दिया।

वे उन्हें पहिचान गये। उन्हें रत्नोंके प्राप्त होनेका हाल जानकर बड़ा ही वैराग्य हुआ। उसी समय वे संसारकी सब मत्या-ममता छोड़कर, जो कि महा दुःखकी कारण है, दमधर मुनिके पास दीक्षा ले-गये। इन्हें साधु हुए देखकर इनकी मता और बहिन भी आर्यिका हो गईं। आगे चलकर ये दोनों भाई बड़े तपस्वी—महात्मा हुए। अपना और दूसरोंका संसारके दुःखोंसे उद्धार करना ही एक मात्र इनका कर्त्तव्य हो गया। स्वर्गके देवता और प्रायः सब ही बड़े बड़े राजा महाराजा इनकी सेवा पूजा करनेको आने लगे।

यह लोभ संसारके दुःखोंका मूल कारण और अनेक कष्टोंका देनेवाला है, माता, पिता, भाई, बहिन, बन्धु, बान्धव-आदिके परस्परमें ठगने और बुरे विचारोंके उत्पन्न करनेका घर है। समझदारोंको, जो कि अपना हित करनेकी इच्छा करते हैं, चाहिए कि वे इस पापके बाप लोभको मनसा वाचा कर्मणा छोड़कर संसारका हित करनेवाले और स्वर्ग तथा मोक्षका सुख देनेवाले जिनेन्द्र भगव[illegible] उपदेश किये परम पवित्र धर्ममें अपने मनको [illegible]

[illegible] करें।

[illegible]

जगह पर पाँव पड़ जा[illegible]

घड़ा फूटकर उसका सब तैल बह ग[illegible]

भी फूट गया। अब तो जिनदत्तके [illegible]

भयके मारे वह थर थर काँपने लगा।

कर तुकारीने उससे कहा कि घ[illegible]

४०–धनसे डरे हुए सागरदत्तकी कथा ।

के वलज्ञानरूपी उज्ज्वल नेत्र द्वारा तीनों लोकोंके देखने और जाननेवाले ऐसे जिनेंद्र भगवानको नमस्कार कर धनके लोभसे डरकर मुनि हो जानेवाले सागरदत्तकी कथा लिखी जाती है ।

किसी समय धनमित्र, धनदत्त आदि बहुतसे सेठोंके पुत्र व्यापारके लिए कौशाम्बीसे चलकर राजगृहकी ओर रवाना हुए । रास्तेमें एक गहन वनीमें चोरोंने इन्हें लूट-लिया–इनका सब माल–असबाब छीन-छानकर वे चलते हुए । सच है, जिनके पल्लेमें कुछ पुण्य नहीं होता वे कोई भी काम करें, उन्हें नुकसान ही उठाना पड़ता है ।

उधर धन पाकर चोरोंकी नियत बिगड़ी । सब परस्परमें यह चाहने लगे कि धन मेरे ही हाथ पड़े और किसीको कुछ न मिले । और इसी लालसासे एक एकके विरुद्ध [illegible]नेकी कोशिश करने लगा । रातको जब वे [illegible]

[illegible] भोजनमें विष मि[illegible] [illegible]से

[illegible] कि किसीकी हिम्मत [illegible]की

[illegible] नहीं होती थी । मुझे ऐसी [illegible]त

मेरे पिताने एकबार शहरमें डोंडी पिट- [illegible]

कोई 'तू' कहकर न पुकारे । क्योंकि [illegible]

तू' कहा कि मैं उससे लड़ने झगड़ने- [illegible]र

उसी समय दौड़ा दौड़ा मसानमें गया । मुनिकी दशा देख-कर उसे बेहद दुःख हुआ । मुनिको अपने घर पर लाकर उसने एक प्रसिद्ध वैद्यसे उनके इलाजके लिए पूछा । वैद्य महाशयने कहा—सोमशर्मा भट्टके यहाँ लक्षपाक नामका बहुत ही उम्दा तैल है, उसे लाकर लगाओ । उससे बहुत जल्दी आराम होगा—आगका जला उससे फौरन आराम होता है । सेठ सोमशर्माके घर दौड़ा हुआ गया । घर पर भट्ट महाशय नहीं थे, इस लिए उसने उनकी तुकारी नामकी स्त्रीसे तैलके लिए प्रार्थना की । तैलके कई घड़े उसके यहाँ भरे रक्खे थे। तुकारीने उनमेंसे एक घड़ा लेजानेको जिनदत्तसे कहा । जिनदत्त ऊपर जाकर एक घड़ा उठाकर लाने लगा। भाग्यसे सीढ़ियाँ उतरते समय पाँव फिसल जानेसे घड़ा उसके हाथोंसे छूट पड़ा । घड़ा फूट गया और तैल सब रेलम-ठेल होगया । जिनदत्तको इससे [illegible]हुत भय हुआ । उसने [illegible] डरते घड़ेके फूट जानेका हाल तुकारीसे कहा । तब तु[illegible] दूसरा घड़ा ले आनेको कहा । उसे पहले [illegible] [illegible] भी खयाल न[illegible] [illegible]आ । [illegible]

कोई बात नहीं। तुमने कोई जानकर थोड़े ही फोड़े हैं। तुम किसी तरहकी चिन्ता-फिकर मत करो। जब तक तुम्हें जरूरत पड़े तुम प्रसन्नताके साथ तैल लेजाया करो। देनेसे मुझे कोई उजर न होगा। कोई कैसा ही सहनशील क्यों न हो, पर ऐसे मौके पर उसे भी गुस्सा आये विना नहीं रहता। फिर इस स्त्रीमें इतनी क्षमा कहांसे आई? इसका जिनदत्तको बड़ा आश्चर्य हुआ। जिनदत्तने तुकारीसे पूछा भी, कि मा, मैंने तुम्हारा इतना भारी अपराध किया, उस पर भी तुमको रत्तीभर क्रोध नहीं आया, इसका कारण क्या है? तुकारीने कहा–भाई, क्रोध करनेका फल जैसा चाहिए वैसा मैं भुगत चुकी हूं। इस लिए क्रोधके नामसे ही मेरा जी काँप उठता है। यह सुनकर जिनदत्तका कौतुक और बढ़ा, तब उसने पूछा यह कैसे? तुकारी कहने लगी—

"चन्दनपुरमें शिवशर्मा ब्राह्मण रहता है। वह धनवान् और ...का आदरपात्र है। उसकी स्त्रीका नाम कमलश्री है। उसके ...त पुत्र और एक लड़की है। लड़कीका नाम भद्रा है ...ी हूं। मैं थी ... सुन्दरी, पर [illegible]

... [illegible] दिया और [illegible]

को तैयार ही रहा करती थी और फिर जहाँतक मुझमें शक्ति-
जोर होता मैं उसकी हजारों पीड़ियोंको एक पलभरमें अपने
सामने ला खड़ा करती और पिताजी इस लड़ाई-झगड़ेसे सौ
हाथ दूर भागनेकी कोशिश करते। जो हो, पिताजीने तो
अच्छा ही काम किया था, पर मेरे खोटे भाग्यसे उनका डौंडी
पिटवाना मेरे लिए बहुत ही बुरा हुआ। उस दिनसे मेरा
नाम ही 'तुकारी' पड़ गया और सब ही मुझे इस नामसे
पुकार पुकार कर चिढ़ाने लगे। सच है, अधिक मान भी
कभी अच्छा नहीं होता। और इसी चिढ़के मारे मुझसे कोई
ब्याह करने तकके लिए तैयार न होता था। भाग्यसे इन सोमशर्माजीने इस बात पर आते ही मुझे
कभी इसे 'तू' कहकर न पुकारूंगा। ब्याह हो गया। मैं सच कहूंगी कि इस घरमें आकर मैं
भगवान्की कृपासे घर सब तरह हरा भरा है। आजसे मैं
भी मनमानी है। मैं अब

पर 'पड़ा स्वभाव जाय जीवसे' इस कहावतके अनु-
सार मेरा स्वभाव भी सहजमें थोड़े ही मिट जानेवाला था।
सो एक दिनकी बात है कि मेरे स्वामी नाटक देखने गये।
नाटक देखकर आते हुए उन्हें बहुत देर लग गई। उनकी
इस देरी पर मुझे अत्यन्त गुस्सा आया। मैंने निश्चय कर
लिया कि आज जो कुछ हो, मैं कभी दरवाजा नहीं खोलूंगी,
और मैं सो गई। थोड़ी देर बाद वे आये और दरवाजे पर
रहकर किवाड़ खोलनेको बारबार मुझे पुकारने लगे।

साथे पड़ी रही, पर मैंने किवाड़ न खोले। बाहरसे चिल्लाते
चिल्लाते वे थक गये, पर उसका मुझ पर कुछ असर न
हुआ। आखिर उन्हें भी बड़ा क्रोध हो आया। क्रोधमें
आकर वे अपनी प्रतिज्ञा तक भूल बैठे। सो उन्होंने मुझे
'तू' कहकर पुकार लिया। बस, उनका 'तू' कहना था
कि मैं सिरसे पाँवतक जल उठी और क्रोधसे अन्धी बनकर
किवाड़ खोलती हुई घरसे निकल भागी। मुझे उस समय
कुछ न सूझा कि मैं कहाँ जा रही हूं। मैं शहर बाहर होकर
जंगलकी ओर चल धरी। रास्तेमें चोरोंने मुझे देख लिया।
[illegible] सब गहने-दागीने और वस्त्र छीन-छानकर विज-
[illegible] को सौंप दिया। मुझे खूबसूरत देखकर
[illegible] बिगाड़ना चाहा, पर उस समय मेरे
[illegible]य स्त्रीने आकर मुझे बचाया—मेरे धर्मकी
[illegible]ालने उस दिव्य स्त्रीसे डरकर मुझे एक
[illegible]प दिया। उसकी नियत भी मुझ पर बिगड़ी।
[illegible]स खूब ही आड़े हाथों लिया। इससे वह मेरा कर तो
[illegible] सका, पर गुस्सेमें आकर उस नीचने मुझे एक ऐसे
मनुष्यके हाथ सौंप दिया जो जीवोंके खूनसे रँगकर कम्बल
बनाया करता था। वह मेरे शरीर पर जौंके लगा-लगाकर
मेरा रोज रोज बहुतसा खून निकाल लेता था और उसमें फिर
कम्बलको रँगा करता था। सच है, एक तो वैसे ही पापकर्म-
का उदय और उस पर ऐसा क्रोध, तब उससे मुझ सरीखी
[illegible]गिनियोंको यदि पद पद पर कष्ट उठाना पड़े तो उसमें
[illegible] क्या!

इसी समय उज्जैनके राजाने मेरे भाईको यहांके राजा पारसके पास किसी कार्यके लिए भेजा। मेरा भाई अपना काम पूराकर पीछा उज्जैनकी ओर जा रहा था कि अचानक मेरी उसकी भेंट हो गई। मैंने अपने कर्मों पर बड़ा पश्चात्ताप किया। जब मैंने अपना सब हाल उससे कहा तो उसे भी बहुत दुःख हुआ। उसने मुझे धीरज दिया। इसके बाद वह उसी समय राजाके पास गया और सब हाल उनसे कहकर उस कम्बल बनानेवाले पापीसे उसने मेरा पंजा छुड़ाया। वहाँसे लाकर बड़ी आर्जू-मिन्नतके साथ उसने फिर मुझे अपने स्वामीके घर ला रक्खा। सच है, सच्चे बन्धु वे ही हैं जो कष्टके समय काम आवें। यह तो तुम्हें मालूम ही है कि मेरे शरीरका प्रायः खून निकल चुका था। इसी कारण घर पर आते ही मुझे लकवा मार गया। तब वैद्यने यह लक्षपाक तैल बनाकर मुझे जिलाया। इसके बाद मैंने एक वीतरागी साधु द्वारा धर्मोपदेश सुनकर सर्वश्रेष्ठ और सुख देनेवाला सम्यक्त्वव्रत ग्रहण किया और साथ ही यह प्रतिज्ञा की कि आजसे मैं किसी पर क्रोध नहीं करूँगी। यही कारण है कि मैं अब कि[illegible] पर क्रोध नहीं करती।" अब आप जाइए और इस [illegible]रा मुनिराजकी सेवा कीजिए। अधिक देरी करना [illegible]त नहीं है।

[illegible] नदत्त भट्टाको नमस्कार कर घर गया और तैलका मालिश वगैरहसे बड़ी सावधानीके साथ मुनिकी सेवा करने लगा। कुछ दिनोंतक बराबर मालिश करते रहनेसे मुनिको आराम हो गया। सेठने भी अपनी इस सेवा-भक्ति द्वारा

बहुत पुण्यबन्ध किया। चौमासा आगया था। इस लिए मुनिराजने कहीं अन्यत्र जाना ठीक न समझ यहीं जिनदत्त सेठके जिन मन्दिरमें वर्षायोग ले-लिया और यहीं वे रहने लगे।

जिनदत्तका एक लड़का था। नाम इसका कुबेरदत्त था। इसका चालचलन अच्छा न देखकर जिनदत्तने इसके डरसे कीमती रत्नोंका भरा अपना एक घड़ा जहाँ मुनि सोया करते थे वहाँ खोदकर गाड़ दिया। जिनदत्तने यह कार्य किया तो था बड़ी छुपका-चोरीसे, पर कुबेरदत्तको इसका पता पड़ गया। उसने अपने पिताका सब कर्म देख लिया और मौका पाकर वहाँसे घड़ेको निकाल मन्दिरके आँगनमें दूसरी जगह गाड़ दिया। कुबेरदत्तको ऐसा करते मुनिने देख लिया था, परन्तु तब भी वे चुपचाप रहे और उन्होंने किसीसे कुछ नहीं कहा। और कहते भी कहाँसे जब कि उनका यह मार्ग ही नहीं है।

जब योग पूरा हुआ तब मुनिराज जिनदत्तको सुख-साता पूछकर वहाँसे बिहार कर गये। शहर बाहर जाकर वे ध्यान करने बैठे। इधर मुनिराजके चले जाने बाद सेठने वह रत्नोंका घड़ा घर लेजानेके लिए जमीन खोद कर देखा तो वहाँ घड़ा नहीं। घड़ेको एकाएक गायब हो जानेका उसे बड़ा अचंभा हुआ और साथ ही उसका मन व्याकुल भी हुआ। उसने सोचा कि घड़ेका हाल केवल मुनि ही जानते थे, फिर बड़े अचंभेकी बात है कि उनके रहते यहाँसे घड़ा गायब हो जाय? उसे घड़ा गायब करनेका मुनिपर कुछ सन्देह हुआ। तब वह मुनिके पास गया और उनसे

उसने प्रार्थना की कि प्रभो, आप पर मेरा बड़ा ही प्रेम है- आप जबसे चले आये हैं तबसे मुझे सुहाता ही नहीं; इस लिए चल कर आप कुछ दिनों तक और वहीं ठहरें तो बड़ी कृपा हो। इस प्रकार मायाचारीसे जिनदत्त मुनिराजको पीछा अपने मन्दिर पर लौटा लाया। इसके बाद उसने कहा- स्वामी, कोई ऐसी धर्म-कथा सुनाइए, जिससे मनोरंजन हो। तब मुनि बोले-हम तो रोज ही सुनाया करते हैं, आज तुम ही कोई ऐसी कथा कहो। तुम्हें इतने दिन शास्त्र पढ़ते हो गये, देखें तुम्हें उनका सार कैसा याद रहता है? तब जिनदत्त अपने भीतरी कपट-भावोंको प्रकट करनेके लिए एक ऐसी ही कथा सुनाने लगा। वह बोला—

"एक दिन पद्मरथपुरके राजा वसुपालने अयोध्याके महाराज जितशत्रुके पास किसी कामके लिए अपना एक दूत भेजा। एक तो गर्मीका समय और ऊपरसे चलनेकी थकावट सो इसे बड़े जोरकी प्यास लग आई। पानी इसे कहीं नहीं मिला। आते आते यह एक घनी बनीमें आकर वृक्षके नीचे गिर पड़ा। इसके प्राण कण्ठगत हो गये। इसकी यह दशा देखकर एक बन्दर दौड़ा दौड़ा तालाब पर गया और उसमें डूबकर यह उस वृक्षके नीचे पड़े पथिके पास आया। आते ही इसने अपने शरीरको उस पर झिड़का दिया। जब जल उस पर गिरा और उसकी आँखें खुलीं तब बन्दर आगे होकर उसे इशारेसे तालाबके पास ले गया। जल पीकर इसे बहुत शान्ति मिली। अब इसे आगेके लिए जलकी चिन्ता हुई। पर इसके पास कोई बरतन वगैरह न होनेसे

यह जल लेजा नहीं सकता था। तब इसे एक युक्ति सूझी। इसने उस बेचारे जीवदान देनेवाले बन्दरको बन्दूकसे मारकर उसके चमड़ेकी थैली बनाई और उसमें पानी भरकर यह चल दिया।" अच्छा प्रभो, अब आप बतलाइए कि उस नीच, निर्दयी, अधर्मीको अपने उपकारी बन्दरको मार डालना क्या उचित था? मुनि बोले तुम ठीक कहते हो। उस दूतका यह अत्यन्त कृतघ्नता भरा नीच काम था। इसके बाद अपनेको निर्दोष सिद्ध करनेके लिए मुनिराजने भी एक कथा कहना आरंभ की। वे कहने लगे––

"कौशाम्बीमें किसी समय एक शिवशर्मा ब्राम्हण रहता था। उसकी स्त्रीका नाम कपिला था। इसके कोई लड़का-बाला नहीं था। एक दिन शिवशर्मा किसी दूसरे गांवसे अपने शहरकी ओर लौट रहा था। रास्तेमें एक जंगलमें उसने एक नेवलाके बच्चेको देखा। शिवशर्माने उसे घर उठा लाकर अपनी प्रियासे कहा–ब्राह्मणीजी आज मैंने तुम्हारे लिए एक लड़का लाया है। यह कहकर उसने नेवलेको कपिलाकी गोदमें रख दिया। सच है, मोहसे अन्धे हुए मनुष्य क्या नहीं करते! ब्राह्मणीने उसे ले-लिया और पाल-पोस कर उसे कुछ सिखा-विखा भी दिया। नेवलेमें जितना ज्ञान और जितनी शक्ति थी वह उसके अनुसार ब्राह्मणीका बताया कुछ काम भी कर दिया करता था।

भाग्यसे अब ब्राह्मणीके भी एक पुत्र हो गया। सो एक दिन ब्राह्मणी बच्चेको पलनेमें सुलाकर आप धान खाँडनेको चली गई और जाते समय पुत्ररक्षाका भार वह नेवलेको

सौंपती गई। इतनेमें एक सर्पने आकर उस बच्चेको काट लिया। बच्चा मर गया। क्रोधमें आकर नेवलेने सर्पके टुकड़े टुकड़े कर डाले। इसके बाद वह खूनभरे मुँहसे ही कपिलाके पास गया। कपिला उसे खूनसे लथ-पथ भरा देखकर काँप गई। उसने समझा कि इसने मेरे बच्चेको खा लिया। उसे अत्यन्त क्रोध आया। क्रोधके वेगमें उसने न कुछ सोचा-विचारा और न जाकर देखा ही कि असलमें बात क्या है, किन्तु एक साथ ही पासमें पड़े हुए मूसलेको उठा कर नेवले पर दे मारा। नेवला तड़फड़ा कर मर गया। अब वह दौड़ी हुई बच्चेके पास गई। देखती है तो वहाँ एक काला भुजंग सर्प मरा हुआ पड़ा है। फिर उसे बहुत पछतावा हुआ। ऐसे मूर्खोंको धिक्कार है जो विना विचारे जल्दीमें आकर हर एक काम कर बैठते हैं।" अच्छा सेठ महाशय, कहिए तो सर्पके अपराध पर बेचारे नेवलेको इस प्रकार निर्दयतासे मार देना ब्राह्मणीको योग्य था क्या? जिनदत्तने कहा—नहीं। यह उसकी बड़ी गलती हुई। यह कहकर उसने फिर एक कथा कहना आरंभ की—

"बनारसके राजा जितशत्रुके यहाँ धनदत्त राज्यवैद्य था। इसकी स्त्रीका नाम धनदत्ता था। वैद्य महाशयके धनमित्र और धनचन्द्र नामके दो लड़के थे। लाड़-प्यारमें रहकर इन्होंने अपनी कुलविद्या भी न पढ़ पाई। कुछ दिनोंबाद वैद्यराज काल कर गये। राजाने इन दोनों भाइयोंको मूर्ख देख इनके पिताकी जीविका पर किसी दूसरेको नियुक्त कर दिया। तब इनकी बुद्धि ठिकाने आई। ये दोनों भाई अब

वैद्यशास्त्र पढ़नेकी इच्छासे चम्पापुरीमें शिवभूति वैद्यके पास गये। इन्होंने वैद्यसे अपनी सब हालत कहकर उनसे वैद्यक पढ़नेकी इच्छा जाहिर की। शिवभूति बड़ा दयावान् और परोपकारी था, इस लिए उसने इन दोनों भाइयोंको अपने ही पास रखकर पढ़ाया। और कुछ ही वर्षोंमें इन्हें अच्छा हुशियार कर दिया। दोनों भाई गुरु महाशयके अत्यन्त कृतज्ञ होकर पीछे बनारसकी ओर रवाना हुए। रास्तेमें आते हुए इन्होंने जंगलमें आँखकी पीड़ासे दुखी एक सिंहको देखा। घनचन्द्रको उस पर दया आई। अपने बड़े भाईके बहुत कुछ मना करने पर भी घनचन्द्रने सिंहकी आँखोंका इलाज किया। उससे सिंहको आराम हो गया। आँख खोलते ही उसने घनचन्द्रको अपने पास खड़ा पाया। वह अपने जन्म स्वभावको न छोड़कर क्रूरताके साथ उसे खा गया।" मुनिराज उस दुष्ट सिंहका बेचारे वैद्यको खा जाना क्या अच्छा काम हुआ? मुनिने 'नहीं' कहकर एक और कथा कहना शुरू की।

"चम्पापुरीमें सोमशर्मा ब्राह्मणकी दो स्त्रियाँ थीं। एकका नाम सोमिल्या और दूसरीका सोमशर्मा था। सोमिल्या बाँझ थी और सोमशर्माके एक लड़का था। यहीं एक बैल रहता था। लोग उसे 'भद्र' नामसे बुलाया करते थे। बेचारा बड़ा सीधा था। कभी किसीको मारता नहीं था। वह सबके घर पर घूमा-फिरा करता था। उसे इस तरह जहाँ थोड़ी बहुत घास खानेको मिलती वह उसे ही खाकर रह जाता था। एक दिन उस बाँझ पापिनी सोमशर्माने डाहके मारे अपनी सौतके बच्चेको निर्दयतासे मार कर उसका

अपराध बेचारे बैल पर लगा दिया। उसे ब्राह्मण बालकका मारनेवाला समझ कर सब लोगोंने घास खिलाना छोड़ दिया और शहरसे निकाल बाहर कर दिया। बेचारा भूख-प्यासके मारे बड़ा दुःख पाने लगा। बहुत ही दुबला पतला हो गया। पर तब भी किसीने उसे शहर भीतर नहीं घुसने दिया। एक दिन जिनदत्त सेठकी स्त्री पर व्यभिचारका अपराध लगा। वह अपनी निर्दोषता बतलानेके लिए चौराहे पर जाकर खड़ी हुई, जहाँ बहुतसे मनुष्य इकट्ठे हो रहे थे। उसने कोई भयंकर दिव्य लेनेके इरादेसे एक लोहेके टुक-ड़ेको अग्निमें खूब तपाकर लाल सुर्ख किया। इस मौकेको अपने लिए बहुत अच्छा समझ उस बैलने झट वहाँ पहुँच कर जलते हुए उस लोहेके टुकड़ेको मुँहसे उठा लिया। उसकी यह भयंकर दिव्य देखकर सब लोगोंने उसे निर्दोष सम[illegible] लिया।" अच्छा सेठ महाशय, बतला-इए तो क्या उन मूर्ख लोगोंको विना समझे-बूझे एक निर-[illegible]ोष [illegible]ाना ठीक था क्या? जिनदत्तने 'नहीं' कहकर फिर [illegible] बोली। वह बो[illegible]

"गंगाके किनारे कीचड़में एकबार एक हाथीका बच्चा फँस गया। विश्वभूति तापसने उसे तड़फते हुए देखा। वह कीच-ड़से उस हाथीके बच्चेको निकालकर अपने आश्रममें लिवा ले आया। उसने उसे बड़ी सावधानीके साथ पाला-पोसा भी। धीरे धीरे वह बड़ा होकर एक महान् हाथीके रूपमें आगया। श्रेणिकने इसकी प्रशंसा सुनकर इसे अपने यहाँ रख लिया। हाथी जब तक तापसके यहाँ रहा तब तक बड़ी स्वतंत्रतासे

रहा । यहाँ इसे कभी अंकुश वगैरहका कष्ट नहीं सहना पड़ा पर जब यह श्रेणिकके यहाँ पहुँचा तबसे इसे बन्धन, अंकुश आदिका बहुत कष्ट सहना पड़ता था । इस दुःखके मारे एक दिन यह साँकल तोड़-ताड़ कर तापसके आश्रममें भाग आया । इसके पीछे पीछे राजाके नौकर भी इसे पकड़नेको आया । तापसी मीठे मीठे शब्दोंसे हाथीको समझा कर उसे नौकरोंके सुपुर्द करने लगा । हाथीको इससे अत्यन्त गुस्सा आया । सो इसने उस बेचारे तापसकी ही जान लेली । " तो क्या मुनिराज, हाथीको यह उचित था, कि वह अपनेको बचनेवालेको ही मारडाले ? इसके उत्तरमें मुनि 'ना' कहकर और एक कथा कहने लगे । उन्होंने कहा-

" हस्तिनागपुरकी पूरब दिशामें विश्वसेन राजाका बनाया आमोंका एक बगीचा था । उसमें आम खूब लग रहे थे । एक दिन एक चील मरे साँपको [illegible] [illegible] आमके झाड़-पर बैठ गई । उस समय साँपके जहरसे एक आम पक गया-पीलासा पड़ गया । मालीनेउस पके [illegible] ले-जाकर [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] उसे " प्रेमोपहार " के रूपमें अपनी प्रिय रानी धर्मसेनाको दिया । रानी उसे खाते ही मर गई । राजाको बड़ा गुस्सा आया और उसने एक फलके बदले सारे बगीचेको ही कटवा डाला । " मुनिराजने कहा, तो क्या सेठ महाशय, राजाका यह काम ठीक हुआ ? सेठने भी ' ना ' कहकर और एक कथा कहना शुरू की । वह बोला—

" एक मनुष्य जंगलमें चला जा रहा था । रास्तेमें वह सिंहको देखकर डरके मारे एक वृक्ष पर चढ़ गया । जब सिंह

चला गया, तब यह नीचे उतरा और जाने लगा। रास्तेमें इसे राजाके बहुतसे आदमी मिले, जो कि भेरीके लिए एक अच्छे और बड़े झाड़की तलाशमें आये थे। सो इस दुष्ट मनुष्यने वह वृक्ष इन लोगोंको बता दिया, जिस पर चढ़कर कि इसने अपनी जान बचाई थी। राजाके आदमी उस घनी छायावाले सुन्दर वृक्षको काटकर लिवा ले गये।" मुनिराज, जिसने बन्धुकी तरह अपनी रक्षा की—मरनेसे बचाया, उस वृक्षके लिए इस दुष्टको ऐसा करना योग्य था क्या? मुनिराजने 'नहीं' कह कर और एक कथा कही। वे बोले—

"गन्धर्वसेन राजाकी कौशाम्बी नगरीमें एक अंगारदेव सुनार रहता था। जातिका यह ऊँच था। यह रत्नोंकी जड़ाईका काम बहुत ही बढ़िया करता था। एक दिन अंगारदेव राजमुकुटके एक बहुमूल्य मणिको उजाल रहा था। इसी समय उसके घर पर मेदज नामके एक मुनि आहारके लिए आये। वह मुनिको एक ऊँची जगह बैठाकर और उनके सामने उस मणिको रखकर आप भीतर स्त्रीके पास चला गया। इधर मणिको मांसके भ्रमसे क्रूंज पक्षी निगल गया। जब सुनार सब विधि ठीक-ठाककर पीछा आया तो देखता है वहाँ मणि नहीं। मणि न देखकर उसके तो होश उड़ गये। उसने मुनिसे पूछा—मुनिराज, मणिको मैं आपके पास अभी रख कर गया हूँ, इतनेमें वह कहाँ चला गया? कृपा करके बतलाइए। मुनि चुप रहे। उन्हें चुप्पी साधे देखकर अंगारदेवका उन्हीं पर [illegible] गया। उसने फिर पूछा—

स्वामी, मणिका क्या हुआ ? जल्दी कहिए। राजाको मालूम हो जानेसे वह मेरा और मेरे बाल-बच्चोंतकका बुरा हाल कर डालेगा। मुनि तब भी चुप ही रहे। अब तो अंगारदेवसे न रहा गया। क्रोधसे उसका चेहरा लाल सुर्ख पड़ गया। उसने जान लिया कि मणिको इसीने चुराया है। सो मुनिको बाँधकर उसने उन पर लकड़ेकी मार मारना शुरू की। उन्हें खूब मारा-पीटा सही, पर तब भी मुनि उसी तरह स्थिर बने रहे। ऐसे धनको, ऐसी मूर्खताको धिकार है जिससे मनुष्य कुछ भी सोच-समझ नहीं पाता और हर एक कामको जोशमें आकर कर डालता है। अंगारदेव मुनिको लकड़ेसे पीट रहा था तब एक चोंट उस कूंज पक्षीके गले पर भी जाकर लगी। उससे वह मणि बाहर आ गिरा। मणिको देखते ही अंगार-देव आत्मग्लानि, लज्जा और पश्चात्तापके मारे अधमरासा हो गया। उसे काटो तो खून नहीं। वह मुनिके पाँवोंमें गिर पड़ा और रो रो कर उनसे क्षमा कराने लगा।" इतना कह कर मुनिराज बोले—क्यों सेठ महाशय, अब समझे ? मेदज मुनिको उस मणिका हाल मालूम था, पर तब भी दयाके वश हो उन्होंने पक्षीका मणि निगल जाना न बतलाया। इस लिए कि पक्षीकी जान न जाय और न मुनियोंका ऐसा मार्ग ही है। इसी तरह मैं भी यद्यपि तुम्हारे घड़ेका हाल जानता हूँ, तथापि कह नहीं सकता। इस लिए कि संयमीका यह मार्ग नहीं है कि वे किसीको कष्ट पहुँचावें। अब जैसा तुम जानते हो और जो तुम्हारे मनमें हो उसे करो। मुझे उसकी परवा नहीं।

घड़ेका छुपानेवाला कुबेरदत्त अपने पिता और मुनिका यह परस्परका कथोपकथन छुपा हुआ सुन रहा था। मुनिका अन्तिम निश्चय सुन उसकी उन पर बड़ी भक्ति हो गई। वह दौड़ा जाकर झटसे घड़ेको निकाल लाया और अपने पिताके सामने उसे रखकर जरा गुस्सेसे बोला—हाँ देखता हूँ आप मुनिराज पर अब कितना उपसर्ग करते हैं! यह देखकर जिनदत्त बड़ा शरमिन्दा हुआ। उसने अपने भ्रम भरे विचारों पर बड़ा ही पछतावा किया। अन्तमें दोनों पिता पुत्रोंने उन मेरुके समान स्थिर और तपके खजाने मुनिराजके पाँवोंमें पड़कर अपने अपराधकी क्षमा कराई और संसारसे उदासीन होकर उन्हींके पास उन्होंने दीक्षा भी लेली, जो कि मोक्ष-सुखकी देनेवाली है। दोनों पिता पुत्र मुनि होकर अपना कल्याण करने लगे और दूसरेको भी आत्म-कल्याणका मार्ग बतलाने लगे।

वे साधुरत्न मुझे सुख-शान्ति दें, जो भगवान्के उपदेश किये सम्यग्ज्ञानके उमड़े हुए समुद्र हैं, सम्यक्त्व रूपी रत्नोंको धारण किये हैं, और पवित्र शील जिसकी लहरें हैं। ऐसे मुनिराजोंको मैं भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूँ।

मूलसंघके मुख्य चलानेवाले श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकी परम्परामें भट्टारक मल्लिभूषण हुए हैं। वे मेरे गुरु हैं, रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धारण किये हैं, और गुणोंकी खान हैं। वे आप लोगोंका कल्याण करें।

४२–पिण्याकगन्धकी कथा।

सुख देनेवाले और सारे संसारके प्रभु श्रीजिनेंद्र भगवान्‌को नमस्कार कर धन-लोभी पिण्याकगन्धकी कथा लिखी जाती है।

रत्नप्रभ कांपिल्य नगरके राजा थे। उनकी रानी विद्युत्प्रभा थी। वह सुन्दर और गुणवती थी। यहीं एक जिनदत्त सेठ रहता था। जिनधर्म पर इसकी गाढ़ श्रद्धा थी। अपने योग्य आचार-विचार इसके बहुत अच्छे थे। राजदरबारमें भी इसकी पूछ थी–मान-मर्यादा थी। यहीं एक और सेठ था। इसका नाम पिण्याकगंध था। इसके पास कई करोड़का धन था, पर तब भी यह मूर्ख बड़ा ही लोभी था–कृपण था। यह न किसीको कभी एक कौड़ी देता और न स्वयं आप ही अपने धनको खाने-पीने पहरनेमें खर्च करता; और खाया करता था खल। इसके पास सब सुखकी सामग्री थी, पर अपने पापके उदयसे या यों कहो कि अपनी ही कंजूसीसे यह सदा ही दुःख भोगा करता था। इसकी स्त्रीका नाम सुन्दरी था। इसके एक विष्णुदत्त नामका लड़का था।

एक दिन राजाके तालाबको खोदती बार उड्ड नामके एक मजूरको सोनेके सलाइयोंकी भरी हुई लोहेकी सन्दूक मिल गई। यह सन्दूक यहाँ कोई हजारों वर्षोंसे गड़ी हुई होंगी। यही कारण था कि उसे खूब ही कीट खा गया था। उसके भीतरकी सलाइयोंकी भी यही दशा थी। उन पर भी बहुत मैल

जमा हो गया था। मैलसे यह नहीं जान पड़ता था कि वे सोनेकी हैं। उडुने उसमेंसे एक सलाई लाकर जिनदत्त सेठको लोहेके भाव बेचा। सेठने उस समय तो उसे ले लिया, पर जब वह ध्यानसे धो-धाकर देखी गई तो जान पड़ा कि वह एक सोनेकी सलाई है। सेठने उसे चोरीका माल समझ अपने घरमें उसका रखना उचित नहीं समझा। उसने उसकी एक जिनप्रतिमा बनवाली और प्रतिष्ठा कराकर उसे मन्दिरमें विराजमान कर दिया। सच है, धर्मात्मा पुरुष पापसे बड़े डरते हैं। कुछ दिनों बाद उडु फिर एक सलाई लिए जिनदत्तके पास आया। पर अबकी बार सेठने उसे नहीं खरीदा। इस लिए कि वह धन दूसरेका है। तब उडुने उसे पिण्याकगंधको बेच दिया। पिण्याकगंधको भी मालूम हो गया कि वह सलाई सोनेकी है, पर तब भी लोभमें आकर उसने उडुसे कहा कि यदि तेरे पास ऐसी सलाइयाँ और हों तो उन्हें यहाँ दे जाया करना। मुझे इन दिनों लोहेकी कुछ अधिक जरूरत है। मतलब यह कि पिण्याकगन्धने उडुसे कोई अट्ठानवे सलाइयाँ खरीद करलीं। बेचारे उडुको उसकी सच्ची कीमत ही मालूम न थी, इस लिए उसने सबकी सब सलाइयाँ लोहेके भाव बेचदीं।

एक दिन पिण्याकगन्ध अपनी बहिनके विशेष कहने-सुननेसे अपने भानजेके ब्याहमें दूसरे गांव जाने लगा। जाते समय धनके लोभसे पुत्रको वह सलाई बताकर कह गया कि इसी आकार-प्रकारका लोहा कोई बेचने अपने यहाँ आवे तो तू उसे मोल ले लिया करना। पिण्याकगंधके

पापका घड़ा अब बहुत भर चुका था। अब उसके फूटनेकी तैयारी थी। इसी लिए तो वह पापकर्मकी जबरदस्तीसे दूसरे गांव भेजा गया।

उडुके पास अब केवल एक ही सलाई बची थी। वह उसे भी बेचनेको पिण्याकगंधके पास आया। पर पिण्याकगंध तो वहाँ था नहीं, तब वह उसके लड़के विष्णुदत्तके हाथ सलाई देकर बोला—आपके पिताजीने ऐसी बहुतेरी सलाइयाँ मुझसे मोलली हैं। अब यह केवल एक ही बची है। इसे आप लेकर मुझे इसकी कीमत दे दीजिए। विष्णुदत्तने उसे यह कहकर टाल दिया, कि मैं इसे लेकर क्या करूंगा? मुझे जरूरत नहीं। तुम पीछी इसे ले जाओ। इस समय एक सिपाहीने उडुको देख लिया। उसने खोदनेको लिए वह सलाई उससे छुड़ाली। एक दिन वह सिपाही जमीन खोद रहा था। उससे सलाई पर जमा हुआ कीट साफ हो जानेसे कुछ लिखा हुआ उसे देख पड़ा। लिखा यह था कि "सोनेकी सौ सलाइयाँ सन्दूकमें हैं।" यह लिखा देखकर सिपाहीने उडुको पकड़ लाकर उससे सन्दूककी बाबत पूछा। उडुने सब बातें ठीक ठीक बतला दीं। सिपाही उडुको राजाके पास ले गया। राजाके पूछने पर उसने कहा कि मैंने ऐसी अट्ठानवे सलाइयाँ तो पिण्याकगंध सेठको बेचीं हैं और एक जिनदत्त सेठको। राजाने पहले जिनदत्तको बुलाकर सलाई मोल लेनेकी बाबत पूछा। जिनदत्तने कहा—महाराज, मैंने एक सलाई खरीदी तो जरूर है, पर जब मुझे यह मालूम पड़ा कि वह सोनेकी है तो मैंने उसकी जिनप्रतिमा बनवाली। प्रतिमा मन्दिरमें मौजूद

है । राजा प्रतिमाको देखकर बहुत खुश हुआ । उसने जिन-दत्तकी इस सचाई पर उसका बहुत मान किया, उसे बहु-मूल्य वस्त्राभूषण दिये । सच है, गुणोंकी पूजा सब जगह हुआ करती है ।

इसके बाद राजाने पिण्याकगन्धको बुलवाया । पर वह घर पर न होकर गांव गया हुआ था । राजाको उसके न मिलनेसे और निश्चय होगया कि उसने अवश्य राजधन धोखा देकर ठग लिया है । राजाने उसी समय उसका घर जप्त करवा कर उसके कुटुम्बको कैदखानेमें डाल दिया । इस लिए कि उसने पूछ-ताछ करने पर भी सलाइयोंका हाल नहीं बताया था । सच है, जो आशाके चक्करमें पड़कर दूसरोंका धन मारते हैं, वे अपने हाथों ही अपना सर्व नाश करते हैं ।

उधर ब्याह होजानेके बाद पिण्याकगंध घरकी ओर वापिस आ रहा था । रास्तेमें ही उसे अपने कुटुम्बकी दुर्दशाका समाचार सुन पड़ा । उसे उसका बड़ा दुःख हुआ । उसने अपने इस धन-जनकी दुर्दशाका मूल कारण अपने पाँवोंको ठहाराया । इस लिए कि वह उन्हींके द्वारा दूसरे गांव गया था । पाँवों पर उसे बड़ा गुस्सा आया । और इसी लिए उसने एक बड़ा भारी पत्थर लेकर उससे अपने दोनों पाँवोंको तोड़ लिया । मृत्यु उसके सिर पर खड़ा ही था । वह लोभी आर्त्तध्यान—बुरे भावोंसे मरकर नरक गया । यह कथा शिक्षा देती है कि जो समझदार हैं उन्हें चाहिए कि वे अनीतिके कारण और पापको बढ़ानेवाले इस लोभको दूरहीसे छोड़नेका यत्न करें ।

वे कर्मोंके जीतनेवाले जिन भगवान् संसारमें सदा काल रहें जो संसारके पदार्थोंको दिखलानेके लिए दीपकके समान हैं, सब दोषोंसे रहित हैं, भव्य-जनोंको स्वर्गमोक्षका सुख देनेवाले हैं, जिनके वचन अत्यन्त ही निर्मल या निर्दोष हैं, जो गुणोंके समुद्र हैं, देवों द्वारा पूज्य हैं और सत्पुरुषोंके लिए ज्ञानके समुद्र हैं।

४३–लुब्धक सेठकी कथा।
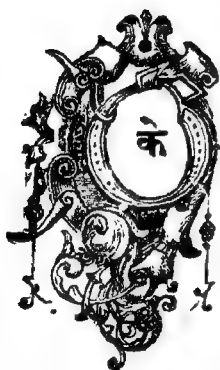
केवलज्ञानकी शोभाको प्राप्त हुए और तीनों जगत्के गुरु ऐसे जिन भगवान्को नमस्कार कर लुब्धक सेठकी कथा लिखी जाती है।

राजा अभयवाहन चम्पापुरीके राजा हैं। इनकी रानी पुण्डरीका है। नेत्र इसके ठीक पुण्डरीक–कमल जैसे हैं। चम्पापुरीमें लुब्धक नामका एक सेठ रहता है। इसकी स्त्रीका नाम नागवसु है। लुब्धकके दो पुत्र हैं। इनके नाम गरुड़दत्त और नागदत्त हैं। दोनों भाई सदा हँस-मुख रहते हैं।

लुब्धकके पास बहुत धन था। उसने बहुत कुछ खर्च करके यक्ष, पक्षी, हाथी, ऊंट, घोड़ा, सिंह हरिन—आदि पशुओंकी एक एक जोड़ी सोनेकी बनवाई थी। इनके सींग, पूँछ, खुर-आदिमें अच्छे अच्छे बहुमूल्य हीरा, मोती, माणिक

आदि रत्नोंको जड़ाकर लुब्धकने देखनेवालोंके लिए एक नया ही आविष्कार कर दिया था। जो इन जोड़ियोंको देखता वह बहुत खुश होता और लुब्धककी बिना तारीफ किये नहीं रहता। स्वयं लुब्धक भी अपनी इस जगमगाती प्रदर्शनीको देखकर अपनेको बड़ा धन्य मानता था। इसके सिवा लुब्धकको थोड़ासा दुःख इस बातका था कि उसने एक बैलकी जोड़ी बनवाना शुरू की थी और एक बैल बन भी चुका था, पर फिर सोना न रहनेके कारण वह दूसरा बैल नहीं बनवा सका। बस, इसीकी उसे एक चिन्ता थी। पर यह प्रसन्नताकी बात है कि वह सदा चिन्तासे घिरा न रह-कर इस कमीको पूरी करनेके यत्नमें लगा रहता था।

एकबार सात दिन बराबर पानीकी झड़ लगी रही। नदी-नाले सब पूर आ गये। पर कर्मवीर लुब्धक ऐसे समय भी अपने दूसरे बैलके लिए लकड़ी लेनेको स्वयं नदी पर गया और बहती नदीमेंसे बहुतसी लकड़ी निकालकर उसने उसकी गठरी बाँधी और उसे आप ही अपने सिर पर लादे लाने लगा। सच है, ऐसे लोभियोंकी तृष्णा कहीं कभी किसीसे मिटी है? नहीं।

इस समय रानी पुण्डरीका अपने महल पर बैठी हुई प्रकृतिकी शोभाको देख रही थी। महाराज अभयवाहन भी इस समय यहीं पर थे। लुब्धकको सिर पर एक बड़ा भारी काठका भारा लादकर लाते देख रानीने अभयवाह-नसे कहा—प्राणनाथ, जान पड़ता है आपके राजमें यह कोई बड़ा ही दरिद्री है। देखिए, बेचारा सिर पर लकड़ियोंका

कितना भारी गट्ठा लादे हुए आ रहा है। दया करके इसे कुछ आप सहायता दीजिए, जिससे इसका कष्ट दूर हो जाय। यह उचित ही है कि दयावानोंकी बुद्धि दूसरों पर दया करनेकी होती है। राजाने उसी समय नौकरोंको भेजकर लुब्धकको अपने पास बुलवा मँगाया। लुब्धकके आने पर राजाने उससे कहा—जान पड़ता है तुम्हारे घरकी हालत अच्छी नहीं है। इसका मुझे खेद है कि इतने दिनोंसे मेरा तुम्हारी ओर ध्यान न गया। अस्तु, तुम्हें जितने रुपये पैसेकी जरूरत हो, तुम खजानेसे ले जाओ। मैं तुम्हें अपनी सहीका एक पत्र लिखे देता हूं। यह कह कर राजा पत्र लिखनेको तैयार हुए कि लुब्धकने उनसे कहा–महाराज, मुझे और कुछ न चाहिए; किन्तु एक बैलकी जरूरत है। कारण मेरे पास एक बैल तो है, पर उसकी जोड़ी मुझे मिलाना है। राजाने कहा–अच्छी बात है तो, जाओ हमारे बहुतसे बैल हैं, उनमें तुम्हें जो बैल पसन्द आवे उसे अपने घर ले जाओ। राजाके जितने बैल थे उन सबको देख आकर लुब्धकने राजासे कहा–महाराज, उन बैलोंमें मेरे बैल सरीखा तो एक भी बैल मुझे नहीं देख पड़ा। सुनकर राजाको बड़ा अचंभा हुआ। उन्होंने लुब्धकसे कहा–भाई, तुम्हारा बैल कैसा है, यह मैं नहीं समझा। क्या तुम मुझे अपना बैल दिखाओगे? लुब्धक बड़ी खुशीके साथ अपना बैल दिखाना स्वीकार कर महाराजको अपने घर पर लिवा ले गया। राजाको उस सोनेके बने बैलको देखकर बड़ा अचंभा हुआ। जिसे उन्होंने एक महा दरिद्री समझा था,

वही इतना बड़ा धनी है, यह देखकर किसे अचंभा न होगा।

लुब्धककी स्त्री नागवसु अपने घर पर महाराजको आये देखकर बहुत ही प्रसन्न हुई। उसने महाराजकी भेंटके लिए एक सोनेका थाल बहुमूल्य सुन्दर सुन्दर रत्नोंसे सजाया और उसे अपने स्वामीके हाथमें देकर कहा–इस थालको महाराजकी भेंट कीजिए। रत्नोंके थालको देखकर लुब्धककी तो छाती बैठ गई, पर पास ही महाराजके होनेसे उसे वह थाल हाथोंमें लेना पड़ा। जैसे ही थालको उसने हाथोंमें लि उसके दोनों हाथ थर थर धूजने लगे और ज्यों ही उसनेती देनेको महाराजके पास हाथ बढ़ाया तो लोभके मारे उस अंगुलियाँ महाराजको साँपके फणकी तरह देख पड़ीं। सच है, जिस पापीने कभी किसीको एक कौड़ी तक नहीं दी, उसका मन क्या दूसरेकी प्रेरणासे भी कभी दानकी ओर झुक सकता है? नहीं। राजाको उसके ऐसे बुरे बरताव पर बड़ी नफरत हुई। फिर एक पल पर भी उन्हें वहाँ ठहरना अच्छा न लगा। वे उसका नाम 'फणहस्त' रखकर अपने महल पर आ गये।

लुब्धककी दूसरा बैल बनानेकी उच्चाकांक्षा अभी पूरी नहीं हुई। वह उसके लिए धन कमानेको सिंहलद्वीप गया। लगभग चार करोड़का धन उसने वहाँ रहकर कमाया भी। जब वह अपना धन, माल-असबाव जहाज पर लाद कर लौटा तो रास्तेमें आते आते कर्मयोगसे हवा उलटी बह चली। समुद्रमें तूफान पर तूफान आने लगे। एक जोरकी आँधी आई। उसने जहाजको एक ऐसा जोरका धक्का मारा

कि जहाज उलट कर देखते देखते समुद्रके विशाल गर्भमें समा गया। लुब्धक, उसका धन-असबाब, इसके सिवा और भी बहुतसे लोग जहाजके संगी हुए। लुब्धक आर्त्त-ध्यानसे मरकर अपने धनका रक्षक साँप हुआ। तब भी वह उसमेंसे एक कौड़ी भी किसीको नहीं उठाने देता था।

एक सर्पको अपने धन पर बैठा देखकर लुब्धकके बड़े लड़के गरुड़दत्तको बहुत क्रोध आया और इसी लिए उसने उसे मार डाला। यहांसे वह बड़े बुरे भावोंसे मरकर पैसेवे नरक गया, जहाँ कि पापकर्मोंका बड़ा ही दुस्सह दुःख भोगना पड़ता है। इस प्रकार धर्मरहित जीव क्रोध, मान, माया, लोभ—आदिके वश होकर पापके उदयसे इस दुःखोंके समुद्र संसारमें अनन्त कालतक दुःख-कष्ट उठाया करता है। इस लिए जो सुख चाहते हैं—जिन्हें सुख प्यारा है, उन्हें चाहिए कि वे इन क्रोध, लोभ, मान, मायादिकोंको संसारमें दुःख देनेवाले मूल कारण समझकर इनका मन, वचन और शरीरसे त्याग करें और साथ ही जिनेन्द्र भगवान्के उपदेश किये धर्मको भक्ति और शक्तिके अनुसार ग्रहण करें, जो परमशान्ति—मोक्षका प्राप्त करानेवाला है।

४४–वसिष्ठतापसीकी कथा।

भूख, प्यास, रोग, शोक, जनम, मरण, भय, माया, चिन्ता, मोह, राग, द्वेष–आदि अठारह दोषोंसे जो रहित हैं, ऐसे जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर वसिष्ठ तापसीकी कथा लिखी जाती है।

उग्रसेन मथुराके राजा थे। उनकी रानीका नाम रेवती था। रेवती अपने स्वामीकी बड़ी प्यारी थी। यहीं एक जिनदत्त सेठ रहता था। जिनदत्तके यहाँ प्रियंगुलता नामकी एक नौकरानी थी।

मथुरामें यमुना किनारे पर वशिष्ठ नामका एक तापसी रहता था। वह रोज नहा-धोकर पञ्चाग्नि तप किया करता था। लोग उसे बड़ा भारी तपस्वी समझकर उसकी खूब सेवा-भक्ति करते थे। सो ठीक ही है, असमझ लोग प्रायः देखा देखी हर एक काम करने लग जाते हैं। यहां तक कि शहरकी दासियाँ पानी भरनेको कुए पर जब आतीं तो वे भी तापस महाराजकी बड़ी भक्तिसे प्रदक्षिणा करतीं, उनके पाँवों पड़ती और उनकी सेवा-शुश्रूषा कर फिर वे घर जातीं। प्रायः सभीका यही हाल था। पर हाँ प्रियंगुलता इससे बरी थी। उसे ये बातें बिलकुल नहीं रुचती थीं। इस लिए कि वह बचपनसे ही जैनीके यहाँ काम करती रही। उसके साथकी और और स्त्रियोंको प्रियंगुलताका

यह हठ अच्छा नहीं जान पड़ा और इसी लिए मौका पाकर वे एक दिन प्रियंगुलताको उस तापसीके पास जबरदस्ती लिवा ले गईं और इच्छा न रहते भी उन्होंने उसका सिर तापसीके पाँवों पर रख दिया। अब तो प्रियंगुलतासे न रहा गया। उसने गुस्सा होकर साफ साफ कह दिया कि यदि इस ढौंगीके ही मैं हाथ जोड़ूं, तब फिर मुझे एक धीवर (भोई) के ही क्यों न हाथ जोड़ना चाहिए? इससे तो वही बहुत अच्छा है। एक दासीके द्वारा अपनी निन्दा सुनकर तापसजीको बड़ा गुस्सा आया। वे उन दासियों पर भी बहुत बिगड़े, जिन्होंने जबरदस्ती प्रियंगुलताको उनके पाँवों पर पटका था। दासियाँ तो तापसीजीकी लाल-पीली आँखें देखकर उसी समय वहाँसे नौ-दो-ग्यारह हो गईं। पर तापस महाराजकी क्रोधाग्नि तब भी न बुझी। उसने उग्रसेन महाराजके पास पहुँचकर शिकायत की कि प्रभो, जिनदत्त सेठने मुझे धीवर बतलाकर मेरा बड़ा अपमान किया। उसे एक साधुकी इस तरह बुराई करनेका क्या अधिकार था? उग्रसेनको भी एक दूसरे धर्मके साधुकी बुराई करना अच्छा नहीं जान पड़ा। उन्होंने जिनदत्तको बुलाकर पूछा। जिनदत्तने कहा–महाराज यदि यह तपस्या करता है तो यह तापसी है ही, इसमें विवाद किसको है। पर मैंने तो इसे धीवर नहीं बतलाया। और सचमुच जिनदत्तने उससे कुछ कहा भी नहीं था। जिनदत्तको इंकार करते देख तापसी घबड़ाया। तब उसने अपनी सचाई बतलानेके लिए कहा–ना प्रभो, जिनदत्तकी दासीने ऐसा कहा था।

तापसीकी बात पर महाराजको कुछ हँसीसी आ गई। उन्होंने तब प्रियंगुलताको बुलवाया। वह आई। उसे देखते ही तापसीके क्रोधका कुछ ठिकाना न रहा। वह कुछ न सोचकर एक साथ ही प्रियंगुलता पर बिगड़ खड़ा हुआ। और गाली देते हुए उसने कहा-रांड, तूने मुझे धीवर बतलाया है। तेरे इस अपराधकी सजा तो तुझे महाराज देंगे ही। पर देख, मैं धीवर नहीं हूं; किन्तु केवल हवाके आधार पर जीवन रखनेवाला एक परम तपस्वी हूं। बतला तो, तूने मुझे क्या समझकर धीवर कहा? प्रियंगुलताने तब निर्भय होकर कहा-हाँ, बतलाऊं कि मैंने तुझे क्यों मल्लाह बतलाया था? ले सुन, जब कि तू रोज रोज मच्छियाँ मारा करता है तब तू मल्लाह तो है ही! तुझे ऐसी दशामें कौन समझदार तापसी कहेगा? तू यह कहे कि इसके लिए सुबूत क्या? तू जैनीके यहाँ रहती है, इस लिए दूसरे धर्मोंकी या उनके साधु-सन्तोंकी बुराई करना तो तेरा स्वभाव होना ही चाहिए। पर सुन, मैं तुझे आज यह बतला देना चाहती हूं कि जैनधर्म सत्यका पक्षपाती है। उसमें सच्चे साधु-सन्त ही पुजते हैं। तेरेसे ढौंगी, वेचारे भोले लोगोंको धोखा देनेवालोंकी उसके सामने दाल नहीं गल पाती। ऐसा ही ढौंगी देखकर तुझे मैंने मल्लाह बतलाया और न मैं तुझमें मछली मारनेवाले मल्लाहोंसे कोई अधिक बात ही पाती हूं। तब बतला मैंने इसमें कौन तेरी बुराई की? अच्छा, यदि तू मल्लाह नहीं ही है तो जरा अपनी इन जटाओंको तो झाड़ दे! अब तो तापस महाराज बड़े घबराये और उन्होंने बातें बनाकर इस बातको ही उड़ा देना चाहा। पर प्रियंगुलता

ऐस कैसे रास्ते पर आजानेवाली थी ! उसने तापसीं जटा झड़वा कर ही छोड़ा। जटा झाड़ने पर सचमुच कोई हजारों छोटी छोटी मछलियाँ उसमेंसे गिरीं। सब देख कर दंग रह गये। उग्रसेनने तब जैनधर्मकी खूब तारीफ कर तापसीस कहा-महाराज, जाइए जाइए आपके इस भेषसे पूरा पड़े। मेरी प्रजाको आपसे हृदयके मैले साधुओंकी जरूरत नहीं। तापसीको भरी सभामें अपमानित होनेसे बहुत ही नीचा देखना पड़ा। वह अपनासा मुँह लिए वहाँसे अपने आश्रममें आया। पर लज्जा, अपमान, आत्मग्लानिसे वह मरा जाता था। जो उसे देख पाता वही उसकी ओर अंगुली उठाकर बतलाने लगता। तब इसने यहाँका रहना छोड़ देना ही अच्छा समझ कूच कर दिया। यहाँसे यह गंगा और गंधवतीके मिलाप होनेकी जगह आया और अब यहीं आश्रम बनाकर रहने लगा। एक दिन जैनतत्वके परम जानकार वीरभद्राचार्य अपने संघको लिए इस ओर आ गये। वशिष्ठतापसको पंचाग्नि तप करते देख एक मुनिने अपने गुरुसे कहा-महाराज, यह तापसी तो बड़ा ही कठिन और असह तप करता है। आचार्य बोले-हाँ यह ठीक है कि ऐसे तपमें भी शरीरको बेहद कष्ट विना दिये काम नहीं चलता, पर अज्ञानियोंका तप कोई प्रशंसाके लायक नहीं। भला, जिनके मनमें दया नहीं, जो संसारकी सब माया-ममता, और आरंभ-सारंभ छोड़-छाड़कर योगी हुए और फिर वे ऐसा दयाहीन, जिसमें हजारों लाखों जीव रोज रोज जलते हैं, तप करें तो इससे और अधिक दुःखकी बात कौन

होगी । वसिष्ठके कानोंमें भी यह आवाज गई । वह गुस्सा होकर आचार्यके पास आया और बोला--आपने मुझे अज्ञानी कहा, यह क्यों ? मुझमें आपने क्या अज्ञानता देखी, बतलाइए ? आचार्यने कहा--भाई, गुस्सा मत हो । तुम्हें लक्षकर तो मैंने कोई बात नहीं कही है । फिर क्यों इतना गुस्सा करते हो ? मेरी धारणा तो ऐसे तप करनेवाले सभी तापसोंके सम्बन्धमें है कि वे बेचारे अज्ञानसे ठगे जाकर ही ऐसे हिंसामय तपको तप समझते हैं । यह तप नहीं है, किन्तु जीवोंका होम करना है । और जो तुम यह कहते हो कि मुझे आपने अज्ञानी क्यों बतलाया, तो अच्छा एक बात तुम ही बतलाओ कि तुम्हारे गुरु, जो सदा ऐसा तप किया करते थे, मरकर तपके फलसे कहाँ पैदा हुए हैं ? तापस बोला--हाँ, क्यों नहीं कहूंगा ? मेरे गुरुजी स्वर्गमें गये हैं । वीरभद्राचार्यने कहा--नहीं तुम्हें इसकी मालूम ही नहीं हो सकती । सुनो, मैं बतलाता हूं कि तुम्हारे गुरुकी मरे बाद क्या दशा हुई । आचार्यने अवधिज्ञान जोड़कर कहा--तुम्हारे गुरु स्वर्गमें नहीं गये, किन्तु साँप हुए हैं और इस लकड़ेके साथ साथ जल रहे हैं । तापसको विश्वास नहीं हुआ; बल्कि उसे गुस्सा भी आया कि इन्होंने क्यों मेरे गुरुको साँप हुआ बतलाकर उनकी बुराई की । पर आचार्यकी बात सच है या झूठ, इसकी परिक्षा कर देखनेके लिए यही उपाय था कि वह उस लकड़ेको चीरकर देखे । तापसीने वैसा ही किया । लकड़ेको चीरा । वीरभद्राचार्यका कहा सत्य हुआ । सर्प उसमेंसे निकला । देखते ही तापसको बड़ा अचंभा हुआ ।

उसका सब अभिमान चूर चूर हो गया। उसकी आचार्य पर बहुत ही श्रद्धा हो गई। उसने प्रार्थना कर उनसे जैनधर्मका उपदेश सुना। सुनकर उसके हियेकी आँखें, जो इतने दिनोंसे बन्द थीं, एकदम खुल गईं। हृदयमें पवित्रताका सोता फूट निकला। बहुत दिनोंका कूट-कपट मायाचार रूपी मैला-पन देखते देखते न जाने कहा बहकर चला गया। वह उसी समय वीरभद्राचार्यसे मुनिदीक्षा लेकर अबसे सच्चा तापसी बन गया।

यहांसे घूमते-फिरते और धर्मोपदेश करते वशिष्ठ मुनि एकबार मथुराकी ओर फिर आये। तपस्याके लिए इन्होंने गोवर्द्धन पर्वत बहुत प्रसन्द किया। वहीं ये तपस्या किया करते थे। एकबार इन्होंने महीना भरके उपवास किये। तपके प्रभावसे इन्हें कई विद्याएँ सिद्ध हो गईं। विद्याओंने आकर इनसे कहा—प्रभो, हम आपकी दासियाँ हैं। आप हमें कोई काम बतलाइए। वसिष्ठने कहा—अच्छा, इस समय तो मुझे कोई काम नहीं, पर जब होगा तब मैं तुम्हें याद करूंगा। उस समय तुम उपस्थित होना। इस लिए इस समय तुम जाओ। जिन्होंने संसारकी सब माया-ममता छोड़ रक्खी है, सच-पूछो तो उनके लिए ऐसी ऋद्धि-सिद्धिकी कोई जरूरत नहीं। पर वशिष्ठ मुनि लोभमें पड़कर विद्याओंको अपनी आज्ञामें रहेनेको कह दिया। पर यह उनके पदस्थ योग्य न था।

महीना भरके उपवासे वशिष्ठमुनि पारणाको शहरमें आये। उग्रसेनको उनके उपवास करनेकी पहलेहीसे

मालूम थी। इस लिए तभीसे उन्होंने भक्तिके वश हो सारे शहरमें डौंडी पिटवादी थी कि तपस्वी वसिष्ठमुनिको मैं ही पारणा कराऊंगा—उन्हें आहार दूंगा, और कोई न दे। सच है, कभी कभी मूर्खतासे की गई भक्ति भी दुःखकी कारण बनजाया करती है। वसिष्ठ मुनिके प्रति उग्रसेन राजाकी थी तो भक्ति, पर उसमें स्वार्थका भाग होनेसे उसका उलटा परिणाम हो गया। बात यह हुई कि जब वसिष्ठमुनि पारणाके लिए आये, तब अचानक राजाका खास हाथी उन्मत्त होगया। वह साँकल तुड़ाकर भाग खड़ा हुआ, और लोगोंको कष्ट देने लगा। राजा उसके पकड़वानेका प्रबन्ध करनेमें लग गये। उन्हें मुनिके पारणेकी बात याद न रही। सो मुनि शहरमें इधर उधर घूम-घामकर वापिस वनमें लौट गये। शहरके और किसी गृहस्थने उन्हें इस लिए आहार न दिया कि राजाने उन्हें सख्त मना कर दिया था। दूसरे दिन कर्मसंयोगसे शहरके किसी मुहल्लेमें भयंकर आग लग गई, सो राजा इसके मारे व्याकुल हो उठे। मुनि आज भी सब शहरमें तथा राजमहलमें भिक्षाके लिए चक्कर लगाकर लौट गये। उन्हें कहीं आहार न मिला। तीसरे दिन जरासंध राजाका किसी विषयको लिए आज्ञापत्र आ गया, सो आज इसकी चिन्ताके मारे उन्हें स्मरण न आया। सच है, अज्ञानसे किया काम कभी सिद्ध नहीं हो पाता। मुनि आज भी अन्तराय कर लौट गये। शहर बाहर पहुँचते न पहुँचते वे गश खाकर जमीन पर गिर पड़े। मुनिकी यह दशा देखकर एक बुढ़ियाने गुस्सा होकर कहा—यहाँका राजा बड़ा ही

दुष्ट है। न तो मुनिको आप ही आहार देता है और न दूसरोंको देने देता है। हाय! एक निरपराध तपस्वीकी उनसे व्यर्थ ही जान लेली। बुढ़ियाकी बातें मुनिने सुनलीं। राजाकी इस नीचता पर उन्हें अत्यन्त क्रोध आया। वे उठकर सीधे पर्वत पर गये। उन्होंने विद्याओंको बुलाकर कहा-मथुराका राजा बड़ा पापी है, तुम जाकर उसे फौरन ही मार डालो! मुनिको इस प्रकार क्रोधकी आग उगलते देख विद्याओंने कहा—प्रभो, आपको कहनेका हमें कोई अधिकार नहीं, पर तब भी आपके अच्छेके लिहाजसे और धर्म पर कोई कलंक न लगे कि एक जैनमुनिने ऐसा अन्याय किया, हम निःसंकोच होकर कहेंगी कि इस वेषके लिए आपकी यह आज्ञा सर्वथा अनुचित है और इसी लिए हम उसका साथ देनेके लिए भी हिचकती हैं। आप क्षमाके सागर हैं, आपके लिए शत्रु और मित्र एकहीसे हैं। मुनि पर देवियोंकी इस शिक्षाका कुछ असर नहीं हुआ। उन्होंने यह कहते हुए प्राण छोड़ दिये कि अच्छा, तुम मेरी आज्ञाका दूसरे जन्ममें तो पालन करना ही। मैं दानमें विघ्न करनेवाले इस उग्रसेन राजाको मारकर अपना बदला अवश्य चुकाऊंगा। मुनिने तपस्या नाश करनेवाले निदानको—तपका फल पर जन्ममें मुझे इस प्रकार मिले, ऐसे संकल्पको—करके रेवतीके गर्भमें जन्म लिया। सच है, क्रोध सब कामोंको नष्ट करनेवाला और पापका मूल कारण है। एक दिन रेवतीको दुर्बल देखकर उग्रसेनने उससे पूछा—प्रिये, दिनों दिन तुम ऐसी दुबली क्यों होती जाती हो? मुझे तुम्हें चिन्ता-

तुर देख बड़ा खेद होता है। रेवतीने कहा--नाथ, क्या कहूं, कहते हृदय काँपता है। नहीं जान पड़ता कि होनहार कैसा है? स्वामी, मुझे बड़ा ही भयंकर दोहला हुआ है। मैं नहीं कह सकती कि अपने यहाँ अबकी बार किस अभागेने जन्म लिया है। नाथ, कहते हुए आत्मग्लानिसे मेरा हृदय फटा पड़ता है। मैं उसे कहकर आपको और अधिक चिन्तामें डालना नहीं चाहती। उग्रसेनको अधिकाधिक आश्चर्य और उत्कण्ठा बढ़ी। उन्होंने बड़े हठके साथ पूछा। आखिर रानीको कहना ही पड़ा। वह बोली--अच्छा नाथ, यदि आपका आग्रह ही है तो सुनिए, जी कड़ा करके कहती हूं। मेरी अत्यन्त इच्छा होती है कि "मैं आपका पेट चीरकर खून पान करूं।" मुझे नहीं जान पड़ता कि ऐसा दुष्ट दोहला क्यों होता है? भगवान् जाने! यह प्रसिद्ध है कि जैसा गर्भमें बालक आता है, दोहला भी वैसा ही होता है। सुनकर उग्रसेनको भी चिन्ता हुई, पर उसके लिए इलाज क्या था? उन्होंने सोचा, दोहला बुरा है या भला, इसका निश्चय होना तो अभी असंभव है। पर उसके अनुसार रानीकी इच्छा तो पूरी होनी ही चाहिए। तब इसके लिए उन्होंने यह युक्ति की कि अपने आकारका एक पुतला बनवाकर उसमें कृत्रिम खून भरवाया और रानीको उसकी इच्छा पूरी करनेके लिए उन्होंने कहा। रानीने अपनी इच्छा पूरी करनेके लिए उस पापकर्मको किया। वह सन्तुष्ट हुई।

थोड़े दिनों बाद रेवतीने एक पुत्र जना। वह देखनेमें बड़ा भयंकर था। उसकी आँखोंसे क्रूरता टपकी पड़ती थी।

उग्रसेनने उसके मुँहकी ओर देखा तो वह मुट्ठी बाँधे बड़ी क्रूर दृष्टिसे उनकी ओर देखने लगा। उन्हें विश्वास हो गया कि जैसे बाँसोंकी रगड़से उत्पन्न हुई आग सारे वनको जलाकर खाक कर देती है ठीक इसी तरह कुलमें उत्पन्न हुआ दुष्ट पुत्र भी सारे कुलको जड़मूलसे उखाड़ फैंक देता है। मुझे इस लड़केकी क्रूरताको देखकर भी यही निश्चय होता है कि अब इस कुलके भी दिन अच्छे नहीं है। यद्यपि अच्छा-बुरा होना दैवाधीन है, तथापि मुझे अपने कुलकी रक्षाके निमित्त कुछ न कुछ यत्न करना ही चाहिए। हाथ पर हाथ रखे बैठे रहनेसे काम नहीं चलेगा। यह सोचकर उग्रसेनने एक छोटासा सुन्दर सन्दूक मँगवाया और उस बालकको अपने नामकी एक अँगूठी पहराकर हिफाजतके साथ उस सन्दूकमें रख दिया। इसके बाद सन्दूकको उन्होंने यमुना नदीमें छुड़वा दिया। सच है, दुष्ट किसीको भी प्रिय नहीं लगता।

कौशाम्बीमें गंगाभद्र नामका एक माली रहता था। उसकी स्त्रीका नाम राजोदरी था। एक दिन वह जल भरनेको नदी पर आई हुई थी। तब नदीमें बहती हुई एक सन्दूक उसकी नजर पड़ी। वह उसे बाहर निकाल अपने घर ले आई। सन्दूकको राजोदरीने खोला। उसमेंसे एक बालक निकला। राजोदरी उस बालकको पाकर बड़ी खुश हुई। कारण कि उसके कोई लड़का-बाला नहीं था। उसने बड़े प्रेमसे इसे पाला-पोसा। यह बालक काँसेकी सन्दूकमें निकला था, इस लिए राजोदरीने इसका नाम भी 'कंस' रख दिया।

कंसका स्वभाव अच्छा न होकर क्रूरता लिए हुए था। यह अपने साथके बालकोंको बड़ा मारा-पीटा करता और बात-बात पर उन्हें तंग किया करता था। इससे अड़ोस-पड़ोसके लोग बड़े ही दुखी रहा करते थे। राजोदरीके पास दिनभरमें कंसकी कोई पचासों शिकायतें आया करती थीं। उस बेचारीने बहुत दिन तक तो उसका उत्पात-उपद्रव सहा, पर फिर उससे भी यह दिन रातका झगड़ा-टंटा न सहा गया। सो उसने कंसको घरसे निकाल दिया। सच है, पापी पुरुषोंसे किसे भी कभी सुख नहीं मिलता। कंस अब सौरीपुर पहुँचा। यहाँ यह वसुदेवका शिष्य बनकर शास्त्राभ्यास करने लगा। थोड़े दिनोंमें यह साधारण अच्छा लिख-पढ़ गया। वसुदेवकी इस पर अच्छी कृपा हो गई। इस कथाके साथ एक और कथाका सम्बन्ध है, इस लिए वह कथा यहाँ लिखी जाती है—

सिंहरथ नामका एक राजा जरासन्धका शत्रु था। जरासन्धने इसे पकड़ लानेका बड़ा यत्न किया, पर किसी तरह यह इसके काबूमें नहीं आता था। तब जरासन्धने सारे शहरमें डौंडी पिटवाई कि जो वीर-शिरोमणि सिंहरथको पकड़कर मेरे सामने ला उपस्थित करेगा, उसे मैं अपनी जीवंजसा लड़कीको ब्याह दूंगा और अपने देशका कुछ हिस्सा भी मैं उसे दूंगा। इसके लिए वसुदेव तैयार हुआ। वह अपने बड़े भाईकी आज्ञासे सब सैनाको साथ लिए सिंहरथके ऊपर जा चढ़ा। उसने जाते ही सिंहरथकी राजधानी पोदनपुरके चारों ओर घेरा डाल दिया। और आप एक व्यापारीके वेषमें

राजधानीके भीतर घुसा। कुछ खास खास लोगोंको धनका खूब लोभ देकर उसने उन्हें फोड़ लिया। हाथीके महावत, रथके सारथी, आदिको उसने पैसेका गुलाम बनाकर अपनी मुट्ठीमें कर लिया। सिंहरथको इसका समाचार लगते ही उसने भी उसी समय रणभेरी बजवाई और बड़ी वीरताके साथ वह लड़नेके लिए अपने शहरसे बाहर हुआ। दोनों ओरसे युद्धके झुझारु बाजे बजने लगे। उनकी गंभीर आवाज अनन्त आकाशको भेदती हुई स्वर्गोंके द्वारोंसे जाकर टकराई। सुखी देवोंका आसन हिल गया। अमरांगनाओंने समझा कि हमारे यहाँ मेहमान आते हैं, सो वे उनके सत्कारके लिए हाथोंमें कल्पवृक्षोंके फूलोंकी मनोहर मालाएँ ले-लेकर स्वर्गोंके द्वार पर उनकी अगवानीके लिए आडटीं। स्वर्गोंके दरवाजे उनसे ऐसे खिल उठे मानों चन्द्रमाओंकी प्रदर्शनी की गई है। थोड़ी ही देरमें दोनों ओरसे युद्ध छिड़ गया। खूब मारकाट हुई। खूनकी नदी बहने लगी। मृतकोंके सिर और धड़ उसमें तेरने लगे। दोनों ओरकी वीरसेनाने अपने अपने स्वामीके नमकका जी खोलकर परिचय कराया। जिसे न्यायकी जीत कहते हैं, वह किसीको प्राप्त न हुई। पर वसुदेवने जो पोदनपुरके कुछ लोगोंको अपने मुट्ठीमें कर लिया था, उन स्वार्थियों–विश्वासघातियोंने अन्तमें अपने मालिकको दगा दे दिया। सिंहरथको उन्होंने वसुदेवके हाथ पकड़वा दिया। सिंहरथका रथ मौकेके समय बे-कार हो गया। उसी समय वसुदेवने उसे घेरकर कंससे कहा–जो कि उसके रथका सारथी था, कंस, देखते क्या हो? उतर कर शत्रुको

बाँधलो। कंसने गुस्सेके साथ रथसे उतर कर सिंहरथको बाँध लिया और रथमें रखकर उसी समय वे वहाँसे चल दिये। सच है, अग्नि एक तो वैसे ही तपी हुई होती है और ऊपरसे यदि वायु बहने लगे तब तो उसके तपनेका पूछना ही क्या? सिंहरथको बांध लाकर वसुदेवने जरासंधके सामने उसे रख दिया। देखकर जरासंध बहुत ही प्रसन्न हुआ। अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिए उसने वसुदेवसे कहा—मैं आपका बहुत ही कृतज्ञ हूं। अब आप कृपाकर मेरी कुमारीका पाणिग्रहण कर मेरी इच्छा पूरी कीजिए। और मेरे देशके जिस प्रदेशको आप पसन्द करें मैं उसे भी देनेको तैयार हूं। वसुदेवने कहा—प्रभो, आपका इस कृपाका मैं पात्र नहीं। कारण मैंने सिंहरथको नहीं बाँधा है। इसे बाँधा है मेरे प्रिय शिष्य इस कंसने, सो आप जो कुछ देना चाहें इसे देकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिए। जरासंधने कंसकी ओर देखकर उससे पूछा—भाई, तुम्हारी जाति-कुल क्या है? कंसको अपने विषयमें जो बात ज्ञात थी, उसने वही स्पष्ट बतला दी कि प्रभो, मैं [illegible] गालिनका लड़का हूं। जरासंधको कंसकी सुन्दरता [illegible] देखकर यह विश्वास नहीं हुआ कि वह [illegible] का होगा। इसका निश्चय कर- [illegible] गया। यह ठीक है [illegible] गते हैं।

कि जरूर कंसने कोई बड़ा भारी गुना किया है और इसीसे वह पकड़ा गया है। अब उसके साथ मेरी भी आफत आई। वह घबराई और पछताने लगी कि हाय ! मैंने क्यों इस दुष्टको अपने घर लाकर रक्खा ! अब न जाने राजा मेरा क्या हाल करेगा ! जो हो, बेचारी रोती-झींकती राजाके पास गई और अपने साथ उस सन्दूकको भी लिवा ले गई, जिसमें कि कंस निकला था। इसने राजाके सामने होते ही काँपते काँपते कहा—दुहाई है महाराजकी ! महाराज, यह पापी मेरा लड़का नहीं है, मैं सच कहती हूं। इस सन्दूकमेंसे यह निकला है। सन्दूकको आप लीजिए और मुझे छोड़ दीजिए। मेरा इसमें कोई अपराध नहीं। मालिनको इतनी घबराई देखकर राजाको कुछ हँसीसी आ गई। उसने कहा—नहीं, इतने डरने-घबरानेकी कोई बात नहीं। मैंने तुम्हें कोई कष्ट देनेको नहीं बुलाया है। बुलाया है सिर्फ कंसकी खरी खरी हकीगत जाननेके लिए। इसके बाद राजाने सन्दूक उठाकर खोला तो उसमें एक कम्बल और एक अँगूठी निकली। अँगूठी पर खुदा हुआ नाम बाँचकर राजाको कंसके सम्बन्धमें अब कोई —
न रह गई। उसने उसे एक अच्छे राजकुलमें —
के साथ अपनी जीवंजसा कुमारी—
दिया। जरासंधने
दिया। कं—

उग्रसेन मेरे पिता हैं, पर तब भी उन पर वह जला करता है और उसके मनमें सदा यह भावना उठती है कि मैं उग्रसेनसे लड़ूं और उनका राज्य छीनकर अपनी आशा पूरी करूँ। यही कारण था कि उसने पहली चढ़ाई अपने पितापर ही की। युद्धमें कंसकी विजय हुई। उसने अपने पिताको एक लोहेके पींजरेमें बंदकर और शहरके दरवाजेके पास उस पींजरेको रखवा दिया। और आप मथुराका राजा बनकर राज्य करने लगा। कंसको इतने पर भी सन्तोष न हुआ सो अपना बैर चुकानेका अच्छा मौका समझ वह उग्रसेनको बहुत कष्ट देने लगा। उन्हें खानेके लिए वह केवल कोदूकी रोटियाँ और छाछ देता। पीनेके लिए गन्दा पानी और पहरनेके लिए बड़े ही मैले-कुचेले और फटे-पुराने चिथड़े देता। मतलब यह कि उसने एक बड़ेसे बड़े अपराधीकी तरह उनकी दशा कर रक्खी थी। उग्रसेनकी इस हालतको देखकर उनके कट्टर दुश्मनकी भी छाती फटकर उसकी आँखोंसे सहानुभूतिके आँसू गिर सकते थे, पर पापी कंसको उनके लिए रत्तीभर भी दया या सहानुभूति नहीं थी। सच है,
...का काल होता है। अपने भाईकी यह नीचता
...भाई अतिमुक्तकको संसारसे बड़ी घृणा
...छोड़कर दीक्षा ग्रहण कर ली।
...ोंने उसका बहुत
...ा

नाम उन्होंने अपने ही नाम पर देवकी रख दिया था। कंसने उसे अपनी बहिन करके मानी थी, सो वसुदेवके साथ उसने उसका ब्याह कर दिया। एक दिनकी बात है कि कंसकी स्त्री जीवंजसा देवकीके और अपने देवर अतिमुक्तककी स्त्री पुष्पवतीके वस्त्रोंको आप पहरकर नाच रही थी– हँसी-मजाक कर रही थी। इसी समय कंसके भाई अतिमुक्तक मुनि आहारके लिए आये। जीवंजसाने हँसते हँसते मुनिसे कहा–अजी ओ देवरजी, आइए! आइए!! मेरे साथ साथ आप भी नाचिये। देखिए, फिर बड़ा ही आनन्द आवेगा। मुनिने गंभीरतासे उत्तर दिया—बहिन, मेरा यह मार्ग नहीं है। इस लिए अलग हो जा और मुझे जाने दे। पापिनी जीवंजसाने मुनिको जाने न देकर उलटा हठ पकड़ लिया और बोली–नहीं, मैं तब तक आपको कभी न जाने दूंगी जब तक कि आप मेरे साथ न नाचेंगे। मुनिको इससे कुछ कष्ट हुआ और इसीसे उन्होंने आवेगमें आ उससे कह दिया कि मूर्खे, नाचती क्या है! जाकर अपने स्वामीसे कह कि आपकी मौत देवकीके लड़के द्वारा होगी [illegible]
समय बहुत नजदीक आ रहा है। [illegible]
बड़ा गुस्सा आया। उसने [illegible]
जिसे कि वह [illegible]
मुद्दया। कं[illegible]

गाना सब भूल गई। अपने पतिके पास दौड़ी जाकर वह रोने लगी। सच है यह जीव अज्ञानदशामें हँसता हँसता जो पाप कमाता है उसका फल भी इसे बड़ा ही बुरा भोगना पड़ता है। कंस जीवंजसाको रोती देखकर बड़ा घबराया। उसने पूछा—प्रिये, क्यों रोती हो? बतलाओ, क्या हुआ? संसारमें ऐसा कौन धृष्ट होगा जो कंसकी प्राण-प्यारीको रुला सके! प्रिये, जल्दी बतलाओ, तुम्हें रोती देखकर मैं बड़ा दुखी हो रहा हूँ! जीवंजसाने मुनि द्वारा जो जो बातें सुनी थीं, उन्हें कंससे कह दिया। सुनकर कंसको भी बड़ी चिन्ता हुई। वह जीवंजसासे बोला—प्रिये, घबरानेकी कोई बात नहीं, मेरे पास इस रोगकी भी दवा है। इसके बाद ही वह वसुदेवके पास पहुँचा और उन्हें नमस्कार कर बोला—गुरुमहाराज, आपने मुझे पहले एक 'बर' दिया था। उसकी मुझे अब जरूरत पड़ी है। कृपा कर मेरी आशा पूरी कीजिए। इतना कहकर कंसने कहा—मेरी इच्छा देवकीके होनेवाले पुत्रके मार डालनेकी है। इस लिए कि मुनिने उसे मेरा शत्रु बतलाया है। सो कृपाकर देवकीकी प्रसूति मेरे महलमें हो, इसके लिए अपनी अनुमति दीजिए। कंसकी—अपने एक शिष्यकी इस प्रकार नीचता—गुरुद्रोह देखकर वसुदेवकी छाती धड़क उठी। उनकी आँखोंमें आँसू भर आये। पर करते क्या? वे क्षत्रिय थे और क्षत्रिय लोग इस व्रतके व्रती होते हैं कि "प्राण जाँहि पर वचन न जाँहि।" तब उन्हें लाचार होकर कंसका कहना बिना कुछ कहे-सुने मान लेना पड़ा। क्योंकि सत्पुरुष अपने वचनोंका पालन करनेमें कभी

कपट नहीं करते। देवकी ये सब बातें खड़ी खड़ी सुन रही थी। उसे अत्यन्त दुःख हुआ। वह वसुदेवसे बोली-प्राणनाथ, मुझसे यह दुःसह पुत्र-दुःख नहीं सहा जायगा। मैं तो जाकर जिनदीक्षा ले लेती हूं। वसुदेवने कहा-प्रिये, घबरानेकी कोई बात नहीं है। चलो, हम चलकर मुनिराजसे पूछें कि बात क्या है? फिर जैसा कुछ होगा विचार करेंगे। वसुदेव अपनी प्रियाके साथ वनमें गये। वहाँ अतिमुक्तक मुनि एक फले हुए आमके झाड़के नीचे स्वाध्याय कर रहे थे। उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार कर वसुदेवने पूछा-हे जिनेन्द्रभगवान्के सच्चे भक्त योगिराज, कृपा कर मुझे बतलाइए कि मेरे किस पुत्र द्वारा कंस और जरासंधकी मौत होगी? इस समय देवकी आमकी एक डाली पकड़े हुए थी। उसपर आठ आम लगे थे। उनमें छह आम तो दो-दोकी जोड़ीसे लगे थे और उनके ऊपर दो आम जुदा जुदा लगे थे। इन दो आमोंमेंसे एक आम इसी समय पृथिवी पर गिर पड़ा और दूसरा आम थोड़ी ही देर बाद पक गया। इस निमित्त ज्ञान पर विचार कर अवधिज्ञानी मुनि बोले-भव्य वसुदेव, सुनो, मैं तुम्हें सब खुलासा समझाये देता हूं। देखो, देवकीके आठ पुत्र होंगे। उनमें छह तो नियमसे मोक्ष जायँगे। रहे दो, सो इनमें सातवाँ तो जरासंध और कंसका मारनेवाला होगा और आठवाँ कर्मोंका नाश कर मुक्ति-महिलाका पति होगा। मुनिराजसे इस सुख-समाचारको सुनकर वसुदेव और देवकीको बहुत आनन्द हुआ। वसुदेवको विश्वास था कि मुनिका कहा कभी झूंठ नहीं हो सकता। मेरे

पुत्र द्वारा कंस और जरासंधकी होनेवाली मौतको कोई नहीं टाल सकता। इसके बाद वे दोनों भक्तिसे मुनिको नमस्कार कर अपने घर लौट आये। सच है, जिनभगवान्के धर्म पर विश्वास करना ही सुखका कारण है।

देवकीके जबसे सन्तान होनेकी संभावना हुई तबसे उसके रहनेका प्रबन्ध कंसके ही महल पर हुआ। कुछ दिनों बाद पवित्रमना देवकीने दो पुत्रोंको एक साथ जना। इसी समय कोई ऐसा पुण्य-योग मिला कि भद्रिलापुरमें श्रुतदृष्टि सेठकी स्त्री अलकाके भी पुत्र-युगल हुआ। पर यह युगल मरा हुआ था। सो देवकीके पुत्रोंके पुण्यसे प्रेरित होकर एक देवता इस मृत-युगलको उठा कर तो देवकीके पास रख आई और उसके जीते पुत्रोंको अलकाके पास ला रक्खा। सच है, पुण्यवानोंकी देव भी रक्षा करते हैं। इस लिए कहना पड़ेगा कि जिन भगवान्ने जो पुण्यमार्गमें चलनेका उपदेश दिया है वह वास्तवमें सुखका कारण है। और पुण्य भगवानकी पूजा करनेसे होता है, दान देनेसे होता है और व्रत, उपवासादि करनेसे होता है। इस लिए इन पवित्र कर्मों द्वारा निरन्तर पुण्य कमाते रहना चाहिए। कंसको देवकीकी प्रसूतिका हाल मालूम होते ही उसने उस मरे हुए पुत्र-युगलको उठा लाकर बड़े जोरसे शिलापर दे मारा। ऐसे पापियोंके जीवनको धिक्कार है। इसी तरह देवकीके जो दो और पुत्र-युगल हुए, उन्हें देवता वहीं अलका सेठानीके यहाँ रख आई और उसके मरे पुत्र-युगलोंको उसने देवकीके पास ला रक्खा। कंसने इन दोनों युगलोंकी भी पहले युगलकीसी

दशा की। देवकीके ये छहों पुत्र इसी भवसे मोक्ष जायँगे, इस लिए इनका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। ये सुखपूर्वक यहीं रहकर बढ़ने लगे।

अब सातवें पुत्रकी प्रसूतिका समय नजदीक आने लगा। अबकी बार देवकीके सातवें महीनेमें ही पुत्र हो गया। यही शत्रुओंका नाश करनेवाला था; इस लिए वसुदेवको इसकी रक्षाकी अधिक चिन्ता थी। समय कोई दो तीन बजे रातका था। पानी बरस रहा था। वसुदेव उसे गोदमें लेकर चुपकेसे कंसके महलसे निकल गये। बलभद्रने इस होनहार बच्चेके ऊपर छत्री लगाई। चारों ओर गाढ़ान्धकारके मारे हाथसे हाथ तक भी न देख पड़ता था। पर इस तेजस्वी बालकके पुण्यसे वही देवता, जिसने कि इसके छह भाइयोंकी रक्षा की है, बैलके रूपमें सींगो पर दीया रक्खे आगे आगे हो चली। आगे चलकर इन्हें शहर बाहर होनेके दरवाजे बन्द मिले, पर भाग्यकी लीला अपरम्पार है। उससे असंभव भी संभव हो जाता है। वही हुआ। बच्चेके पाँवोंका स्पर्श होते ही दरवाजा भी खुल गया। आगे चले तो नदी अथाह बह रही थी। उसे पार करनेका कोई उपाय न था। बड़ी कठिन समस्या उपस्थित हुई। उन्होंने होना-करना सब भाग्यके भरोसे पर छोड़कर नदीमें पांव दिया। पुण्यकी कैसी महिमा जो यमुनाका अथाह जल घुटनों प्रमाण हो गया। पार होकर ये एक देवीके मन्दिरमें गये। इतनेमें इन्हें किसीके आनेकी आहट सुनाई दी। ये देवीके पीछे छुप गये।

इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली एक और घटनाका हाल सुनिये। एक नन्द नामका गुवाल यहीं पासके गांवमें रहता है। उसकी स्त्रीका नाम यशोदा है। यशोदाके प्रसूति होनेवाली थी, सो वह पुत्रकी इच्छासे देवीकी पूजा वगैरह कर गई थी। आज ही रातको उसके प्रसूति हुई। पुत्र न होकर पुत्री हुई। उसे बड़ा दुःख हुआ कि मैंने पुत्रकी इच्छासे देवीकी इतनी तो आराधना-पूजा की और फिर भी लड़की हुई। मुझे देवीके इस प्रसादकी जरूरत नहीं। यह विचार कर वह उठी और गुस्सामें आकर उस लड़कीको लिए देवीके मन्दिर पहुंची। लड़कीको देवीके सामने रखकर वह बोली—देवीजी, लीजिए आपकी पुत्रीको ? मुझे इसकी जरूरत नहीं है। यह कहकर यशोदा मन्दिरसे चली गई। वसुदेवने इस मौकेको बहुत ही अच्छा समझ पुत्रको तो देवीके सामने रख दिया और लड़कीको आप उठाकर चल दिये। जाते हुए वे यशोदासे कहते गये कि अरी, जिसे तू देवताके पास रख आई है वह लड़की नहीं है; किन्तु एक बहुत ही सुन्दर लड़का है। जा उसे जल्दी लेआ; नहीं तो और कोई उठा ले जायगा। यशोदाको पहले तो आश्चर्यसा हुआ। पर फिर वह अपनेपर देवीकी कृपा समझ झटपट दौड़ी गई और जाकर देखती है तो सचमुच ही वह एक बहुत सुन्दर बालक है। यशोदाके आनन्दका अब कुछ ठिकाना न रहा। वह पुत्रको गोदमें लिए उसे चूमती हुई घर पर आ गई। सच है, पुण्यका कितना वैभव है इसका कुछ पार नहीं। जिसकी स्वप्नमें भी आशा न हो वही पुण्यसे सहज मिल जाता है।

इधर वसुदेव और बलभद्रने घर पहुँचकर उस लड़कीको देवकीको सौंप दिया। सबेरा होते ही जब लड़कीके होनेका हाल कंसको मालूम हुआ तो उस पापीने आकर बेचारी उस लड़कीकी नाक काटली।

यशोदाके यहां वसुदेव सुखसे रहकर दिनों दिन बढ़ने लगा। जैसे जैसे वह उधर बढ़ता है कंसके यहाँ वैसे ही अनेक प्रकारके अशुकन होने लगे। कभी आकाशसे तारा टूटकर पड़ता, कभी बिजली गिरती, कभी उल्का गिरती और कभी और कोई भयानक उपद्रव होता। यह देख कंसको बड़ी चिन्ता हुई। वह बहुत घबराया। उसकी समझमें कुछ न आया कि यह सब क्या होता है? एक दिन विचार कर उसने एक ज्योतिषीको बुलाया और उसे सब हाल कहकर पूछा कि पंडितजी, यह सब उपद्रव क्यों होते हैं? इसका कारण क्या आप मुझे कहेंगे? ज्योतिषीने निमित्त विचार कर कहा–महाराज, इन उपद्रवोंका होना आपके लिए बहुत ही बुरा है। आपका शत्रु दिनों दिन बढ़ रहा है। उसके लिए कुछ प्रयत्न कीजिए। और वह कोई बड़ी दूर न होकर यहीं गोकुलमें है। कंस बड़ी चिन्तामें पड़ा। वह अपने शत्रुके मारनेका क्या यत्न करे, यह उसकी समझमें न आया। उसे चिन्ता करते हुए अपनी पूर्व सिद्ध हुई विद्याओंकी याद हो उठी। एकदम चिन्ता मिटकर उसके मुँह पर प्रसन्नताकी झलक देख पड़ी। उसने उन विद्याओंको बुलाकर कहा–इस समय तुमने बड़ा काम दिया। जाओ, अब पलभरकी भी देरी न कर जहाँ मेरा शत्रु हो उसे

ठार मारकर मुझे बहुत जल्दी उसकी मौतके शुभ समाचार दो। विद्याएँ वासुदेवको मारनेको तैयार हो गईं। उनमें पहली पूतना विद्याने धायके वेषमें जाकर वासुदेवको दूधकी जगह विष पिलाना चाहा। उसने जैसे ही उसके मुँहमें स्तन दिया, वासुदेवने उसे इतने जोरसे काटा कि पूतनाके होश गुम हो गये। वह चिल्लाकर भाग खड़ी हुई। उसकी यहाँतक दुर्दशा हुई कि उसे अपने जीनेमें भी सन्देह होने लगा। दूसरी विद्या कौएके वेषमें वासुदेवकी आँखें निकाल लेनेके यत्नमें लगी, सो उसने उसकी चोंच, पींख वगैरहको नोंच नाचकर उसे भी ठीक कर दिया। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाँचवी, छटी, और सातवीं देवी जुदा जुदा वेषमें वासुदेवको मारनेका यत्न करने लगीं, पर सफलता किसीको भी न हुई। इसके विपरीत देवियोंको ही बहुत कष्ट सहना पड़ा। यह देख आठवीं देवीको बड़ा गुस्सा आया। वह तब कालिकाका वेष लेकर वासुदेवको मारनेके लिए तैयार हुई। वासुदेवने उसे भी गोवर्द्धन पर्वत उठाकर उसके नीचे दाब दिया। मतलब यह कि विद्याओंने जितनी भी कुछ वासुदेवके मारनेकी चेष्टा की वह सब व्यर्थ गई। वे सब अपनासा मुँह लेकर कंसके पास पहुँची और उससे बोली—देव, आपका शत्रु कोई ऐसा वैसा साधारण मनुष्य नहीं। वह बड़ा बलवान है। हम उसे किसी तरह नहीं मार सकतीं। देवियाँ इतना कहकर चल दीं। उनकी इस विभीषिकाको सुनकर कंस हतबुद्धि हो गया। वह इस बातसे बड़ा घबराया कि जिसे देवियाँ तक जब न मार सकीं तब तो उसका मारना कठिन ही नहीं किन्तु असंभव

है। तब क्या मैं उसीके हाथों मारा जाऊंगा ? नहीं, जब तक मुझमें दम है, मैं उसे बिना मारे कभी नहीं छोडूँगा। देवियाँ आखिर थीं तो स्त्री-जाति ही न ? जो स्वभावसे ही कायर–डरपोंक होती हैं, वे बेचारी एक वीर पुरुषको क्या मार सकेंगीं! अस्तु, अब मैं स्वयं उसके मारनेका यत्न करता हूँ। फिर देखता हूँ कि वह कहाँ तक मुझसे बचता है! आखिर वह है एक गुवालका छोकरा और मै वीर राजपूत! तब क्या मैं उसे न मार सकूँगा ? यह असंभव है। उद्यमसे सब काम सिद्ध हो जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

कंसने अपने मनकी खूब समझौती कर वासुदेवके मारनेकी एक नई योजना की। उसके यहाँ दो बड़े प्रसिद्ध पहिलवान थे। उनके साथ कुश्ती लड़कर जीतनेवालेको एक बड़ा भारी पारितोषिक देना उसने प्रसिद्ध किया। कंसने सोचा था कि पहले तो मेरे ये पहिलवान ही उसे मच्छरकी तरह पीस डालेंगे और कोई दैवयोगसे इनके हाथसे वह बच भी गया तो मैं तो उसकी छाती पर ही तलवार लिये खड़ा रहूँगा, सो उस समय उसका सिर धड़से जुदा करनेमें मुझे बार ही क्या लगेगी ? इससे बढ़कर और कोई उपाय शत्रुके मारनेका नहीं है। कंसको इस विचारसे बड़ा धीरज बँधा।

कुश्तीका जो दिन नियत था, उस दिन नियत किये स्थान पर हजारों आलम ठसाठस भर गये। सारी मथुरा उस वीरके देखनेको उमड़ पड़ी कि देखें इन पहिलवानोंके साथ कौन वीर लड़ेगा। सबके मन बड़े उत्सुक हो उठे। आँखें उस वीर पुरुषकी बाट जोने लगीं। पर उन्हें अब तक कोई लड़नेको

तैयार नहीं देख पड़ा। कंसका मन कुछ निराश होने लगा। कुश्तीका समय भी बहुत नजदीक आ गया। पर अभी-तक उसने किसीको अखाड़ेमें उतरते नहीं देखा। यह देख उसकी छाती धड़की। लोग जानेकी तैयारीहीमें होंगे कि इतनेमें एक चौवीस पच्चीस वर्षका जवान भीड़को चीरता हुआ आया और गर्जकर बोला—हाँ जिसे कुश्ती लड़ना हो वह अखाड़ेमें उतर कर अपना बल बतावे! उपस्थित मंडली इस आये हुए युवा पुरुषकी देव-दुर्लभ सुन्दर और वीरताको देखकर दंग रह गई। बहुतोंको उस उमर और सुन्दरता तथा उन पहिलवानों देखकर नाना तरहकी कुशंक होने ल उनका हृदय सहानुभूतिसे भर का उनके पास कोई उपाय न था। हुआ। जो हो, आगन्तुक युवाकी गर्जनाको सुनकर एक भीमकाय प कर खम ठोका और सामनेवाले वीरक लिए ललकारा। युवा भी बिजलीक झटसे अखाड़ेमें दाखिल हो गया। इशारा ह मुठभेड़ हुई। युवाकी वीरश्री और चंचलता इस सम नेके ही योग्य थी। उस मूर्तिमान् वीरश्रीने कुछ देर तक तो उस पहिलवानको खेल खिलाया और अन्तमें उठाकर ऐसा पछाड़ा कि उसे आसमानके तारे देख पड़ने लगे। इतनेमें ही उसका साथी दूसरा पहिलवान अखाड़ेमें उतरा। वासुदेवने उसकी भी यही दशा की। उपस्थित मंडलीके

आनन्दकी सीमा न रही। तालियोंसे उसका खूब जयजयकार मनाया गया। अब तो कंससे किसी तरह न रहा गया। उसके हृदयमें ईर्षा, द्वेष, प्रतिहिंसा और मत्सरताकी आग भड़क उठी। वह तलवार हाथमें लिये ललकार कर बोला, हाँ ठहरो! अभी लड़ाई बाकी है। यह कहकर वह स्वयं हाथमें शमशेर लिये अखाड़ेमें उतरा। उसे देखकर सब भौंचकसे रहे गये। किसीकी समझमें न आया कि यह रहस्य क्या है? ें ऐसा किया जा रहा है? किसीको कुछ कहने विचार- ्कार न था। इस लिए वे सब लाचार होकर उस ी प्रतिक्षा करने लगे कि अन्तमें देखें ऊँट किस नो ्े इतना अवश्य है कि प्रकृतिको .र सहन नहीं होता, और इस लिए क पैदा करती है जो उन अत्याचारोंके ाड़ फैंक देती है। कंसके भयानक ा त्राह त्राह कर उठी थी। शान्ति— नशान भी न रह गया था। इसी लिए ारीखी एक महाशक्तिको उत्पन्न किया। .ाड़ेमें उतरा देखकर वासुदेव भी तलवार उठा ा सामने हुआ। दोनोंने अपनी अपनी तलवारको सम्हाला। कंसका हृदय क्रोधकी आगसे जल ही रहा था, सो उसने झपट कर वासुदेव पर पहला वार किया। श्रीकृष्णने उसके वारको बड़ी बुद्धिमानीसे बचाकर उस पर एक ऐसा जोरका वार किया कि पहला ही वार कंससे सम्हालते न बना और देखते देखते वह धड़ामसे गिरकर सदाके लिए

पृथिवीकी गोदमें सो गया। प्रकृतिको सन्तोष हुआ। उसने अपना कर्त्तव्य पूरा कर लोगोंको भी यह शिक्षा देदी कि देखो, निर्बलों पर अत्याचार करनेका तुम्हें कोई अधिकार नहीं। मैं ऐसे पापियोंका पृथिवी पर नाम निशान भी नहीं रहने देता। यदि तुम सुखी रहना पसन्द करते हो तो दूसरोंको भी सुखी करनेका यत्न करो। यह मेरा आदेश है।

कंसको निरीह प्रजा पर अत्याचार करनेका उपयुक्त प्रायश्चित्त मिल गया। अशान्तिका छत्र भंग होकर फिरसे शान्तिके पवित्र शासनकी स्थापना हुई। वासुदेवने उसी समय कंसके पिता उग्रसेनको लाकर पीछा राज्यसिंहासन पर अधिष्ठित किया। इसके बाद ही श्रीकृष्णने जरासन्ध पर चढ़ाई करके उसे भी कंसका रास्ता बतलाया और आप फिर अर्धचक्रवर्त्ती होकर प्रजाका नीतिके साथ शासन करने लगा।

यह कथा प्रसंगवश यहाँ संक्षेपमें लिख दी गई है, जिन्हें विस्तारके साथ पढ़ना हो उन्हें हरिवंशपुराणका स्वाध्याय करना चाहिए।

जो क्रोधी, मायाचारी, ईर्षा करनेवाले, द्वेष करनेवाले और मानी थे, धर्मके नामसे जिन्हें चिढ़ थी, जो धर्मसे उलटा चलते थे, अत्याचारी थे, जड़बुद्धि थे, और खोटे कर्मोंकी जालमें सदा फँसे रह कर कोई पाप करनेसे नहीं डरते थे, ऐसे कितने मनुष्य अपने ही कर्मोंसे कालके मुँहमें नहीं पड़े? अर्थात् कोई बुरा काम करे या अच्छा, कालके हाथ तो सभीको पड़ना ही पड़ता है। पर दोनोंमें विशेषता यह होती है कि एक मरे बाद भी जन साधारणकी श्रद्धाका पात्र होता

है और सुगति लाभ करता है। और दूसरा जीतेजी ही अनेक तरहकी निन्दा, बुराई, तिरस्कार आदि दुर्गुणोंका पात्र बनकर अन्तमें कुगतिमें जाता है। इस लिए जो विचारशील हैं– सुख प्राप्त करना जिनका ध्येय है, उन्हें तो यहीं उचित हैं कि वे संसारके दुःखोंका नाश कर स्वर्ग या मोक्षका सुख देने- वाले जिनभगवान्का उपदेश किया पवित्र जिनधर्मका सेवन करें।

४५–लक्ष्मीमतीकी कथा।

जिन जगद्बन्धुका ज्ञान लोक और अलोकका प्रकाशित करनेवाला है–जिनके ज्ञान द्वारा सब पदार्थ जाने जा सकते हैं, अपने हितके लिए उन जिनेन्द्रभगवानको नमस्कार कर मान करनेके सम्बन्धकी कथा लिखी जाती है।

मगधदेशके लक्ष्मी नामके सुन्दर गाँवमें एक सोमशर्मा ब्राह्मण रहता था। इसकी स्त्रीका नाम लक्ष्मीमती था। लक्ष्मीमती सुन्दरी थी। अवस्था इसकी जवान थी। इसमें सब गुण थे, पर एक दोष भी था। वह यह कि इसे अपनी जातिका बड़ा अभिमान था और यह सदा अपनेको सिंगारने- सजानेमें मस्त रहती थी।

एक दिन पन्द्रह दिनके उपवास किये हुए श्रीसमाधि- गुप्त मुनिराज आहारके लिए इसके यहाँ आये। सोमशर्मा उन्हें आहार करानेके लिए भक्तिसे ऊँचे आसन पर विराज-

मान कर और अपनी स्त्रीको उन्हें आहार करा देनेके लिए कहकर आप कहीं बाहर चला गया। उसे किसी कामकी जल्दी थी।

इधर ब्राह्मणी बैठी बैठी काचमें अपना मुँह देख रही थी। उसने अभिमानमें आकर मुनिको बहुतसी गालियाँ दीं, उनकी निन्दा की और किवाड बन्द कर लिए। हाय! इससे अधिक और क्या पाप होगा? मुनिराज शान्त-स्वभावी थे, तपके समुद्र थे, सबका हित करनेवाले थे, अनेक गुणोंसे युक्त थे, और उच्च चारित्रके धारक थे; इस लिए ब्राह्मणीकी उस दुष्टता पर कुछ ध्यान देकर वे लौट गये। सच है, पापियोंके यहाँ आई हुई निधि भी चली जाती हैं। मुनि-निन्दाके पापसे लक्ष्मीमतीके सातवें दिन कोढ़ निकल आया। उसकी दशा बड़ी बिगड़ गई। सच है, साधु-सन्तोंकी निन्दा-बुराईसे कभी शान्त नहीं मिलती। लक्ष्मीमतीकी बुरी हालत देखकर घरके लोगोंने उसे घर-बाहर कर दिया। यह कष्ट पर कष्ट उससे न सहा गया, सो वह आगमें पैठकर जल मरी। उसकी मौत बड़े बुरे भावोंसे हुई। उस पापसे वह इसी गांवमें एक धोबीके यहाँ गधी हुई। इस दशामें इसे दूध पीनेको नहीं मिला। यह मरकर सुअरी हुई। फिर दो बार कुत्तीकी पर्याय इसने ग्रहण की। इसी दशामें यह वनमें दवाग्निसे जल मरी। अब वह नर्मदा नदीके किनारे पर बसे हुए भृगुकच्छ गाँवमें एक मल्लाहके यहाँ काणा नामकी लड़की हुई। शरीर इसका जन्मसे ही बड़ा दुर्गन्धित था। किसीकी इच्छा इसके पास तक बैठनेकी

नहीं होती थी। देखिये अभिमानका फल, कि लक्ष्मी-मती ब्राह्मणी थी, पर उसने अपनी जातिका अभिमान कर अब मल्लाहके यहाँ जन्म लिया। इस लिए बुद्धिमानोंको कभी जातिका गर्व न करना चाहिए।

एक दिन काणा लोगोंको नाव द्वारा नदी पार कर रही थी। इसने नदी किनारे पर तपस्या करते हुए उन्हीं मुनिको देखा, जिनकी कि लक्ष्मीमतीकी पर्यायमें इसने निन्दा की थी। उन ज्ञानी मुनिको नमस्कार कर इसने पूछा-प्रभो, मुझे याद आता है कि मैंने कहीं आपको देखा है? मुनिने कहा-बच्ची, तू पूर्वजन्ममें ब्राह्मणी थी, तेरा नाम लक्ष्मीमती था, और सोमशर्मा तेरा भर्त्ता था। तूने अपने जातिके अभिमा-नमें आकर मुनि-निन्दा की। उसके पापसे तेरे कोढ़ निकल आया। तू उस दुःखको न सहकर आगमें जल मरी। इस आत्महत्याके पापसेप्तुझे गधी, सूअरी और दो बार कुत्ती होना पड़ा। कुत्तीके भवसे मरकर तू इस मल्लाहके यहाँ पैदा हुई है। अपना पूर्व भवका हाल सुनकर काणाको जातिस्मरण ज्ञान हो गया-पूर्वजन्मकी सब बातें उसे याद हो उठीं। वह मुनिको नमस्कार कर बड़े दुःखके साथ बोली-प्रभो, मैं बड़ी पापिनी हूं। मैंने साधु-महात्माओंकी बुराई कर बड़ा ही नीच काम किया है। मुनिराज, मेरी पापसे अब रक्षा करो-मुझे कुगतियोंमें जानेसे बचाओ। तब मुनिने उसे धर्मका उपदेश दिया। काणा सुनकर बड़ी सन्तुष्ट हुई। उसे बहुत वैराग्य हुआ। वह वहीं मुनिके पास दीक्षा लेकर क्षुल्लिकिनी हो गई। उसने फिर अपनी शक्तिके अनुसार खूब तपस्या की।

अन्तमें शुभ भावोंसे मरकर वह स्वर्ग गई। यही काणा फिर स्वर्गसे आकर कुण्ड नगरके राजा भीष्मकी महारानी यशस्वतीके रूपिणी नामकी बहुत सुन्दर कन्या हुई। रूपिणीका ब्याह वासुदेवके साथ हुआ। सच है, पुण्यके उदयसे जीवोंको सब धन-दौलत मिलती है।

जैनधर्म सबका हित करनेवाला सर्वोच्च धर्म है। जो इसे पालते हैं वे अच्छे कुलमें जन्म लेते हैं, उन्हें यश-सम्पत्ति प्राप्त होती है, वे कुगतिमें न जाकर उच्च गतिमें जाते हैं, और अन्तमें मोक्षका सर्वोच्च सुख लाभ करते हैं।

४६–पुष्पदत्ताकी कथा।

अनन्त सुखके देनेवाले और तीनों जगत्के स्वामी श्रीजिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर मायाको नाश करनेके लिए मायाविनी पुष्पदत्ताकी कथा लिखी जाती है।

प्राचीन समयसे प्रसिद्ध अजितावर्त नगरके राजा पुष्पचूलकी रानीका नाम पुष्पदत्ता था। राजसुख भोगते हुए पुष्पचूलने एक दिन अमरगुरु मुनिके पास जिनधर्मका स्वरूप सुना, जो धर्म स्वर्ग और मोक्षके सुखकी प्राप्तिका कारण है। धर्मोपदेश सुनकर पुष्पचूलको संसार, शरीर, भोगादिकोंसे बड़ा वैराग्य हुआ। वे दीक्षा लेकर मुनि हो गये। उनकी रानी पुष्पदत्ताने भी उनकी देखा-देखी

ब्रह्मिला नामकी आर्यिकाके पास आर्यिकाकी दीक्षा लेली। दीक्षा ले-लेने पर भी इसे अपने बड़प्पनका–राजकुलका अभिमान जैसाका तैसा ही बना रहा। धार्मिक आचार-व्यवहारसे यह विपरीत चलने लगी। और और आर्यिकाओंको नमस्कार, विनय करना इसे अपने अपमानका कारण जान पड़ने लगा। इस लिए यह किसीको नमस्कारादि नहीं करती थी। इसके सिवा इस योग अवस्थामें भी यह अनेक प्रकारकी सुगन्धित वस्तुओं द्वारा अपने शरीरको सिंगारा करती थी। इसका इस प्रकार बुरा–धर्मविरुद्ध आचार विचार देखकर एक दिन धर्मात्मा ब्रह्मिलाने इसे समझाया कि इस योगदशामें तुझे ऐसा शरीरका सिंगार आदि करना उचित नहीं है। ये बातें धर्मविरुद्ध और पापकी कारण है। इस लिए कि इनसे विषयोंकी इच्छा बढ़ती है। पुष्पदत्ताने कहा–नहीं जी, मैं कहाँ सिंगार-विंगार करती हूँ! मेरा तो शरीर ही जन्मसे ऐसी सुगन्ध लिये है। सच है, जिनके मनमें स्वभावसे धर्म-वासना न हो उन्हें कितना भी समझाया जाय, उन पर उस समझानेका कुछ असर नहीं होता। उनकी प्रवृत्ति और अधिक बुरे कामोंकी ओर जाती है। पुष्पदत्ताने यह मायाचार कर ठीक न किया। इसका फल इसके लिए बुरा हुआ। वह मरकर इस मायाचारके पापसे चम्पापुरीमें सागरदत्त सेठके यहां दासी हुई। इसका नाम जैसा पूतिमुखी था, इसके मुँहसे भी सदा वैसी दुर्गन्ध निकलती रहती थी। इस लिए बुद्धिमानोंको चाहिए कि वे मायाको पापकी कारण जानकर उसे दूरसे ही छोड़दें।

यही माया पशु-गतिके दुःखोंकी कारण है और कुल, सुन्द-रता, यश, माहात्म्य, सुगति, धन-दौलत तथा सुख आदि-का नाश करनेवाली है और संसारके बढ़ानेवाली लता है। यह जानकर मायाको छोड़े हुए जैनधर्मके अनुभवी विद्वानोंको उचित है कि वे धर्मकी ओर अपनी बुद्धिको लगावें।

४७—मरीचिकी कथा।

सुख रूपी धानको हरा-भरा करनेके लिए जो मेघ समान हैं, ऐसे जिनभगवान्के चरणोंको नमस्कार कर भरत-पुत्र मरीचिकी कथा लिखी जाती है, जैसी कि वह और शास्त्रोंमें लिखी है।

अयोध्यामें रहनेवाले सम्राट् भारतेश्वर भरतके मरीचि नामका पुत्र हुआ। मरीचि भव्य था और सरलमना था। जब आदिनाथ भगवान्, जो कि इन्द्र, धरणेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्त्ती आदि सभी महापुरुषों द्वारा सदा पूजा किये जाते थे, संसार छोड़कर योगी हुए तब उनके साथ कोई चार हजार राजा और भी साधु हो गये। इस कथाका नायक मरीचि भी इन साधुओंमें था।

भरत राज एक दिन भगवान् आदिनाथ तीर्थंकरका उपदेश सुननेको समवसरणमें गये। भगवान्को नमस्कार कर उन्होंने पूछा—भगवन्, आपके बाद तेईस तीर्थंकर और होंगे, ऐसा मुझे आपके उपदेशसे जान पड़ा। पर इस सभामें भी कोई

ऐसा महापुरुष है जो तीर्थंकर होनेवाला हो? भगवान् बोले-हाँ, है। वह यही तेरा पुत्र मरीचि, जो अन्तिम तीर्थंकर महावीरके नामसे प्रख्यात होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं। सुनकर भरतकी प्रसन्नताका तो कुछ ठिकाना न रहा और इसी बातसे मरीचिकी मति-गति उलटा ही हो गई। उसे अभिमान आ गया कि अब तो मैं तीर्थंकर होऊंगा ही, फिर मुझे नंगे रहना, दुःख सहना, पूरा खाना-पीना नहीं, यह सब कष्ट क्यों? किसी दूसरे वेषमें रहकर मैं क्यों न सुख-आराम पूर्वक रहूं! बस, फिर क्या था, जैसे ही विचारोंका हृदयमें उदय हुआ, उसी समय वह सब व्रत, सँयम, आचार-विचार, सम्यक्त्व आदिको छोड़-छाड़ कर तापसी बन गया और सांख्य, परिव्राजक आदि कई मतोंको अपनी कल्पनासे चला कर संसारके घोर दुःखोंका भोगनेवाला हुआ। इसके बाद वह अनेक कुगतियोंमें घूमा किया। सच है, प्रमाद-असावधानी या कषाय जीवोंके कल्याणमार्गमें बड़ा ही विघ्न करनेवाली है। और अज्ञानसे भव्यजन भी प्रमादी बनकर दुःख भोगते हैं। इस लिए ज्ञानियोंको धर्मकार्योंमें तो कभी भूलकर भी प्रमाद करना ठीक नहीं है। मोहकी लीलासे मरीचिको चिरकाल तक संसारमें घूमना पड़ा। इसके बाद पाप-कर्मकी कुछ शान्ति होनेसे उसे जैनधर्मका फिर योग मिल गया। उसके प्रसादसे वह नन्द नामका राजा हुआ। फिर किसी कारणसे इसे संसारसे वैराग्य हो गया। मुनि होकर इसने सोलह कारण भावना द्वारा तीर्थंकर नाम प्रकृतिका बन्ध किया। यहाँसे

यह स्वर्ग गया। स्वर्गायु पूरी होने पर इसने कुण्डलपुरमें सिद्धार्थ राजाकी प्रियकारिणी प्रियाके यहाँ जन्म लिया। ये ही संसार-पूज्य महावीर भगवान्के नामसे प्रख्यात हुए। इन्होंने कुमारपनमें ही दीक्षा लेकर तपस्या द्वारा घातिया कर्मोंका नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया। देव, विद्याधर चक्रवर्त्तियों द्वारा ये पूज्य हुए। अनेक जीवोंको इन्होंने कल्याणके मार्ग पर लगाया। अपने समयमें धर्मके नाम पर होनेवाली बे-शुमार पशुहिंसाका इन्होंने घोर विरोध कर उसे जड़मूलसे उखाड फैंक दिया। इनके समयमें अहिंसा धर्मकी पुनः स्थापना हुई। अन्तमें ये अघातिया कर्मोंका भी नाश-कर परमधाम—मोक्ष चले गये। इस लिए हे आत्मसुखके चाहनेवालो, तुम्हें सच्चे मोक्ष सुखकी यदि चाह है तो तुम सदा हृदयमें जिनभगवान्के पवित्र उपदेशको स्थान दो। यही तुम्हारा कल्याण करेगा। विषयोंकी ओर ले जानेवाले और उपदेश कल्याण-मार्गकी ओर नहीं झुका सकते।

वे वर्द्धमान—महावीर भगवान् संसारमें सदा जय लाभ करें—उनका पवित्र शासन निरन्तर मिथ्यान्धकारका नाश कर चमकता रहे, जो भगवान् जीवमात्रका हित करनेवाले हैं, ज्ञानके समुद्र हैं, राजों, महाराजों द्वारा पूजा किये जाते हैं और जिनकी भक्ति स्वर्गादिका उत्तम सुख देकर अन्तमें अनन्त, अविनाशी मोक्ष-लक्ष्मीसे मिला देती है।

४८–गन्धमित्रकी कथा।

अनन्त गुण-विराजमान और संसारका हित करनेवाले जिनेंद्र भगवान्‌को नमस्कार कर गन्धमित्र राजाकी कथा लिखी जाती है, जो घ्राणेन्द्रियके विषयमें फँसकर अपनी जान गँवा बैठा है।

अयोध्याके राजा विजयसेन और रानी विजयवतीके दो पुत्र थे। इनके नाम थे जयसेन और गन्धमित्र। इनमें गन्धमित्र बड़ा लम्पटी था। भौंरेकी तरह नाना प्रकारके फूलोंके सूँघनेमें वह सदा मस्त रहता था।

इनके पिता विजयसेन एक दिन कोई कारण देखकर संसारसे विरक्त हो गये। इन्होंने अपने बड़े लड़के जयसेनको राज्य देकर और गन्धमित्रको युवराज बनाकर सागरसेन मुनिराजसे योग ले लिया। सच है, जो अच्छे पुरुष होते हैं उनकी धर्मकी ओर स्वभावहीसे रुचि होती है।

जयसेनके छोटे भाई गन्धमित्रको युवराज पद अच्छा नहीं लगा। इस लिये कि उसकी महत्वाकांक्षा राजा होनेकी थी तब उसने राज्यके लोभमें पड़कर अपने बड़े भाईके विरुद्ध षड्यंत्र रचा। कितने ही बड़े बड़े कर्मचारियोंको उसने धनका लोभ देकर उभारा, प्रजामेंसे भी बहुतोंको उल्टी-सीधी सुझाकर बहकाया। गन्धमित्रको इसमें सफलता प्राप्त हुई। उसने मौका पाकर बड़े भाई जयसेनको सिंहासनसे उतार

राज्य बाहर कर दिया और आप राजा बन बैठा। राजवैभव सचमुच ही महापापका कारण है। देखिये न, इस राज-वैभवके लोभमें पड़कर मूर्खजन अपने सगे भाईकी तक जान लेनेकी कोशिशमें रहते हैं।

राज्य-भ्रष्ट जयसेनको अपने भाईके इस अन्यायसे बड़ा दुःख हुआ। इसका उसे ठीक बदला मिले, इस उपायमें अब वह भी लगा। प्रतिहिंसासे अपने कर्त्तव्यको वह भूल बैठा। उस दिनका रास्ता वह बड़ी उत्सुकतासे देखने लगा जिस दिन गन्धमित्रको वह ठार मारकर अपने हृदयको सन्तुष्ट करे।

गन्धमित्र लम्पटी तो था ही, सो वह रोज रोज अपनी स्त्रियोंको साथ लिए जाकर सरयू नदीमें उनके साथ जलक्रीड़ा हँसी दिल्लगी किया करता था। जयसेनने इस मौकेको अपना बदला चुकानेके लिए बहुत ही अच्छा समझा। एक दिन उसने जहरके पुट दिये अनेक प्रकारके अच्छे अच्छे मनोहर फूलोंको ऊपरकी ओरसे नदीमें बहा दिया। फूल गन्धमित्रके पास होकर बहे जा रहे थे। गन्धमित्र उन्हें देखते ही उनके लेनेके लिए झपटा। कुछ फूलोंको हाथ-में ले वह सूँघने लगा। फूलोंके विषका उस पर बहुत जल्दी असर हुआ और देखते देखते वह चल बसा। मरकर गन्ध-मित्र घ्राणेन्द्रियके विषयकी अत्यन्त लालसासे नरक गया। सो ठीक है, इन्द्रियोंके आधीन हुए लोगोंका नाश होता ही है।

देखिये, गन्धमित्र केवल एक विषयका सेवन कर नरकमें गया, जो कि अनन्त दुःखोंका स्थान है। तब जो लोग

पाँचो इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन करनेवाले हैं, वे क्या नरकोंमें न जायँगे ? अवश्य जायँगे। इस लिए जिन बुद्धिवानोंको दुःख सहना अच्छा नहीं लगता या वे दुःखोंको चाहते ही नहीं, तो उन्हें विषयोंकी ओरसे अपने मनको खींचकर जिनधर्मकी ओर लगाना चाहिए।

४९–गन्धर्वसेनाकी कथा।

सब सुखोंके देनेवाले जिनभगवान्के चरणोंको नमस्कार कर मूर्खिणी गन्धर्वसेनाका चरित लिखा जाता है। गन्धर्वसेना भी एक ही विषय की अत्याशक्तिसे मौतके पंजेमें फँसी थी।

पाटलीपुत्र (पटना) के राजा गन्धर्वदत्तकी रानी गन्धर्वदत्ताके गन्धर्वसेना नामकी एक कन्या थी। गन्धर्वसेना गान विद्याकी बड़ी अच्छी जानकार थी। और इसी लिए उसने प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि जो मुझे गानेमें जीत लेगा वही मेरा स्वामी होगा–उसीकी मैं अंकशायिनी बनूँगी। गन्धर्वसेनाकी खूब सूरतीकी मनोहारी सुगन्धकी लालसासे अनेक क्षत्रिय-कुमार भौंरेकी तरह खिंचे हुए आते थे, पर यहाँ आकर उन सबको निराश-मुँह लौट जाना पड़ता था। गन्धर्वसेनाके सामने गानेमें कोई नहीं ठहरने पाता था।

एक पांचाल नामका उपाध्याय गानशास्त्रका बहुत अच्छा अभ्यासी था। उसकी इच्छा भी गन्धर्वसेनाको

देखनेकी हुई । वह अपने पाँचसौ शिष्योंको साथ लिये पटना आकर एक बगीचेमें ठहरा । समय गर्मीका था और बहुत दूरकी मंजिल करनेसे पाँचाल थक भी गया था। इस लिए वह अपने शिष्योंसे यह कहकर, कि कोई यहाँ आये तो मुझे जगा देना, एक वृक्षकी ठंडी छायामें सो गया। इधर तो यह सोया और उधर इसके बहुतसे विद्यार्थी शहर देखनेको चल दिये।

गन्धर्वसेनाको पांचालके आने और उसके पाण्डित्यकी खबर लगी । वह इसे देखनेको आई। उसने इसे बहुतसी वीणाओंको आस-पास रखे सोया देख कर समझा तो सही कि यह विद्वान् तो बहुत भारी है, पर जब उसके लाल बहते हुए मुँह पर उसकी नजर गई, तो उसे पांचालसे बड़ी नफरत हुई । उसने फिर उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखा और जिस झाड़के नीचे पांचाल सोया हुआ था, उसकी चन्दन, फूल वगैरहसे पूजा कर वह उसी समय अपने महल लौट आई । गन्धर्वसेनाके जाने बाद जब पांचालकी नींद खुली और उसने वृक्षको गन्ध-पुष्पादिसे पूजा हुआ पाया तो उसे कुछ सन्देह हुआ । एक विद्यार्थीसे इसका कारण पूछा तो उसने एक स्त्रीके आने और इस वृक्षकी पूजा कर उसके चले जानेका हाल पांचालसे कहा । पांचालने समझ लिया कि गंधर्वसेना आकर चली गई । तब उसने सोचा यह तो ठीक नहीं हुआ। सोनेने सब बना-बनाया खेल बिगाड़ दि-या । खैर, जो हुआ, अब पीछे लौट जाना भी ठीक नहीं । चलकर प्रयत्न जरूर करना चाहिए। इसके बाद वह राजाके

पास गया और प्रार्थना कर अपने रहनेको एक स्थान उसने माँगा। स्थान उसकी प्रार्थनाके अनुसार गन्धर्वसेनाके महलके पास ही मिला। कारण राजासे पांचालने कह दिया था कि आपकी राजकुमारी गानेमें बड़ी हुशियार है, ऐसा मैं सुनता हूँ। और मैं भी आपकी कृपासे थोड़ा बहुत गाना जानता हूँ। इस लिए मेरी इच्छा राजकुमारीका गाना सुनकर यह बात देखनेकी है कि इस विषयमें उसकी कैसी गति है। यही कारण था कि राजाने कुमारीके महलके समीप ही उसे रहनेकी आज्ञा देदी। अस्तु।

एक दिन पांचाल कोई रातके तीन चार बजेके समय वीणाको हाथमें लिए बड़ी मधुरतासे गाने लगा। उसके मधुर मनोहर गानेकी आवाज शान्त रात्रिमें आकाशको भेदती हुई गन्धर्वसेनाके कानोंसे जाकर टकराई। गन्धर्वसेना इस समय भरनींदमें थी। पर इस मनोमुग्ध करनेवाली आवाजको सुनकर वह सहसा चौंक कर उठ बैठी। न केवल उठ बैठनेहीसे उसे सन्तोष हुआ। वह उठकर उधर दौड़ी भी गई जिधरसे आवाज गूँजती हुई आ रही थी। इस बे-भान अवस्थामें दौड़ते हुए उसका पाँव खिसक गया और वह धड़ामसे आकर जमीन पर गिर पड़ी। देखते देखते उसका आत्माराम उसे छोड़ कर चला गया। इस विषयासक्तिसे उसे फिर संसारमें चिर समय तक रुलना पड़ा।

गन्धर्वसेना एक कर्णेन्द्रियके विषयकी लम्पटतासे जब अथाह संसार-सागरमें डूबी, तब जो पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें सदा काल मस्त रहते हैं, वे यदि डूबें तो इसमें नई

बात क्या ? इस लिए बुद्धिमानोंका कर्त्तव्य है कि वे इन दुःखोंके कारण विषयभोगोंको छोड़कर सुखके सच्चे स्थान जिनधर्मका आश्रय लें ।

५०–भीमराजकी कथा ।

केवलज्ञानरूपी नेत्रोंकी अपूर्व शोभाको धारण किये हुए श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार कर भीमराजकी कथा लिखी जाती है, जिसे सुनकर सत्पुरुषोंको इस दुःखमय संसारसे वैराग्य होगा ।

कांपिल्य नगरमें भीम नामका एक राजा हो गया है । वह दुर्बुद्धि बड़ा पापी था। उसकी रानीका नाम सोमश्री था। इसके भीमदास नामका एक लड़का था । भीमने कुल-क्रमके अनुसार नन्दीश्वर पर्वमें मुनादी पिटवाई कि कोई इस पर्वमें जीवहिंसा न करे । राजाने मुनादी तो पिटवा दी, पर वह स्वयं महा लम्पटी था । मांस खाये बिना उसे एक दिन भी चैन नहीं पड़ता था । उसने इस पर्वमें भी अपने रसोइयेसे मांस पकानेको कहा। पर दूकानें सब बन्द थीं, अतः उसे बड़ी चिन्ता हुई । वह मांस लाये कहाँसे ? तब उसने एक युक्ति की। वह मसानसे एक बच्चेकी लाश उठा लाया और उसे पका-कर राजाको खिलाया । राजाको वह मांस बड़ा ही अच्छा लगा । तब उसने रसोइयेसे कहा– क्योंरे, आज यह मांस

और और दिनोंकी अपेक्षा इतना स्वादिष्ट क्यों है ? रसोइयेने डरकर सच्ची बात राजासे कह दी। राजाने तब उससे कहा—आजसे तू बालकोंका ही मांस पकाया करना।

राजाने तो झटसे कह दिया कि अबसे बालकोंका ही मांस खानेके लिए पकाया करना। पर रसोइयेको इसकी बड़ी चिन्ता हुई कि वह रोज रोज बालकोंको लाये कहाँसे ? और राजाज्ञाका पालन होना ही चाहिए। तब उसने यह प्रयत्न किया कि रोज शामके वक्त शहरके मुहल्लोंमें जाना और जहाँ बच्चे खेल रहे हों उन्हें मिठाईका लोभ देकर झटसे किसी एकको पकड़ कर उठा लाना। इसी तरह वह रोज रोज एक बच्चेकी जान लेने लगा। सच है, पापी लोगोंकी संगति दूसरोंको भी पापी बना देती है। जैसे भीमराजकी संगतिसे उसका रसोइया भी उसीके सरीखा पापी हो गया।

बालकोंको प्रतिदिन इस प्रकार एकाएक गायब होनेसे शहरमें बड़ी हलचल मच गई। सब इसका पता लगानेकी कोशिशमें लगे। एक दिन इधर तो रसोइया चुपकेसे एक गृहस्थके बालकको उठाकर चला कि पीछेसे उसे किसीने देख लिया। रसोइया झट-पट पकड़ लिया गया। उससे जब पूछा गया तो उसने सब बातें सच्ची सच्ची बतलादीं। यह बात मंत्रियोंके पास पहुँची। उन्होंने सलाह कर भीमदासको तो अपना राजा बनाया और भीमको रसोइयेके साथ शहरसे निकाल बाहर किया। सच है, पापियोंका कोई साथ नहीं देता। माता, पुत्र, भाई, बहिन, मित्र, मंत्री, प्रजा—आदि सब ही विरुद्ध होकर उसके शत्रु बन जाते हैं।

भीम यहाँसे चलकर अपने रसोइयेके साथ एक जंगलमें पहुँचा। यहाँ इसे बहुत ही भूख लगी। इसके पास खानेको कुछ नहीं था। तब यह अपने रसोइयेको ही मारकर खा गया। यहाँसे घूमता-फिरता यह मेखलपुर पहुँचा और वहाँ वासुदेवके हाथ मारा जाकर नरक गया।

अधर्मी पुरुष अपने ही पापकर्मोंसे संसार-समुद्रमें रुलते हैं। इस लिए सुखकी चाह करनेवाले बुद्धिवानोंको चाहिए कि वे सुखके स्थान जैनधर्मका पालन करें।

५१—नागदत्ताकी कथा।

देवों, विद्याधरों, चक्रवर्त्तियों और राजों महाराजों द्वारा पूजा किये गये जिनभगवान्‌के चरणोंको नमस्कार कर नागदत्ताकी कथा लिखी जाती है।

आभीर देशके नासक्य नगरमें सागरदत्त नामका एक सेठ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम नागदत्ता था। इसके एक लड़का और एक लड़की थी। दोनोंके नाम थे श्रीकुमार और श्रीषेणा। नागदत्ताका चाल-चलन अच्छा न था। अपनी गौएँको चरानेवाले नन्द नामके गुवालके साथ उसकी आशनाई थी। नागदत्ताने उसे एक दिन कुछ सिखा-सुझा दिया। सो वह बीमारीका बहाना बनाकर गौएँ चरानेको नहीं आया। तब बेचारे सागरदत्तको

स्वयं गौएँ चरानेको जाना पड़ा। जंगलमें गौओंको चरते छोड़कर वह एक झाड़के नीचे सो गया। पीछेसे नन्द गुवालने आकर उसे मार डाला। बात यह थी कि नागदत्ताने ही अपने पतिको मार डालनेके लिए उसे उसकाया था। और फिर परस्त्री-लम्पटी पुरुष अपने सुखमें आनेवाले विघ्नको नष्ट करनेके लिए कौन बुरा काम नहीं करता।

नागदत्ता और पापी नन्द इस प्रकार अनर्थ द्वारा अपने सिर पर एक बड़ा भारी पापका बोझा लादकर अपनी नीच मनोवृत्तियोंको प्रसन्न करने लगे। श्रीकुमार अपनी माताकी इस नीचतासे बे-हद कष्ट पाने लगा। उसे लोगोंको मुँह दिखाना तक कठिन हो गया। उसे बड़ी लज्जा आने लगी और इसके लिए उसने अपनी माताको बहुत कुछ कहा सुना भी। पर नागदत्ताके मन पर उसका कुछ असर नहीं हुआ। वह पिचली हुई नागिनकी तरह उसी पर दाव खाने लगी। उसने नाराज होकर श्रीकुमारको भी मार डालनेके लिए नन्दको उभारा। नन्द फिर बीमारीका बहाना बनाकर गौएँ चरानेको नहीं आया। तब श्रीकुमार स्वयं ही जानेको तैयार हुआ। उसे जाता देखकर उसकी बहिन श्रीषेणाने उसे रोककर कहा–भैया, तुम मत जाओ। मुझे माताका इसमें कुछ कपट दिखता है। उसने जैसे नन्द द्वारा अपने पिताजीको मरवा डाला है, वह तुम्हें भी मरवा डालनेके लिए दाँत पीस रही है। मुझे जान पड़ता है नन्द इसी लिए बहाना बनाकर आज गौएँ चरानेको नहीं आया। श्रीकुमार बोला–बहिन, तुमने मुझे

आज सावधान कर दिया यह बड़ा ही अच्छा किया। तुम मत घबराओ। मैं अपनी रक्षा अच्छी तरह कर सकूँगा। अब मुझे रंचमात्र भी डर नहीं रहा। और मैं तुम्हारे कहनेसे नहीं भी जाता, पर इससे माताको अधिक सन्देह होता और वह फिर कोई दूसरा ही यत्न मुझे मरवानेका करती। क्योंकि वह चुप तो कभी बैठी ही न रहती। आज बहुत ही अच्छा मौका हाथ लगा है। इस लिए मुझे जाना ही उचित है। और जहाँ तक मेरा बस चलेगा मैं जड़मूलसे उस अंकुरको ही उखाड़कर फेंक दूँगा, जो हमारी माताके अनर्थका मूल कारण है। बहिन, तुम किसी तरहकी चिन्ता मनमें न लाओ। अनाथोंका नाथ अपना भी मालिक है।

श्रीकुमार बहिनको समझा कर जंगलमें गौएँ चरानेको गया। उसने वहाँ एक बड़े लकड़ेको वस्त्रोंसे ढककर इस तरह रख दिया कि वह दूसरोंको सोया हुआ मनुष्य जान पड़ने लगे और आप एक ओर छिप गया। श्रीषेणाकी बात सच निकली। नन्द नंगी तलवार लिए दबे पाँव उस लकड़ेके पास आया और तलवार उठा कर उसने उस पर देमारी। इतनेमें पीछेसे आकर श्रीकुमारने उसकी पीठमें इस जोरकी एक भालेकी जमाई कि भाला आर-पार हो गया और नन्द देखते देखते तड़फड़ाकर मर गया। इधर श्रीकुमार गौओंको लेकर घर लौट आया। आज गौएँ दोहनेके लिए भी श्रीकुमार ही गया। उसे देखकर नागदत्ताने उससे पूछा—क्यों कुमार, नन्द नहीं आया? मैंने तो तेरे ढूँढ़नेके लिए उसे जंगलमें भेजा था। क्या तूने उसे देखा है कि वह

कहाँ पर है? श्रीकुमारसे तब न रहा गया और गुस्सेमें आकर उसने कह डाला–माता, मुझे तो मालूम नहीं कि नन्द कहाँ है। पर मेरा यह भाला अवश्य जानता है। नागदत्ताकी आँखें जैसे ही उस खूनसे भरे हुए भाले पर पड़ीं तो उसकी छाती धड़क उठी। उसने समझ लिया कि इसनें उसे मार डाला है। अब तो क्रोधसे वह भी भर्रा गई। उसके सामने एक मूसला रक्खा था। उस पापिनीने उसे ही उठाकर श्री-कुमारके सिर पर इस जोरसे मारा कि सिर फटकर तत्काल वह भी धराशायी हो गया। अपने भाईकी इस प्रकार हत्या हुई देखकर श्रीषेणा दौड़ी हुई आई और नागदत्ताके हाथसे झटसे मूसला छुड़ाकर उसने उसके सिर पर एक जोरकी मार जमाई, जिससे वह भी अपने कियेकी योग्य सजा पा गई। नागदत्ता मरकर पापके फलसे नरक गई। सच है, पापीको अपना जीवन पापमें ही बिताना पड़ता है। नागदत्ता इसका उदाहरण है। उस दुराचारको धिक्कार, उस कामको धिक्कार, जिसके वश मनुष्य महा पापकर्म कर और फिर उसके फलसे दुर्गतिमें जाता है। इस लिए सत्पुरुषोंको उचित है कि वे जिनेन्द्र भगवान्‌के उपदेश किये, सबको प्रसन्न करनेवाले और सुख-प्राप्तिके साधन ब्रह्मचर्य व्रतका सदा पालन करें।

५२–द्वीपायन मुनिकी कथा।

संसारके स्वामी और अनन्त सुखोंके देनेवाले श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार कर द्वीपायन मुनिका चरित लिखा जाता है, जैसा पूर्वाचार्योंने उसे लिखा है।

सोरठदेशमें द्वारका प्रसिद्ध नगरी है। नेमिनाथ भगवान्‌का जन्म यहीं हुआ है। इससे यह बड़ी पवित्र समझी जाती है। जिस समयकी यह कथा लिखी जाती है उस समय द्वारकाका राज्य नवमे नारायण बलभद्र और वासुदेव करते थे। एक दिन ये दोनों राज-राजेश्वर गिरनार पर्वत पर नेमिनाथ भगवान्‌की पूजा-वन्दना करनेको गये। भगवान्‌की इन्होंने भक्तिपूर्वक पूजा की और उनका उपदेश सुना। उपदेश सुनकर इन्हें बहुत प्रसन्नता हुई। इसके बाद बलभद्रने भगवान्‌से पूछा–हे संसारके अकारण बन्धो, हे केवलज्ञानरूपी नेत्रके धारक, हे तीन जगत्के स्वामी, हे करुणाके समुद्र, और हे लोकालोकके प्रकाशक, कृपाकर कहिए, कि वासुदेवको पुण्यसे जो संपत्ति प्राप्त है वह कितने समय तक ठहरेगी? भगवान् बोले–बारह वर्ष पर्यन्त वासुदेवके पास रहकर फिर नष्ट हो जायगी। इसके सिवा मद्य-पानसे यदुवंशका समूल नाश होगा, द्वारका द्वीपायन मुनिके सम्बन्धसे जलकर खाक हो जायगी, और बलभद्र, तुम्हारी इस छुरी द्वारा जरत्कुमारके हाथोंसे श्रीकृ-

ष्णकी मृत्यु होगी। भगवान्‌के द्वारा यदुवंश, द्वारका और वासुदेवका भविष्य सुनकर बलभद्र द्वारका आये। उस समय द्वारकामें जितनी शराब थी, उसे उन्होंने गिरनार पर्वतके जंगलोंमें डलवा दिया। उधर द्वीपायन अपने सम्बन्धसे द्वारकाका भस्म होना सुन मुनि हो गये और द्वारकाको छोड़कर कहीं अन्यत्र चल दिये। मूर्ख लोग न समझकर कुछ यत्न करें, पर भगवान्‌का कहा कभी झूठ नहीं होता। बलभद्रने शराबको तो फिकवा ही दिया था। अब एक छुरी और उनके पास रह गई थी, जिसके द्वारा भगवान्‌ने श्रीकृष्णकी मौत होना बतलाई थी। बलभद्रने उसे भी खूब घिस-घिसाकर समुद्रमें फिकवा दिया। कर्मयोगसे उस छुरीको एक मच्छ निगल गया और वही मच्छ फिर एक मल्लाहकी जालमें आ फँसा। उसे मारने पर उसके पेटसे वह छुरी निकली और धीरे धीरे वह जरत्कुमारके हाथ तक भी पहुँच गई। जरत्कुमारने उसका बाणके लिए फला बनाकर उसे अपने बाण पर लगा लिया।

बारह वर्ष हुए नहीं, पर द्वीपायनको अधिक महीनोंका खयाल न रहनेसे बारह वर्ष पूरे हुए समझ वे द्वारकाकी ओर लौट आकर गिरनार पर्वतके पास ही कहीं ठहरे और तपस्या करने लगे। पर तपस्या द्वारा कर्मोंका ऐसा योग कभी नष्ट नहीं किया जा सकता। एक दिनकी बात है कि द्वीपायन मुनि आतापन योग द्वारा तपस्या कर रहे थे। इसी समय मानों पापकर्मों द्वारा उभारे हुए यादवोंके कुछ लड़के गिरनार पर्वतसे खेल-कूद कर लौट रहे थे। रास्तेमें इन्हें

बहुत जोरकी प्यास लगी। यहाँ तक कि ये बेचैन हो गये। इनके लिए घर आना मुश्किल पड़ गया। आते आते इन्हें पानीसे भरा एक गढ़ा देख पड़ा। पर वह पानी नहीं था; किन्तु बलभद्रने जो शराब ढुलवा दी थी वही बहकर इस गढ़ेमें इकट्ठी हो गई थी। इस शराबको ही उन लड़कोंने पानी समझ पी लिया। शराब पीकर थोड़ी देर हुई होगी कि उसने इन पर अपना रंग जमाना शुरू किया। नशेसे ये सुध-बुध भूलकर उन्मत्तकी तहर कूदते-फाँदते आने लगे। रास्तेमें इन्होंने द्वीपायन मुनिको ध्यान करते देखा। मुनिकी रक्षाके लिए बलभद्रने उनके चारों ओर एक पत्थरोंका कोटसा बनवा दिया था। एक ओर उसके आने-जानेका दरवाजा था। इन शैतान लड़कोंने मजाकमें आ उस जगहको पत्थरोंसे पूर दिया। सच है, शराब पीनेसे सब सुध-बुध भूलकर बड़ी बुरी हालत हो जाती है। यहाँ तक कि उन्मत्त पुरुष अपनी माता बहिनोंके साथ भी बुरी वासनाओंको प्रगट करनेमें नहीं लजाता है। शराब पीनेवाले पापी लोगोंको हित अहितका कुछ ज्ञान नहीं रहता। इन लड़कोंकी शैतानीका हाल जब बलभद्रको मालूम हुआ तो वे वासुदेवको लिये दौड़े दौड़े मुनिके पास आये और उन पत्थरोंको निकाल कर उनसे उन्होंने क्षमाकी प्रार्थना की। इस क्षमा करानेका मुनि पर कुछ असर नहीं हुआ। उनके प्राण निकलनेकी तैयारी कर रहे थे। मुनिने सिर्फ दो उँगुलियाँ उन्हें बतलाईं। और थोड़ी ही देरबाद वे मर गये। क्रोधसे मर कर तपस्याके फलसे ये व्यन्तर हुए। इन्होंने कुवधि द्वारा अपने व्यन्तर होनेका कारण

जाना तो इन्हें उन लड़कोंके उपद्रवकी सब बातें ज्ञात हो गईं। यह देख व्यन्तरको बड़ा क्रोध आया। उसने उसी समय द्वारकामें आकर आग लगा दी। सारी द्वारका धन-जन सहित देखते देखते खाक हो गई। सिर्फ बलभद्र और वासुदेव ही बच पाये, जिनके लिए कि द्वीपायनने दो उँगुलियाँ बतलाई थीं। सच है, क्रोधके वश हो मूर्ख पुरुष सब कुछ कर बैठते हैं। इस लिए भव्यजनोंको शान्ति-लाभके लिए क्रोधको कभी पास भी न फटकने देना चाहिए। उस भयंकर अग्नि लीला-को देखकर बलभद्र और वासुदेवका भी जी ठिकाने न रहा। ये अपना शरीर मात्र लेकर भाग निकले। यहाँसे निकल कर ये एक घोर जंगलमें पहुँचे। सच है, पापका उदय आने पर सब धन-दौलत नष्ट होकर जी बचाना तक मुश्किल पड़ जाता है। जो पलभर पहले सुखी रहा हो वह दूसरे ही पलमें पापके उदयसे अत्यन्त दुखी हो जाता है। इस लिए जिन लोगोंके पास बुद्धिरूपी धन है, उन्हें चाहिए कि वे पापके कारणोंको छोड़कर पुण्यके कामोंमें अपने हाथोंको बटावें। पात्र-दान, जिन-पूजा, परोपकार, विद्या-प्रचार, शील, व्रत, संयम आदि ये सब पुण्यके कारण हैं। बलभद्र और वासुदेव जैसे ही उस जंगलमें आये, वासुदेवको यहाँ अत्यन्त प्यास लगी। प्यासके मारे वे गश खाकर गिर पड़े। बलभद्र उन्हें ऐसे ही छोड़कर जल लाने चले गये। इधर जरत्कु-मार न जाने कहाँसे इधर ही आ निकला। उसने श्रीकृष्णको हरिणके भ्रमसे बाण द्वारा बेध दिया। पर जब उसने आकर देखा कि वह हरिण नहीं, किन्तु श्रीकृष्ण है तब तो उसके

दुःखका कोई पार न रहा । पर अब वह कुछ करने-धरनेको लाचार था । वह बलभद्रके भयसे फिर उसी समय वहाँसे भाग दिया । इधर बलभद्र जब पानी लेकर लौटे और उन्होंने श्रीकृष्णकी यह दशा देखी तब उन्हें जो दुःख हुआ वह लिखकर नहीं बताया जा सकता । यहाँ तक कि वे भ्रातृ-प्रेमसे सिड़ीसे हो गये और श्रीकृष्णको कन्धों पर उठाये महीनों पर्वतों और जंगलोंमें घूमते फिरे । बलभद्रकी यह हालत देख उनके पूर्व जन्मके मित्र एक देवको बहुत खेद हुआ । उसने आकर इन्हें समझा-बुझा कर शान्त किया और इनसे भाईका दहन-संस्कार करवाया । संस्कार कर जैसे ही ये निवृत्त हुए, इन्हें संसारकी दशा पर बड़ा वैराग्य हुआ । ये उसी समय सब दुःख, शोक, माया-ममता छोड़-कर योगी हो गये । इन्होंने फिर पर्वतों पर खूब दुस्सह तप किया । अन्तमें धर्मध्यान सहित मरण कर ये माहेन्द्र स्वर्गमें देव हुए । वहाँ ये प्रति दिन नित नये और मूल्यवान् सुन्दर सुन्दर वस्त्राभूषण पहरते हैं, अनेक देव-देवी इनकी आज्ञामें सदा हाजिर रहते हैं, नाना प्रकारके उत्तमसे उत्तम स्वर्गीय भोगोंको ये भोगते हैं, विमान द्वारा कैलास, सम्मेद-शिखर, हिमालय, गिरनार, आदि पर्वतोंकी यात्रा करते हैं, और विदेह क्षेत्रमें जाकर साक्षाज्जिनभगवान्की पूजा-भक्ति करते हैं । मतलब यह कि पुण्यके उदयसे उन्हें सब कुछ सुख प्राप्त है और वे आनन्द-उत्सवके साथ अपना समय बिताते हैं ।

जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप इन तीन महान रत्नोंसे भूषित हैं, जो जिन भगवान्के चर-

णोंके सच्चे भक्त हैं, चारित्र धारण करनेवालोंमें जो सबसे ऊँचे हैं, जिनकी परम पवित्र बुद्धि गुणरूपी रत्नोंसे शोभाको धारण किये हैं, और जो ज्ञानके समुद्र हैं, ऐसे बलभद्र मुनिराज मुझे वह सुख, वह शांति और वह मंगल दें, जिससे मन सदा प्रसन्न रहे।

५३–शराब पीनेवालेकी कथा।
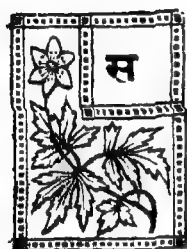
सब सुखोंके देनेवाले सर्वज्ञ भगवान्‌को नमस्कार कर शराब पीकर नुकसान उठानेवाले एक ब्राह्मणकी कथा लिखी जाती है। वह इस लिए कि इसे पढ़कर सर्व साधारण लाभ उठावें।

वेद और वेदांगोंका अच्छा विद्वान् एकपात नामका एक संन्यासी एकचक्रपुरसे चलकर गंगानदीकी यात्रार्थ जा रहा था। रास्तेमें जाता हुआ यह दैवयोगसे विन्ध्याटवीमें पहुँच गया। यहाँ जवानीसे मस्त हुए कुछ चाण्डाल लोग दारू पी-पीकर एक अपनी जातिकी स्त्रीके साथ हँसी-मजाक करते हुए नाच-कूद रहे थे, गा रहे थे और अनेक प्रकारकी कुचेष्टाओंमें मस्त हो रहे थे। अभागा संन्यासी इस टोलीके हाथ पड़ गया। इन लोगोंने उसे आगे न जाने देकर कहा–अहा! आप भले आये! आपहीकी हम लोगोंमें कसर थी। आइए, मांस खाइए, दारू पीजिए और जिन्दगीका सुख देनेवाली इस खूब सूरत औरतका मजा लूटिए।

महाराजजी, आज हमारे लिए बड़ी खुशीका दिन है और ऐसे समयमें जब आप स्वयं यहाँ आ गये तब तो हमारा यह सब करना-धरना सफल हो गया। आप सरीखे महात्माओंका आना सहजमें थोड़े ही होता है और फिर ऐसे खुशीके समयमें! लीजिए, अब देर न कर हमारी प्रार्थनाको पूरी कीजिए। इनकी बातें सुनकर बचारे संन्यासीके तो होश उड़ गये। वह इन शराबियोंको कैसे समझावे, क्या कहे, और यह कुछ कहे-सुने भी तो वे माननेवाले कब? वह बड़े संकटमें पड़ गया। तब भी उसने इन लोगोंसे कहा—भाइयो, सुनो—एक तो मैं ब्राह्मण और उस पर संन्यासी, फिर बतलाओ मैं मांस-मदिरा कैसे खा-पी सकता हूँ? इस लिए तुम मुझे जाने दो। उन चाण्डालोंने कहा—महाराज कुछ हो, हम तो आपको कभी बिना कुछ प्रसाद पाये नहीं जाने देंगे। आपसे हम यहाँ तक कहे देते हैं, कि यदि आप अपनी खुशीसे खायँगे तब तो अच्छा ही है, नहीं तो फिर जिस-तरह बनेगा हम आपको खिलाकर ही छोड़ेंगे। बिना हमारा कहना किये आप जीतेजी गंगाजी नहीं देख सकते। अब तो संन्यासीजी घबराये। वे कुछ विचारमें थे, इतनेमें उन्हें स्मृतियोंके कुछ नीचे लिखे प्रमाण-वाक्य याद आ गये—

"जो मनुष्य तिल या सरसोंके बराबर मांस खाता है वह नरकोंमें तब तक दुःख भोगा करेगा, जब तक कि पृथिवी पर चन्द्र और सूर्य रहेंगे। अर्थात् अधिक मांस खानेवाला नहीं। ब्राह्मण लोग यदि चाण्डालीके साथ विषय-सेवन करें तो उनकी 'काष्ठभक्षण' नामके प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि हो

सकती है। और जो आँवले, गुड़ आदिसे बनी हुई शराब पीते हैं, वह शराब पीना नहीं कहा जा सकता—आदि।"

इस लिए जैसा ये कहते हैं, उसके करनेमें शास्त्र, स्मृतियोंसे तो कोई दोष नहीं आता। यह विचार कर उस मूर्खने शराब पीली। शराब पीनेके थोड़ी ही देर बाद उसका नशा चढ़ने लगा। बेचारेको पहले कभी शराबके पीने-पानेका काम नहीं पड़ा था। इस लिए उसका रंग इस पर और अधिकतासे चढ़ा। शराबके नशेमें चूर हो कर यह सब सुध-बुध भूल गया। अपने पनका इसे कुछ ज्ञान न रहा। लँगोटी-वँगोटी फैंककर यह भी उन लोगोंकी तरह नाँचने-कूदने लगा। जैसे कोई भूत-पिशाचके पंजेमें पड़ा हुआ उन्मत्तकी भांति नाँचने-कूदने लगता है। सच है, खोटी संगति कुल, धर्म, पवित्रता आदि सभी बातोंका नाश कर देती है। संन्यासी इसी तरह वड़ी देरतक तो नाचा-कूदा किया, पर जब वह थोड़ा कुछ थकसा गया तब उसे बड़े जोरकी भूख लग आई। पर वहाँ खानेके लिए सिवा मांसके क्या था? संन्यासीने तब उसे ही खा लिया। पेट भरनेके बाद ही उसे कामने सताया। तब उसने जवानीकी मस्तीसे मस्त हुई उस स्त्रीके साथ अपनी नीच वासना पूरी की। मतलब यह कि एक शराब पीनेसे उसे सब नीच काम करना पड़े। दूसरे ग्रन्थोंमें भी इस एकपात संन्यासीके सम्बन्धमें लिखा है कि "मूर्ख एकपात संन्यासीने स्मृतियोंके बचनोंको प्रमाण मानकर शराब पी, मांस खाया और चाण्डालिनीके साथ विषय-सेवन किया।" इस लिए बुद्धिवानोंको उचित है कि वे सहसा

किसी प्रमाण पर विश्वास न कर बुद्धिसे काम लें। क्योंकि मीठे पानीमें मिला हुआ विष भी जान लिए बिना नहीं छोड़ता।

देखिए, एकपात् संन्यासी गंगा-गोदावरीका नहानेवाला था, विष्णुका सच्चा भक्त था, वेदों और स्मृतियोंका अच्छा विद्वान् था; पर अज्ञानसे स्मृतियोंके वचनोंको हेतु-शुद्ध मानकर अर्थात् ऐसी शराबके पीनेमें पाप नहीं, चाण्डालिनीका सेवन करने पर भी प्रायश्चित्त द्वारा ब्राह्मणोंकी शुद्धि हो सकती है, थोड़ा मांस खानेमें दोष है, न कि ज्यादा खानेमें—इस प्रकार मनकी समझौती करके उसने मांस खाया, शराब पी, और अपने वर्षोंके ब्रह्मचर्यको नष्ट कर वह कामी हुआ। इस लिए बुद्धिवानोंको उन सच्चे शास्त्रोंका अभ्यास करना चाहिए जो पापसे बचाकर कल्याणका रास्ता बतानेवाले हैं और ऐसे शास्त्र जिनभगवान्ने ही उपदेश किये हैं।

५४—सगरचक्रवर्त्तीकी कथा।
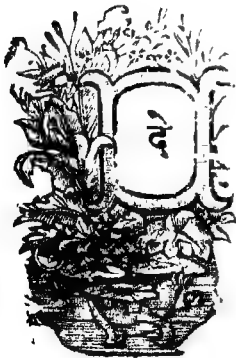
वों द्वारा पूजा किये गये जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर दूसरे चक्रवर्त्ती सगरका चरित लिखा जाता है।

जम्बूद्वीपके प्रसिद्ध और सुन्दर विदेह क्षेत्रकी पूरब दिशामें सीता नदीके पश्चिमकी

संसारमें घुमानेवाले हैं? राजन्, आप तो स्वयं बुद्धिमान् हैं। आपको मैं क्या अधिक समझा सकता हूँ। मैंने तो सिर्फ अपनी प्रतिज्ञा-पालनके लिए आपसे इतना निवेदन किया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप इन क्षण-भंगुर विषयोंसे अपनी लालसाको कम करके जिनभगवान्का परम पवित्र तपो-मार्ग ग्रहण करेंगे और बड़ी सावधानीके साथ मुक्ति कामिनीके साथ ब्याहकी तैयारी करेंगे। मणिकेतुने उसे बहुत कुछ समझाया। पर पुत्रमोही सगरको संसारसे नाममात्रके लिए भी उदासीनता न हुई। माणिकेतुने जब देखा कि अभी यह पुत्र, स्त्री, धन-दौलतके मोहमें खूब फँस रहा है। अभी इसे संसारसे–विषयभोगोंसे उदासीन बना देना कठिन ही नहीं किन्तु एक प्रकार असंभवको संभव करनेका यत्न है। अस्तु, फिर देखा जायगा। यह विचार कर मणिकेतु अपने स्थान चला गया। सच है, काललब्धिके बिना कल्याण हो भी तो नहीं सकता।

कुछ समयके बाद मणिकेतुके मनमें फिर एक बार तरंग उठी कि अब किसी दूसरे प्रयत्न द्वारा सगरको तपस्याके सम्मुख करना चाहिए। तब वह चारण मुनिका वेष लेकर, जो कि स्वर्ग-मोक्षके सुखका देनेवाला है, सगरके जिन मन्दिरमें आया और भगवान्का दर्शन कर वहीं ठहर गया। उसकी नई उमर और सुन्दरताको देखकर सगरको बड़ा अचंभा हुआ। उसने मुनिरूप धारण करनेवाले देवसे पूछा, मुनिराज, आपकी इस नई उमरने, जिसने कि संसारका अभी कुछ सुख नहीं देखा, ऐसे कठिन योगको किस लिए

धारण किया ? मुझे तो आपको योगी हुए देखकर बड़ा ही आश्चर्य हो रहा है। तब देवने कहा–राजन्, तुम कहते हो, वह ठीक है। पर मेरा विश्वास है कि संसारमें सुख है ही नहीं। जिधर मैं आँखें खोलकर देखता हूँ मुझे दुःख या अशान्ति ही देख पड़ती है। यह जवानी बिजलीकी तरह चमककर पलभरमें नाश होनेवाली है। यह शरीर, जिसे कि तुम भोगोंमें लगानेको कहते हो, महा अपवित्र है। ये विषय-भोग, जिन्हें तुम सुखरूप समझते हो, सर्पके समान भयंकर हैं, और यह संसाररूपी समुद्र अथाह है, नाना तरहके दुःखरूपी भयंकर जलजीवोंसे भरा हुआ है और मोह जालमें फँसे हुए जीवोंके अत्यन्त दुस्तर है। तब जो पुण्यसे यह मनुष्य देह मिला है, इसे इस अथाह समुद्रमें बहने देना या जिनेन्द्रभगवानके द्वारा बतलाये इस अथाह समुद्रके पार होनेके साधन तपरूपी जहाज द्वारा उसके पार पहुँचा देना। मैं तो इसके लिए यही उचित समझता हूँ कि, जब संसार असार है और उसमें सुख नहीं है, तब संसारसे पार होनेका उपाय करना ही कर्त्तव्य और दुर्लभ मनुष्य-देहके प्राप्त करनेका फल है। मैं तो तुम्हें भी यही सलाह दूँगा कि तुम इस नाशवान् माया-ममताको छोड़ छाड़कर कभी नाश न होनेवाली लक्ष्मीकी प्राप्तिके लिए यत्न करो। मणिकेतुने इसके सिवा और भी बहुत कहने सुनने या समझानेमें कोई कसर न की। पर सगर सब कुछ जानता हुआ भी पुत्र-प्रेमके वश हो संसारको न छोड़ सका। मणिकेतुको इससे बड़ा दुःख हुआ कि सगरकी दृष्टिमें अभी संसारकी तुच्छता नजर न

आई और वह उलटा उसीमें फँसता जाता है। लाचार हो वह स्वर्ग चला गया।

एक दिन सगर राजसभामें सिंहासन पर बैठे हुए थे। इतनेमें उनके पुत्रोंने आकर उनसे सविनय प्रार्थना की—पूज्यपाद पिताजी, उन वीर क्षत्रिय-पुत्रोंका जन्म किसी कामका नहीं—व्यर्थ है, जो कुछ काम न कर पड़े पड़े खाते-पीते और ऐशोआराम उड़ाया करते हैं। इस लिए आप कृपाकर हमें कोई काम बतलाइए। फिर वह कितना ही कठिन या एक बार वह असाध्य ही क्यों न हो, उसे हम करेंगे। सगरने उन्हें जबाब दिया—पुत्रो, तुमने कहा वह ठीक है और तुमसे वीरोंको यही उचित भी है। पर अभी मुझे कोई कठिन या सीधा ऐसा काम नहीं देख पड़ता जिसके लिए मैं तुम्हें कष्ट दूँ। और न छहों खण्ड पृथिवीमें मेरे लिए कुछ असाध्य ही है। इस लिए मेरी तो तुमसे यही आज्ञा है कि पुण्यसे जो यह धन-सम्पत्ति प्राप्त है, इसे तुम भोगो। इस दिन तो ये सब लड़के पिताकी बातका कुछ जबाब न देकर चुपचाप इस लिए चले गये कि पिताकी आज्ञा तोड़ना ठीक नहीं। परन्तु इनका मन इससे रहा अप्रसन्न ही।

कुछ दिन बीतने पर एक दिन ये सब फिर सगरके पास गये और उन्हें नमस्कार कर बोले—पिताजी, आपने जो आज्ञा की थी, उसे हमने इतने दिनों उठाई, पर अब हम अत्यन्त लाचार हैं। हमारा मन यहाँ बिलकुल नहीं लगता। इस-लिए आप अवश्य कुछ काममें हमें लगाइए। नहीं तो

हमें भोजन न करनेको भी बाध्य होना पड़ेगा। सगरने जब इनका अत्यन्त ही आग्रह देखा तो उसने इनसे कहा— मेरी इच्छा नहीं कि तुम किसी कष्टके उठानेको तैयार हो। पर जब तुम किसी तरह माननेके लिए तैयार ही नहीं हो, तो अस्तु, मैं तुम्हें यह काम बताता हूँ कि श्रीमान् भरत सम्राटने कैलास पर्वत पर चौवीस तीर्थंकरोंके चौवीस मन्दिर बनवाये हैं। वे सब सोनेके हैं। उनमें बे-सुमार धन खर्च किया गया है। उनमें जो अर्हन्त भगवान्की पवित्र प्रतिमाएँ हैं वे रत्नमयी हैं। उनकी रक्षा करना बहुत जरूरी है। इस लिए तुम जाओ और कैलासके चारों ओर एक गहरी खाई खोदकर उसे गंगाका प्रवाह लाकर भरदो। जिससे कि फिर दुष्ट लोग मन्दिरोंको कुछ हानि न पहुँचा सके। सगरके सब ही पुत्र पिताजीकी इस आज्ञासे बहुत खुश हुए। वे उन्हें नमस्कार कर आनन्द और उत्साहके साथ अपने कामके लिए चल पड़े। कैलास पर पहुँच कर कई वर्षोंके कठिन परिश्रम द्वारा उन्होंने चक्रवर्त्तीके दण्डरत्नकी सहायतासे अपने कार्यमें सफलता प्राप्त करली।

अच्छा, अब उस मणिकेतुकी बात सुनिए—उसने सगरको संसारसे उदासीन कर योगी बनानेके लिए दोबार यत्न किया, पर दोनों ही बार उसे निराश हो जाना पड़ा। अबकी बार उसने एक बड़ा ही भयंकर काण्ड रचा। जिस समय सगरके ये साठ हजार लड़के खाई खोदकर गंगाका प्रवाह लानेको हिमवान पर्वत पर गये और इन्होंने दण्ड-रत्न द्वारा पर्वत फोड़नेके लिए उस पर एक चोट मारी उस समय माणिकेतुने

राज, इस भूलकी मुझ गरीब पर क्षमा कीजिए। बात यह है कि मैं रास्तेमें आता आता सुनता आ रहा हूँ, लोग परस्परमें बातें करते हैं कि हाय ! बड़ा बुरा हुआ जो अपने महाराजके लड़के कैलास पर्वतकी रक्षाके लिए खाई खोदनेको गये थे, वे सबके सब ही एक साथ मर गये ! ब्राह्मणका कहना पूरा भी न हुआ था कि सगर एक दम गश खाकर गिर पड़े। सच है, ऐसे भयंकर दुःख-समाचारसे किसे गश न आ जायगा-कौन मूर्छित न होगा। उसी समय उपचारों द्वारा सगर होशमें लाये गये। इसके बाद मौका पाकर मणिकेतुने उन्हें संसारकी दशा बतलाकर खूब उपदेश किया। अबकी बार वह सफल प्रयत्न हो गया। सगरको संसारकी इस क्षण-भंगुर दशा पर बड़ा ही वैराग्य हुआ। उन्होंने भगीरथको राज देकर और सब माया-ममता छुड़ाकर दृढ़धर्म केवली द्वारा दीक्षा ग्रहण करली, जो कि संसारका भटकना मिटानेवाली है।

सगरको दीक्षा लिए बाद ही मणिकेतु कैलास पर्वत पर पहुँचा और उन लड़कोंको माया-मौतसे सचेत कर बोला—सगर सुतो, जब आपकी मृत्युका हाल आपके पिताने सुना तो उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ। और इसी दुःखके मारे वे संसारकी विनाशीक लक्ष्मीको छोड़-छाड़कर साधु हो गये। मैं आपके कुलका ब्राह्मण हूँ। महाराजके दीक्षा लेजानेकी खबर पाकर आपको ढूँढ़नेको निकला था। अच्छा हुआ जो आप मुझे मिल गये। अब आप राजधानीमें जल्दी चलें। ब्राह्मणरूपधारी मणिकेतु द्वारा पिताका अपने लिए दीक्षित

की जाना सुनकर सगरसुतोंने कहा—महाराज, आप जायें। हम लोग अब घर नहीं जायँगे। जिस लिए पिताजी सब राज्य-पाश छोड़कर साधु हो गये तब हम किस मुँहसे उस राजको भोग सकते हैं? हमसे इतनी कृतघ्नता न होगी, जो पिताजीके प्रेमका बदला हम ऐशोआराम भोगकर दें। जिस मार्गको हमारे पूज्य पिताजीने उत्तम समझकर ग्रहण किया है वही हमारे लिए भी शरण है। इस लिए कृपाकर आप हमारे इस समाचारको भैया भगीरथसे जाकर कह दीजिए कि वह हमारे लिए कोई चिन्ता न करे। ब्राह्मणसे इस प्रकार कहकर वे सब भाई दृढ़धर्म भगवान्‌के समवशरणमें आये और पिताकी तरह दीक्षा लेकर साधु बन गये।

भगीरथको भाइयोंका हाल सुनकर बड़ा वैराग्य हुआ। उसकी इच्छा भी योग लेजानेकी हुई, पर राज्य-प्रबन्ध उसी पर निर्भर रहनेसे वह दीक्षा न ले सका। परन्तु उसने उन मुनियों द्वारा जिनधर्मका उपदेश सुनकर श्रावकोंके व्रत ग्रहण किये। मणिकेतुका सब काम जब अच्छी तरह सफल हो गया तब वह प्रगट हुआ और उन सब मुनियोंको नमस्कार कर बोला—भगवन्, आपका मैंने बड़ा भारी अपराध जरूर किया है। पर आप जैनधर्मके तत्त्वको यथार्थ जाननेवाले हैं। इस लिए सेवक पर क्षमा करें। इसके बाद मणिकेतुने आदिसे इति पर्यन्त सबकी सब घटना कह सुनाई। मणिकेतुके द्वारा सब हाल सुनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उससे बोले—देवराज, इसमें तुम्हारा अपराध क्या हुआ, जिसके लिए क्षमा की जाय? तुमने तो उलटा हमारा उप-

कार किया है। इस लिए हमें तुम्हारा कृतज्ञ होना चाहिए। मित्रपनेके नातेसे तुमने जो कार्य किया है वैसा करनेके लिए तुम्हारे बिना और समर्थ ही कौन था? इस लिए देवराज, तुम ही सच्चे धर्म-प्रेमी हो, जिन भगवान्‌के भक्त हो, और मोक्ष-लक्ष्मीकी प्राप्तिके कारण हो। सगर-सुतोंका इस प्रकार सन्तोष-जनक उत्तर पा मणिकेतु बहुत प्रसन्न हुआ। वह फिर उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार कर स्वर्ग चला गया। यह मुनिसंघ विहार करता हुआ सम्मेदशिखर पर आया और यहीं कठिन तपस्या कर शुक्लध्यानके प्रभावसे इसने निर्वाण लाभ किया।

उधर भगीरथने जब अपने भाइयोंका मोक्ष प्राप्त करना सुना तो उसे भी संसारसे बड़ा वैराग्य हुआ। वह फिर अपने वरदत्त पुत्रको राज्य सोंप आप कैलास पर शिवगुप्त मुनिराजके पास दीक्षा ग्रहण कर मुनि हो गया। भगीरथने मुनि होकर गंगाके सुन्दर किनारों पर कभी प्रतिमा-योगसे, कभी आतापन योगसे और कभी और किसी आसनसे खूब तपस्या की। देवता लोग उसकी तपस्यासे बहुत खुश हुए। और इसी लिए उन्होंने भक्तिके वश हो भगीरथके चरणोंका क्षीर-समुद्रके जलसे अभिषेक किया, जो कि अनेक प्रकारके सुखोंका देनेवाला है। उस अभिषेकके जलका प्रवाह बहता हुआ गंगामें गया। तभीसे गंगा तीर्थके रूपमें प्रसिद्ध हुई और लोग उसके स्नानको पुण्यका कारण समझने लगे। भगीरथने फिर कहीं अन्यत्र विहार न किया। वह वहीं तपस्या करता रहा और अन्तमें कर्मोंका नाशकर उसने जन्म, जरा, मरणादि रहित मोक्षका सुख भी यहींसे प्राप्त किया।

केवलज्ञानरूपी नेत्र द्वारा संसारके पदार्थोंको जानने और देखनेवाले, देवों द्वारा पूजा किये गये और मुक्तिरूप रमणी-रत्नके स्वामी श्रीसगरमुनि तथा जैनतत्वके परम विद्वान् वे सगरसुत मुनिराज मुझे वह लक्ष्मी दें, जो कभी नाश होने-वाली नहीं है और सर्वोच्च सुखकी देनेवाली है ।

५५—मृगध्वजकी कथा ।

सारे संसार द्वारा भक्ति सहित पूजा किये गये जिन भगवान्को नमस्कार कर प्राचीना-चार्योंके कहे अनुसार मृगध्वज राजकुमारकी कथा लिखी जाती है ।

सीमन्धर अयोध्याके राजा थे । उनकी रानीका नाम जिनसेना था । इनके एक मृगध्वज नामका पुत्र था । यह मांसका बड़ा लोलुपी था । इसे बिना मांस खाये एक दिन भी चैन न पड़ता था । यहाँ एक राजकीय भैंसा था । वह बुलानेसे पास चला आता, लौट जानेको कहनेसे चला जाता और लोगोंके पाँवोंमें लौटने लगता । एक दिन यह भैंसा एक तालावमें क्रीड़ा कर रहा था। इतनेमें राजकुमार मृगध्वज, मंत्री और सेठके लड़कोंको साथ लिए यहाँ आया । इस भैंसेके पाँवोंको देखकर मृगध्वजके मनमें न जाने क्या भूत समाई सो इसने अपने नौक-रसे कहा—देखो, आज इस भैंसेका पिछला पाँव काट कर इसका मांस खानेको पकाना । इतना कहकर मृगध्वज चल

दिया। नौकर उसके कहे अनुसार भैंसेका पाँव काटकर ले गया। उसका मांस पका। उसे खाकर राजकुमार और उसके साथी बड़े प्रसन्न हुए।

इधर बेचारा भैंसा बड़े दुःखके साथ लँगड़ाता हुआ राजाके सामने जाकर गिर पड़ा। राजाने देखा कि उसकी मौत आलगी है। इस लिए उस समय उसने विशेष पूछ-पाछ न कर, कि किसने उसकी ऐसी दशा की है, दयाबुद्धिसे उसे संन्यास देकर नमस्कार मंत्र सुनाया। सच है, संसारमें बहुतसे ऐसे भी गुणवान् परोपकारी हैं, जो चन्द्रमा, सूर्य, कल्पवृक्ष, पानी–आदि उपकारक वस्तुओंसे भी कहीं बढ़कर हैं। भैंसा मरकर नमस्कार मंत्रके प्रभावसे सौधर्म स्वर्गमें जाकर देव हुआ। सच है, जिनेन्द्रभगवान्का उपदेश किया पवित्र धर्म जीवोंका वास्तवमें हित करनेवाला है।

इसके बाद राजाने इस बातका पता लगाया कि भैंसेकी यह दशा किसने की! उन्हें जब यह नीच काम अपने और मंत्री तथा सेठके पुत्रोंका जान पड़ा तब तो उनके गुस्सेका कुछ ठिकाना न रहा। उन्होंने उसी समय तीनोंको मरवा डालनेके लिए मंत्रीको आज्ञा दी। इस राजाज्ञाकी खबर उन तीनोंको भी लग गई। तब उन्होंने झटपट मुनिदत्त मुनिके पास जाकर उनसे जिन दीक्षा लेली। इनमें मृगध्वज महामुनि बड़े तपस्वी हुए। उन्होंने कठिन तपस्या कर ध्यानाग्नि द्वारा घातिया कर्मोंका नाश किया और केवलज्ञान प्राप्त कर संसार द्वारा वे पूज्य हुए। सच है, जैनधर्मका प्रभाव ही कुछ ऐसा अचिन्त्य है जो महापापीसे पापी भी उसे

धारण कर त्रिलोक-पूज्य हो जाता है। और ठीक भी है, धर्मसे और उत्तम है ही क्या?

वे मृगध्वज मुनि मुझे और आप भव्य-जनोंको महा मंगलमय मोक्ष-लक्ष्मी दें, जो भव्य-जनोंका उद्धार करनेवाले हैं, केवलज्ञानरूपी अपूर्व नेत्रके धारक है, देवों, विद्याधरों और बड़े बड़े राजों–महाराजोंसे पूज्य हैं, संसारका हित करनेवाले हैं, बड़े धीर हैं, और अनेक प्रकारका उत्तमसे उत्तम सुख देनेवाले हैं।

५६–परशुरामकी कथा।

संसार-समुद्रसे पार करनेवाले जिनेन्द्रभगवानको नमस्कार कर परशुरामका चरित्र लिखा जाता है। जिसे सुनकर आश्चर्य होता है।

अयोध्याका राजा कार्तवीर्य अत्यन्त मूर्ख था। उसकी रानीका नाम पद्मावती था। अयोध्याके जंगलमें यमदग्नि नामके एक तपस्वीका आश्रम था। इस तपस्वीकी स्त्रीका नाम रेणुका था। इसके दो लड़के थे। इसमें एकका नाम श्वेतराम था और दूसरेका महेन्द्रराम। एक दिनकी बात है कि रेणुकाके भाई वरदत्त मुनि उस ओर आ निकले। वे एक वृक्षके नीचे ठहरे। उन्हें देखकर रेणुका बड़े प्रेमसे उनसे मिलनेको आई और उनके

हाथ जोड़कर वहीं बैठ गई। बुद्धिमान् बरदत्त मुनिने उससे कहा–बहिन, मैं तुझे कुछ धर्मका उपदेश सुनाता हूँ। तू उसे जरा सावधानीसे सुन। देख, सब जीव सुखको चाहते हैं, पर सच्चे सुखके प्राप्त करनेकी कोई विरला ही खोज करता है। और इसी लिए प्रायः लोग दुखी देखे जाते हैं। सच्चे सुखका कारण पवित्र सम्यग्दर्शनका ग्रहण करना है। जो पुरुष सम्यक्त्व प्राप्त कर लेते हैं, वे दुर्गतियोंमें फिर नहीं भटकते। संसारका भ्रमण भी उनका कम हो जाता है। उनमें कितने तो उसी भवसे मोक्ष चले जाते हैं। सम्यक्त्वका साधारण स्वरूप यह है कि सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र पर विश्वास लाना। सच्चे देव वे हैं, जो भूख और प्यास, राग और द्वेष, क्रोध और लोभ, मान और माया–आदि अठारह दोषोंसे रहित हों, जिनका ज्ञान इतना बढ़ा-चढ़ा हो कि उससे संसारका कोई पदार्थ अजाना न रह गया हो, जिन्हें स्वर्गके देव, विद्याधर, चक्रवर्त्ती और बड़े बड़े राजे-महाराजे भी पूजते हों, और जिनका उपदेश किया पवित्र धर्म इस लोकमें और परलोकमें भी सुखका देनेवाला हो तथा जिस पवित्र धर्मकी इन्द्रादि देव भी पूजा-भक्ति कर अपना जीवन कृतार्थ समझते हो। धर्मका स्वरूप उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव–आदि दश लक्षणों द्वारा प्रायः प्रसिद्ध है। और सच्चे गुरु वे कहलाते हैं, जो शील और संयमके पालनेवाले हों, ज्ञान और ध्यानका साधन ही जिनके जीवनका खास उद्देश्य हो और जिनके पास परिग्रह रत्तीभर भी न हो। इन बातों पर विश्वास करनेको सम्यक्त्व कहते हैं। इसके सिवा

गृहस्थोंके लिए पात्र-दान करना, भगवान्‌की पूजा करना अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत धारण करना, पर्वोंमें उपवास वगैरह करना--आदि बातें भी आवश्यक हैं। यह गृहस्थ-धर्म कहलाता है। तू इसे धारण कर। इससे तुझे सुख प्राप्त होगा। भाईके द्वारा धर्मका उपदेश सुन रेणुका बहुत प्रसन्न हुई। उसने बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ सम्यक्त्व-रत्न द्वारा अपने आत्माको विभूषित किया। और सच भी है, यही सम्यक्त्व तो भव्यजनोंका भूषण है। रेणुकाका धर्म-प्रेम देखकर बरदत्त मुनिने उसे एक 'परशु' और दूसरी 'कामधेनु' ऐसी दो महाविद्याएँ दीं, जो कि नाना प्रकारका सुख देनेवाली हैं। रेणुकाको विद्या देकर जैनतत्वके परम विद्वान् बरदत्तमुनि विहार कर गये। इधर सम्यक्त्व-शालिनी रेणुका घर आकर सुखसे रहने लगी। रेणुकाको धर्म पर अब खूब प्रेम हो गया। वह भगवान्‌की बड़ी भक्त हो गई।

एक दिन राजा कार्त्तवीर्य हाथी पकड़नेको इसी वनकी ओर आ निकला। घूमता हुआ वह रेणुकाके आश्रममें आ गया। यमदग्नि तापसने उसका अच्छा आदर-सत्कार किया और उसे अपने यहीं जिमाया भी। भोजन कामधेनु नामकी विद्याकी सहायतासे बहुत उत्तम तैयार किया गया था। राजा भोजन कर बहुत ही प्रसन्न हुआ। और क्यों न होता? क्योंकि सारी जिन्दगीमें उसे कभी ऐसा भोजन खानेको ही न मिला था। उस कामधेनुको देखकर इस पापी राजाके मनमें पाप आया। यह कृतघ्न तब उस बेचारे ताप-

सीको जानसे मारकर गौको ले गया। सच है, दुर्जनोंका स्वभाव ही ऐसा होता है कि जो उनका उपकार करते हैं, वे दूध पिलाये सर्पकी तरह अपने उन उपकारककी ही जानके लेनेवाले हो उठते हैं।

राजाके जानेके थोड़ी देर बाद ही रेणुकाके दोनों लड़के जंगलसे लकड़ियाँ वगैरह लेकर आ गये। माताको रोती हुई देखकर उन्होंने उसका कारण पूछा। रेणुकाने सब हाल उनसे कह दिया। माताकी दुःखभरी बातें सुनकर श्वेतरामके क्रोधका कुछ ठिकाना न रहा। वह कार्त्तवीर्यसे अपने पिताका बदला लेनेके लिए उसी समय मातासे 'परशु' नामकी विद्याको लेकर अपने छोटे भाईको साथ लिए चल पड़ा। राजाके नगरमें पहुँच कर उसने कार्त्तवीर्यको युद्धके लिए ललकारा। यद्यपि एक ओर कार्त्तवीर्यकी प्रचण्डसेना थी और दूसरी ओर सिर्फ ये दो ही भाई थे; पर तब भी परशुविद्याके प्रभावसे इन दोनों भाइयोंने ही कार्त्तवीर्यकी सारी सेनाको छिन्न-भिन्न कर दिया और अन्तमें कार्तवीर्यको मारकर अपने पिताका बदला लिया। मरकर पापके फलसे कार्त्तवीर्य नरक गया। सो ठीक ही है, पापियोंकी ऐसी गति होती ही है। उस तृष्णाको धिक्कार है जिसके वश हो लोग न्याय अन्यायको कुछ नहीं देखते और फिर अनेक कष्टोंको सहते हैं। ऐसे ही अन्यायों द्वारा तो पहले भी अनेक राजों-महाराजोंका नाश हुआ। और ठीक भी है जिस वायुसे बड़े बड़े हाथी तक उड़ जाते हैं तब उसके सामने बेचारे कीट-पतंगादि छोटे छोटे जीव तो ठहर ही कैसे सकते

हैं। श्वेतरामने कार्त्तवीर्यको परशु विद्यासे मारा था, इस लिए फिर अयोध्यामें वह 'परशुराम' इस नामसे प्रसिद्ध हुआ।

संसारमें जो शूरवीर, विद्वान्, सुखी, धनी हुए देखे जाते हैं वह पुण्यकी महिमा है। इस लिए जो सुखी, विद्वान्, धनवान्, वीर–आदि बनना चाहते हैं, उन्हें जिनभगवान्का उपदेश किया पुण्य-मार्ग ग्रहण करना चाहिए।

५७–सुकुमाल मुनिकी कथा।

जिनके नाम मात्रहीका ध्यान करनेसे हर प्रकारकी धन-सम्पत्ति प्राप्त हो सकती है, उन परम पवित्र जिनभगवान्को नमस्कार कर सुकुमाल मुनिकी कथा लिखी जाती है।

अतिबल कौशाम्बीके जब राजा थे, तबहीका यह आख्यान है। यहाँ एक सोमशर्मा पुरोहित रहता था। इसकी स्त्रीका नाम काश्यपी था। इसके अग्निभूत और वायुभूति नामके दो लड़के हुए। मा-बापके अधिक लाड़ले होनेसे ये कुछ पढ़-लिख न सके। और सच है पुण्यके बिना किसीको विद्या आती भी तो नहीं। कालकी विचित्र गतिसे सोमशर्माकी असमयमें ही मौत हो गई। ये दोनों भाई तब निरे मूर्ख थे। इन्हें मूर्ख देखकर अतिबलने इनके पिताका पुरोहित-पद, जो इन्हें मिलता, किसी औरको दे दिया। यह ठीक है कि मूर्खोंका कहीं आदर-सत्कार नहीं होता। अपना अपमान

हुआ देखकर इन दोनों भाइयोंको बड़ा दुःख हुआ । तब इन की कुछ अकल ठिकाने आई । अब इन्हें कुछ लिखने पढ़नेकी सूझी । ये राजगृहमें अपने काका सूर्यमित्रके पास गये और अपना सब हाल इन्होंने उनसे कहा । इनकी पढ़नेकी इच्छा देखकर सूर्यमित्रने स्वयं इन्हें पढ़ाना शुरू किया और कुछ ही वर्षोंमें इन्हें अच्छा विद्वान् बना दिया । दोनों भाई जब अच्छे विद्वान् हो गये तब ये पीछे अपने शहर लौट आये । आकर इन्होंने अतिबलको अपनी विद्याका परिचय कराया । अतिबल इन्हें विद्वान् देखकर बहुत खुश हुआ और इनके पिताका पुरोहित-पद उसने पीछा इन्हें ही दे दिया । सच है सरस्वतीकी कृपासे संसारमें क्या नहीं होता !

एक दिन सन्ध्याके समय सूर्यमित्र सूर्यको अर्घ चढ़ा रहा था । उसकी उँगुलीमें राजकीय एक रत्नजड़ी बहुमूल्य अँगूठी थी । अर्घ चढ़ाते समय वह अँगूंठी उँगुलीमेंसे निकलकर महलके नीचे तालाबमें जा गिरी । भाग्यसे वह एक खिले हुए कमलमें पड़ी । सूर्य अस्त होने पर कमल मुँद गया । अँगूठी कमलके अन्दर बन्द हो गई । जब वह पूजा-पाठ करके उठा और उसकी नजर उँगुली पर पड़ी तब उसे मालूम हुआ कि अँगूठी कहीं गिर पड़ी । अब तो उसके डरका कुछ ठिकाना न रहा । राजा जब अँगूठी माँगेगा तब उसे क्या जबाब दूँगा, इसकी उसे बड़ी चिंता होने लगी । अँगूठीकी शोधके लिए इसने बहुत कुछ यत्न किया, पर इसे उसका कुछ पता न चला । तब किसीके कहनेसे यह अवधिज्ञानी सुधर्म मुनिके पास गया और हाथ जोड़कर इसने

उनसे अँगूठीके बाबत पूछा कि प्रभो, क्या कृपाकर मुझे आप यह बतलावेंगे कि मेरी अँगूठी कहाँ चली गई और हे करुणाके समुद्र, वह कैसे प्राप्त होगी? मुनिने उत्तरमें यह कहा कि सूर्यको अर्घ देते समय तालाबमें एक खिले हुए कमलमें अँगूठी गिर पड़ी है। वह सबेरे मिल जायगी। वही हुआ। सूर्योदय होते ही जैसे कमल खिला सूर्यमित्रको उसमें अँगूठी मिली। सूर्यमित्र बड़ा खुश हुआ। उसे इस बातका बड़ा अचंभा होने लगा कि मुनिने यह बात कैसे बतलाई? हो न हो, उनसे अपनेको भी यह विद्या सीखनी चाहिए। यह विचार कर सूर्यमित्र, मुनिराजके पास गया। उन्हें नमस्कार कर उसने प्रार्थना की कि हे योगिराज, मुझे भी आप अपनी विद्या सिखा दीजिए, जिससे मैं भी दूसरेके ऐसे प्रश्नोंका उत्तर दे सकूँ। आपकी मुझ पर बड़ी कृपा होगी, यदि आप मुझे अपनी यह विद्या पढ़ा देंगे। तब मुनिराजने कहा—भाई, मुझे इस विद्याके सिखानेमें कोई इंकार नहीं है। पर बात यह है कि बिना जिन दीक्षा लिए यह विद्या आ नहीं सकती। सूर्यमित्र तब केवल विद्याके लोभसे दीक्षा लेकर मुनि हो गया। मुनि होकर इसने गुरुसे विद्या सिखानेको कहा। सुधर्म मुनिराजने तब सूर्यमित्रको मुनियोंके आचार-विचारके शास्त्र तथा सिद्धान्त-शास्त्र पढ़ाये। अब तो एकदम सूर्यमित्रकी आँखें खुल गईं। यह गुरुके उपदेश रूपी दियेके द्वारा अपने हृदयके अज्ञानान्धकारको नष्ट कर जैनधर्मका अच्छा विद्वान् हो गया। सच है, जिन भव्य पुरुषोंने सच्चे मार्गको बतानेवाले और संसारके अकारण बन्धु गुरुओंकी भक्ति

सहित सेवा-पूजा की है, उनके सब काम नियमसे सिद्ध हुए हैं।

जब सूर्यमित्र मुनि अपने मुनिधर्ममें खूब कुशल हो गये तब वे गुरुकी आज्ञा लेकर अकेले ही विहार करने लगे। एक बार वे विहार करते हुए कौशाम्बीमें आये। अग्निभूतिने इन्हें भक्तिपूर्वक दान दिया। उसने अपने छोटे भाई वायुभूतिसे बहुत प्रेरणा और आग्रह इस लिए किया कि वह सूर्यमित्र मुनिकी वन्दना करे—उसे जैनधर्मसे कुछ प्रेम हो। कारण वह जैनधर्मसे सदा विरुद्ध रहता था। पर अग्निभूतिके इस आग्रहका परिणाम उलटा हुआ। वायूभूतिने और खिसियाकर मुनिकी अधिक निन्दा की और उन्हें बुरा भला कहा। सच है, जिन्हें दुर्गतियोंमें जाना होता है, प्रेरणा करने पर भी ऐसे पुरुषोंका श्रेष्ठ धर्मकी ओर झुकाव नहीं होता; किन्तु वह उलटा पाप-कीचड़में अधिक अधिक फँसता है। अग्निभूतिको अपने भाईकी ऐसी दुर्बुद्धि पर बड़ा दुःख हुआ। और यही कारण था कि जब मुनिराज आहारकर वनमें गये तब अग्निभूति भी उनके साथ साथ चला गया और वहाँ धर्मोपदेश सुनकर वैराग्य होजानेसे दीक्षा लेकर वह भी तपस्वी हो गया। अपना और दूसरोंका हित करना अबसे अग्निभूतिके जीवनका उद्देश हुआ।

अग्निभूतिके मुनि हो जानेकी बात जब इसकी स्त्री सती सोमदत्ताको ज्ञात हुई तो उसे अत्यन्त दुःख हुआ। उसने वायुभूतिसे जाकर कहा—देखो, तुमने मुनिको वन्दना न कर उनकी बुराई की, सुनती हूँ उससे दुखी होकर तुम्हारे

भाई भी मुनि हो गये। यदि वे अब तक मुनि न हुए हों तो चलो उन्हें तुम हम समझा लावें। वायुभूतिने गुस्सा होकर कहा—हाँ तुम्हें गर्ज हो तो तुम भी उस बदमाश नंगेके पास जाओ! मुझे तो कुछ गर्ज नहीं है। यह कहकर वायुभूति अपनी भौजीके एक लात मारकर चलता बना। सोमदत्ता-को उसके मर्मभेदी वचनोंको सुनकर बड़ा दुःख हुआ। उसे क्रोध भी अत्यन्त आया। पर अबला होनेसे वह उस समय कर कुछ नहीं सकी। तब उसने निदान किया कि पापी, तूने जो इस समय मेरा मर्म भेदा है और मुझे लातोंसे ठुक-राया है, और इसका बदला स्त्री होनेसे मैं इस समय न भी ले सकी तो कुछ चिन्ता नहीं, पर याद रख इस जन्ममें नहीं तो दूसरे जन्ममें सही, पर बदला लूँगी अवश्य। और तेरे इसी पाँवको, जिससे कि तूने मुझे लात मारी है और मेरे हृदय भेदनेवाले तेरे इसी हृदयको मैं खाऊँगी तभी मुझे सन्तोष होगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसी मूर्खताको धिक्कार है जिसके वश हुए प्राणी अपने पुण्य-कर्मको ऐसे नीच निदानों द्वारा भस्म कर डालते हैं।

'इस हाथ दे उस हाथ ले' इस कहावतके अनुसार तीव्र पापका फल भी प्रायः तुरत मिल जाता है। वायुभूतिने मुनिनिन्दा द्वारा जो तीव्र पाप-कर्म बाँधा, उसका फल उसे बहुत जल्दी मिल गया। पूरे सात दिन भी न हुए होंगे कि वायुभूतिके सारे शरीरमें कोढ़ निकल आया। सच है, जिनकी सारा संसार पूजा करता है और जो धर्मके सच्चे मार्गको दिखानेवाले हैं ऐसे महात्माओंकी निन्दाकरने-

वाला पापी पुरुष किन महाकष्टोंको नहीं सहता। वायुभूति कोढ़के दुःखसे मरकर कौशाम्बीमें ही एक नटके यहाँ गधा हुआ। गधा मरकर वह जंगली सूअर हुआ। इस पर्यायसे मरकर इसने चम्पापुरीमें एक चाण्डालके यहाँ कुत्तीका जन्म धारण किया। कुत्ती मरकर चम्पापुरीमें ही एक दूसरे चाण्डालके यहाँ लड़की हुई। यह जन्महीसे अन्धी थी। इसका सारा शरीर बदबू कर रहा था। इस लिए इसके माता पिताने इसे छोड़ दिया। पर भाग्य सभीका बलवान् होता है। इस लिए इसकी भी किसी तरह रक्षा हो गई। यह एक जाँबूके झाड़ नीचे पड़ी पड़ी जाँबू खाया करती थी।

सूर्यमित्र मुनि अग्निभूतिको साथ लिए हुए भाग्यसे इस ओर आ निकले। उस जन्मकी दुःखिनी लड़कीको देखकर अग्निभूतिके हृदयमें कुछ मोह और कुछ दुःख हुआ। उन्होंने गुरुसे पूछा—प्रभो, इस लड़कीकी दशा बड़ी कष्टमें है। यह कैसे जी रही है? ज्ञानी सूर्यमित्र मुनिने कहा—तुम्हारे भाई वायुभूतिने धर्मसे पराङ्मुख होकर जो मेरी निन्दा की थी, उसी पापके फलसे उसे कई भव पशुपर्यायमें लेना पड़े। अन्तमें वह कुत्तीकी पर्यायसे मरकर यह चाण्डालकन्या हुई है। पर अब इसकी उमर बहुत थोड़ी रह गई है। इस लिए जाकर तुम इसे व्रत लिवाकर संन्यास दे आओ। अग्नि-भूतिने वैसा ही किया। उस चाण्डालकन्याको पाँच अणुव्रत देकर उन्होंने संन्यास लिवा दिया।

चाण्डालकन्या मरकर व्रतके प्रभावसे चम्पापुरीमें नाग-शर्मा ब्राह्मणके यहाँ नागश्री नामकी कन्या हुई। एक

दिन नागश्री वनमें नागपूजा करनेको गई थी। पुण्यसे सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनि भी विहार करते हुए इस ओर आ गये। उन्हें देखकर नागश्रीके मनमें उनके प्रति अत्यन्त भक्ति हो गई। वह उनके पास गई और हाथ जोड़कर उनके पाँवोंके पास बैठ गई। नागश्रीको देखकर अग्निभूति मुनिके मनमें कुछ प्रेमका उदय हुआ। और होना उचित ही था। क्योंकि थी तो वह उनके पूर्वजन्मकी भाई न? अग्निभूति मुनिने इसका कारण अपने गुरुसे पूछा। उन्होंने प्रेम होनेका कारण जो पूर्व जन्मका भ्रातृ-भाव था, वह बता दिया। तब अग्निभूतिने उसे धर्मका उपदेश किया और सम्यक्त्व तथा पाँच अणुव्रत उसे ग्रहण करवाये। नागश्री व्रत ग्रहणकर जब जाने लगी तब उन्होंने उससे कह दिया कि हाँ देख बच्ची, तुझसे यदि तेरे पिताजी इन व्रतोंको लेनेके लिए नाराज हों तो तू हमारे व्रत हमें ही आकर सौंप जाना। सच है, मुनि लोग वास्तवमें सच्चे मार्गके दिखानेवाले होते हैं।

इसके बाद नागश्री उन मुनिराजोंके भक्तिसे हाथ जोड़कर और प्रसन्न होती हुई अपने घर पर आ गई। नागश्रीके साथकी और और लड़कियोंने उसके व्रत लेनेकी बातको नागशर्मासे जाकर कह दिया। नागशर्मा तब कुछ क्रोधकासा भाव दिखाकर नागश्रीसे बोला—बच्ची, तू बड़ी भोली है, जो झटसे हरएकके बहकानेमें आ जाती है। भला, तू नहीं जानती कि अपने पवित्र ब्राह्मण-कुलमें उन नंगे मुनियोंके दिये व्रत नहीं लिये जाते। वे अच्छे लोग नहीं होते। इस लिए उनके

व्रत तू छोड़ दे। तब नागश्री बोली—तो पिताजी, उन मुनियोंने मुझे आते समय यह कह दिया था कि यदि तुझसे तेरे पिताजी इन व्रतोंको छोड़ देनेके लिए आग्रह करें तो तू पीछे हमारे व्रत हमें ही दे जाना। तब आप चलिए मैं उन्हें उनके व्रत दे आती हूँ। सोमशर्मा नागश्रीका हाथ पकड़े क्रोधसे गुर्राता हुआ मुनियोंके पास चला। रास्तेमें नागश्रीने एक जगह कुछ गुल-गपाड़ा होता सुना। उस जगह बहुतसे लोग इकट्ठे हो रहे थे और एक मनुष्य उनके बीचमें बँधा हुआ पड़ा था। उसे कुछ निर्दयी लोग बड़ी क्रूरतासे मार रहे थे। नागश्रीने उसकी यह दशा देखकर सोमशर्मासे पूछा—पिताजी, बेचारा यह पुरुष इस प्रकार निर्दयतासे क्यों मारा जा रहा है? सोमशर्मा बोला—बच्ची, इस पर एक बनियेके लड़के वरसेनका कुछ रुपया लेना था। उसने इससे अपने रुपयोंका तकादा किया। इस पापीने उसे रुपया न देकर जानसे मार डाला। इस लिए उस अपराधके बदले अपने राजा साहबने इसे प्राणदंडकी सजा दी है, और वह योग्य है। क्योंकि एकको ऐसी सजा मिलनेसे अब दूसरा कोई ऐसा अपराध न करेगा। तब नागश्रीने जरा जोर देकर कहा—तो पिताजी, यही व्रत तो उन मुनियोंने मुझे दिया है, फिर आप उसे क्यों छुड़ानेको कहते हैं? सोमशर्मा लाजबाव होकर बोला—अस्तु पुत्री, तू इस व्रतको न छोड़, चल बाकीके व्रत तो उनके उन्हें दे आवें। आगे चलकर नागश्रीने एक और पुरुषको बँधा देखकर पूछा—और पिताजी, यह पुरुष क्यों बाँधा गया है? सोमशर्माने कहा—पुत्री, यह झूठ बोलकर लोगोंको ठगा करता था।

इसके फन्देमें फँसकर बहुतोंको दर-दरका भिखारी बनना पड़ा है । इस लिए झूठ बोलनेके अपराधमें इसकी यह दशा की जा रही है । तब फिर नागश्रीने कहा—तो पिताजी, यही व्रत तो मैंने भी लिया है । अब तो मैं उसे कभी नहीं छोड़ूँगी । इसी प्रकार चोरी, परस्त्री, लोभ आदिसे दुःख पाते हुए मनुष्योंको देखकर नागश्रीने अपने पिताको लाजबाब कर दिया और व्रतोंको नहीं छोड़ा । तब सोमशर्माने हार खाकर कहा—अच्छा, यदि तेरी इच्छा इन व्रतोंको छोड़नेकी नहीं है तो न छोड़, पर तू मेरे साथ उन मुनियोंके पास तो चल । मैं उन्हें दो बातें कहूँगा कि तुम्हें क्या अधिकार था जो तुमने मेरी लड़कीको बिना मेरे पूछे व्रत दे दिये ? फिर वे आगेसे किसीको इस प्रकार व्रत न दे सकेंगे । सच है, दुर्जनोंको कभी सत्पुरुषोंसे प्रीति नहीं होती । तब ब्राह्मण देवता अपनी होश निकालनेको मुनियोंके पास चले । उसने उन्हें दूरसे ही देखकर गुस्सेमें आ कहा—क्योंरे नंगेओ ! तुमने मेरी लड़कीको व्रत देकर क्यों ठग लिया ? बतलाओ, तुम्हें इसका क्या अधिकार था ? कवि कहता है कि ऐसे पापियोंके विचारोंको सुनकर बड़ा ही खेद होता है । भला, जो व्रत, शील, पुण्यके कारण हैं, उनसे क्या कोई ठगाया जा सकता है ? नहीं । सोमशर्माको इस प्रकार गुस्सा हुआ देखकर सूर्यमित्र मुनि बड़ी धीरता और शान्तिके साथ बोले—भाई, जरा धीरज धर, क्यों इतनी जल्दी कर रहा है । मैंने इसे व्रत दिये हैं, पर अपनी लड़की समझकर, और सच पूछो तो यह है भी मेरी ही लड़की । तेरा तो इस पर कुछ

भी अधिकार नहीं है। तू भले ही यह कह कि यह मेरी लड़की है, पर वास्तवमें यह तेरी लड़की नहीं है। यह कहकर सूर्यमित्र मुनिने नागश्रीको पुकारा। नागश्री झटसे आकर उनके पास बैठ गई। अब तो ब्राह्मण देवता बड़े घबराये। वे 'अन्याय' 'अन्याय' चिल्लाते हुए राजाके पास पहुँचे और हाथ जोड़कर बोले-देव, नंगे साधुओंने मेरी नागश्री लड़कीको जबरदस्ती छुड़ा लिया। वे कहते हैं कि यह तेरी लड़की नहीं, किन्तु हमारी लड़की है। राजाधिराज, सारा शहर जानता है कि नागश्री मेरी लड़की है। महाराज, उन पापियोंसे मेरी लड़की दिलवा दीजिए। सोमशर्माकी बातसे सारी राज-सभा बड़े विचारमें पड़ गई। राजाकी भी अकलमें कुछ न आया। तब वे सबको साथ लिए मुनिके पास आये और उन्हें नमस्कार कर बैठ गये। फिर यही झगड़ा उपस्थित हुआ। सोमशर्मा तो नागश्रीको अपनी लड़की बताने लगा और सूर्यमित्र मुनि अपनी। मुनि बोले-अच्छा, यदि यह तेरी लड़की है तो बतला तूने इसे क्या पढ़ाया? और सुन, मैंने इसे सब शास्त्र पढ़ाया है, इस लिए मैं अभिमानसे कहता हूँ कि यह मेरी ही लड़की है। तब राजा बोले-अच्छा प्रभो, यह आपहीकी लड़की सही, पर आपने इसे जो पढ़ाया है उसकी परीक्षा इसके द्वारा दिलवाइए। जिससे कि हमें विश्वास हो। तब सूर्यमित्र मुनि अपने वचनरूपी किरणों द्वारा लोगोंके चित्तमें ठसे हुए मूर्खतारूप गाढ़े अन्धकारको नाश करते हुए बोले-हे नागश्री-हे पूर्वजन्ममें वायुभूतिका भव धारण करनेवाली पुत्री, तुझे मैंने जो

जन्ममें कई शास्त्र पढ़ाये हैं, उनकी इस उपस्थित मंडली-के सामने तू परीक्षा दे। सूर्यमित्र मुनिका इतना कहना हुआ कि नागश्रीने जन्मान्तरका पढ़ा-पढ़ाया सब विषय सुना-दिया। राजा तथा और सब मंडलीको इससे बड़ा अचंभा हुआ। उन्होंने मुनिराजसे हाथ जोड़कर कहा—प्रभो, नाग-श्रीकी परीक्षासे उत्पन्न हुआ विनोद हृदयभूमिमें अठखेलियाँ कर रहा है। इस लिए कृपाकर आप अपने और नागश्रीके सम्बन्धकी सब बातें खुलासा कहिए। तब अवधिज्ञानी सूर्यमित्र मुनिने वायुभूतिके भवसे लगाकर नागश्रीके जन्म-तककी सब घटना उनसे कह सुनाई। सुनकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्हें यह सब मोहकी लीला जान पड़ी। मोहको ही सब दुःखका मूल कारण समझकर उन्हें बड़ा वैराग्य हुआ। वे उसी समय और भी बहुतसे राजाओंके साथ जिनदीक्षा ग्रहण कर गये। सोमशर्मा भी जैनधर्मका उपदेश सुनकर मुनि हो गया और तपस्या कर अच्युत स्वर्गमें देव हुआ। इधर नागश्रीको भी अपना पूर्वका हाल सुनकर बड़ा वैराग्य हुआ। वह दीक्षा लेकर आर्यिका हो गई और अन्तमें शरीर छोड़कर तपस्याके फलसे अच्युत स्वर्गमें महर्द्धिक देव हुई। अहा! संसारमें गुरु चिन्तामणिके समान है, सबसे श्रेष्ठ हैं। यही कारण है कि जिनकी कृपासे जीवोंको सब सम्पदाएँ प्राप्त हो सकती हैं।

यहाँसे विहार कर सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनिराज अग्निमन्दिर नामके पर्वत पर पहुँचे। वहाँ तपस्या द्वारा घातिया कर्मोंका नाशकर उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया, और

त्रिलोकपूज्य हो अन्तमें बाकीके कर्मोंका भी नाशकर परम सुखमय, अक्षयानन्त मोक्ष लाभ किया। वे दोनों केवलज्ञानी मुनिराज मुझे और आप लोगोंको उत्तम सुखकी भीख दें।

अवन्ति देशके प्रसिद्ध उज्जैन शहरमें एक इन्द्रदत्त नामका सेठ है। वह बड़ा धर्मात्मा और जिनभगवान्का सच्चा भक्त है। उसकी स्त्रीका नाम गुणवती है। वह नामके अनुसार सचमुच गुणवती और बड़ी सुन्दरी है। सोमशर्माका जीव, जो अच्युत स्वर्गमें देव हुआ था वह, वहाँ अपनी आयु पूरी कर पुण्यके उदयसे इस गुणवती सेठानीके सुरेन्द्रदत्त नामका सुशील और गुणी पुत्र हुआ। सुरेन्द्रदत्तका ब्याह उज्जैनहीमें रहनेवाले सुभद्रसेठकी लड़की यशोभद्राके साथ हुआ। इनके घरमें किसी बातकी कमी नहीं थी। पुण्यके उदयसे इन्हें सब कुछ प्राप्त था। इस लिए बड़े सुखके साथ इनके दिन बीतते थे। ये अपनी इस सुख अवस्थामें भी धर्मको न भूलकर सदा उसमें सावधान रहा करते थे।

एक दिन यशोभद्राने एक अवधिज्ञानी मुनिराजसे पूछा–क्यों योगिराज, क्या मेरी आशा इस जन्ममें सफल होगी? मुनिराजने यशोभद्राका अभिप्राय जानकर कहा–हाँ होगी, और अवश्य होगी। तेरे होनेवाला पुत्र भव्य–मोक्षमें जानेवाला, बुद्धिमान् और अनेक अच्छे अच्छे गुणोंका धारक होगा। पर साथ ही एक चिन्ताकी बात यह होगी कि तेरे स्वामी पुत्रका मुख देखकर ही जिनदीक्षा ग्रहण कर जायँगे, जो दीक्षा स्वर्ग-मोक्षका सुख दे-

नेवाली है। अच्छा, और एक बात यह है कि तेरा पुत्र भी जब कभी किसी जैनमुनिको देख पायगा तो वह भी उसी समय सब विषय-भोगोंको छोड़-छाड़कर योगी बन जायगा।

इसके कुछ महीनों बाद यशोभद्रा सेठानीके पुत्र हुआ। नागश्रीके जीवने, जो स्वर्गमें महर्द्धिक देव हुआ था, अपनी स्वर्गकी आयु पूरी हुए बाद यशोभद्राके यहाँ जन्म लिया। भाई-बन्धुओंने इसके जन्मका बहुत कुछ उत्सव मनाया। इसका नाम सुकुमाल रक्खा गया। उधर सुरेन्द्र पुत्रके पवित्र दर्शन कर और उसे अपने सेठ-पदका तिलक कर आप मुनि हो गया।

जब सुकुमाल बड़ा हुआ तब उसकी माको यह चिन्ता हुई कि कहीं यह भी कभी किसी मुनिको देखकर मुनि न हो जाय, इसके लिए यशोभद्राने अच्छे घरानेकी कोई बत्तीस सुन्दर कन्याओंके साथ उसका ब्याह कर उन सबके रहनेको एक जुदा ही बड़ा भारी महल बनवा दिया और उसमें सब प्रकारकी विषय-भोगोंकी एकसे एक उत्तम वस्तु इकट्ठी करवादी, जिससे कि सुकुमालका मन सदा विषयोंमें फँसा रहे। इसके सिवा पुत्रके मोहसे उसने इतना और किया कि अपने घरमें जैनमुनियोंका आना जाना भी बन्द करवा दिया।

एक दिन किसी बाहरके सौदागरने आकर राजा प्रद्योतनको एक बहु-मूल्य रत्न-कम्बल दिखलाया, इस लिए कि वह उसे खरीदले। पर उसकी कीमत बहुत ही अधिक होनेसे राजाने उसे नहीं लिया। रत्न-कंबलकी बात यशो-

भद्रा सेठानीको मालूम हुई। उसने उस सौदागरको बुला-कर उससे वह कम्बल सुकुमालके लिए मोल ले-लिया। पर वह रत्नोंकी जड़ाईके कारण अत्यन्त ही कठोर था, इस लिए सुकुमालने उसे पसन्द न किया। तब यशोभद्राने उसके टुकड़े करवा कर अपनी बहुओंके लिए उसकी जूतियाँ बनवादीं। एक दिन सुकुमालकी प्रिया जूतियाँ खोलकर पाँव धो रही थी। इतनेमें एक चील मांसके टुकड़ेके लोभसे एक जूतीको उठा ले-उड़ी। उसकी चोंचसे छूटकर वह जूती एक वेश्याके मकानकी छत पर गिरी। उस जूतीको देखकर वेश्याको बड़ा आश्चर्य हुआ। वह उसे राजघरानेकी समझकर राजाके पास ले-गई। राजा भी उसे देखकर दंग रह गये कि इतनी कीमती जिसके यहाँ जूतियाँ पहरी जाती हैं तब उसके धनका क्या ठिकाना होगा। मेरे शहरमें इतना भारी धनी कौन है? इसका अवश्य पता लगाना चाहिए। राजाने जब इस विषयकी खोज की तो उन्हें सुकुमाल सेठका समाचार मिला कि इनके पास बहुत धन है और वह जूती उन्हींकी है। राजाको सुकुमालके देखनेकी बड़ी उत्कंठा हुई। वे एक दिन सुकुमालसे मिलनेको गये। राजाको अपने घर आये देख सुकुमालकी मा यशोभद्राको बड़ी खुशी हुई। उसने राजाका खूब अच्छा आदर-सत्कार किया। राजाने प्रेमवश हो सुकुमालको भी अपने पास सिंहासन पर बैठा लिया। यशोभद्राने उन दोनोंकी एक ही साथ आरती उतारी। दियेकी तथा हारकी ज्योतिसे मिलकर बढ़े हुए तेजको सुकुमालकी आँखें न सह सकीं–उनमें पानी आ गया।

इसका कारण पूछने पर यशोभद्राने राजासे कहा—महाराज, आज इसकी इतनी उमर हो गई, कभी इसने रत्नमयी दीयेको छोड़कर ऐसे दीयेको नहीं देखा। इस लिए इसकी आँखोंमें पानी आ गया है। यशोभद्रा जब दोनोंको भोजन कराने बैठी तब सुकुमाल अपनी थालीमें परोसे हुए चावलोंमेंसे एक एक चावलको बीन-बीनकर खाने लगा। देखकर राजाको बड़ा अचंभा हुआ। उसने यशोभद्रासे इसका भी कारण पूछा। यशोभद्राने कहा—राजराजेश्वर, इसे जो चावल खानेको दिये जाते हैं वे खिले हुए कमलोंमें रखे जाकर सुगन्धित किये होते हैं। पर आज वे चावल थोड़े होनेसे मैनें उन्हें दूसरे चावलोंके साथ मिलाकर बना लिया। इससे यह एक एक चावल चुन-चुनकर खाता है। राजा सुनकर बड़े ही खुश हुए। उन्होंने पुण्यात्मा सुकुमालकी बहुत प्रशंसा कर कहा—सेठानीजी, अब तक तो आपके कुँवर साहब केवल आपके ही घरके सुकुमाल थे, पर अब मैं इनका अवन्ति-सुकुमाल नाम रखकर इन्हें सारे देशका सुकुमाल बनाता हूँ। मेरा विश्वास है कि मेरे देशभरमें इस सुन्दरताका—इस सुकुमारताका यही आदर्श है। इसके बाद राजा सुकुमालको संग लिए महलके पीछे जलक्रीड़ा करने बावड़ी पर गये। सुकुमालके साथ उन्होंने बहुत देरतक जलक्रीड़ा की। खेलते समय राजाकी उँगुलीमेंसे अँगूठी निकलकर क्रीड़ा सरोवरमें गिर गई। राजा उसे ढूँढ़ने लगे। वे जलके भीतर देखते हैं तो उन्हें उसमें हजारों बड़े बड़े सुंदर और कीमती भूषण देख पड़े। उन्हें देखकर राजाकी

अकल चकरा गई। वे सुकुमालके अनन्त-वैभवको देखकर बड़े चकित हुए। वे यह सोचते हुए, कि यह सब पुण्यकी लीला है, कुछ शरमिन्दासे होकर महल लौट आये।

सज्जनो, सुनो—धन-धान्यादि सम्पदाका मिलना, पुत्र, मित्र, और सुन्दर स्त्रीका प्राप्त होना, बन्धु बान्धवोंका सुखी होना, अच्छे अच्छे वस्त्र और आभूषणोंका होना, दुमँजले, तिमँजले आदि मनोहर महलोंमें रहनेको मिलना, खाने-पीनेको अच्छीसे अच्छी वस्तुएँ प्राप्त होना, विद्वान् होना, नीरोग होना–आदि जितनी सुख-सामग्री है, वह सब जिनेन्द्र भगवान्के उपदेश किये मार्ग पर चलनेसे जीवोंको मिल सकती है। इस लिए दुःख देनेवाले खोटे मार्गको छोड़कर बुद्धिमानोंको सुखका मार्ग और स्वर्ग-मोक्षके सुखका बीज पुण्य-कर्म करना चाहिए। पुण्य जिन भगवान्की पूजा करनेसे, पात्रोंको दान देनेसे तथा व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्यके धारण करनेसे होता है।

एक दिन जैनतत्वके परम विद्वान् सुकुमालके मामा गणधराचार्य सुकुमालकी आयु बहुत थोड़ी रही जानकर उसके महल पीछेके बगीचेमें आकर ठहरे और चतुर्मास लग जानेसे उन्होंने वहीं योग धारण कर लिया। यशोभद्राको उनके आनेकी खबर हुई। वह जाकर उनसे कह आई कि प्रभो, जब तक आपका योग पूरा न हो तब तक आप कभी ऊँचेसे स्वाध्याय या पठन-पाठन न कीजिएगा। जब उनका योग पूरा हुआ तब उन्होंने अपने योगसम्बन्धी सब क्रियाओंको करके अन्तमें लोकप्रज्ञप्तिका पाठ करना शुरू किया।

उसमें उन्होंने अच्युतस्वर्गके देवोंकी आयु, उनके शरीरकी ऊँचाई आदिका खूब अच्छी तरह वर्णन किया। उसे सुनकर सुकुमालको जातिस्मरण हो गया। पूर्व जन्ममें पाये दुःखोंको याद कर वह काँप उठा। वह उसी समय चुपकेसे महलसे निकल कर मुनिराजके पास गया और उन्हें भक्तिसे नमस्कार कर उनके पास बैठ गया। मुनिने उससे कहा—बेटा, अब तुम्हारी आयु सिर्फ तीन दिनकी रह गई है, इस लिए अब तुम्हें इन विषय-भोगोंको छोड़कर अपना आत्महित करना उचित है। ये विषय-भोग पहले कुछ अच्छेसे मालूम होते हैं, पर इनका अन्त बड़ा ही दुःखदायी है। जो विषय-भोगोंकी धुनमें ही मस्त रहकर अपने हितकी ओर ध्यान नहीं देते, उन्हें कुगतियोंके अनन्त दुःख उठाना पड़ते हैं। तुम समझो सियालेमें आग बहुत प्यारी लगती है, पर जो उसे छूएगा वह तो जलेहीगा। यही हाल इन ऊपरके स्वरूपसे मनको लुभानेवाले विषयोंका है। इस लिए ऋषियोंने इन्हें 'भोगा भुजंगभोगाभाः' अर्थात् सर्पके समान भयंकर कहकर उल्लेख किया है। विषयोंको भोगकर आज तक कोई सुखी नहीं हुआ, तब फिर ऐसी आशा करना कि इनसे सुख मिलेगा, नितान्त भूल है। मुनिराजका उपदेश सुनकर सुकुमालको बड़ा वैराग्य हुआ। वह उसी समय सुख देनेवाली जिनदीक्षा लेकर मुनि हो गया। मुनि होकर सुकुमाल वनकी ओर चल दिया। उसका यह अन्तिम जीवन बड़ा ही करुणाके भरा हुआ है। कठोरसे कठोर चित्तवाले मनुष्योंके तक हृदयोंको हिला देनेवाला

है। सारी जिन्दगीमें कभी जिनकी आँखोंसे आँसू न झरे हों, उन आँखोंमें भी सुकुमालका यह जीवन आँसू ला देनेवाला है। पाठकोंको सुकुमालकी सुकुमारताका हाल मालूम है कि यशोभद्राने जब उसकी आरती उतारी थी, तब जो मंगल द्रव्य सरसौं उस पर डाली गई थीं, उन सरसौंके चुभनेको भी सुकुमाल न सह सका था। यशोभद्राने उसके लिए रत्नोंका बहुमूल्य कम्बल खरीदा था, पर उसने उसे कठोर होनेसे ही ना-पास कर दिया था। उसकी माका उस पर इतना प्रेम था—उसने उसे इस प्रकार लाड़-प्यारसे पाला था कि सुकुमालको कभी जमीन पर तक पाँव देनेका मौका नहीं आया था। उसी सुकुमार सुकुमालने अपने जीवन भरके एक-रूपसे बहे प्रवाहको कुछ ही मिनटोंके उपदेशसे बिलकुल ही उलटा बहा दिया। जिसने कभी यह नहीं जाना कि घर बाहर क्या है, वह अब अकेला भयंकर जंगलमें जा बसा। जिसने स्वप्नमें भी कभी दुःख नहीं देखा, वही अब दुःखोंका पहाड़ अपने सिर पर उठालेनेको तैयार हो गया। सुकुमाल दीक्षा लेकर वनकी ओर चला। कँकरीली जमीन पर चलनेसें उसके फूलोंसे कोमल पावोंमें कंकर-पत्थरोंके गड़नेसे घाव हो गये। उनसे खूनकी धारा बह चली। पर धन्य सुकुमालकी सहनशीलता जो उसने उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं झाँका। अपने कर्त्तव्यमें वह इतना एकनिष्ठ हो गया—इतना तन्मय हो गया कि उसे इस बातका भान ही न रहा कि मेरे शरीरकी क्या दशा हो रही है। सुकुमालकी सहनशीलताकी इतनेमें ही समाप्ति

नहीं हो गई । अभी और आगे बढ़िए और देखिए कि वह अपनेको इस परीक्षामें कहाँ तक उत्तीर्ण करता है ।

पावोंसे खून बहता जाता है और सुकुमाल मुनि चले जा रहे हैं । चलकर वे एक पहाड़की गुफामें पहुँचे । वहाँ वे ध्यान लगाकर बारह भावनाओंका विचार करने लगे । उन्होंने प्रायोपगमन संन्यास ले लिया, जिसमें कि किसीसे अपनी सेवा-शुश्रूषा भी कराना मना किया है । सुकुमाल मुनि तो इधर आत्मध्यानमें लीन हुए । अब जरा इनके वायुभूतिके जन्मकी याद कीजिए ।

जिस समय वायुभूतिके बड़े भाई अग्निभूति मुनि हो गये थे, तब इनकी स्त्रीने वायुभूतिसे कहा था कि देखो, तुम्हारे कारणसे ही तुम्हारे भाई मुनि हो गये सुनती हूँ । तुमने अन्याय कर मुझे दुःखके सागरमें ढकेल दिया । चलो, जब तक वे दीक्षा न ले जायँ उसके पहले उन्हें हम तुम समझा-बुझाकर घर लौटा लावें । इस पर गुस्सा होकर वायुभूतिने अपनी भौजीको बुरी-भली सुना डाली थी, और फिर ऊपरसे उस पर लात भी जमा दी थी। तब उसने निदान किया था कि पापी, तूने मुझे निर्बल समझ मेरा जो अपमान किया है—मुझे कष्ट पहुँचाया है, यह ठीक है कि मैं इस समय इसका बदला नहीं चुका सकती । पर याद रख कि इस जन्ममें न तो परजन्ममें सही पर बदला लूँगी और घोर बदला लूँगी ।

इसके बाद वह मरकर अनेक कुयोनियोंमें भटकी । अन्तमें वायुभूति तो यह सुकुमाल हुए और उसकी भौजी

सियारनी हुई। जब सुकुमाल मुनि वनकी ओर रवाना हुए और उनके पावोंमें कंकर, पत्थर, काँटे वगैरह लगकर खून बहने लगा, तब यही सियारनी अपने पिल्लोंको साथ लिए उस खूनको चाटती चाटती वहीं आ गई जहाँ सुकुमाल मुनि ध्यानमें गुम हो रहे थे। सुकुमालको देखते ही पूर्वजन्मके संस्कारसे सियारनीको अत्यन्त क्रोध आया। वह उनकी ओर घूरती हुई उनके बिलकुल नजीक आ गई। उसका क्रोधभाव उमड़ा। उसने सुकुमालको खाना शुरू कर दिया। उसे खाते देखकर उसके पिल्ले भी खाने लग गये। जो कभी एक तिनकेका चुभजाना भी नहीं सह सकता था, वह आज ऐसे घोर कष्टको सहकर भी सुमेरुसा निश्चल बना है। जिसके शरीरको एक साथ चार हिंसक जीव बड़ी निर्दयतासे खा रहे हैं, तब भी जो रंचमात्र हिलता-जुलता तक नहीं। उस महात्माकी इस अलौकिक सहनशक्तिका किन शब्दोंमें उल्लेख किया जाय, यह बुद्धिमें नहीं आता। तब भी जो लोग एक ना-कुछ चीज काँटेके लग जानेसे तलमला उठते हैं, वे अपने हृदयमें जरा गंभीरताके साथ विचार कर देखें कि सुकुमाल मुनिकी आदर्श सहनशक्ति कहाँ तक बढ़ी चढ़ी है और उनका हृदय कितना उच्च है! सुकुमाल मुनिकी यह सहनशक्ति उन कर्त्तव्यशील मनुष्योंको अप्रत्यक्ष रूपमें शिक्षा कर रही है कि अपने उच्च और पवित्र कामोंमें आने-वाले विघ्नोंकी परवा मत करो। विघ्नोंको आने दो और खूब आने दो। आत्माकी अनन्त शक्तियोंके सामने ये विघ्न कुछ चीज नहीं—किसी गिनतीमें नहीं। तुम अपने पर विश्वास

करो—भरोसा करो। हर एक कामोंमें आत्मदृढ़ता, आत्मविश्वास उनके सिद्ध होनेका मूलमंत्र है। जहाँ ये बातें नहीं वहाँ मनुष्यता भी नहीं। तब कर्त्तव्यशीलता तो फिर योजनोंकी दूरी पर है। सुकुमाल यद्यपि सुखिया जीव थे, पर कर्त्तव्यशीलता उनके पास थी। इसी लिए देखनेवालोंके भी हृदयको हिला देनेवाले कष्टमें भी वे अचल रहे।

सुकुमाल मुनिको उस सियारनीने पूर्ववैरके सम्बन्धसे तीन दिन तक खाया। पर वे मेरुके समान धीर रहे। दुःखकी उन्होंने कुछ पर्वा न की। यहाँ तक कि अपनेको खानेवाली सियारनी पर भी उनके बुरे भाव न हुए। शत्रु और मित्रको समभावोंसे देखकर उन्होंने अपना कर्त्तव्य पालन किया। तीसरे दिन सुकुमाल शरीर छोड़कर अच्युतस्वर्गमें महर्द्धिक देव हुए।

वायुभूतिकी भौजीने निदानके वश सियारनी होकर अपने वैरका बदला चुका लिया। सच है, निदान करना अत्यन्त दुःखोंका कारण है। इस लिए भव्यजनोंको यह पापका कारण निदान कभी नहीं करना चाहिए। इस पापके फलसे सियारनी मरकर कुगतिमें गई।

कहाँ वे मनको अच्छे लगनेवाले भोग और कहाँ यह दारुण तपस्या! सच तो यह है कि महापुरुषोंका चरित कुछ विलक्षण हुआ करता है। सुकुमाल मुनि अच्युतस्वर्गमें देव होकर अनेक प्रकारके दिव्य सुखोंको भोगते हैं और जिनभगवानकी भक्तिमें सदा लीन रहते हैं। सुकुमाल मुनिकी इस वीर मृत्युके उपलक्षमें स्वर्गके देवोंने आकर उनका बड़ा

उत्सव मनाया । 'जय जय' शब्द द्वारा महा कोलाहल हुआ। इसी दिनसे उज्जैनमें महाकाल नामके कुतीर्थकी स्थापना हुई। जिसके कि नामसे अगणित जीव रोज वहाँ मारे जाने लगे। और देवोंने जो सुगन्ध जलकी वर्षा की थी, उससे वहाँकी नदी गन्धवती नामसे प्रसिद्ध हुई ।

जिसने दिनरात विषय-भागोंमें ही फँसे रहकर अपनी सारी जिन्दगी बिताई, जिसने कभी दुःखका नाम भी न सुना था, उस महापुरुष सुकुमालने मुनिराज द्वारा अपनी तीन दिनकी आयु सुनकर उसी समय माता, स्त्री, पुत्र—आदि स्वजनोंको, धन-दौलतको, और विषय-भोगोंको छोड़-छाडकर जिनदीक्षा लेली और अंतमें पशुओं द्वारा दुःसह कष्ट सहकर भी जिसने बड़ी धीरज और शान्तिके साथ मृत्युको अपनाया। वे सुकुमाल मुनि मुझे कर्त्तव्यके लिए कष्ट सहनेकी शक्ति प्रदान करें।

———

५८—सुकोशल मुनिकी कथा।

जगपवित्र जिनेन्द्र भगवान्, जिनवाणी और गुरुओंको नमस्कार कर सुकोशल मुनिकी कथा लिखी जाती है।

अयोध्यामें प्रजापाल राजाके समयमें एक सिद्धार्थ नामके नामी सेठ हो गये हैं। उनके कोई बत्तीस अच्छी अच्छी सुन्दर स्त्रियाँ थीं। पर खोटे भाग्यसे

इनमें किसीके कोई सन्तान न थी । स्त्री कितनी भी सुन्दर हो, गुणवती हो, पर बिना सन्तानके उसकी शोभा नहीं होती । जैसे बिना फल-फूलके लताओंकी शोभा नहीं होती। इन स्त्रियोंमें जो सेठकी खास प्राणप्रिया थी–जिस पर कि सेठ महाशयका अत्यन्त प्रेम था, वह पुत्र-प्राप्तिके लिए सदा कुदेवोंकी पूजा-मानता किया करती थी। एक दिन उसे कुदेवोंकी पूजा करते एक मुनिराजने देख लिया । उन्होंने तब उससे कहा–बहिन, जिस आशासे तू इन कुदेवोंकी पूजा करती है वह आशा ऐसा करनेसे सफल न होगी । कारण सुख-सम्पत्ति, सन्तानप्राप्ति, नीरोगता, मान-मर्यादा, सद्बुद्धि आदि जितनी अच्छी बातें हैं, उन सबका कारण पुण्य है । इस लिए यदि तू पुण्य-प्राप्तिके लिए कोई उपाय करे तो अच्छा हो । मैं तुझे तेरे हितकी बात कहता हूँ कि इन यक्षादिक कुदेवोंकी पूजा-मानता करना छोड़कर, जो कि पुण्यबन्धका कारण नहीं है, जिनधर्मपर विश्वास कर । इससे तू सत्पथ पर आजायगी और फिर तेरी आशा भी पूरी होने लगेगी । जयावतीको मुनिका उपदेश रुचा और वह अबसे जिनधर्म पर श्रद्धा करने लगी। चलते समय उसे ज्ञानी मुनिने यह भी कह दिया था कि जिसकी तुझे चाह है वह चीज तुझे सात वर्षके भीतर भीतर अवश्य प्राप्त होगी। तू चिन्ता छोड़कर धर्मका पालन कर। मुनिका यह अन्तिम वाक्य सुनकर जयावतीको बड़ी भारी खुशी हुई । और क्यों न हो ? जिसकी कि वर्षोंसे उसके हृदयमें भावना थी वही भावना तो अब सफल होनेको है न ! अस्तु ।

मुनिका कथन सत्य हुआ। जयावतीने धर्मके प्रसादसे पुत्र-रत्नका मुँह देख पाया। उसका नाम रक्खा गया सुकोशल। सुकोशल खूब सूरत और साथ ही तेजस्वी था।

सिद्धार्थ सेठ विषय-भोगोंको भोगते भोगते कंटाल गये थे। उनके हृदयकी ज्ञानमयी आँखोंने उन्हें अब संसारका सच्चा स्वरूप बतलाकर बहुत डरा दिया था। वे चाहते तो नहीं थे कि एक मिनट भी संसारमें रहें, पर अपनी सम्पत्तिको सम्हाल लेनेवाला कोई न होनेसे पुत्र-दर्शन तक उन्हें लाचारीसे घरमें रहना पड़ा। अब सुकोशल हो गया, इसका उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। वे पुत्रका मुखचन्द्र देखकर और अपने सेठपदका उसके ललाट पर तिलक कर आप श्री नयंधर मुनिराजके पास दीक्षा ले गये।

अभी बालकको जन्मते ही तो देर न हुई कि सिद्धार्थ सेठ घर-बार छोड़कर योगी हो गये। उनकी इस कठोरता पर जयावतीको बड़ा गुस्सा आया। न केवल सिद्धार्थ पर ही उसे गुस्सा आया, किन्तु नयंधर मुनि पर भी। इस लिए कि उन्हें इस समय सिद्धार्थको दीक्षा देना उचित न था; और इसी कारण मुनि मात्र पर उसकी अश्रद्धा हो गई। उसने अपने घरमें मुनियोंका आना-जाना तक बन्द कर दिया। बड़े दुःखकी बात है कि यह जीव मोहके वश हो धर्मको भी छोड़ बैठता है। जैसे जन्मका अन्धा हाथमें आये चिन्तामणिको खो बैठता है।

वयःप्राप्त होने पर सुकोशलका अच्छे अच्छे घरानेकी कोई बत्तीस कन्या-रत्नोंसे ब्याह हुआ। सुकोशलके दिन अब

बड़े ऐशो आरामके साथ बीतने लगे। माताका उस पर अत्यन्त प्यार होनेसे नित नई वस्तुएँ उसे प्राप्त होती थीं। सैकड़ों दास-दासियाँ उसकी सेवामें सदा उपस्थित रहा करती थीं। वह जो कुछ चाहता वह कार्य उसकी आँखोंके इशारे मात्रसे होता था। सुकोशलको कभी कोई बातके लिए चिन्ता न करना पड़ती थी। सच है, जिनके पुण्यका उदय होता है उन्हें सब सुख-सम्पत्ति सहजमें प्राप्त हो जाती हैं।

एक दिन सुकोशल, उसकी मा, उसकी स्त्री, और उसकी धायके साथ महल पर आ बैठा आयोध्याकी शोभा तथा मनको लुभानेवाली प्रकृतिदेवीकी नई नई सुन्दर छटाओंको देख देखकर बड़ा खुश हो रहा था। उसकी दृष्टि कुछ दूर तक गई। उसने एक मुनिराजको देखे। ये मुनि इसके पिता सिद्धार्थ ही थे। इस समय कई अन्य नगरों और गाँवोंमें विहार करते हुए ये आ रहे थे। इनके बदन पर नाममात्रके लिए भी वस्त्र न देखकर सुकोशल बड़ा चकित हुआ। इसलिए कि पहले कभी उसने मुनिको देखा नहीं था। उनका अजब वेष देखकर सुकोशलने मासे पूछा—मा, यह कौन है? सिद्धार्थको देखते ही जयावतीकी आँखोंमें खून बरस गया। वह कुछ घृणा और कुछ उपेक्षाको लिए बोली—बेटा, होगा कोई भिखारी, तुझे इससे क्या मतलब! परन्तु अपनी माके इस उत्तरसे सुकोशलको सन्तोष नहीं हुआ। उसने फिर पूछा—मा, यह तो बड़ा खूब सूरत और तेजस्वी देख पड़ता है। तुम इसे भिखारी कैसे बताती हो? जयावतीको अपने स्वामी पर ऐसी घृणा करते देख सुकोशलकी

धाय सुनन्दासे न रहा गया। वह बोल उठी–अरी ओ, तू इन्हें जानती है कि ये हमारे मालिक हैं। फिर भी तू इनके सम्बन्धमें ऐसा उलटा सुझा रही है। तुझे यह योग्य नहीं। क्या हो गया यदि ये मुनि हो गये तो? इसके लिए क्या तुझे इनकी निन्दा करनी चाहिए? इसकी बात पूरी भी न हो पाई थी कि सुकोशलकी माने उसे आँखके इशारेसे रोककर कह दिया कि चुप क्यों नहीं रह जाती। तुझे कौन पूछता है, जो बीचमें ही बोल उठी! सच है, दुष्ट स्त्रियोंके मनमें धर्म-प्रेम कभी नहीं होता। जैसे जलती हुई आगका बीचका भाग ठंडा नहीं होता।

सुकोशल ठीक तो न समझ पाया, पर उसे इतना ज्ञान हो गया कि माने मुझे सच्ची बात नहीं बतलाई। इतनेमें रसोइया सुकोशलको भोजन कर आनेके लिए बुलाने आया। उसने कहा–प्रभो, चलिए। बहुत समय हो गया। सब भोजन ठंडा हुआ जाता है। सुकोशलने तब भोजनके लिए इंकार कर दिया। माता और स्त्रियोंने भी बहुत आग्रह किया, पर वह भोजन करनेको नहीं गया। उसने साफ साफ कह दिया कि जब तक मैं उस महापुरुषका सच्चा सच्चा हाल न सुन-लूँगा तब तक भोजन नहीं करूँगा। जयावतीको सुकोशलके इस आग्रहसे कुछ गुस्सा आ गया, सो वह तो वहाँसे चल दी। पीछेसे सुनन्दाने सिद्धार्थ मुनिकी सब बातें सुकोशलसे कहदीं। सुनकर सुकोशलको कुछ दुःख भी हुआ, पर साथ ही वैराग्यने उसे सावधान कर दिया। वह उसी समय सिद्धार्थ मुनिराजके पास गया और उन्हें नमस्कार कर

धर्मका स्वरूप सुननेकी उसने इच्छा प्रगट की । सिद्धार्थने उसे मुनिधर्म और गार्हस्थ्य-धर्मका खुलासा स्वरूप समझा दिया । सुकोशलको मुनिधर्म बहुत पसन्द पड़ा । वह मुनि-धर्मकी भावना भाता हुआ घर आया और सुभद्राकी गर्भ-स्थ सन्तानको अपने सेठपदका तिलक कर तथा सब मायां-ममता, धन-दौलत और स्वजन-परिजनको छोड़-छाड़कर श्री सिद्धार्थ मुनिके पास ही दीक्षा लेकर योगी बन गया । सच है, जिसे पुण्योदयसे धर्म पर प्रेम है और जो अपना हित करनेके लिए सदा तैयार रहता है, उस महापुरुषको कौन झूठी-सच्ची सुझाकर अपने कैदमें रख सकता है—उसे धोखा दे ठग सकता है ।

एक मात्र पुत्र और वह भी योगी बन गया । इस दुःखकी जयावतीके हृदय पर बड़ी गहरी चोट लगी । वह पुत्र-दुःखसे पगलीसी बन गई । खाना-पीना उसके लिए जहर हो गया । उसकी सारी जिन्दगी ही धूल-धानी हो गई । वह दुःख और चिन्ताके मारे दिनोंदिन सूखने लगी । जब देखो तब ही उसकी आँखें आँसुओंसे भरी रहतीं । मरते दम तक वह पुत्र-शोकको न भूल सकी । इसी चिन्ता, दुःख, आर्त्त-ध्यानसे उसके प्राण निकले । इस प्रकार बुरे भावोंसे मरकर मगध देशके मौद्गिलनामके पर्वत पर उसने व्याघ्रीका जन्म लिया । इसके तीन बच्चे हुए । यह अपने बच्चोंके साथ पर्वत पर ही रहती थी । सच है, जो जिनेन्द्र भगवान्‌के पवित्र धर्मको छोड़ बैठते हैं, उनकी ऐसी ही दुर्गति होती है ।

विहार करते हुए सिद्धार्थ और सुकोशल मुनिने भाग्यसे इसी पर्वत पर आकर योग धारण कर लिया । योग पूरा

हुए बाद जब ये भिक्षाके लिए शहरमें जानेके लिए पर्वत परसे नीचे उतर रहे थे उस समय वह व्याघ्री, जो कि पूर्वजन्ममें सिद्धार्थकी स्त्री और सुकोशलकी माता थी, इन्हें खानेको दौड़ी और जब तक कि ये संन्यास लेकर बैठते हैं, उसने इन्हें खा लिया। ये पिता पुत्र समाधिसे शरीर छोड़कर सर्वार्थसिद्धिमें जाकर देव हुए। वहाँसे आकर अब वे निर्वाण लाभ करेंगे। ये दोनों मुनिराज आप भव्यजनोंको और मुझे शान्ति प्रदान करें।

जिस समय व्याघ्रीने सुकोशलको खाते खाते उनका हाथ खाना शुरू किया, उस समय उसकी दृष्टि सुकोशलके हाथोंके लाञ्छनों (चिन्हों) पर जा पड़ी। उन्हें देखते ही इसे अपने पूर्वजन्मका ज्ञान हो गया। जिसे वह खा रही है, वह उसीका पुत्र है-जिस पर उसका बेहद प्यार था, उसे ही वह खा रही है। यह ज्ञान होते ही उसे जो दुःख, जो आत्म-ग्लानि हुई वह लिखी नहीं जा सकती। वह सोचती है, हाय! मुझसी पापिनी कौन होगी जो अपने ही प्यारे पुत्रको मैं आप ही खा रही हूँ! धिकार है मुझसी मूर्खिनीको जो पवित्र धर्मको छोड़कर अनन्त संसारको अपना वास बनाती है। उस मोहको, उस संसारको धिकार है जिसके वश हो यह जीव अपने हित अहितको भूल जाता है और फिर कुमार्गमे फँसकर दुर्गतियोंमें दुःख उठाता है। इस प्रकार अपने किये कर्मोंकी बहुत कुछ आलोचना कर उस व्याघ्रीने संन्यास ग्रहण कर लिया और अन्तमें शुद्ध भावोंसे मरकर वह सौधर्मस्वर्गमें देव हुई। सच है, जीवोंकी

शक्ति अद्भुत ही हुआ करती है और जैनधर्मका प्रभाव भी संसारमें बड़ा ही उत्तम है । नहीं तो कहाँ तो पापिनी व्याघ्री और कहाँ उसे स्वर्गकी प्राप्ति ! इस लिए जो आत्मसिद्धिके चाहनेवाले हैं, उन भव्य जनोंको स्वर्ग-मोक्षको देनेवाले पवित्र जैनधर्मका पालन करना चाहिए ।

श्री मूलसंघरूपी अत्यन्त ऊँचे उदयाचलसे उदय होनेवाले मेरे गुरु श्रीमल्लिभूषणरूपी सूर्य संसारमें सदा प्रकाश करते रहें ।

वे प्रभाचन्द्राचार्य विजयलाभ करें जो ज्ञानके समुद्र हैं। देखिए, समुद्रमें रत्न होते हैं, आचार्य महाराज सम्यग्दर्शन रूपी श्रेष्ठ रत्नको धारण किये हैं । समुद्रमें तरङ्गें होती हैं, ये भी सप्तभंगीरूपी तरङ्गोंसे युक्त हैं—स्याद्वाद विद्याके बड़े ही विद्वान् हैं । समुद्रकी तरङ्गें जैसे कूड़ा-करकट निकाल बाहर फैंक देती हैं, इसी तरह ये अपनी सप्तभंगवाणी द्वारा एकान्त मिथ्यात्वरूपी कूड़े-करकटको हटा दूर करते थे—अन्यमतोंके बड़े बड़े विद्वानोंको शास्त्रार्थमें पराजित कर विजयलाभ करते थे । समुद्रमें मगरमच्छ, घड़ियाल—आदि अनेक भयानक जीव होते हैं, पर प्रभाचन्द्ररूपी समुद्रमें उससे यह विशेषता थी—अपूर्वता थी कि उसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष,—आदि भयानक मगरमच्छ न थे । समुद्रमें अमृत रहता है और इनमें जिनेन्द्र भगवान्‌का वचनमयी निर्मल अमृत समाया हुआ था । और समुद्रमें अनेक तरहकी बिकनेयोग्य वस्तुएँ रहती हैं, ये भी व्रतों द्वारा उत्पन्न होनेवाली पुण्यरूपी विक्रेय-वस्तुको धारण किये थे ।

५९—गजकुमार मुनिकी कथा।

जिन्होंने अपने गुणोंसे संसारमें प्रसिद्ध हुए और सब कामोंको करके सिद्धि—कृत्य-कृत्यता लाभ की है, उन जिन भगवान्‌को नमस्कार कर गजकुमार मुनिकी कथा लिखी जाती है।

नेमिनाथ भगवान्‌के जन्मसे पवित्र हुई प्रसिद्ध द्वारकाके अर्धचक्री वासुदेवकी रानी गन्धर्वसेनासे गजकुमारका जन्म हुआ था। गजकुमार बड़ा वीर था। उसके प्रतापको सुनकर ही शत्रुओंकी विस्तृत मानरूपी बेल भस्म हो जाती थी।

पोदनपुरके राजा अपराजितने तब बड़ा सिर उठा रक्खा था। वासुदेवने उसे अपने काबूमें लानेके लिए अनेक यत्न किये, पर वह किसी तरह इनके हाथ न पड़ा। तब इन्होंने शहरमें यह डौंडी पिटवाई कि जो मेरे शत्रु अपराजितको पकड़ लाकर मेरे सामने उपस्थित करेगा, उसे उसका मन चाहा वर मिलेगा। गजकुमार डौंड़ी सुनकर पिताके पास गया और हाथ जोड़कर उसने स्वयं अपराजित पर चढ़ाई करनेकी प्रार्थना की। उसकी प्रार्थना मंजूर हुई। वह सेना लेकर अपराजित पर जा चढ़ा। दोनों ओरसे घमासान युद्ध हुआ। अन्तमें विजयलक्ष्मीने गजकुमारका साथ दिया। अपराजितको पकड़ लाकर उसने पिताके सामने उपस्थित कर दिया। गजकुमारकी इस वीरताको देखकर वासुदेव बहुत

खुश हुए। उन्होंने उसकी इच्छानुसार वर देकर उसे सन्तुष्ट किया।

ऐसे बहुत कम अच्छे पुरुष निकलते हैं जो मनचाहा वर लाभकर सदाचारी और सन्तोषी बने रहें। गजकुमारकी भी यही दशा हुई। उसने मनचाहा वर पिताजीसे लाभ कर अन्यायकी ओर कदम बढ़ाया। वह पापी जबरदस्ती अच्छे अच्छे घरोंकी सती स्त्रियोंकी इज्जत लेने लगा। वह ठहरा राजकुमार, उसे कौन रोक सकता था! और जो रोकनेकी कुछ हिम्मत करता तो वह उसकी आँखोंका काँटा होकर खटकने लगता और फिर गजकुमार उसे जड़मूलसे उखाड़ फैंकनेका यत्न करता। उस कामको, उस दुराचारको धिक्कार है, जिसके वश हो मूर्ख-जनोंको लज्जा और भय भी नहीं रहता है।

इसी तरह गजकुमारने अनेक अच्छी अच्छी कुलीन स्त्रियोंकी इज्जत ले डाली। पर इसके दबदबेसे किसीने चूँ तक न किया। एक दिन पांसुल सेठकी सुरति नामकी स्त्री पर इसकी नजर पड़ी और इसने उसे खराब भी कर दिया। यह देख पांसुलका हृदय क्रोधाग्निसे जलने लगा। पर वह बेचारा इसका कुछ कर नहीं सकता था। इस लिए उसे भी चुपचाप घरमें बैठ रह जाना पड़ा।

एक दिन भगवान् नेमिनाथ भव्य-जनोंके पुण्योदयसे द्वारकामें आये। बलभद्र, वासुदेव तथा और भी बहुतसे राजे-महाराजे बड़े आनन्दके साथ भगवान्की पूजा करनेको गये। खूब भक्तिभावोंसे उन्होंने स्वर्ग-मोक्षका सुख देने-

वाले भगवान्की पूजा-स्तुति की, उनका ध्यान-स्मरण किया। बाद गृहस्थ और मुनि धर्मका भगवान्के द्वारा उन्होंने उपदेश सुना, जो कि अनेक सुखोंका देनेवाला है। उपदेश सुनकर सभी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने बार बार भगवान्की स्तुति की। सच है साक्षात् सर्वज्ञ भगवान्का दिया धर्मोपदेश सुनकर किसे आनन्द या खुशी न होगी। भगवान्के उपदेशका गजकुमारके हृदय पर अत्यन्त प्रभाव पड़ा। वह अपने किये पापकर्मों पर बहुत पछताया। संसारसे उसे बड़ी घृणा हुई। वह उसी समय भगवान्के पास ही दीक्षा ले गया, जो संसारके भटकनेको मिटानेवाली है। दीक्षा लेकर गजकुमार मुनि विहार कर गये। अनेक देशों और नगरोंमें विहार करते, और भव्य-जनोंको धर्मोपदेश द्वारा शान्तिलाभ कराते अन्तमें वे गिरनार पर्वतके जंगलमें आये। उन्हें अपनी आयु बहुत थोड़ी जान पड़ी। इस लिए वे प्रायोपगमन संन्यास लेकर आत्म-चिन्तवन करने लगे। तब इनकी ध्यान-मुद्रा बड़ी निश्चल और देखने योग्य थी।

इनके संन्यासका हाल पांसुल सेठको जान पड़ा, जिसकी कि स्त्रीको गजकुमारने अपने दुराचारीपनेकी दशामें खराब किया था। सेठको अपना बदला चुकानेका बड़ा अच्छा मौका हाथ लग गया। वह क्रोधसे भर्राता हुआ गजकुमार मुनिके पास पहुँचा और उनके सब सन्धिस्थानोंमें लोहेके बड़े बड़े कीले ठोककर चलता बना। गजकुमार मुनि पर उपद्रव तो बड़ा ही दुःसह हुआ, पर वे जैनतत्वके अच्छे अभ्यासी थे—अनुभवी थे, इस लिए उन्होंने इस घोर कष्टको

एक तिनकेके चुभनेकी बराबर भी न गिन बड़ी शान्ति और धीरताके साथ शरीर छोड़ा। यहाँसे ये स्वर्गमें गये। वहाँ अब चिरकाल तक वे सुख भोगेंगे। अहा! महापुरुषोंका चरित बड़ा ही अचंभा पैदा करनेवाला होता है। देखिए, कहाँ तो गजकुमार मुनिको ऐसा दुःसह कष्ट और कहाँ सुख देनेवाली पुण्य-समाधि! इसका कारण सच्चा तत्त्वज्ञान है। इस लिए इस महत्ताको प्राप्त करनेके लिए तत्त्वज्ञानका अभ्यास करना सबके लिए आवश्यक है।

सारे संसारके प्रभु कहलानेवाले जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा सुखके कारण धर्मका उपदेश सुनकर जो गजकुमार अपनी दुर्बुद्धिको छोड़कर पवित्र बुद्धिके धारक और बड़े भारी सहनशील योगी हो गये, वे हमें भी सुबुद्धि और शान्ति प्रदान करें, जिससे हम भी कर्त्तव्यके लिए कष्ट सहनेमें समर्थ हो सकें।

६०—पणिक मुनिकी कथा।
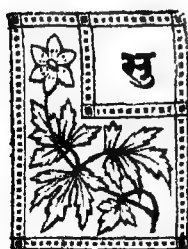
सुखके देनेवाले और सत्पुरुषोंसे पूजा किये गये जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार कर श्री-पणिक नामके मुनिकी कथा लिखी जाती है, जो सबका हित करनेवाली है।

पणीश्वर नामक शहरके राजा प्रजापालके समय वहाँ सागरदत्त नामका एक सेठ हो चुका है। उसकी स्त्रीका नाम

पणिका था। इसके एक लड़का था। उसका नाम भी पणिक था। पणिक सरल, शान्त और पवित्र हृदयका था। पाप कभी उसे छू भी न गया था। सदा अच्छे रास्ते पर चलना उसका कर्त्तव्य था। एक दिन वह भगवान्के समवसरणमें गया, जो कि रत्नोंके तोरणोंसे बड़ी ही सुन्दरता धारण किये हुए था और अपनी मानस्तंभादि शोभासे सबके चित्तको आनन्दित करनेवाला था। वहाँ उसने वर्द्धमान भगवान्को गंधकुटी पर विराजे हुए देखे। भगवान्की इस समयकी शोभा अपूर्व और दर्शनीय थी। वे रत्न-जड़े सोनेके सिंहासन पर विराजे हुए थे, पूनमके चन्द्रमाको शरमिन्दा करनेवाले तीन छत्र उन पर शोभा दे रहे थे, मोतियोंके हारके समान उज्ज्वल और दिव्य चँवर उन पर ढुर रहे थे, एक साथ उदय हुए अनेक सूर्योंके तेजको जिनके शरीरकी कान्ति दबाती थी, नाना प्रकारकी शंकाओंको मिटानेवाली दिव्यध्वनि द्वारा जो उपदेश कर रहे थे, देवोंके बजाये दुदुंभी नामके बाजोंसे आकाश और पृथ्वीमण्डल शब्दमय बन गया था, इन्द्र, नागेन्द्र, चक्रवर्त्ती, विद्याधर और बड़े बड़े राजे-महाराजे आदि आ-आकर जिनकी पूजा करते थे, अनेक निर्ग्रन्थ मुनिराज उनकी स्तुति कर अपनेको कृतार्थ कर रहे थे, चौंतीस प्रकारके अतिशयोंसे जो शोभित थे, अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य ऐसे चार अनन्त चतुष्टय आत्म-सम्पत्तिको धारण किये थे, जिन्हें संसारके सर्वोच्च महापुरुषका सम्मान प्राप्त था, तीनों लोकोंको स्पष्ट देख-जानकर उसका स्वरूप भव्य-जनोंको

जो उपदेश कर रहे थे और जिनके लिए मुक्ति-रमणी वर-माला हाथमें लिए उत्सुक हो रही थी।

पणिकने भगवान्का ऐसा दिव्य स्वरूप देखकर उन्हें अपना सिर नवाया, उनकी स्तुति-पूजा की, प्रदक्षिणा दी और बैठकर धर्मोपदेश सुना। अन्तमें उसने अपनी आयुके सम्बन्धमें भगवान्से प्रश्न किया। भगवान्के उत्तरसे उसे अपनी आयु बहुत थोड़ी जान पड़ी। ऐसी दशामें आत्महित करना बहुत आवश्यक समझ पणिक वहीं दीक्षा ले साधु हो गया। यहाँसे विहार कर अनेक देशों और नगरोंमें धर्मोपदेश करते हुए पणिकमुनि एक दिन गंगा किनारे आये। नदी पार होनेके लिए ये एक नावमें बैठे। मल्लाह नाव खेये जा रहा था कि अचानक एक प्रलयकीसी आँधीने आकर नावको खूब डग मगा दिया। उसमें पानी भर आया। नाव डूबने लगी। जब तक नाव डूबती है पणिक मुनिने अपने भावोंको खूब उन्नत किया। यहाँ तक कि उन्हें उसी समय केवलज्ञान हो गया और तुरत ही वे अघातिया कर्मोंका नाश कर मोक्ष चले गये। वे सेठपुत्र पणिकमुनि मुझे भी अविनाशी मोक्ष-लक्ष्मी दें, जिन्होंने मेरु समान स्थिर रहकर कर्म-शत्रुओंका नाश किया।

सागरदत्त सेठकी स्त्री पणिका सेठानीके पुत्र पवित्रात्मा पणिक मुनि, वर्द्धमान भगवान्के दर्शनकर, जो कि मोक्षके देनेवाले हैं, और उनसे अपनी आयु बहुत ही थोड़ी जानकर संसारकी सब माया-ममता छोड़ मुनि हो गये और अन्तमें कर्मोंका नाशकर मोक्ष गये वे मुझे भी सुखी करें।

६१—भद्रबाहु मुनिराजकी कथा ।

संसारका कल्याण करनेवाले और देवों द्वारा नमस्कार किये गये श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार कर पंचम श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहु मुनिराजकी कथा लिखी जाती है, जो कथा सबका हित करनेवाली है ।

पुण्ड्रवर्द्धन देशके कोटीपुर नामक नगरके राजा पद्मरथके समयमें वहाँ सोमशर्मा नामका एक पुरोहित ब्राह्मण हो गया है। इसकी स्त्रीका नाम श्रीदेवी था । कथा-नायक भद्रबाहु इसीके लड़के थे। भद्रबाहु बचपनसे ही शान्त और गंभीर प्रकृतिके थे। उनके भव्य चेहरेको देखनेसे यह झटसे कल्पना होने लगती थी कि ये आगे चलकर कोई बड़े भारी प्रसिद्ध महापुरुष होंगे। क्योंकि यह कहावत बिलकुल सच्ची है कि "पूतके पग पालनेमें ही नजर आ जाते हैं। " अस्तु ।

जब भद्रबाहु आठ वर्षके हुए और इनका यज्ञोपवीत और मौञ्जीबन्धन हो चुका था तब एक दिनकी बात है कि ये अपने साथी बालकोंके साथ खेल रहे थे। खेल था गोलियोंका । सब अपनी अपनी हुशियारी और हाथोंकी सफाई गोलियोंको एक पर एक रखकर दिखला रहे थे। किसीने दो, किसीने चार, किसीने छह, और किसी किसीने अपनी हुशियारीसे आठ गोलियाँ तक ऊपर तले चढादीं । पर हमारे कथा-नायक भद्रबाहु इन सबसे बढ़कर निकले। इन्होंने

एक साथ कोई चौदह गोलियाँ तले ऊपर चढ़ादीं। सब बालक देखकर दंग रह गये। इसी समय एक घटना हुई। वह यह कि—श्री वर्द्धमान भगवान्को निर्वाणलाभ किये-बाद होनेवाले पाँच श्रुतकेवलियोंमें चौदह महापूर्वके जाननेवाले चौथे श्रुतकेवली श्रीगोवर्द्धनाचार्य गिरनारकी यात्राको जाते हुए इस ओर आ गये। उन्होंने भद्रबाहुके खेलकी इस चकित करनेवाली चतुरताको देखकर निमित्तज्ञानसे समझ लिया कि पांचवें होनेवाले श्रुतकेवली भद्रबाहु ये ही होने चाहिएं। भद्रबाहुसे उसका नाम वगैरह जानने पर उन्हें और भी दृढ़ निश्चय हो गया। वे भद्रबाहुको साथ लिए उसके घर पर गये। सोमशर्मासे उन्होंने भद्रबाहुको पढ़ानेके लिए माँगा। सोमशर्माने कुछ आनाकानी न कर अपने लड़केको आचार्य महाराजके सुपुर्द कर दिया। आचार्यने भद्रबाहुको अपने स्थान पर लाकर खूब पढ़ाया और सब विषयोंमें उसे आदर्श विद्वान बना दिया। जब आचार्यने देखा कि भद्रबाहु अच्छा विद्वान हो गया तब उन्होंने उसे वापिस घर लौटा दिया। इस लिए कि कहीं सोमशर्मा यह न समझले कि मेरे लड़केको बहका कर इन्होंने साधु बना लिया। भद्रबाहु घर गये सही, पर अब उनका मन घरमें न लगने लगा। उन्होंने माता-पितासे अपने साधु होनेकी प्रार्थना की। माता-पिताको उनकी इस इच्छासे बड़ा दुःख हुआ। भद्रबाहुने उन्हें समझा बुझा-कर शान्त किया और आप सब माया-मोह छोड़कर गोवर्द्धनाचार्य द्वारा दीक्षा ले योगी हो गये। सच है, जिसने तत्वोंका स्वरूप

समझ लिया वह फिर गृहजंजालको क्यों अपने सिर पर उठायेगा? जिसने अमृत चख लिया है वह फिर क्यों खारा जल पीयेगा? मुनि हुए बाद भद्रबाहु अपने गुरु-महाराज गोवर्द्धनाचार्यकी कृपासे चौदह महापूर्वके भी विद्वान् हो गये। जब संघाधीश गोवर्द्धनाचार्यका स्वर्गवास हो गया तब उनके बाद उनके पट्ट पर भद्रबाहु श्रुतकेवली ही बैठे। अब भद्रबाहु आचार्य अपने संघको साथ लिए अनेक देशों और नगरोंमें अपने उपदेशामृत द्वारा भव्य-जनरूपी धानको बढ़ाते हुए उज्जैनकी ओर आये और सारे संघको एक पवित्र स्थानमें ठहरा कर आप आहारके लिए शहरमें गये। जिस घरमें इन्होंने पहले ही पाँव दिया वहाँ एक बालक पलनेमें झूल रहा था, और जो अभी स्पष्ट बोलना तक न जानता था; इन्हें घरमें पाँव देते देख वह सहसा बोल उठा कि "महाराज, जाइए! जाइए!!" एक अबोध बालक-को बोलता देखकर भद्रबाहु आचार्य बड़े चकित हुए। उन्होंने उसपर निमित्तज्ञानसे विचार किया तो उन्हें जान पड़ा कि यहाँ बारह वर्षका भयानक दुर्भिक्ष पड़ेगा और वह इतना भीषणरूप धारण करेगा कि धर्म-कर्मकी रक्षा तो दूर रहे, पर मनुष्योंको अपनी जान बचाना भी कठिन हो जाय-गा। भद्रबाहु आचार्य उसी समय अन्तराय कर लौट आये। शामके समय उन्होंने अपने सारे संघको इकट्ठा कर उससे कहा—साधुओ, यहाँ बारह वर्षका बड़ा भारी अकाल पड़नें-वाला है, और तब धर्म-कर्मका निर्वाह होना कठिनही नहीं अ-संभव हो जायगा। इस लिए आप लोग दक्षिण दिशाकी ओर

जायें और मेरी आयु बहुत ही थोड़ी रह गई है, इस लिए मैं इधर ही रहूँगा। यह कहकर उन्होंने दशपूर्वके जाननेवाले अपने प्रधान शिष्य श्रीविशाखाचार्यको चारित्रकी रक्षाके लिए सारे संघसहित दक्षिणकी ओर रवाना कर दिया। दक्षिणकी ओर जानेवाले मुनि उधर सुख-शान्तिसे रहे। उनका चारित्र निर्विघ्न पला। और सच है, गुरुके वचनोंको माननेवाले शिष्य सदा सुखी रहते हैं।

सारे संघको चला गया देख उज्जैनके राजा चन्द्रगुप्तको उसके वियोगका बहुत रंज हुआ। उससे फिर वे भी दीक्षा ले मुनि बन गये और भद्रबाहु आचार्यकी सेवामें रहे। आचार्यकी आयु थोड़ी रह गई थी, इस लिए उन्होंने उज्जैनमें ही किसी एक बड़के झाड़के नीचे समाधि लेली और भूख-प्यास आदिकी परीषह जीतकर अन्तमें स्वर्गलाभ किया। वे जैनधर्मके सार तत्वको जाननेवाले महान् तपस्वी श्रीभद्रबाहु आचार्य हमें सुखमयी सन्मार्गमें लगावें।

सोमशर्मा ब्राह्मणके वंशके एक चमकते हुए रत्न, जिनधर्मरूप समुद्रके बढ़ानेको पूर्ण चन्द्रमा और मुनियोंके–योगियोंके शिरोमणि श्रीभद्रबाहु पंचम श्रुतकेवली हमें वह लक्ष्मी दें जो सर्वोच्च सुखकी देनेवाली है—सब धन-दौलत, विभव-सम्पत्तिमें श्रेष्ठ है।

६२–बत्तीस सेठ पुत्रोंकी कथा।

लोक और अलोकके प्रकाश करनेवाले–उन्हें देख जानकर उनके स्वरूपको समझानेवाले श्रीसर्वज्ञ भगवान्‌को नमस्कार कर बत्तीस सेठ पुत्रोंकी कथा लिखी जाती है।

कौशाम्बीमें बत्तीस सेठ थे। उनके नाम थे इन्द्रदत्त, जिनदत्त, सागरदत्त–आदि। इनके पुत्र भी बत्तीस ही थे। उनके नाम समुद्रदत्त, वसुमित्र, नागदत्त, जिनदास–आदि थे। ये सब ही धर्मात्मा थे, जिनभगवान्‌के सच्चे भक्त थे, विद्वान् थे, गुणवान् थे और सम्यक्त्वरूपी रत्नसे भूषित थे। इन सबकी परस्परमें बड़ी मित्रता थी। यह एक इनके पुण्यका उदय कहना चाहिए जो सब ही धनवान, सब ही गुणवान्, सब ही धर्मात्मा और सबकी परस्परमें गाढ़ी मित्रता। बिना पुण्यके ऐसा योग कभी मिल ही नहीं सकता।

एक दिन ये सब ही मित्र मिलकर एक केवलज्ञानी योगिराजकी पूजा करनेको गये। भक्तिसे इन्होंने भगवान्‌की पूजा की और फिर उनसे धर्मका पवित्र उपदेश सुना। भगवान्‌से पूछने पर इन्हें जान पड़ा कि इनकी उमर अब बहुत थोड़ी रह गई है। तब इस अन्तसमयकें आत्महित साधनेके योगको जाने देना उचित न समझ इन सबहीने संसारका भटकना मिटानेवाली जिनदीक्षा ले ली। दीक्षा लेकर

तपस्या करते हुए ये यमुना नदीके किनारे पर आये। यहीं इन्होंने प्रायोपगमन संन्यास ले लिया। भाग्यसे इन्हीं दिनोंमें खूब जोरकी वर्षा हुई। नदी-नाले सब पूर आ गये। यमुना भी खूब चढ़ी। एक जोरका ऐसा प्रवाह आया कि ये सब ही मुनि उसमें बह गये। अन्तमें समाधिसे शरीर छोड़कर ये स्वर्ग गये। सच हैं, महापुरुषोंका चरित सुमेरुसे कहीं स्थिरशाली होता है। स्वर्गमें दिव्य-सुखको भोगते हुए वे सब जिनेन्द्र भगवान्‌की भक्तिमें सदा लीन रहते हैं।

वे कर्मोंके जीतनेवाले जिनेन्द्र भगवान् सदा जयलाभ करें—उनका पवित्र शासन संसारमें सदा रहकर जीवोंका हित साधन करे, जिनका सर्वोच्च चारित्र अनेक प्रकारके दुःसह कष्टोंको सहकर भी मेरुसा स्थिर रहता है, जिसकी तुलना किसीके साथ नहीं की जा सकती—संसारमें जो सर्वोत्तम आदर्श है। भव-भ्रमण मिटानेवाला है, परम सुखका स्थान है और मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष,—आदि आत्म-शत्रुओंका नाश करनेवाला है—उन्हें जड़ मूलसे उखाड़ फैंक देनेवाला है। भव्यजनो, तुम भी इस उच्च आदर्शके प्राप्त करनेका प्रयत्न करो न? जिससे तुम भी फिर परमसुख—मोक्षके पात्र बन सको। जिनेन्द्र भगवान् इसके लिए तुम्हें शक्ति प्रदान करें यह मनोभावना है। वह सफल हो।

प्रध्वस्तघातिकर्माणः केवलज्ञानभास्कराः।
कुर्वन्तु जगतः शान्तिं वृषभाद्या जिनेश्वराः॥

दूसरा भाग समाप्त।

आराधना-कथाकोश ।

'जैनमित्र' के १७ वें वर्षका उपहार।

श्रीवीतरागाय नमः।

आराधना-कथाकोश।

(तीसरा भाग)

मूल ग्रन्थकार—

स्व० श्रीयुत् ब्रह्मचारी नेमिदत्त।

हिन्दी-लेखक—

उदयलाल काशलीवाल।

प्रकाशक—

जैनमित्र कार्यालय,

हीराबाग, गिरगाँव बम्बई

प्रथम संस्करण. } वीरनिर्वाण २४४२. } मूल्य १॥)

विषय सूची ।

निवेदन ।

इस खण्डके साथ साथ यह ग्रन्थ भी पूरा होता है । इस बातकी बड़ी खुशी है कि मंगलमय जिन भगवान्‌की कृपासे इतने बड़े ग्रन्थका अनुवाद निर्विघ्न पूरा हो गया । अनुवादके सम्बन्धमें हमें जो लिखना था वह पहले खण्डकी प्रस्तावनामें हम लिख चुके हैं । सारे ग्रन्थमें हमने उसी शैलीका अनुसरण किया है ।

एक बात और ऐसी रह गई जो अब तक न लिखी गई । वह है– 'आराधना-कथाकोश' की आलोचना–इसकी रचना आदिके सम्बन्धमें गुण-दोषोंका विचार । परंतु इस ग्रन्थके प्रकाशक हमारे उन आलोचना सम्बन्धी विचारोंको पसन्द करेंगे या नहीं, इस खयालसे उसे हम यहाँ नहीं लिख सके । हमें इतने बड़े ग्रन्थका अनुवाद लिखते समय जो-जो अनुभव हुआ, उसे पाठकों पर विदित करना हमारा कर्त्तव्य था । इसलिए कि वे उस आलोचनासे जानने योग्य बातोंको जानकर उनके द्वारा कुछ लाभ उठाते । अस्तु, इसके लिए हम पाठकोंसे क्षमा चाहते हैं और साथ ही उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि किसी जैनपत्र द्वारा इस विषयको बहुत जल्दी प्रगट कर हम अपने कर्त्तव्यके इस शेषांशको पूरा करेंगे ।

ता० ९-११-१५.
बम्बई.

विनीत—
उदयलाल काशलीवाल.

आराधना-कथाकोश ।

तीसरा भाग ।

६३–धर्मघोष मुनिकी कथा ।

सत्य धर्मका उपदेश करनेवाले अत एव सारे संसारके स्वामी जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार कर श्रीधर्मघोष मुनिकी कथा लिखी जाती है ।

एक महीनाके उपवासे धर्ममूर्ति श्रीधर्मघोष मुनि एक दिन चम्पापुरीके किसी मुहल्लेमें पारणा कर तपोवनकी ओर लौट रहे थे। रास्ता भूल जानेसे उन्हें बड़ी दूरतक हरी हरी घास पर चलना पड़ा। चलनेमें अधिक परिश्रम होनेसे थकावटके मारे उन्हें प्यास लग आई। वे आकर गंगाके किनारे एक छायादार वृक्षके नीचे बैठ गये। उन्हें प्याससे कुछ व्याकुलसे देखकर गंगा देवी पवित्र जलका भरा एक लोटा लेकर उनके पास आई। वह उनसे बोली–योगिराज, मैं आपके लिए ठंडा पानी लाई

हूँ, आप इसे पीकर प्यास शान्त कीजिए । मुनिने कहा-देवी, तूने अपना कर्त्तव्य बजाया, यह तेरे लिए उचित ही था; पर हमारे लिए देवों द्वारा दिया गया आहार-पानी काम नहीं आता । देवी सुनकर बड़ी चकित हुई । वह उसी समय इसका कारण जाननेके लिए विदेहक्षेत्रमें गई और वहाँ सर्वज्ञ भगवान्को नमस्कार कर उसने पूछा—भगवन्, एक प्यासे मुनिको मैं जल पिलाने ले गई, पर उन्होंने मेरे हाथका पानी नहीं पिया; इसका क्या कारण है ? तब भगवान्ने इसके उत्तरमें कहा—देवोंका दिया आहार मुनिलोग नहीं कर सकते । भगवानका उत्तर सुन देवी निरुपाय हुई । तब उसने मुनिको शान्ति प्राप्त हो, इसके लिए उनके चारों ओर सुगन्धित और ठंडे जलकी वर्षा करना शुरू की । उससे मुनिको शान्ति प्राप्त हुई। इसके बाद शुक्लध्यान द्वारा घातिया कर्मोंका नाशकर उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया । स्वर्गके देव उनकी पूजा करनेको आये। अनेक भव्य–जनोंको आत्म-हितके रास्ते पर लगा कर अन्तमें उन्होंने निर्वाण लाभ किया।

वे धर्मघोष मुनिराज आपको तथा मुझे भी सुखी करें, जो पदार्थोंकी सूक्ष्मसे सूक्ष्म स्थिति देखनेके लिए केवल-ज्ञानरूपी नेत्रके धारक हैं, भव्य–जनोंको हितमार्गमें लगाने-वाले हैं, लोक तथा अलोकके जाननेवाले हैं, देवों द्वारा पूजा किये जाते हैं और भव्य-जनोंके मिथ्यात्व, मोहरूपी गाढ़े अन्धकारको नाश करनेके लिए सूर्य हैं ।

६४–श्रीदत्त मुनिकी कथा ।

केवलज्ञानरूपी सर्वोच्च लक्ष्मीके जो स्वामी हैं, ऐसे जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार कर श्रीदत्त मुनिकी कथा लिखी जाती है, जिन्होंने देवों द्वारा दिये हुए कष्टको बड़ी शान्तिसे सहा ।

श्रीदत्त इलावर्द्धन पुरीके राजा जितशत्रुकी रानी इलाके पुत्र थे । अयोध्याके राजा अंशुमानकी राजकुमारी अंशुमतीसे इनका ब्याह हुआ था । अंशुमतीने एक तोतेको पाल रक्खा था । जब ये पति-पत्नी विनोदके लिए चौपड़ वगैरह खेलते तब तोता कौन कितनी बार जीता, इसके लिए अपने पैरके नखसे रेखा खींच दिया करता था । पर इसमें यह दुष्टता थी कि जब श्रीदत्त जीतता तब तो यह एक ही रेखा खींचता और जब अपनी मालकिनकी जीत होती तब दो रेखाएँ खींच दिया करता था । आश्चर्य है कि पक्षी भी ठगाई कर सकते हैं । श्रीदत्त तोतेकी इस चालाकीको कई बार तो सहम गया । पर आखिर उसे तोते पर बहुत गुस्सा आया । सो उसने तोतेकी गरदन पकड़ कर मरोड़ दी । तोता उसी दम मर गया । बड़े कष्टके साथ मरकर वह व्यन्तरदेव हुआ ।

इधर सांझको एक दिन श्रीदत्त अपने महल पर बैठा हुआ प्रकृतिदेवीकी सुन्दरताको देख रहा था । इतनेमें एक

बादलका बड़ा भारी टुकड़ा उसकी आँखोंके सामनेसे गुजरा। वह थोड़ी दूर न गया होगा कि देखते देखते छिन्नभिन्न हो गया। उसकी इस क्षण नश्वरताका श्रीदत्तके चित्त पर बहुत असर पड़ा। संसारकी सब वस्तुएँ उसे बिजलीकी तरह नाशवान् देख पड़ने लगीं। सर्पके समान भयंकर विषय-भोगोंसे उसे डर लगने लगा। शरीर, जिसे कि वह बहुत प्यार करता था सर्व अपवित्रताका स्थान जान पड़ने लगा। उसे ज्ञान हुआ कि ऐसे दुःखमय और देखते देखते नष्ट होनेवाले संसारके साथ जो प्रेम करते हैं—माया-ममता बढ़ाते हैं, वे बड़े बे-समझ हैं। वह अपने लिए भी बहुत पछताया कि हाय! मैं कितना मूर्ख हूँ जो अब तक अपने हितको न शोध सका। मतलब यह कि संसारकी दशासे उसे बड़ा वैराग्य हुआ और अन्तमें वह सुखकी कारण जिनदीक्षा ले ही गया।

इसके बाद श्रीदत्त मुनिने बहुतसे देशों और नगरोंमें भ्रमण कर अनेक भव्य-जनोंको सम्बोधा—उन्हें आत्महितकी ओर लगाया। घूमते फिरते वे एक बार अपने शहरकी ओर आ गये। समय जाड़े का था। एक दिन श्रीदत्त मुनि शहर बाहर कायोत्सर्ग ध्यान कर रहे थे। उन्हें ध्यानमें खड़ा देख उस तोतेको जीवको, जिसे श्रीदत्तने गरदन मरोड़ मार डाला था और जो मरकर व्यन्तर हुआ था, अपने वैरी पर बड़ा क्रोध आया। उस वैरका बदला लेनेके अभिप्रायसे उसने

ानि पर बड़ा उपद्रव किया । एक तो वैसे ही जाड़ेका
मय, उस पर इसने बड़ी जोरकी ठंडी गार हवा चलाई,
ानी बरसाया, ओले गिराये । मतलब यह कि उसने अपना
बदला चुकानेमें कोई बात उठा न रखकर मुनिको बहुत ही
कष्ट दिया । श्रीदत्त मुनिराजने इन सब कष्टोंको बड़ी शान्ति
और धीरजके साथ सहा । व्यन्तर इनका पूरा दुश्मन था,
पर तब भी इन्होंने उस पर रंच मात्र भी क्रोध न किया । वे
बैरी और हितूको सदा समान भावसे देखते थे । अन्तमें शुक्ल-
ध्यान द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर वे कभी नाश न होनेवाले मोक्ष
स्थानको चले गये ।

जितशत्रु राजाके पुत्र श्रीदत्त मुनि देवकृत कष्टोंको बड़ी
शान्तिके साथ सहकर अन्तमें शुक्लध्यान द्वारा सब कर्मोंका
नाश कर मोक्ष गये । वे केवलज्ञानी भगवान् मुझे अपनी भक्ति
प्रदान करें, जिससे मुझे भी शान्ति प्राप्त हो ।

६५--वृषभसेनकी कथा ।

जिन्हें सारा संसार बड़े आनन्दके साथ सिर
झुकाता है, उन जिन भगवानको नमस्कार
कर वृषभसेनका चरित लिखा जाता है ।

उज्जैनके राजा प्रद्योत एक दिन उन्मत्त
ी पर बैठकर हाथी पकड़नेके लिए स्वयं किसी एक

घने जंगलमें गये। हाथी इन्हें बड़ी दूर ले भागा और आगे आगे भागता ही चला जाता था। इन्होंने उसके ठहरानेकी बड़ी कोशिश की, पर उसमें ये सफल नहीं हुए। भाग्यसे हाथी एक झाड़के नीचे होकर जा रहा था कि इन्हें सुबुद्धि सूझ गई। ये उसकी टहनी पकड़ कर लटक गये और फिर धीरे धीरे नीचे उत्तर आये। यहाँसे चलकर ये खेट नामके एक छोटेसे पर बहुत सुन्दर गाँवके पास पहुँचे। एक पनघट पर जाकर ये बैठ गये। इन्हें बड़ी प्यास लग रही थी। इन्होंने उसी समय पनघट पर पानी भरनेको आई हुई जिनपालकी लड़की जिनदत्तासे जल पिला देनेके लिए कहा। उसने इनके चेहरेके रंग-ढंगसे इन्हें कोई बड़ा आदमी समझ जल पिला दिया। बाद अपने घर पर आकर उसने प्रद्योतका हाल अपने पितासे कहा। सुनकर जिनपाल दौड़ा हुआ आकर इन्हें अपने घर लिवा लाया और बड़े आदर सत्कारके साथ इसने उन्हें स्नान-भोजन कराया। प्रद्योत उसकी इस मेहमानीसे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने जिनपालको अपना सब परिचय दिया। जिनपालने ऐसे महानुभ अतिथि द्वारा अपना घर पवित्र होनेसे अपनेको बड़ा भाग्यशाली माना। वे कुछ दिन वहाँ और ठहरे। इतनेमें सब नौकर चाकर भी उन्हें लिवानेको आ गये। अपने शहर जानेको तैयार हुए। इसके पहले एक बात कह देनेकी है कि जिनदत्ताको जबसे प्रद्योतने देखा तबसे

उनका उस पर अंत्यन्य प्रेम हो गया था और इसीसे जिनपा-लकी सम्मति पा उन्होंने उसके साथ ब्याह भी कर लिया था। दोनों नव दम्पती सुखके साथ अपने राज्यमें आ गये। जिनदत्ताको तब प्रद्योतने अपनी पट्टरानीका सम्मान दिया। सच है, समय पर दिया हुआ थोड़ा भी दान बहुत ही सुखोंका देनेवाला होता है। जैसे वर्षाकालमें बोया हुआ बीज बहुत फलता है। जिनदत्ताके उस जलदानसे, जो उसने प्रद्योतको किया था, जिनदत्ताको एक राजरानी होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। ये नये दम्पती सुखसे संसार-यात्रा बिताने लगे—प्रतिदिन नये नये सुखोंका स्वाद लेनेमें इनके दिन कटने लगे।

कुछ दिनों बाद इनके एक पुत्र हुआ। जिस दिन पुत्र होने वाला था, उसी रातको राजा प्रद्योतने सपनेमें एक सफ़ेद बैलको देखा था। इस लिए पुत्रका नाम भी उन्होंने वृषभसेन रख दिया। पुत्र-लाभ हुए बाद राजाकी प्रवृत्ति धर्म-कार्योंकी ओर और अधिक झुक गई। वे प्रतिदिन पूजा, प्रभावना, अभिषेक, दान-आदि पवित्र कार्योंको बड़ी भक्ति श्रद्धाके साथ करने लगे। इसी तरह सुखके साथ कोई आठ बरस बीत गये। जब वृषभसेन कुछ हुशियार हुआ तब एक दिन राजाने उससे कहा—बेटा, अब तुम अपने इस राज्यके कारभारको सम्हालो। मैं अब जिन भगवान्के उपदेश किये पवित्र तपको ग्रहण करता हूँ। वही शान्ति प्राप्तिका कारण है। वृषभसेनने तब कहा—पिताजी, आप तप

क्यों ग्रहण करते हैं, क्या परलोक-सिद्धि—मोक्षप्राप्ति राज्य करते हुए नहीं हो सकती ? राजाने कहा—बेटा हाँ, जिसे सच्ची सिद्धि या मोक्ष कहते हैं, वह बिना तप किये नहीं होती। जिन भगवान्ने मोक्षका कारण एक मात्र तप बताया है । इस लिए आत्महित करनेवालोंको उसका ग्रहण करना अत्यन्त ही आवश्यक है । राजपुत्र वृषभसेनने तब कहा—पिताजी, यदि यह बात है तो फिर मैं ही इस दुःखके कारण राज्यको लेकर क्या करूँगा ? कृपाकर यह भार मुझ पर न रखिए। राजाने वृषभसेनको बहुत समझाया, पर उसके ध्यानमें तप छोड़कर राज्यग्रहण करनेकी बात बिलकुल न आई। लाचार हो राजा राज्यभार अपने भतीजेको सौंपकर आप पुत्रके साथ जिनदीक्षा ले गये ।

यहाँसे वृषभसेन मुनि तपस्या करते हुए अकेले ही देश, विदेशोंमें धर्मोपदेशार्थ घूमते फिरते एक दिन कौशाम्बीके पास आ एक छोटीसी पहाड़ी पर ठहरे। समय गर्मीका था। बड़ी तेज धूप पड़ती थी। मुनिराज एक पवित्र शिला पर कभी बैठे और कभी खड़े इस कड़ी धूपमें योग साधा करते थे। उनकी इस कड़ी तपस्या और आत्मतेजसे दिपते हुए उनके शारीरिक सौन्दर्यको देख लोगोंकी उन पर बड़ी श्रद्धा हो गई। जैनधर्म पर उनका विश्वास खूब दृढ़ जम गया।

एक दिन चारित्र-चूड़ामणि श्रीवृषभसेन मुनि भिक्षार्थ शहरमें गये हुए थे कि पीछेसे किसी जैनधर्मके प्रभावको न

सहनेवाले बुद्धदास नामके बुद्धधर्मीने मुनिराजके ध्यान करनेकी शिलाको आगसे तपाकर लाल सुर्ख कर दिया। सच है, साधु-महात्माओंका प्रभाव दुर्जनोंसे नहीं सहा जाता। जैसे सूरजके तेजको उल्लू नहीं सह सकता। जब मुनिराज आहार कर पीछे लौटे और उन्होंने शिलाको अग्नि-से तपी हुई देखा, यदि वे चाहते-भौतिक शरीरसे उन्हें मोह होता तो बिलाशक वे अपनी रक्षा कर सकते थे। पर उनमें यह बात न थी; वे कर्त्तव्यशील थे-अपनी प्रतिज्ञाओंका पालना वे सर्वोच्च समझते थे। यही कारण था कि वे संन्यास-की शरण ले उस आगसे धधकती शिला पर बैठ गये। उस समय उनके परिणाम इतने ऊँचे चढ़े कि उन्हें शिला पर बैठते ही केवलज्ञान हो गया और उसी समय अघातिया कर्मोंका नाश कर उन्होंने निर्वाण-लाभ किया। सच है, महा पुरुषोंका [illegible] भी कहीं अधिक [illegible] है।

जिसके चित्तरूपी अत्यन्त ऊँचे पर्वतकी तुलनामें बड़े बड़े पर्वत एक ना कुछ चीज परमाणुकी तरह दीखने लगते हैं, समुद्र दूबाकी अणी पर ठहरे जलकणसा प्रतीत होता है, वे गुणोंके समुद्र और कर्मोंको नाश करनेवाले वृषभसेन जिन मुझे अपने गुण प्रदान करें, जो सब मनचाही सिद्धि-योंके देनेवाले हैं।

६६--कार्त्तिकेय मुनिकी कथा ।

संसारके सूक्ष्मसे सूक्ष्म पदार्थोंको देखने जाननेके लिए केवलज्ञान जिनका सर्वोत्तम नेत्र है और जो पवित्रताकी प्रतिमा और सब सुखोंके दाता हैं, उन जिन भगवान्को नमस्कार कर कार्त्तिकेय मुनिकी कथा लिखी जाती है।

कार्तिकपुरके राजा अग्निदत्तकी रानी वीरवतीके कृत्तिका नामकी एक लड़की थी। एक बार अठाईके दिनोंमें उसने आठ दिनके उपवास किये। अन्तके दिन वह भगवान्की पूजा कर शेषाको--भगवान्के लिए चढ़ाई फूलमालाको लाई। उसे उसने अपने पिताको दिया। उस समय उसकी दिव्य रूपराशिको देखकर उस[illegible]निदत्तकी नियत ठि[illegible] न[illegible] कामके [illegible] हो उस पापीने बहुतसे अन्यधर्मी और कुछ जैनसाधुओंको इकट्ठा कर उनसे पूछा--योगी-महात्माओ, आप कृपा कर मुझे बतलावें कि मेरे घरमें पैदा हुए रत्नका मालिक मैं ही हो सकता हूँ या कोई और? राजाका प्रश्न पूरा होता है कि सब ओरसे एक ही आवाज आई कि महाराज, उस रत्नके तो आप ही मालिक हो सकते हैं, न कि दूसरा। पर जैनसाधुओंने राजाके प्रश्न पर कुछ गहरा विचार कर इस रूपमें राजाके प्रश्नका उत्तर दिया--राजन्, यह बात ठीक

कि अपने यहाँ उत्पन्न हुए रत्नके मालिक आप हैं, पर कन्या-रत्नको छोड़कर ! उसकी मालिकी पिताके नाते-ही आप कर सकते हैं, और रूपमें नहीं। जैनसाधुओंका यह भरा उत्तर राजाको बड़ा बुरा लगा, और लगना ही चाहिए; क्योंकि पापियोंको हितकी बात कब सुहाती है ? राजाने गुस्सा होकर उन मुनियोंको देश बाहर कर दिया और अपनी लड़कीके साथ स्वयं ब्याह कर लिया। सच है, जो पापी हैं, कामी हैं और जिन्हें आगामी दुर्गतिमें दुःख उठाना है उनमें कहाँ धर्म, कहाँ लाज, कहाँ नीति-सदाचार और कहाँ सुबुद्धि ?

कुछ दिनों बाद कृत्तिकाके दो सन्तान हुईं। एक लड़का और लड़की। लड़केका नाम था कार्तिकेय और लड़कीका वीरमती। वीरमती बड़ी खूबसूरत थी। उसका ब्याह रोहेड़ नगरके राजा क्रौंचके साथ हुआ। वीरमती वहाँ रहकर सुखके साथ दिन बिताने लगी।

इधर कार्तिकेय भी बड़ा हो गया। अब उसकी उमर कोई चौदह बरसकी हो गई थी। एक दिन कार्तिकेय अपने साथी और राजकुमारोंके साथ खेल रहा था। वे सब अपने नानाके यहाँसे आये हुए अच्छे अच्छे कपड़े और गहने पहरे हुए थे। पूछने पर कार्तिकेयको जान पड़ा कि वे वस्त्राभरण उन सब राजाकुमारोंके नाना-मामाके यहाँसे आये हैं। उसने अपनी मासे जाकर पूछा—क्यों मा, मेरे साथी राज-

उनकी भक्तिसे बड़ी पूजा की। उसी दिनसे वह स्थान भी कार्तिकेयतीर्थके नामसे प्रसिद्ध हुआ। और वे वीरमतीके भाई थे, इस लिए 'भाईबीज' के नामसे दूसरा लौकिक पर्व प्रचलित हुआ।

आप लोग जिनभगवान्के उपदेश किये ज्ञानका अभ्यास करें। वह सब संदेहोंका नाश करनेवाला और स्वर्ग तथा मोक्षके सुखका देनेवाला है। जिनका ऐसा उच्च ज्ञान संसारके पदार्थोंका स्वरूप दिखानेके लिए दियेकी तरह सहायता करनेवाला है वे देवों द्वारा, पूजे जानेवाले जिनेन्द्र भगवान् मुझे भी कभी नाश न होनेवाला सुख देकर अपनासा बनावें।

६७–अभयघोष मुनिकी कथा।

देवों द्वारा पूजा-भक्ति किये गये जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर अभयघोष मुनिका चरित लिखा जाता है।

अभयघोष काकन्दीके राजा थे। उनकी रानीका नाम अभयमती था। अभयमती पर राजाका बहुत प्यार था।

एक दिन अभयघोष घूमनेको जंगलमें गये हुए थे। इसी समय एक मल्लाह एक बड़े और जीते कछुएके चारों पाँव

बाँधकर उसे लकड़ीमें लटकाये हुए लिए जा रहा था। पापी अभयघोषकी उस पर नजर पड़ गई। उन्होंने मूर्खताके वश हो अपनी तलवारसे उसके चारों पाँवोंको काट दिया। बड़े दुःखकी बात है कि पापी लोग बेचारे ऐसे निर्दोष जीवोंको निर्दयताके साथ मार डालते हैं और न्याय अन्यायका कुछ विचार नहीं करते! कछुआ उसी समय तड़फड़ा कर गत-प्राण हो गया। मरकर वह अकाम-निर्जराके फलसे इन्हीं अभयघोषके यहाँ चंडवेग नामका पुत्र हुआ।

एक दिन राजाको चन्द्र-ग्रहण देखकर बड़ा वैराग्य हुआ। उन्होंने विचार किया—जो एक महान तेजस्वी ग्रह है, जिसकी तुलना कोई नहीं कर सकता, और जिसकी गणना देवोंमें है, वह भी जब दूसरोंसे हार खा जाता है तब मनुष्योंकी तो बात ही क्या? जिनके कि सिर पर काल सदा चक्कर लगाता रहता है। हाय, मैं बड़ा ही मूर्ख हूँ जो आज तक विषयोंमें फँसा रहा और कभी अपने हितकी ओर मैंने ध्यान नहीं दिया। मोहरूपी गाढ़े अँधेरेने मेरी दोनों आँखोंको ऐसी अन्धी बना डाला, जिससे मुझे अपने कल्याणका रास्ता देखने या उस पर सावधानीके साथ चलनेको सूझ ही न पड़ा। इसी मोहके पापमय जालमें फँसकर मैंने जैनधर्मसे विमुख होकर अनेक पाप किये। हाय, मैं अब इस संसाररूपी अथाह समुद्रको पारकर सुखमय किनारेको कैसे प्राप्त कर सकूँगा? प्रभो, मुझे शक्ति प्रदान

कीजिए, जिससे मैं आत्मिक सच्चा सुख लाभ कर सकूँ। इस विचारके बाद उन्होंने स्थिर किया कि जो हुआ सो हुआ। अब भी मुझे अपने कर्त्तव्यके लिए बहुत समय है। जिस प्रकार मैंने संसारमें रहकर विषय सुख भोगा—शरीर और इन्द्रियोंको खूब सन्तुष्ट किया, उसी तरह अब मुझे अपने आत्महितके लिए कड़ीसे कड़ी तपस्या कर अनादि कालसे पीछा किये हुए इन आत्मशत्रु कर्मोंका नाश करना उचित है—यही मेरे पहले किये कर्मोंका पूर्ण प्रायश्चित्त है। और ऐसा करनेसे ही मैं शिव-रमणीके हाथोंका सुख-स्पर्श कर सकूँगा। इस प्रकार स्थिर विचार कर अभयघोषने सब राजभार अपने कुँवर चण्डवेगको सौंप जिन दीक्षा ग्रहण करली, जो कि इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटाकर उन्हें आत्मशक्तिके बढ़ानेको सहायक बनाती है। इसके बाद अभयघोष मुनि संसार-समुद्रसे पार करनेवाले और जन्म-जरा-मृत्युको नष्ट करनेवाले अपने गुरु महाराजको नमस्कार कर और उनकी आज्ञा ले देश विदेशोंमें धर्मोपदेशार्थ अकेले ही विहार कर गये। इसके कितने ही वर्षों बाद वे घूमते-फिरते फिर एक बार अपनी राजधानी काकन्दीकी ओर आ निकले। एक दिन ये वीरासनसे तपस्या कर रहे थे। इसी समय इनका पुत्र चण्डवेग इस ओर आ निकला। पाठकोंको याद होगा कि चण्डवेगकी और इसके पिता अभयघोषकी शत्रुता है। कारण—चण्डवेग पूर्व जन्ममें कछुआ था और उसके पाँव

अभयघोषने काट डाले थे। सो चण्डवेगकी जैसे ही इन पर नजर पड़ी उसे अपने पूर्व वैरकी याद आ गई। उसने क्रोधसे अन्धे होकर उनके भी हाथ पाँवोंको काट डाला। सच है धर्महीन अज्ञानी जन कौन पाप नहीं कर डालते।

अभयघोष मुनि पर महान् उपसर्ग हुआ, पर वे तब भी मेरुके समान अपने कर्त्तव्यमें दृढ़ बने रहे। अपने आत्मध्यानसे वे रत्तीभर भी न चिगे। इसी ध्यान बलसे केवलज्ञान प्राप्त कर अन्तमें उन्होंने अक्षयानन्त मोक्ष लाभ किया। सच है, आत्मशक्ति बड़ी गहन है—आश्चर्य पैदा करनेवाली है। देखिए कहाँ तो अभयघोष मुनि पर दुःसह कष्टका आना और कहाँ मोक्ष प्राप्तिका कारण दिव्य आत्मध्यान!

सत्पुरुषों द्वारा सेवा किये गये वे अभयघोष मुनि मुझे भी मोक्षका सुख दें, जिन्होंने दुःसह परीषहको जीता, आत्म-शत्रु राग, द्वेष, मोह, क्रोध, माना, माया, लोभ—आदिको नष्ट किया, और जन्म जन्ममें दारुण दुःखोंके देनेवाले कर्मोंका क्षय कर मोक्षका सर्वोच्च सुख, जिस सुखकी कोई तुलना नहीं कर सकता, प्राप्त किया।

६८—विद्युच्चर मुनिकी कथा

सब सुखोंके देनेवाले और संसारमें सर्वोच्च गिने जानेवाले जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार कर शास्त्रोंके अनुसार विद्युच्चर मुनिकी कथा लिखी जाती है।

मिथिलापुरके राजा वामरथके राज्यमें इनके समय कोतवालके ओहदे पर एक यमदण्ड नामका मनुष्य नियुक्त था। यहीं एक विद्युच्चर नामका चोर रहता था। यह अपने चोरीके फनमें बड़ा चलता हुआ था। सो यह क्या करता कि दिनमें तो एक कोढ़ीके वेषमें किसी सूनसान मन्दिरमें रहता और ज्यों ही रात होती कि एक सुन्दर मनुष्यका वेष धारण कर खूब मजा-मोज मारता। यही ढंग इसका बहुत दिनोंसे चला आता था। पर इसे कोई पहिचान न सकता था। एक दिन विद्युच्चर राजाके देखते देखते खास उन्हींके ही हारको चुरा लाया। पर राजासे तब कुछ भी न बन पड़ा। सुबह उठकर राजाने कोतवालको बुलाकर कहा—देखो, कोई चोर अपनी सुन्दर वेषभूषासे मुझे मुग्ध बनाकर मेरा रत्न-हार उठा ले गया है। इस लिए तुम्हें हिदायत की जाती है कि सात दिनके भीतर उस हारको या उसके चुरा ले-जानेवालेको मेरे सामने उपस्थित करो, नहीं तो तुम्हें इसकी पूरी सजा भोगनी पड़ेगी। जान पड़ता है तुम अपने कर्तव्य

पालनमें बहुत त्रुटि करते हो । नहीं तो राजमहलमेंसे चोरी हो जाना कोई कम आश्चर्यकी बात नहीं है! 'हुक्म हुजूरका' कहकर कोतवाल चोरके ढूँढ़नेको निकला । उसने सारे शहरकी गली-कूँची, घर-बार आदि एक एक करके छान डाला पर उसे चोरका पता कहीं न चला । ऐसे उसे छह दिन बीत गये । सातवें दिन वह फिर घर बाहर हुआ । चलते चलते उसकी नजर एक सूनसान मन्दिर पर पड़ी । वह उसके भीतर घुस गया । वहाँ उसने एक कोढ़ीको पड़ा पाया । उस कोढ़ीका रंगढंग देखकर कोतवालको कुछ सन्देह हुआ । उसने उससे कुछ बातें-चीतें इस ढंगसे की कि जिससे कोतवाल उसके हृदयका कुछ पता पासके । यद्यपि उस बात-चीतसे कोतवालको जैसी चाहिए थी वैसी सफलता न हुई, पर तब भी उसके पहले शकको सहारा अवश्य मिला । कोतवाल उस कोढ़ीको राजाके पास ले गया और बोला— महाराज, यही आपके हारका चोर है । राजाके पूछने पर उस कोढ़ीने साफ इंकार कर दिया कि मैं चोर नहीं हूँ । मुझे ये जबरदस्ती पकड़ लाये हैं । राजाने कोतवालकी ओर तब नजर की । कोतवालने फिर भी दृढ़ताके साथ कहा कि- महाराज, यही चोर है । इसमें कोई सन्देह नहीं । कोतवालको बिना कुछ सुबूतके इस प्रकार जोर देकर कहते देखकर कुछ लोगोंके मनमें यह विश्वास जम गया कि यह अपनी रक्षाके लिए जबरन इस बेचारे गरीब

भिखारीको चोर बताकर सजा दिलवाना चाहता है। उसकी रक्षा हो जाय, इस आशयसे उन लोगोंने राजासे प्रार्थना की कि महाराज, कहीं ऐसा न हो कि बिना ही अपराधके इस गरीब भिखारीको कोतवाल साहबकी मार खाकर बेमौत मर जाना पड़े और इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये इसे मारेंगे अवश्य। तब कोई ऐसा उपाय कीजिए, जिससे अपना हार भी मिल जाय और बेचारे गरीबकी जान भी न जाय। जो हो, राजाने उन लोगोंकी प्रार्थना पर ध्यान दिया या नहीं, पर यह स्पष्ट है कि कोतवाल साहब उस गरीब कोढ़ीको अपने घर लिवा ले गये और जहाँ तक उनसे बन पड़ा उन्होंने उसके मारने-पीटने, दझादेने, बाँधने आदिमें कोई कसर न की। वह कोढ़ी इतने दुःसह कष्ट दिये जाने पर भी हर बार यही कहता रहा कि मैं हर्गिज चोर नहीं हूँ। दूसरे दिन कोतवालने फिर उसे राजाके सामने खड़ा करके कहा–महाराज, यही पक्का चोर है। कोढ़ीने फिर भी यही कहा कि महाराज मैं हर्गिज चोर नहीं हूँ। सच है, चोर बड़े ही कट्टर साहसी होते हैं।

तब राजाने उससे कहा–अच्छा, मैं तेरा सब अपराध क्षमाकर तुझे अभय देता हूँ, तू सच्चा सच्चा हाल कहदे कि तू चोर है या नहीं? राजासे जीवदान पाकर उस कोढ़ी या विद्युच्चरने कहा–यदि ऐसा है तो लीजिए कृपानाथ, मैं सब सच्ची बात आपके सामने प्रगट करे देता हूँ। यह

कहकर वह बोला—राजाधिराज, अपराध क्षमा हो। वास्तवमें मैं ही चोर हूँ। आपके कोतवाल साहबका कहना सत्य है। सुनकर राजा चकित हो गये। उन्होंने तब विद्युच्चरसे पूछा-जब कि तू चोर था तब फिर तूने इतनी मार-पीट कैसे सह ली रे? विद्युच्चर बोला—महाराज, इसका तो कारण यह है कि मैंने एक मुनिराज द्वारा नरकोंके दुःखोंका हाल सुन रक्खा था। तब मैंने विचारा कि नरकोंके दुःखोंमें और इन दुःखोंमें तो पर्वत और राईकासा अन्तर है। और जब मैंने अनन्त बार नरकोंके भयंकर दुःख, जिनके कि सुनने मात्रसे ही छाती दहल उठती है, सहे हैं तब इन तुच्छ—ना कुछ चीज दुखोंका सहलेना कौन बड़ी बात है! यही विचार कर मैंने सब कुछ सहकर चूँ तक भी नहीं की। विद्युच्चरसे उसकी सच्ची घटना सुनकर राजाने खुश होकर उसे वर दिया कि तुझे 'जो कुछ माँगना हो वह माँग'। मुझे तेरी बातें सुननेसे बड़ी प्रसन्नता हुई। तब विद्युच्चरने कहा—महाराज, आपकी इस कृपाका मैं अत्यन्त उपकृत हूँ। इस कृपाके लिए आप जो कुछ मुझे देना चाहते हैं वह मेरे मित्र इन कोतवाल साहबको दीजिए। राजा सुनकर और भी अधिक अचम्भेमें पड़ गये। उन्होंने विद्युच्चरसे कहा—क्यों यह तेरा मित्र कैसे है? विद्युच्चरने तब कहा—सुनिए महाराज, मैं सब आपको खुलासा सुनाता हूँ। यहाँसे दक्षिणकी ओर आभीर प्रान्तमें बहनेवाली वेना नदीके किनारे पर बेनातट नामका एक शहर बसा

हुआ है। उसके राजा जितशत्रु और उनकी रानी जयावती, ये मेरे माता पिता हैं। मेरा नाम विद्युच्चर है। मेरे शहरमें ही एक यमपाश नामके कोतवाल थे। उनकी स्त्री यमुना थी। ये आपके कोतवाल यमदण्ड साहब उन्हींके पुत्र हैं। हम दोनों एक ही गुरुके पास पढ़े हुए हैं। इस लिए तभीसे मेरी इनके साथ मित्रता है। विशेषता यह है कि इन्होंने तो कोतवाली संबंधका शास्त्राभ्यास किया था और मैंने चौर्यशास्त्रका। यद्यपि मैंने यह विद्या केवल विनोदके लिए पढ़ी थी, तथापि एक दिन हम दोनों अपनी अपनी चतुरताकी तारीफ कर रहे थे; तब मैंने जरा घमण्डके साथ कहा—भाई, मैं अपने फनमें कितना हुशियार हूँ, इसकी परीक्षा मैं इसीसे कराऊँगा कि जहाँ तुम कोतवालीके ओहदे पर नियुक्त होगे, वहीं मैं आकर चोरी करूँगा। तब इन महाशयने कहा—अच्छी बात है, मैं भी उसी जगहँ रहूँगा जहाँ तुम चोरी करोगे और मैं तुमसे शहरकी अच्छी तरह रक्षा करूँगा—तुम्हारे द्वारा मैं उसे कोई तरहकी हानि न पहुँचने दूँगा।

इसके कुछ दिनों बाद मेरे पिता जितशत्रु मुझे सब राजभार दे जिनदीक्षा ले गये। मैं तब राजा हुआ। और इनके पिता यमपाश भी तभी जिनदीक्षा लेकर साधु बन गये। इनके पिताकी जगह तब इन्हें मिली। पर ये मेरे डरके मारे मेरे शहरमें न रहकर यहाँ आकर आपके कोतवाल नियुक्त हुए। मैं अपनी प्रतिज्ञाके वश

चोर बनकर इन्हें ढूँढ़नेको यहाँ आया । यह कहकर फिर विद्युच्चरने उनके हारके चुरानेकी सब बातें कह सुनाईं और फिर यमदण्डको साथ लिए वह अपने शहरमें आ गया।

विद्युच्चरको इस घटनासे बड़ा वैराग्य हुआ। उसने राज महलमें पहुँचते ही अपने पुत्रको बुलाया और उसके साथ जिनेन्द्र भगवान्का पूजा-अभिषेक किया। इसके बाद वह सब राजभार पुत्रको सौंपकर आप और बहुतसे राजकुमारोंके साथ जिनदीक्षा ले मुनि बन गया।

यहाँसे विहार कर विद्युच्चर मुनि अपने सारे संघको साथ लिए देश विदेशोंमें बहुत घूमे-फिरे । बहुतसे बे-समझ या मोह-मायामें फँसे हुए जनोंको इन्होंने आत्महितके मार्ग पर लगाया और स्वयं भी काम, क्रोध, लोभ, राग, द्वेषादि आत्म-शत्रुओंका प्रभुत्व नष्ट कर उन पर विजय लाभ किया। आत्मोन्नतिके मार्गमें दिन बादिन बे-रोक टोक ये बढ़ने लगे। एक दिन घूमते-फिरते ये ताम्रलिप्तपुरीकी ओर आये । अपने संघके साथ ये पुरीमें प्रवेश करनेको ही थे कि इतनेमें यहाँकी चामुण्डा देवीने आकर भीतर घुसनेसे इन्हें रोका और कहा—योगिराज, जरा ठहरिए, अभी मेरी पूजाविधि हो रही है। इस लिए जब तक वह पूरी न हो जाये तब तक आप यहीं ठहरें—भीतर न जायें । देवीके इस प्रकार मना करने पर भी अपने शिष्योंके आग्रहसे वे न रुककर भीतर चले गये और पुरीके पश्चिम तरफके परकोटेके पास कोई पवित्र

जगह देखकर वहीं सारे संघने ध्यान करना शुरू कर दिया। अब तो देवीके क्रोधका कुछ ठिकाना न रहा। उसने अपनी मायासे कोई कबूतरके बराबर डाँस तथा मच्छर आदि खून पीनेवाले जीवोंकी सृष्टि रचकर मुनि पर घोर उपद्रव किया। विद्युच्चर मुनिने इस कष्टको बड़ी शान्तिसे सहकर बारह भावनाओंके चिन्तनसे अपने आत्माको वैराग्यकी ओर खूब दृढ़ किया और अन्तमें शुक्ल-ध्यानके बलसे कर्मोंका नाश कर अक्षय और अनन्त मोक्षके सुखको अपनाया।

उन देवों, विद्याधरों, चक्रवर्तियों, तथा राजों–महाराजों द्वारा, जो अपने मुकुटोंमें जड़े हुए बहुमूल्य दिव्य रत्नोंकी कान्तिसे चमक रहे हैं, बड़ी भक्तिसे पूजा किये गये और केवलज्ञानसे विराजमान वे विद्युच्चर मुनि मुझे और आप भव्य-जनोंको मंगल–मोक्ष सुख दें, जिससे संसारका भटकना छूटकर शान्ति मिले।

६९—गुरुदत्त मुनिकी कथा।

जिनकी कृपासे केवलज्ञानरूपी लक्ष्मीकी प्राप्ति हो सकती है, उन पञ्च परमेष्ठी–अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओंको नमस्कार कर गुरुदत्त मुनिका पवित्र चरित लिखा जाता है।

गुरुदत्त हस्तिनागपुरके धर्मात्मा राजा विजयदत्तकी रानी विजयाके पुत्र थे। बचपनसे ही इनकी प्रकृतिमें गंभीरता, धीरता सरलता तथा सौजन्यता थी। खूबसूरतीमें भी ये एक ही थे। अस्तु, पुण्यकी महिमा अपरंपार है।

विजयदत्त अपना राज गुरुदत्तको सौंपकर आप मुनि हो गये और अपना आत्महित करने लगे। राज्यकी वाग्डोर गुरुदत्तने अपने हाथमें लेकर बड़ी सावधानी और नीतिके साथ उसका शासन आरंभ किया। प्रजा उनसे बहुत खुश हुई। वह हजार हजार साधुवाद अपने नये राजाको भी देने लगी। दुःख किसे कहते हैं, यह बात गुरुदत्तकी प्रजा जानती ही न थी। कारण—किसीको कुछ थोड़ा भी कष्ट हो पाता था तो गुरुदत्त फौरन ही उसकी सहायता करता—तनसे, मनसे और धनसे वह सभीके काम आता था।

लाट देशमें द्रोणीमान पर्वतके पास एक चन्द्रपुरी नामकी सुन्दर नगरी बसी हुई थी। उसके राजा थे चन्द्रकीर्ति। इनकी रानीका नाम चन्द्रलेखा था। इनके अभयमती नामकी एक लड़की थी। गुरुदत्तने चन्द्रकीर्तिसे अभयमतीके लिए प्रार्थना की कि वे अपनी कुमारीका व्याह मेरे साथ करदें। परन्तु चन्द्रकीर्तिने उनकी इस बातसे साफ इंकार करदिया—वे गुरुदत्तके साथ अभयमतीका व्याह करनेको राजी न हुए। गुरुदत्तने इससे कुछ अपना अपमान हुआ समझा। चन्द्रकीर्ति पर उसे गुस्सा आया। उसने उसी समय

चन्द्रपुरी पर चढ़ाई करदी और आकर चारों ओरसे चन्द्र-पुरीको घेर लिया। कुमारी अभयमती गुरुदत्त पर पहलेहीसे मुग्ध थी, और जब उसने उसका चन्द्रपुरीको घेर लेना सुना तो वह अपने पिताके पास आकर बोली—पिताजी, अपने सम्बन्धमे मैं आपसे कुछ कहना उचित नहीं समझती; पर मेरे संसारको सुखमय होनेमें कोई बाधा या विघ्न न आये, इस लिए कहना या प्रार्थना करना उचित जान पड़ता है। क्योंकि मुझे दुःखमें देखना तो आप सपनेमें भी पसन्द न करेंगे। वह प्रार्थना यह है कि आप गुरुदत्तजीके साथ ही मेरा ब्याह करदें—इसीमें मुझे सुख होगा। उदार हृदय चन्द्रकीर्तिने अपनी पुत्रीकी बातको मान लिया। इसके बाद ही अच्छा दिन देख खूब उच्छव आनन्दके साथ उन्होंने अभय-मतीका ब्याह गुरुदत्तके साथ कर दिया। इस सम्बन्धसे कुमार और कुमारी दोनों ही सुखी हुए। दोनोंकी मनचाही बात पूरी हुई।

ऊपर जिस द्रोणीमान पर्वतका उल्लेख हुआ है, उसमें एक बड़ा ही भयंकर सिंह रहता था। उसने सारे शहरको बहुत ही त्रास दे रखा था। सबके प्राण सदा मुट्ठीमें रहा करते थे। कौन जाने कब आकर सिंह खाले, इस चिन्तासे सब हर समय घबराये हुएसे रहते थे। इस समय कुछ लोगोंने गुरुदत्तसे जाकर प्रार्थना की कि राजाधिराज, इस पर्वत पर एक बड़ा भारी हिंसक सिंह रहता है। उससे हमें बड़ा

कष्ट है । इस लिए आप कोई ऐसा उपाय कीजिए, जिससे हम लोगोंका कष्ट दूर हो। गुरुदत्त उन लोगोंको धीरज बँधाकर आप अपने कुछ वीरोंको साथ लिये पर्वत पर पहुँचा । सिंहको उसने सब ओरसे घेर लिया । पर मौका पाकर वह भाग निकला और जाकर एक अँधेरी गुफामें घुसकर छिप गया । गुरुदत्तने तब इस मौकेको अपने लिए और भी अच्छा समझा। उसने उसी समय बहुतसे लकड़े गुहामें भरवा कर सिंहके निकलनेका रास्ता बन्द कर दिया। और बाहर गुहाके मुँह पर भी एक लकड़ोंका ढेर लगवा कर उसमें आग लगवा दी। लकड़ोंकी खाकके साथ साथ उस सिंह-की भी देखते देखते खाक हो गई । सिंह बड़े कष्टके साथ मरकर इसी चन्द्रपुरीमें भरत नामके ब्राह्मणकी विश्वदेवी स्त्रीके कपिल नामका लड़का हुआ। यह जन्मसे ही बड़ा क्रूर हुआ । और यह ठीक भी है कि पहले जैसा संस्कार होता है, वह दूसरे जन्ममें भी आता है।

इसके बाद गुरुदत्त अपनी प्रियाको लिए राजधानीमें लौट आया । दोनों नव दम्पती बड़े सुखसे रहने लगे। कुछ दिनों बाद अभयमतीके एक पुत्रने जन्म लिया। इसका नाम रखा गया सुवर्णभद्र। यह सुन्दर था, सरलता और पवित्रताकी प्रतिमा था और बुद्धिमान् था । इसी लिए सब ही इसे बहुत प्यार करते थे। जब इसकी उमर योग्य हो गई और सब कामोंमें यह हुशियार हो गया तब जिनेन्द्र

भगवान्‌के सच्चे भक्त इसके पिता गुरुदत्तने अपना राज्यभार इसे देकर आप वैरागी बन मुनि हो गये। इसके कुछ वर्षों बाद ये अनेक देशों, नगरों और गावोंमें धर्मोपदेश करते, भव्य-जनोंको सुलटाते एक बार चन्द्रपुरीकी ओर आये।

एक दिन गुरुदत्त मुनि कपिल ब्राह्मणके खेत पर कायोत्सर्ग ध्यान कर रहे थे। इसी समय कपिल घर पर अपनी स्त्रीसे यह कहकर, कि प्रिये, मैं खेत पर जाता हूँ, तुम वहाँ भोजन लेकर जल्दी आना, खेत पर आ गया। जिस खेत पर गुरुदत्त मुनि ध्यान कर रहे थे, उसे तब जोतने योग्य न समझ वह दूसरे खेत पर जाने लगा। जाते समय मुनिसे वह यह कहता गया कि मेरी स्त्री यहाँ भोजन लिए हुए आवेगी सो उसे आप कह दीजिएगा कि कपिल दूसरे खेत पर गया है। तु भोजन वहीं लेजा। सच है, मूर्ख लोग महामुनिके मार्गको न समझ कर कभी कभी बड़ा ही अनर्थ कर बैठते हैं। इसके बाद जब कपिलकी स्त्री भोजन लेकर खेत पर आई और उसने अपने स्वामीको खेत पर न पाया तब मुनिसे पूछा—क्यों साधु महाराज, मेरे स्वामी यहाँसे कहाँ गये हैं? मुनि चुप रहे, कुछ बोले नहीं। उनसे कुछ उत्तर न पाकर वह घर पर लौट आई। इधर समय पर समय बीतने लगा ब्राह्मण देवता भूकके मारे छट-पटाने, पर ब्राह्मणीका अभी तक पता नहीं; यह देख उन्हें बड़ा गुस्सा आया। वे क्रोधसे गुर्राते हुए घर पर आये और लगे

बेचारी ब्राह्मणी पर गालियोंकी बोछार करने ! राँड, मैं तो भूखके मारे मरा जाता हूँ और तेरा अभी तक आनेका ठिकाना ही नहीं ! उस नंगेको पूछकर खेत पर चली आती। बेचारी ब्राह्मणी घबराती हुई बोली–अजी तो इसमें मेरा क्या अपराध था ! मैंने उस साधुसे तुम्हारा ठिकाना पूछा। उसने कुछ न बताया। तब मैं वापिस घर पर आ गई। ब्राह्मणनें दाँत पीसकर कहा–हाँ उस नंगेने तुझे मेरा ठिकाना नहीं बताया ! और मैं तो उससें कह गया था। अच्छा, मैं अभी ही जाकर उसे इसका मजा चखाता हूँ। पाठकोंको याद होगा कि कपिल पहले जन्ममें सिंह था, और उसे इन्हीं गुरुदत्त मुनिने राज अवस्थामें जलाकर मार डाला था। तब इस हिसाबसे कपिलके वे शत्रु हुए। यदि कपिलको किसी तरह यह जान पड़ता कि ये मेरे शत्रु हैं, तो उस शत्रुताका बदला उसने कभीका ले लिया होता। पर उसे इसके जाननेका न तो कोई जरिया मिला और न था ही। तब उस शत्रुताको जाग्रत करनेके लिए, कपिलकी स्त्रीको कपिलके दूसरे खेत-पर जानेका हाल जो मुनिने न बताया, यह घटना सहायक हो गई। कपिल गुस्सेसे लाल होता हुआ मुनिके पास पहुँचा। वहाँ बहुतसी सेमलकी रुई पड़ी हुई थी। कपिलने उस रुईसे मुनिको लपेट कर उसमें आग लगादी। मुनि पर उपसर्ग हुआ। पर उसे उन्होंने बड़ी धीरतासे सहा। समय शुक्लध्यानके बलसे घातिया कर्मोंका नाश ह

उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। देवोंने आकर उन पर फूलोंकी वरसा की, आनन्द मनाया। कपिल ब्राह्मण यह सब देखकर चकित हो गया। उसे तब जान पड़ा कि जिन साधुको मैंने अत्यन्त निर्दयतासे जला डाला उनका कितना महात्म्य था! उसे अपनी इस नीचता पर बड़ा ही पछतावा हुआ। उसने बड़ी भक्तिसे भगवान्को हाथ जोड़कर अपने अपराधकी उनसे क्षमा माँगी। भगवान्के उपदेशको उसने बड़े चावसे सुना। उसे वह बहुत रुचा भी। वैराग्य पूर्ण भगवान्के उपदेशने उसके हृदय पर गहरा असर किया। वह उसी समय सब छोड़-छाड़ कर अपने पापका प्रायश्चित्त करनेके लिए मुनि हो गया। सच है, सत्पुरुषों-महात्माओंकी संगति सदा सुख देनेवाली होती है। यही तो कारण था कि एक महाक्रोधी ब्राह्मण पल भरमें सब छोड़-छाड़कर योगी बन गया। इस लिए भव्य-जनोंको सत्पुरुषोंकी संगितसे अपनेको, अपनी सन्तानको और अपने कुलको सदा पवित्र करनेका यत्न करते रहना चाहिए। यह सत्संग परम सुखका कारण है।

वे कर्मोंके जीतनेवाले जिनेन्द्र भगवान् सदा संसारमें रहें—उनका शासन चिरकाल तक जय लाभ करे जो सारे संसा-सुख देनेवाले हैं, सब सन्देहोंके नाश करनेवाले हैं और द्वारा जो पूजा-स्तुति किये जाते हैं। तथा दुःसह उप-आने पर भी जो मेरुकी तरह स्थिर रहे और जिन्होंने

अपना आत्मस्वभाव प्राप्त किया ऐसे गुरुदत्त मुनि तथा मेरे परम गुरु श्रीप्रभाचन्द्राचार्य, ये मुझे आत्मीक सुख प्रदान करें ।

७०–चिलात-पुत्रकी कथा ।

केवलज्ञान जिनका प्रकाशमान नेत्र है, उन जिन भगवान्को नमस्कार कर चिलात-पुत्रकी कथा लिखी जाती है ।

राजगृहके राजा उपश्रेणिक एक बार हवाखोरीके लिए शहर बाहर हुए । वे जिस घोड़े पर सवार थे, वह बड़ा दुष्ट था । सो उसने उन्हें एक भयानक वनमें जा छोड़ा । उस वनका मालिक एक यमदण्ड नामका भील था । इसके एक लड़की थी । उसका नाम तिलकवती था । वह बड़ी सुन्दरी थी । उपश्रेणिक उसे देखकर कामके बाणोंसे अत्यन्त बींधे गये । उनकी यह दशा देखकर यमदंडने उनसे कहा–राजाधिराज, यदि आप इससे उत्पन्न होनेवाले पुत्रको राज्यका मालिक बनाना मंजूर करें तो मैं इसे आपके साथ ब्याह सकता हूँ । उपश्रेणिकने यमदण्डकी शर्त मंजूर करली । यमदण्डने तब तिलकवतीका ब्याह उनके साथ कर दिया । वे प्रसन्न होकर उसे साथ लिये राजगृह लौट आये ।

बहुत दिनोंतक उन्होंने तिलकवतीके साथ सुख भोगा, आनन्द मनाया। तिलकवतीके एक पुत्र हुआ। उसका नाम चिलातपुत्र रक्खा गया। उपश्रेणिकके पहली रानियोंसे उत्पन्न हुए और भी कई पुत्र थे। यद्यपि राज्य वे तिलकवतीके पुत्रको देनेका संकल्प कर चुके थे, तो भी उनके मनमें यह खटका सदा बना रहता था कि कहीं इसके हाथमें राज्य जाकर धूलधानी न हो जाय! जो हो, पर वे अपनी प्रतिज्ञाके तोड़नेको लाचार थे। एक दिन उन्होंने एक अच्छे विद्वान् ज्योतिषीको बुलाकर उससे पूछा–पंडितजी, अपने निमित्त-ज्ञानको लगाकर मुझे आप यह समझाइए कि मेरे इन पुत्रोंमें राज्यका मालिक कौन होगा? ज्योतिषीजी बहुत कुछ सोच-विचारके बाद राजासे बोले–सुनिए महाराज, मैं आपको इसका खुलासा कहता हूँ। आपके सब पुत्र खीरका भोजन करनेको एक जगह बैठाये जायँ और उस समय उन पर कुत्तोंका एक झुंड छोड़ा जाय। तब उन सबमें जो निडर होकर वहीं रखे हुए सिंहासन पर बैठ नगारा बजाता जाय और भोजन भी करता जाय और दूरसे कुत्तोंको भी डालकर खिलाता जाय, उसमें राजा होनेकी योग्यता है। मतलब यह कि अपनी बुद्धिमानीसे कुत्तोंके स्पर्शसे अछूता रहकर आप भोजन करले।

दूसरा निमित्त यह होगा कि आग लगने पर जो सिंहा-सन, छत्र, चवँर आदि राज्यचिन्होंको निकाल सके, वह

राजा हो सकेगा । इत्यादि और भी कई बातें हैं, पर उनके विशेष कहनेकी जरूरत नहीं ।

कुछ दिन बीतने पर उपश्रेणिकने ज्योतिषीजीके बताये निमित्तकी जाँच करनेका उद्योग किया । उन्होंने सिंहासनके पास ही एक नगारा रखवा कर वहीं अपने सब पुत्रोंको खीर खानेको बैठाया । वे जीमने लगे कि दूसरी ओरसे कोई पाँचसौ कुत्तोंका झुण्ड दौड़कर उन पर लपका । उन कुत्तोंको देखकर राजकुमारोंके तो होश गायब हो गये । वे सब चीख मारकर भाग खड़े हुए । पर हाँ एक श्रेणिक जो इन सबसे वीर और बुद्धिमान् था, उन कुत्तोंसे डरा नहीं और बड़ी फुरतीसे उठकर उसने खीर परोसी हुई बहुतसी पत्तलोंको एक ऊँची जगह रख कर आप पास ही रखे हुए सिंहासन बैठ गया और आनन्दसे खीर खाने लगा । साथमें वह उन कुत्तोंको भी थोड़ी थोड़ी देर बाद एक एक पत्तल उठा उठा डालता गया और नगारा बजाता गया, जिससे कि कुत्ते उपद्रव न करें ।

इसके कुछ दिनों बाद उपश्रेणिकने दूसरे निमित्तकी भी जाँच की । अबकी बार उन्होंने कहीं कुछ थोड़ीसी आग लगवा लोगों द्वारा शोरोगुल करवा दिया कि राजमहलमें आग लग गई । श्रेणिकने जैसे ही आग लगनेकी बात सुनी वह

दौड़ा गया और झटपट राजमहलसे सिंहासन, छत्र, चवँर—आदि राज्यचिह्नोंको निकाल बाहर हो गया। यही श्रेणिक आगे तीर्थंकर होगा।

श्रेणिककी वीरता और बुद्धिमानी देखकर उपश्रेणिकको निश्चय हो गया कि राजा यही होगा और इसीके यह योग्य भी है। श्रेणिकके राजा होनेकी बात तबतक कोई न जान पाये जबतक कि वह अपना अधिकार स्वयं अपनी भुजाओं द्वारा प्राप्त न करले। इसके लिए उन्हें उसके रक्षाकी चिन्ता हुई। कारण उपश्रेणिक राज्यका अधिकारी तिलकवतीके पुत्र चिलातको बना चुके थे और इस हालतमें किसी दुश्मनको या चिलातके पक्षपातियोंको यह पता लग जाता कि इस राज्यका राजा तो श्रेणिक ही होगा, तब यह असंभव नहीं था कि वे उसे राजा होने देनेके पहले ही मार डालते? इसलिए उपश्रेणिकका यह चिन्ता करना वाजिब था—समयोचित और दूरदर्शिताका था। इसके लिए उन्हें एक बड़ी अच्छी युक्ति सूझ गई और बहुत जल्दी उन्होंने उसे कार्यमें भी परिणत कर दिया। उन्होंने श्रेणिकके सिर यह अपराध मढ़ा कि उसने कुत्तोंका झूँठा खाया, इसलिए वह भ्रष्ट है। अब वह न तो राजघरानेमें ही रहने योग्य रहा और न देशमें ही। इसलिए मैं उसे आज्ञा देता हूँ कि वह बहुत जल्दी राजगृहसे बाहर हो जाये। सच है पुण्यवानोंकी सभी रक्षा करते हैं।

श्रेणिक अपने पिताकी आज्ञा पाते
समय निकल गया । वह फिर पलभरके
ठहरा । यहाँसे चलकर वह द्राविड़ देश
काञ्चीमें पहुँचा । इसने अपनी बुद्धिमानी
वसीला लगा लिया जिससे इसके न बड़े सुखसे
लगे ।

इधर उपश्रेणिक कुछ दिनोंतक और राजकाज चलाते रहे । इसके बाद कोई ऐसा कारण उन्हें देख पड़ा जिससे संसार और विषयभोगोंसे वे बहुत ही उदासीन हो गये। अब उन्हें संसारका वास एक बहुत ही पेंचीला जाल जान पड़ने लगा । उन्होंने तब अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार चिलात-पुत्रको राजा बनाकर सब जीवोंका कल्याण करनेवाला मुनि-पद ग्रहण कर लिया ।

चिलात-पुत्र राजा हो गया सही, पर उसका जाति-स्वभाव न गया । और ठीक भी है कौएको मोरके पींख भले ही लगा दिये जायँ, पर वह मोर न बनकर रहेगा कौआका कौआ ही। यही दशा चिलातपुत्रकी हुई । वह राजा बना भी दिया गया था तो क्या हुआ, उसमें अंगतके तो कुछ गुण नहीं थे, तब वह राजा होकर भी क्या बड़ा कहला सका ? नहीं । अपने जाति-स्वभावके अनुसार प्रजाको कष्ट देना, उस पर जबरन जोर-जुलुम करना उसने शुरू किया । यह एक साधारण बात है कि अन्यायीका कोई साथ नहीं देता और

ऽ मगधकी प्रजाकी श्रद्धा उस परसे बिल-
गारी प्रजा उससे हृदयसे नफरत करने
लक होकर जो राजा उसी पर अन्याय
ग और दुःखकी बात क्या हो सकती है ?
न्तु इसके साथही यह भी बात है कि प्रकृति अन्या-
। नहीं सहती । न्यायीको अपने अन्यायका फल तुरंत
मिलता है । चिलातपुत्रके अन्यायकी डुगडुगी चारों ओर
पिट गई । श्रेणिकको जब यह बात सुन पड़ी तब उससे
चिलातपुत्रका प्रजा पर जुल्म करो न सहा गया । वह
उसी समय मगधकी ओर रवाना हुआ । जैसे ही प्रजाको
श्रेणिकके राजगृह आनेकी खबर लगी उसने उसका
एकमत होकर साथ दिया । प्रजाकी सहायतासे
श्रेणिकने चिलातको राज्यसे बाहर निकाल औ
धका सम्राट् बना । सच है, राजा होनेके योग्य
पुरुष है जो प्रजाका पालन करनेवाला हो । जिसमें
योग्यता नहीं वह राजा नहीं, किन्तु इस लोकमें तथा
लोकमें अपनी कीर्त्तिका नाश करनेवाला है ।

चिलातपुत्र मगधसे भागकर एक वनीमें जाकर बसा
वहाँ उसने एक छोटा-मोटा किला बनवा लिया और आस
पासके छोटे छोटे गाँवोंसे जबरदस्ती कर वसूल कर आप
उनका मालिक बन बैठा । इसका भर्तृमित्र नामका एक
मित्र था । भर्तृमित्रके मामा रुद्रदत्तके एक लड़की थी । सो

भर्तृमित्रने अपने मामासे प्रार्थना की—वह अपनी लड़कीका ब्याह चिलातपुत्रके साथ करदे । उसकी बात पर कुछ ध्यान न देकर रुद्रदत्त चिलातपुत्रको लड़की देनेसे साफ मुकर गया। चिलातपुत्रसे अपना यह अपमान न सहा गया। वह छुपा हुआ राजगृहमें पहुँचा और विवाहस्नान करती हुई सुभद्राको उठा चलता बना । जैसे ही यह बात श्रेणिकके कानोंमें पहुँची वह सेना लेकर उसके पीछे दौड़ा। चिलातपुत्रने जब देखा कि अब श्रेणिकके हाथसे बचना कठिन है, तब उस दुष्ट निर्दयीने बेचारी सुभद्राको तो जानसे मारडाला और आप जान लेकर भागा । वह वैभारपर्वत परसे जा रहा था कि उसे वहाँ एक मुनियोंका संघ देख पड़ा । चिलातपुत्र दौड़ा हुआ संघाचार्य श्रीमुनिदत्त मुनिराजके पास पहुँचा और उन्हें हाथ जोड़ सिर नवा उनसे उसने प्रार्थना की कि प्रभो, मुझे तप दीजिए, जिससे मैं अपना हित कर सकूँ । आचार्यने तब उससे कहा—प्रिय, तूने बड़ा अच्छा सोचा जो तू तप लेना चाहता है । तेरी आयु अब सिर्फ आठ दिनकी रह गई है । ऐसे समय जिनदीक्षा लेकर तुझे अपना हित करना उचित ही है । मुनिराजसे अपनी जिन्दगी इतनी थोड़ी सुन उसने उसी समय तप लेलिया, जो संसार-समुद्रसे पार करनेवाला है । चिलातपुत्र तप लेनेके साथ ही प्रायोपगमन संन्यास ले धीरतासे आत्मभावना भाने लगा । उधर उसके पकड़नेको पीछे आनेवाले श्रेणिकने वैभारपर्वत पर आकर उसे इस

अवस्थामें जब देखा तब उसे चिलातपुत्रकी इस धीरता पर बड़ा चकित होना पड़ा। श्रेणिकने तब उसके इस साहसकी बड़ी तारीफ की। इसके बाद वह उसे नमस्कार कर राजगृह लौट आया। चिलातपुत्रने जिस सुभद्राको मारडाला था, वह मरकर व्यन्तर-देवी हुई। उसे जान पड़ा कि मैं चिलात-पुत्र द्वारा बड़ी निर्दयतासे मारी गई हूँ। मुझे भी तब अपने वैरका वदला लेना ही चाहिए। यह सोचकर वह चीलका रूप ले चिलात मुनिके सिर पर आकर बैठ गई। उसने मुनिको कष्ट देना शुरू किया। पहले उसने चोंचसे उनकी दोनों आँखे निकाल लीं और बाद मधुमक्खी बन-कर वह उन्हें काटने लगी। आठ दिनतक उन्हें उसने बेहद कष्ट पहुँचाया। चिलातमुनिने विचलित न हो इस कष्टको बड़ी शान्तिसे सहा। अन्तमें समाधिसे मरकर उसने सर्वार्थ-सिद्धि प्राप्त की।

जिन वीरोंके वीर और गुणोंकी खान चिलातमुनिने ऐसा दुःसह उपसर्ग सहकर भी अपना धैर्य न छोड़ा और जिनेन्द्र भगवान्के चरणोंका, जो कि देवों द्वारा भी पूज्य हैं, खूब मन लगाकर ध्यान करते रहे और अन्तमें जिन्होंने अपने पुण्यबलसे सर्वार्थसिद्धि प्राप्त की वे मुझे भी मंगल दें।

७१–धन्यमुनिकी कथा ।

सर्वोच्च धर्मका उपदेश करनेवाले श्रीजिनेन्द्र भगवानको नमस्कार कर धन्य नामके मुनिकी कथा लिखी जाती है, जो पढ़ने या सुननेसे सुखकी देनेवाली है ।

जम्बूद्वीपके पूर्वकी ओर बसे हुए विदेह क्षेत्रकी प्रसिद्ध राजधानी वीतशोकपुरका राजा अशोक बड़ा ही लोभी राजा हो चुका है । जब धान्य काटकर खेतों पर खले किये जाते थे तब वह बेचारे बैलोंका मुँह बँधवा दिया करता और रसोई घरमें रसोई बनानेवाली स्त्रियोंके स्तन बँधवाकर उनके बच्चोंको दूध न पीने देता था । सच है, लोभी मनुष्य कौन पाप नहीं करते ।

एक दिन अशोकके मुँहमें कोई ऐसी बीमारी हो गई, जिससे उसका सारा मुँह आगया । सिरमें भी हजारों फोड़े-फुंसी हो गये । उससे उसे बड़ा कष्ट होने लगा । उसने उस रोगकी औषधि बनवाई । वह उसे पीनेको ही था कि इतनेमें अपने पाँवोंसे पृथिवीको पवित्र करते हुए एक मुनि आहारके लिए इसी ओर आगये । भाग्यसे ये मुनि भी राजाकी तरह इसी महारोगसे पीड़ित हो रहे थे । इन तपस्वी मुनिकी यह कष्टमय दशा देखकर राजाने सोचा

कि जिस रोगसे मैं कष्ट पा रहा हूँ, जान पड़ता है उसी रोगसे ये तपोनिधि भी दुखी हैं। यह सोचकर या दयासे प्रेरित होकर राजा जिस दवाको आप पीनेवाला था, उस उसने मुनिराजको पिला दिया, और साथ ही उन्हें पथ्य भी दिया। दवाने अपना लाग बहुत अच्छा किया। बारह वर्षका यह मुनिका महारोग थोड़े ही समयमें मिट गया—मुनि भले-चंगे हो गये।

अशोक जब मरा तब इस पुण्यके फलसे वह अमलकण्ठ पुरके राजा निष्ठसेनकी रानी नन्दमतीके धन्य नामका सुन्दर गुणवान् पुत्र हुआ। धन्यको एक दिन श्रीनेमिनाथ भगवान्के पास धर्मका उपदेश सुननेका मौका मिला। वह भगवान्के द्वारा अपनी उमर बहुत थोड़ी जानकर उसी समय सब माया-ममता छोड़ मुनि बन गया। एक दिन वह शहरमें भिक्षाके लिए गया, पर पूर्वजन्मके पापकर्मके उदयसे उसे भिक्षा न मिली। वह वैसे ही तपोवनमें लौट आया। यहाँसे विहार कर वह तपस्या करता तथा धर्मोपदेश देता हुआ सौरीपुर आकर यमुनाके किनारे आतापन योग द्वारा ध्यान करने लगा। इसी ओर यहाँका राजा शिकारके लिए अया हुआ था, पर आज उसे शिकार न मिला। वह वापिस लौटकर अपने महलकी ओर आ रहा था। इसी समय इसकी नजर मुनि पर जा पड़ी। इसने समझ लिया कि बस, शिकार न मिलनेका कारण इस

नंगेका दीख पड़ना है—इसीने यह अशकुन किया है। यह धारणा कर इस पापी राजाने मुनिको बाणोंसे खूब वेध दिया। मुनिने तब शुक्लध्यानकी शक्तिसे कर्मोंका नाशकर सिद्ध गति प्राप्त की। सच है, महापुरुषोंकी धीरता बड़ी ही चकित करनेवाली होती है। जिससे महान् कष्ट समयमें भी मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है।

वे धन्यमुनि रोग, शोक, चिन्ता—आदि दोषोंको नष्टकर मुझे शाश्वत—कभी नाश न होनेवाला सुख दें, जो भव्यजनोंका भय मिटानेवाले हैं, संसार समुद्रसे पार करनेवाले हैं, देवों द्वारा पूजा किये जाते हैं, मोक्ष-महिलाके स्वामी हैं, ज्ञानके समुद्र हैं और चारित्र-चूड़ामणि हैं।

७२—पाँचसौ मुनियोंकी कथा।

जिनेन्द्र भगवानके चरणोंको नमस्कार कर पाँचसौ मुनियों पर एक साथ बीतनेवाली घटनाका हाल लिखा जाता है, जो कि कल्याणका कारण है।

भरतके दक्षिणकी ओर बसे हुए कुंभकारकट नामके पुराने शहरके राजाका नाम दण्डक और उनकी रानीका नाम सुव्रता था। सुव्रता रूपवती और विदुषी थी। राजमंत्रीका

नाम बालक था। यह पापी जैनधर्मसे बड़ा द्वेष रखा करता था। एक दिन इस शहरमें पाँचसौ मुनियोंका संघ आया। बालक मंत्रीको अपनी पण्डिताई पर बड़ा अभिमान था। सो वह शास्त्रार्थ करनेको मुनिसंघके आचार्यके पास जा रहा था। रास्तेमें इसे एक खण्डक नामके मुनि मिल गये। सो उन्हींसे आप झगड़ा करनेको बैठ गया और लगा अट-सट बकने। तब मुनिने इसकी युक्तियोंका अच्छी तरह खण्डन कर स्याद्वाद-सिद्धान्तका इस शैलीसे प्रतिपादन किया कि बालक मंत्रीका मुँह बन्द हो गया–उनके सामने फिर उससे कुछ बोलते न बना। झख मारकर तब उसे लज्जित हो घर लौट आना पड़ा। इस अपमानकी आग उसके हृदयमें खूब धधकी। उसने तब इसका बदला चुकानेकी ठानी। इसके लिए उसने यह युक्ति की कि एक भाँडको छलसे मुनि बनाकर सुव्रता रानीके महलमें भेजा। यह भाँड रानीके पास जाकर उससे भला-बुरा हँसी-मजाक करने लगा। इधर उसने यह सब लीला राजाको भी बतला दी और कहा–महाराज, आप इन लोगोंकी इतनी भक्ति करते हैं, सदा इनकी सेवामें लगे रहते हैं, तो क्या यह सब इसी दिनके लिए है? जरा आँखें खोलकर देखिए कि सामने क्या हो रहा है? उस भाँडकी लीला देखकर मूर्खराज दण्डक-के क्रोधका कुछ पार न रहा। क्रोधसे अन्धे होकर उसने उसी समय हुक्म दिया कि जितने मुनि इस समय

मेरे शहरमें मौजूद हों, उन सबको घानीमें पेलदो । पापी मंत्री तो इसी पर मुँह धोये बैठा था। सो राजाज्ञा होते ही उसने एक पलभरका भी विलम्ब करना उचित न समझ मुनियोंके पेले जानेकी सब व्यवस्था फौरन जुटादी । देखते देखते वे सब मुनि घानीमें पेल दिये गये । बदला लेकर बालमंत्रीकी आत्मा सन्तुष्ट हुई । सच है, जो पापी होते हैं, जिन्हें दुर्गतियोंमें दुःख भोगना है, वे मिथ्यात्वी लोग भयंकरसे भयंकर पाप करनेमें जरा भी नहीं हिचकते । चाहे फिर उस पापके फलसे उन्हें जन्म-जन्ममें भी क्यों न कष्ट सहना पड़े। जो हो, मुनिसंघ पर इस समय बड़ा ही घोर और दुःसह उपद्रव हुआ। पर वे साहसी धन्य हैं, जिन्होंने जबानसे चूँतक न निकाल कर सब कुछ बड़े साहसके साथ सह लिया । जीवनकी इस अन्तिम कसौटी पर वे खूब तेजस्वी उतरे । उन मुनियोंने शुक्लध्यानरूपी अपनी महान् आत्मशक्तिसे कर्मोंका, जो कि आत्माके पक्के दुश्मन हैं, नाशकर मोक्ष लाभ किया ।

दिपते हुए सुमेरुके समान थिर, कर्मरूपी मेलको, जो कि आत्माको मलिन करनेवाला है, नाश करनेवाले और देवों, विद्याधरों, चक्रवर्तियों, राजों और महाराजों द्वारा पूजा किये गये जिन मुनिराजोंने संसारका नाश कर मोक्ष लाभ किया वे मेरा भी संसार-भ्रमण मिटावें ।

७३-चाणक्यकी कथा।

देवों द्वारा पूजा किये जानेवाले जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर चाणक्यकी कथा लिखी जाती है।

पाटलिपुत्र या पटनाके राजा नन्दके तीन मंत्री थे। कावी, सुबन्धु और शकटाल ये उनके नाम थे। यहीं एक कपिल नामका पुरोहित रहता था। कपिलकी स्त्रीका नाम देविला था। चाणक्य इन्हींका पुत्र था। यह बड़ा बुद्धिमान् और वेदोंका ज्ञाता था।

एक बार आस-पासके छोटे-मोटे राजोंने मिलकर पटने पर चढ़ाई करदी। कावी मंत्रीने इस चढ़ाईका हाल नन्दसे कहा। नन्दने घबरा कर मंत्रीसे कह दिया कि जाओ जैसे बने उन अभिमानियोंको समझा-बुझाकर वापिस लौटादो। धन देना पड़े तो वह भी दो। राजाज्ञा पा मंत्रीने उन्हें धन वगैरह देकर लौटा दिया। सच है, बिना मंत्रीके राज्य स्थिर हो ही नहीं सकता।

एक दिन नन्दको स्वयं कुछ धनकी जरूरत पड़ी। उसने खजांचीसे खजानेमें कितना धन मौजूद है, इसके लिए पूछा। खजांचीने कहा- महाराज, धन तो सब मंत्री महाशयने दुश्मनोंको दे डाला। खजानेमें तो अब नाम

मात्रके लिए थोड़ा-बहुत धन बचा होगा। यद्यपि दुश्मनोंको धन स्वयं राजाने दिलवाया था और इसलिए गल्ती उसीकी थी, पर उस समय अपनी यह भूल उसे न दीख पड़ी और दूसरेके उस्कानेमें आकर उसने बेचारे निर्दोष मंत्रीको और साथमें उसके सारे कुटुम्बको एक अन्धे कुएमें डलवा दिया। मंत्री तथा उसका कुटुम्ब वहाँ बड़ा कष्ट पाने लगा। इनके खाने-पीनेके लिए बहुत ही थोड़ा भोजन और थोड़ासा ही पानी दिया जाता था। वह इतना थोड़ा होता था कि एक मनुष्य भी उससे अच्छी तरह पेट न भर सकता था। सच है, राजा किसीका मित्र नहीं होता। राजाके इस अन्यायने कावीके मनमें प्रतिहिंसाकी आग धधकादी। इस आगने बड़ा भयंकर रूप धारण किया। कावीने तब अपने कुटुम्बके लोगोंसे कहा—जो भोजन इस समय हमें मिलता है उसे यदि हम इसी तरह थोड़ा थोड़ा सब मिलकर खाया करेंगे तब तो हम धीरे धीरे सब ही मर मिटेंगे और ऐसी दशामें कोई राजासे उसके इस अन्यायका बदला लेनेवाला न रहेगा। पर मुझे यह सह्य नहीं। इसलिए मैं चाहता हूँ कि मेरा कोई कुटुम्बका मनुष्य राजासे बदला ले। तब ही मुझे शान्ति मिलेगी। इसलिए इस भोजनको वही मनुष्य अपनेमेंसे खाये जो बदला लेनेकी हिम्मत रखता हो। तब उसके कुटुम्बियोंने कहा—इसका बदला लेनेमें आप ही समर्थ देख पड़ते हैं। इसलिए हम खुशीके साथ कहते हैं कि

इस भारको आप ही अपने सिर पर लें। उस दिनसे उसका सारा कुटुम्ब भूखा रहने लगा और धीरे धीरे सबका सब मरमिटा। इधर कावी अपने रहने योग्य एक छोटासा गढ़ा उस कुएमें बनाकर दिन काटने लगा। ऐसे रहते उसे कोइ तीन वर्ष बीत गये।

जब यह हाल आस-पासके राजोंके पास पहुँचा तब उन्होंने इस समय राज्यको अव्यवस्थित देख फिर चढ़ाई करदी। अब तो नन्दके कुछ होश ढीले पड़े–अकल ठिकाने आई। अब उसे न सूझ पड़ा कि वह क्या करे? तब उसे अपने मंत्री कावीकी याद आई। उसने नौकरोंको आज्ञा दे कुएसे मंत्रीको निकलवाया और पीछा मंत्रीकी जगह नियत किया। मंत्रीने भी इस समय तो उन राजोंसे सुलह कर नन्दकी रक्षा करली। पर अब उसे अपना बैर निकालनेकी चिन्ता हुई। वह किसी ऐसे मनुष्यकी खोज करने लगा, जिससे उसे सहायता मिल सके। एक दिन कावी किसी वनमें हवा-खोरीके लिए गया हुआ था। इसने वहाँ एक मनुष्यको देखा कि जो काँटोंके समान चुभनेवाली दूवाको जड़-मूलसे उखाड़ उखाड़कर फैंक रहा था। उसे एक निकम्मा काम करते देखकर कावीने चकित होकर पूछा—ब्राह्मणदेव, इस खोदनेसे तुम्हारा क्या मतलब है? क्यों बे-फायदा इतनी तकलीफ उठा रहे हो? इस मनुष्यका नाम चाणक्य था। इसका

जिकर ऊपर आ चुका है। चाणक्यने तब कहा—वाह महाशय, इसे आप बे-फायदा बतलाते हैं! आप जानते हैं कि इसका क्या अपराध है? सुनिए। इसने मेरा पाँव छेद डाला और मुझे महा कष्ट दिया, तब मैं क्यों इसे छोड़ने चला? मैं तो इसका जड़मूलसे नाशकर ही उठूँगा। यही मेरा संकल्प है। तब कावीने उसके हृदयकी थाह लेनेके लिए कि इसकी प्रतिहिंसाकी आग कहाँ जाकर ठंडी पड़ती है, कहा—तो महाशय, अब इस बेचारी पर क्षमा कीजिए। बस, अब बहुत हो चुका। उत्तरमें चाणक्यने कहा—नहीं, तबतक इसके खोदनेसे ही क्या लाभ जबतक कि इसकी जड़ें बाकी रह जायँ। उस शत्रुके मारनेसे क्या लाभ जब कि उसका सिर न काट लिया जाये? चाणक्यकी यह ओजस्विता देखकर कावीको बहुत सन्तोष हुआ। उसे निश्चय हो गया कि इसके द्वारा नन्द कुलका जड़-मूलसे नाश हो सकेगा। इससे अपनेको बहुत सहायता मिलेगी। अब सूर्य और राहूका योग मिला देना अपना काम है। किसी तरह नन्दके सम्बन्धमें इसका मन-मुटाव करा देना ही अपने कार्यका श्रीगणेश हो जायगा। कावी मंत्री इस तरहका विचार कर ही रहा था कि प्यासेको जलकी आशा होनेकी तरह एक योग मिल ही गया। इसी समय चाणक्यकी स्त्री यशस्वतीने आकर चाणक्यसे कहा—सुनती हूँ, राजा नन्द ब्राह्मणोंको गौ-दान किया करते हैं। तब आप भी जाकर

उनसे गौ लाइए न? चाणक्यने कहा—अच्छी बात है, मैं अपने महाराजके पास जाकर जरूर गौ लाऊँगा। यशस्वतीके मुँहसे यह सुनकर, कि नन्द गौओंका दान किया करता है, कावी मंत्री खुश होता हुआ राजदरबारमें गया और राजासे बोला–महाराज, क्या आज आप गौएँ दान करेंगे? ब्राह्मणोंको इकट्ठा करनेकी योजनाकी जाय? महाराज, आपको तो यह पुण्यकार्य करना ही चाहिए। धनका ऐसी जगह सदुपयोग होता है। मंत्रीने अपना चक्र चलाया और वह राजा पर चल भी गया। सच है, जिनके मनमें कुछ और होता है, जो बचनोंसे कुछ और बोलते हैं तथा शरीर जिनका मायासे सदा लिपटा रहता है, उन दुष्टोंकी दुष्टताका पता किसीको नहीं लग पाता। कावीकी सत्सम्पति सुनकर नन्दने कहा–अच्छा, ब्राह्मणोंको आप बुलवाइए, मैं उन्हें गौएँ दान करूँगा। मंत्री जैसा चाहता था, वही हो गया। वह झटपट जाकर चाणक्यको ले आया और उसे सबसे आगे रखे आसन पर बैठा दिया। लोभी चाणक्यने तब अपने आस-पास रखे हुए बहुतसे आसनोंको घर लेजानेकी इच्छासे इकट्ठा कर अपने पास रख लिया। उसे इस प्रकार लोभी देख कावीने कपटसे कहा–पुरोहित महाराज, राजा साहब कहते हैं–और बहुतसे ब्राह्मण विद्वान् आये हैं, आप उनके लिए आसन दीजिए। चाणक्यने तब एक आसन निकाल कर दे दिया। इसी तरह धीरे

धीरे मंत्रीने उससे सब आसन रखवा कर अन्तमें कहा— महाराज, क्षमा कीजिए। मेरा कोई अपराध नहीं है। मैं तो पराया नौकर हूँ। इसलिए जैसा मालिक कहते हैं उनका हुक्म बजाता हूँ। पर जान पड़ता है कि राजा बड़ा अविचारी है। जो आप सरीखे महा ब्राह्मणका आपमान करना चाहता है। महाराज, राजाका कहना है कि आप जिस अग्रासन पर बैठे हैं उसे छोड़कर चले जाईए। यह आसन दूसरे विद्वानके लिए पहलेहीसे दिया जा चुका है। यह कहकर ही कावीने गरदन पकड़ चाणक्यको निकाल बाहर कर दिया। चाणक्य एक तो वैसे ही महाक्रोधी और अब उसका ऐसा अपमान किया गया और वह भी भरी राजसभामें! तब तो अब चाणक्यके क्रोधका पुछना ही क्या? वह नन्दवंशको जड़मूलसे उखाड़ फैंकनेका दृढ़ संकल्प कर जाता जाता बोला कि जिसे नन्दका राज्य चाहना हो, वह मेरे पीछे पीछे चला आवे। यह कहकर वह चलता बना। चाणक्यकी इस प्रतिज्ञाके साथ ही कोई एक मनुष्य उसके पीछे हो गया। चाणक्य उसे लेकर उन आस-पासके राजोंसे मिल गया, और फिर कोई मौका देख एक घातक मनुष्यको साथ ले वह पटना आया और नन्दको मरवा कर आप उस राजका मालिक बन बैठा। सच है, मंत्रीके क्रोधसे कितने राजोंका नाम इस पृथिवी परसे न उठ गया होगा!

इसके बाद चाणक्यने बहुत दिनोंतक राज्य किया। एक दिन उसे श्रीमहीधर मुनि द्वारा जैनधर्मका उपदेश सुननेका

मौका मिला। उस उपदेशका उसके चित्त पर खूब असर पड़ा। वह उसी समय सब राज-काज छोड़ कर मुनि बन गया। चाणक्य बुद्धिमान् और बड़ा तेजस्वी था। इसलिए थोड़े ही दिनों बाद उसे आचार्य पद मिल गया। वहाँसे कोई पाँचसौ शिष्योंको साथ लिए उसने विहार किया। रास्तेमें पड़नेवाले देशों, नगरों और गाँवोंमें धर्मोपदेश करता और अनेक भव्य-जनोंको हितमार्गमें लगाता वह दक्षिणकी ओर बसे हुए वनवास देशके क्रौंचपुरमें आया। इस पुरके पश्चिम किनारे कोई अच्छी जगह देख इसने संघको ठहरा दिया। चाणक्यको यहाँ यह मालूम हो गया कि उसकी उमर बहुत थोड़ी रह गई है। इसलिए उसने वहीं प्रायोपगमन संन्यास ले लिया।

नन्दका दूसरा मंत्री सुबन्धु था। चाणक्यने जब नन्दको मरवा डाला तब उसके क्रोधका पार नहीं रहा। प्रतिहिंसाकी आग उसके हृदयमें दिनरात जलने लगी। पर उस समय उसके पास कोई साधन बदला लेनेका न था। इसलिए वह लाचार चुप रहा। नन्दकी मृत्युके बाद वह इसी क्रौंचपुरमें आकर यहाँके राजा सुमित्रका मंत्री हो गया। राजाने जब मुनिसंघके आनेका समाचार सुना तो वह उसकी वन्दना-पूजाके लिए आया। बड़ी भक्तिसे उसने सब मुनियोंकी पूजाकर उनसे धर्मोपदेश सुना और बाद उनकी स्तुति कर वह अपने महल लौट आया।

मिथ्यात्वी सुबन्धुको चाणक्यसे बदला लेनेका अब अच्छा मौका मिल गया। उसने उस मुनिसंघके चारों ओर खूब घास इकट्ठी करवा कर उसमें आग लगवा दी। मुनि संघ पर हृदयको हिला देनेवाला बड़ा ही भयंकर दुःसह उपसर्ग हुआ सही, पर उसने उसे बड़ी सहन-शीलताके साथ सह लिया और अन्तमें अपनी शुक्लध्यानरूपी आत्मशक्तिसे कर्मोंका नाश कर सिद्धगति लाभ की। जहाँ राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, दुःख चिन्ता—आदि दोष नहीं है और सारा संसार जिसे सबसे श्रेष्ठ समझता है।

चाणक्य आदि निर्मल चारित्रके धारक ये सब मुनि अब सिद्धगतिमें ही सदा रहेंगे। ज्ञानके समुद्र ये मुनिराज मुझे भी सिद्धगतिका सुख दें।

७४–वृषभसेनकी कथा।

जिनेन्द्र भगवान्, जिनवानी और ज्ञानके समुद्र साधुओंको नमस्कार कर वृषभसेनकी उत्तम कथा लिखी जाती है।

दक्षिण दिशाकी ओर बसे हुए कुण्डल नगरके राजा वैश्रवण बड़े धर्मात्मा और सम्यग्दृष्टि थे। और रिष्टामात्य नामका इनका मंत्री इनसे बिलकुल

उल्टा–मिथ्यात्वी और जैनधर्मका बड़ा द्वेषी था। सो ठीक ही है, चन्दनके वृक्षोंके आस-पास सर्प रहा ही करते हैं।

एक दिन श्रीवृषभसेन मुनि अपने संघको साथ लिये कुण्डल नगरकी ओर आये। वैश्रवण उनके आनेके समाचार सुन बड़ी विभूतिके साथ भव्यजनोंको संग लिये उनकी वन्दनाको गया। भक्तिसे उसने उनकी प्रदक्षिणा की, स्तुति की, वन्दना की और पवित्र द्रव्योंसे पूजा की तथा उनसे जैनधर्मका उपदेश सुना। उपदेश सुनकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ। सच है, इस सर्वोच्च और सब सुखोंके देनेवाले जैन-धर्मका उपदेश सुनकर कौन सद्व्रतिका पात्र या सुखी न होगा।

राजमंत्री भी मुनिसंघके पास आया। पर वह इसलिए नहीं कि वह उनकी पूजा-स्तुति करे; किन्तु उनसे वाद–शास्त्रार्थ कर उनका मानभंग करने–लोगोंकी श्रद्धा उन परसे उठा देने। पर यह उसकी भूल थी। कारण–जो दूसरोंके लिए कुआ खोदते हैं उसमें पहले उन्हें ही गिरना पड़ता है। यही हुआ भी। मंत्रीने मुनियोंका अपमान करनेकी गर्जसे उनसे शास्त्रार्थ किया, पर अपमान उसीका हुआ। मुनियोंके साथ उसे हार जाना पड़ा। इस अपमानकी उसके हृदय पर गहरी चोट लगी। इसका बदला चुकाना निश्चित कर वह शामको छुपा हुआ मुनिसंघके पास आया और जिस स्थानमें वह ठहरा था उसमें उस पापीने आग लगादी। बड़े दुःखकी बात है कि दुर्जनोंका स्वभाव एक विलक्षण ही तरहका होता

है। वे स्वयं तो पहले दूसरोंके साथ छेड़-छाड़ करते हैं और जब उन्हें अपने कियेका फल मिलता है तब वे यह समझकर, कि मेरा इसने बुरा किया, दूसरे निर्दोष सत्पुरुषों पर क्रोध करते हैं और फिर उनसे बदला लेनेके लिए उन्हें नाना प्रकारके कष्ट देते हैं।

जो हो, मंत्रीने अपनी दुष्टतामें कोई कसर न की। मुनिसंघ पर उसने बड़ा ही भयंकर उपसर्ग किया। पर उन तत्व ज्ञानी—वस्तु-स्थितिको जाननेवाले मुनियोंने इस कष्टकी कुछ परवा न कर बड़ी सहन-शीलताके साथ सब कुछ सह लिया और अन्तमें अपने अपने भावोंकी पवित्रताके अनुसार उनमेंसे कितने ही मोक्षमें गये और कितने ही स्वर्गमें।

दुष्ट पुरुष सत्पुरुषोंको कितना ही कष्ट क्यों न पहुँचावें उससे खराबी उन्हीं की है—उन्हें ही दुर्गतिमें दुःख भोगना पड़ेंगे। और सत्पुरुष तो ऐसे कष्ट समयमें भी अपनी प्रतिज्ञाओं पर दृढ़ रहकर—अपना धर्म अर्थात् कर्तव्य पालन कर सर्वोच्च सुख लाभ करेंगे। जैसा कि उक्त मुनिराजोंने किया।

वे मुनिराज आप लोगोंको भी सुख दें, जिन्होंने ध्यानरूपी पर्वतका आश्रय ले बड़ा दुःसह उपसर्ग जीता, अपने कर्तव्यसे सर्व श्रेष्ठ कहलानेका सम्मान लाभ किया, और अन्तमें अपने उच्च भावोंसे मोक्ष सुख प्राप्त कर देवों, विद्याधरों चक्र-वर्त्तियों आदि द्वारा पूजाको प्राप्त हुए और संसारमें सबसे पवित्र गिने जाने लगे।

७५-शालिसिक्थ मच्छके भावोंकी कथा।

केवलज्ञान रूपी नेत्रके धारक और स्वयंभू श्री-आदिनाथ भगवानको नमस्कार कर सत्पुरुषोंको इस बातका ज्ञान हो कि केवल मनकी भावनासे ही—मनमें विचार करनेसे ही कितना दोष या कर्मबन्ध होता है, इसकी एक कथा लिखी जाती है।

सबके अन्तके स्वयंभूरमण समुद्रमें एक बड़ा भारी दीर्घ-काय मच्छ है। वह लम्बाईमें एक हजार योजन, चौड़ाईमें पाँचसौ योजन और ऊँचाईमें ढाईसौ योजनका है। (एक योजन चार या दो हजार कोसका होता है) यहीं एक और शालिसिक्थ नामका मच्छ इस बड़े मच्छके कानोंके आस-पास रहता है। पर यह बहुत ही छोटा है और इस बड़े मच्छके कानोंका मेल खाया करता है। जब यह बड़ा मच्छ सैकडों छोटे-मोटे जल-जीवोंको खाकर और मुँह फाड़े छह मासकी गहरी नींदके खुर्राटेमें मग्न हो जाता है उस समय कोई एक-एक दो-दो योजनके लम्बे-चौड़े कछुए, मछलियाँ, घड़ियाल, मगर आदि जलजन्तु बड़े निर्भीक होकर इसके विकराल डाढ़ोंवाले मुँहमें घुसते और बाहर निकलते रहते हैं। तब यह छोटा सिक्थ-मच्छ रोज रोज सोचा करता है कि यह बड़ा मच्छ कितना मूर्ख है जो

अपने मुखमें आसानीसे आये हुए जीवोंको व्यर्थ ही जाने देता है ! यदि कहीं मुझे यह सामर्थ्य प्राप्त हुई होती तो मैं कभी एक भी जीवकों न जाने देता । बड़े दुःखकी बात है कि पापी लोग अपने आप ही ऐसे बुरे भावों द्वारा महान पापका बन्धकर दुर्गतियोंमें जाते हैं और वहाँ अनेक कष्ट सहते हैं । सिक्थ-मच्छकी भी यही दशा हुई । वह इस प्रकार बुरे भावोंसे तीव्र कर्मोंका बन्धकर सातवें नरक गया । क्योंकि मनके भाव ही तो पुण्य या पापके कारण होते हैं । इसलिए सत्पुरुषोंको जैनशास्त्रोंके अभ्यास या पढ़ने-पढ़ानेसे मनको सदा पवित्र बनाये रखना चाहिए, जिससे उसमें बुरे विचारोंका प्रवेश ही न हो पावे । और शास्त्रोंके अभ्यासके बिना अच्छे बुरेका ज्ञान नहीं हो पाता, इसलिए शास्त्राभ्यास पवित्रताका प्रधान कारण है ।

यही जिनवानी मिथ्यात्वरूपी अँधेरेको नष्ट करनेके लिए दीया है, संसारके दुःखोंको जड़ मूलसे उखाड़ फैंकनेवाली है, स्वर्ग-मोक्षके सुखकी कारण है, और देव, विद्याधर आदि सभी महापुरुषोंके आदरकी पात्र है—सभी जिनवानीकी बड़ी भक्तिसे उपासना करते हैं । आप लोग भी इस पवित्र जिनवानीका शान्ति और सुखके लिए सदा अभ्यास, मनन-चिंतन करें ।

७६–सुभौम चक्रवर्त्तीकी कथा।

चारों प्रकारके देवों द्वारा जिनके चरण पूजे जाते हैं उन जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार कर आठवें चक्रवर्ती सुभौमकी कथा लिखी जाती है।

सुभौम ईर्ष्यावान शहरके राजा कार्त्तवीर्यकी रानी रेवतीके पुत्र थे। चक्रवर्त्तीका एक जयसेन नामका रसोइया था। एक दिन चक्रवर्ती जब भोजन करनेको बैठे तब रसोइ-येने उन्हें गरम गरम खीर परोसदी। उसके खानेसे चक्रवर्तीका मुँह जल गया। इससे उन्हें रसोइए पर बड़ा गुस्सा आया। गुस्सेसे उन्होंने खीर रखे गरम ही बरतनको उसके सिर-पर दे मारा। उससे उसका सारा सिर जल गया। इसकी घोर वेदनासे मरकर वह लवणसमुद्रमें व्यन्तर देव हुआ। कु-अवधिज्ञानसे अपने पूर्वभवकी बात जानकर चक्रवर्ती पर उसके गुस्सेका पार न रहा। प्रतिहिंसासे उसका जी बे-चैन हो उठा। तब वह एक तापसी बनकर अच्छे अच्छे सुन्दर फलोंको अपने हाथमें लिये चक्रवर्तीके पास पहुँचा। फलोंको उसने चक्रवर्तीकी भेंट किया। चक्रवर्त्ती उन फलोंको खाकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उस तापससे कहा—महाराज, ये फल तो बड़े ही मीठे हैं। आप इन्हें कहाँसे लाये? और ये मिलें तो कहाँ मिलेंगे? तब उस व्यन्तरने धोखा देकर चक्रवर्तीसे

कहा—समुद्रके बीचमें एक छोटासा टापू है। वहीं मेरा घर है। आप मुझ गरीब पर कृपा कर मेरे घरको पवित्र करें तो मैं आपको बहुतसे ऐसे ऐसे उत्तम और मीठे फल भेंट करूँगा। कारण वहाँ ऐसे फलोंके बहुत बगीचे हैं। चक्रवर्ती लोभमें फँसकर व्यन्तरके झाँसेमें आगये और उसके साथ चल दिये। जब व्यन्तर इन्हें साथ लिये बीच समुद्रमें पहुँचा तब अपने सच्चे स्वरूपमें आ उसने बड़े गुस्सेसे चक्रवर्तीको कहा—पापी, जानता है कि मैं तुझे यहाँ क्यों लाया हूँ? यदि न जानता हो तो सुन—मैं तेरा जयसेन नामका रसोइया था, तब तूने मुझे निर्दयताके साथ जलाकर मारडाला था। अब उसीका बदला लेनेको मैं तुझे यहाँ लाया हूँ। बतला अब कहाँ जायगा? जैसा किया उसका फल भोगनेको तैयार हो जा। तुझसे पापियोंकी ऐसी गति होनी ही चाहिए। पर सुन, अब भी एक उपाय है, जिससे तू बच सकता है। और वह यह कि यदि तू पानीमें पंच नमस्कार मंत्र लिखकर उसे अपने पाँवोंसे मिटादे तो तुझे मैं जीता छोड़ सकता हूँ। अपनी जान बचानेके लिए कौन किस कामको नहीं कर डालता? वह भला है या बुरा इसके विचार करनेकी तो उसे जरूरत ही नहीं रहती। उसे तब पड़ी रहती है अपनी जानकी। यही दशा चक्रवर्ती महाशयकी हुई। उन्होंने तब नहीं सोच पाया कि इस अनर्थसे मेरी क्या दुर्दशा होगी? उन्होंने उस व्यन्तरके कहे

अनुसार झटपट जलमें मंत्र लिखकर पाँवसे उसे मिटा डाला। उनका मंत्र मिटाना था कि व्यन्तरने उन्हें मारकर समुद्रमें फैंक दिया। इसका कारण यह हो सकता है कि मंत्रको पाँवसे न मिटानेके पहले व्यन्तरकी हिम्मत चक्रवर्तीको मारनेकी इसलिए न पड़ी होगी कि जगत्पूज्य जिनेन्द्र भगवान्के भक्तको वह कैसे मारे, या यह भी संभव था कि उस समय कोई जिनशासनका भक्त अन्य देव उसे इस अन्यायसे रोककर चक्रवर्त्तीकी रक्षा कर लेता और अब मंत्रको पाँवोंसे मिटा देनेसे चक्रवर्त्ती जिनधर्मका द्वेषी समझा गया और इसीलिए व्यन्तरने उसे मारडाला। मरकर इस पापके फलसे चक्रवर्त्ती सातवें नरक गया। उस मूर्खताको, उस लंपटताको धिक्कार है जिससे चक्रवर्त्ती –सारी पृथिवीका सम्राट् दुर्गतिमें गया। जिसका जिन भगवान्के धर्म पर विश्वास नहीं होता उसे चक्रवर्त्तीकी तरह कुगतिमें जाना पड़े तो इसमें आश्चर्य क्या? वे पुरुष धन्य हैं और वे ही सबके आदर-पात्र हैं, जिनके हृदयमें सुख देनेवाले जिन वचन रूप अमृतका सदा सोता बहता रहता है। इन्हीं वचनोंपर विश्वास करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन जीव मात्रका हित करनेवाला है, संसारका भय मिटानेवाला है, नाना प्रकारके सुखोंका देनेवाला है, और मोक्ष प्राप्तिका मुख्य कारण है। देव, विद्याधर आदि सभी बड़े बड़े पुरुष सम्यग्दर्शनकी या उसके धारण करने-

वालेकी पूजा करते हैं। यह गुणोंका खजाना है। सम्यग्दृ-ष्टिको कोई प्रकारकी भय-बाधा नहीं होती। वह बड़ी सुख-शान्तिसे रहता है। इसलिए जो सच्चे सुखकी आशा रखते हैं उन्हें आठ अंग सहित इस पवित्र सम्यग्दर्शनका विश्वासके साथ पालन करना चाहिए।

७७–शुभ राजाकी कथा।

संसारका हित करनेवाले जिनेन्द्र भगवानको प्रसन्नता पूर्वक नमस्कार कर शुभ नामके राजाकी कथा लिखी जाती है।

मिथिला नगरके राजा शुभकी रानी मनोरमाके देवरति नामका एक पुत्र था। देवरति गुणवान् और बुद्धिमान् था। कोई प्रकारका दोष या व्यसन उसे छू तक न गया था।

एक दिन देवगुरु नामके अवधिज्ञानी मुनिराज अपने संघको साथ लिये मिथिलामें आये। शुभ राजा तब बहुतसे भव्यजनोंके साथ मुनि-पूजाके लिए गया। मुनिसंघकी सेवा-पूजा कर उसने धर्मोपदेश सुना। अन्तमें उसने अपने भविष्यके सम्बधका मुनिराजसे प्रश्न किया–योगिराज, कृपाकर बतलाइए कि आगे मेरा जन्म कहाँ होगा? उत्तरमें मुनिने कहा– राजन्, सुनिए–पापकर्मोंके

उदयसे तुम्हें आगेके जन्ममें तुम्हारे ही पाखानेमें एक बड़े कीड़ेकी देह प्राप्त होगी, शहरमें घुसते समय तुम्हारे मुँहमें विष्टा प्रवेश करेगा, तुम्हारा छत्रभंग होगा और आजके सातवें दिन बिजली गिरनेसे तुम्हारी मौत होगी। सच है, जीवोंके पापके उदयसे सभी कुछ होता है। मुनिराजने ये सब बातें राजासे बड़े निडर होकर कहीं। और यह ठीक भी है कि योगियोंके मनमें किसी प्रकारका भय नहीं रहता।

मुनिका शुभके सम्बन्धका भविष्य-कथन सच होने-लगा। एक दिन बाहरसे लौट कर जब वे शहरमें घुसने लगे तब घोड़ेके पाँवोंकी ठोकरसे उड़े हुए थोड़ेसे विष्टाका अंश उनके मुँहमें आ गिरा और यहाँसे वे थोड़े ही आगे बढ़े होंगे कि एक जोरकी आँधीने उनके छत्रको तोड़ डाला। सच है, पापकर्मोंके उदयसे क्या नहीं होता। उन्होंने तब अपने पुत्र देवरतिको बुलाकर कहा–बेटा, मेरे कोई ऐसा पापकर्मका उदय आवेगा उससे मैं मरकर अपने पाखानेमें पाँच रंगका कीड़ा होऊँगा, सो तुम उस समय मुझे मार डालना। इसलिए कि फिर मैं कोई अच्छी गति प्राप्त कर सकूँ। उक्त घटनाको देखकर शुभको यद्यपि यह एक तरह निश्चयसा हो गया था कि मुनिराजकी कही बातें सच्ची हैं और वे अवश्य होंगी पर तब भी उनके मनमें कुछ कुछ सन्देह बना रहा और इसी कारण

बिजली गिरनेके भयसे डरकर उन्होंने एक लोहेकी बड़ी मजबूत सन्दूक मँगवाई और उसमें बैठकर गंगाके गहरे जलमें उसे रख आनेको नौकरोंको आज्ञा की। इसलिए कि जलमें बिजलीका असर नहीं होता। उन्हें आशा थी कि मैं इस उपायसे रक्षा पा जाऊँगा। पर उनकी यह बे-समझी थी। कारण प्रत्यक्ष-ज्ञानियोंकी कोई बात कभी झूठी नहीं होती। जो हो, सातवाँ दिन आया। आकाशमें बिजलियाँ चमकने लगीं। इसी समय भाग्यसे एक बड़े मच्छने राजाकी उस सन्दूकको एक ऐसा जोरका उथेला दिया कि सन्दूक जल बाहर दो हाथ ऊँचे तक उछल आई। सन्दूकका बाहर होना था कि इतनेमें बड़े जोरसे कड़क कर उस पर बिजली आ गिरी। खेद है कि उस बिजलीके गिरनेसे राजा अपने यत्नमें कामयाब न हुए और आखिर वे मौतके मुँहमें पड़ ही गये। मरकर वह मुनिराजके कहे अनुसार पाखानेमें कीड़ा हुए। पिताके कहे माफिक जब देवरतिने जाकर देखा तो सच-मुच एक पाँच रंगका कीड़ा उसे देख पड़ा और तब उसने उसे मारडालना चाहा। पर जैसे ही देवरतिने हाथका हथयार उसके मारनेको उठाया, वह कीड़ा उस विष्टाके ढेरमें घुस गया। देवरतिको इससे बड़ा ही अचंभा हुआ। उसने जिन जिनसे इस घटनाका हाल कहा, उन सबको संसारकी इस भयंकर लीलाको सुन बड़ा डर मालूम हुआ। उन्होंने तब संसारका बन्धन काट देनेके लिए जैनधर्मका

आश्रय लिया, कितनोंने सब माया-ममता तोड़ जिनदीक्षा ग्रहण की और कितनोंने अभ्यास बढ़ानेको पहले श्रावकोंके व्रत ही लिये।

देवरतिको इस घटनासे बड़ा अचंभा हो ही रहा था, सो एक दिन उसने ज्ञानी मुनिराजसे इसका कारण पूछा–भगवन्, क्यों तो मेरे पिताने मुझसे कहा कि मैं विष्टामें कीड़ा होऊँगा सो मुझे तू मार डालना और जबमें उस कीड़ेको मारने जाता हूँ तब वह भीतर ही भीतर घुसने लगता है। मुनिने इसके उत्तरमें देवरतिसे कहा–भाई, जीव गतिसुखी होता है। फिर चाहे वह कितनी ही बुरीसे बुरी जगह भी क्यों न पैदा हो। वह उसीमें अपनेको सुखी मानेगा–वहाँसे कभी मरना पसन्द न करेगा। यही कारण है कि जबतक तुम्हारे पिता जीते थे तबतक उन्हें मनुष्य जीवनसे प्रेम था–उन्होंने न मरनेके लिए यत्न भी किया, पर उन्हें सफलता न मिली। और ऐसी उच्च मनुष्य गतिसे वे मरकर कीड़ा होंगे, सो भी विष्टामें! इसका उन्हें बहुत खेद था और इसीलिए उन्होंने तुमसे उस अवस्थामें मार डालनेको कहा था। पर अब उन्हें वही जगह अत्यन्त प्यारी है–वे मरना पसन्द नहीं करते। इसलिए जब तुम उस कीड़ेको मारने जाते हो तब वह भीतर घुस जाता है। इसमें आश्चर्य और खेद करनेकी कोई बात नहीं। संसारकी स्थिति ही ऐसी है। मुनिराज द्वारा यह मार्मिक उपदेश सुनकर देवरतिको बड़ा वैराग्य हुआ। वह संसारको छोड़कर, इसलिए

कि उसमें सार कुछ नहीं है, मुनिपद स्वीकार कर आत्महित-साधक योगी हो गया।

जिनके वचन पापोंके नाश करनेवाले हैं, सर्वोत्तम हैं, और संसारका भ्रमण मिटानेवाले हैं, वे देवों द्वारा पूजे जाने-वाले जिन भगवान् मुझे तबतक अपने चरणोंकी सेवा-का अधिकार दें जबतक कि मैं कर्मोंका नाशकर मुक्ति प्राप्त न करलूँ।

७८–सुदृष्टि सुनारकी कथा।

देवों, विद्याधरों, चक्रवर्तियों, राजों और महाराजों द्वारा पूजा किये जानेवाले जिन भगवान्को नमस्कार कर सुदृष्टि नामक सुनारकी, जो रत्नोंके काममें बड़ा हुशियार था, कथा लिखी जाती है।

उज्जैनके राजा प्रजापाल बड़े प्रजाहितैषी, धर्मात्मा और जिन भगवान्के सच्चे भक्त थे। इनकी रानीका नाम सुप्रभा था। सुप्रभा बड़ी सुन्दरी और सती थी। सच है, संसारमें वही रूप और वही सौन्दर्य प्रशंसाके लायक होता है जो शीलसे भूषित हो।

यहाँ एक सुदृष्टि नामका सुनार रहता था। जवाहिरातके काममें यह बड़ा चतुर था तथा सदाचारी और सरल-स्वभावी था। इसकी स्त्रीका नाम विमला था। विमला दुराचारिणी थी। अपने घरमें रहनेवाले एक वक्र नामके विद्यार्थीसे, जिसे कि सुदृष्टि अपने खर्चसे लिखाता-पढ़ाता था, विमलाका अनुचित सम्बन्ध था। विमला अपने स्वामीसे बहुत ना-खुश थी। इसलिए उसने अपने प्रेमी वक्रको उस्का कर—उसे कुछ भली-बुरी सुझाकर सुदृष्टिका खून करवा दिया। खून उस समय किया गया जब कि सुदृष्टि विषय-सेवनमें मग्न था। सो यह मरकर विमलाके ही गर्भमें आया। विमलाने कुछ दिनों बाद पुत्र प्रसव किया। आचार्य कहते हैं कि संसारकी स्थिति बड़ी ही विचित्र है जो पलभरमें कर्मोंकी पराधीनतासे जीवोंका अजब परिवर्तन हो जाता है। वे नटकी तरह क्षणक्षणमें रूप बदला ही करते हैं।

चैतका महीना था। वसन्तकी शोभाने सब ओर अपना साम्राज्य स्थापित कर रक्खा था। वन उपवनोंकी शोभा मनको मोह लेती थी। इसी सुन्दर समयमें एक दिन महारानी सुप्रभा अपने खास बगीचेमें प्राणनाथके साथ हँसीविनोद कर रही थी। इस हँसी-विनोदमें उसका क्रीड़ा-विलास नामका सुन्दर और बहुमूल्य हार टूट पड़ा। उसके सब रत्न बिखर गये। राजाने उसे फिर वैसा ही बनवानेका बहुत यत्न किया, जगह जगहसे अच्छे सुनार बुलवाये, पर हार

पहलेसा किसीसे नहीं बना । सच है, बिना पुण्यके कोई उत्तम कला या ज्ञान नहीं होता । इसी टूटे हुए हारको विमलाके लड़केने अर्थात् पूर्वभवके उसके पति सुदृष्टिने देखा । देखते ही उसे जातिस्मरण—पूर्व जन्मका ज्ञान हो गया। उससे उसने उस हारको पहलेसा ही बना दिया । इसका कारण यह था कि इस हारको पहले भी सुदृष्टिहीने बनाया था और यह बात सच है कि इस जीवको पूर्व जन्मके संस्कार-पुण्यसे ही कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान दान-पूजा आदि सबी बातें प्राप्त हुआ करती हैं । प्रजापाल उसकी यह हुशियारी देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उससे पूछा भी कि भाई, यह हार जैसा सुदृष्टिका बनाया था वैसा ही तुमने कैसे बना दिया? तब वह विमलाका लड़का मुँह नीचा कर बोला—राजाधिराज, मैं अपनी कथा आपसे क्या कहूँ। आप यह समझें कि वास्तवमें मैं ही सुदृष्टि हूँ। इसके बाद उसने बीती हुई सब घटना राजासे कह सुनाई । वे संसारकी इस विचित्रताको सुनकर विषय-भोगोंसे बड़े विरक्त हुए । उन्होंने उसी समय सब माया-जाल छोड़कर आत्महितका पथ जिनदीक्षा ग्रहण करली।

इधर विमलाके लड़केको भी अत्यन्त वैराग्य हुआ। वह स्वर्ग-मोक्षके सुखोंकी देनेवाली जिनदीक्षा लेकर योगी बन गया। यहाँसे फिर यह विशुद्धात्मा धर्मोपदेशके लिए अनेक देशों और शहरोंमें घूम-फिर कर तपस्या करता हुआ

और अनेक भव्यजनोंको आत्महितके मार्ग पर लगाता हुआ सौरीपुरके उत्तर भागमें यमुनाके पवित्र किनारे पर आकर ठहरा। यहाँ शुक्लध्यान द्वारा कर्मोंका नाश कर इसने लोकालोकका ज्ञान करानेवाला केवलज्ञान प्राप्त किया और संसार द्वारा पूज्य होकर अन्तमें मुक्ति लाभ किया। वे विमला-सुत मुनि मुझे शान्ति दें।

वे जिन भगवान् आप भव्यजनोंको और मुझे मोक्षका सुख दें, जो संसार-सिन्धुमें डूबते हुए, असहाय–निराधार जीवोंको पार करनेवाले हैं, कर्मशत्रुओंका नाश करनेवाले हैं, संसारके सब पदार्थोंको देखनेवाले केवलज्ञानसे युक्त हैं–सर्वज्ञ हैं, स्वर्ग तथा मोक्षका सुख देनेवाले हैं और देवों, विद्याधरों, चक्रवर्तियों–आदि प्रायः सभी महा पुरुषोंसे पूजा किये जाते हैं।

७९--धर्मसिंह मुनिकी कथा।

सब प्रकारके देवों द्वारा जो पूजा-स्तुति किये जाते हैं और ज्ञानके समुद्र हैं, उन जिनेन्द्र भगवानको नमस्कार कर धर्मसिंह मुनिकी कथा लिखी जाती है।

दक्षिण देशके कौशलगिर नगरके राजा वीरसेनकी रानी वीरमतीके दो सन्तान थीं। एक पुत्र था और कन्या थी।

पुत्रका नाम चन्द्रभूति और कन्याका चन्द्रश्री था। चन्द्रश्री बड़ी सुन्दरी थी। उसकी सुन्दरता देखते ही बनती थी।

कौशल देश और कौशल ही शहरके राजा धर्मसिंहके साथ चन्द्रश्रीकी शादी हुई थी। दोनों दम्पति सुखसे रहते थे। नाना प्रकारकी भोगोपभोग वस्तुएँ सदा उनके लिए मौजूद रहती थीं। इतना होने पर भी राजाका धर्म पर पूर्ण विश्वास था—अगाध श्रद्धा थी। वे सदा दान, पूजा, व्रतादि धर्मकार्य करते ही रहते थे।

एक दिन धर्मसिंह तपस्वी दमधर मुनिके दर्शनार्थ गये। उनकी भक्तिसे पूजा-स्तुति कर उन्होंने उनसे धर्मका पवित्र उपदेश सुना, जो धर्म देवों द्वारा भी बड़ी भक्तिके साथ पूजा-माना जाता है। धर्मोपदेशका धर्मसिंहके चित्त पर बड़ा गहरा असर पड़ा। उससे वे संसार और विषय-भोगोंसे विरक्त हो गये। उनकी रानी चंद्रश्रीको उन्हें जवानीमें दीक्षा लेजाने-से बड़ा कष्ट हुआ। पर बेचारी लाचार थी। उसके दुःखकी बात जब उसके भाई चन्द्रभूतिको मालूम हुई तो उसे भी अत्यन्त दुःख हुआ। उससे अपनी बहिनकी यह हालत न देखी गई। उसने तब जबरदस्ती अपने बहनोई धर्मसिंहको उठा लाकर चन्द्रश्रीके पास ला रक्खा। धर्मसिंह फिर भी न ठहरे और जाकर उन्होंने पुनः दीक्षा लेली और महा तप तपने लगे।

एक दिन इसी तरह वे तपस्या कर रहे थे। तब उन्होंने चन्द्रभूतिको अपनी ओर आता हुआ देखा। उन्होंने समझ लिया कि यह फिर मेरी तपस्या बिगाड़ेगा। सो तपकी रक्षाके लिए पास ही पड़े हुए एक मृत हाथीके शरीरमें घुसकर उन्होंने समाधि लेली और अन्तमें शरीर छोड़कर वे स्वर्गमें गये। इसलिए भव्यजनोंको कष्टके समय भी अपने व्रतकी रक्षा करनी ही चाहिए कि जिससे स्वर्ग या मोक्षका सर्वोच्च सुख प्राप्त होता है।

निर्मल जैनधर्मके प्रेमी जिन श्रीधर्मसिंह मुनिने जिन भगवान्के उपदेश किये और स्वर्ग-मोक्षके देनेवाले तप मार्गका आश्रय ले उसके पुण्यसे स्वर्ग-सुख लाभ किया वे संसार प्रसिद्ध महात्मा और अपने गुणोंसे सबकी बुद्धि पर प्रकाश डालनेवाले मुझे भी मंगल–सुख दान करें।

८०–वृषभसेनकी कथा।

स्वर्ग और मोक्षका सुख देनेवाले तथा सारे संसारके द्वारा पूजे-माने जानेवाले श्री-जिन भगवान्को नमस्कार कर वृषभ-सेनकी कथा लिखी जाती है।

पाटलिपुत्र (पटना) में वृषभदत्त नामका एक सेठ रहता था। पूर्व पुण्यके प्रभावसे इसके पास धन सम्पत्ति खूब

थी । इसकी स्त्रीका नाम वृषभदत्ता था । इसके वृषभसेन नामका सर्वगुण-सम्पन्न एक पुत्र था । वृषभसेन बड़ा धर्मात्मा और सदा दान-पूजादिक पुण्यकर्मोंका करनेवाला था ।

वृषभसेनके मामा धनपतिकी स्त्री श्रीकान्ताके एक लड़की थी । इसका नाम धनश्री था । धनश्री सुन्दरी थी, चतुर थी और लिखी-पढ़ी थी । धनश्रीका व्याह वृषभसेनके साथ हुआ था । दोनों दम्पति सुखसे रहते थे । नाना प्रकारके विषय-भोगोंकी वस्तुएँ उनके लिए सदा हाजिर रहती थीं ।

एक दिन वृषभसेन दमधर मुनिराजके दर्शनोंके लिए गया । भक्ति सहित उनकी पूजा-वन्दना कर उसने उनसे धर्मका पवित्र उपदेश सुना । उपदेश उसे बहुत रुचा और उसका प्रभाव भी उस पर बहुत पड़ा । वह उसी समय संसार और भ्रमसे सुख जान पड़नेवाले विषय-भोगोंसे उदासीन हो मुनिराजके पास आत्महितकी साधक जिन-दीक्षा ले गया । उसे युवावस्थामें ही दीक्षा ले-जानेसे धन-श्रीको बड़ा दुःख हुआ । उसे दिनरात रोनेके सिवा कुछ न सूझता था । धनश्रीका यह दुःख उसके पिता धनपतिसे न सहा गया । वह तपोवनमें जाकर वृषभसेनको उठा लाया और जबरदस्ती उसकी दीक्षा वगैरह खण्डित कर दी—उसे गृहस्थ बना दिया । सच है, मोही पुरुष करने

और न करने योग्य कामोंका विचार न कर उन्मत्तकी तरह हर एक काम करने लग जाता है, जिससे कि पापकर्मोंका उसके तीव्र बंध होता है।

जैसे मनुष्यको कैदमें जबरदस्ती रहना पड़ता है उसी तरह वृषभसेनको भी कुछ समय तक और घरमें रहना पड़ा। इसके बाद वह फिर मुनि हो गया। इसका फिर मुनि हो जाना जब धनपतिको मालूम हुआ तो किसी बहानेसे घर पर लाकर अबकी बार उसे उसने लोहेकी साँकलसे बाँध दिया। मुनिने यह सोचकर, कि यह मुझे अबकी बार फिर व्रतरूपी पर्वतसे गिरा:देगा—मेरा व्रत भंग कर देगा, संन्यास ले लिया, और इसी अवस्थामें शरीर छोड़कर वह पुण्यके उदयसे स्वर्गमें देव हुआ। दुर्जनों द्वारा सत्पुरुषोंको कितने ही कष्ट क्यों न पहुँचाये जायँ पर वे कभी पापबन्धके कारण कामोंमें नहीं फँसते।

दुर्जन पुरुष चाहे कितनी ही तकलीफ क्यों न दें, पर पवित्र बुद्धिके धारी सज्जन महात्मा पुरुष तो जिन भगवान्के चरणोंकी सेवा-पूजासे होनेवाले पुण्यसे सुख ही प्राप्त करेंगे। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

———

८१–जयसेन राजाकी कथा ।

स्वर्गादि सुखोंके देनेवाले और मोक्षरूपी रमणीके स्वामी श्रीजिन भगवान्को नमस्कार कर जयसेन राजाकी सुन्दर कथा लिखी जाती है ।

सावस्तीके राजा जयसेनकी रानी वीरसेनाके एक पुत्र था । इसका नाम वीरसेन था । वीरसेन बुद्धिमान् और सच्चे हृदयका था। मायाचार–कपट उसे छूतक न गया था ।

यहाँ एक शिवगुप्त नामका बुद्ध भिक्षुक रहता था । यह मांसभक्षी और निर्दयी था । ईर्षा और द्वेष इसके रोम रोममें ठसा था–मानों वह इनका पुतला था । यह शिवगुप्त राजगुरु था । ऐसे मिथ्यात्वको धिक्कार है जिसके वश हो ऐसे मायावी और द्वेषी भी गुरु हो जाते हैं।

एक दिन यतिवृषभ मुनिराज अपने सारे संघको साथ लिये सावस्तीमें आये । राजा यद्यपि बुद्धधर्मका माननेवाला था, तथापि वह और और लोगोंको मुनिदर्शनके लिए जाते देख आप भी गया । उसने मुनिराज द्वारा धर्मका पवित्र उपदेश चित लगाकर सुना। उपदेश उसे बहुत पसन्द आया । उसने मुनिराजसे प्रार्थना कर श्रावकोंके व्रत लिये ।

जैनधर्म पर अब उसकी दिनों दिन श्रद्धा बढ़ती ही गई। उसने अपने सारे राज्यभरमें कोई ऐसा स्थान न रहने दिया जहाँ जिनमन्दिर न हो। प्रत्येक शहर, प्रत्येक गाँवमें इसने जिन-मन्दिर बनवा दिया। जिनधर्मके प्रचारके लिए राजाका यह प्रयत्न देख शिवगुप्त ईर्षा और द्वेषके मारे जलकर खाक हो गया। वह अब राजाको किसी प्रकार मार डालनेके प्रयत्न-में लगा। और एक दिन खास इसी कामके लिए वह पृथि-वी पुरी गया और वहाँके बुद्धधर्मके अनुयायी राजा सुम-तिको उसने जयसेनके जैनधर्म धारण करने और जगह जगह जिनमन्दिरोंके बनवाने आदिका सब हाल कह सुना-या। यह सुन सुमतिने जयसेनको एक पत्र लिखा कि-" तुमने बुद्धधर्म छोड़कर जो जैनधर्म ग्रहण किया, यह बहुत बुरा किया है। तुम्हें उचित है कि तुम पीछा बुद्धधर्म स्वी-कार करलो।" इसके उत्तरमें जयसेनने लिख भेजा कि-"मेरा विश्वास है-निश्चय है कि जैनधर्म ही संसारमें एक ऐसा सर्वोच्च धर्म है जो जीवमात्रका हित करनेवाला है। जिस धर्ममें जीवोंका मांस खाया जाता है या जिनमें धर्मके नाम पर हिंसा वगैरह महापाप बड़ी खुशीके साथ किये जाते हैं वे धर्म नहीं हो सकते। धर्मका अर्थ है-जो संसारके दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तम सुखमें रक्खे, सो यह बात सिवा जैनधर्मके और धर्मोंमें नहीं है। इसलिए इसे छोड़कर और सब अशुभ बन्धके कारण हैं।" सच है, जिसने जैनधर्मका

सच्चा स्वरूप जान लिया वह क्या फिर किसीसे डिगाया जा सकता है? नहीं। प्रचण्डसे प्रचण्ड हवा भी क्यों न चले पर क्या वह मेरुको हिला देगी? नहीं। जयसेनके इस प्रकार विश्वासको देख सुमतिको बड़ा गुस्सा आया। तब उसने दो आदमियोंको इसलिए सावस्तीमें भेजा कि वे जयसेनकी हत्या कर आवें। वे दोनों आकर कुछ समय तक सावस्तीमें ठहरे और जयसेनके मार डालनेकी खोजमें लगे रहे, पर उन्हें ऐसा मौका ही न मिल पाया जो वे जयसेनको मार सकें। तब लाचार हो वे वापिस पृथिवीपुरी आये और सब हाल उन्होंने राजासे कह सुनाया। इससे सुमतिका क्रोध और भी बढ़ गया। उसने तब अपने सब नौकरोंको इकट्ठा कर कहा—क्या कोई मेरे आदमियोंमें ऐसा भी हिम्मत बहादुर है जो सावस्ती जाकर किसी तरह जयसेनको मार आवे! उनमेंसे एक हिमार नामके दुष्टने कहा—हाँ महाराज, मैं इस कामको कर सकता हूँ। आप मुझे आज्ञा दें। इसके बाद ही वह राजाज्ञा पाकर सावस्ती आया और यतिवृषभ मुनिराजके पास मायाचारसे जिनदीक्षा लेकर मुनि हो गया।

एक दिन जयसेन मुनिराजके दर्शन करनेको आया और अपने नौकर-चाकरोंको मन्दिर बाहर ठहरा कर आप मन्दिरमें गया। मुनिको नमस्कार कर वह कुछ समयके लिए उनके पास बैठा और उनसे कुशल समाचार पूछकर उसने कुछ धर्म-सम्बन्धी बात-

चीत की। इसके बाद जब वह चलनेके पहले मुनि राजको ढोक देनेके लिए झुका कि इतनेमें वह दुष्ट हिमारक जयसेनको मार कर भाग गया। सच है बुद्ध लोग बड़े ही दुष्ट हुआ करते हैं। यह देख मुनि यतिवृषभको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा—कहीं सारे संघ पर विपत्ति न आये, इस लिए पासहीकी भींत पर उन्होंने यह लिख कर, कि "दर्शन या धर्मकी डाहके वश होकर ऐसा काम किया गया है," छुरीसे अपना पेट चीर लिया और स्थिरतासे संन्यास द्वारा मृत्यु प्राप्तकर वे स्वर्ग गये।

वीरसेनको जब अपने पिताकी मृत्युका हाल मालूम हुआ तो वह उसी समय दौड़ा हुआ मन्दिर आया। उसे इस प्रकार दिन-दहाड़े किसी साधारण आदमीकी नहीं, किन्तु खास राजा साहबकी हत्या हो जाने और हत्याकारीका कुछ पता न चलनेका बड़ा ही आश्चर्य हुआ। और जब उसने अपने पिताके पास मुनिको भी मरा पाया तब तो उसके आश्चर्यका कुछ ठिकाना ही न रहा। वह बड़े विचारमें पड़ गया। ये हत्याएँ क्यों हुई? और कैसे हुई? इसका कारण कुछ भी उसकी समझमें न आया। उसे यह भी सन्देह हुआ कि कहीं इन मुनिने तो यह काम न किया हो? पर दूसरे ही क्षणमें उसने सोचा कि ऐसा नहीं हो सकता। इनका और पिताजीका कोई बैर-विरोध नहीं, लेना देना नहीं, फिर वे क्यों ऐसा करने चले? और पिताजी तो इनके इतने बड़े भक्त

थे। और न केवल यही बात थी कि पिताजी ही इनके भक्त हों, ये साधुजी भी तो उनसे बड़ा प्रेम करते थे; घण्टोंतक उनके साथ इनकी धर्मचर्चा हुआ करती थी। फिर इस सन्देहको जगह नहीं रहती कि एक निस्पृह और शान्त योगी द्वारा यह अनर्थ घड़ा जा सके। तब हुआ क्या? बेचारा वीरसेन बड़ी कठिन समस्यामें फँसा। वह इस प्रकार चिन्तातुर हो कुछ सोच-विचार कर ही रहा था कि उसकी नजर सामनेकी भींत पर जा पड़ी। उस पर यह लिखा हुआ, कि "दर्शन या धर्मकी डाहके वश होकर ऐसा हुआ है," देखते ही उसकी समझमें उसी समय सब बातें बराबर आगईं। उसके मनका अब रहा-सहा सन्देह भी दूर हो गया। उसकी अब मुनिराज पर अत्यन्त ही श्रद्धा हो गई। उसने मुनिराजके धैर्य और सहनपनेकी बड़ी प्रशंसा की। जैनधर्मके विषयमें उसका पूरा पूरा विश्वास हो गया। जिनका दुष्ट स्वभाव है, जिनसे दूसरोंके धर्मका अभ्युदय–उन्नति नहीं सही जाती, ऐसे लोग जिनधर्म सरीखे पवित्र धर्म पर चाहे कितना ही दोष क्यों न लगावें, पर जिनधर्म तो बादलोंसे न ढके हुए सूरजकी तरह सदा ही निर्दोष रहता है।

जिस धर्मको चारों प्रकारके देव, विद्याधर, चक्रवर्ती, राजे-महाराजे आदि सभी महा पुरुष भक्तिसे पूजते-मानते हैं, जो संसारके दुःखोंका नाश कर स्वर्ग या मोक्षका देनेवाला है, सुखका स्थान है, संसारके जीव मात्रका हित

करनेवाला है और जिसका उपदेश सर्वज्ञ भगवान्‌ने किया है और इसीलिए सबसे अधिक प्रमाण या विश्वास करने योग्य है, वह धर्म–वह आत्माकी एक खास शक्ति मुझे प्राप्त होकर मोक्षका सुख दे।

८१–शकटाल मुनिकी कथा।

सुखके देनेवाले और संसारका हित करनेवाले जिनेन्द्र भगवान्‌के चरणोंको नमस्कार कर शकटाल मुनिकी कथा लिखी जाती है।

पाटलिपुत्र (पटना) के राजा नन्दके दो मंत्री थे। एक शकटाल और दूसरा वररुचि। शकटाल जैनी था, इस लिए सुतरां उसकी जैनधर्म पर अचल श्रद्धा या प्रीति थी। और वररुचि जैनी नहीं था, इसलिए सुतरां उसे जैन धर्मसे, जैनधर्मके पालनेवालोंसे द्वेष था—ईर्षा थी। और इसीलिए शकटाल और वररुचिकी कभी न बनती थी–एकसे एक अत्यन्त विरुद्ध थे।

एक दिन जैनधर्मके परम विद्वान् महापद्म मुनिराज अपने संघको साथ लिये पटनामें आये। शकटाल उनके दर्शन करनेको गया। बड़ी भक्तिके साथ उसने उनकी पूजा-वन्द-

ना की और उनके पास बैठकर मुनि और गृहस्थ धर्मका उनसे पवित्र उपदेश सुना। उपदेशका शकटालके धार्मिक अतएव कोमल हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ा। वह उसी समय संसारका सब माया-जाल तोड़कर दीक्षा ले मुनि हो गया। इसके बाद उसने अपने गुरु द्वारा सिद्धान्तशास्त्रका अच्छा अभ्यास किया। थोड़े ही दिनोंमें शकटाल मुनिने कई विषयोंमें बहुत ही अच्छी योग्यता प्राप्त करली। गुरु इनकी बुद्धि, विद्वत्ता, तर्कनाशक्ति और सर्वोपरि इनकी स्वाभाविक प्रतिभा देखकर बहुत ही खुश हुए। उन्होंने अपना आचार्यपद अब इन्हें ही दे दिया। यहाँसे ये धर्मोपदेश और धर्म प्रचारके लिए अनेक देशों, शहरों और गाँवोंमें घूमे-फिरे। इन्होंने बहुतोंको आत्महित साधक पवित्र मार्ग पर लगाया और दुर्गतिके दुःखोंका नाश करनेवाले पवित्र जैनधर्मका सब ओर प्रकाश फैलाया। इस प्रकार धर्म प्रभावना करते हुए ये एक बार फिर पटनामें आये।

एक दिनकी बात है कि शकटाल मुनि राजाके अन्तःपुरमें आहार कर तपोवनकी ओर जा रहे थे। मंत्री वररुचिने इन्हें देख लिया। सो इस पापीने पुराने बैरका बदला लेनेका अच्छा मौका देखकर नन्दसे कहा— महाराज, आपको कुछ खबर है कि इस समय अपना पुराना मंत्री पापी शकटाल भीखके बहाने आपके अन्तःपुरमें—रनवासमें घुसकर न जाने क्या अनर्थ कर गया है! मुझे तो

उसके चले जाने बाद ये समाचार मिले, नहीं तो मैंने उसे कभीका पकड़वा कर पापकी सजा दिलवा दी होती। अस्तु, आपको ऐसे धूर्तोंके लिए चुप बैठना उचित नहीं। सच है, दुर्गतिमें जानेवाले ऐसे पापी लोग बुरासे बुरा कोई काम करते नहीं चूकते। नन्दने अपने मंत्रीके बहकानेमें आकर गुस्सेसे उसी समय एक नौकरको आज्ञा की कि वह जाकर शकटालको जानसे मार आवे। सच है, मूर्ख पुरुष दुर्जनों द्वारा उस्केरे जाकर करने और न करने योग्य भले-बुरे कार्यका कुछ विचार न कर अन्याय कर ही डालते हैं। शकटाल मुनिने जब उस घातक मनुष्यको अपनी ओर आते देखा तब उन्हें विश्वास हो गया कि यह मेरे ही मारनेको आ रहा है। और यह सब कर्म मंत्री वररुचिका है। अस्तु, जबतक वह घातक शकटाल मुनिके पास पहुँचता है उसके पहले ही उन्होंने सावधान होकर संन्यास ले लिया। घातक अपना काम पूरा कर वापिस लौट गया। इधर शकटाल मुनिने समाधिसे शरीर त्यागकर स्वर्ग लाभ किया। सच है, दुष्ट पुरुष अपनी ओरसे कितनी ही दुष्टता क्यों न करे, पर उससे सत्पुरुषोंको कुछ नुकसान न पहुँच कर लाभ ही होता है।

परन्तु जब नन्दको यह सब सच्चा हाल ज्ञात हुआ और उसने सब बातोंकी गहरी छान-बीन की तब उसे मालूम हो गया कि शकटाल मुनिका कोई दोष न था—वे सर्वथा निरपराध थे। इसके पहले जैनमुनियोंके सम्बन्धमें जो

उसकी मिथ्या धारणा हो गई थी और उन पर जो उसका बे-हद क्रोध हो रहा था उस सबको हृदयसे दूर कर वह अब बड़ा ही पछताया। अपने पाप कर्मोंकी उसने बहुत निन्दा की। इसके बाद वह श्रीमहापद्म मुनिके पास गया। बड़ी भक्तिसे उसने उनकी पूजा-वन्दना की और सुखके कारण पवित्र जैनधर्मका उनके द्वारा उपदेश सुना। धर्मोपदेशका उसके चित्त पर बहुत प्रभाव पड़ा। उसने श्रावकोंके व्रत धारण किये। जैनधर्म पर अब इसकी अचल श्रद्धा हो गई।

इस जीवको जब कोई बुरी संगति मिल जाती है तब तो यह बुरेसे बुरे पापकर्म करने लग जाता है और जब अच्छे महात्मा पुरुषोंकी संगति मिलती है तब यही पुण्य—पवित्र कर्म करने लगता है। इसलिए भव्यजनोंको सदा ऐसे महा पुरुषोंकी संगति करना चाहिए जो संसारके आदर्श हैं और जिनकी सत्संगतिसे स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपरूपी रत्नोंकी सुन्दर मालाको प्रभाचंद्र आदि पूर्वाचार्योंने शास्त्रोंका सार लेकर बनाया है, जो ज्ञानके समुद्र और सारे संसारके जीव मात्रका हित करनेवाले थे। उन्हींकी कृपासे मैंने इस आराधनारूपी मालाको अपनी बुद्धि और शक्तिके अनुसार बनाया है। यह माला आप भव्यजनोंको और मुझे सुखदे।

८३–श्रद्धायुक्त मनुष्यकी कथा।

निर्मल केवलज्ञान द्वारा सारे संसारके पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले जिन भगवान्को नमस्कार कर श्रद्धागुणके धारी विनयंधर राजाकी कथा लिखी जाती है, जो कथा सत्पुरुषोंको प्रिय है।

कुरुजांगल देशकी राजधानी हस्तिनापुरका राजा विनयंधर था। उसकी रानीका नाम विनयवती था। यहाँ वृषभसेन नामका एक सेठ रहता था। इसकी स्त्रीका नाम वृषभसेना था। इसके जिनदास नामका एक बुद्धिमान् पुत्र था।

विनयंधर बड़ा कामी था। सो एक वार इसके कोई महा रोग हो गया। सच है, ज्यादा–मर्यादासे बाहर विषय सेवन भी उलटा दुःखका ही कारण होता है। राजाने बड़े बड़े वैद्योंका इलाज करवाया पर उसका रोग किसी तरह न मिटा। राजा इस रोगसे बड़ा दुःखी हुआ। उसे दिन रात चैन न पड़ने लगा।

राजाका एक सिद्धार्थ नामका मंत्री था। यह जैनी था। शुद्ध सम्यग्दर्शनका धारक था। सो एक दिन इसने पादौषधिऋद्धिके धारक मुनिराजके पाँव प्रक्षालनका जल लाकर, जो कि सब रोगोंका नाश करनेवाला होता है, राजाको दिया।

जिन भगवान्‌के सच्चे भक्त उस राजाने बड़ी श्रद्धाके साथ उस जलको पी-लिया। उस पीनेसे उसका सब रोग जाता रहा। जैसे सूरजके उगनेसे अंधकार जाता रहता है। सच है, साधु-महात्माओंके तपके प्रभावको कौन कह सकता है, जिनके कि पाँव धोनेके पानीसेही सब रोगोंकी शान्ति हो जाती है। जिस प्रकार सिद्धार्थ मंत्रीने मुनिके पाँव प्रक्षालनका पवित्र जल राजाको दिया, उसी प्रकार अन्य भव्यजनोंको भी उचित है कि वे धर्मरूपी जल सर्व-साधारणको देकर उनका संसार-ताप शान्त करें। जैनतत्वके परम विद्वान् वे पादौषधिऋद्धिके धारक मुनिराज मुझे शान्ति-सुख दें।

जैनधर्ममें या जैनधर्मके अनुसार किये जानेवाले दान, पूजा, व्रत, उपवास आदि पवित्र कार्योंमें की हुई श्रद्धा-किया हुआ विश्वास दुःखोंका नाश करनेवाला है। इस श्रद्धाका आनुषङ्गिक फल है- इन्द्र, चक्रवर्त्ती, विद्याधर आदिकी सम्पदाका लाभ और वास्तविक फल है मोक्षका कारण केवलज्ञान, जिसमें कि अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ये चार अनन्तचतुष्टय-आत्माकी खास शक्तियाँ प्रगट हो जाती हैं। वह श्रद्धा आप भव्यजनोंका कल्याण करे।

८४–आत्मनिन्दा करनेवालीकी कथा।

चारों प्रकारके देवों द्वारा पूजे जानेवाले जिन भगवानको नमस्कार कर उस स्त्रीकी कथा लिखी जाती है कि जिसने अपने किये पापकर्मोंकी आलोचना कर अच्छा फल प्राप्त किया है।

बनारसके राजा विशाखदत्त थे। उनकी रानीका नाम कनकप्रभा था। इनके यहाँ एक चितेरा रहता था। इसका नाम विचित्र था। यह चित्रकलाका बड़ा अच्छा जानकार था। चितेरेकी स्त्रीका नाम विचित्रपताका था। इसके बुद्धिमती नामकी एक लड़की थी। बुद्धिमती बड़ी सुन्दरी और चतुर थी।

एक दिन विचित्र चितेरा राजाके खास महलमें, जो कि बड़ा सुन्दर था, चित्र कर रहा था। उसकी लड़की बुद्धिमती उसके लिए भोजन लेकर आई। उसने विनोद वश हो भींत पर मोरकी पींछीका एक चित्र बनाया। वह चित्र इतना सुन्दर बना कि सहसा कोई न जान पाता कि वह चित्र है। जो उसे देखता वह यही कहता कि यह मोरकी पींछी है। इसी समय महाराज विशाखदत्त इस ओर आगये। वे उस चित्रको मोरकी पींछी

समझ उठानेको उसकी ओर बढ़े। यह देख बुद्धीमतीने समझा कि महाराज बे-समझ हैं। नहीं तो इन्हें इतना भ्रम नहीं होता।

दूसरे दिन बुद्धिमतीने एक ओर अद्भुत चित्र राजाको बतलाते हुए अपने पिताको पुकारा–पिताजी, जल्दी आइए, भोजनकी जवानीका समय बीत रहा है। बुद्धिमतीके इन शब्दोंको सुनकर राजा बड़े अचम्भेमें पड़ गया। वह उसके कहनेका कुछ भाव न समझ कर एक टकटकी लगाये उसके मुँहकी ओर देखता रह गया। राजाको अपना भाव न समझा देख बुद्धिमतीको उसके मूर्ख होनेका और दृढ़ विश्वास हो गया।

अबकी बार बुद्धिमतीने और ही चाल चली। एक भींत पर दो पड़दे लगा दिये और राजाको चित्र बतलानेके बहानेसे उसने एक पड़दा उठाया। उसमें चित्र न था। तब राजा उस दूसरे पड़देकी ओर चित्रकी आशासे आँखें फाड़ कर देखने लगा। बुद्धिमतीने दूसरा पड़दा भी उठा दिया। भींत पर चित्रको न देखकर राजा बड़ा शर्मिन्दा हुआ। उसकी इन चेष्टाओंसे उसे पूरा मूर्ख समझ बुद्धिमतीने जरा हँस दिया। राजा और भी अचम्भेमें पड़ गया। वह बुद्धिमतीका कुछ भी अभिप्राय न समझ सका। उसने तब व्यग्र हो बुद्धि-मतीसे ऐसा करनेका कारण पूछा। बुद्धिमतीके उत्तरसे उसे जान पड़ा कि वह उसे चाहती है–और इसीलिए पिताको

भोजनके लिए पुकारते समय व्यङ्गसे राजा पर उसने अपना भाव प्रगट किया था। राजा उसकी सुन्दरता पर पहलेहीसे मुग्ध था, सो वह बुद्धिमतीकी बातोंसे बड़ा खुश हुआ। उसने फिर बुद्धिमतीके साथ ब्याह भी कर लिया। धीरे धीरे राजाका उस पर इतना अधिक प्रेम बढ़ गया कि अपनी सब रानियोंमें पट्टरानी उसने उसे ही बना दिया। सच बात यह है कि प्राणियोंकी उन्नतिके लिए उनके गुण ही उनका दूतपना करते हैं—उन्हें उन्नति पर पहुँचा देते हैं।

राजाने बुद्धिमतीको सारे रनवासकी स्वामिनी बना तो दिया, पर उससे सब रानियाँ उस बेचारीकी शत्रु बन गईं—उससे डाह, ईर्षा करने लगीं। आते-जाते वे बुद्धिमतीके सिर पर मारती और उसे बुरी-भली सुनाकर बे-हद कष्ट पहुँचाती। बेचारी बुद्धिमती सीधी-साधी थी, सो न तो वह उनसे कुछ कहती और न महाराजसे ही कभी उनकी शिकायत करती। इस कष्ट और चिन्तासे मन ही मन घुलकर वह सूखसी गई। वह जब जिन मन्दिर दर्शन करने जाती तब सब सिद्धियोंके देनेवाले भगवान्के सामने खड़े हो अपने पूर्व कर्मोंकी निन्दा करती और प्रार्थना करती कि—हे संसार पूज्य, हे स्वर्ग-मोक्षके सुख देनेवाले, हे दुःखरूपी दावानलके बुझानेवाले मेघ, और हे दयासागर, मैं एक छोटे कुलम पैदा हुई हूँ, इसीलिए मुझे ये सब कष्ट हो रहे हैं। पर नाथ, इसमें दोष किसीका नहीं। मेरे पूरब जनमके पापोंका उदय

है। प्रभो, जो हो, पर मुझे विश्वास है कि जीवोंको चाहे कितने ही कष्ट क्यों न सता रहे हों, पर जो आपको हृदयसे चाहता है—आपका सच्चा सेवक है, उसके सब कष्ट बहुत जल्दी नष्ट हो जाते हैं। और इसीलिए—हे नाथ, कामी, क्रोधी मानी, मायावी देवोंको छोड़कर मैंने आपकी शरण ली है। आप मेरा कष्ट दूर करेंगे ही। बुद्धिमती न मन्दिरमें ही किन्तु महल पर भी अपने कर्मोंकी आलोचना किया करती। वह सदा एकान्तमें रहती और न किसीसे विशेष बोलती-चालती। राजाने उसके दुर्बल होनेका कारण पूछा—बार बार आग्रह किया, पर बुद्धिमतीने उससे कुछ भी न कहा।

बुद्धिमती क्यों दिनों दिन दुर्बल होती जाती है, इसकी शोध लगानेके लिए एक दिन राजा उसके पहले जिनमन्दिर आगया। बुद्धिमतीने प्रतिदिनकी तरह आज भी भगवान्के सामने खड़ी होकर आलोचना की। राजाने वह सब सुन-लिया। सुनकर ही वह सीधा महल पर आया और अपनी सब रानियोंको उसने खूब ही फटकारा—धिक्कारा, और बुद्धिमतीको ही उनकी मालकिन—पट्टरानी बनाकर उन सबको उसकी सेवा करनेके लिए बाध्य किया।

जिस प्रकार बुद्धिमतीने अपनी आत्म-निन्दा की, उसी तरह अन्य बुद्धिवानों और क्षुल्लक आदिको भी जिन भगवान्के सामने भक्ति पूर्वक आत्मनिन्दा—पूर्वकर्मोंकी आलोचना करना उचित है।

उत्तम कुल और उत्तम सुखोंकी देनेवाली तथा और दुर्गतिके दुःखोंकी नाश करनेवाली जिन भगवान्‌की भक्ति मुझे भी मोक्षका सुख दे।

८५—आत्मनिन्दाकी कथा।

सब दोषोंके नाश करनेवाले और सुखके देनेवाले ऐसे जिन भगवान्‌को नमस्कार कर अपने बुरे कर्मोंकी निन्दा—आलोचना करनेवाली वीरा ब्राह्मणीकी कथा लिखी जाती है।

दुर्योधन जब अयोध्याका राजा था तबकी यह कथा है। यह राजा बड़ा न्यायी और बुद्धिमान हुआ है। इसकी रानीका नाम श्रीदेवी था। श्रीदेवी बड़ी सुन्दरी और सच्ची पतिव्रता थी।

यहाँ एक सर्वोपाध्याय नामका ब्राह्मण रहता था। इसकी स्त्रीका नाम वीरा था। इसका चाल-चलन अच्छा न था। जवानीके जोरमें यह मस्त रहा करती थी। उपाध्यायके घर पर एक विद्यार्थी पढ़ा करता था। उसका नाम अग्निभूति था। वीरा ब्राह्मणीके साथ इसकी अनुचित प्रीति थी। ब्राह्मणी इसे बहुत चाहती थी। पर उपाध्याय इन दोनोंके

सुखका काँटा था । इसलिए ये मनमाना ऐशोआराम न कर पाते थे । ब्राह्मणीको यह बहुत खटका करता था । सो एक दिन मौका पाकर ब्राह्मणीने अपने पतिको मार डाला। और उसे मसानमें फैंक आनेको छत्रीमें छुपाकर अँधेरी रातमें वह घरसे निकली । मसानमें जैसे ही वह उपाध्यायके मुर्देको फैंकनेको तैयार हुई कि एक व्यन्तरदेवीने उसके ऐसे नीच कर्म पर गुस्सा होकर छत्रीको कील दिया और कहा–" सबेरा होने पर जब तू सारे शहरकी स्त्रियोंके घर-घर पर जाकर अपना यह नीच कर्म प्रगट करेगी–अपने कर्म पर पछतायेगी तब तेरे सिर परसे यह छत्री गिरेगी ।" देवीके कहे अनुसार ब्राह्मणीने वैसा ही किया । तब कहीं उसका पीछा छूटा–छत्री सिरसे अलग हो सकी । इस आत्म-निन्दासे ब्राह्मणीका पापकर्म बहुत हलका हो गया–वह शुद्ध हुई । इसी तरह अन्य भव्यजनोंको भी उचित है कि वे प्रतिदिन होनेवाले बुरे कर्मोंकी गुरुओंके पास आलोचना किया करें । उससे उनका पाप नष्ट होगा और अपने आत्माको वे शुद्ध बना सकेंगे ।

किसी पुरुषके शरीरमें काँटा लग गया और वह उससे बहुत कष्ट पा रहा है । पर जबतक वह काँटा उसके शरीरसे न निकलेगा तबतक वह सुखी नहीं हो सकता । इसलिए उस काँटेको निकाल फैंककर जैसे वह पुरुष सुखी होता है, उसी तरह जो आत्म-हितैषी जैनधर्मके बताये

सिद्धान्त पर चलनेवाले वीतरागी साधुओंकी शरण ले अपने आत्माको कष्ट पहुँचानेवाले पापकर्म रूपी काँटेको कृत-कर्मोंकी आलोचना द्वारा निकाल फेंकते हैं वे फिर कभी नाश न होनेवाली आत्मीक लक्ष्मीको प्राप्त करते हैं।

८६-सोमशर्म मुनिकी कथा।

सर्वोत्तम धर्मका उपदेश करनेवाले जिनेन्द्र भगवानको नमस्कार कर सोमशर्म मुनिकी कथा लिखी जाती है।

आलोचना, गर्हा, आत्मनिन्दा, व्रत, उपवास, स्तुति और कथाएँ इनके द्वारा प्रमादको-असावधानीको नाश करना चाहिए। जैसे मंत्र, औषधि-आदिसे विषका वेग नाश किया जाता है। इसी सम्बधकी यह कथा है।

भारतके किसी एक हिस्सेमें बसे हुए पुण्ड्रक देशके प्रधान शहर देवीकोटपुरमें सोमशर्म नामका ब्राह्मण हो चुका है। सोमशर्म वेद और वेदाङ्गका-व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योषित, शिक्षा और कला-का अच्छा विद्वान् था। इसकी स्त्रीका नाम सोमिल्या था। इसके अग्निभूति और वायुभूति नामके दो लड़के थे।

यहाँ विष्णुदत्त नामका एक और ब्राह्मण रहता था। इसकी स्त्रीका नाम विष्णुश्री था। विष्णुदत्त अच्छा धनी था। पर स्वभावका अच्छा आदमी न था। किसी दिन कोई खास जरूरत पड़ने पर सोमशर्मने विष्णुदत्तसे कुछ रुपया कर्ज लिया था। उसका कर्ज अदा न कर पाया था कि एक दिन सोमशर्मको किसी जैनमुनिके धर्मोपदेशसे वैराग्य हो जानेसे वह मुनि हो गया। वहाँसे विहार कर वह कहीं अन्यत्र चला गया और दूसरे नगरों और गाँवोंमें धर्मका उपदेश करता हुआ एक बार फिर वह कोटपुरमें आया। विष्णुदत्तने तब इसे देखकर पकड़ लिया और कहा—साधुजी, आपके दोनों लड़के तो इस समय महा दरिद्र दशामें हैं। उनके पास फूटी कौड़ी तक नहीं है। वे मेरा रुपया नहीं दे सकते इसलिए या तो आप मेरा रुपया दे दीजिए, या अपना धर्म बेच दीजिए। सोमशर्म मुनिके सामने बड़ी कठिन समस्या उपस्थित हुई। वे क्या करें, इसकी उन्हें कुछ सूझ न पड़ा। तब उनके गुरु वीरभद्राचार्यने उनसे कहा—अच्छा तुम जाओ और अपना धर्म बेचो! उनकी आज्ञा पाकर सोमशर्म मुनि मसानमें जाकर धर्म बेचने लगे। इस समय एक देवीने आकर उनसे पूछा—मुनिराज, जिस धर्मको आप बेच रहे हैं, भगवन्, कहिए तो वह कैसा है? उत्तरमें मुनिने कहा—मेरा धर्म अट्ठाईस मूलगुण और चौरासी लाख उत्तर गुणोंसे युक्त है तथा उत्तम-क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम,

तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य इन दश भेद रूप है। धर्मका यह स्वरूप श्रीजिनेन्द्र भगवान्ने कहा है। मुनि द्वारा अपने बेचे जानेवाले धर्मकी इस प्रकार व्याख्या सुनकर वह देवी बहुत प्रसन्न हुई। उसने मुनिको नमस्कार कर धर्मकी प्रशंसामें कहा—मुनिराज, आपने जो कहा वह बहुत ठीक है। यही धर्म संसारको वश करनेके लिए एक वशीकरण मंत्र है, अमूल्य चिन्तामणि है, सुखरूप अमृतकी धारा है, और मनचाही वस्तुओंके दुहने—देनेके लिए कामधेनु है। अधिक क्या, किन्तु यह समझना चाहिए कि संसारमें जो-जो मनोहरता देख पड़ती है वह सब एक धर्महीका फल है। धर्म एक सर्वोत्तम अमोल वस्तु है। उसका मोल हो ही नहीं सकता। पर मुनिराज, आपको उस ब्राह्मणका कर्ज चुकाना है। आपका यह उपसर्ग दूर हो, इसलिए दीक्षा समय [illegible] किये आपके बालोंको उसे कर्जके बदले दिये देती हूँ। [illegible] कर देवी उन बालोंको अपनी दैवी-मायासे चमकते [illegible] मूल्य रत्न बनाकर आप अपने स्थान पर चलदी। [illegible] जैन-धर्मका प्रभाव कौन वर्णन कर सकता है, जो कि स[illegible] ही सुख देनेवाला और देवों द्वारा पूजा किया जाता है।

सवेरा होने पर विष्णुदत्त, सोमशर्म मुनिके तपका प्रभाव देख कर चकित रह गया। उसकी मुनि पर तब बड़ी श्रद्धा हो गई। उसने नमस्कार कर उनकी प्रशंसामें कहा—योगिराज, सचमुच आप बड़े ही भाग्यशाली हैं। आपके सरीखा विद्वान्

और धीर मैंने किसीको नहीं देखा । यह आपहीसे महात्माओंका काम है जो मोहपाश तोड़-तुड़ाकर इस प्रकार दुःसह तपस्या कर रहे हैं । महाराज, आपकी मैं किन शब्दोंमें तारीफ करूँ, यह मुझे नहीं जान पड़ता । आपने तो अपने जीवनको सफल बना लिया । पर हाय ! मैं पापी पापकर्मके उदयसे धनरूपी चोरों द्वारा ठगा गया । मैं अब इनके पेंचीले जालसे कैसे छूट सकूँगा । दयासागर, मुझे बचाइए । नाथ, अब तो मैं आपहीके चरणोंकी सेवा करूँगा । आपकी सेवाको ही अपना ध्येय बनाऊँगा । तब ही कहीं मेरा भला होगा । इस प्रकार बड़ी देरतक विष्णुदत्तने सोमशर्म मुनिकी स्तुति की । अन्तमें प्रार्थना कर उनसे दीक्षा ले वह मुनि हो गया । जो विष्णुदत्त एक ही दिन पहले मुनिकी इज्जत—प्रतिष्ठा बिगाड़नेको हाथ धोकर उनके पीछा पड़ा था, और मुनिको उपसर्ग कर जिसने पाप बाँधा था वही गुरुभक्तिसे स्वर्ग और मोक्षके सुखका पात्र हो गया । सच है, धर्मकी शरण ग्रहण कर सभी सुखी होते हैं । विष्णुदत्तके सिवा और भी बहुतेरे भव्यजन जैनधर्मका ऐसा प्रभाव देखकर जैनधर्मके प्रेमी हो गये और उस धनसे, जिसे देवीने मुनिके बालोंको रत्नोंके रूपमें बनाया था, कोटितीर्थ, नामका एक बड़ा ही सुन्दर जिनमन्दिर बनवा दिया, जिसमें धर्म साधन कर भव्यजन सुख-शान्ति लाभ करते थे ।

जो बुद्धिरूपी धनके मालिक–बड़े विचारशील साधु-सन्त जिन भगवानके द्वारा उपदेश किये, सारे संसारमें पूजे-माने जानेवाले, स्वर्ग-मोक्षके या और सब प्रकार सांसारिक सुखके कारण, संसारका भय मिटानेवाले ऐसे परम पवित्र तपको भक्तिसे ग्रहण करते हैं वे कभी नाश न होनेवाले मोक्षका सुख लाभ करते हैं। ऐसे महात्मा योगिराज मुझे भी आत्मीक सच्चा सुख दें।

८७–कालाध्ययनकी कथा।

जिनका ज्ञान सबसे श्रेष्ठ है, और संसार-समुद्रसे पार करनेवाला है, उन जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर उचित कालमें शास्त्राध्ययन कर जिसने फल प्राप्त किया उसकी कथा लिखी जाती है।

जैनतत्वके विद्वान् वीरभद्र मुनि एक दिन सारी रात शास्त्राभ्यास करते रहे। उन्हें इस हालतमें देखकर श्रुतदेवी एक अहीरनीका वेष लेकर उनके पास आई। इसलिए कि मुनिको इस बातका ज्ञान हो जाय कि यह समय शास्त्रोंके पढ़ने पढ़ानेका नहीं है। देवी अपने सिर पर छाछकी

एक मटकी रखकर और यह कहती हुई, कि लो, मेरे पास बहुत ही मीठी छाछ है, मुनिके चारों और घूमने लगी। मुनिने तब उसकी ओर देखकर कहा—अरी, तू बड़ी बेसमझ जान पड़ती है, कहीं पगली तो नहीं हो गई है! बतला तो ऐसे एकान्त स्थानमें और सो भी रातमें कौन तेरी छाछ खरीदेगा ? उत्तरमें देवीने कहा—महाराज क्षमा कीजिए। मैं तो पगली नहीं हूँ; किन्तु मुझे आप ही पागल देख पड़ते हैं। नहीं तो ऐसे असमयमें, जिसमें पठन-पाठनकी मना है, आप क्यों शास्त्राभ्यास करते? देवीका उत्तर सुनकर मुनिजीकी आँखें खुलीं। उन्होंने आकाशकी ओर नजर उठाकर देखा तो उन्हें तारे चमकते हुए देख पड़े। उन्हें मालूम हुआ कि अभी बहुत रात है। तब वे पढ़ना छोड़कर सोगये।

सबेरा होने पर वे अपने गुरु महाराजके पास गये और अपनी इस क्रियाकी आलोचना कर उनसे उन्होंने प्रायश्चित्त लिया। अबसे वे शास्त्राभ्यासका जो काल है उसीमें पठन-पाठन करने लगे। उन्हें अपनी गल्तीका सुधार किये देखकर देवी उनसे बहुत खुश हुई। बड़ी भक्तिसे उसने उनकी पूजा की। सच है, गुणवानोंकी सभी पूजा करते हैं।

इस प्रकार दर्शन, ज्ञान, और चारित्रका यथार्थ पालन कर वीरभद्र मुनिराज अन्त समयमें धर्म-ध्यानसे मृत्यु लाभ कर स्वर्गधाम सिधारे।

भव्यजनोंको भी उचित है कि वे जिन भगवान्‌के उपदेश किये, संसारको अपनी महत्तासे मुग्ध करनेवाले, स्वर्ग या मोक्षकी सर्वोच्च सम्पदाको देनेवाले, दुःख, शोक, कलंक आदि आत्मा पर लगे हुए कीचड़को धो-देनेवाले, संसारके पदार्थोंका ज्ञान करानेमें दीयेकी तरह काम देनेवाले और सब प्रकारके सांसारिक सुखके आनुषङ्गिक कारण ऐसे पवित्र ज्ञानको भक्तिसे प्राप्त कर मोक्षका अविनाशी सुख लाभ करें।

८८-अकालमें शास्त्राभ्यास करनेवालेकी कथा।

संसार द्वारा पूजे जानेवाले और केवलज्ञान जिनका प्रकाशमान नेत्र है, ऐसे जिन भगवान्‌को नमस्कार कर असमयमें-जो शास्त्राभ्यासके लिए योग्य नहीं है, शास्त्राभ्यास करनेसे जिन्हें उसका बुरा फल भोगना पड़ा, उनकी कथा लिखी जाती है। इसलिए कि विचारशीलोंको इस बातका ज्ञान हो कि असमयमें शास्त्राभ्यास करना अच्छा नहीं है-उसका बुरा फल होता है।

शिवनन्दी मुनिने अपने गुरु द्वारा यद्यपि यह जान रक्खा था कि स्वाध्यायका समय-काल श्रवण नक्षत्रका उदय

होनेके बाद माना गया है, तथापि कर्मोंके तीव्र उदयसे वे अकालमें ही शास्त्राभ्यास किया करते थे। फल इसका यह हुआ कि मिथ्या समाधिमरण द्वारा मरकर उन्होंने गंगामें एक बड़े भारी मच्छकी पर्याय धारण की। सो ठीक ही है जिन भगवान्की आज्ञाका उल्लंघन करनेसे इस जीवको दुर्गतिके दुःख भोगना ही पड़ते हैं।

एक दिन नदीकिनारे पर एक मुनि शास्त्राभ्यास कर रहे थे। इस मच्छने उनके पाठको सुन लिया। उससे उसे जातिस्मरण हो गया। तब उसने इस बातका बहुत पछतावा किया कि–हाय! मैं पढ़कर भी मूर्ख बना रहा, जो जैनधर्मसे विमुख होकर मैंने पापकर्म बाँधा। उसीका यह फल है, जो मुझे मच्छ-शरीर लेना पड़ा। इस प्रकार अपनी निन्दा और अपने पापकर्मकी आलोचना कर उसने भक्तिसे सम्यक्त्व ग्रहण किया, जो कि सब जीवोंका हित करनेवाला है। इसके बाद वह जिन भगवान्की आराधना कर पुण्यके उदयसे स्वर्गमें महर्द्धिक देव हुआ। सच है, मनुष्य धर्मकी आराधना कर स्वर्ग जाता है और पापी धर्मसे उलटा चलकर दुर्गतिमें जाता है। पहला सुख भोगता है और दूसरा दुःख उठाता है। यह जानकर बुद्धिवानोंको उचित है–उनका कर्त्तव्य है कि वे जिनेन्द्र भगवान्के उपदेश किये धर्मकी भक्तिसे अपनी शक्तिके अनुसार आराधना करें, जो कि सब सुखोंका देनेवाला है।

सम्यग्ज्ञान जिसने प्राप्त कर लिया उसकी सारे संसारमें कीर्त्ति होती है, सब प्रकारकी उत्तम उत्तम सम्पदाएँ उसे प्राप्त होती हैं, शान्ति मिलती है और वह पवित्रताकी साक्षात्प्रतिमा बन जाता है। इसलिए भव्यजनोंको उचित है कि वे जिन भगवान्‌के पवित्र ज्ञानको, जो कि देवों और विद्याधरों द्वारा पूजा-माना जाता है, प्राप्त करनेका यत्न करें।

८९-विनयी पुरुषकी कथा।

इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्त्ती आदि महा पुरुषों द्वारा पूजे जानेवाले जिन भगवान्‌को नमस्कार कर विनयधर्मके पालनेवाले मनुष्यकी पवित्र कथा लिखी जाती है।

वत्सदेशमें सुप्रसिद्ध कौशाम्बीके राजा धनसेन वैष्णव धर्मके माननेवाले थे। उनकी रानी धनश्री, जो बहुत सुन्दरी और विदुषी थी, जिनधर्म पालती थी। उसने श्रावकोंके व्रत ले रक्खे थे। यहाँ सुप्रतिष्ठ नामका एक वैष्णव साधु रहता था। राजा इसका बड़ा आदर-सत्कार करते थे और यही कारण था कि राजा इसे स्वयं ऊँचे आसन बैठाकर भोजन कराते थे। इसके पास एक जलस्तंभिनी नामकी विद्या थी। उससे यह बीच यमुनामें खड़ा रहकर ईश्वराराधना

किया करता था, पर डूबता न था। इसके ऐसे प्रभावको देखकर मूढ़ लोग बड़े चकित होते थे। सो ठीक ही है मूर्खों-को ऐसी मूर्खताकी क्रियाएँ पसन्द हुआ ही करती हैं।

विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें बसे हुए रथनूपुरके राजा विद्युत्प्रभ तो जैनी थे, श्रावकोंके व्रतोंके पालने-वाले थे और उनकी रानी विद्युद्वेगा वैष्णव धर्मकी मानने-वाली थी। सो एक दिन ये राजा-रानी प्रकृतिकी सुन्दरता देखते और अपने मनको बहलाते कौशम्बीकी ओर आगये। नदी-किनारे पहुँच कर इन्होंने देखा कि एक साधु बीच पानीमें खड़ा रहकर तपस्या कर रहा है। विद्युत्प्रभने जान लिया कि यह मिथ्यादृष्टि है। पर उनकी रानी विद्युद्वेगाने उस साधुकी बहुत प्रशंसा की। तब विद्युत्प्रभने रानीसे कहा—अच्छी बात है, प्रिये, आओ तो मैं तुम्हें जरा इसकी मूर्खता बतलाता हूँ। इसके बाद ये दोनों चाण्डालका वेष कर ऊपर किनारेकी ओर गये और मरे ढोरोंका चमड़ा नदीमें धोने लगे। अपने इस निन्द्य कर्म द्वारा इन्होंने जलको अपवित्र कर दिया। उस साधुको यह बहुत बुरा लगा। सो वह इन्हें कुछ कह सुनकर ऊपरकी ओर चला गया। वहाँ उसने फिर नहाया धोया। सच है मूर्खताके वश लोग कौन काम नहीं करते। साधुकी यह मूर्खता देखकर ये भी फिर और आगे जाकर चमड़ा धोने लगे। इनकी बार बार यह शैतानी देखकर साधुको बड़ा गुस्सा

आया। तब वह और आगे चला गया। इसके पीछे ही ये दोनों भी जाकर फिर अपना काम करने लगे। गर्ज यह कि इन्होंने उस साधुको बहुत ही कष्ट दिया। तब हार खाकर बेचारेको अपना जप-तप, नाम-ध्यान सब छोड़ देना पड़ा। इसके बाद उस साधुको इन्होंने अपनी विद्याके बलसे वनमें एक बड़ा भारी महल खड़ा कर देना, झूला बनाकर उस पर झूलना, आदि अनेक अचंभेमें डालनेवाली बातें बतलाईं। उन्हें देखकर सुप्रतिष्ठ साधु बड़ा चकित हुआ। वह मनमें सोचने लगा कि जैसी विद्या इन चाण्डा-लोंके पास है ऐसी तो अच्छे अच्छे विद्याधरों या देवोंके पास भी न होगी। यदि यही विद्या मेरे पास भी होती तो मैं भी इनकी तरह बड़ी मौज मारता। अस्तु, देखें इनके पास जाकर मैं कहूँ कि ये अपनी विद्या मुझे भी दे दें। इसके बाद वह इनके पास आया और उनसे बोला—आप लोग कहाँसे आ रहे हैं? आपके पास तो लोगोंको चकित करनेवाली बड़ी बड़ी करामातें हैं! आपका यह विनोद देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। उत्तरमें विद्युत्प्रभ विद्या-धरने कहा—योगीजी, आप मुझे नहीं जानते कि मैं चाण्डाल हूँ! मैं तो अपने गुरु महाराजके दर्शनके लिए यहाँ आया हुआ था। गुरुजीने खुश होकर मुझे जो विद्या दी है, उसीके प्रभावसे यह सब कुछ मैं करता हूँ। अब तो साधु-जीके मुँहमें भी विद्यालाभके लिए पानी आ गया। इन्होंने

तब उस चाण्डाल रूपधारी विद्याधरसे कहा—तो क्या कृपा करके आप मुझे भी यह विद्या दे सकते हैं, जिससे कि मैं भी फिर आपकी तरह खुशी मनाया करूँ। उत्तरमें विद्याधरने कहा—भाई, विद्याके देनेमें तो मुझे कोई हर्ज मालूम नहीं देता, पर बात यह है कि मैं ठहरा चाण्डाल और आप वेदवेदाङ्गके पढ़े हुए एक उत्तम कुलके मनुष्य, तब आपका मेरा गुरु-शिष्य भाव नहीं बन सकता। और ऐसी हालतमें आपसे मेरा विनय भी न हो सकेगा और बिना विनयके विद्या आ नहीं सकती। हाँ यदि आप यह स्वीकार करें कि जहाँ मुझे देख पावें वहाँ मेरे पाँवोंमें पड़कर बड़ी भक्तिके साथ यह कहें कि प्रभो, आपहीकी चरणकृपासे मैं जीता हूँ। तब तो मैं आपको विद्या दे सकता हूँ और तभी विद्या सिद्ध हो सकती है। बिना ऐसा किये सिद्ध हुई विद्या भी नष्ट हो जाती है। उस साधुने ये सब बातें स्वीकार करलीं। तब विद्युत्प्रभ विद्याधर इसे विद्या देकर अपने घर चला गया।

इधर सुप्रतिष्ठ साधुको जैसे ही विद्या सिद्ध हुई, उसने उन सब लीलाओंको करना शुरू किया जिन्हें कि विद्याधरने किया था। सब बातें वैसी ही हुई देखकर सुप्रतिष्ठ बड़ा खुश हुआ। उसे विश्वास हो गया कि अब मुझे विद्या सिद्ध हो गई। इसके बाद वह भोजनके लिए राजमहल आया। उसे देरसे आया हुआ देखकर राजाने पूछा—भगवन्,

आज आपको बड़ी देर लगी ? मैं बड़ी देरसे आपका रास्ता देख रहा हूँ। उत्तरमें सुप्रतिष्ठने मायाचारीसे झूठ-मूठ ही कह दिया कि—राजन्, आज मेरी तपस्याके प्रभावसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सब देव आये थे। वे बड़ी भक्तिसे मेरी पूजा करके अभी गये हैं। यही कारण मुझे देरी लग जानेका है। और राजन्, एक बात नई यह हुई कि मैं अब आकाशमें ही चलने-फिरने लग गया। सुनकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ और साथहीमें यह सब कौतुक देखनेकी उसकी मंशा हुई। उसने तब सुप्रतिष्ठसे कहा—अच्छा तो महाराज, अब आप आइए और भोजन कीजिए। क्योंकि बहुत देर हो चुकी है। आप वह सब कौतुक मुझे बतलाइएगा। सुप्रतिष्ठ ' अच्छी बात है ' कहकर भोजनके लिए चला आया।

दूसरे दिन सबेरा होते ही राजा और उसके अमीर-उमराव वगैरह सभी सुप्रतिष्ठ साधुके मठमे उपस्थित हुए। दर्शकोंका भी ठठ लग गया। सबकी आँखें और मन साधुकी ओर जा लगे कि वह अपना नया चमत्कार बतलावें। सुप्रतिष्ठ साधु भी अपनी करामात बतलानेको आरंभ करनेवाला ही था कि इतनेमें वह विद्युत्प्रभ विद्याधर और उसकी स्त्री उसी चाण्डाल वेषमें वहीं आ धमके। सुप्रतिष्ठके देवता उन्हें देखते ही कूँच कर गये। ऐसे समय उनके आजानेसे इसे उन पर बड़ी घृणा हुई। उसने मन ही मन घृणाके साथ कहा—ये दुष्ट इस समय क्यों चले आये ! उसका यह कहना था कि उसकी विद्या

नष्ट हो गई । वह राजा वगैरेहको अब कुछ भी चमत्कार न बतला सका और बड़ा शर्मिन्दा हुआ । तब राजाने 'ऐसा एक साथ क्यों हुआ' इसका सब कारण सुप्रतिष्ठसे पूछा । झख मारकर फिर उसे सब बातें राजासे कह देनी पड़ीं । सुनकर राजाने उन चाण्डालोंको बड़ी भक्तिसे प्रणाम किया । राजाकी यह भक्ति देखकर उन्होंने वह विद्या राजाको देदी । राजा उसकी परीक्षा कर बड़ी प्रसन्नतासे अपने महल लौट गया । सो ठीक ही है विद्याका लाभ सभीको सुख देनेवाला होता है ।

राजाकी भी परीक्षाका समय आया । विद्याप्राप्तिके कुछ दिनों बाद एक दिन राजा राज-दरबारमें सिंहासन पर बैठा हुआ था । राजसभा सब अमीर-उमरावोंसे ठसा-ठस भरी:हुई थी । इसी समय राजगुरु चाण्डाल वहाँ आया, जिसने कि राजाको विद्या दी थी । राजा उसे देखते ही बड़ी भक्तिसे सिंहासन परसे उठा और उसके सत्कारके लिए कुछ आगे बढ़कर उसने उसे नमस्कार किया और कहा—प्रभो, आपहींके चरणोंकी कृपासे मैं जीता हूँ । राजाकी ऐसी भक्ति और विनयशीलता देखकर विद्युत्प्रभ बड़ा खुश हुआ । उसने तब अपना खास रूप प्रगट किया और राजाको और भी कई विद्याएँ देकर वह अपने घर चला गया । सच है, गुरुओंके विनयसे लोगोंको सभी सुन्दर सुन्दर वस्तुएँ प्राप्त होती हैं ।

इस आश्चर्यको देखकर धनसेन, विद्युद्वेगा तथा और भी बहुतसे लोगोंने श्रावक-व्रत स्वीकार किये । विनयका इस

प्रकार फल देखकर अन्य भव्यजनोंको भी उचित है कि वे गुरुओंका विनय, भक्ति और निर्मल भावोंसे करें।

जो गुरुभक्ति क्षणमात्रमें कठिनसे कठिन कामको पूरा कर देती है वही भक्ति मेरी सब क्रियाओंकी भूषण बने। मैं उन गुरुओंको नमस्कार करता हूँ कि जो संसार-समुद्रसे स्वयं तैरकर पार होते हैं और साथ ही और और भव्य जनोंको पार करते हैं।

जिनके चरणोंकी पूजा देव, विद्याधर, चक्रवर्त्ती आदि बड़े बड़े महापुरुष करते हैं उन जिन भगवान्का, उनके रचे पवित्र शास्त्रोंका और उनके बताये मार्ग पर चलनेवाले मुनिराजोंका जो हृदयसे विनय करते हैं—उनकी भक्ति करते हैं उनके पास कीर्ति, सुन्दरता, उदारता, सुख-सम्पत्ति और ज्ञान—आदि पवित्र गुण अत्यन्त पड़ोसी होकर रहते हैं। अर्थात् विनयके फलसे उन्हें सब गुण प्राप्त होते हैं।

९०—अवग्रह—नियम लेनेवालेकी कथा।
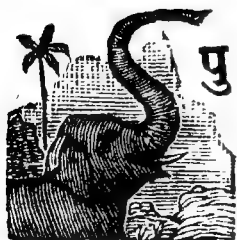
पुण्यके कारण जिन भगवानके चरणोंको नमस्कार कर उपधान—अवग्रहकी अर्थात् यह काम जबतक न होगा तबतक मैं ऐसी प्रतिज्ञा करता हूँ, इस प्रकारका नियम कर जिसने फल प्राप्त किया, उसकी कथा लिख जाती है, जो सुखकी देनेवाली है।

अहिछत्र पुरके राजा वसुपाल बड़े बुद्धिमान् थे। जैनधर्म पर उनकी बड़ी श्रद्धा थी। उनकी रानीका नाम वसुमती था। वसुमती भी अपने स्वामीके अनुरूप बुद्धिमती और धर्म पर प्रेम करनेवाली थी। वसुपालने एक बड़ा ही विशाल और सुन्दर 'सहस्रकूट' नामका जिनमन्दिर बनवाया। उसमें उन्होंने श्रीपार्श्वनाथ भगवानकी प्रतिमा विराजमान् की। राजाने प्रतिमा पर लेप चढ़ानेको एक अच्छे हुशियार चित्रकारको बुलाया और प्रतिमा पर लेप चढ़ानेको उससे कहा। राजाज्ञा पाकर चित्रकारने प्रतिमा पर बहुत सुन्दरतासे लेप चढ़ाया। पर रात होने पर वह लेप प्रतिमा परसे गिर पड़ा। दूसरे दिन फिर ऐसा ही किया गया। रातमें वह लेप भी गिर पड़ा। गर्ज यह कि वह दिनमें लेप लगाता और रातमें वह गिर पड़ता। इस तरह उसे कई दिन बीत गये। ऐसा क्यों होता है, इसका उसे कुछ भी कारण न जान पड़ा। उससे वह तथा राजा वगैरह बड़े दुखी हुए। बात असलमें यह थी कि वह लेपकार मांस खानेवाला था। इसलिए उसकी अपवित्रतासे प्रतिमा पर लेप न ठरहता था। तब उस लेपकारको एक मुनि द्वारा ज्ञान हुआ कि प्रतिमा अतिशयवाली है—कोई शासनदेवी या देव उसकी रक्षामें सदा नियुक्त रहते हैं। इसलिए जबतक यह कार्य पूरा हो तब तक तुझे मांसके न खानेका व्रत लेना चाहिए। लेपकारने वैसा ही किया। मुनिराजके पास उसने मांस न खानेका नियम लिया। इसके बाद जब उसने दूसरे दिन लेप

किया तो अबकी बार वह ठहर गया। सच है, व्रती पुरुषोंके कार्यकी सिद्धि होती ही है। तब राजाने अच्छे अच्छे वस्त्राभूषण देकर चित्रकारका बड़ा आदर-सत्कार किया। जिस तरह इस लेपकारने अपने कार्यकी सिद्धिके लिए नियम किया उसी प्रकार और और लोगोंको तथा मुनियोंको भी ज्ञानप्रचार, शासन-प्रभावना आदि कामोंमें अवग्रह या प्रतिज्ञा करना चाहिए।

वह जिनेन्द्र भगवानका उपदेश किया ज्ञानरूपी समुद्र मुझे भी केवलज्ञानी—सर्वज्ञ बनावे, जो अत्यन्त पवित्र साधुओं द्वारा आत्म-सुखकी प्राप्तिके लिए सेवा किया जाता है और देव, विद्याधर, चक्रवर्त्ती आदि बड़े बड़े महापुरुष जिसे भक्तिसे पूजते हैं।

९१–अभिमान करनेवालीकी कथा।

निर्मल केवलज्ञानके धारी जिन भगवानको नमस्कार कर मान करनेसे बुरा फल प्राप्त करनेवालेकी कथा लिखी जाती है। इस कथाको सुनकर जो लोग मानके छोड़नेका यत्न करेंगे वे सुख लाभ करेंगे।

बनारसके राजा वृषभध्वज प्रजाका हित चाहनेवाले और

बड़े बुद्धिमान् थे। इनकी रानीका नाम वसुमती था। वसुमती बड़ी सुन्दरी थी। राजाका इस पर अत्यन्त प्रेम था।

गंगाके किनारे पर पलास नामका एक गाँव बसा हुआ था। इसमें अशोक नामका एक गुवाल रहता था। यह गुवाल राजाको गाँवके लगानमें कोई एक हजार घीके भरे घड़े दिया करता था। इसकी स्त्री नन्दा पर इसका प्रेम न था। इसलिए कि वह बाँझ थी। और यह सच है, सुन्दर या गुणवान् स्त्री भी बिना पुत्रके शोभा नहीं पाती है और न उस पर पतिका पूरा प्रेम होता है। वह फल रहित लताकी तरह निष्फल समझी जाती है। अपनी पहली स्त्रीको निस्सन्तान देखकर अशोक गुवालने एक और ब्याह कर लिया। इस नई स्त्रीका नाम सुनन्दा था। कुछ दिनों तक तो इन दोनों सौतोंमें लोक-लाजसे पटती रही, पर जब बहुत ही लड़ाई-झगड़ा होने लगा तब अशोकने इनसे तँग आकर अपनी जितनी धन-सम्पत्ति थी उसे दोनोंके लिए आधी आधी बाँट दिया। नन्दाको अलग घरमें रहना पड़ा और सुनन्दा अशोकके पास ही रही। नन्दामें एक बात बड़ी अच्छी थी। वह एक तो समझदार थी। दूसरे वह अपने दूध दुहनेके लिए बरतन वगैरहको बड़ा साफ रखती। उसे सफाई बड़ी पसन्द थी। इसके सिवा वह अपने नौकर गुवालों पर बड़ा प्रेम करती। उन्हें अपना नौकर न समझ अपने कुटुम्बकी तरह मानती। वह उनका बड़ा आदर-सत्कार करती। उन्हें हर एक त्यौहारोंके मौकों पर

दान-मानादिसे बड़ा खुश रखती। इसलिए वे गुवाल लोग भी उसे बहुत चाहते थे और उसके कामोंको अपना ही समझकर किया करते थे। जब वर्ष पूरा होता तो नन्दा राजलगानके हजार घीके घड़ोंमेंसे अपना आधा हिस्सा पाँचसौ घड़े अपने स्वामीको प्रतिवर्ष दे-दिया करती थी। पर सुनन्दामें ये सब बातें न थीं। उसे अपनी सुन्दरताका बड़ा अभिमान था। इसके सिवा वह बड़ी शौकीन थी। साज-सिंगारमें ही उसका सब समय चला जाता था। वह अपने हाथोंसे कोई काम करना पसन्द न करती थी। सब नौकर-चाकरों द्वारा ही होता था। इस पर भी उसका अपने नौकरोंके साथ अच्छा बरताव न था। सदा उनके साथ वह माथा-फोड़ी किया करती थी। किसीका अपमान करती, किसीको गालियाँ देती और किसीको भला-बुरा कहकर झिटकारती। न वह उन्हें कभी त्योंहारों पर कुछ दे-लेकर प्रसन्न करती। गर्ज यह कि सब नौकर-चाकर उससे प्रसन्न न थे। जहाँतक उनका बस चलता वे भी सुनन्दाको हानि पहुँचानेका यत्न करते थे। यहाँ तक कि वे जो गायोंको चराने जंगलमें ले जाते, सो वहाँ उनका दूध तक दुहकर पी-लिया करते थे। इससे सुनन्दाके यहाँ पहले वर्षमें ही घी बहुत थोड़ा हुआ। वह राजलगानका अपना आधा हिस्सा भी न दे सकी। उसके इस आधे हिस्सेको भी बेचारी नन्दाने ही चुकाया। सुनन्दाकी यह दशा देखकर अशोकने उसे घरसे निकाल बाहर की। सुन-

न्दाको अपना गया अधिकार पीछा प्राप्त हुआ। पुण्यसे वह पीछी अकोककी प्रेमपात्र हुई। घर बार, धन-दौलतकी वह मालकिन हुई। जिस प्रकार नन्दा अपने घरगिरिस्तीके कामको अच्छी तरह चलानेके लिए सदा दान-मानादि किया करती उसी प्रकार अपने पारमार्थिक कामोंके लिए भव्यजनोंको भी अभिमान रहित होकर जैनधर्मकी उन्नतिके कार्योंमें दान-मानादि करते रहना चाहिए। उससे वे सुखी होंगे और सम्यग्ज्ञान लाभ करेंगे।

जो स्वर्ग-मोक्षका सुख देनेवाले जिन भगवान्की बड़ी भक्तिसे पूजा-प्रभावना करते हैं, भगवान्के उपदेश किये शास्त्रोंके अनुसार चल उनका सत्कार करते हैं, पवित्र जैन-धर्म पर श्रद्धा-विश्वास करते हैं, और सज्जन धर्मात्माओंका आदर-सत्कार करते हैं वे संसारमें सर्वोच्च यश लाभ करते हैं और अन्तमें कर्मोंका नाश कर परम पवित्र केवलज्ञान-कभी नाश न होनेवाला सुख प्राप्त करते हैं।

९२—निह्नव-असल बातको छुपानेवालेकी कथा।

जिनके सर्व-श्रेष्ठ ज्ञानमें यह सारा संसार परमाणुके समान देख पड़ता है, उन सर्वज्ञ भगवानको नमस्कार कर निह्नव—जिस प्रकार जो बात हो उसे उसी प्रकार न कहना—उसे छुपाना, इस सम्बन्धकी कथा लिखी जाती है।

उज्जैनके राजा धृतिषेणकी रानी मलयावतीके चण्डप्रद्योत नामका एक पुत्र था। वह जैसा सुन्दर था वैसा ही गुणवान् भी था। पुण्यके उदयसे उसे सभी सुखसामग्री प्राप्त थी।

एक वार दक्षिण देशके वेनातट नगरमें रहनेवाले सोमशर्मा ब्राह्मणका कालसंदीव नामका विद्वान् पुत्र उज्जैनमें आया। वह कई भाषाओंका जाननेवाला था। इसलिए धृतिषेणने चण्डप्रद्योतको पढ़ानेके लिए उसे रख लिया। कालसंदीवने चण्डप्रद्योतको कई भाषाओंका ज्ञान कराये बाद एक म्लेच्छ-अनार्यभाषाको पढ़ाना शुरू किया। इस भाषाका उच्चारण बड़ा ही कठिन था। राजकुमारको उसके पढ़नेमें बहुत दिक्कत पड़ा करती थी। एक दिन कोई ऐसा ही पाठ आया, जिसका उच्चारण बहुत क्लिष्ट था। राजकुमारसे उसका ठीक ठीक उच्चारण न बन सका। कालसन्दीवने उसे शुद्ध उच्चारण करानेकी बहुत कोशिश की, पर उसे सफलता प्राप्त न हुई। इससे कालसंदीवको कुछ गुस्सा आगया। गुस्सेमें आकर उसने राजकुमारको एक लात मारदी। चण्डप्रद्योत था तो राजकुमार ही सो उसका भी कुछ मिजाज बिगड़ गया। उसने अपने गुरु-महाराजसे तब कहा—अच्छा महाराज, आपने जो मुझे मारा है, मैं भी इसका बदला लिये बिना न छोड़ूँगा। मुझे आप राजा होने दीजिए, फिर देखिएगा कि मैं भी आपके इसी पाँवको काटकर ही रहूँगा। सच है, बालक कम-बुद्धि

हुआ ही करते हैं। कालसन्दीव कुछ दिनोंतक और यहाँ रहा, फिर वह यहाँसे दक्षिणकी ओर चल गया। उधर कालसन्दीवको एक दिन किसी मुनिका उपदेश सुननेका मौका मिला। उपदेश सुनकर उसे बड़ा वैराग्य हुआ। वह मुनि हो गया।

इधर धृतिषेण राजा भी चण्डप्रद्योतको सब राज-काज सौंपकर साधु बन गया। राज्यकी बागडोर चण्डप्रद्योतके हाथमें आई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चण्डप्रद्योतने भी राज्यशासन बड़ी नीतिके साथ चलाया। प्रजाके हितके लिए उसने कोई बात उठा न रक्खी।

एक दिन चण्डप्रद्योत पर एक यवनराजका पत्र आया। भाषा उसकी अनार्य थी। उस पत्रको कोई राजकर्मचारी न बाँच सका। तब राजाने उसे देखा तो वह उससे बँच गया। पत्र पढ़कर राजाकी अपने गुरु कालसन्दीव पर बड़ी भक्ति हो गई। उसने बचपनकी अपनी की प्रतिज्ञाको उसी समय हृदये भुला दिया। इसके बाद राजाने कालसन्दीवका पता-लगाकर उन्हें अपने शहर बुलाया और बड़ी भक्तिसे उनके चरणोंकी पूजा की। सच है, गुरुओंके वचन भव्यजनोंको उसी तरह सुख देनेवाले होते हैं जैसे रोगीको औषधि।

कालसन्दीव मुनि यहाँ श्वेतसन्दीव नामके किसी एक भव्यको दीक्षा देकर फिर विहार कर गये। मार्गमें पड़नेवाले शहरों और गाँवोंमें उपदेश करते हुए वे विपुलाचल पर

महावीर भगवान्‌के समवशरणमें गये, जो कि बड़ी शान्ति-का देनेवाला था। भगवान्‌के दर्शन कर उन्हें बहुत शान्ति मिली। वन्दना कर भगवान्‌का उपदेश सुननेके लिए वे वहीं बैठ गये।

श्वेतसन्दीव मुनि भी इन्हींके साथ थे। वे आकर समवशरणके बाहर आतापन योग द्वारा तप करने लगे। भगवान्‌के दर्शन कर जब महामण्डलेश्वर श्रेणिक जाने लगे तब उन्होंने श्वेतसन्दीव मुनिको देखकर पूछा—आपके गुरु कौन हैं—किनसे आपने यह दीक्षा ग्रहण की? उत्तरमें श्वेतसंदीव मुनिने कहा—राजन्, मेरे गुरु श्रीवर्द्धमान् भगवान् हैं। इतना कहना था कि उनका सारा शरीर काला पड़ गया। यह देख श्रेणिकको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने पीछे जाकर गणधर भगवान्‌से इसका कारण पूछा। उन्होंने कहा—श्वेतसन्दीवके असल गुरु हैं कालसंदीव, जो कि यहीं बैठे हुए हैं। उनका इन्होंने निह्नव किया—सच्ची बात न बतलाई। इस लिए उनका शरीर काला पड़ गया है। तब श्रेणिकने श्वेत-संदीवको समझा कर उनकी गलती उन्हें सुझाई और कहा—महाराज, आपकी अवस्थाके योग्य ऐसी बातें नहीं हैं। ऐसी बातोंसे पाप-बंध होता है। इसलिए आगेसे आप कभी ऐसा न करेंगे, यह मेरी आपसे प्रार्थना है। श्रेणिककी इस शिक्षाका श्वेतसंदीव मुनिके चित पर बड़ा गहरा असर पड़ा। वे अपनी भूल पर बहुत पछताये। इस आलोचना-

से उनके परिणाम बहुत उन्नत हुए। यहाँतक कि उसी समय शुक्लध्यान द्वारा कर्मोंका नाशकर लोकालोकका प्रकाशक केवलज्ञान उन्होंने प्राप्त कर लिया। वे सारे संसार द्वारा अब पूजे जाने लगे। अन्तमें अघातिया कर्मोंको नष्ट कर उन्होंने मोक्षका अनन्तसुख लाभ किया। श्वेतसंदीव मुनि-के इस वृत्तान्तसे भव्यजनोंको शिक्षा लेनी चाहिए कि वे अपने गुरु आदिका निह्नव न करें—सच्ची बातके छिपानेका यत्न न करें। क्योंकि गुरु स्वर्ग-मोक्षके देनेवाले हैं, इस-लिए सेवा करनेके योग्य हैं।

वे श्रीश्वेतसन्दीव मुनि मेरे बढ़ते हुए संसारकी—भव भ्रमणकी शान्ति कर—मेरा संसारका भटकना मिटाकर मुझे कभी नाश न होनेवाला और अनन्त मोक्ष-सुख दें, जो केवलज्ञानरूपी अपूर्व नेत्रके धारक हैं, भव्यजनोंको हितकी और लगानेवाले हैं, देव, विद्याधर, चक्रवर्त्ती आदि महा पुरुषों द्वारा पूज्य हैं, और अनन्तचतुष्टय—अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यसे युक्त हैं तथा और भी अनन्त गुणोंके समुद्र हैं।

९३–अक्षरहीन अर्थकी कथा।

जिन भगवान्‌के चरणोंको नमस्कार कर अक्षर-हीन अर्थकी कथा लिखी जाती है।

मगधदेशकी राजधानी राजगृहके राजा जब वीरसेन थे, उस समयकी यह कथा है। वीर-सेनकी रानीका नाम वीरसेना था। इनके एक पुत्र हुआ। उसका नाम रक्खा गया सिंह। सिंहको पढ़ानेके लिए वीर-सेन महाराजने सोमशर्मा ब्राह्मणको रक्खा। सोमशर्मा सब विषयोंका अच्छा विद्वान् था।

पोद्नापुरके राजा सिंहरथके साथ वीरसेनकी बहुत दिनोंसे शत्रुता चली आती थी। सो मौका पाकर वीरसेनने उस पर चढ़ाई करदी। वहाँसे वीरसेनने अपने यहाँ एक राज्य-व्यवस्थाकी बाबत पत्र लिखा। और और समाचारोंके सिवा पत्रमें वीरसेनने एक यह भी समाचार लिख दिया था कि राजकुमार सिंहके पठन-पाठनकी व्यवस्था अच्छी तरह करना। इसके लिए उन्होंने यह वाक्य लिखा था कि "सिंहो ध्यापायितव्यः"। जब यह पत्र पहुँचा तो इसे एक अर्धदग्धने बाँचकर सोचा—'ध्यै' धातुका अर्थ है स्मृति या चिन्ता करना। इसलिए इसका अर्थ हुआ कि 'राजकुमार पर अब राज्य-चिन्ताका भार डाला जाय'। उसे अब

पढ़ाना उचित नहीं। बात यह थी कि उक्त वाक्यके पृथक् पद करनेसे–' सिंहः अध्यापयितव्यः ' ऐसे पद होते हैं और इनका अर्थ होता है–सिंहको पढ़ाना, पर उस बाँचनेवाले अर्धदग्धने इस वाक्यके –' सिंहः ध्यापयितव्यः ' ऐसे पद समझकर इसके सन्धिस्थ अकार पर ध्यान न दिया और केवल ' ध्यै ' धातुसे बने हुए ' ध्यापयितव्यः ' का चिन्ता अर्थ करके राकुमारका लिखना-पढ़ना छुड़ा दिया। व्याकरणके अनुसार तो उक्त वाक्यके दोनों ही तरह पद होते हैं और दोनों ही शुद्ध हैं, पर यहाँ केवल व्याकरणकी ही दरकार न थी। कुछ अनुभव भी होना चाहिए था। पत्र बाँचनेवालेमें इस अनुभवकी कमी होनेसे उसने राजकुमारका पठन-पाठन छुड़ा दिया। इसका फल यह हुआ कि जब राजा आये और अपने कुमारका पठन-पाठन छूटा हुआ देखा तो उन्होंने उसके कारणकी तलाश की। यथार्थ बात मालूम हो जाने पर उन्हें उस अर्धदग्ध–मूर्ख पत्र बाँचनेवाले पर बड़ा गुस्सा आया। उन्होंने इस मूर्खताकी उसे बड़ी कड़ी सजा दी। इस कथासे भव्यजनोंको यह शिक्षा लेनी चाहिए कि वे कभी ऐसा प्रमाद न करें, जिससे कि अपने कार्यको किसी भी तरहकी हानि पहुँचे।

जिस प्रकार गुणहीन औषधिसे कोई लाभ नहीं होता–वह शरीरके किसी रोगको नहीं मिटा सकती, उसी तरह अक्षर

रहित शास्त्र या मंत्र वगैरह भी लाभ नहीं पहुँचा सकते। इसलिए बुद्धिमानोंको उचित है कि वे सदा शुद्ध रीतिसे शास्त्राभ्यास करें–उसमें किसी तरहका प्रमाद न करें, जिससे कि हानि होनेकी संभावना है।

१४–अर्थहीन वाक्यकी कथा।

र्भ, जनम, तप, ज्ञान और निर्वाण ऐसे पाँचों कल्याणोंमें स्वर्गके देवोंने आकर जिनकी बड़ी भक्तिसे पूजा की, उन जिन भगवानको नमस्कार कर अर्थहीन अर्थात् उलटा अर्थ करनेके सम्बन्धकी कथा लिखी जाती है।

वसुपाल अयोध्याके राजा थे। उनकी रानीका नाम वसुमती था। इनके वसुमित्र नामका एक बुद्धिवान् पुत्र था। वसुपालने अपने पुत्रके लिखने-पढ़नेका भार एक गर्ग नामके विद्वान पंडितको सौंपकर उज्जैनके राजा वीरदत्त पर चढ़ाई करदी। कारण वीरदत्त हर समय वसुपालका मानभंग किया करता था और उनकी प्रजाको भी कष्ट दिया करता था। वसुपाल उज्जैन आकर कुछ दिनोंतक शहरका घेरा डाले रहे। इस समय उन्होंने अपनी राज्य-व्यवस्थाके सम्बन्धका एक पत्र अयोध्या भेजा। उसीमें अपने पुत्रके बाबत उन्होंने लिखा—

" पुत्रोध्यापयितव्योसौ वसुमित्रोति सादरम् ।
शालिभक्तं मासिस्पृक्तं सर्पियुक्तं दिनं प्रति ॥
गर्गोपाध्यायकस्योच्चैर्दीयते भोजनाय च । "

इसका भाव यह है– ' वसुमित्रके पढ़ाने-लिखानेका प्रबन्ध अच्छा करना–कोई त्रुटि न करना और उसके पढ़ानेवाले पंडितजीको खाने पीनेकी कोई तकलीफ न हो–उन्हें घी, चावल, दूध-भात, वगैरह खानेको दिया करना।' पत्र पहुँचा। बाँचनेवालेने उसे ऐसा ही बाँचा। पर श्लोकमें " मसिस्पृक्तं एक शब्द है। इसका अर्थ करनेमें वह गल्ती

१—श्लोकमें 'मसिस्पृक्तं' शब्द है; उससे ग्रन्थकारका क्या मतलब है वह समझमें नहीं आता। पर वह ऐसी जगह प्रयोग किया गया है कि उसे " शालिभक्त " का विशेषण न किये गति ही नहीं है। आराधनाकथाकोशकी छन्दोबन्ध भाषा बनानेवाले पंडित बख्तावरमल उक्त श्लोकोंकी भाषा यों करते हैं—

" सुत वसुमित्र पढ़ाइयो नित्त, गर्गनाम पाठक जो पवित्त ।
ताको भोजन तंदुल घीव, लिखन हेत मसि देव सदीव ॥ "

पंडित बख्तावरमलजीने ' मसिस्पृक्तं ' शब्दका अर्थ किया है–उपाध्यायको लिखनेको स्याही देना। यह उन्होंने कैसे ही किया हो, पर उस शब्दमें ऐसी कोई शक्ति नहीं जिससे कि यह अर्थ किया जा सके। और यदि ग्रन्थकारका भी इसी अर्थसे मतलब हो तो कहना पड़ेगा कि उनकी रचनाशक्ति बड़ी ही शिथिल थी। हमारा यह विश्वास केवल इसी डेढ़ श्लोकसे ही ऐसा नहीं हुआ, किन्तु इतने बड़े ग्रन्थमें जगह जगह, श्लोक श्लोकमें ऐसी ही शिथिलता देख पड़ती है। हाँ यह कहा जा सकता है कि ग्रन्थकारने इतना बड़ा ग्रन्थ बना जरूर लिया, पर हमारे विश्वासके अनुसार उन्हें ग्रन्थकी साहित्यसुन्दरता, रचना सुन्दरता आदि बातोंमें बहुत थोड़ी भी सफलता शायद ही प्राप्त हुई हो! इस विषयका एक पृथक् लेख लिखकर हम पाठकोंकी सेवामें उपस्थित करेंगे, जिससे वे हमारे कथनमें कितना तथ्य है, इसका ठीक ठीक पता पा सकेंगे।

कर गया। उसने इसे ‘ शाळिभक्तं ’ का विशेषण समझ यह अर्थ किया कि घी, दूध और मांसि मिले चावल पंडितजीको खानेको देना। ऐसा ही हुआ। जब बेचारे पंडितजी भोजन करनेको बैठते तब चावलोंमें घी वगैरहके साथ थोड़ा कोयला भी पीसकर मिला दिया जाया करता था।

जब राजा विजय प्राप्त कर लौटे तब उन्होंने पंडितजीसे कुशल समाचार पूछा। उत्तरमें पंडितजीने कहा–राजाधिराज, आपके पुण्य प्रसादसे मैं हूँ तो अच्छी तरह, पर खेद है कि आपके कुल परम्पराकी रीतिके अनुसार मुझसे मसि–कोयला नहीं खाया जा सकता। इसलिए अब क्षमा कर आज्ञा दें तो बड़ी कृपा हो। राजाको पंडितजीकी बातका बड़ा अचंभा हुआ। उनकी समझमें न आया कि बात क्या

२–‘ मसि ’ का अर्थ स्याही प्रसिद्ध है। पं० वख्तावरमलजीने भी स्याही अर्थ किया है। पर ग्रन्थकार इसका अर्थ करते हैं–‘ कोयला ’!

देखिए—

मासिर्घृतं सुभक्तं च दीयते भोजनक्षणं।
चूर्णीकृत्य ततोङ्गारं घृतभक्तेन मिश्रितम्॥
दत्तं तस्मै इति।

स्याही काली होती है और कोयला भी काला, शायद इसी रंगकी समानतासे ग्रन्थकारने कोयलेकी जगह मसिका प्रयोग कर दिया होगा? पर है आश्चर्य! ग्रन्थकारने इस श्लोकमें मसि शब्दको अलग लिखा है, पर ऊपरके श्लोकमें आये हुए ‘ मसिस्पृक्तं ’ शब्दका ऐसा जुदा अर्थ किसी तरह नहीं किया जा सकता। ग्रन्थकारकी कमजोरीकी हद है, जो उनकी रचना इतनी शिथिल देख पड़ती है।

है । उन्होंने फिर उसका खुलासा पूछा । जब सब बातें उन्हें जान पड़ीं तब उन्होंने रानीसे पूछा--मैंने तो अपने पत्रमें ऐसी कोई बात न लिखी थी, फिर पंडितजीको ऐसा खानेको दिया जाकर क्यों तंग किया जाता था ? रानीने राजाके हाथमें उनका लिखा हुआ पत्र देकर कहा--आपके बाँचनेवालेने हमें यही मतलब समझाया था । इसलिए यह समझकर, कि ऐसा करनेसे राजा साहबका कोई विशेष मतलब होगा, मैंने ऐसी व्यवस्था की थी । सुनकर राजाको बड़ा गुस्सा आया । उन्होंने पत्र बाँचनेवालेको उसी समय देश निकालेकी सजा देकर उसे अपने शहर बाहर करवा दिया । इस लिए बुद्धिवानोंको उचित है कि वे लिखने-बाँचनेमें ऐसा प्रमादका अर्थ कर अनर्थ न करें ।

यह विचार कर जो पवित्र आचरणके धारी और ज्ञान जिनका धन है ऐसे सत्पुरुष भगवान्के उपदेश किये हुए, पुण्यके कारण और यश तथा आनन्दको देनेवाले ज्ञान--सम्यग्ज्ञानके प्राप्त करनेका भक्तिपूर्वक यत्न करेंगे वे अनन्तज्ञानरूपी लक्ष्मीका सर्वोच्च सुख लाभ करेंगे ।

९५-व्यंजनहीन अर्थकी कथा।

निर्मल केवलज्ञानके धारक श्रीजिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर व्यंजनहीन अर्थ करनेवालेकी कथा लिखी जाती है।

कुरुजांगल देशकी राजधानी हस्तिनापुरके राजा महापद्म थे। ये बड़े धर्मात्मा और जिन भगवान्के सच्चे भक्त थे। इनकी रानीका नाम पद्मश्री था। पद्मश्री सरल स्वभाववाली थी, सुन्दरी थी और कर्मोंके नाश करनेवाले जिनपूजा, दान, व्रत, उपवास-आदि पुण्यकर्म निरन्तर किया करती थी। मतलब यह कि जिनधर्म पर उसकी बड़ी श्रद्धा थी।

सुरम्य देशके पोदनापुरका राजा सिंहनाद और महापद्ममें दिनोंकी शत्रुता चली आ रही थी। इसलिए मौका पाकर महापद्मने उस पर चढ़ाई करदी। पोदनापुरमें महापद्मने एक 'सहस्रकूट' नामसे प्रसिद्ध जिनमन्दिर देखा। मन्दिरकी हजार खंभोंवाली भव्य और विशाल इमारत देखकर महापद्म बड़े खुश हुए। इनके हृदयमें भी धर्मप्रेमका प्रवाह बहा। अपने शहरमें भी एक ऐसे ही सुन्दर मन्दिरके बनवानेकी इनकी भी इच्छा हुई। तब उसी समय इन्होंने अपनी राजधानीमें पत्र लिखा। उसमें इन्होंने लिखा-

" महास्तंभसहस्रस्य कर्त्तव्यः संग्रहो ध्रुवम् ।"

अर्थात्—बहुत जल्दी बड़े बड़े एक हजार खम्भे इकट्ठे करना।" पत्र बाँचनेवालेने इसे भ्रमसे पढ़ा—

" महास्तभसहस्रस्य कर्त्तव्यः संग्रहो ध्रुवम्। 'स्तंभ' शब्दको 'स्तभ' समझकर उसने खंभेकी जगह एक हजार बकरोंको इकट्ठा करनेको कहा। ऐसा ही किया गया। तत्काल एक हजार बकरे मँगवाये जाकर वे अच्छे खाने पिलाने द्वारा पाले जाने लगे।

जब महाराज लौटकर वापिस आये तो उन्होंने अपने कर्मचारियोंसे पूछा कि मैंने जो आज्ञा की थी, उसकी तामील की गई? उत्तरमें उन्होंने 'जी हाँ' कहकर उन बकरोंको महाराजको दिखलाया। महापद्म देखकर सिरसे पैरतक जल उठे। उन्होंने गुस्सा होकर कहा—मैंने तो तुम्हें एक हजार खंभोंको इकट्ठा करनेको लिखा था, तुमने यह क्या किया? तुम्हारे इस अविचारकी सजा मैं तुम्हें जीवनदण्ड देता हूँ। महापद्मकी ऐसी कठोर सजा सुनकर वे बेचारे बड़े घबराये! उन्होंने हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि महाराज, इसमें हमारा तो कुछ दोष नहीं है। हमें तो जैसा पत्र बाँचनेवालेने कहा, वैसा ही हमने किया। महाराजने तब उसी समय पत्र बाँचनेवालेको बुलाकर उसके इस गुरुतर अपराधकी जैसी चाहिए वैसी सजा की। इसलिए बुद्धिमा-

नोंको उचित है कि वे ज्ञान, ध्यान आदि कामोंमें कभी ऐसा प्रमाद न करें। क्योंकि प्रमाद कभी सुखके लिए नहीं होता।

जो सत्पुरुष भगवान्‌के उपदेश किये पवित्र और पुण्यमय ज्ञानका अभ्यास करेंगे वे फिर मोह उत्पन्न करनेवाले प्रमादको न कर सुख देनेवाले जिनपूजा, दान, व्रत, उपवासादि धार्मिक कामोंमें अपनी बुद्धिको लगाकर केवलज्ञानका अनन्तसुख प्राप्त करेंगे।

९६–धरसेनाचार्यकी कथा।

उन जिन भगवानको नमस्कार कर, जिनका कि केवलज्ञान एक सर्वोच्च नेत्रकी उपमा धारण करनेवाला है, हीनाधिक अक्षरोंसे सम्बन्ध रखनेवाली धरसेनाचार्यकी कथा लिखी जाती है।

गिरनार पर्वतकी एक गुहामें श्रीधरसेनाचार्य, जो कि जैनधर्मरूप समुद्रके लिए चन्द्रमाकी उपमा धारण करनेवाले हैं, निवास करते थे। उन्हें निमित्तज्ञानसे जान पड़ा कि उनकी उमर बहुत थोड़ी रह गई है। तब उन्हें दो ऐसे विद्यार्थियोंकी आवश्यकता पड़ी कि जिन्हें वे शास्त्रज्ञानकी रक्षाके लिए कुछ अङ्गादिका ज्ञान करादें। आचार्यने तब तीर्थयात्राके लिए

आन्ध्रदेशके वेनातट नगरमें आये हुए संघाधिपति महासेनाचार्यको एक पत्र लिखा । उसमें उन्होंने लिखा—

"भगवान् महावीरका शासन अचल रहे, उसका सब देशोंमें प्रचार हो । लिखनेका कारण यह है कि इस कलियुगमें अङ्गादिका ज्ञान यद्यपि न रहेगा तथापि शास्त्रज्ञानकी रक्षा हो, इसलिए कृपाकर आप दो ऐसे बुद्धिमान् विद्यार्थियोंको मेरे पास भेजिए, जो बुद्धिके बड़े तीक्ष्ण हों, स्थिर हों, सहनशील हों और जैनसिद्धान्तका उद्धार कर सकें । "

आचार्यने पत्र देकर एक ब्रह्मचारीको महासेनाचार्यके पास भेजा । महासेनाचार्य उस पत्रको पढ़कर बहुत खुश हुए । उन्होंने तब अपने संघमेंसे पुष्पदन्त और भूतबलि ऐसे दो धर्मप्रेमी और सिद्धान्तके उद्धार करनेमें समर्थ मुनियोंको बड़े प्रेमके साथ धरसेनाचार्यके पास भेजा । ये दोनों मुनि जिस दिन आचार्यके पास पहुँचनेवाले थे, उसकी पिछली रातको धरसेनाचार्यको एक स्वप्न देख पड़ा । स्वप्नमें उन्होंने दो हृष्टपुष्ट, सुडौल और सफेद बैलोंको बड़ी भक्तिसे अपने पाँवोंमें पड़ते देखा । इस उत्तम स्वप्नको देखकर आचार्यको जो प्रसन्नता हुई वह लिखी नहीं जा सकती । वे ऐसा कहते हुए, कि सब सन्देहोंके नाश करनेवाली श्रुतदेवी—जिनवानी सदाकाल इस संसारमें जय लाभ करे, उठ बैठे । स्वप्नका फल उनके विचारानुसार ठीक निकला । सबेरा होते ही दो मुनियोंने, जिनकी कि उन्हें

चाह थी, आकर आचार्यके पाँवोंमें बड़ी भक्तिके साथ अपना सिर झुकाया और आचार्यकी स्तुति की। आचार्यने तब उन्हें आशीर्वाद दिया–तुम चिरकाल जीकर महावीर भगवान्के पवित्र शासनकी सेवा करो । अज्ञान और विषयोंके दास बने संसारी जीवोंको ज्ञान देकर उन्हें कर्त्तव्यकी ओर लगाओ । उन्हें सुझाओ कि अपने धर्म, और अपने भाइयोंके प्रति जो उनका कर्त्तव्य है वे उसे पूरा करें।

इसके बाद आचार्यने इन दोनों मुनियोंको दो तीन दिन तक अपने पास रक्खा और उनकी बुद्धि, शक्ति, सहनशीलता, कर्त्तव्य बुद्धिका परिचय प्राप्त कर दोनोंको दो विद्याएँ सिद्ध कनरेको दीं। आचार्यने इनकी परीक्षाके लिए विद्या साधनेके मंत्रोंके अक्षरोंको कुछ न्यूनाधिक कर दिया था। आचार्यकी आज्ञानुसार ये दोनों इसी गिरनार पर्वतके एक पवित्र और एकान्त भागमें भगवान् नेमिनाथकी निर्वाणशिला पर पवित्र मनसे विद्या सिद्ध करनेको बैठे। मंत्र साधनकी अवधि जब पूरी होनेको आई तब दो देवियाँ इनके पास आईं। इन देवियोंमें एक देवी तो आंखोंसे अन्धी थी और दूसरीके दांत बड़े और बाहर निकले हुए थे। देवियोंके ऐसे असुन्दर रूपको देखकर इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। इन्होंने सोचा देवोंका तो ऐसा रूप होता नहीं, फिर यह क्यों? तब इन्होंने मंत्रोंकी जाँच की–मंत्रोंको व्याकरणसे उन्होंने मिलाया कि कहीं उनमें तो गल्ती न रह गई हो?

इनका अनुमान सच हुआ । मंत्रोंकी गलती इन्हें भास गई । फिर इन्होंने उन्हें शुद्ध कर जपा । अबकी बार दो देवियाँ सुन्दर वेषमें इन्हें देख पड़ी । गुरुके पास आकर तब इन्होंने अपना सब हाल कहा । धरसेनाचार्य इनका वृत्तान्त सुनकर बड़े प्रसन्न हुए । आचार्यने इन्हें सब तरह योग्य पा फिर खूब शास्त्राभ्यास कराया । आगे चलकर यही दो मुनिराज गुरु-सेवाके प्रसादसे जैनधर्मके धुरन्धर विद्वान् बनकर सिद्धान्तके उद्धारकर्त्ता हुए । जिस प्रकार इन मुनियोंने शास्त्रोंका उद्धार किया उसी प्रकार अन्य धर्मप्रेमियोंको भी शास्त्रोद्धार या शास्त्रप्रचार करना उचित है ।

श्रीमान् धरसेनाचार्य और जैनसिद्धान्तके समुद्र श्रीपुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य मेरी बुद्धिको स्वर्गमोक्षका सुख देनेवाले पवित्र जैनधर्ममें लगावें, जो जीव मात्रका हित करनेवाले और देवों द्वारा पूजा किये जाते हैं ।

९७–सुव्रत मुनिराजकी कथा ।

देवों द्वारा जिनके पाँव पूजे जाते हैं, उन जिन भगवान्को नमस्कार कर सुव्रत मुनिराजकी कथा लिखी जाती है ।

सुराष्ट्र देशकी सुन्दर नगरी द्वारकामें अन्तिम नारायण श्रीकृष्णका जन्म हुआ । श्रीकृष्णकी

कई स्त्रियाँ थीं, पर उन सबमें सत्यभामा बड़ी भाग्यवती थी। श्रीकृष्णका सबसे अधिक प्रेम इसी पर था । श्रीकृष्ण अर्धचक्री थे–तीन खण्डके मालिक थे। हजारों राजे महाराजे इनकी सेवामें सदा उपस्थित रहा करते थे ।

एक दिन श्रीकृष्ण नेमिनाथ भगवान्‌के दर्शनार्थ समवसरणमें जा रहे थे। रास्तेमें इन्होंने तपस्वी श्रीसुव्रत मुनिराजको सरोग दशामें देखा। सारा शरीर उनका रोगसे कष्ट पा रहा था। उनकी यह दशा श्रीकृष्णसे न देखी गई । धर्मप्रेमसे उनका हृदय अस्थिर हो गया। उन्होंने उसी समय एक जीवक नामके प्रसिद्ध वैद्यको बुलाया और मुनिको दिखलाकर औषधिके लिए पूछा। वैद्यके कहे अनुसार सब श्रावकोंके घरोंमें उन्होंने औषधि-मिश्रित लड्डुओंके बनवानेकी सूचना करवादी । थोड़े ही दिनोंमें इस व्यवस्थासे मुनिको आराम हो गया–सारा शरीर फिर पहलेसा सुन्दर हो गया। इस औषधिदानके प्रभावसे श्रीकृष्णके तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध हुआ। सच है, सुखके कारण सुपात्रदानसे संसारमें सत्पुरुषोंको सभी कुछ प्राप्त होता है।

निरोग अवस्थामें सुव्रत मुनिराजको एक दिन देखकर श्रीकृष्ण बड़े खुश हुए। इसलिए कि उन्हें अपने काममें सफलता प्राप्त हुई। उनसे उन्होंने पूछा–भगवन्, अब अच्छे तो हैं ? उत्तरमें मुनिराजने कहा–राजन्, शरीर स्वभावहीसे अपवित्र, नाश होनेवाला और क्षण क्षणमें अनेक अवस्था-

ओंको बदलनेवाला है, इसमें अच्छा और बुरा पन क्या है ? पदार्थोंका जैसा परिवर्तन स्वभाव है उसी प्रकार यह कभी निरोग और कभी सरोग हो जाया करता है। हो, मुझे न इसके रोगी होनेमें खेद है और न निरोग होनेमें हर्ष ! मुझे तो अपने आत्मासे काम, जिसे कि मैं प्राप्त करनेमें लगा हुआ हूँ और जो मेरा परम कर्त्तव्य है। सुव्रत योगिराजकी शरीरसे इस प्रकार निस्पृहता देखकर श्रीकृष्णको बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने मुनिको नमस्कार कर उनकी बड़ी प्रशंसा की।

पर जब मुनिकी यह निस्पृहता जीवक वैद्यके कानोंमें पहुँची तो उन्हें इस बातका बड़ा दुःख हुआ, बल्कि मुनि पर उन्हें अत्यन्त घृणा हुई, कि मुनिका मैंने इतना उपकार किया तब भी उन्होंने मेरे सम्बन्धमें तारीफका एक शब्द भी न कहा ! इससे उन्होंने मुनिको बड़ा कृतघ्न समझ उनकी बहुत निन्दा की—बुराई की। इस मुनिनिन्दासे उन्हें बहुत पापका बन्ध हुआ। अन्तमें जब उनकी मृत्यु हुई तब वे इस पापके फलसे नर्मदाके किनारे पर एक बन्दर हुए। सच है, अज्ञानियोंको साधुओंके आचार-विचार, व्रत-नियमादिकोंका कुछ ज्ञान तो होता नहीं और व्यर्थ उनकी निन्दा—बुराई कर वे पापकर्म बाँध लेते हैं। इससे उन्हें दुःख उठाना पड़ता है।

एक दिनकी बात है कि यह जीवक वैद्यका जीव बन्दर जिस वृक्ष पर बैठा हुआ था, उसके नीचे यही सुव्रत मुनिराज ध्यान कर रहे थे। इस समय उस वृक्षकी एक टहनी

टूट कर मुनि पर गिरी। उसकी तीखी नोंक जाकर मुनिके पेटमें घुस गई। पेटका कुछ हिस्सा चिरकर उससे खून बहने लगा। मुनि पर जैसी ही उस बन्दरकी नजर पड़ी उसे जातिस्मरण हो गया। वह पूर्व जन्मकी शत्रुता भूलकर उसी समय दौड़ा गया और थोड़ी ही देरमें और बहुतसे बन्दरोंको बुलालाया। उन सबने मिलकर उस डालीको बड़ी सावधानीसे खींचकर निकाल लिया। और वैद्यके जीवने पूर्वजन्मके संस्कारसे जंगलसे जड़ी-बूँटी लाकर उसका रस मुनि-के घाव पर निचोड़ दिया। उससे मुनिको कुछ शान्ति मिली। इस बन्दरने भी इस धर्मप्रेमसे बहुत पुण्यबंध किया। सच है, पूर्व जन्मोंमें जैसा अभ्यास किया जाता है—जैसा पूर्व जन्मका संस्कार होता है दूसरे जन्मोंमें भी उसका संस्कार बना रहता है और प्रायः जीव वैसा ही कार्य करने लगता है।

बन्दरमें—एक पशुमें इस प्रकार दयाशीलता देखकर मुनि-राजने अवधिज्ञान द्वारा विचारा तो उन्हें जीवक वैद्यके जन्मका सब हाल ज्ञात हो गया। उन्होंने तब उसे भव्य सम-झकर उसके पूर्वजन्मकी सब कथा उसे सुनाई और धर्मका उपदेश किया। मुनिकी कृपासे धर्मका पवित्र उपदेश सुन-कर धर्म पर उसकी बड़ी श्रद्धा हो गई। उसने भक्तिसे सम्यक्त्व-व्रत पूर्वक अणुव्रतोंको ग्रहण किया। उन्हें उसने बड़ी अच्छी तरह पाला भी। अन्तमें वह सात दिनका संन्यास ले मरा। इस धर्मके प्रभावसे वह सौधर्म स्वर्गमें

जाकर देव हुआ। सच है, जैनधर्मसे प्रेम करनेवालोंको क्या प्राप्त नहीं होता। देखिए, यह धर्मका ही तो प्रभाव था जिससे कि एक बन्दर–पशु देव हो गया! इसलिए धर्म या गुरुसे बढ़कर संसारमें कोई सुखका कारण नहीं है।

वह जैनधर्म जयलाभ करे–संसारमें निरन्तर चमकता रहे, जिसके प्रसादसे एक तुच्छ प्राणी भी देव, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि महापुरुषोंकी सम्पत्ति लाभ कर–उसका सुख भोगकर अन्तमें मोक्षश्रीका अनन्त, अविनाशी सुख प्राप्त करता है। इसलिए आत्महित चाहनेवाले बुद्धिवानोंको उचित है–उनका कर्त्तव्य है कि वे मोक्षसुखके लिए परम पवित्र जैनधर्मके प्राप्त करनेका और प्राप्त कर उसके पालनेका सदा यत्न करें।

९८–हरिषेण चक्रवर्तीकी कथा।

केवलज्ञान जिनका नेत्र है ऐसे जिन भगवानको नमस्कार कर हरिषेण चक्रवर्तीकी कथा लिखी जाती है।

अंगदेशके सुप्रसिद्ध कांपिल्य नगरके राजा सिंहध्वज थे। इनकी रानीका नाम वप्रा था। कथानायक हरिषेण इसीका पुत्र था। हरिषेण बुद्धिमान् था, शूर-

वीर था, सुन्दर था, दानी था, और बड़ा तेजस्वी था। सब उसका बड़ा मान–आदर करते थे।

हरिषेणकी माता धर्मात्मा थी। भगवान् पर उसकी अचल भक्ति थी। यही कारण था कि वह अठाईके पर्वमें सदा जिन भगवान्का रथ निकलवाया करती और उत्सव मनाती। सिंहध्वजकी दूसरी रानी लक्ष्मीमतीको जैनधर्म पर विश्वास न था। वह सदा उसकी निन्दा किया करती थी। एक बार उसने अपने स्वामीसे कहा–प्राणनाथ, आज पहले मेरा ब्रह्माजीका रथ शहरमें घूमे, ऐसी आप आज्ञा दीजिए। सिंहध्वजने इसका परिणाम क्या होगा, इस पर कुछ विचार न कर लक्ष्मीमतीका कहा मान लिया। पर जब धर्मवत्सल वप्रा रानीको इस बातकी खबर मिली तो उसे बड़ा दुःख हुआ। उसने उसी समय प्रतिज्ञा की कि मैं अब खाना-पीना तभी करूँगी जब कि मेरा रथ पहले निकलेगा। सच है, सत्पुरुषोंको धर्म ही शरण होता है–उनकी धर्मतक ही दौड़ होती है।

हरिषेण इतनेमें भोजन करनेको आया। उसने सदाकी भाँति आज अपनी माताको हँस-मुख न देखकर उदास मन देखा। इससे उसे बड़ा खेद हुआ। माता क्यों दुखी हैं, इसका कारण जब उसे जान पड़ा तब वह एक पलभर भी फिर वहाँ न ठहर कर घरसे निकल पड़ा। यहाँसे चलकर वह एक चोरोंके गाँवमें पहुँचा। इसे देखकर एक तोता अपने मालिकोंसे बोला–जो कि चोरोंका सिखाया-पढ़ाया था,

देखिए, यह राजकुमार जा रहा है, इसे पकड़ो। तुम्हें लाभ होगा। तोतेके इस कहने पर किसी चोरका ध्यान न गया। इसलिए हरिषेण बिना किसी आफतके आये यहाँसे निकल गया। सच है, दुष्टोंकी संगति पाकर दुष्टता आती ही है। फिर ऐसे जीवोंसे कभी किसीका हित नहीं होता।

यहाँसे निकल कर हरिषेण फिर एक शतमन्यु नामके तापसीके आश्रममें पहुँचा। वहाँ भी एक तोता था। परन्तु यह पहले तोतेसा दुष्ट न था। इसलिए इसने हरिषेणको देखकर मनमें सोचा कि जिसके मुँह पर तेजस्विता और सुन्दरता होती है उसमें गुण अवश्य ही होते हैं। यह जानेवाला भी कोई ऐसा ही पुरुष होना चाहिए। इसके बाद ही उसने अपने मालिक तापसियोंसे कहा—यह राजकुमार जा रहा है। इसका आप लोग आदर करें। राजकुमारको बड़ा अचंभा हुआ। उसने पहलेका हाल कह कर इस तोतेसे पूछा—क्यों भाई, तेरे एक भाईने तो अपने मालिकोंसे मेरे पकड़नेको कहा था और तू अपने मालिकोंसे मेरा मान-आदर करनेको कह रहा है, इसका कारण क्या है ? तोता बोला—अच्छा राजकुमार, सुनो मैं तुम्हें इसका कारण बतलाता हूँ। उस तोतेकी और मेरी माता एक ही है—हम दोनों भाई भाई हैं। इस हालतमें मुझमें और उसमें विशेषता होनेका कारण यह है कि मैं इन तपस्वियोंके हाथ पड़ा और वह चोरोंके। मैं रोज रोज इन महात्माओंकी अच्छी अच्छी बातें सुना करता

हूँ और वह उन चोरोंकी बुरी बुरी बातें सुनता है। इसीलिए मुझमें और उसमें इतना अन्तर है। सो आपने अपनी आँखों देख ही लिया कि दोष और गुण ये संगतिके फल हैं। अच्छोंकी संगतिसे गुण प्राप्त होते हैं और बुरोंकी संगतिसे दुर्गुण।

इस आश्रमके स्वामी तापसी शतमन्यु पहले चम्पापुरीके राजा थे। इनकी रानीका नाम नागवती है। इनके जनमेजय नामका एक पुत्र और मदनावली नामकी एक कन्या है। शतमन्यु अपने पुत्रको राज्य देकर तापसी हो गये। राज्य अब जनमेजय करने लगा। एक दिन जनमेजयसे मदनावलीके सम्बन्धमें एक ज्योतिषीने कहा कि यह कन्या चक्रवर्त्तीका सर्वोच्च स्त्रीरत्न होगा। और यह सच है कि ज्ञानियोंका कहा कभी झूठा नहीं होता।

जब मदनावलीकी इस भविष्यवाणीकी सब ओर खबर पहुँची तो अनेक राजे लोग उसे चाहने लगे। इन्हींमें उड्देशका राजा कलकल भी था। उसने मदनावलीके लिए उसके भाईसे मँगनी की। उसकी यह मँगनी जनमेजयने नहीं स्वीकारी। इससे कलकलको बड़ा नागवार गुजरा। उसने रुष्ट होकर जनमेजय पर चढ़ाई करदी और चम्पापुरीके चारों ओर घेरा डाल दिया। सच है, कामसे अन्धे हुए मनुष्य कौन काम नहीं कर डालते। जनमेजय भी कोई ऐसा डरपोंक राजा न था। उसने फौरन ही युद्धस्थलमें

आ-डटनेकी अपनी सेनाको आज्ञा दी । दोनों ओरके वीर योद्धाओंकी मुठभेड़ हो गई । खूब घमासान युद्ध आरंभ हुआ । इधर युद्ध छिड़ा और उधर नागवती अपनी लड़की मदनावलीको साथ ले सुरंगके रास्तेसे निकल भागी । वह इसी शतमन्युके आश्रममें आई । पाठकोंको याद होगा कि यही शतमन्यु नागवतीका पति है । उसने युद्धका सब हाल शतमन्युसे कह सुनाया । शतमन्युने तब नागवती और मद-नावलीको अपने आश्रममें ही रख लिया ।

हरिषेण राजकुमारका ऊपर जिकर आया है । इसका मदनावली पर पहलेसे ही प्रेम था । हरिषेण उसे बहुत चाहता था । यह बात आश्रमवासी तापसियोंको मालूम पड़ जानेसे उन्होंने हरिषेणको आश्रमसे निकाल बाहर कर दिया । हरि-षेणको इससे बुरा तो बहुत लगा, पर वह कुछ कर-धर नहीं सकता था । इसलिए लाचार होकर उसे चला जाना ही पड़ा । इसने चलते समय प्रतिज्ञा की कि यदि मेरा इस पवित्र राज-कुमारीके साथ ब्याह होगा तो मैं अपने सारे देशमें चार चार कोसकी दूरी पर अच्छे अच्छे सुन्दर और विशाल जिनमन्दिर बनवाऊँगा, जो पृथिवीको पवित्र करनेवाले कहलायँगे । सच है, उन लोगोंके हृदयमें जिनेन्द्र भगवानकी भक्ति सदा रहा करती है जो स्वर्ग या मोक्षका सुख प्राप्त करनेवाले होते हैं ।

प्रसिद्ध सिन्धुदेशके सिन्धुतट शहरके राजा सिन्धुनद और रानी सिन्धुमतीके कोई सौ लड़कियाँ थीं । ये सब ही

बड़ी सुन्दर थीं। इन लड़कियोंके सम्बन्धमें नैमित्तिकने कहा था कि–ये सब राजकुमारियाँ चक्रवर्त्ती हरिषेणकी स्त्रियाँ होंगी। ये सिन्धुनदी पर स्नान करनेके लिए जायँगी। इसी समय हरिषेण भी यहीं आ-जायगा। तब परस्परकी चार आँखें होते ही दोनों ओरसे प्रेमका बीज अंकुरित हो उठेगा।

नैमित्तिकका कहना ठीक हुआ। हरिषेण दूसरे राजाओं पर विजय करता हुआ इसी सिन्धुनदीके किनारे पर आकर ठहरा। इसी समय सिन्धुनदकी कुमारियाँ भी यहाँ स्नान करनेके लिए आई हुई थीं। प्रथम ही दर्शनमें दोनोंके हृदयोंमें प्रेमका अंकुर फूटा और फिर वह क्रमसे बढ़ता ही गया। सिन्धुनदसे यह बात छिपी न रही। उसने प्रसन्न होकर हरिषेणके साथ अपनी लड़कियोंका ब्याह कर दिया।

रातको हरिषेण चित्रशाला नामके एक खास महलमें सोया हुआ था। इसी समय एक वेगवती नामकी विद्याधरी आकर हरिषेणको सोता हुआ ही उठा ले चली। रास्तेमें हरिषेण जग उठा। अपनेको एक स्त्री कहीं लिए जा रही है, इस बातकी मालूम होते ही उसे बड़ा गुस्सा आया। उसने तब उस विद्याधरीको मारनेके लिए घूँसा उठाया। उसे गुस्सा हुआ देख विद्याधरी डरी और हाथ जोड़कर बोली–महाराज, क्षमा कीजिए। मेरी एक प्रार्थना सुनिए। विजयार्द्ध पर्वत पर बसे हुए सूर्योदर शहरके

राजा इन्द्रधनु और रानी बुद्धिमतीकी एक कन्या है। उसका नाम जयचन्द्रा है। वह सुन्दर है, बुद्धिमती है और बड़ी चतुर है। पर उसमें एक ऐब है और वह महा ऐब है। वह यह कि उसे पुरुषोंसे बड़ा द्वेष है--पुरुषोंको वह आँखोंसे देखना तक पसंद नहीं करती। नैमित्तिकने उसके सम्बन्धमें कहा है कि जो सिन्धुनदकी सौ राजकुमारियोंका पति होगा, वही इसका भी होगा। तब मैंने आपका चित्र लेजाकर उसे बतलाया। वह उसे देख कर बड़ी प्रसन्न हुई। उसका सब कुछ आप पर न्योछावर हो चुका है। वह आपके सम्बन्धकी तरह तरहकी बातें पूछा करती है और बड़े चावसे उन्हें सुनती है। आपका जिकर छिड़ते ही वह बड़े ध्यानसे उसे सुनने लगती है। उसकी इन सब चेष्टाओंसे जान पड़ता है कि उसका आप पर अत्यन्त प्रेम है। यही कारण है कि मैं उसकी आज्ञासे आपको उसके पास लिए जा रही हूँ। सुनकर हरिषेण बहुत खुश हुआ और फिर वह कुछ भी न बोलकर जहाँ उसे विद्याधरी लिवा गई चला गया। वेगवतीने हरिषेणको इन्द्रधनुके महल पर ला रक्खा। हरिषेणके रूप और गुणोंको देख कर सभीको बड़ी प्रसन्नता हुई। जयचन्द्राके माता पिताने उसके ब्याहका भी दिन निश्चित कर दिया। जो दिन ब्याहका था उस दिन राजकुमारी जयचन्द्राके मामाके लड़के गंगाधर और महीधर ये दोनों हरिषेण पर चढ़ आये। इसलिए कि वे

जयचन्द्राको स्वयं व्याहना चाहते थे। हरिषेणने इनके साथ बड़ी वीरतासे युद्ध कर इन्हें हराया। इस युद्धमें हरिषेणके हाथ जवाहिरात और बहुत धन-दौलत लगी। यह चक्रवर्त्ती होकर अपने घर लौटा। रास्तेमें इसने अपनी प्रेमिणी मद-नावलीसे भी व्याह किया। घर आकर फिर इसने अपनी माताकी इच्छा पूरी की। पहले उसीका रथ चला। इसके बाद हरिषेणने अपने देशभरमें जिन मन्दिर बनवा कर अपनी प्रतिज्ञाको भी निवाहा। सच है, पुण्यवानोंके लिए कोई काम कठिन नहीं।

वे जिनेन्द्र भगवान् सदा जयलाभ करें, जो देवादिकों द्वारा पूजा किये जाते हैं, गुणरूपी रत्नोंकी खान हैं, स्वर्ग-मोक्षके देनेवाले हैं, संसारके प्रकाशित करनेवाले निर्मल चन्द्रमा हैं केवलज्ञानी-सर्वज्ञ हैं और जिनके पवित्र धर्मका पालन कर भव्यजन सुख लाभ करते हैं।

९९-दूसरोंके गुण ग्रहण करनेकी कथा।

जिन्हें स्वर्गके देव पूजते हैं उन जिन भगवान्‌को नमस्कार कर दूसरोंके दोषोंको न देखकर गुण ग्रहण करनेवालेकी कथा लिखी जाती है।

एक दिन सौधर्म स्वर्गका इन्द्र धर्म-प्रेमके वश हो गुण-

वान् पुरुषोंकी अपनी सभामें प्रशंसा कर रहा था। उस समय उसने कहा–जिस पुरुषका–जिस महात्माका हृदय इतना उदार है कि वह दूसरोंके बहुतसे औगुणों पर बिलकुल ध्यान न देकर उसमें रहनेवाले गुणोंके थोड़े भी हिस्सेको खूब बढ़ानेका यत्न करता है–जिसका ध्यान सिर्फ गुणोंके ग्रहण करनेकी ओर है वह पुरुष–वह महात्मा संसारमें सबसे श्रेष्ठ है, उसीका जन्म भी सफल है। इन्द्रके मुँहसे इस प्रकार दूसरोंकी प्रशंसा सुन एक मौजीले देवने उससे पूछा–देवराज, जैसी इस समय आपने गुणग्राहक पुरुषकी प्रशंसा की है, क्या ऐसा कोई बड़भागी पृथ्वी पर है भी। इन्द्रने उत्तरमें कहा–हाँ हैं, और वे अन्तिम वासुदेव द्वारकाके स्वामी श्रीकृष्ण। सुनकर वह देव उसी समय पृथिवी पर आया। इस समय श्रीकृष्ण नेमिनाथ भगवान्के दर्शनार्थ जा रहे थे। इनकी परीक्षाके लिए यह मरे कुत्तेका रूपले रास्तेमें पड़ गया। इसके शरीरसे बड़ी ही दुर्गन्ध भभक रही थी। आने-जाने वालोंके लिए इधर होकर आना-जाना मुश्किल हो गया था। इसकी इस असह्य दुर्गन्धके मारे श्रीकृष्णके साथी सब भाग खड़े हुए। इसी समय वह देव एक दूसरे ब्राह्मणका रूप लेकर श्रीकृष्णके पास आया और उस कुत्तेकी बुराई करने लगा–उसके दोष दिखाने लगा। श्रीकृष्णने उसकी सब बातें सुन-सुना कर कहा–अहा! देखिए, इस कुत्तेके दाँतोंकी श्रेणी स्फटिकके समान कितनी निर्मल

और सुन्दर है। श्रीकृष्णने कुत्तेके और दोषों पर-उसकी दुर्गन्ध आदि पर कुछ ध्यान न देकर उसके दाँतोंकी--उसमें रहनेवाले थोड़ेसे भी अच्छे भागकी उलटी प्रशंसा ही की। श्रीकृष्णकी एक पशुके लिए इतनी उदार बुद्धि देखकर वह देव बहुत खुश हुआ। उसने फिर प्रत्यक्ष होकर सब हाल श्रीकृष्णसे कहा-और उचित आदर-मान करके आप अपने स्थान चला गया।

इसी तरह अन्य जिन भगवानके भक्त भव्यजनोंको भी उचित है कि वे दूसरोंके दोषोंको छोड़कर सुखकी प्राप्तिके लिए प्रेमके साथ उनके गुणोंको ग्रहण करनेका यत्न करें। इसीसे वे गुणज्ञ और प्रशंसाके पात्र कहे जा सकेंगे।

१००-मनुष्य-जन्मकी दुर्लभताके दस दृष्टान्त।

अतिशय निर्मल केवलज्ञानके धारक जिनेन्द्र भगवानको नमस्कार कर मनुष्य जन्मका मिलना कितना कठिन है, इस बातको दस दृष्टान्तों-उदाहरणों द्वारा खुलासा समझाया जाता है।

उन दृष्टान्तोंके नाम ये हैं-

१–चोल्लक, २–पासा, ३–धान्य, ४–जूआ, ५–रत्न, ६–स्वप्न, ७–चक्र, ८–कछुआ, ९–युग और १०–परमाणु ।

अब पहले ही चोल्लक दृष्टान्त लिखा जाता है, उसे आप ध्यानसे सुनें ।

संसारके हितकर्त्ता नेमिनाथ भगवान्‌को निर्वाण गये बाद अयोध्यामें ब्रह्मदत्त बारहवें चक्रवर्त्ती हुए । उनके एक वीर सामन्तका नाम सहस्रभट था । सहस्रभटकी स्त्री सुमित्राके सन्तानमें एक लड़का था । इसका नाम वसुदेव था । वसुदेव न तो कुछ पढ़ा-लिखा था और न राज-सेवा वगैरहकी उसमें योग्यता थी । इसलिए अपने पिताकी मृत्युके बाद उनकी जगह इसे न मिल सकी, जो कि एक अच्छी प्रतिष्ठित जगह थी । और यह सच है कि बिना कुछ योग्यता प्राप्त किये राज-सेवा आदि कामोंमें आदर–मानकी जगह मिल भी नहीं सकती । इसकी इस दशा पर माताको बड़ा दुःख हुआ । पर बेचारी कुछ करने-धरनेको लाचार थी । वह अपनी गरीबीके मारे एक पुरानी गिरी-पड़ी झोपड़ीमें आकर रहने लगी और जिस किसी प्रकार अपना गुजारा चलाने लगी । उसने भावी आशासे वसुदेवसे कुछ काम लेना शुरू किया । वह लड्डू, पेड़ा, पान–आदि वस्तुएँ एक खोमचेमें रखकर उसे आस-पासके गाँवोंमें भेजने लगी, इसलिए कि वसुदेवको कुछ परिश्रम करना आजाय–वह कुछ हुशियार हो जाय । ऐसा करनेसे सुमित्राको सफलता प्राप्त हुई और वसुदेव कुछ

सीख भी गया–उसे पहलेकी तरह अब निकम्मा बैठे रहना अच्छा न लगने लगा। सुमित्राने तब कुछ बसीला लगाकर वसुदेवको राजाका अंगरक्षक नियत करा दिया।

एक दिन चक्रवर्त्ती हवा-खोरीके लिए घोड़े पर सवार हो शहर बाहर हुए। जिस घोड़े पर वे बैठे थे वह बड़े दुष्ट स्वभावको लिए हुए था। सो जरा ही पाँवकी ऐड़ा लगाने पर वह चक्रवर्त्तीको लेकर हवा हो गया। बड़ी दूर जाकर उसने उन्हें एक बड़ी भयावनी बनीमे ला गिराया। इस समय चक्रवर्त्ती बड़े कष्टमें थे। भूख प्याससे उनके प्राण छटपटा रहे थे। पाठकोंको स्मरण है कि इनके अंगरक्षक वसुदेवको उसकी माने चलने-फिरने और दौड़ने-दुड़ानेके काममें अच्छा हुशियार कर दिया था। यही कारण था कि जिस समय चक्रवर्त्तीको घोड़ा लेकर भागा, उस समय वसुदेव भी कुछ खाने-पीनेकी वस्तुएँ लेकर उनके पीछे पीछे बेत-हाशा भागा गया। चक्रवर्त्तीको आध-पौन घंटा बनीमें बैठे हुआ होगा कि इतनेमें वसुदेव भी उनके पास जा पहुँचा। खाने-पीनेकी वस्तुएँ उसने महाराजकी भेट कीं। चक्रवर्ती उससे बहुत सन्तुष्ट हुए। सच है, योग्य समयमें थोड़ा भी दिया हुआ सुखका कारण होता है। जैसे बुझते हुए दीयेमें थोड़ासा भी तेल डालनेसे वह झटसे तेज हो उठता है। चक्रवर्त्तीने खुश होकर उससे पूछा-तू कौन है? उत्तरमें वसुदेवने कहा–महाराज, सहस्रभट साम-

न्तका मैं पुत्र हूँ। चक्रवर्ती फिर विशेष कुछ पूछ-पाछ न करके चलते समय उसे एक रत्नमयी कंकण देते गये। अयोध्यामें पहुँच कर ही उन्होंने कोतवालसे कहा—मेरा कड़ा खो गया है, उसे ढूँढ़कर पता लगाइए। राजाज्ञा पाकर कोतवाल उसे ढूँढ़नेको निकला। रास्तेमें एक जगह इसने वसुदेवको कुछ लोगोंके साथ कड़ेके सम्बन्धकी ही बात-चीत करते पाया। कोतवाल तब उसे पकड़ कर राजाके पास लिवाले गया। चक्रवर्ती उसे देखकर बोले—मैं तुझ पर बहुत खुश हूँ। तुझे जो चाहिए वही माँगले। वसुदेव बोला—महाराज, इस विषयमें मैं कुछ नहीं जानता कि मैं आपसे क्या माँगू। यदि आप आज्ञा करें तो मैं मेरी माको पूछ आऊँ। चक्रवर्तीके कहनेसे वह अपनी माके पास गया और उसे पूछ आकर चक्रवर्तीसे उसने प्रार्थना की—महाराज, आप मुझे चोल्लक भोजन कराइए। उससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। तब चक्रवर्त्तीने उससे पूछा—भाई, चोल्लक भोजन किसे कहते हैं? हमने तो उसका नाम भी आज तक नहीं सुना। वसुदेवने कहा—सुनिए महाराज, पहले ही बड़े आदरके साथ आपके महलमें मुझे भोजन कराया जाय और खूब अच्छे अच्छे सुन्दर कपड़े, गहने-दागीने दिये जायँ। इसके बाद इसी तरह आपकी रानियोंके महलोंमें क्रम क्रमसे मेरा भोजन हो। फिर आपके परिवार तथा मण्डलेश्वर राजाओंके यहाँ मुझे इसी प्रकार भोजन कराया जाय। इतना सब हो चुकने पर क्रम क्रमसे

फिर आपहीके यहाँ मेरा अन्तिम भोजन हो । महाराज, मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपकी आज्ञासे मुझे यह सब प्राप्त हो सकेगा ।

भव्यजनो, इस उदाहरणसे यह शिक्षा लेनेकी है कि यह चोल्लक भोजन वसुदेव सरीखे कंगालको शायद प्राप्त हो भी जाय, तो भी इसमें आश्चर्य करनेकी कोई बात नहीं, पर एक बार प्रमादसे खो दिया गया मनुष्य जन्म बेशक अत्यन्त दुर्लभ है । फिर लाख प्रयत्न करने पर भी वह सहसा नहीं मिल सकता । इसलिए बुद्धिवानोंको उचित है कि वे दुःखके कारण खोटे मार्गको छोड़कर जैन-धर्मका शरण लें, जो कि मनुष्य जन्मकी प्राप्ति और मोक्षका प्रधान कारण है ।

२–पाशेका दृष्टांत ।

मगध देशमें शतद्वार नामका एक अच्छा शहर था । उसके राजाका नाम भी शतद्वार था । शतद्वारने अपने शहरमें एक ऐसा देखने योग्य दरवाजा बनवाया, कि जिसके कोई ग्यारह हजार खंभे थे । उन एक एक खंभोंमें छयानवे ऐसे स्थान बने हुए थे जिनमें जुआरी लोग पाशे द्वारा सदा जूआ खेला करते थे । एक शिवशर्मा नामके ब्राह्मणने उन जुआरियोंसे प्रार्थना की—भाइयो, मैं बहुत ही गरीब हूँ, इसलिए यदि आप मेरा इतना उपकार करें, कि आप सब खेलनेवालोंका दाव यदि किसी समय एकहीसा पड़ जाय और वह सब

धन-माल आप मुझे दे दें, तो बहुत अच्छा हो। जुआरियोंने सोमशर्माकी प्रार्थना स्वीकार करली। इसलिए कि उन्हें विश्वास था कि—ऐसा होना नितान्त ही कठिन है, बल्कि असंभव है। पर दैवयोग ऐसा हुआ कि एक बार सबका दाव एकहीसा पड़ गया और उन्हें अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार सब धन सोमशर्माको दे देना पड़ा। वह उस धनको पाकर बहुत खुश हुआ। इस दृष्टान्तसे यह शिक्षा लेनी चाहिए कि जैसा योग सोमशर्माको मिला था, वैसा योग मिलकर और कर्मयोगसे इतना धन भी प्राप्त हो जाय तो कोई बात नहीं, परन्तु जो मनुष्य-जन्म एक बार प्रमाद वश हो नष्ट कर दिया जाय तो वह फिर सहजमें नहीं मिल सकता। इसलिए सत्पुरुषोंको निरन्तर ऐसे पवित्र कार्य करते रहना चाहिए, जो मनुष्य-जन्म या स्वर्ग मोक्षके प्राप्त करानेवाले हैं। ऐसे कर्म हैं—जिनेन्द्र भगवानकी पूजा करना, दान देना, परोपकार करना, व्रतोंका पालना, ब्रह्मचर्यसे रहना और उपवास करना—आदि।

३--धान्य दृष्टान्त।

जम्बूद्वीपके बराबर चौड़ा और एक हजार योजन अर्थात् दो हजार कोस या चार कोस औंढ़ा एक बड़ा भारी गढ़ा खोदा जाकर वह सरसौंसे भर दिया जाय। उसमेंसे फिर रोज रोज एक एक सरसौं निकाली जाया करे। ऐसा निरन्तर करते रहनेसे एक दिन ऐसा भी आयगा कि जिस

दिन वह कुण्ड सरसौंसे खाली हो जायगा। पर यदि प्रमादसे यह जन्म नष्ट हो गया तो वह समय फिर आना एक तरह असंभवसा ही हो जायगा, जिसमें कि मनुष्य-जन्म मिल सके। इसलिए बुद्धिमानोंको उचित है कि वे प्राप्त हुए मनुष्य जन्मको निष्फल न खोखर जिन-पूजा, व्रत, दान परोपकारादि पवित्र कामोंमें लगावें। क्योंकि ये सब परम्परा मोक्षके साधन हैं।

धान्यका दूसरा दृष्टान्त।

अयोध्याके राजा प्रजापाल पर राजगृहके जितशत्रु राजाने एक बॉर चढ़ाई की और सारी अयोध्याको सब ओरसे घेर लिया। तब राजाने अपनी प्रजासे कहा—जिसके यहाँ धानके जितने बोरे हों, उन सब बोरोंको लाकर और गिनती करके मेरे कोठोंमें सुरक्षित रखदें। मेरी इच्छा है कि शत्रुको एक अन्नका दाना भी यहाँसे प्राप्त न हो। ऐसी हालतमें उसे झख मार कर लौट जाना पड़ेगा। सारी प्रजाने राजाकी अज्ञानुसार ऐसा ही किया। जब अभिमानी शत्रुको अयोध्यासे अन्न न मिला तब थोड़े ही दिनोंमें उसकी अकल ठिकाने पर आ गई। उसकी सेना भूखके मारे मरने लगी। आखिर जितशत्रुको लौट जाना ही पड़ा। जब शत्रु अयोध्याका घेरा उठा चल दिया तब प्रजाने राजासे अपने अपने धानके ले-जानकी प्रार्थना की। राजाने कह दिया कि हाँ अपना अपना धान पहचान कर सब लोग

लेजा यें। कभी कर्मयोगसे ऐसा हो जाना भी संभव है, पर यदि मनुष्य जन्म एक बार व्यर्थ नष्ट हो गया तो उसका पुनः मिलना अत्यन्त ही कठिन है। इसलिए इसे व्यर्थ खोना उचित नहीं। इसे तो सदा शुभ कामोंमें ही लगाये रहना चाहिए।

४–जूआका दृष्टान्त।

शतद्वार पुरमें पाँचसौ सुन्दर दरवाजे हैं। उन एक एक दरवाजोंमें जूआ खेलनेके पाँच-पाँचसौ अड्डे हैं। उन एक एक अड्डोंमें पाँच-पाँचसौ जुआरी लोग जूआ खेलते हैं। उनमें एक चयी नामका जुआरी है। ये सब जुआरी कौड़ियाँ जीत-जीत कर अपने अपने गाँवोंमें चले गये। चयी वहीं रहा। भाग्यसे इन सब जुआरियोंका और इस चयीका फिर भी कभी मुकाबिला होना संभव है, पर नष्ट हुए मनुष्य-जन्मका पुण्यहीन पुरुषोंको फिर सहसा मिलना दरअसल कठिन है।

जूआका दूसरा दृष्टान्त।

इसी शतद्वार पुरमें निर्लक्षण नामका एक जुआरी था। उसके इतना भारी पापकर्मका उदय था कि वह स्वप्नमें भी कभी जीत नहीं पाता था। एक दिन कर्मयोगसे वह भी खूब धन जीता। जीतकर उस धनको उसने याचकोंको बाँट दिया। वे सब धन लेकर चारों दिशाओंमें जिसे जिधर जाना था उधर ही चले

गये। ये सब लोग दैवयोगसे फिर भी कभी इकट्ठे हो सकते हैं, पर गया जन्म फिर हाथ आना दुष्कर है। इसलिए जबतक मोक्ष न मिले तबतक यह मनुष्य-जन्म प्राप्त होता रहे, इसके लिए धर्मकी शरण सदा लिये रहना चाहिए।

५—रत्न-दृष्टान्त।

भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ, सुभौम, महापद्म, हरिषेण, जयसेन और ब्रह्मदत्त ये बारह चक्रवर्ती, इनके मुकटोंमें जड़े हुए मणि, जिन्हें स्वर्गोंके देव ले गये हैं, और इनके वे चौदह रत्न, नौ निधि तथा वे सब देव, ये सब कभी इकट्ठे नहीं हो सकते; इसी तरह खोया हुआ मनुष्य जीवन पुण्यहीन पुरुष कभी प्राप्त नहीं कर सकते। यह जानकर बुद्धिवानोंको उचित है—उनका कर्त्तव्य है कि वे मनुष्य जीवन प्राप्त करनेके कारण जैनधर्मको ग्रहण करें।

६—स्वप्न-दृष्टान्त।

उज्जैनमें एक लकड़हरा रहता था। वह जंगलमेंसे लकड़ी काट कर लाता और बाजारमें बेच दिया करता था। उसीसे उसका गुजारा चलता था। एक दिन वह लकड़ीका गट्ठा सिर पर लादे आ रहा था। ऊपरसे बहुत गरमी पड़ रही थी। सो वह एक वृक्षकी छायामें सिर परका गट्ठा उतार कर वहीं सो गया। ठंडी हवा बह रही थी। सो उसे नींद

आ गई। उसने एक सपना देखा कि वह सारी पृथिवीका मालिक चक्रवर्त्ती हो गया। हजारों नौकर-चाकर उसके सामने हाथ जोड़े खड़े हैं। जो वह आज्ञा—हुक्म करता है वह सब उसी समय बजाया जाता है। यह सब कुछ हो रहा था कि इतनेमें उसकी स्त्रीने आकर उसे उठा दिया। बेचारेकी सब सपनेकी सम्पति आँख खोलते ही नष्ट हो गई। उसे फिर वही लकड़ीका गट्ठा सिर पर लादना पड़ा। जिस तरह यह लकड़हरा स्वप्नमें चक्रवर्त्ती बन गया, पर जगने पर रहा लकड़हराका लकड़हरा ही। उसके हाथ कुछ भी धन-दौलत न लगी। ठीक इसी तरह जिसने एक बार मनुष्यजन्म प्राप्त कर व्यर्थ गवाँ दिया उस पुण्यहीन मनुष्यके लिए फिर यह मनुष्य जन्म जाग्रद्दशामें लकहड़रेको न मिलनेवाली चक्रवर्त्तीकी सम्पत्तिकी तरह असंभव है।

७—चक्र-दृष्टान्त।

अब चक्रदृष्टान्त कहा जाता है। बाईस बड़े मजबूत खंभे हैं। एक एक खम्भे पर एक एक चक्र लगा हुआ है। एक एक चक्रमें हजार हजार आरे हैं। उन आरोंमें एक एक छेद है। चक्र सब उलटे घूम रहे हैं। पर जो वीर पुरुष हैं वे ऐसी हालतमें भी उन खंभों परकी राधाको वेध देते हैं।

काकन्दीके राजा द्रुपदकी कुमारीका नाम द्रौपदी था। वह बड़ी सुन्दरी थी। उसके स्वयंवरमें अर्जुनने ऐसा ही राधावेध कर द्रौपदीको ब्याहा था। सो ठीक ही है पुण्यके उदयसे प्राणियोंको सब कुछ प्राप्त हो सकता है।

यह सब योग कठिन होने पर भी मिल सकता है, पर यदि प्रमादसे मनुष्य जन्म एक बार नष्ट कर दिया जाय तो उसका मिलना बेशक कठिन ही नहीं किन्तु असंभव है। वह प्राप्त होता है पुण्यसे, इसलिए पुण्यके प्राप्त करनेका यत्न करना अन्यन्त आवश्यक है।

८—कछुएका दृष्टान्त।

सबसे बड़े स्वयंभूरमण समुद्रको एक बड़े भारी चमड़ेमें छोटासा छेद करके उससे ढक दीजिए। समुद्रमें घूमते हुए एक कछुएने कोई एक हजार वर्षबाद उस चमड़ेके छोटेसे छेदमेंसे सूर्यको देखा। वह छेद उससे फिर छूट गया। भाग्यसे यदि फिर कभी ऐसा ही योग मिल जाय कि वह उस छिद्र पर फिर भी आ पहुँचे और सूर्यको देखले, पर यदि मनुष्य-जन्म इसी तरह प्रमादसे नष्ट हो गया तो सचमुच ही उसका मिलना बहुत कठिन है।

९—युगका दृष्टान्त।

दो लाख योजन चौड़े पूर्वके लवणसमुद्रमें युग (धुरा) के छेदसे गिरी हुई समिलाका पश्चिम समुद्रमें बहते हुए युग (धुरा) के छेदमें समय पाकर प्रवेश कर जाना संभव है, पर प्रमाद या विषयभोगों द्वारा गँवाया हुआ मनुष्य जीवन पुण्यहीन पुरुषोंके लिए फिर सहसा मिलना असंभव है। इसलिए जिन्हें दुःखोंसे छूटकर मोक्ष सुख प्राप्त करना है उन्हें तबतक ऐसे पुण्यकर्म करते रहना

चाहिए कि जिनसे मोक्ष होने तक बराबर मनुष्य जीवन मिलता रहे ।

१०–परमाणुका दृष्टान्त ।

चार हाथ लम्बे चक्रवर्त्तीके दण्डरत्नके परमाणु बिखर कर दूसरी अवस्थाको प्राप्त करलें और फिर वे ही परमाणु दैवयोगसे फिर कभी दण्डरत्नके रूपमें आजाएँ तो असंभव नहीं, पर मनुष्य पर्याय यदि एक बार दुष्कर्मों द्वारा व्यर्थ खो-दिया जाय तो इसका फिर उन अभागे जीवोंको प्राप्त हो जाना जरूर असंभव है । इसलिए पंडितोंको मनुष्य पर्यायकी प्राप्तिके लिए पुण्यकर्म करना: कर्त्तव्य है ।

इस प्रकार सर्व श्रेष्ठ मनुष्य जीवनको अत्यन्त दुर्लभ समझ कर बुद्धिमानोंको उचित है कि वे मोक्षसुखके लिए संसारके जीवमात्रका हित करनेवाले पवित्र जैनधर्मको ग्रहण करें ।

१०१–भावानुराग-कथा ।

सब प्रकार सुखके देनेवाले जिन भगवान्को नमस्कार कर धर्ममें प्रेम करनेवाले नागदत्तकी कथा लिखी जाती है ।

उज्जैनके राजा धर्मपाल थे । उनकी रानीका नाम धर्मश्री था । धर्मश्री धर्मात्मा और बड़ी उदार

प्रकृतिकी स्त्री थी। यहाँ एक सागरदत्त नामका सेठ रहता था। इसकी स्त्रीका नाम सुभद्रा था। सुभद्राके नागदत्त नामका एक लड़का था। नागदत्त भी अपनी माताकी तरह धर्मप्रेमी था। धर्म पर उसकी अचल श्रद्धा थी। इसका ब्याह समुद्रदत्त सेठकी सुन्दर कन्या प्रियंगुश्रीके साथ बड़े ठाटबाटसे हुआ। ब्याहमें खूब दान दिया गया। पूजा उत्सव किया गया। दीन दुखियोंकी अच्छी सहायता की गई।

पियंगुश्रीको इसके मामाका लड़का नागसेन चाहता था और सागरदत्तने उसका ब्याह कर दिया नागदत्तके साथ। इससे नागसेनको बड़ा ना-गवार मालूम हुआ। सो उसने बेचारे नागदत्तके साथ शत्रुता बाँधली और उसे कष्ट देनेका मौका ढूँढ़ने लगा।

एक दिन उपासा नागदत्त धर्मप्रेमसे जिन मन्दिरमें कायोत्सर्ग ध्यान कर रहा था। उसे नागसेनने देख लिया। सो इस दुष्टने अपनी शत्रुताका बदला लेनेके लिए एक षड्-यंत्र रचा। गलेमेंसे अपना हार निकाल कर उसे इसने नागदत्तके पाँवोंके पास रख दिया और हल्ला कर दिया कि यह मेरा हार चुराकर लिये जा रहा था, सो मैंने इसके पीछे दौड़ कर इसे पकड़ लिया। अब ढौंग बनाकर ध्यान करने लग गया, जिससे यह पकड़ा न जाय। नाग-सेनका हल्ला सुनकर आसपासके बहुतसे लोग इकट्ठे हो

गये और पुलिस भी आ जमा हुई । नागदत्त पकड़ा जाकर राज-दरबारमें उपस्थित किया गया । राजाने नागदत्तकी पक्षमें कोई प्रमाण न पाकर उसे मारनेका हुक्म दे दिया । नागदत्त उसी समय वध्य भूमिमें ले जाया गया । उसका सिर काटनेके लिए तलवारका जो उस पर वार किया गया, *क्या आश्चर्य कि वह वार उसे ऐसा जान पड़ा मानों किसीने* उस पर फूलोंकी माला फैंकी हो । उसे जरा भी जोखिम न पहुँची और इसी समय आकाशसे उस पर फूलोंकी बरसा हुई । जय जय, धन्य धन्य, शब्दोंसे आकाश गूँज उठा । यह आश्चर्य देखकर सब लोग दंग रह गये । सच है, धर्मानुरागसे सत्पुरुषोंका—सहनशील महात्माओंका कौन उपकार नहीं करता । इस प्रकार जैनधर्मका सुखमय प्रभाव देखकर नागदत्त और धर्मपाल राजा बहुत प्रसन्न हुए । वे अब मोक्षसुखकी इच्छासे संसारकी सब माया-ममताको छोड़कर जिनदीक्षा ले साधु हो गये । और बहुतेरे लोगोंने, जो कि जैनी न थे, जैनधर्मको ग्रहण किया ।

संसारके बड़े बड़े महापुरुषोंसे पूजे-जानेवाला जिनेन्द्र भगवानका उपदेश किया पवित्र धर्म स्वर्ग-मोक्षके सुखका कारण है—इसीके द्वारा भव्यजन उत्तमसे उत्तम सुख प्राप्त करते हैं । यही पवित्र धर्म कर्मोंका नाश कर मुझे आत्मिक-सच्चा सुख प्रदान करे ।

१०२–प्रेमानुराग-कथा ।

जो धर्मके स्वामी–प्रवर्त्तक हैं उन जिन भगवान्‌को नमस्कार कर धर्मसे प्रेम करनेवाले सुमित्र सेठकी कथा लिखी जाती है।

अयोध्याके राजा सुवर्णवर्मा और उनकी रानी सुवर्णश्रीके समय अयोध्यामें सुमित्र नामके एक प्रसिद्ध सेठ हो गये हैं। सेठका जैन-धर्म पर अत्यन्त प्रेम था । एक दिन सुमित्र सेठ रातके समय अपने घरहीमें कायोत्सर्ग ध्यान कर रहे थे। उनकी ध्यान समयकी स्थिरता और भावोंकी दृढ़ता देखकर किसी एक देवने सशंकित हो उनकी परीक्षा करनी चाही कि कहीं यह सेठका कोरा ढौंग तो नहीं है । परीक्षामें उस देवने सेठका सब माल-मत्ता, स्त्री, बाल-बच्चे आदिको अपना लिया। सेठके पास इस बातकी पुकार पहुँची। स्त्री-बाल-बच्चे रो-रो कर उसके पाँवों पर जा गिरे और इस पापीसे छुड़ाओ ! छुडाओ !–की हृदयभेदनेवाली दीन प्रार्थना करने लगे। जो न होनेका था वह हुआ । पर सेठ महाशयने अपने ध्यानको अधूरा न छोड़ा–वे वैसे ही निश्चल बने रहे। उनकी यह अलौकिक स्थिरता देखकर उस देवको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने सेठकी शतमुखसे प्रशंसा की। अन्तमें

अपने निज स्वरूपमें आ और सेठको एक सांकरी नामकी आकाशगामिनी विद्या भेंट कर आप स्वर्ग चला गया । सेठके इस प्रभावको देख कर बहुतेरे भाइयोंने जैनधर्मको ग्रहण किया, कितनोंने मुनिव्रत, कितनोंने श्रावकव्रत और कितनोंने केवल सम्यग्दर्शन ही लिया ।

जिन भगवान्‌के चरण-कमल परम सुखके देनेवाले हैं और संसार-समुद्रसे पार करनेवाले हैं, इसलिए भव्य-जनोंको उचित है कि वे सुख प्राप्तिके लिए उनकी पूजा करें, स्तुति करे, ध्यान करें, स्मरण करें ।

१०३–जिनाभिषेकसे प्रेम करनेवालेकी कथा ।
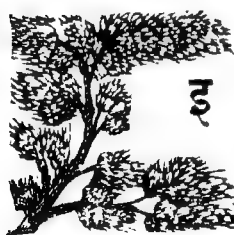
इन्द्रादिकों द्वारा जिनके पाँव पूजे जाते हैं, ऐसे जिन भगवान्‌को नमस्कार कर जिनाभिषेकसे अनुराग करनेवाले जिन-दत्त और वसुमित्रकी कथा लिखी जाती है ।

उज्जैनके राजा सागरदत्तके समय उनकी राजधानीमें जिनदत्त और वसुमित्र नामके दो प्रसिद्ध और बड़े गुण-वान् सेठ हो गये हैं । जिनधर्म और जिनाभिषेक पर उनका बड़ा ही अनुराग था । ऐसा कोई दिन उनका खाली न

जाता था जिस दिन वे भगवानका अभिषेक न करते हों, पूजा प्रभावना न करते हों, दान-व्रत न करते हों।

एक दिन ये दोनों सेठ व्यापारके लिए उज्जैनसे उत्तरकी ओर रवाना हुए। मंजिल दर मंजिल चलते हुए ये एक ऐसी घनी अटवीमें पहुँच गये, जो दोनों बाजू आकाशसे बातें करनेवाले अवसीर और मालापर्वत नामके पर्वतोंसे घिरी थी और जिसमें डाकू लोगोंका अड्डा था। डाकू लोग इनका सब माल असबाब छीन-कर हवा हो गये। अब ये दोनों उस अटवीमें इधर उधर घूमने लगे। इसलिए कि इन्हें उससे बाहर होनेका रास्ता मिल जाय। पर इनका सब प्रयत्न निष्फल गया। न तो ये स्वयं रास्तेका पता लगा सके और न कोई इन्हें रास्ता बतानेवाला ही मिला। अपने अटवी बाहर होनेका कोई उपाय न देखकर अन्तमें इन जिन-पूजा और जिनाभिषेकसे अनुराग करनेवाले महानुभावोंने संन्यास लेलिया और जिन भगवान्का ये स्मरण-चिंतन करने लगे। सच है, सत्पुरुष सुख और दुःखमें सदा समान भाव रखते हैं–विचारशील रहते हैं।

एक और अभागा भूला भटका सोमशर्मा नामका ब्राह्मण इसी अटवीमें आफँसा। घूमता-फिरता वह इन्हींके पास आ-गया। अपनीसी इस बेचारे ब्राह्मणकी दशा देखकर ये बड़े दिलगीर हुए। सोमशर्मासे इन्होंने सब हाल कहा और यह भी कहा–यहाँसे निकलनेका कोई मार्ग प्रयत्न करने पर भी

जब हमें न मिला तो हमने अन्तमें धर्मका शरण लिया। इस लिए कि यहाँ हमारी मरने सिवा कोई गति ही नहीं है और जब हमें मृत्युके सामने होना ही है तब कायरता और बुरे भावोंसे क्यों उसका सामना करना, जिससे कि दुर्गतिमें जाना पडे। धर्म दुःखोंका नाश कर सुखोंका देनेवाला है। इसलिए उसीका ऐसे समयमें आश्रय लेना परम हितकारी है। हम तुम्हें भी सलाह देते हैं कि तुम भी सुगतिकी प्राप्तिके लिए धर्मका आश्रय ग्रहण करो। इसके बाद उन्होंने सोमशर्माको धर्मका सामान्य स्वरूप समझाया—देखो, जो अठारह दोषोंसे रहित और सबके देखनेवाले—सर्वज्ञ हैं, वे देव कहाते हैं और ऐसे निर्दोष भगवान् द्वारा बताये दयामय मार्गको धर्म कहते हैं। धर्मका वैसे सामान्य लक्षण है—जो दुःखोंसे छुड़ा कर सुख प्राप्त करावे। ऐसे धर्मको आचार्योंने दस भागोंमें बाँटा है। अर्थात् सुख प्राप्त करनेके दस उपाय हैं। वे ये हैं—उत्तम क्षमा, मार्दव—हृदयका कोमल होना, आर्जव—हृदयका सरल होना, सच बोलना, शौच-निर्लोभी या संतोषी होना, संयम—इन्द्रियोंको वश करना, तप—व्रत उपवासादि करना, त्याग—पुण्यसे प्राप्त हुए धनको सुकृतके काम जैसे दान, परोपकार आदिमें लगाना, आकिंचन—परिग्रह अर्थात् धन-धान, चाँदी-सोना, दास-दासी आदि दस प्रकारके परिग्रहकी लालसा कम करके आत्माको शान्तिके मार्ग पर ले जाना, और ब्रह्मचर्यका पालना।

गुरु वे कहलाते हैं जो माया, मोह-ममतासे रहित हों, विषयोंकी वासना जिन्हें छू तक न गई हो, जो पक्के ब्रह्मचारी हों, तपस्वी हो और संसारके दुखी जीवोंको हितका रास्ता बतला कर उन्हें सुख प्राप्त करानेवाले हों । इन तीनों पर अर्थात् देव, धर्म, गुरु पर विश्वास करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन सुखस्थान पर पहुँचनेकी सबसे पहली सीढ़ी है । इसलिए तुम इसे ग्रहण करो । इस विश्वासको जैन शासन या जैनधर्म भी कहते हैं। जैनधर्ममें जीवको, जिसे कि आत्मा भी कहते हैं, अनादि माना है । न केवल माना ही है, किन्तु वह अनादि ही है । नास्तिकोंकी तरह वह पंचभूत–पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश इनसे बना हुआ नहीं है । क्योंकि ये सब पदार्थ जड़ हैं। ये देख जान नहीं सकते । और जीवका देखना जानना ही खास गुण है । इसी गुणसे उसका अस्तित्व सिद्ध होता है। जीवको जैनधर्म दो भागोंमें बाँट देता है । एक–भव्य अर्थात् ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका, जिन्होंने कि आत्माके वास्तविक स्वरूपको अनादिसे ढाँक रक्खा है, नाश कर मोक्ष जानेवाला और दूसरा अभव्य–जिसमें कर्मोंके नाश करनेकी शक्ति न हो। इनमें कर्मयुक्त जीवको संसारी कहते हैं और कर्म रहितको मुक्त। जीवके सिवा संसारमें एक और भी द्रव्य है। उसे अजीव या पुद्गल कहते हैं। इसमें जानने देखने कि शक्ति नहीं होती, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका

है। अजीवको जैनधर्म पाँच भागोंमें बाँटता है, जैसे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन पाँचोंकी दो श्रेणियाँ की गई हैं। एक मूर्त्तिक और दूसरी अमूर्त्तिक। मूर्त्तिक उसे कहते हैं जो छुई जा सके, जिसमें कुछ न कुछ स्वाद हो, गन्ध और वर्ण—रूप-रँग हो। अर्थात् जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये बातें पाई जायँ वह मूर्त्तिक है और जिसमें ये न हों वह अमूर्त्तिक है। उक्त पाँच द्रव्योंमें सिर्फ पुद्गल तो मूर्त्तिक है अर्थात् इसमें उक्त चारों बातें सदासे हैं और रहेंगी—कभी उससे जुदा न होंगी। इसके सिवा धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये अमूर्त्तिक हैं। इन सब विषयोंका विशेष खुलासा अन्य जैन ग्रन्थोंमें किया है। प्रकर्ण वश तुम्हें यह सामान्य स्वरूप कहा। विश्वास है अपने हितके लिए इसे ग्रहण करनेका यत्न करोगे।

सोमशर्माको यह उपदेश बहुत पसन्द पड़ा। उसने मिथ्यात्वको छोड़ कर सम्यक्त्वको स्वीकार कर लिया। इसके बाद जिनदत्त वसुमित्रकी तरह वह भी संन्यास ले भगवान्का ध्यान करने लगा। सोमशर्माको भूख-प्यास, डाँस-मच्छर आदिकी बहुत बाधा सहनी पड़ी। उसे उसने बड़ी धीरताके साथ सहा। अन्तमें समाधिसे मृत्यु प्राप्त कर वह सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ। वहाँसे श्रेणिक महाराजका अभयकुमार नामका पुत्र हुआ। अभयकुमार बड़ा ही धीर-वीर और पराक्रमी था, परोपकारी था। अन्तमें वह कर्मोंका नाश कर मोक्ष गया।

सोमशर्माकी मृत्युके कुछ ही दिनों बाद जिनदत्त और वसुमित्रकी भी समाधिसे मृत्यु हुई। वे दोनों भी इसी सौधर्म स्वर्गमें, जहाँ कि सोमशर्म देव हुआ था, देव हुए।

संसारका उपकार करनेवाले और पुण्यके कारण जिनके उपदेश किये धर्मको कष्ट समयमें भी धारण कर भव्यजन उस कठिनसे कठिन सुखको, जिसके कि प्राप्त करनेकी उन्हें स्वप्नमें भी आशा नहीं होती, प्राप्त कर लेते हैं, वे सर्वज्ञ भगवान मुझे वह निर्मल सुख दें, जिस सुखकी इन्द्र, चक्री, और विद्याधर राजे पूजा करते हैं।

१०४–धर्मानुराग-कथा।

जो निर्मल केवलज्ञान द्वारा लोक और अलोकके जानने देखनेवाले हैं–सर्वज्ञ हैं, उन जिनेन्द्र भगवानको नमस्कार कर धर्मसे अनुराग करनेवाले राजकुमार लकुचकी कथा लिखी जाती है।

उज्जैनके राजा धनवर्मा और उनकी रानी धनश्रीके लकुच नामका एक पुत्र था। लकुच बड़ा अभिमानी था। पर साथमें वीर भी था। उसे लोग मेघकी उपमा देते थे। इस लिए कि वह शत्रुओंकी मान रूपी अग्निको बुझा देता था–शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना उसके बायें हाथका खेल था।

कालमेघ नामके म्लेच्छ राजाने एक बार उज्जैन पर चढ़ाई की थी। अवन्ति देशकी प्रजाको तब जन-धनकी बहुत हानि उठाना पड़ी थी। लकुचने इसका बदला चुकानेके लिए कालमेघके देश पर भी चढ़ाई करदी। दोनों ओरसे घमासान युद्ध होने पर विजयलक्ष्मी लकुचकी गोदमें आकर लेटी। लकुचने तब कालमेघको बाँध लाकर पिताके सामने रख दिया। धनवर्मा अपने पुत्रकी इस वीरताको देख कर बड़े खुश हुए। इस खुशीमें धनवर्माने लकुचको कुछ वर देनेकी इच्छा जाहिर की। पर उसकी प्रार्थनासे वरको उपयोगमें लानेका भार उन्होंने उसीकी इच्छा पर छोड़ दिया। अपनी इच्छाके माफिक करनेकी पिताकी आज्ञा पा लकुचकी आँखें फिर गईं। उसने अपनी इच्छाका दुरुपयोग करना शुरू किया। व्यभिचारकी ओर उसकी दृष्टि गई। तब अच्छे अच्छे घरानेकी सुशील स्त्रियाँ उसकी शिकार बनने लगीं। उनका धर्म भ्रष्ट किया जाने लगा। अनेक सतियोंने इस पापीसे अपने धर्मकी रक्षाके लिए आत्महत्याएँ तक कर डालीं। प्रजाके लोग तंग आ गये। वे महाराजसे राजकुमारकी शिकायत तक करने नहीं पाते। कारण राजकुमारके जासूस उज्जैनके कोने कोनेमें फैल रहे थे, इसलिए जिसने कुछ राजकुमारके विरुद्ध जबान हिलाई या विचार भी किया कि वह बेचारा फौरन ही मौतके मुँहमें फैंक दिया जाता था।

यहाँ एक पुंगल नामका सेठ रहता था। इसकी स्त्रीका नाम नागदत्ता था। नागदत्ता बड़ी खूबसूरत थी।

एक दिन पापी लकुचकी इस पर आँखें चली गईं। बस, फिर क्या देर थी? उसने उसी समय उसे प्राप्त कर अपनी नीच मनोवृत्तिकी तृप्ति की। पुंगल उसकी इस नीचतासे सिरसे पाँव तक जल उठा। क्रोधकी आग उसके रोम रोममें फैल गई। वह राजकुमारके दबदबेसे कुछ करने-धरनेको लाचार था। पर उस दिनकी बाट वह बड़ी आशासे जो रहा था, जिस दिन कि वह लकुचसे उसके कर्मोंका भरपूर बदला चुका कर अपनी छाती ठंडी करे।

एक दिन लकुच वन क्रीड़ाके लिए गया हुआ था। भाग्यसे वहाँ उसे मुनिराजके दर्शन हो गये। उसने उनसे धर्मका उपदेश सुना। उपदेशका प्रभाव उस पर खूब पड़ा। इसलिए वह वहीं उनसे दीक्षा ले मुनि हो गया। उधर पुंगल ऐसे मौकेकी आशा लगाये बैठा ही था, सो जैसे ही उसे लकुचका मुनि होना जान पड़ा वह लोहेके बड़े बड़े तीखे कीलोंको लेकर लकुच मुनिके ध्यान करनेकी जगह पर आया। इस समय लकुच मुनि ध्यानमें थे। पुंगल तब उन कीलोंको मुनिके शरीरमें ठोक कर चलता बना। लकुच मुनिने इस दुःसह उपसर्गको बड़ी शान्ति, स्थिरता और धर्मानुरागसे सह कर स्वर्ग लोक प्राप्त किया। सच है, महात्माओंका चरित्र विचित्र ही हुआ करता है। वे अपने जीवनकी गतिको मिनट भरमें कुछकी कुछ बदल डालते हैं।

वे लकुच मुनि जयलाभ करें-कर्मोंको जीतें, जिन्होंने

असह कष्ट सहकर जिनेन्द्र भगवान् रूपी चन्द्रमाकी उपदेश रूपी अमृतमयी किरणोंसे स्वर्गका उत्तम सुख प्राप्त किया, गुणरूपी रत्नोंके जो पर्वत हुए और ज्ञानके गहरे समुद्र कहलाये ।

१०५–सम्यग्दर्शन पर दृढ़ रहनेवालेकी कथा ।

सब प्रकारके दोषोंसे रहित जिन भगवान्को नमस्कार कर सम्यग्दर्शनको खूब दृढ़ताके साथ पालन करनेवाले जिनदास सेठकी पवित्र कथा लिखी जाती है ।

प्राचीन कालसे प्रसिद्ध पाटलिपुत्र (पटना) में जिनदत्त नामका एक प्रसिद्ध और जिनभक्त सेठ हो चुका है । जिनदत्त सेठकी स्त्रीका नाम जिनदासी था। जिनदास, जिसकी कि यह कथा है, इसीका पुत्र था । अपनी माताके अनुसार जिनदास भी ईश्वर प्रेमी, पवित्र हृदयी और अनेक गुणोंका धारक था ।

एक वार जिनदास सुवर्ण द्वीपसे धन कमाकर अपने नगरकी ओर आ रहा था। किसी काल नामके देवकी जिनदासके साथ कोई पूर्व जन्मकी शत्रुता होगी और इसलिए वह

देव इसे मारना चाहता होगा। यही कारण था कि उसने कोई सौ योजन चौड़े जहाज पर बैठे बैठे ही जिनदाससे कहा—जिनदास, यदि तू यह कहदे कि जिनेन्द्र भगवान् कोई चीज नहीं, जैनधर्म कोई चीज नहीं, तो तुझे मैं जीता छोड़ सकता हूँ, नहीं तो मार डालूँगा। उस देवका यह डराना सुन जिनदास वगैरहने हाथ जोड़कर श्रीमहावीर भगवान्को बड़ी भक्तिसे नमस्कार किया और निडर होकर वे उससे बोले—पापी, यह हम कभी नहीं कह सकते कि जिन भगवान् और उनका धर्म कोई चीज नहीं; बल्कि हम यह दृढ़ताके साथ कहते हैं कि केवलज्ञान द्वारा सूर्यसे अधिक तेजस्वी जिनेन्द्र भगवान् और संसार द्वारा पूजा जानेवाला उनका मत सबसे श्रेष्ठ है। उनकी समानता करनेवाला कोई देव और कोई धर्म संसारमें है ही नहीं। इतना कहकर ही जिनदासने सबके सामने ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्तीकी कथा, जो कि पहले लिखी जा चुकी है, कह सुनाई। उस कथाको सुनकर सबका विश्वास और भी दृढ़ हो गया।

इन धर्मात्माओं पर इस विपत्तिके आनेसे उत्तरकुरुमें रहनेवाले अनाव्रत नामके यक्षका आसन कँपा। उसने उसी समय आकर क्रोधसे कालदेवके सिर पर चक्रकी बड़ी जोरकी मार जमाई और उसे उठाकर बडवानलमें डाल दिया।

जहाजके लोगोंकी इस अचल भक्तिसे लक्ष्मी देवी बड़ी प्रसन्न हुई। उसने आकर इन धर्मात्माओंका बड़ा आदर-

सत्कार किया और इनके लिए भक्तिसे अर्घ चढ़ाया। सच है, जो भव्यजन सम्यग्दर्शनका पालन करते हैं, संसारमें उनका आदर—मान कौन नहीं करता । इसके बाद जिन-दास वगैरह सब लोग कुशलतासे अपने घर आ गये। भक्तिसे उत्पन्न हुए पुण्यने इनकी सहायता की। एक दिन मौका पाकर जिनदासने अवधिज्ञानी मुनिसे कालदेवने ऐसा क्यों किया, इस बाबत खुलासा पूछा। मुनिराजने इस बैरका सब कारण जिनदाससे कहा। जिनदासको सुनकर सन्तोष हुआ।

जो बुद्धिमान् हैं, उन्हें उचित है या उनका कर्त्तव्य है कि वे परम सुखके लिए संसारका हित करनेवाले और मोक्षके कारण पवित्र सम्यग्दर्शनको ग्रहण करें । इसे छोड़कर उन्हें और बातोंके लिए कष्ट उठाना उचित नहीं, कारण वे मोक्षकी कारण नहीं हैं।

१०६–सम्यक्त्वको न छोड़नेवालेकी कथा ।

जिन्हें स्वर्गके देव नमस्कार करते हैं, उन जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार कर सम्यक्त्वको न छोड़नेवाली जिनमतीकी कथा लिखी जाती है ।

लाटदेशके सुप्रसिद्ध गलगोद्रह नामके शहरमें जिनदत्त नामका एक सेठ हो चुका है । उसकी स्त्रीका नाम जिनदत्ता था । इसके जिनमती नामकी एक लड़की थी । जिनमती बहुत सुन्दरी थी । उसकी भुवन-मोहिनी सुन्दरता देखकर स्वर्गकी अप्सराएँ भी लजा जाती थीं । पुण्यसे सुन्दरता प्राप्त होनी ही है ।

यहीं पर एक दूसरा और सेठ रहता था । इसका नाम नागदत्त था । नागदत्तकी स्त्री नागदत्ताके रुद्रदत्त नामका एक लड़का था । नागदत्तने बहुतेरा चाहा कि जिनदत्त जिनमतीका व्याह उसके पुत्र रुद्रदत्तसे करदे । पर उसको विधर्मी होनेसे जिनदत्तने उसे अपनी पुत्री न व्याही । जिनदत्तका यह हठ नागदत्तको पसन्द न आया । उसने तब एक दूसरी ही युक्ति की । वह यह कि–नागदत्त और रुद्रदत्त समाधिगुप्त मुनिसे कुछ व्रत-नियम लेकर श्रावक बन गये और श्रावक सरीखी सब क्रियाएँ करने लगे । जिनदत्तको

इससे बड़ी खुशी हुई और उसे इस बात पर पूरा पूरा विश्वास हो गया कि वे सचमुच ही जैनी हो गये हैं। तब इसने बड़ी खुशीके साथ जिनमतीका ब्याह रुद्रदत्तसे कर दिया। जहाँ ब्याह हुआ कि इन दोनों पिता-पुत्रोंने जैनधर्म छोड़कर पीछा अपना धर्म ग्रहण कर लिया।

रुद्रदत्त अब जिनमतीसे रोज रोज आग्रहके साथ कहने लगा कि प्रिये, तुम भी अब क्यों न मेरा ही धर्म ग्रहण कर लेती हो। वह बड़ा उत्तम धर्म है। जिनमतीकी जिनधर्म पर गाढ़ श्रद्धा थी। वह जिनेन्द्र भगवानकी सच्ची सेविका थी। ऐसी हालतमें उसे जिनधर्मके सिवा अन्य धर्म कैसे रुच सकता था। उसने तब अपने विचार बड़ी स्वतंत्रताके साथ अपने स्वामी पर प्रगट किये। वह बोली—प्राणनाथ, आपका जैसा विश्वास हो, उस पर मुझे कुछ कहना-सुनना नहीं। पर मैं अपने विश्वासके अनुसार यह कहूँगी कि संसारमें जैनधर्म ही एक ऐसा धर्म है जो सर्वोच्च होनेका दावा कर सकता है। इसलिए कि जीवमात्रका उपकार करनेकी उसमें योग्यता है और बड़े बड़े राजे महाराजे, स्वर्गके देव, विद्याधर, और चक्रवर्त्ती आदि उसे पूजते-मानते हैं। फिर मैं ऐसी कोई बेजा बात उसमें नहीं पाती कि जिससे मुझे उसके छोड़नेके लिए बाध्य होना पड़े। बल्कि मैं आपको भी सलाह दूँगी कि आप इसी सच्चे और जीव मात्रका हित करनेवाले जैनधर्मको ग्रहण करलें तो बड़ा अच्छा हो।

इसी प्रकार इन दोनों पतिपत्नीमें परस्पर बात-चीत हुआ करती थी। अपने अपने धर्मकी दोनों ही तारीफ किया करते थे। रुद्रदत्त जरा अधिक हठी था। इसलिए कभी कभी जिनमती पर वह जरा गुस्सा भी हो जाता था। पर जिनमती बुद्धिमती और चतुर थी, इस लिए वह उसकी नाराजी पर कभी अप्रसन्नता जाहिर न करती। बल्कि उसकी नाराजीको हँसीका रूपदे झटसे रुद्रदत्तको शान्त कर देती थी। जो हो, पर ये रोज रोजकी विवादभरी बातें सुखका कारण नहीं होतीं।

इस तरह बहुत समय बीत गया। एक दिन ऐसा मौका आया कि दुष्ट भीलोंने शहरके किसी हिस्सेमें आग लगादी। चारों ओर आग बुझानेके लिए दौड़ा-दौड़ पड़ गई। उस भयंकर आगको देखकर लोगोंको अपनी जानका भी सन्देह होने लगा। इस समयको योग्य अवसर देख जिनमतीने अपने स्वामी रुद्रदत्तसे कहा-प्राणनाथ, मेरी बात सुनिए। रोज रोजका जो अपनेमें वाद-विवाद होता है, मैं उसे अच्छा नहीं समझती। मेरी इच्छा है कि यह झगड़ा रफा हो जाय। इसके लिए मेरा यह कहना है कि आज अपने शहरमें आग लगी है उस आगको जिसका देव बुझादे, समझना चाहिए कि वही देव सच्चा है और फिर उसीको हमें परस्परमें स्वीकार कर लेना चाहिए। रुद्रदत्तने जिनमतीकी यह बात मानली। उसने तब कुछ लोगोंको इस बातका

गवाह कर महादेव, ब्रह्मा, विष्णु आदि देवोंके लिए अर्घ दिया; बड़ी भक्तिसे उनकी पूजा-स्तुति कर उसने अग्निशान्तिके लिए प्रार्थना की। पर उसकी इस प्रार्थनाका कुछ उपयोग न हुआ। अग्नि जिस भयंकरताके साथ जल रही थी वह उसी तरह जलती रही। सच है, ऐसे देवोंसे कभी उपद्रवोंकी शान्ति नहीं होती, जिनका हृदय दुष्ट है, जो मिथ्यात्वी हैं।

अब धर्मवत्सला जिनमतीकी वारी आई। उसने बड़ी भक्तिसे पंच परमेष्ठियोंके चरण-कमलोंको अपने हृदयमें विराजमान कर उनके लिए अर्घ चढ़ाया। इसके बाद वह अपने पति, पुत्र, आदि कुटुम्ब वर्गको अपने पास बैठाकर आप कायोत्सर्ग ध्यान द्वारा पञ्च नमस्कार मंत्रका चिन्तन करने लगी। इसकी इस अचल श्रद्धा और भक्तिको देखकर शासनदेवता बड़ी प्रसन्न हुई। उसने तब उसी समय आकर उस भयंकर आगको देखते देखते बुझा दिया। इस अतिशयको देखकर रुद्रदत्त वगैरह बड़े चकित हुए। उन्हें विश्वास हुआ कि जैनधर्म ही सच्चा धर्म है। उन्होंने फिर सच्चे मनसे जैनधर्मकी दीक्षाले श्रावकोंको व्रत ग्रहण किये। जैनधर्मकी खूब प्रभावना हुई। सच है, संसार श्रेष्ठ जैनधर्मकी महिमाको कौन कह सकता है, जो कि स्वर्ग-मोक्षका देनेवाला है। जिस प्रकार जिनमतीने अपने सम्यक्त्वकी रक्षा की उसी तरह अन्य भव्य-जनोंको भी सुख प्राप्तिके लिए पवित्र सम्यग्दर्शनकी सदा सुरक्षा करते रहना चाहिए।

जिनेन्द्र भगवान्के चरणोंमें जिनमतीकी अचल भक्ति, उसके हृदयकी पवित्रता और उसका दृढ़ विश्वास देखकर स्वर्गके देवोंने दिव्य वस्त्राभूषणोंसे उसका खूब आदर–मान किया। और सच भी है, सच्चे जिनभक्त सम्यग्दृष्टिकी कौन पूजा नहीं करते।

१०७–सम्यग्दर्शनके प्रभावकी कथा।

जो सारे संसारके देवाधिदेव हैं, और स्वर्गके देव जिनकी भक्तिसे पूजा किया करते हैं उन जिन भगवान्को प्रणाम कर महारानी चेलिनी और श्रेणिकके द्वारा होनेवाली सम्यक्त्वके प्रभावकी कथा लिखी जाती है।

उपश्रेणिक मगधके राजा थे। राजगृह मगधकी तब खास राजधानी थी। उपश्रेणिककी रानीका नाम सुप्रभा था। श्रेणिक इसीके पुत्र थे। श्रेणिक जैसे सुन्दर थे, वैसे ही उनमें अनेक गुण भी थे। वे बुद्धिमान् थे, बड़े गंभीर प्रकृतिके थे, शूरवीर थे, दानी थे और अत्यन्त तेजस्वी थे।

मगध राज्यकी सीमासे लगते ही एक नागधर्म नामके राजाका राज्य था। नागधर्मकी और उपश्रेणिककी पुरानी शत्रुता चली आती थी। नागदत्त उसका बदला लेनेका

मौका तो सदा ही देखता रहता था, पर इस समय उसका उपश्रेणिकके साथ कोई भारी मनमुटाव न था। वह कपटसे उपश्रेणिकका मित्र बना रहता था। यही कारण था कि उसने एक बार उपश्रेणिकके लिए एक दुष्ट घोड़ा भेंटमें भेजा। घोड़ा इतना दुष्ट था कि वैसे तो वह चलता ही न था और उसे जरा ही ऐड़ लगाई या लगाम खींची कि बस वह फिर हवासे बातें करने लगता था। दुष्टोंकी ऐसी गति हो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। उपश्रेणिक एक दिन इसी घोड़े पर सवार हो हवा-खोरीके लिए निकले। इन्होंने बैठते ही जैसे उसकी लगाम तानी कि वह हवा हो गया। बड़ी देर बाद वह एक अटवीमें जाकर ठहरा। उस अटवीका मालिक एक यमदण्ड नामका भील था, जो दीखनेमें सचमुच ही यमसा भयानक था। इसके तिलकावती नामकी एक लड़की थी। तिलकावती बड़ी सुन्दरी थी। उसे देख यह कहना अनुचित न होगा कि कोयलेकी खानमें हीरा निकला। कहाँ काला भुसंड यमदण्ड और कहाँ स्वर्गकी अप्सराओंको लजानेवाली इसकी लड़की चन्द्रवदनी तिलकावती! अस्तु, इस भुवन-सुन्दर रूपराशिको देखकर उपश्रेणिक उस पर मोहित हो गये। उन्होंने तिलकावतीके लिए यमदण्डसे मँगनी की। उत्तरमें यमदण्डने कहा—राजराजेश्वर, इसमें कोई सन्देह नहीं कि मैं बड़ा भाग्यवान् हूँ। जब कि एक पृथिवीके सम्राट् मेरे जमाई बनते हैं। और

इसके लिए मुझे बेहद खुशी है । मैं अपनी पुत्रीका आपके साथ ब्याह करूँ, इसके पहले आपको एक शर्त करनी होगी और वह यह कि आप राज्य तिलकावतीसे होनेवाली सन्तानको दें । उपश्रेणिकने यमदण्डकी इस बातको स्वीकार कर लिया। यमदण्डने भी तब अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार उसका ब्याह उपश्रेणिकसे कर दिया। उपश्रेणिक फिर तिलावतीको साथ ले राजगृह आगये।

कुछ समय सुख पूर्वक बीतने पर तिलकावतीके एक पुत्र हुआ। उसका नाम रक्खा गया चिलातपुत्र । एक दिन उपश्रेणिकने विचार कर, कि मेरे इन पुत्रोंमें राजयोग किसको है, एक निमित्तज्ञानीको बुलाया और उससे पूछा—पंडितजी, अपना निमित्तज्ञान देखकर बतलाइए कि मेरे इतने पुत्रोंमें राज्य-सुख कौन भोग सकेगा ? निमित्त-ज्ञानीने कहा— महाराज, जो सिंहासन पर बैठा हुआ नगारा बजाता रहे और दूरहीसे कुत्तोंको खीर खिलाता हुआ आप भी खाता रहे और आग लगने पर सिंहासन, छत्र, चवँर आदि राज्य चिह्नोंको निकाल ले भागे, वह राज्य-लक्ष्मीका सुख भोग करेगा। इसमें आप किसी तर-हका सन्देह न समझें। उपश्रेणिकने एक दिन इस बातकी परीक्षा करनेके लिए अपने सब पुत्रोंको खीर खानेके लिए बैठाया। उनके पास ही सिंहासन और एक नगारा भी रखवा दिया। पर यह किसीको पता न पड़ने दिया कि ऐसा

क्यों किया गया। सब कुमार भोजन करनेको बैठे और खाना उन्होंने आरंभ किया, कि इतनेमें एक ओरसे कोई सैकडों कुत्तोंका झुण्डका झुण्ड उन पर आ-टूटा। तब वे सब डरके मारे उठ उठकर भागने लगे। श्रेणिक उन कुत्तोंसे न डरा। वह जल्दीसे उठकर खीरकी पत्तलोंको एक ऊँचे स्थान पर धरने लगा। थोड़ी ही देरमें उसने बहुतसी पत्तलें इकट्ठी करलीं। इसके बाद वह स्वयं उस ऊँचे स्थान पर रखे हुए सिंहासन पर बैठकर नगारा बजाने लगा, जिससे कुत्ते उसके पास न आ-पावें और इकट्ठीकी हुई पत्तलोंमेंसे एक एक पत्तल उठा उठाकर दूर दूर फैंकता गया। इस प्रकार अपनी बुद्धिसे व्यवस्था कर उसने बड़ी निर्भयताके साथ भोजन किया। इसी प्रकार आग लगने पर श्रेणिकने सिंहासन, छत्र, चवँर आदि राज्य चिन्होंकी रक्षा करली।

उपश्रेणिकको तब निश्चय हो गया कि इन सब पुत्रोंमें श्रेणिक ही एक ऐसा भाग्यशाली है जो मेरे राज्यको अच्छी तरह चलाएगा। उपश्रेणिकने तब उसकी रक्षाके लिए उसे यहाँसे कहीं भेज देना उचित समझा। उन्हें इस बातका खटका था कि मैं राज्यका मालिक तिलकावतीके पुत्रको बना चुका हूँ, और ऐसी दशामें श्रेणिक यहाँ रहा तो कोई असंभव नहीं कि इसकी तेजस्विता, इसकी बुद्धिमानी, इसकी कार्यक्षमताको देखकर किसीको डाह उपज जाय और उस हालतमें इसका कुछ अनिष्ट हो जाय। इसलिए जब

तक यह अच्छा हुशियार न हो जाये तबतक इसका बाहर कहीं रहना ही उत्तम है। फिर यदि इसमें बल होगा तो यह स्वयं अपने राज्यको हस्तगत कर सकेगा। इसके लिए उपश्रेणिकने श्रेणिकके सिर पर यह अपराध मढ़ा कि इसने कुत्तोंका झूठा खाया है, इसलिए अब यह राजघरानेमें रहने योग्य नहीं रहा। मैं इसे आज्ञा करता हूँ कि यह मेरे राज्यसे निकल जाये। सच है, राजे लोग बड़े विचारके साथ काम करते हैं। निरपराध श्रेणिक पिताकी आज्ञा पा उसी समय राजगृहसे निकल गया। फिर एक मिनटके लिए भी वह वहाँ न ठहरा।

श्रेणिक यहाँसे चलकर कोई दुपहरके समय नन्द नामक गाँवमें पहुँचा। यहाँके लोगोंको श्रेणिकके निकाले जानेका हाल मालूम हो गया था, इसलिए राजद्रोहके भयसे उन्होंने श्रेणिकको अपने गाँवमें न रहने दिया। श्रेणिकने तब लाचार हो आगेका रास्ता लिया। रास्तमें इसे एक संन्यासियोंका आश्रम मिला। इसने कुछ दिनोंतक यहीं अपना डेरा जमा दिया। मठमें यह रहता और और संन्यासियोंका उपदेश सुनता। मठका प्रधान संन्यासी बड़ा विद्वान् था। श्रेणिक पर उसका बहुत असर पड़ा। उसने तब वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया। श्रेणिक और कुछ दिनोंतक यहाँ ठहरा। इसके बाद वह यहाँसे रवाना होकर दक्षिण दिशाकी ओर बढ़ा।

इस समय दक्षिणकी राजधानी काञ्ची थी। काञ्चीके राजा वसुपाल थे। उनकी रानीका नाम वसुमती था। इनके वसुमित्रा नामकी एक सुन्दर और गुणवती पुत्री थी। यहाँ एक सोमशर्मा ब्राह्मण रहता था सोमशर्माकी स्त्रीका नाम सोमश्री था। इसके भी एक पुत्री थी। इसका नाम अभयमती था। अभयमती बड़ी बुद्धिमती थी।

एक बार सोमशर्मा तीर्थयात्रा करके लौट रहा था। रास्तेमें उसे श्रेणिकने देखा। कुछ मेल-मुलाकात और बोलचाल हुए बाद जब ये दोनों चलनेको तैयार हुए तब श्रेणिकने सोमशर्मासे कहा—मामाजी, आप भी बड़ी दूरसे आते हैं और मैं भी बड़ी दूरसे चला आ रहा हूँ, इसलिए हम दोनों ही थक चुके हैं। अच्छा हो यदि आप मुझे अपने कन्धे पर बैठालें और आप मेरे कन्धे पर बैठकर चलें तो। श्रेणिककी यह बे-सिर पैरकी बात सुनकर सोमशर्मा बड़ा चकित हुआ। उसने समझा कि यह पागल हो गया जान पड़ता है। उसने तब श्रेणिककी बातका कुछ जबाब न दिया। थोड़ी दूर चुपचाप आगे बढ़ने पर श्रेणिकने दो गाँवोंको देखा। उसने तब जो छोटा गाँव था उसे तो बड़ा बताया और जो बड़ा था उसे छोटा बताया। रास्तेमें श्रेणिक जहाँ सिर पर कड़ी धूप पड़ती वहाँ तो छत्री उतार लेता और जहाँ वृक्षोंकी ठंडी छाया आती वहाँ छत्रीको चढ़ा लेता। इसी तरह जहाँ कोई नदी-नाला पड़ता तब

तो वह जूतियोंको पाँवोंमें पहर लेता और रास्तेमें उन्हें हाथमें लेकर नंगे पैरों चलता । आगे चलकर उसने एक स्त्रीको पति द्वारा मार खाती देखकर सोमशर्मासे कहा–क्यों मामाजी, यह जो स्त्री पिट रही है वह बँधी है या खुली? आगे एक मरे पुरुषको देखकर उसने पूछा कि यह जीता है या मर गया? थोड़ी दूर चलकर इसने एक धानके पके हुए खेतको देखकर कहा–इसे इसके मालिकोंने खा लिया है या वे अब खायँगे? इसी तरह सारे रास्तेमें एकसे एक असंगत और बे-मतलबके प्रश्न सुनकर बेचारा सोमशर्मा ऊब गया। राम राम करते वह घर पर आया। श्रेणिकको वह शहर बाहर ही एक जगह बैठाकर यह कह आया कि मैं अपनी लड़कीसे पूछकर अभी आता हूँ, तबतक तुम यहीं बैठना।

अभयमती अपने पिताको आया देख बड़ी खुश हुई। उन्हें कुछ खिला-पिला कर उसने पूछा–पिताजी, आप अकेले गये थे और अकेले ही आये हैं क्या? सोमशर्माने कहा–बेटा, मेरे साथ एक बड़ा ही सुन्दर लड़का आया है। पर बड़े दुःखकी बात है कि वह बेचारा पागल हो गया जान पड़ता है। उसकी देवकुमारसी सुन्दर जिन्दगी धूलधानी हो गई! कर्मोंकी लीला बड़ी ही विचित्र है। मुझे तो उसकी वह स्वर्गीय सुन्दरता और साथ ही उसका वह पागलपन देखकर उस पर बड़ी दया आती है। मैं उसे शहर बाहर एक स्थान पर बैठा आया हूँ। अपने पिताकी बातें सुनकर

अभयमतीको बड़ा कौतुक हुआ। उसने सोमशर्मासे पूछा—हाँ तो पिताजी, उसमें किस तरहका पागलपन है ? मुझे उसके सुननेकी बड़ी उत्कण्ठा हो गई है। आप बतलावें। सोमशर्माने तब अभयमतीसे श्रेणिककी वे सब चेष्टाएँ—कन्धे पर चढ़ना चढ़ाना, छोटे गाँवको बड़ा और बड़ेको छोटा कहना, वृक्षके नीचे छत्री उतार देना और धूपमें चढ़ा लेना, पानीमें चलते समय जूते पहर लेना और रास्तेमें चलते उन्हें हाथमें ले लेना आदि, कह सुनाईं। अभयमतीने उन सबको सुनकर अपने पितासे कहा—पिताजी, जिस पुरुषने ऐसी बातें की हैं उसे आप पागल या साधारण पुरुष न समझें। वह तो बड़ा ही बुद्धिमान् है। मुझे मालूम होता है उसकी बातोंके रहस्य पर आपने ध्यानसे विचार न किया इसीसे आपको उसकी बातें बे-सिर पैरकी जान पड़ीं। पर ऐसा नहीं है। उन सबमें कुछ न कुछ रहस्य जरूर है। अच्छा, वह सब मैं आपको समझाती हूँ—पहले ही उसने जो यह कहा था कि आप मुझे अपने कन्धे पर चढ़ा लीजिए और आप मेरे कन्धे पर चढ़ जाइए, इससे उसका मतलब था, आप हम दोनों एक ही रास्तेसे चलें। क्योंकि स्कन्ध शब्दका रास्ता अर्थ भी होता है। और यह उसका कहना ठीक भी था। इसलिए कि दो जने साथ रहनेसे हर तरह बड़ी सहायता मिलती रहती है।

दूसरे उसने दो ग्रामोंको देख कर बड़ेको तो छोटा और छोटेको बड़ा कहा था। इससे उसका अभिप्राय यह है कि

छोटे गाँवके लोग सज्जन हैं, धर्मात्मा हैं, दयालु हैं, परोपकारी हैं और हर एककी सहायता करनेवाले हैं। इसलिए यद्यपि वह गाँव छोटा था, पर तब भी उसे बड़ा ही कहना चाहिए। क्योंकि बड़प्पन गुणों और कर्त्तव्य पालनसे कहलाता है। केवल बाहरी चमक दमकसे नहीं। और बड़े गाँवको उसने तब छोटा कहा, इससे उसका मतलब स्पष्ट ही है कि उसके रहवासी अच्छे लोग नहीं हैं–उनमें बड़प्पनके जो गुण होने चाहिए वे नहीं हैं।

तीसरे उसने वृक्षके नीचे छत्रीको चढ़ा लिया था और रास्तेमें उसे उतार लिया था। ऐसा करनेसे उसकी मंशा यह थी–रास्तेमें छत्रीको न लगाया जाय तो भी कुछ नुकसान नहीं और वृक्षके नीचे न लगानेसे उस पर बैठे हुए पक्षियोंके बींट वगैरहके करनेका डर बना रहता है। इसलिए वहाँ छत्रीका लगाना आवश्यक है।

चौथे उसने पानीमें चलते समय तो जूतोंको पहर लिया और रास्तेमें चलते समय उन्हें हाथमें ले लिया था। इससे वह यह बतलाना चाहता है–पानीमें चलते समय यह नहीं देख पड़ता है कि कहाँ क्या पड़ा है। काँटे, कीले और कंकर-पत्थरोंके लग जानेका भय रहता है, जल जन्तुओंके काटनेका भय रहता है। अतएव पानीमें उसने जूतोंको पहर कर बुद्धिमानीका ही काम किया। रास्तेमें अच्छी तरह देख-भाल कर चल सकते हैं, इसलिए यदि वहाँ जूते न पहरे जायँ तो उतनी हानिकी संभावना नहीं।

पाँचवें उसने एक स्त्रीको मारखाते देखकर पूछा था कि यह स्त्री बँधी है या खुली ? इस प्रश्नसे मतलब था–उस स्त्रीका ब्याह हो गया है या नहीं ?

छठे–उसने एक मुर्देको देखकर पूछा था–यह मर गया है या जीता है ? पिताजी, उसका यह पूछना बड़ा मार्के था। इससे वह यह जानना चाहता था कि यदि यह संसारका कुछ काम करके मरा है, यदि इसने स्वार्थ त्याग अपने धर्म, अपने देश और अपने देशके भाई-बन्धुओंके हितमें जीवनका कुछ हिस्सा लगाकर मनुष्य जीवनका कुछ कर्त्तव्य पालन किया है, तब तो वह मरा हुआ भी जीता ही है। क्योंकि उसकी वह प्राप्त की हुई कीर्ति मोजूद है, सारा संसार उसे स्मरण करता हैं, उसे ही अपना पथप्रदर्शक बनाता है। फिर ऐसी हालतमें उसे मरा कैसे कहा जाय ? और इससे उलटा जो जीता रह कर भी संसारका कुछ काम नहीं करता, जिसे सदा अपने स्वार्थकी ही पड़ी रहती है और जो अपनी भलाईके सामने दूसरोंके होनेवाले अहित या नुकसानको नहीं देखता; बल्कि दूसरोंका बुरा करनेकी कोशिश करता है ऐसे पृथिवीके बोझको कौन जीता कहेगा ? उससे जब किसीको लाभ नहीं तब उसे मरा हुआ ही समझना चाहिए।

सातवें उसने पूछा कि यह धानका खेत मालिकों द्वारा खा-लिया गया या अब खाया जायगा ? इस प्रश्नसे उसका यह मतलब था कि इसके मालिकोंने कर्ज लेकर इस खेतको

बोया है या इसके लिए उन्हें कर्ज लेनेकी जरूरत न पड़ी अर्थात् अपना ही पैसा उन्होंने इसमें लगाया है? यदि कर्ज लेकर उन्होंने इसे तैयार किया तब तो समझना चाहिए कि यह खेत पहलेहीसे खा लिया गया और यदि कर्ज नहीं लिया गया तो अब वे इसे खायँगे--अपने उपयोगमें लावेंगे।

इस प्रकार श्रेणिकके सब प्रश्नोंका उत्तर अभयमतीने अपने पिताको समझाया। सुनकर सोमशर्माको बड़ा ही आनन्द हुआ। सोमशर्माने तब अभयमतीसे कहा---तो बेटा, ऐसे गुणवान् और रूपवान् लड़केको तो अपने घर लाना चाहिए। और अभयमती, वह जब पहले ही मिला तब उसने मुझे मामाजी कह कर पुकारा था। इसलिए उसका कोई अपने साथ सम्बन्ध भी होगा। अच्छा तो मैं उसे बुलाये लाता हूँ।

अभयमती बोली---पिताजी, आपको तकलीक उठानेकी कोई आवश्यकता नहीं। मैं अपनी दासीको भेजकर उसे अभी बुलवा लेती हूँ। मुझे अभी एक दो बातों द्वारा ओर उसकी जाँच करना है। इसके लिए मैं निपुणमतीको भेजती हूँ। अभयमतीने इसके बाद निपुणमतीको कुछ थोड़ासा उबटन चूर्ण देकर भेजा और कहा--तू उस नये आगन्तुकसे कहना कि मेरी मालकिनने आपकी मालिशके लिए यह तैल और उबटन चूर्ण भेजा है, सो आप अच्छी तरह मालिश तथा

स्नान करके फलाँ रास्तेसे घर पर आवें। निपुणमतीने श्रेणिकके पास पहुँच कर सब हाल कहा और तैल तथा उबटन रखनेको उससे बरत माँगा। श्रेणिक उस थोड़ेसे तैल और उबटनको देखकर, जिससे कि एक हाथका भी मालिश होना असंभव था, दंग रह गया। उसने तब जान लिया कि सोमशर्मासे मैंने जो जो प्रश्न किये थे उसने अपनी लड़कीसे अवश्य कहा है और इसीसे उसकी लड़कीने मेरी परीक्षाके लिए यह उपाय रचा है। अस्तु, कुछ परवा नहीं। यह विचार कर उस उपजत-बुद्धि श्रेणिकने तैल और उबटन चूर्णके रखनेको अपने पाँवके अँगूठेसे दो गढ़े बनाकर निपुणमतीसे कहा—आप तैल और चूर्णके लिए बरतन चाहती हैं। अच्छी बात है, ये (गढ़ेकी ओर इशारा करके) बरतन हैं। आप इनमें तैल और चूर्ण रख दीजिए। मैं थोड़ी ही देर बाद स्नान करके आपकी मालकिनकी आज्ञाका पालन करूँगा। निपुणमती श्रेणिककी इस बुद्धिमानीको देखकर दंग रह गई। वह फिर श्रेणिकके कहे अनुसार तैल और चूर्णको रखकर चली गई।

अभयमतीने श्रेणिकको जिस रास्तेसे बुलाया था, उसमें उसने कोई घुटने घुटने तक कीचड़ करवा दिया था। और कीचड़ बाहर होनेके स्थान पर बाँसकी एक छोटीसी पतली छोई (कमची) और बहुत ही थोड़ासा जल रख दिया था। इसलिए कि श्रेणिक अपने पाँवोंको साफ कर भीतर आये।

श्रेणिकने घर पहुँच कर देखा तो भीतर जानेके रास्तेमें बहुत कीचड़ हो रहा है। वह कीचड़में होकर यदि जाये तो उसके पाँव भरते हैं और दूसरी ओरसे भीतर जानेका रास्ता उसे मालूम नहीं है। यदि वह मालूम भी करे तो उससे कुछ लाभ नहीं। अभयमतीने उसे इसी रास्ते बुलाया है। वह फिर कीचड़हीमें होकर गया। बाहर होते ही उसे पाँव धोनेके लिए थोड़ा जल रखा हुआ मिला। वह बड़े आश्चर्यमें आ-गया कि कीचड़से ऐसे लथपथ भरे पाँवोंको मैं इस थोड़ेसे पानीसे कैसे धो सकूँगा। पर इसके सिवा उसके पास और कुछ उपाय भी न था। तब उसने पानीके पास ही रखी हुई उस छोईको उठाकर पहले उससे पाँवोंका कीचड़ साफ कर लिया और फिर उस थोड़ेसे जलसे धोकर एक कपड़ेसे उन्हें पोंछ लिया। इन सब परीक्षाओंमें पास होकर जब श्रेणिक अभयमतीके सामने आया तब अभयमतीने उसके सामने एक ऐसा मूँगेका दाना रक्खा कि जिसमें हजारों बाँके-सीधे छेद थे। यह पता नहीं पड़ पाता था कि किस छेदमें सूतका धागा पिरोनेसे उसमें पिरोया जा सकेगा और साधारण लोगोंके लिए यह बड़ा कठिन भी था। पर श्रेणिकने अपनी बुद्धिकी चतुरतासे उस मूँगेमें बहुत जल्दी धागा पिरो दिया। श्रेणिककी इस बुद्धिमानीको देखकर अभयमती दंग रह गई। उसने तब मनही मन संकल्प किया कि मैं अपना व्याह इसीके

साथ करूँगी। इसके बाद उसने श्रेणिकका बड़ी अच्छी तरह आदर-सत्कार किया, खूब आनन्दके साथ उसे अपने ही घर पर जिमाया और कुछ दिनोंके लिए उसे वहीं ठहरा भी लिया। अभयमतीकी मंशा उसकी सखी द्वारा जानकर उसके माता-पिताको बड़ी प्रसन्नता हुई! घर बैठे उन्हें ऐसा योग्य जमाई मिल गया, इससे बढ़कर और प्रसन्नताकी बात उनके लिए हो भी क्या सकती थी। कुछ दिनोंबाद श्रेणिकके साथ अभयमतीका व्याह भी हो गया। दोनों नव दम्पतिने नये जीवनमें पाँव धरा। श्रेणिकके कष्ट भी बहुत कम हो गये। वह अब अपनी प्रियाके साथ सुखसे दिन बिताने लगा।

सोमशर्मा नामका एक ब्राह्मण एक अटवीमें जिनदत्त मुनिके पास दीक्षा लेकर संन्याससे मरा था। उसका उल्लेख अभिषेकविधिसे प्रेम करनेवाले जिनदत्त और वसुमित्रकी १०३ री कथामें आचुका है। यह सोमशर्मा यहाँसे मरकर सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ। जब इसकी स्वर्गायु पूरी हुई तब यह काञ्चीपुरमें हमारे इस कथानायक श्रेणिकके अभयकुमार नामका पुत्र हुआ। अभयकुमार बड़ा वीर और गुणवान् था। और सच भी है जो कर्मोंका नाश कर मोक्ष जानेवाला है उसकी वीरताका क्या पूछना?

काञ्चीके राजा वसुपाल एक बार दिग्विजय करनेको निकले। एक जगह उन्होंने एक बड़ा ही सुन्दर और

भव्य जिनमन्दिर देखा । उसमें विशेषता यह थी कि वह एक ही खम्भेके ऊपर बनाया गया था-उसका आधार एक ही खंभा था । वसुपाल उसे देखकर बहुत खुश हुए । उनकी इच्छा हुई कि ऐसा मन्दिर कांचीमें भी बनवाया जाय । उन्होंने उसी समय अपने पुरोहित सोमशर्माको एक पत्र लिखा । उसमें लिखा कि-"अपने यहाँ एक ऐसा सुन्दर जिन मन्दिर तैयार करवाना, जिसकी इमारत भव्य और बड़ी ही मनोहर हो । सिवा इसके उसमें यह विषेतता हो कि सारी ही मन्दिरकी इमारत एक ही खम्भे पर खड़ी की जाय । मैं जबतक आऊँ तबतक मन्दिर तैयार हो जाना चाहिए ।" सोमशर्मा पत्र बाँचकर बड़ी चिन्तामें पड़ गया । वह इस विषयमें कुछ जानता-करता न था, इसलिए वह क्या करे, कैसा मन्दिर बनवावे, इसकी उसे कुछ सूझ न पड़ती थी । चिन्ता उसके मुँह पर सदा छाई रहती थी । उसे इस प्रकार उदास देखकर श्रेणिकने उससे उसकी उदासीका कारण पूछा । सोमशर्माने तब वह पत्र श्रेणिकके हाथ देकर कहा-यही पत्र मेरी इस चिन्ताका मुख्य कारण है । मुझे इस विषयका रत्ती भर भी ज्ञान नहीं तब मैं मन्दिर बनवाऊँ भी तो कैसा ? इसीसे दिन रात मैं चिन्तातुर रहा करता हूँ । श्रेणिकने तब सोमशर्मासे कहा-आप इस विषयकी चिन्ता छोड़कर इसका सब भार मुझे दीजिए । फिर देखिए, मैं थोड़े ही समयमें महाराजके लिखे अनुसार मन्दिर बनवाये देता हूँ । सोमश-

र्माको श्रेणिकके इस साहस पर आश्चर्य तो अवश्य हुआ, पर उसे श्रेणिककी बुद्धिमानीका परिचय पहलेहीसे मिल चुका था; इसलिए उसने कुछ विशेष सोच-विचार न कर सब काम श्रेणिकके हाथ सौंप दिया। श्रेणिकने पहले मन्दिरका एक नकशा तैयार किया। जब नकशा उसके मनके माफिक बन गया तब उसने हजारों अच्छे अच्छे कारीगरोंको लगाकर थोड़े ही समयमें मन्दिरकी विशाल और भव्य इमारत तैयार करवाली। श्रेणिककी इस बुद्धिमानीको जो देखता वही उसकी शतमुखसे तारीफ करता। और वास्तवमें श्रेणिकने यह कार्य प्रशंसाके लायक किया भी था। सच है, उत्तम ज्ञान, कला-चतुराई ये सब बातें बिना पुण्यके प्राप्त नहीं होती।

जब वसुपाल लौटकर काञ्ची आये और उन्होंने मन्दिरकी उस भव्य इमारतको देखा तो वे बड़े खुश हुए। श्रेणिक पर उनकी अत्यन्त प्रीति हो गई। उन्होंने तब अपनी कुमारी वसुमित्राका उसके साथ ब्याह भी कर दिया। श्रेणिक राजजमाई बनकर सुखके साथ रहने लगा।

अब राजगृहकी कथा लिखी जाती है—

उपश्रेणिकने श्रेणिकको, उसकी रक्षा हो इसके लिए, देश बाहर कर दिया। इसके बाद कुछ दिनोंतक उन्होंने और राज्य किया। फिर कोई कारण मिल जानेसे उन्हें संसार-विषय-भोगादिसे बड़ा वैराग्य हो गया। इसलिए वे अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार चिलातपुत्रको सब राज्यभार सौंपकर

दीक्षा ले योगी हो गये । राज्यसिंहासनको अब चिलात-पुत्रने अलंकृत किया ।

प्रायः यह देखा जाता है कि एक छोटी जातिके या विषयोंके कीड़े, स्वार्थी, अभिमानी, मनुष्यको कोई बड़ा अधिकार या खूब मनमानी दौलत मिल जाती है तो फिर उसका सिर आसमानमें चढ़ जाता है, आँखें उसकी अभिमानके मारे नीची देखती ही नहीं । ऐसा मनुष्य संसारमें फिर सब कुछ अपनेको ही समझने लगता है । दूसरोंकी इज्जत-आबरूकी वह कुछ परवा न कर उनका कौड़ीके भाव भी मौल नहीं समझता । चिलातपुत्र भी ऐसे ही मनुष्योंमें था । बिना परिश्रम या बिना हाथ पाँव हिलाये उसे एक विशाल राज्य मिल गया और मजा यह कि अच्छे शूर-वीर और गुणवान् भाइयोंके बैठे रहते ! तब उसे क्यों न राज-लक्ष्मीका अभिमान हो ? क्यों न वह गरीब प्रजाको पैरों नीचे कुचल कर इस अभिमानका उपयोग करे ? उसकी मा भीलकी लड़की, जिसका कि काम दिनरात लूट-खोस करने, और लोगोंको मारने-काटनेका रहा, उसके विचार गन्दे, उसकी वासनाएँ नीचातिनीच; तब वह अपनी जाति, अपने विचार और अपनी वासनाके अनुसार यदि काम करे तो इसमें नई बात क्या ? कुछ लोग ऐसा कहें कि यह सब कुछ होने पर भी अब वह राजा है—प्रजाका प्रतिपालक है, तब उसे तो अच्छा होना ही चाहिए । इसका यह उत्तर है

कि ऐसा होना आवश्यक है और एक ऐसे मनुष्यको, जिसका कि अधिकार बहुत बड़ा है—हजारों लाखों अच्छे अच्छे इज्जत-आबरूदार, धनी, गरीब, दीन, दुखी जिसकी कृपाकी चाह करते हैं, विशेष कर शिष्ट और सबका हितैषी होना ही चाहिए। हाँ ये सब बातें उसमें हो सकती हैं, जिसमें दयालुता, परोपकारता, कुलीनता, निरभिमानता, सरलता, सज्जनता आदि गुण कुल-परम्परासे चले आते हों। और जहाँ इनका मूलमें ही कुछ ठिकाना नहीं वहाँ इन गुणोंका होना असंभव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है। आप एक कौएको मोरके पींखोंसे खूब सजाकर सुन्दर बना दीजिए, पर रहेगा वह कौआका कौआ ही। ठीक इसी तरह चिलातपुत्र आज एक विशाल राज्यका मालिक जरूर बन गया, पर उसमें जो भील-जातिका अंश है वह अपने चिर संस्कारके कारण इसमें पवित्र गुणोंकी:दाल गलने नहीं देता। और यही कारण हुआ कि राज्याधिकार प्राप्त होते ही उसकी प्रवृत्ति अच्छी ओर न होकर अन्यायकी ओर हुई। प्रजाको उसने हर तरह तंग करना शुरू किया। कोई दुर्व्यसन, कोई कुकर्म उससे न छूट पाया। अच्छे अच्छे घरानेकी कुलशील सतियोंकी इज्जत ली जाने लगी। लोगोंका धन-माल जबरन लूटा-खोसा जाने लगा। उसकी कुछ पुकार नहीं, सुनवाई नहीं, जिसे रक्षक जानकर नियत किया वही

जब भक्षक बन बैठा तब उसकी पुकार की भी कहाँ जाये ? प्रजा अपनी आँखोंसे घोरसे घोर अन्याय देखती, पर कुछ करने-धरनेको समर्थ न होकर वह मन मसोस कर रह जाती। जब चिलात बहुत ही अन्याय करने लगा तब उसकी खबर बड़ी बड़ी दूरतक फैल गई। जिसके मुँहसे सुनो यही एक चिलातके अन्यायकी बात सुन पड़ने लगी। श्रेणिकको भी प्रजा द्वारा यह हाल मालूम हुआ। उसे अपने पिताकी निरीह प्रजा पर चिलातका यह अन्याय सहन नहीं हुआ। उसने तब अपने श्वसुर वसुपालसे कुछ सहायता लेकर चिलात पर चढ़ाई करदी। प्रजाको जब श्रेणिककी चढ़ाईका हाल मालूम हुआ तो उसने बड़ी खुशी मनाई, और हृदयसे उसका स्वागत किया। श्रेणिकने प्रजाकी सहायतासे चिलातको सिंहासनसे उतार देश बाहर किया और प्रजाकी अनुमतिसे फिर आप ही सिंहासन पर बैठा। सच है, राज्यशासन वही कर सकता है और वही पात्र भी है जो बुद्धिवान् हो, समर्थ हो और न्यायप्रिय हो। दुर्बुद्धि, दुराचारी, कायर, और अकर्मण्य पुरुष उसके योग्य नहीं।

इधर कई दिनोंसे अपने पिताको न देखकर अभयकुमारने अपनी मातासे एक दिन पूछा–मा, बहुत दिनोंसे पिताजी देख नहीं पड़ते, सो वे कहाँ है। अभयमतीने उत्तरमें कहा–बेटा, वे जाते समय कह गये थे कि राजगृहमें 'पाण्डुकुटि' नामका महल है। प्रायः मैं वहीं रहता हूँ। सो मैं जब समा-

चार दूँ तब वहीं आजाना। तबसे अभी तक उनका कोई पत्र न आया। जान पड़ता है राज्यके कामोंसे उन्हें स्मरण न रहा। माता द्वारा पिताका पता पा अभयकुमार अकेला ही राजगृहको रवाना हुआ। कुछ दिनोंमें वह नन्दगाँवमें पहुँचा।

पाठकोंको स्मरण होगा कि जब श्रेणिकको उसके पिता उपश्रेणिकने देश बाहर हो जानेकी आज्ञा दी थी और श्रेणिक उसके अनुसार राजगृहसे निकल गया था तब उसे सबसे पहले रास्तेमें यही नन्दगाँव पड़ा था। पर यहाँके लोगोंने राजद्रोहके भयसे श्रेणिकको गाँवमें आने नहीं दिया था। श्रेणिक इससे उन लोगों पर बड़ा नाराज हुआ था। इस समय उन्हें उनकी उस असहानुभूतिकी सजा देनेके अभिप्रायसे श्रेणिकने उन पर एक हुक्म नामा भेजा और उसमें लिखा कि "आपके गाँवमें एक मीठे पानीका कुआ है। उसे बहुत जल्दी मेरे यहाँ भेजो, अन्यथा इस आज्ञाका पालन न होनेसे तुम्हें सजा दी जायगी।" बेचारे गाँवके रहनेवाले स्वभावसे डरपोंक ब्राह्मण राजाके इस विलक्षण हुक्म नामेको सुनकर बड़े घबराये। जो ले जानेकी चीज होती है वही ले-जाई जाती है, पर कुआ एक स्थानसे अन्य स्थान पर कैसे ले-जाया जाय? वह कोई ऐसी छोटी मोटी वस्तु नहीं जो यहाँसे उठाकर वहाँ रखदी जाय। तब वे बड़ी चिन्तामें पड़े। क्या करें, और क्या न करे, यह उन्हें बिलकुल न सूझ पड़ा। न वे राजाके पास ही जाकर कह

सकते हैं कि-महाराज, यह असंभव बात कैसे हो सकती है ! कारण गाँवके लोगोंमें इतनी हिम्मत कहाँ ? सारे गाँवमें यही एक चर्चा होने लगी। सबके मुँह पर मुर्दिनी छागई। और बात भी ऐसी ही थी। राजाज्ञा न पालने पर उन्हें दण्ड भोगना चाहिए। यह चर्चा घरों घर हो रही थी कि इसी समय अभयकुमार यहाँ आ पहुँचा, जिसका कि जिकर ऊपर आ चुका है। उसने इस चर्चाका आदि अन्त मालूम कर गाँवके सब लोगोंको इकट्ठा कर कहा-इस साधारण बातके लिए आप लोग ऐसी चिन्तामें पड़ गये। घबराने करनेकी कोई बात नहीं। मैं जैसा कहूँ वैसा कीजिए। आपका राजा उससे खुश होगा। तब उन लोगोंने अभयकुमारकी सलाहसे श्रेणिककी सेवामे एक पत्र लिखा। उसमें लिखा कि-" राजराजेश्वर, आपकी आज्ञाको सिर पर चढ़ाकर हमने कुएसे बहुत बहुत प्रार्थनाएँ कर कहा कि-महाराज तुझ पर प्रसन्न हैं। इसलिए वे तुझे अपने शहरमें बुलाते हैं, तू राजगृह जा ! पर महाराज, उसने हमारी एक भी प्रार्थना न सुनी और उलटा रूठकर गाँव बाहर चल दिया। सो हमारे कहने सुननेसे तो वह आता नहीं देख पड़ता। पर हाँ उसके लेजानेका एक उपाय है और उसे यदि आप करें तो संभव है वह रास्ते पर आजाये। वह उपाय यह है कि पुरुष स्त्रियोंका गुलाम होता है-स्त्रियों द्वारा वह जल्दी वश हो जाता है। इसलिए आप अपने शहरकी उदुंबर नामकी कुईको इसे

लेनेको भेजें तो अच्छा हो। बहुत विश्वास है कि उसे देखते ही हमारा कुआ उसके पीछे पीछे हो जायगा।" श्रेणिक पत्र पढ़कर चुप रहे गये। उनसे उसका कुछ उत्तर न बन पड़ा। सच है, जब जैसेको तैसा मिलता है तब अकल ठिकाने पर आती है। और धूर्त्तोंको सहजमें काबूमें लेलेना कोई हँसी-खेल थोड़े ही है?

कुछ दिनों बाद श्रेणिकने उनके पास एक हाथी भेजा और लिखा कि इसका ठीक ठीक तोल कर जल्दी खबर दो कि यह बजनमें कितना है? अभयकुमार उन्हें बुद्धि सुझानेवाला था ही, सो उसके कहे अनुसार उन लोगोंने नावमें एक ओर तो हाथीको चढ़ा दिया और दूसरी ओर खूब पत्थर रखना शुरू किया। जब देखा कि दोनों ओरका बजन समतोल हो गया तब उन्होंने उन सब पत्थरोंको अलग तोलकर श्रेणिकको लिख भेजा कि हाथीका तोल इतना है। श्रेणिकको अब भी चुप रह जाना पड़ा।

तीसरी बार तब श्रेणिकने लिख भेजा कि "आपका कुआ गाँवके पूर्वमें है, उसे पश्चिमकी ओर कर देना। मैं बहुत जल्दी उसे देखनेको आऊँगा।" इसके लिए अभयकुमारने उन्हें युक्ति सुझाकर गाँवको ही पूर्वकी ओर बसा दिया। इससे कुआ सुतरां पश्चिममें हो गया।

चौथी बार श्रेणिकने एक मेंढ़ा भेजा कि "यह मेंढ़ा न दुर्बल हो, न बढ़ जाय और न इसके खाने पिलानेमें

किसी तरहकी असावधानीकी जाय। मतलब यह कि जिस स्थितिमें यह अब है इसी स्थितिमें बना रहे। मैं कुछ दिनों बाद इसे वापिस मँगा लूँगा।" इसके लिए अभयकुमारने उन्हें यह युक्ति बताई कि मेंढ़ेको खूब खिला-पिला कर घण्टा दो घंटाके लिए उसे सिंहके सामने बाँध दिया करिए, ऐसा करनेसे न यह बढ़ेगा और न घटेगा ही। वैसा ही किया गया। मेंढ़ा जैसा था वैसा ही रहा। श्रेणिकको इस युक्तिमें भी सफलता प्राप्त न हुई।

पाँचवी बार श्रेणिकने उनसे घड़ेमें रखा एक कोला (कद्दू) मँगाया। इसके लिए अभयकुमारने बेल पर लगे हुए एक छोटे कोलेको घड़ेमें रखकर बढ़ाना शुरू किया और जब उससे घड़ा भर गया तब उस घड़ेको श्रेणिकके पास पहुँचा दिया।

छठी बार श्रेणिकने उन्हें लिख भेजा कि "मुझे बालूरेतकी रस्सी दरकार है, सो तुम जल्दी बनाकर भेजो।" अभयकुमारने इसके उत्तरमें यह लिखवा भेजा कि "महाराज, जैसी रस्सी आप तैयार करवाना चाहते हैं कृपा कर उसका नमूना भिजवा दीजिए। हम वैसी ही रस्सी फिर तैयार कर सेवामें भेज देंगे।" इत्यादि कई बातें श्रेणिकने उनसे करवाईं। सबका उत्तर उन्हें बराबर मिला। उत्तर ही न मिला किन्तु श्रेणिकको कुछ हतप्रभ भी होना पड़ा। इसलिए कि वे उन ब्राह्मणोंको इस बातकी सजा देना चाहते

थे कि उन्होंने मेरे साथ सहानुभूति क्यों न बतलाई ? पर वे सजा दे नहीं पाये । श्रेणिकको जब यह मालूम हुआ कि कोई एक विदेशी नन्दगाँवमें है । वही गाँवके लोगों-को ये सब बातें सुझाया करता है । उन्हें उस विदेशी-की बुद्धि देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और सन्तोष भी हुआ । श्रेणिककी उत्कण्ठा तब उसके देखनेके लिए बढ़ी । उन्होंने एक पत्र लिखा । उसमें लिखा कि " आपके यहाँ जो एक विदेशी आकर रहा है, उसे मेरे पास भेजिए । पर साथमें उसे इतना और समझा देना कि वह न तो रातमें आये, और न दिनमें, न सीधे रास्तेसे आये और न टेढ़े-मेढ़े रास्तेसे ।

अभयकुमारको पहले तो कुछ जरा विचारमें पड़ना पड़ा, पर फिर उसे इसके लिए भी युक्ति सूझ गई और अच्छी सूझी । वह शामके वक्त गाड़ीके एक कोनेमें बैठकर श्रेणिकके दरबारमें पहुँचा । वहाँ वह देखता है तो सिंहासन पर एक साधारण पुरुष बैठा है—उस पर श्रेणिक नहीं है । वह बड़ा आश्चर्यमें पड़ गया । उसे ज्ञात हो गया कि यहाँ भी कुछ न कुछ चाल खेली गई है । बात यह थी कि श्रेणिक अंगरक्षक पुरुषोंके साथ बैठ गये थे । उनकी इच्छा थी कि अभयकुमार मुझे न पहचान कर लज्जित हो । इसके बाद ही अभयकुमारने एक बार अपनी दृष्टि राजसभा पर डाली । उसे कुछ गहरी निगाहसे देखने पर जान पड़ा कि राजसभामें बैठे हुए लोगोंकी नजर बार बार एक पुरुष पर पड़ रही है । और वह लोगोंकी अपेक्षा

सुन्दर और तेजस्वी है। पर आश्चर्य यह कि वह राजाके अंग-रक्षक लोगोंमें बैठा है। अभयकुमारको उसी पर कुछ सन्देह गया। तब उसके कुछ चिह्नोंको देखकर उसे दृढ़ विश्वास हो गया कि यही मेरे पूज्य पिता श्रेणिक हैं। तब उसने जाकर उनके पाँवोंमें अपना सिर रख लिया। श्रेणिकने उठाकर झट उसे छातीसे लगा लिया। वर्षों बाद पितापुत्रका मिलाप हुआ। दोनोंको ही बड़ा आनन्द हुआ। इसके बाद श्रेणिकने पुत्रप्र-वेशके उपलक्ष्यमें प्रजाको उत्सव मनानेकी आज्ञा की। खूब आनन्द-उत्सव मनाया गया। दुखी, अनाथोंको दान किया गया। पूजा-प्रभावना की गई। सच है, कुलदीपक पुत्रके लिए कौन खुशी नहीं मनाता? इसके बाद ही श्रेणिकने अपने कुछ आदमियोंको भेजकर काञ्चीसे अभयमती और वसुमित्रा इन दोनों प्रियाओंको भी बुलवा लिया। इस प्रकार प्रिया-पुत्र सहित श्रेणिक सुखसे राज्य करने लगे। अब इसके आगेकी कथा लिखी जाती है—

सिन्धुदेशकी विशाला नगरीके राजे चेटक थे। वे बड़े बुद्धिमान्, धर्मात्मा और सम्यग्दृष्टि थे। जिन भगवान् पर उनकी बड़ी भक्ति थी। उनकी रानीका नाम सुभद्रा था। सुभद्रा बड़ी पतिव्रता और सुन्दरी थी। इसके सात लड़कियाँ थीं। इनमें पहली लड़की प्रियकारिणी थी। इसके पुण्यका क्या कहना, जो इसका पुत्र संसारका महान् नेता तीर्थंकर हुआ। दूसरी मृगावती, तीसरी सुप्रभा, चौथी

प्रभावती, पाँचवी चेलिनी, छठी ज्येष्ठा और सातवीं चन्दना थी। इनमें अन्तकी चन्दनाको बड़ा उपसर्ग सहना पड़ा। उस समय इसने बड़ी वीरतासे अपने सतीधर्मकी रक्षा की।

चेटक महाराजका अपनी इन पुत्रियों पर बड़ा प्रेम था। इससे उन्होंने इन सबकी एक ही साथ तस्वीर बनवाई। चित्रकार बड़ा हुशियार था, सो उसने उन सबका बड़ा ही सुन्दर चित्र बनाया। चित्रपटको चेटक महाराज बड़ी बारीकीके साथ देख रहे थे। देखते हुए उनकी नजर चेलिनीकी जाँघ पर जा पड़ी। चेलिनीकी जाँघ पर जैसा तिलका चिह्न था, चित्रकारने चित्रमें भी वैसा ही तिलका चिह्न बना दिया था। सो चेटक महाराजने ज्यों ही उस तिलको देखा उन्हें चित्रकार पर बड़ा गुस्सा आया। उन्होंने उसी समय उसे बुलाकर पूछा कि–तुझे इस तिलका हाल कैसे जान पड़ा। महाराजकी क्रोधभरी आँखें देखकर वह बड़ा घबराया। उसने हाथ जोड़कर कहा–राजाधिराज, इस तिलको मैंने कोई छह सात बार मिटाया, पर मैं ज्यों ही चित्रके पास लिखनेको कलम ले जाता त्यों ही उसमेंसे रंगकी बूँद इसी जगह पड़ जाती। तब मेरे मनमें दृढ़ विश्वास हो गया कि ऐसा चिह्न राजकुमारी चेलिनीके होना ही चाहिए और यही कारण है कि मैंने फिर उसे न मिटाया। यह सुनकर चेटक महाराज बड़े खुश हुए। उन्होंने फिर चित्रकारको

बहुत पारितोषिक दिया। सच है बड़े पुरुषोंका खुश होना निष्फल नहीं जाता।

अबसे चेटक महाराज भगवान्‌की पूजन करते समय पहले इस चित्रपटको खोल कर भगवान्‌की प्रतिमाके पास ही रख लेते हैं और फिर बड़ी भक्तिके साथ जिनपूजा करते रहते हैं। जिन पूजा सब सुखोंकी देनेवाली और भव्यजनोंके मनको आनन्दित करनेवाली है।

एक बार चेटक महाराज किसी खास कारण वश अपनी सेनाको साथ लिये राजगृह आये। वे शहर बाहर बगीचेमें ठहरे। प्रातःकाल शौचमुख मार्जनादि आवश्यक क्रियाओंसे निवट उन्होंने स्नान किया और निर्मल वस्त्र पहर भगवान्‌की विधिपूर्वक पूजा की। रोजके माफिक आज भी चेटक महाराजने अपनी राजकुमारियोंके उस चित्रपटको पूजन करते समय अपने पास रख लिया था और पूजनके अन्तमें उस पर फूल वगैरह डाल दिये थे।

इसी समय श्रेणिक महाराज भगवान्‌के दर्शन करनेको आये। उन्होंने इस चित्रपटको देखकर पास खड़े हुए लोगोंसे पूछा—यह किनका चित्रपट है? उन लोगोंने उत्तर दिया—राजराजेश्वर, ये जो विशालाके चेटक महाराज आये हैं, उनकी लड़कियोंका यह चित्रपट है। इनमें चार लड़कियोंका तो ब्याह हो चुका है और चेलिनी तथा ज्येष्ठा ये दो लड़कियाँ ब्याह योग्य हैं। सातवीं चन्दना अभी बिलकुल

बालिका है । ये तीनों ही इस समय विशालामें हैं । यह सुन श्रेणिक महाराज चेलिनी और ज्येष्ठा पर मोहित हो गये । उन्होंने महल पर आकर अपने मनकी बात मंत्रियोंसे कही । मंत्रियोंने अभयकुमारसे कहा—आपके पिताजीने चेटक महाराजसे उनकी दो सुन्दर लड़कियोंके लिए मँगनी की थी, पर उन्होंने अपने महाराजकी अधिक उमर देख उन्हें अपनी राजकुमारियोंके देनेसे इन्कार कर दिया । अब तुम बतलाओं कि क्या उपाय किया जाये जिससे यह काम पूरा पड़ ही जाय ।

बुद्धिमान् अभयकुमार मंत्रियोंके वचन सुनकर बोला—आप इस विषयकी कुछ चिन्ता न करें जबतक कि सब कामोंको करनेवाला मैं मौजूद हूँ । यह कहकर अभयकुमारने अपने पिताका एक बहुत सुन्दर चित्र तैयार किया और उसे लेकर साहूकारके वेषमें आप विशाला पहुँचा । किसी उपायसे उसने वह चित्रपट दोनों राजकुमारियोंको दिखलाया । वह इतना बढ़िया बना था कि उसे यदि एक बार देवाङ्गनाएँ देख पातीं तो उनसे भी अपने आपेमें न रहा जाता तब ये दोनों कुमारियाँ उसे देखकर मुग्ध हो जाँय, इसमें आश्चर्य क्या । उन दोनोंको श्रेणिक महाराज पर मुग्ध देख अभयकुमार उन्हें सुरंगके रास्तेसे राजगृह ले-जाने लगा । चेलिनी बड़ी धूर्त थी । उसे स्वयं तो जाना पसंद था, पर वह ज्येष्ठाको लेजाना न चाहती थी ।

सो जब ये थोड़ी ही दूर आई होगी कि चेलिनीने ज्येष्ठासे कहा–हाँ, बाहिन, मैं तो अपने सब गहने-दागीने महलहीमें छोड़ आई हूँ, तू जाकर उन्हें ले-आ न ? तबतक मैं यहीं खड़ी हूँ। बेचारी भोली-भाली ज्येष्ठा इसके झाँसेमें आकर चली गई। वह आँखोंकी ओट हुई होगी कि चेलिनी वहाँसे रवाना होकर अभयकुमारके साथ राजगृह आगई। फिर बड़े उत्सवके साथ यहाँ इसका श्रेणिक महाराजके साथ ब्याह हो गया। पुण्यके उदयसे श्रेणिककी सब रानियोंमें चेलिनी-के ही भाग्यका सितारा चमका–पट्टरानी यही हुई।

यह बात उपर लिखी जा चुकी है–श्रेणिक एक संन्यासीके उपदेशसे वैष्णवधर्मी हो गये थे और तबसे वे इसी धर्मको पालते थे। महारानी चेलिनी जैनी थी। जिनधर्म पर जन्मसे ही उसकी श्रद्धा थी। इन दो धर्मोंको पालनेवाले पति-पत्नीका अपने अपने धर्मकी उच्चता बाबत रोज रोज थोड़ा बहुत वार्त्तालाप हुआ करता था। पर वह बड़ी शान्तिसे। एक दिन श्रेणिकने चेलिनीसे कहा–प्रिये, उच्च घरानेकी सुशील स्त्रियोंका देव पूछो तो पति है, तब तुम्हें मैं जो कहूँ वह करना चाहिए। मेरी इच्छा है कि एक बार तुम इन विष्णुभक्त सच्चे गुरुओंको भोजन दो। सुनकर महा-रानी चेलिनीने बड़ी नम्रताके साथ कहा–अच्छा नाथ, दूँगी।

इसके कुछ दिनों बाद चेलनीने कुछ भागवत साधुओंका निमंत्रण किया और बड़े गौरवके साथ उन्हें अपने यहाँ

बुलाया । आकर वे लोग अपना ढोंग दिखलानेके लिये कपट, मायाचारीसे ईश्वराराधन करनेको बैठे । उस समय चेलनीने उनसे पूछा—आप लोग क्या करते हैं ? उत्तरमें उन्होंने कहा—देवी, हम लोग मलमूत्रादि अपवित्र वस्तुओंसे भरे इस शरीरको छोड़कर अपने आत्माको विष्णु अवस्थामें प्राप्त कर स्वानुभवका सुख भोगते हैं ।

सुनकर चेलनीने उस मंडपमें, जिसमें कि सब साधु ध्यान करनेको बैठे थे, आग लगवादी । आग लगते ही वे सब कौएकी तरह भाग खड़े हुए । यह देख श्रेणिकने बड़े क्रोधके साथ चेलनीसे कहा—आज तुमने साधुओंके साथ बड़ा अनर्थ किया । यदि तुम्हारी उन पर भक्ति नहीं थी, तो क्या उसका यह अर्थ है कि उन्हें जानसे ही मार डालना ? बतलाओ उन्होंने तुम्हारा क्या अपराध किया जिससे तुम उनके जीवनकी ही प्यासी हो उठी ?

रानी बोली—नाथ, मैंने तो कोई बुरा काम नहीं किया और जो किया वह उन्हींके कहे अनुसार उनके लिए सुखका कारण था । मैंने तो केवल परोपकार बुद्धिसे ऐसा किया था । जब वे लोग ध्यान करनेको बैठे तब मैंने उनसे पूछा कि आप लोग क्या करते हैं, तब उन्होंने मुझे कहा कि—हम अपवित्र शरीरको छोड़कर उत्तम सुखमय विष्णुपदको प्राप्त करते हैं । तब मैंने सोचा कि—ओहो, ये जब शरीर छोड़कर विष्णुपद प्राप्त करते हैं तब तो बहुत ही अच्छा है और इससे यह और

उत्तम होगा कि यदि ये निरन्तर विष्णु हीं बनें रहें। संसारमें बार बार आने जानेका इनके पीछे पचड़ा क्यों? यह विचार कर वे निरन्तर विष्णुपदमें रह कर सुख भोगें इस परोपकार बुद्धिसे मैंने मंडपमें आग लगवादी। तब आप ही विचार कर बतलाइए कि इसमें मैंने सिवा परोपकारके कौन बुरा काम किया? और सुनिए, मेरे बचनों पर आपको विश्वास हो, इसके लिए मैं एक कथा आपको सुना हूँ।

“ जिस समयकी यह कथा है, उस समय वत्सदेशकी राजधानी कोशाम्बीके राजा प्रजापाल थे। वे अपना राज्य-शासन नीतिके साथ करते हुए सुखसे समय बिताते थे। कोशाम्बीमें दो सेठ रहते थे। उनके नाम थे सागरदत्त और समुद्रदत्त। दोनों सेठोंमें परस्पर बहुत प्रेम था। उनका प्रेम सदा ऐसा ही दृढ़ बना रहे, इसके लिए उन्होंने परस्परमें एक शर्त की। वह यह कि-“ मेरे यदि पुत्री हुई तो मैं उसका ब्याह तुम्हारे लड़केके साथ कर दूँगा और इसी तरह मेरे पुत्र हुआ तो तुम्हें अपनी लड़कीका ब्याह उसके साथ कर देना पड़ेगा।”

दोनोंने उक्त शर्त स्वीकार की। इसके कुछ दिनों बाद सागरदत्तके घर पुत्रजन्म हुआ। उसका नाम वसुमित्र रक्खा। पर उसमें एक बड़े आश्चर्यकी बात थी। वह यह कि-वसुमित्र न जाने किस कर्मके उदयसे रातके समय तो एक दिव्य मनुष्य होकर रहता और दिनमें एक भयानक सर्प।

उधर समुद्रदत्तके घर कन्या हुई । उसका नाम रक्खा गया नागदत्ता । वह बड़ी खूबसूरत सुन्दरी थी । उसके पिताने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार उसका व्याह वसुमित्रके साथ कर दिया । सच है—

नैव वाचा चलत्वं स्यात्सतां कष्टशतैरपि ।

सत्पुरुष सैकड़ों कष्ट सह लेते हैं, पर अपनी प्रतिज्ञासे कभी विचलित नहीं होते । वसुमित्रका व्याह हो गया । वह अब प्रतिदिन दिनमें तो सर्प बनकर एक पिटारेमें रहता और रातमें एक दिव्य पुरुष होकर अपनी प्रियाके साथ सुखोपभोग करता । सचमुच संसारकी विचित्र ही स्थिति होती है । इसी तरह उसे कई दिन बीत गये । एक दिन नागदत्ताकी माता अपनी पुत्रीको एक ओर तो यौवन अवस्थामें पदार्पण करती और दूसरी ओर उसके विपरीत भाग्यको देखकर दुखी होकर बोली—हाय ! दैवकी कैसी विटम्बना है, जो कहाँ तो देवकुमारी सरीखी सुन्दरी मेरी पुत्री और कैसा उसका अभाग्य जो उसे पति मिला एक भयंकर सर्प ! उसकी दुःख भरी आहको नागदत्ताने सुन लिया । वह दौड़ी आकर अपनी मासे बोली—मा, इसके लिए आप क्यों दुःख करती हैं । मेरा जब भाग्य ही ऐसा है, तब उसके लिए दुःख करना व्यर्थ है । और अभी मुझे विश्वास है कि मेरे स्वामीका इस दशासे उद्धार हो सकता है । इसके बाद नागदत्ताने अपनी मोका स्वामीके उद्धारके सम्बन्धकी बात समझादी ।

सदाके नियमानुसार आज भी रातके समय वसुमित्र अपना सर्प-शरीर छोड़कर मनुष्य रूपमें आया और अपने शय्या-भवनमें पहुँचा। इधर समुद्रदत्ता छुपे हुए आकर वसुदत्तके पिटारेको वहाँसे उठा ले-आई और उसी समय उसने उसे जला डाला। तबसे वसुमित्र मनुष्य रूपमें ही अपनी प्रियाके साथ सुख भोगता हुआ अपना समय आनन्दसे बिताने लगा।" नाथ, उसी तरह ये साधु भी निरन्तर विष्णुलोकमें रहकर सुख भोगें यह मेरी इच्छा थी; इसलिए मैंने वैसा किया था। महारानी चेलनीकी कथा सुनकर श्रेणिक उत्तर तो कुछ नहीं दे सके, पर वे उस पर बहुत गुस्सा हुए और उपयुक्त समय न देखकर वे अपने क्रोधको उस समय दबा गये।

एक दिन श्रेणिक शिकारके लिए गये हुए थे। उन्होंने वनमें यशोधर मुनिराजको देखा। वे उस समय आतप योग धारण किये हुए थे। श्रेणिकने उन्हें शिकारके लिए विघ्नरूप समझ कर मारनेका विचार किया और बड़े गुस्सेमें आकर अपने क्रूर शिकारी कुत्तोंको उन पर छोड़ दिया। कुत्ते बड़ी निर्दयताके साथ मुनिके खानेको झपटे। पर मुनिराजकी तपस्याके प्रभावसे वे उन्हें कुछ कष्ट न पहुँचा सके। बल्कि उनकी प्रदक्षिणा देकर उनके पाँवोंके पास खड़े रह गये। यह देख श्रेणिकको और भी क्रोध आया। उन्होंने क्रोधान्ध होकर मुनि पर बाण चलाना आरंभ किया। पर यह कैसा

आश्चर्य जो बाणोंके द्वारा उन्हें कुछ क्षति न पहुँच कर वे ऐसे जान पड़े मानो किसीने उन पर फूलोंकी वर्षा की है। सच बात यह है कि तपस्वियोंका प्रभाव कौन कह सकता है। श्रेणिकने उन मुनिहिंसारूप तीव्र परिणामों द्वारा उस समय सातवें नरककी आयुका बन्ध किया, जिसकी स्थिति तेतीस सागरकी है।

इन सब अलौकिक घटनाओंको देखकर श्रेणिकका पत्थरके समान कठोर हृदय फूलसा कोमल हो गया—उनके हृदयकी सब दुष्टता निकल कर उसमें मुनिके प्रति पूज्यभाव पैदा हो गया। वे मुनिराजके पास गये और भक्तिसे उन्होंने मुनिके चरणोंको नमस्कार किया। यशोधर मुनिराजने श्रेणिकके हितके लिए इस समयको उपयुक्त समझ उन्हें अहिंसामयी पवित्र जिनशासनका उपदेश दिया। उसका श्रेणिकके हृदय पर बहुत असर पड़ा। उनके परिणामोंमें विलक्षण परिवर्तन हो गया। उन्हें अपने कृत कर्म पर अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ। मुनिराजके उपदेशानुसार उन्होंने सम्यक्त्व ग्रहण किया। उसके प्रभावसे, उन्होंने जो सातवें नर्ककी आयुका बन्ध किया था, वह उसी समय घटकर पहले नरकका रह गया। यहाँकी स्थिति चौरासी हजार वर्षोंकी है। ठीक है सम्यग्दर्शनके प्रभावसे भव्यपुरुषोंको क्या प्राप्त नहीं होता।

इसके बाद श्रेणिकने श्रीचित्रगुप्त मुनिराजके पास क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त किया और अन्तमें भगवान् वर्धमान

स्वामीके द्वारा शुद्ध क्षायिकसम्यक्त्व, जो कि मोक्षका कारण है, प्राप्त कर पूज्य तीर्थंकर नाम प्रकृतिका बन्ध किया। श्रेणिक महाराज अब तीर्थंकर होकर निर्वाण लाभ करेंगे।

इसलिए भव्यजनोंको इस स्वर्ग-मोक्षके सुख देनेवाले तथा संसारका हित करनेवाले सम्यग्दर्शन रूप रत्नद्वारा अपनेको भूषित करना चाहिए। यह सम्यग्दर्शन रूप रत्न इन्द्र, चक्रवर्त्ती आदिके सुखका देनेवाला, दुखोंका नाश करनेवाला और मोक्षका प्राप्त करानेवाला है। विद्वज्जन आत्म, हितके लिए इसीको धारण करते हैं। उस सम्यग्दर्शनका स्वरूप श्रुतसागर आदि मुनिराजोंने कहा है–जिनभगवान्के कहे हुए तत्वोंका श्रद्धान करना–ऐसा विश्वास करना कि भगवान्ने जैसा कहा वही सत्यार्थ है। तब आप लोग भी इस सम्यग्दर्शनको ग्रहण कर आत्म-हित करें, यह मेरी भावना है।

१०८–रात्रिभोजन-त्याग-कथा।

जिन भगवान्, जिनवाणी और गुरुओंको नमस्कार कर रात्रिभोजनका त्याग करनेसे जिसने फल प्राप्त किया उसकी कथा लिखी जाती है।

जो लोग धर्मरक्षाके लिए रात्रिभोजनका त्याग करते

हैं, वे दोनों लोकमें सुखी होते हैं, यशस्वी होते हैं, दीर्घायु होते हैं, कान्तिमान् होते हैं, और उन्हें सब सम्पदाएँ तथा शान्ति मिलती है। और जो लोग रातमें भोजन करनेवाले हैं वे दरिद्री होते हैं, जन्मान्ध होते हैं, अनेक रोग और व्याधियाँ उन्हें सदा सताये रहती हैं, उनके सन्तान नहीं होती। रातमें भोजन करनेसे छोटे जीव-जन्तु नहीं देख पड़ते। वे खानेमें आजाते हैं। उससे बड़ा पाप-बन्ध होता है। जीवहिंसाका पाप लगता है। मांसका दोष लगता है। इसलिए इस रात्रिभोजनका छोड़ना सबके लिए हितकारी है। और खासकर उन लोगोंको तो छोड़ना ही चाहिए जो मांस नहीं खाते। ऐसे धर्मात्मा श्रावकोंको दिन निकले दो-घड़ी बाद सबेरे और दो-घड़ी दिन बाकी रहे तब शामको भोजन वगैरहसे निर्वृत्त हो जाना चाहिए। समन्तभद्र स्वामीका भी ऐसा ही मत है—"रात्रि-भोजन छोड़नेवालेको सबेरे और शामको आरंभ और अन्तमें दो-दो घड़ी छोड़कर भोजन करना चाहिए।" जो नैष्ठिक श्रावक नहीं हैं उनके लिए पान, सुपारी, इलायची, जल और पवित्र औषधि आदिक विशेष दोषके कारण नहीं हैं। इन्हें छोड़कर और अन्नकी चीजें या मिठाई, फलादिक ये सब कष्ट पड़ने पर भी कभी न खाना चाहिए। और जो भव्य जीवन भरके लिए चारों प्रकारके आहारका रातमें त्याग कर देते हैं उन्हें वर्ष भरमें छह महीनेके उपवासका फल होता है। रात्रिभोजनको

त्याग करनेसे प्रीतिंकर कुमारको फल प्राप्त हुआ था, उसकी विस्तृत कथा अन्य ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध है । यहाँ उसका सार लिखा जाता है—

मगधमें सुप्रतिष्ठपुर अच्छा प्रसिद्ध शहर था। अपनी सम्पति और सुन्दरतासे वह स्वर्गसे टक्कर लेता था। जिन धर्मका वहाँ विशेष प्रचार था। जिस समयकी यह कथा है उस समय उसके राजा जयसेन थे। जयसेन धर्मज्ञ, नीतिपरायण और प्रजाहितैषी थे।

यहाँ एक धनमित्र नामका सेठ रहता था। इसकी स्त्रीका नाम धनमित्रा था। दोनोंहीकी जैनधर्म पर अखण्ड प्रीति थी। एक दिन सागरसेन नामके अवधिज्ञानी मुनिको आहार देकर इन्होंने उनसे पूछा—प्रभो, हमें पुत्र-सुख होगा या नहीं? यदि न हो तो हम व्यर्थकी आशासे अपने दुर्लभ मनुष्य-जीवनको संसारकी मोह-मायामें फँसा रखकर उसका क्यों दुरुपयोग करें? फिर क्यों न हम पापोंके नाश करनेवाली पवित्र जिनदीक्षा ग्रहण कर आत्महित करें? मुनिने इनके प्रश्नके उत्तरमें कहा—हाँ अभी तुम्हारी दीक्षाका समय नहीं आया। कुछ दिन गृहवासमें तुम्हें और ठहरना पड़ेगा। तुम्हें एक महाभाग और कुलभूषण पुत्र-रत्नकी प्राप्ति होगी। वह बड़ा तेजस्वी होगा। उसके द्वारा अनेक प्राणियोंका उद्धार होगा और वह इसी भवसे मोक्ष जायगा। अवधिज्ञानी मुनिकी यह भविष्यवाणी सुनकर दोनों

दम्पतिको अपार हर्ष हुआ । और सच है, गुरुओंके वचनामृतका पानकर किसे हर्ष नहीं होता ।

आजसे ये सेठ सेठानी अपना समय जिनपूजा, अभिषेक, पात्रदान आदि पुण्य कर्मोंमें अधिक देने लगे । कारण इनका यह पूर्ण विश्वास था कि सुखका कारण धर्म ही है । इस प्रकार आनन्द-उत्सवके साथ कुछ दिन बीतने पर धनमित्राने एक प्रतापी पुत्र प्रसव किया । मुनिकी भविष्य वाणी सच हुई । पुत्र-जन्मके उपलक्षमें सेठने बहुत उत्सव किया, दान दिया, पूजा प्रभावना की । बन्धु-बान्धवोंको बड़ा आनन्द हुआ । इस नवजात शिशुको देखकर सबको अत्यन्त प्रीति हुई । इसलिए इसका नाम भी प्रीतिंकर रख दिया गया । शुक्र द्वितीयाके चन्द्रकी तरह यह दिनों दिन बढ़ने लगा । सुन्दरतामें यह कामदेवसे कहीं बढ़कर था, बड़ा भाग्यवान् था और इसके बलके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या, जब कि यह चरम शरीरका धारी—इसी भवसे मोक्ष जानेवाला है । जब प्रीतिंकर पाँच वर्षका हो गया तब इसके पिताने इसे पढ़ानेके लिए गुरुको सौंप दिया । इसकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी और फिर इस पर गुरुकी कृपा हो गई । इससे यह थोड़े ही वर्षोंमें पढ़-लिख कर अच्छा विद्वान् बन गया । कई शास्त्रोंमें इसकी अबाध गति हो गई । गुरुसेवारूपी नाव द्वारा इसने शास्त्ररूपी समुद्रका प्रायः भाग पार कर लिया । विद्वान् और धनी होकर भी इसे अभिमान

छू तक न गया था । यह सदा लोगोंको धर्मका उपदेश किया करता और पढ़ाता-लिखाता था। इसमें आलस, ईर्षा, मत्सरता आदि दुर्गुणोंका नाम निशान भी न था । यह सबसे प्रेम करता । सबके दुःख–सुखमें सहानुभूति रखता। यही कारण था कि इसे सब ही छोटे बड़े हृयदसे चाहते थे। जयसेन इसकी ऐसी सज्जनता और परोपकार बुद्धि देखकर बहुत खुश हुए । उन्होंने स्वयं इसका वस्त्राभूषणोंसे आदर-सत्कार किया–इसकी इज्जत बढ़ाई।

यद्यपि प्रीतिंकरको धन-दौलतकी कुछ कमी न थी, परन्तु तब भी एक दिन बैठे बैठे इसके मनमें आया कि अपनेको स्वयं भी कमाई करनी चाहिए। कर्तव्यशीलोंका यह काम नहीं कि वे बैठे बैठे अपने बाप-दादोंकी सम्पत्ति पर मजा-मौज उड़ा कर आलसी और कर्तव्य हीन बनें। और न सुपूत पुत्रोंको यह काम ही है । इसलिए मुझे धन कमानेके लिए यत्न करना ही चाहिए। यह विचार कर उसने प्रतिज्ञा की कि जबतकमैं स्वयं कुछ न कमा लूँगा तबतक ब्याह न करूँगा। प्रतिज्ञाके साथ ही वह विदेशके लिए रवाना हो गया। कुछ वर्षोंतक विदेशहीमें रहकर इसने बहुत धन कमाया, खूब कीर्ति सम्पादन की। इसे अपने घरसे गये कई वर्ष हो गये थे, इसलिए अब इसे अपने मातापिताकी याद आने लगी । फिर यह बहुत दिनों बाहर न रहकर अपना सब माल-असबाब ले घर लौट आया। सच है,

पुण्यवानोंको लक्ष्मी थोड़े ही प्रयत्नसे मिल जाती है। प्रीतिंकर अपने माता-पितासे मिला। सबहीको बहुत आनन्द हुआ। जयसेनका प्रीतिंकरकी पुण्यवानी और प्रसिद्धि सुनकर उस पर अत्यन्त प्रेम हो गया। उन्होंने तब अपनी कुमारी पृथिवीसुन्दरी, और एक दूसरे देशसे आई हुई वसुन्धरा तथा और भी कई सुन्दर सुन्दर राजकुमारियोंका ब्याह इस महाभागके साथ बड़े ठाट-बाटसे कर दिया। इसके साथ जयसेनने अपना आधा राज्य भी इसे दे दिया। प्रीतिंकरके राज्य प्राप्ति आदिके सम्बन्धकी विशेष कथा यदि जानना हो तो महापुराणका स्वाध्याय करना चाहिए।

प्रीतिंकरको पुण्योदयसे जो राज्य-विभूति प्राप्त हुई उसे वह सुखपूर्वक भोगने लगा। उसके दिन आनन्द-उत्सवके साथ बीतने लगे। इससे यह न समझना चाहिए कि प्रीतिंकर सदा विषयोंमें ही फँसा रहता है। वह धर्मात्मा भी सच्चा था। क्योंकि वह निरंतर जिन भगवानकी अभिषेक-पूजा करता, जो कि स्वर्ग या मोक्षका सुख देनेवाली और बुरे भावों या पापकर्मोंका नाश करनेवाला है। वह श्रद्धा, भक्ति आदि गुणोंसे युक्त हो पात्रोंको दान देता, जो दान महान् सुखका कारण है। वह जिनमन्दिरों, तीर्थक्षेत्रों, जिनप्रतिमाओं आदि सप्त क्षेत्रोंकी, जो कि शान्तिरूपी धानके प्राप्त करानेके कारण हैं, जरूरतोंको अपने धनरूपी जल-वर्षासे पूरी करता, परो-

पकार करना उसके जीवनका एक मात्र उद्देश्य था। वह स्वभावका बड़ा सरल था। विद्वानोंसे उसे प्रेम था। इस प्रकार इस लोक सम्बन्धी और पारमार्थिक कार्योंमें सदा तत्पर रह-कर वह अपनी प्रजाका पालन करता रहता था। प्रीतिंकरका समय इस प्रकार सुखसे बहुत बीतता था। एक बार सुप्रतिष्ठ पुरके सुंदर बगीचेमें सागरसेन नामके मुनि आकर ठहरे थे। उनका वहीं स्वर्गवास हो गया था। उनके बाद फिर इस बगीचेमें आज चारणऋद्धि धारी ऋजुमति और विपुलमति मुनि आये। प्रीतिंकर तब बड़े वैभवके साथ भव्यजनोंको लिए उनके दर्शनोंको गया। मुनिराजके चरणोंकी आठ द्रव्योंसे उसने पूजा की और नमस्कार कर बड़े विनयके साथ धर्मका स्वरूप पूछा। तब ऋजुमति मुनिने उसे इस प्रकार संक्षेपमें धर्मका स्वरूप कहा-

प्रीतिंकर, धर्म उसे कहते हैं जो संसारके दुःखोंसे रक्षा-कर उत्तम सुख प्राप्त करा सके। ऐसे धर्मके दो भेद हैं। एक मुनिधर्म और दूसरा गृहस्थधर्म। मुनियोंका धर्म सर्व त्याग रूप होता है। सांसारिक माया-ममतासे उसका कुछ सम्बन्ध नहीं रहता। और वह उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव-आदि दस आत्मिक शक्तियोंसे युक्त होता है। गृहस्थधर्ममें संसारके साथ लगाव रहता है। घरमें रहते हुए धर्मका पालन करना पड़ता है। मुनिधर्म उन लोगोंके लिए है जिनका आत्मा पूर्ण बलवान् हैं, जिनमें कष्टोंके सहनेकी पूरी शक्ति है और गृहस्थ

धर्म मुनिधर्मके प्राप्त करनेकी सीढ़ी है। जिस प्रकार एक साथ सौ-पचास सीढ़ियाँ नहीं चढ़ी जा सकतीं उसी प्रकार साधारण लोगोंमें इतनी शक्ति नहीं होती कि वे एकदम मुनि-धर्म ग्रहण कर सकें। उसके अभ्यासके लिए वे क्रम क्रमसे आगे बढ़ते जायँ, इसलिए पहले उन्हें गृहस्थधर्मका पालन करना पड़ता है। मुनिधर्म और गृहस्थधर्ममें सबसे बड़ा भेद यह है कि, पहला साक्षात्मोक्षका कारण है ओर दूसरा परम्परासे। श्रावकधर्मका मूल कारण है—सम्यग्दर्शनका पालन। यही मोक्ष-सुखका बीज है। बिना इसके प्राप्त किये ज्ञान, चारित्र वगैरहकी कुछ कीमत नहीं। इस सम्यग्द-र्शनको आठ अंगों सहित पालना चाहिए। सम्यक्त्व पाल-नेके पहले मिथ्यात्व छोड़ा जाता है। क्योंकि मिथ्यात्व ही आत्माका एक ऐसा प्रबल शत्रु है जो संसारमें इसे अनन्त कालतक भटकाये करता है और कुगातियोंके असह दुःखोंको प्राप्त कराता है। मिथ्यात्वका संक्षिप्त लक्षण है—जिन भगवा-नके उपदेश किये तत्व या धर्मसे उलटा चलना और यही धर्मसे उलटापन दुःखका कारण है। इसलिए उन पुरुषों-को, जो सुख चाहते हैं, मिथ्यात्वके परित्याग पूर्वक शास्त्रा-भ्यास द्वारा अपनी बुद्धिको काचके समान निर्मल बनानी चाहिए। इसके सिवा श्रावकोंको मद्य, मांस और मधु (शहत) का त्याग करना चाहिए। क्योंकि इनके खानेसे जीवोंको नरकादि दुर्गतियोंमें दुःख भोगना पड़ते हैं। श्रावकोंके

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे बारह व्रत हैं, उन्हें धारण करना चाहिए। रातके भोजनका, चमड़ेमें रखे हुए हींग, जल, घी, तैल आदिका तथा कन्द-मूल, आचार और मक्खनका श्रावकोंको खाना उचित नहीं। इनके खानेसे मांस-त्याग-व्रतमें दोष आता है। जूआ खेलना, चोरी करना, पर स्त्री सेवन, वेश्या सेवन, शिकार करना, मांस खाना, मदिरा पीना, ये सात व्यसन–दुःखोंकी देनेवाली आदतें हैं। कुल, जाति, धन, जन, शरीर सुख, कीर्त्ति, मान-मर्यादा आदिकी नाश करनेवाली हैं। श्रावकोंको इन सबका दूरसे ही काला मुँह कर देना चाहिए। इसके सिवा जलका छानना, पात्रोंको भक्ति पूर्वक दान देना श्रावकोंका कर्त्तव्य होना चाहिए। ऋषियोंने पात्र तीन प्रकार बतलाये हैं। उत्तम पात्र–मुनि, मध्यम पात्र–व्रती श्रावक और जघन्य पात्र–अविरत-सम्यग्दृष्टि। इनके सिवा कुछ लोग और ऐसे हैं, जो दानपात्र होते हैं–दुखी, अनाथ, अपाहिज आदि, जिन्हें कि दयाबुद्धिसे दान देना चाहिए। पात्रोंको जो थोड़ा भी दान देते हैं उन्हें उस दानका फल वटबीजकी तरह अनन्त गुणा मिलता है। श्रावकोंके और भी आवश्यक कर्म हैं, जैसे–स्वर्ग-मोक्षके सुखकी कारण जिन भगवानकी जलादि द्रव्यों द्वारा पूजा करना, दूध, दही, घी, साँठेका रस आदिसे अभिषेक करना, जिन प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा कराना, तीर्थयात्रा करना, आदि। ये सब

सुखके कारण और दुर्गतिके दुःखोंके नाश करनेवाले हैं। इस प्रकार धार्मिक जीवन बनाकर अन्तमें भगवान्का स्मरण-चिंतन पूर्वक संन्यास लेना चाहिए । यही जीवनके सफलताका सीधा और सच्चा मार्ग है । इस प्रकार मुनिराज द्वारा धर्मका उपदेश सुनकर बहुतेरे सज्जनोंने व्रत, नियमादिकोंको ग्रहण किया। जैनधर्म पर उनकी गाढ़ श्रद्धा हो गई । प्रीतिंकरने मुनिराजको नमस्कार कर पुनः प्रार्थना की—हे करुणाके समुद्र योगिराज, कृपाकर मुझे मेरे पूर्व भवका हाल सुनाइए। मुनिराजने तब यों कहना शुरू किया—

" प्रीतिंकर, इसी बगीचेमें पहले तपस्वी सागरसेन मुनि आकर ठहरे थे। उनके दर्शनोंके लिए राजा वगैरह प्रायः सब ही नगर निवासी बड़े गाजे-बाजे और आनन्द-उत्सवके साथ आये थे । वे मुनिराजकी पूजा-स्तुति कर वापिस शहरमें चले गये । इसी समय एक सियारने इनके गाजे-बाजेके शब्दोंको सुनकर यह समझा कि ये लोग किसी मुर्देको डालकर गये हैं। सो वह उसे खानेके लिए आया । उसे आता देख मुनिने अवधिज्ञानसे जान लिया कि यह मुर्देको खानेके अभिप्रायसे इधर आ रहा है। पर यह है भव्य और व्रतोंको धारण कर मोक्ष जायगा । इसलिए इसे सुलटाना आवश्यक है। यह विचार कर मुनिराजने उसे समझाया—अज्ञानी पशो, तुझे मालूम नहीं कि पापका परिणाम बहुत ही बुरा होता है। देख, पापके ही फलसे तुझे आज इस

पर्यायमें आना पड़ा और फिर भी तू पाप करनेसे मुँह न मोड़कर मुर्देको खानेके लिए इतना व्यग्र हो रहा है, यह कितने आश्चर्यकी बात है। तेरी इस इच्छाको धिक्कार है। प्रिय, जबतक कि तू नरकोंमें न गिरे इसके पहले ही तुझे यह महापाप छोड़ देना चाहिए। तूने जिनधर्मको न ग्रहण कर आजतक दुःख उठाया, पर अब तेरे लिए बहुत अच्छा समय उपस्थित है। इसलिए तू इस पुण्य-पथ पर चलना सीख। सियारका होनहार अच्छा था या उसकी काल-लब्धि आगई थी। यही कारण था कि मुनिके उपदेशको सुन कर वह बहुत शान्त हो गया। उसने जान लिया कि मुनिराज मेरे हृदयकी वासनाको जान गये। उसे इस प्रकार शान्त देखकर मुनि फिर बोले—प्रिय, तू और और व्रतोंको धारण नहीं कर सकता, इसलिए सिर्फ रातमें खाना-पीना ही छोड़दे। यह व्रत सर्व व्रतोंका मूळ है, सुखका देनेवाला है और चित्तका प्रसन्न करनेवाला है। सियारने उपकारी मुनिराजके वचनोंको मान कर रात्रिभोजन-त्याग-व्रत ले-लिया। कुछ दिनोंतक तो इसने केवल इसी व्रतको पाला। इसके बाद इसने मांस वगैरह भी छोड़ दिया। इसे जो कुछ थोड़ा बहुत पवित्र खाना मिल जाता, यह उसीको खाकर रह जाता। इस वृत्तिसे इसे सन्तोष बहुत हो गया था। बस यह इसी प्रकार समय बिताता और मुनिराजके चरणोंका स्मरण किया करता।

इस प्रकार कभी खानेको मिलने और कभी न मिलनेसे यह सियार बहुत ही दुबला हो गया। ऐसी दशामें एक दिन इसे केवल सूखा भोजन खानेको मिला। समय गर्मीका था। इसे बड़े जोरकी प्यास लगी। इसके प्राण छह-पटाने लगे। यह एक कुए पर पानी पीनेको गया। भाग्यसे कुएका पानी बहुत नीचा था। जब यह कुएमें उतरा तो इसे अँधेरा ही अँधेरा दीखने लगा। कारण सूर्यका प्रकाश भीतर नहीं पहुँच पाता था। इसलिए सियारने समझा कि रात हो गई, सो वह विना पानी पीये ही कुएके बाहर आगया। बाहर आकर जब उसने दिन देखा तो फिर वह भीतर उतरा और भीतर पहलेसा अँधेरा देखकर रातके भ्रमसे फिर लौट आया। इस प्रकार वह कितनी ही बार आया-गया, पर जल उसने नहीं पी पाया। अन्तमें वह इतना अशक्त हो गया कि उससे कुएसे बाहर नहीं आया गया। उसने तब उस घोर अँधेरेको देखकर सूरजको अस्त हुआ समझ लिया और वहीं वह संसार समुद्रसे पार करनेवाले अपने गुरु मुनिराजका स्मरण-चिन्तन करने लगा। तृषारूपी आग उसे जलाये डालती थी, तब भी वह अपने व्रतमें बड़ा दृढ़ रहा। उसके परिणाम क्लेशरूप या आकुल-व्याकुल न होकर बड़े शान्त रहे। उसी दशामें वह मरकर कुबेरदत्त और उसकी स्त्री धनामित्राके तू प्रीतिंकर पुत्र हुआ है। तेरा यही अन्तिम शरीर है। अब तू कर्मोंका नाश कर मोक्ष जायगा। इसलिए सत्पुरुषोंका कर्त्तव्य है कि

वे कष्ट समयमें व्रतोंकी दृढ़तासे रक्षा करें। ” मुनिराज द्वारा प्रीतिंकरका यह पूर्वजन्मका हाल सुन उपस्थित मंडलीकी जिन धर्म पर अचल श्रद्धा हो गई। प्रीतिंकरको अपने इस वृत्तान्तसे बड़ा वैराग्य हुआ। उसने जैनधर्मकी बहुत प्रशंसा की और अन्तमें उन स्व-परोपकारके करनेवाले मुनिराजोंको भक्तिसे नमस्कार कर व्रतोंके प्रभावको हृदयमें विचारता हुआ वह घर पर आया। मुनिराजके उपदेशका उस पर बहुत गहरा असर पड़ा। उसे अब संसार अथिर, विषय-भोग दुःखोंके देनेवाले, शरीर अपवित्र वस्तुओंसे भरा, महा घिनौना और नाश होनेवाला, धन-दौलत बिजलीकी तरह चंचल और केवल बाहरसे सुन्दर देख पड़नेवाली तथा स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु आदि, ये सब अपने आत्मासे पृथक जान पड़ने लगे। उसने तब इस मोहजालको, जो केवल फँसाकर संसारमें भटकानेवाला है, तोड़ देना ही उचित समझा। इस शुभ संकल्पको दृढ़ होते ही पहले प्रीतिंकरने अभिषेक पूर्वक भगवानकी सब सुखोंकी देनेवाली पूजा की, खूब दान किया और दुखी, अनाथ, अपाहिजोंकी सहायता की। अन्तमें वह अपने प्रियंकर पुत्रको राज्य देकर अपने बन्धु, बान्धवोंकी सम्मतिसे योग लेनेके लिए विपुलाचल पर भगवान् वर्द्धमानके समवसरणमें गया और उन त्रिलोक पूज्य भगवानके पवित्र दर्शन कर उसने भगवानके द्वारा जिनदीक्षा ग्रहण करली। इसके बाद प्रीतिंकर मुनिने

खूब दुःसह तपस्या की और अन्तमें शुक्लध्यान द्वारा घातिया कर्मोंका नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया । अब वे लोकालोकके सब पदार्थोंको हाथकी रेखाओंके समान साफ साफ जानने देखने लग गये । उन्हें केवलज्ञान प्राप्त किया सुन विद्याधर, चक्रवर्ती, स्वर्गके देव, आदि बड़े बड़े महापुरुष उनके दर्शन-पूजनको आने लगे । प्रीतिंकर भगवान्‌ने तब संसार-तापको नाश करनेवाले परम पवित्र उपदेशामृतसे अनेक जीवोंको दुःखोंसे छुटाकर सुखी बनाये । अन्तमें अघातिया कर्मोंका भी नाश कर वे परम धाम—मोक्ष सिधार गये । आठ कर्मोंका नाश कर आठ आत्मिक महान् शक्तियों-को उन्होंने प्राप्त किया । अब वे संसारमें न आकर अनन्त-काल तक वहीं रहेंगे । वे प्रीतिंकर स्वामी मुझे शान्ति प्रदान करें । प्रीतिंकरका यह पवित्र और कल्याण करनेवाला चरित आप भव्यजनोंको और मुझे सम्यग्ज्ञानके लाभका कारण हो । यह मेरी पवित्र भावना है ।

एक अत्यन्त अज्ञानी पशुयोनिमें जन्मे सियारने भगवा-न्‌के पवित्र धर्मका थोड़ासा आश्रय पा अर्थात् केवल रात्रि-भोजन-त्याग-व्रत स्वीकार कर मनुष्य जन्म लिया और उसमें खूब सुख भोगकर अन्तमें अविनाशी मोक्ष-लक्ष्मी प्राप्त की । तब आप लोग भी क्यों न इस अनन्त सुखकी प्राप्तिके लिए पवित्र जैनधर्ममें अपने विश्वासको दृढ करें ।

१०९–दान करनेवालोंकी कथा।

जगद्गुरु तीर्थंकर भगवान्‌को नमस्कार कर पात्र दानके सम्बन्धकी कथा लिखी जाती है।

जिन भगवान्‌के मुखरूपी चन्द्रमासे जन्मी पवित्र जिनवाणी ज्ञानरूपी महा समुद्रसे पार करनेके लिए मुझे सहायता दे–मुझे ज्ञान-दान दे।

उन साधु रत्नोंको मैं भक्तिसे नमस्कार करता हूँ, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके धारक हैं, परिग्रह–कनक-कामिनी आदिसे रहित वीतरागी हैं और सांसारीक सुख तथा मोक्ष सुखकी प्राप्तिके कारण हैं।

पूर्वाचार्योंने दानको चार हिस्सोंमें बाँटा है, जैसे–आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान और अभयदान। और ये ही दान पवित्र हैं। योग्य पात्रोंको यदि ये दान दिये जाएँ तो इनका फल अच्छी जमीनमें बोये हुए बड़के बीजकी तरह अनन्त गुणा होकर फलता है। जैसे एक ही बावड़ीका पानी अनेक वृक्षोंमें जाकर नाना रूपमें परिणत होता है उसी तरह पात्रोंके भेदसे दानके फलमें भी भेद हो जाता है। इसलिए जहाँतक बने अच्छे सुपात्रोंको दान देना चाहिए। सब पात्रोंमें जैनधर्मका आश्रय लेनेवालेको अच्छा पात्र समझना चाहिए, औरोंको नहीं। क्योंकि जब

एक कल्पवृक्ष हाथ लग गया फिर औरोंसे क्या लाभ ? जैनधर्ममें पात्र तीन बतलाये गये हैं । उत्तम पात्र मुनि, मध्यम पात्र—व्रती श्रावक और जघन्य पात्र—अव्रतसम्यग्दृष्टि । इन तीन प्रकारके पात्रोंको दान देकर भव्य पुरुष जो सुख लाभ करते हैं उसका वर्णन मुझसे नहीं किया जा सकता । परन्तु संक्षेपमें यह समझ लीजिए कि धन-दौलत, स्त्री-पुत्र, खान-पान, भोग-उपभोग आदि जितनी उत्तम उत्तम सुख-सामग्री है वह, तथा इन्द्र, नागेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि महा पुरुषोंकी पदवियाँ, अच्छे सत्पुरुषोंकी संगति, दिनों दिन ऐश्वर्यादिकी बढ़वारी, ये सब पात्रदानके फलसे प्राप्त होते हैं । न यही, किन्तु इस पात्रदानके फलसे मोक्ष प्राप्ति भी सुलभ है । राजा श्रेयांसने दानके ही फलसे मुक्ति लाभ किया था । इस प्रकार पात्रदानका अचिन्त्य फल जानकर बुद्धिवानोंको इस ओर अवश्य अपने ध्यानको खींचना चाहिए । जिन जिन सत्पुरुषोंने पात्रदानका आजतक फल पाया है, उन सबके नाम मात्रका उल्लेख भी जिन भगवानके बिना और कोई नहीं कर सकता, तब उनके सम्बन्धमें कुछ कहना या लिखना मुझसे मतिहीन मनुष्योंके लिए तो असंभव ही है । आचार्योंने ऐसे दानियोंमें सिर्फ चार जनोंका उल्लेख शास्त्रोंमें किया है । इस कथामें उन्हींका संक्षिप्त चरित मैं पुराने शास्त्रोंके अनुसार लिखूँगा । उन दानियोंके नाम हैं—श्रीषेण, वृषभसेना, कौण्डेश और एक

पशु बराह–सूअर । इनमें श्रीषेणने आहारदान, वृषभसेनाने औषधिदान, कौंडेशने शास्त्रदान और सूअरने अभयदान दिया था । उनकी क्रमसे कथा लिखी जाती है ।

प्राचीन कालमें श्रीषेण राजाने आहारदान दिया । उसके फलसे वे शान्तिनाथ तीर्थंकर हुए । श्रीशान्तिनाथ भगवान् जय लाभ करें, जो सब प्रकारका सुख देकर अन्तमें मोक्ष सुखके देनेवाले हैं । और जिनका पवित्र चरितका सुनना परम शान्तिका कारण है । ऐसे परोपकारी भगवान्का परम पवित्र और जीवमात्रका हित करनेवाला चरित आप लोग भी सुनें, जिसे सुनकर आप सुखलाभ करेंगे ।

प्राचीन कालमें इसी भारतवर्षमें मलय नामका एक अति प्रसिद्ध देश था। रत्नसंचयपुर इसीकी राजधानी थी । जैनधर्मका इस सारे देशमें खूब प्रचार था । उस समय इसके राजा श्रीषेण थे । श्रीषेण धर्मज्ञ, उदारमना, न्यायप्रिय, प्रजाहितैषी, दानी और बड़े विचारशील थे । पुण्यसे प्रायः अच्छे अच्छे सभी गुण उन्हें प्राप्त थे । उनका प्रतिद्वंद्वी या शत्रु कोई न था। वे राज्य निर्विघ्न किया करते थे। सदाचारमें उस समय उनका नाम सबसे ऊँचा था । उनकी दो रानियाँ थीं । उनके नाम थे सिंहनन्दिता और अनन्दिता । दोनों ही अपनी अपनी सुन्दरतामें अद्वितीय थीं, विदुषी और सती थीं। इन दोनोंके दो पुत्र हुए । उनके नाम इन्द्रसेन और उपेन्द्रसेन थे । दोनों ही भाई सुन्दर थे, गुणी थे,

शूरवीर थे और हृदयके बड़े शुद्ध थे । इस प्रकार श्रीषेण धन-सम्पति, राज्य-विभव, कुटुम्ब-परिवार आदिसे पूरे सुखी थे। प्रजाका नीतिके साथ पालन करते हुए वे अपने समयको बड़े आनन्दके साथ बिताते थे।

यहाँ एक सात्यकि ब्राह्मण रहता था । इसकी स्त्रीका नाम जंघा था। इसके सत्यभामा नामकी एक लड़की थी। रत्नसंचय पुरके पास बल नामका एक गाँव बसा हुआ था। उसमें धरणीजट नामका ब्राह्मण वेदोंका अच्छा विद्वान् था । अग्नीला इसकी स्त्री थी। अग्नीलासे दो लड़के हुए । उनके नाम इन्द्रभूति और अग्निभूति थे। इसके यहाँ एक दासी-पुत्र (शूद्र) का लड़का रहता था। उसका नाम कपिल था। धरणीजट जब अपने लड़कोंको वेदादिक पढ़ाया करता, उस समय कपिल भी बड़े ध्यानसे उस पाठको चुपचाप छुपे हुए सुन लिया करता था। भाग्यसे कपिलकी बुद्धि बड़ी तेज थी। सो वह अच्छा विद्वान् हो गया। एक दासी-पुत्र भी पढ़-लिख कर महा विद्वान् बन गया, इसका धरणीजटको बड़ा आश्चर्य हुआ। पर सच तो यह है कि बेचारा मनुष्य करे भी क्या, बुद्धि तो कर्मोंके अनुसार होती है न ? जब सर्व साधारणमें कपिलके विद्वान् हो जानेकी चर्चा उठी तब धरणीजट पर ब्राह्मण लोग बड़े बिगड़े और उसे डराने लगे कि तूने यह बड़ा भारी अन्याय किया जो दासी-पुत्रको पढ़ाया। इसका फल तुझे बहुत बुरा भोगना पड़ेगा । अपने पर अपने

जातीय भाइयोंको इस प्रकार क्रोध उगलते देख धरणीजट बड़ा घबराया। तब डरसे उसने कपिलको अपने घरसे निकाल दिया। कपिल उस गाँवसे निकल रास्तेमें ब्राह्मण बन गया और इसी रूपमें वह रत्न संचयपुर आगया। कपिल विद्वान् और सुन्दर था। इसे उस सात्यकि ब्राह्मणने देखा, जिसका कि ऊपर जिकर आचुका है। इसके गुण रूपको देख-कर सात्यकि बहुत प्रसन्न हुआ। उसके मन पर यह बहुत चढ़ गया। तब सात्यकिने इसे ब्राह्मण ही समझ अपनी लड़की सत्यभामाका इसके साथ ब्याह कर दिया। कपिल अनायास इस स्त्री-रत्नको प्राप्त कर सुखसे रहने लगा। राजाने इसके पाण्डित्यकी तारीफ सुन इसे अपने यहाँ पुराण कहनेको रख लिया। इस तरह कुछ वर्ष बीते। एकबार सत्यभामा ऋतुमती हुई। सो उस समय भी कपिलने उससे संसर्ग करना चाहा। उसके इस दुराचारको देखकर सत्यभामाको इसके विषयमें सन्देह हो गया। उसने इस पापीको ब्राह्मण न समझ इससे प्रेम करना छोड़ दिया। वह इससे अलग रह दुःखके साथ अपनी जिन्दगी बिताने लगी।

इधर धरणीजटके कोई ऐसा पापका उदय आया कि जिससे उसकी सब धन-दौलत बरबाद हो गई। वह भिखा-रीसा हो गया। उसे मालूम हुआ कि कपिल रत्नसंचय-पुरमें अच्छी हालतमें है। राजा द्वारा उसे धन-मान खूब प्राप्त है। वह तब उसी समय सीधा कपिलके पास आया।

उसे दूरहीसे देखकर कपिल मनही मन धरणीजट पर बड़ा गुस्सा हुआ। अपनी बढ़ी हुई मान-मर्यादाके समय इसका अचानक आजाना कपिलको बहुत खटका। पर वह कर क्या सकता था। उसे साथ ही इस बातका बड़ा भय हुआ कि कहीं वह मेरे सम्बन्धमें लोगोंको भड़का न दे। यही सब विचार कर वह उठा और बड़ी प्रसन्नतासे सामने जाकर धरणीजटको इसने नमस्कार किया और बड़े मानसे लाकर उसे ऊँचे आसन पर बैठाया। इसके बाद उसने—पिताजी, मेरी मा, भाई आदि सब सुखसे तो हैं न ? इस प्रकार कुशल समाचार पूछ कर धरणीजटको स्नान, भोजन कराया और उसका वस्त्रादिसे खूब सत्कार किया। फिर सबके आगे एक खास मानकी जगह बैठाकर कपिलने सब लोगोंको धरणीजटका परिचय कराया कि ये ही मेरे पिताजी हैं। बड़े विद्वान और आचार-विचारवान् हैं। कपिलने यह सब मायाचार इसीलिए किया था कि कहीं उसकी माताका सब भेद खुल न जाय। धरणीजट दरिद्री हो रहा था। धनकी उसे चाह थी ही, सो उसने उसे अपना पुत्र मानलेनेमें कुछ भी आनाकानी न की। धनके लोभसे उसे यह पाप स्वीकार कर लेना पड़ा। ऐसे लोभको धिक्कार है, जिसके वश हो मनुष्य हर एक पापकर्म कर डालता है। तब धरणीजट वहीं रहने लग गया। यहाँ रहते इसे कई दिन हो चुके। सबके साथ इसका थोड़ा बहुत

परिचय भी हो गया। एक दिन मौका पाकर सत्यभामाने इसे कुछ थोड़ा बहुत द्रव्य देकर एकान्तमें पूछा–महाराज, आप ब्राह्मण हैं और मेरा विश्वास है कि ब्राह्मण देव कभी झूठ नहीं बोलते। इसलिए कृपाकर मेरे सन्देहको दूर कीजिए। मुझे आपके इन कपिलजीका दुराचार देख यह विश्वास नहीं होता कि ये आप सरीखे पवित्र ब्राह्मणके कुलमें उत्पन्न हुए हों, तब क्या वास्तवमें ये ब्राह्मण ही हैं या कुछ गोलमाल है । धरणी-जटको कपिलसे इसलिए द्वेष हो ही रहा था कि भरी सभामें कपिलने उसे अपना पिता बता उसका अपमान किया था। और दूसरे उसे धनकी चाह थी, सो उसके मनके माफिक धन सत्यभामाने उसे पहले ही दे दिया था। तब वह कपिलकी सच्ची हालत क्यों छिपायेगा? जो हो, धरणीजट सत्यभामाको सब हाल कहकर और प्राप्त धन लेकर रत्नसंचय पुरसे चल दिया। सुनकर कपिल पर सत्यभामाकी घृणा पहलेसे कोई सौ गुणी बढ़ गई । उसने तब उससे बोलना-चालना तक छोड़कर एकन्तावास स्वीकार कर लिया, पर अपने कुलाचारकी मान-मर्यादाको न छोड़ा। सत्यभामाको इस प्रकार अपनेसे घृणा करते देख कपिल उससे बलात्कार करने पर उतारु हो गया। तब सत्यभामा घरसे भागकर श्रीषेण महाराजकी शरण आगई और उसने सब हाल उनसे कह दिया । श्रीषेणने तब उस पर दयाकर उसे अपनी लड़कीकी तरह अपने यहीं रख लिया। कपिल

सत्यभामाके अन्यायकी पुकार लेकर श्रीषेणके पास पहुँचा। उसके व्यभिचारकी हालत उन्हें पहले ही मालूम हो चुकी थी, इसलिए उसकी कुछ न सुनकर श्रीषेणने उस लम्पटी और कपटी ब्राह्मणको अपने देशहीसे निकाल दिया। सो ठीक ही है राजोंको सज्जनोंकी रक्षा और दुष्टोंको सजा करनी ही चाहिए। ऐसा न करने पर वे अपने कर्त्तव्यसे च्युत होते हैं और प्रजाके धनहारी हैं।

एक दिन श्रीषेणके यहाँ आदित्यगति और अरिंजय नामके दो चारणऋद्धिके धारी मुनिराज पृथिवीको अपने पाँवोंसे पवित्र करते हुए आहारके लिए आये। श्रीषेणने बड़ी भक्तिसे उनका आह्वान कर उन्हें पवित्र आहार कराया। इस पात्रदानसे उनके यहाँ स्वर्गके देवोंने रत्नोंकी वर्षा की, कल्पवृक्षोंके सुन्दर और सुगन्धित फूल बरसाये, दुंदुभी बाजे बजे, मन्द-सुगन्ध वायु बहा और जय जय कार हुआ—खूब बधाइयाँ मिलीं। और सच है, सुपात्रोंको दिये दानके फलसे क्या नहीं हो पाता। इसके बाद श्रीषेणने और बहुत वर्षोंतक राज्य-सुख भोगा। अन्तमें मरकर वे धातकीखण्ड द्वीपके पूर्वभागकी उत्तर-कुरु भोगभूमिमें उत्पन्न हुए। सच है, साधुओंकी संगतिसे जब मुक्ति भी प्राप्त हो सकती है तब कौन ऐसी उससे भी बढ़कर वस्तु होगी जो प्राप्त न हो। श्रीषेणकी दोनों रानियाँ तथा सत्यभामा भी इसी उत्तरकुरु भोगभूमिमें जाकर उत्पन्न

हुई । ये सब इस भोगभूमिमें दस प्रकारके कल्पवृक्षोंसे मिल-नेवाले सुखोंको भोगते हैं और आनन्दसे रहते हैं । यहाँ इन्हें कोई खाने-कमानेकी चिन्ता नहीं करना पड़ती है । पुण्यो-दयसे प्राप्त हुए भोगोंको निराकुलता ये आयु पूर्ण होने तक भोगेंगे । यहाँकी स्थिति बड़ी अच्छी है । यहाँके निवासि-योंको कोई प्रकारकी बीमारी, शोक, चिन्ता, दरिद्रता आदिसे होनेवाले कष्ट नहीं सता पाते । इनकी कोई प्रकारके अपघातसे मौत नहीं होती । यहाँ किसीके साथ शत्रुता नहीं होती । यहाँ न अधिक जाड़ा पड़ता और न अधिक गर्मी होती है; किन्तु सदा एकसी सुन्दर ऋतु रहती है । यहाँ न किसीकी सेवा करनी पड़ती है और न किसीके द्वारा अपमान सहना पड़ता है । न यहाँ युद्ध है और न कोई किसीका वैरी ही है । यहाँके लोगोंके भाव सदा पवित्र रहते हैं । आयु पूरी होनेतक ये इसी तरह सुखसे रहते हैं । अन्तमें अपने स्वाभाविक सरल भावोंसे मृत्यु लाभ कर ये दानी महात्मा कुछ बाकी बचे पुण्य-फलसे स्वर्गमें जाते हैं । श्रीषे-णने भी भोगभूमिका खूब सुख भोगा । अन्तमें वे स्वर्गमें गये । स्वर्गमें भी मनचाहा दिव्य सुख भोगकर अन्तमें वे मनुष्य हुए । इस जन्ममें ये कई बार अच्छे अच्छे राजघरानेमें उत्पन्न हुए । पुण्यसे फिर स्वर्ग गये । वहाँकी आयु पूरीकर अ-बकी बार भारतवर्षके सुप्रसिद्ध शहर हस्तिनापुरके राजा विश्व-सेनकी रानी ऐराके यहाँ इन्होंने अवतार लिया । यही सोलहवें श्रीशान्तिनाथ तीर्थंकरके नामसे संसारमें प्रख्यात हुए ।

इनके जन्म समयमें स्वर्गके देवोंने आकर बड़ा उत्सव किया था, इन्हें सुमेरु पर्वत पर लेजाकर क्षीरसमुद्रके स्फटिकसे पवित्र और निर्मल जलसे इनका अभिषेक किया था। भगवान् शान्तिनाथने अपना जीवन बड़ी ही पवित्रताके साथ बिताया। उनका जीवन संसारका आदर्श जीवन है। अन्तमें योगी हो इन्होंने धर्मका पवित्र उपदेश देकर अनेक जनोंको संसारसे पार किया–दुःखोंसे उनकी रक्षा कर उन्हें सुखी किया। अपना संसारके प्रति जो कर्त्तव्य था उसे पूरा कर इन्होंने निर्वाण लाभ किया। यह सब पात्रदानका फल है। इसलिए जो लोग पात्रोंको भक्तिसे दान देंगे वे भी नियमसे ऐसा ही उच्च सुख लाभ करेंगे। यह बात ध्यानमें रखकर सत्पुरुषोंका कर्त्तव्य है, कि वे प्रतिदिन कुछ न कुछ दान अवश्य करें। यही दान स्वर्ग और मोक्षके सुखका देनेवाला है।

मूलसंघमें कुन्दकुन्दाचार्यकी परम्परामें श्रीमल्लिभूषण भट्टारक हुए। वे रत्नत्रय–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके धारी थे। इन्हीं गुरु महाराजकी कृपासे मुझ अल्पबुद्धि नेमिदत्त ब्रह्मचारीने पात्रदानके सम्बन्धमें श्रीशान्तिनाथ भगवान्की पवित्र कथा लिखी है। यह कथा मेरे लिए परम शान्तिकी कारण हो।

११०–औषधिदानकी कथा।

जि न भगवान, जिनवानी और जैन साधुओंके चरणोंको नमस्कार कर औषधिदानके सम्बन्धकी कथा लिखी जाती है।

नीरोगी होना, चेहरे पर सदा प्रसन्नता रहना, धनादि विभूतिका मिलना, ऐश्वर्यका प्राप्त होना, सुन्दर होना, तेजस्वी और बलवान् होना, और अन्तमें स्वर्ग या मोक्षका सुख प्राप्त करना ये सब औषधिदानके फल हैं। इसलिए जो सुखी होना चाहते हैं उन्हें निर्दोष औषधिदान करना उचित है। इस औषधिदानके द्वारा अनेक सज्जनोंने फल प्राप्त किया है, उन सबके सम्बन्धमें लिखना औरोंके लिए नहीं तो मुझ अल्प बुद्धिके लिए तो अवश्य असंभव है। उनमेंसे एक वृषभसेनाका पवित्र चरित यहाँ संक्षिप्तमें लिखा जाता है। आचार्योंने जहाँ औषधिदान देनेवालेका उल्लेख किया है वहाँ वृषभसेनाका ही प्रायः कथन आता है। उन्हींका अनुकरण मैं भी करता हूँ।

भगवान्के जन्मसे पवित्र इस भारतवर्षके जनपद नामके देशमें नाना प्रकारकी उत्तमोत्तम सम्पत्तिसे भरा अतएव अपनी सुन्दरतासे स्वर्गकी शोभाको नीची करनेवाला कावेरी नामका नगर है। जिस समयकी यह कथा है, उस समय कावेरी

नगरके राजा उग्रसेन थे । उग्रसेन प्रजाके सच्चे हितैषी और राजनीतिके अच्छे पंडित थे ।

यहाँ धनपति नामका एक अच्छा सद्गृहस्थ सेठ रहता था । जिन भगवान्की पूजा-प्रभावनादिसे उसे अत्यन्त प्रेम था । इसकी स्त्री धनश्री इसके घरकी मानों दूसरी लक्ष्मी थी । धनश्री सती और बड़े सरल मनकी थी । पूर्व पुण्यसे इसके वृषभसेना नामकी एक देवकुमारीसी सुन्दरी और सौभाग्यवती लड़की हुई । सच है, पुण्यके उदयसे क्या प्राप्त नहीं होता । वृषभसेनाकी धाय रूपवती इसे सदा नहाया-धुलाया करती थी । इसके नहानेका पानी बह बह कर एक गढ्ढेमें जमा हो गया था । एक दिनकी बात है कि रूपवती वृषभसेनाको निल्हा रही थी । इसी समय एक महारोगी कुत्ता उस गढ्ढेमें, जिसमें कि वृषभसेनाके नहानेका पानी इकट्ठा हो रहा था, गिर पड़ा । क्या आश्चर्यकी बात है कि जब वह उस पानीमेंसे निकला तो बिलकुल नीरोग देख पड़ा । रूपवती उसे देखकर चकित हो रही । उसने सोचा—केवल साधारण जलसे इस प्रकार रोग नहीं जा सकता । पर यह वृषभसेनाके नहानेका पानी है । इसमें इसके पुण्यका कुछ भाग जरूर होना चाहिए । जान पड़ता है वृषभसेना कोई बड़ी भाग्यशालिनी लड़की है । ताज्जुब नहीं कि यह मनुष्य रूपिणी कोई देवी हो ! नहीं तो इसके नहानेके जलमें ऐसी चकित करनेवाली करामात हो ही नहीं

सकती। इस पानीकी और परीक्षा कर देखलूँ, जिससे और भी दृढ़ विश्वास हो जायगा कि यह पानी सचमुच ही क्या रोगनाशक है? तब रूपवती थोड़ेसे उस पानीको लेकर अपनी माके पास आई। इसकी माकी आँखे कोई बारह वर्षोंसे खराब हो रही थीं। इससे वह बड़ी दुःखमें थी। आँखोंको रूपवतीने इस जलसे धोकर साफ किया और देखा तो उनका रोग बिलकुल जाता रहा। वे पहलेसी बड़ी सुन्दर हो गईं। रूपवतीको वृषभसेनाके महा पुण्यवती होनेमें अब कोई सन्देह न रह गया। इस रोग नाश करनेवाले जलके प्रभावसे रूपवतीकी चारों ओर बड़ी प्रसिद्धि हो गई। बड़ी बड़ी दूरके रोगी अपने रोगका इलाज करानेको आने लगे। क्या आँखोंके रोगको, क्या पेटके रोगको, क्या सिर सम्बन्धी पीड़ाओंको, और क्या कोढ़ वगैरह रोगोंको, यही नहीं किन्तु जहर सम्बन्धी असाध्यसे असाध्य रोगोंको भी रूपवती केवल एक इसी पानीसे आराम करने लगी। रूपवती इससे बड़ी प्रसिद्ध हो गई।

उग्रसेन और मेघपिङ्गल राजाकी पुरानी शत्रुता चली आ रही थी। इस समय उग्रसेनने अपने मंत्री रणपिङ्गलको मेघपिङ्गल पर चढ़ाई करनेकी आज्ञा दी। रणपिङ्गल सेना लेकर मेघपिङ्गल पर जा चढ़ा और उसके सारे देश-को उसने घेर लिया। मेघपिंगलने शत्रुको युद्धमें पराजित करना कठिन समझ दूसरी ही युक्तिसे उसे देशसे निकाल

बाहर करना विचारा और इसके लिए उसने यह योजना की कि शत्रुकी सेनामें जिन जिन कुए बावड़ीसे पीनेको जल आता था उन सबमें अपने चतुर जासूसों द्वारा विष घुलवा दिया। फल यह हुआ कि रणपिंगलकी बहुतसी सेना तो मर गई और बची हुई सेनाको साथ लिए वह स्वयं भी भागकर अपने देश लौट आया। उसकी सेना पर तथा उस पर जो विषका असर हुआ था, उसे रूपवतीने उसी जलसे आराम किया। गुरुओंके वचनामृतसे जैसी जीवोंको शान्ति- मिलती है रणपिंगलको उसी प्रकार शान्ति रूपवतीके जलसे मिली और वह रोगमुक्त हुआ।

रणपिङ्गलका हाल सुनकर उग्रसेनको मेघपिङ्गल पर बड़ा क्रोध आया और तब स्वयं उन्होंने उस पर चढ़ाई की। उग्रसेनने अबकी बार अपने जानते सावधानी रखनेमें कोई कसर न की। पर भाग्यका लेख किसी तरह नहीं मिटता। मेघपिङ्गलका चक्र उग्रसेन पर भी चल गया। जहर मिले जलको पीकर उनकी भी तबीयत बहुत बिगड़ गई। तब जितना जल्दी उनसे बन सका अपनी राजधानीमें उन्हें लौट आना पड़ा। उनका भी बड़ा ही अपमान हुआ। रणपिंगलसे उन्होंने, वह कैसे आराम हुआ था, इस बाबत पूछा। रणपिंगलने रूपवतीका जल बतलाया। उग्रसेनने तब उसी समय अपने आदमियोंको जल ले-आनेके लिए सेठके यहाँ भेजा। अपनी लड़कीका स्नान-जल लेनेको राजाके आद-

मियोंको आया देख सेठानी धनश्रीने अपने स्वामीसे कहा—क्योंजी, अपनी वृषभसेनाका स्नान-जल राजाके सिर पर छिड़का जाय यह तो उचित नहीं जान पड़ता। सेठने कहा—तुम्हारा यह कहना ठीक है, परन्तु जिसके लिए दूसरा कोई उपाय नहीं तब क्या किया जाय। इसमें अपने बसकी क्या बात है? हम तो न जान-बूझ कर ऐसा करते हैं और न सच्चा हाल किसीसे छुपाते ही हैं, तब इसमें अपना तो कोई अपराध नहीं हो सकता। यदि राजा साहबने पूछा तो हम सब हाल उनसे यथार्थ कह देंगे। सच है, अच्छे पुरुष प्राण जाने पर भी झूठ नहीं बोलते। दोनोंने विचार कर रूपवतीको जल देकर उग्रसेनके महल पर भेजा। रूपवतीने उस जलको राजाके सिर पर छिड़क कर उन्हें आराम कर दिया। उग्रसेन रोगमुक्त हो गये। उन्हें बहुत खुशी हुई। रूपवतीसे उन्होंने उस जलका हाल पूछा। रूपवतीने कोई बात न छुपाकर जो बात सच्ची थी वह राजासे कहदी। सुनकर राजाने धनपति सेठको बुलाया और उसका बड़ा आदर-सत्कार किया। वृषसेनाका हाल सुनकर ही उग्रसेनकी इच्छा उसके साथ ब्याह करनेकी हो गई थी और इसीलिए उन्होंने मौका पाकर धनपतिसे अपनी इच्छा कह सुनाई। धनपतिने उसके उत्तरमें कहा—राजराजेश्वर, मुझे आपकी आज्ञा मानलेनेमें कोई रुकावट नहीं है। पर इसके साथ आपको स्वर्ग-मोक्षकी देनेवाली और जिसे इन्द्र, स्वर्गवासी

देव, चक्रवर्ती, विद्याधर, राजे-महाराजे आदि महापुरुष बड़ी भक्तिके साथ करते हैं ऐसी अष्टाह्निक पूजा करनी होगी और भगवान्का खूब उत्सवके साथ अभिषेक करना होगा। सिवा इसके आपके यहाँ जो पशु-पक्षी पींजरोंमें बन्द हैं, उन्हें तथा कैदियोंको छोड़ना होगा। ये सब बातें आप स्वीकार करें तो मैं वृषभसेनाका व्याह आपके साथ कर सकता हूँ। उग्रसेनने धनपतिकी सब बातें स्वीकार कीं और उसी समय उन्हें कार्यमें भी परिणत कर दिया।

वृषभसेनाका व्याह हो गया। सब रानियोंमें पट्टरानीका सौभाग्य उसे ही मिला। राजाने अब अपना राज्यकीय कामोंसे बहुत कुछ सम्बन्ध कम कर दिया। उनका प्रायः समय वृषभसेनाके साथ सुखोपभोगमें जाने लगा। वृषभसेना पुण्योदयसे राजाकी खास प्रेम-पात्र हुई। स्वर्ग सरीखे सुखों-को वह भोगने लगी। यह सब कुछ होने पर भी वह अपने धर्म-कर्मको थोड़ा भी न भूल गई थी। वह जिन भगवान्की सदा जलादि आठ द्रव्योंसे पूजा करती, उनका अभिषेक करती, साधुओंको चारों प्रकारका दान देती, अपनी शक्तिके अनुसार व्रत, तप, शील, संयमादिका पालन करती, और धर्मात्मा सत्पुरुषोंका अत्यन्त प्रेमके साथ आदर-सत्कार करती। और सच है, पुण्योदयसे जो उन्नति हुई, उसका फल तो यही है कि सधर्मियोंसे प्रेम हो, हृदयमें उनके प्रति उच्च भाव हो। वृषभसेना अपना जो कर्तव्य था, उसे पूरा

करती, भक्तिसे जिनधर्मकी जितनी बनती उतनी सेवा करती और सुखसे रहा करती थी।

राजा उग्रसेनके यहाँ बनारसका राजा पृथिवीचंद्र कैद था। और वह अधिक दुष्ट था। पर उग्रसेनका तो तब भी यही कर्त्तव्य था कि वे अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार ब्याहके समय उसे भी छोड़ देते। पर ऐसा उन्होंने नहीं किया। यह अनुचित हुआ। अथवा यों कहिए कि जो अधिक दुष्ट होते हैं उनका भाग्य ही ऐसा होता है जो वे मौके पर भी बन्धन मुक्त नहीं हो पाते।

पृथिवीचंद्रकी रानीका नाम नारायणदत्ता था। उसे आशा थी कि–उग्रसेन अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार वृषभसेनाके साथ ब्याहके समय मेरे स्वामीको अवश्य छोड़ देंगे। पर उसकी वह आशा व्यर्थ हुई। पृथिवीचन्द्र तब भी न छोड़े गये। यह देख नारायणदत्ताने अपने मंत्रियोंसे सलाह ले पृथिवीचन्द्रको छुड़ानेके लिए एक दूसरी ही युक्ति की और उसमें उसे मन-चाही सफलता भी प्राप्त हुई। उसने अपने यहाँ वृषभसेनाके नामसे कई दानशालाएँ बनवाईं। कोई विदेशी या स्वदेशी हो सबको उनमें भोजन करनेको मिलता था। इन दानशा-लाओंमें बढ़ियासे बढ़िया छहों रसमय भोजन कराया जाता था। थोड़े ही दिनोंमें इन दानशालाओंकी प्रसिद्धि चारों ओर हो गई। जो इनमें एक बार भी भोजन कर जाता वह फिर इनकी तारीफ करनेमें कोई कमी न करता था। बड़ी

बड़ी दूरसे इनमें भोजन करनेको लोग आने लगे । कावेरीके भी बहुतसे ब्राह्मण यहाँ भोजन कर जाते थे । उन्होंने इन शालाओंकी बहुत तारीफ की । रूपवतीको इन वृषभसेनाके नामसे स्थापित की गई दान-शालाओंका हाल सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और साथ ही उसे वृषभसेना पर इस बातसे बड़ा गुस्सा आया कि मुझे बिना पूछे उसने बनारसमें ये शालाएँ बनवाई ही क्यों ? और इसका उसने वृषभसेनाको उलहना भी दिया । वृषभसेनाने तब कहा-मा, मुझ पर तुम व्यर्थ ही नाराज होती हो । न तो मैंने कोई दान-शाला बनारसमें बनवाई और न मुझे उनका कुछ हाल ही मालूम है । हाँ यह संभव हो सकता है कि किसीने मेरे नामसे उन्हें बनाया हो । पर इसका शोध लगाना चाहिए कि किसने तो ये शालाएँ बनवाईं और क्यों बनवाईं ? आशा है पता लगानेसे सब रहस्य ज्ञात हो जायगा । रूपवतीने तब कुछ जासूसोंको उन शालाओंकी सच्ची हकीकत जाननेको भेजा । उनके द्वारा रूपवतीको मालूम हुआ कि वृषभसेनाके ब्याह समय उग्रसेनने सब कैदियोंको छोड़नेकी प्रतिज्ञा की थी । उस प्रतिज्ञाके अनुसार पृथिवीचंद्रको उन्होंने न छोड़ा । यह बात वृषभसेनाको जान पड़े-उसका ध्यान इस ओर आकर्षित हो इसलिए ये दान-शालाएँ उसके नामसे पृथिवीचंद्रकी रानी नारायणदत्ताने बनवाई हैं । रूपवतीने यह सब हाल वृषभसेनासे कहा । वृषभसेनाने तब

उग्रसेनसे प्रार्थना कर उसी समय पृथिवीचन्द्रको छुड़वा दिया। पृथिवीचन्द्र वृषभसेनाके इस उपकारसे बड़ा कृतज्ञ हुआ। उसने इस कृतज्ञताके वश हो उग्रसेन और वृषभ-सेनाका एक बहुत ही बढ़िया चित्र तैयार करवाया। उस चित्रमें इन दोनों राजारानीके पाँवोंमें सिर झुकाया हुआ अपना चित्र भी पृथिवीचन्द्रने खिंचवाया। वह चित्र फिर उनकी भेंट कर उसने वृषभसेनासे कहा—मा, तुम्हारी कृपासे मेरा जन्म सफल हुआ। आपकी इस दयाका मैं जन्म जन्ममें ऋणी रहूँगा। आपने इस समय मेरा जो उप-कार किया उसका बदला तो मैं क्या चुका सकूँगा पर उसकी तारीफमें कुछ कहने तकके लिए मेरे पास उपयुक्त शब्द नहीं हैं। पृथिवीचंद्रकी यह नम्रता यह विनयशीलता देखकर उग्रसेन उस पर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसका तब बड़ा आदर-सत्कार किया।

मेघपिङ्गल उग्रसेनका शत्रु है, इसका जिकर ऊपर आया है। जो हो, उग्रसेनसे वह भले ही बिलकुल न डरता हो, पर पृथिवीचंद्रसे बहुत डरता है। उसका नाम सुनते ही वह काँप उठता है। उग्रसेनको यह बात मालूम थी। इस लिए अबकी बार उन्होंने पृथिवीचंद्रको उस पर चढ़ाई कर-नेकी आज्ञा की। उनकी आज्ञा सिर पर चढ़ा पृथिवीचन्द्र अपनी राजधानीमें गया। और तुरत उसने अपनी सेनाको मेघपिङ्गल पर चढ़ाई करनेकी आज्ञा की। सेनाके

प्रयाणका बाजा बजनेवाला ही था कि कावेरी नगरसे खबर आगई–“अब चढ़ाईकी कोई जरूरत नहीं । मेघपिङ्गल स्वयं महाराज उग्रसेनके दरबारमें उपस्थित हो गया है ।” बात यह थी कि मेघपिङ्गल पृथिवीचन्द्रके साथ लड़ाईमें पहले कई बार हार चुका था । इसलिए वह उससे बहुत डरता था । यही कारण था कि उसने पृथिवीचन्द्रसे लड़ना उचित न समझा । तब अगत्या उसे उग्रसेनकी शरण आजाना पड़ा । अब वह उग्रसेनका सामन्त राजा बन गया । सच है, पुण्यके उदयसे शत्रु भी मित्र हो जाते हैं ।

एक दिन दरबार लगा हुआ था । उग्रसेन सिंहासन पर अधिष्ठित थे । उस समय उन्होंने एक प्रतिज्ञा की–आज सामन्त-राजों द्वारा जो भेंट आयगी, वह आधी मेघपिङ्गलको और आधी श्रीमती वृषभसेनाकी भेंट होगी । इसलिए कि उग्रसेन महाराजकी अबसे मेघपिङ्गल पर पूरी कृपा हो गई थी । आज और बहुतसी धन-दौलतके सिवा दो बहु-मूल्य सुन्दर कम्बल उग्रसेनकी भेंटमें आये । उग्रसेनने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भेंटका आधा हिस्सा मेघपिङ्गलके यहाँ और आधा हिस्सा वृषभसेनाके यहाँ पहुँचा दिया । धन-दौलत, वस्त्राभूषण, आयु आदि ये सब नाश होनेवाली वस्तुएँ हैं, तब इनका प्राप्त करना सफल तभी हो सकता है जब कि ये परोपकारमें लगाई जायँ–इनके द्वारा दूसरोंका भला हो ।

एक दिन मेघपिङ्गलकी रानी इस कम्बलको ओढ़े किसी आवश्यक कार्यके लिए वृषभसेनाके महल आई। पाठकोंको याद होगा कि ऐसा ही एक कम्बल वृषभसेनाके पास भी है। आज वस्त्रोंके उतारने और पहरनेमें भाग्यसे मेघपिङ्गलकी रानीका कम्बल वृषभसेनाके कम्बलसे बदल गया। उसे इसका कुछ खयाल न रहा और वह वृषभसेनाका कम्बल ओढ़े ही अपने महल आगई। कुछ दिनों बाद मेघपिङ्गलको राज-दरबारमें जानेका काम पड़ा। वह वृषभसेनाके इसी कम्बलको ओढ़े चला गया। इस कम्बलको ओढ़े मेघपिंगलको देखते ही उग्रसेनके क्रोधका कुछ ठिकाना न रहा। उन्होंने वृषभसेनाके कम्बलको पहचान लिया। उनकी आँखोंसे आगकीसी चिनगारियाँ निकलने लगीं। उन्हें काटो तो खून नहीं। महारानी वृषभसेनाका कम्बल इसके पास क्यों और कैसे गया? इसका कोई गुप्त कारण जरूर होना ही चाहिए। बस, यह विचार उनके मनमें आते ही उनकी अजब हालत हो गई। उग्रसेनका अपने पर अकारण क्रोध देखकर मेघपिङ्गलकी समझमें इसका कुछ भी कारण न आया। पर ऐसी दशामें उसने अपना वहाँ रहना उचित न समझा। वह उसी समय वहाँसे भागा और एक अच्छे तेज घोड़ेपर सवार हो बहुत दूर निकल गया। जैसे दुर्जनोंसे डरकर सत्पुरुष दूर जा निकलते हैं। उसे भागा देख उग्रसेनका सन्देह और बढ़ा। उन्होंने तब एक

ओर तो मेघपिङ्गलको पकड़ लानेके लिए अपने सवारोंको दौड़ाया और दूसरी ओर क्रोधाग्निसे जलते हुए आप वृष-भसेनाके महल पहुँचे। वृषभसेनासे कुछ न कह सुनकर कि तूने अमुक अपराध किया है, एक साथ उसे समुद्रमें फिकवानेका उन्होंने हुक्म दे दिया। बेचारी निर्दोष वृषभसेना राजाज्ञाके अनुसार समुद्रमें डालदी गई। उस क्रोधको धिक्कार! उस मूर्खताको धिक्कार! जिसके वश हो लोग योग्य और अयो-ग्य कार्यका भी विचार नहीं कर पाते। अजान मनुष्य किसी-को कोई कितना ही कष्ट क्यों न दे–दुःखोंकी कसोटी पर उसे कितना ही क्यों न चढ़ावे, उसकी निरपराधताको अपनी क्रोधाग्निमें क्यों न झोंकदे, पर यदि वह कष्ट सहनेवाला मनुष्य निरपराध है–निर्दोष है, उसका हृदय पवित्रतासे सना है–रोम रोममें उसके पवित्रताका वास है तो निसन्देह उसका कोई बाल बाँका नहीं कर सकता। ऐसे मनुष्योंको कितना ही कष्ट हो, उससे उनका हृदय रत्ती भर भी विचलित न होगा। बल्कि जितना जितना वह इस परि-क्षाकी कसोटी पर चढ़ता जायगा उतना उतना ही अधिक उ-सका हृदय बलवान और निर्भीक बनता जायगा। उग्रसेन महाराज भले ही इस बातको न समझें कि वृषभसेना निर्दोष है–उसका कोई अपराध नहीं, पर पाठकोंको अपने हृदयमें इस बातका अवश्य विश्वास है, न केवल विश्वास ही है, किन्तु बात भी वास्तवमें यही सत्य है कि वृषभसेना निरपराध

है। वह सती है, निष्कलंक है। जिस कारण उग्रसेन महाराज उस पर नाराज हुए हैं, वह कारण निर्भ्रान्त नहीं है। वे यदि जरा गम खाकर कुछ शान्तिसे विचार करते तो उनकी समझमें भी वृषभसेनाकी निर्दोषता बहुत जल्दी आजाती। पर क्रोधने उन्हें आपेमें न रहने दिया। और इसीलिए उन्होंने एकदम क्रोधसे अन्धे हो एक निर्दोष व्यक्तिको कालके मुँहमें फैंक दिया। जो हो, वृषभसेनाकी पवित्र जीवनकी उग्रसेनने तो कुछ कीमत न समझी–उसके साथ महान् अन्याय किया, पर वृषभसेनाको अपने सत्य पर पूर्ण विश्वास था। वह जानती थी कि मैं सर्वथा निर्दोष हूँ। फिर मुझे कोई ऐसी बात नहीं देख पड़ती कि जिसके लिए मैं दुःख कर अपने आत्माको निर्बल बनाऊँ। बल्कि मुझे इस बातकी प्रसन्नता होनी चाहिए कि सत्यके लिए मेरा जीवन गया। उसने ऐसे ही और बहुतसे विचारोंसे अपने आत्माको खूब बलवान् और सहन-शील बना लिया। ऊपर यह लिखा जा चुका है कि सत्यता और पवित्रताके सामने किसीकी नहीं चलती। बल्कि सबको उनके लिए अपना मस्तक झुकाना पड़ता है। वृषभसेना अपनी पवित्रता पर विश्वास रखकर भगवान्के चरणोंका ध्यान करने लगी। अपने मनको उसने परमात्म-प्रेममें लीन कर लिया। उसने साथ ही प्रतिज्ञा की कि यदि इस परिक्षामें मैं पास होकर नया जीवन लाभ कर सकूँ तो अब मैं संसारकी विषयवासनामें न फँसकर अपने जीव-

नको तपके पवित्र प्रवाहमें बहा दूँगी, जो तप जन्म और मरणका ही नाश करनेवाला है। उस समय वृषभसेनाकी वह पवित्रता, वह दृढ़ता, वह शीलका प्रभाव, वह स्वभावसिद्ध प्रसन्नता आदि बातोंने उसे एक प्रकाशमान उज्ज्वल ज्योतिके रूपमें परिणत कर दिया था। उसके इस अलौकिक तेजके प्रकाशने स्वर्गके देवोंकी आँखों तकमें चका चौंध पैदा कर दी। उन्हें भी इस तेजस्विता-देवीको सिर झुकाना पड़ा। वे वहाँसे उसी समय आये और वृषभसेनाको एक अमूल्य सिंहासन पर अधिष्ठित कर उन्होंने उस मनुष्यरूप धारिणी पवित्रताकी मूर्तिमान देवीकी बड़े भक्ति-भावोंसे पूजा की, उसका जय जय कार मनाया। बहुत सत्य है, पवित्र शीलके प्रभावसे सब कुछ हो सकता है। यही शील आगको जल, समुद्रको स्थल, शत्रुको मित्र, दुर्जनको सज्जन, और विषको अमृतके रूपमें परिणत कर देता है। शीलका प्रभाव अचिन्त्य है। इसी शीलके प्रभावसे धन-सम्पत्ति, कीर्ति, पुण्य, ऐश्वर्य, स्वर्ग-सुख आदि जितनी संसारमें उत्तम वस्तुएँ हैं वे सब अनायास–बिना परिश्रम किये प्राप्त हो जाती हैं। न यही किन्तु शीलवान् मनुष्य मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है। इसलिए बुद्धिवानोंको उचित है कि वे अपने चंचल मनरूपी बन्दरको वश कर–उसे कहीं न जाने देकर पवित्र शीलव्रतकी, जिसे कि भगवान्ने सब पापोंका नाश करनेवाला बतलाया है, रक्षामें लगावें।

वृषभसेनाके शीलका माहात्म्य जब उग्रसेनको जान पड़ा तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। अपनी बे-समझी पर वे बहुत पछताये। वृषभसेनाके पास जाकर उससे उन्हों अपने इस अज्ञानकी क्षमा कराई और महल पर चलनेके लिए उससे प्रार्थना की। यद्यपि वृषभसेनाने पहले यह प्रतिज्ञा की थी कि इस कष्टसे छुटकारा पाते ही मैं योगिनी बनकर आत्महित करूँगी और इस पर वह दृढ़ भी वैसी ही थी; परन्तु इस सयम जब कि खुद महाराज उसे लिवानेको आये तब उनका अपमान न हो, इसलिए उसने एक बार महल जाकर एक-दो दिन बाद फिर दीक्षा लेना निश्चय किया। वह बड़ी वैरागिन होकर महाराजके साथ महल आ रही थी। पर जिसके मनमें जैसी भावना होती है और वह यदि सच्चे हृदयसे उत्पन्न हुई होती है तो वह नियमसे पूरी होती ही है। वृषभसेनाके मनमें जो पवित्र भावना थी वह सच्चे संकल्पसे की गई थी। इसलिए उसे पूरी होना ही चाहिए था और वह हुई भी। रास्तेमें वृषभसेनाको एक महा तपस्वी और अवधिज्ञानी गुणधर नामके मुनिराजके पवित्र दर्शन हुए। वृषभसेनाने बड़ी भक्तिसे उन्हें हाथ जोड़ सिर नवाया। इसके बाद उसने उनसे पूछा–हे दयाके समुद्र योगिराज, क्या आप कृपाकर मुझे यह बतलावेंगे कि मैंने पूर्व जन्मोंमें क्या क्या अच्छे या बुरे कर्म किये हैं, जिनका मुझे यह फल भोगना पड़ा? मुनि बोले–पुत्रि, सुन तुझे तेरे पूर्व जन्मका हाल सुनाता

हूँ। तू पहले जन्ममें ब्राह्मणकी लड़की थी। तेरा नाम नागश्री था। इसी राजघरानेमें तू बुहारी दिया करती थी। एक दिन मुनिदत्त नामके योगिराज महलके कोटके भीतर एक वायु रहित पवित्र गढ़ेमें बैठे ध्यान कर रहे थे। समय सन्ध्याका था। इसी समय तू बुहारी देती हुई इधर आई। तूने मूर्खतासे क्रोध कर मुनिसे कहा—ओ नंगे ढोंगी, उठ यहाँसे, मुझे झाड़ने दे। आज महाराज इसी महलमें आवेंगे। इसलिए इस स्थानको मुझे साफ करना है। मुनि ध्यानमें थे, इसलिए वे उठे नहीं; और न ध्यान पूरा होनेतक उठ ही सकते थे। वे वैसेके वैसे ही अडिग बैठे रहे। इससे तुझे और अधिक गुस्सा आया। तूने तब सब जगहका कूड़ा-कचरा इकट्ठा कर मुनिको उससे ढक दिया। बाद तू चली गई। बेटा, तू तब मूर्ख थी--कुछ समझती न थी। पर तूने वह काम बहुत ही बुरा किया था। तू नहीं जानती थी कि साधु-सन्त तो पूजा करने योग्य होते हैं, उन्हें कष्ट देना उचित नहीं। जो कष्ट देते हैं वे बड़े मूर्ख और पापी हैं। अस्तु, सबेरे राजा आये। वे इधर होकर जा रहे थे। उनकी नजर इस गढ़े पर पड़ गई। मुनिके सांस लेनेसे उन परका वह कूड़ा-कचरा ऊँचा-नीचा हो रहा था। उन्हें कुछ सन्देहसा हुआ। तब उन्होंने उसी समय उस कचरेको हटाया। देखा तो उन्हें मुनि देख पड़े। राजाने उन्हें निकाल लिया। तुझे जब यह हाल मालूम हुआ और आकर तूने उन शान्तिके

मन्दिर मुनिराजको पहलेसा ही शान्त पाया तब तुझे उनके गुणोंकी कीमत जान पड़ी। तू तब बहुत पछताई। अपने कर्मोंको तूने बहुत बहुत धिकारा! मुनिराजसे अपने अपराधकी क्षमा कराई। तब तेरी श्रद्धा उन पर बहुत ही हो गई। मुनिके उस कष्टके दूर करनेका तूने बहुत यत्न किया, उनकी औषधि की और उनकी भरपूर सेवा की। उस सेवाके फलसे तेरे पापकर्मोंकी स्थिति बहुत कम रह गई। बहिन, उसी मुनि-सेवाके फलसे तू इस जन्ममें धनपति सेठकी लड़की हुई। तूने जो मुनिको औषधिदान दिया था उससे तो तुझे वह सर्वौषधि प्राप्त हुई जो तेरे स्नानके जलसे कठिनसे कठिन रोग क्षण-भरमें नाश हो जाते हैं और मुनिको कचरेसे ढककर जो उन पर घोर उपसर्ग किया था, उससे तुझे इस जन्ममें झूठा कलंक लगा। इसलिए बहिन, साधुओंको कभी कष्ट देना उचित नहीं। किन्तु ये स्वर्ग या मोक्ष-सुखकी प्राप्तिके कारण हैं, इसलिए इनकी तो बड़ी भक्ति और श्रद्धासे सेवा-पूजा करनी चाहिए। मुनिराज द्वारा अपना पूर्वभव सुनकर वृषभसेनाका वैराग्य और बढ़ गया। उसने फिर महल पर न जाकर अपने स्वामीसे क्षमा कराई और संसारकी सब माया-ममताका पेंचीला जाल तोड़कर परलोक-सिद्धिके लिए इन्हीं गुणधर मुनि द्वारा योग-दीक्षा ग्रहण करली। जिस प्रकार वृषभसेनाने औषधिदान देकर उसके फलसे सर्वौ-

षधि प्राप्त की उसी तरह और और बुद्धिवानोंको भी उचित है कि वे जिसे जिस दानकी जरूरत समझें उसीके अनुसार सदा हर एककी व्यवस्था करते रहें । दान महान् पवित्र कार्य है और पुण्यका कारण है ।

गुणधर मुनिके द्वारा वृषभसेनाका पवित्र और प्रसिद्ध चरित्र सुनकर बहुतसे भव्यजनोंने जैनधर्मको धारण किया— जिनको जैनधर्मके नाम तकसे चिढ़ थी वे भी उससे प्रेम करने लगे । इन भव्यजनोंको तथा मुझे सती वृषभसेना पवित्र करे—हृदयमें चिरकालसे स्थान किये हुए राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्षा, मत्सरता आदि दुर्गुणोंको, जो आत्म-प्राप्तिसे दूर रखनेवाले हैं, नाश कर उनकी जगह पवित्रताकी प्रकाशमान ज्योतिको जगावे ।

———

१११—शास्त्र-दानकी कथा ।

संसार-समुद्रसे पार करनेवाले जिन भगवान्को नमस्कार कर सुख प्राप्तिकी कारण शास्त्र दानकी कथा लिखी जाती है ।

मैं उस भारती—सरस्वतीको नमस्कार करता हूँ, जिसके प्रगटकर्त्ता जिन भगवान हैं और जो आँखोंके आड़े आनेवाले—पदार्थोंका ज्ञान न होने देनेवाले अज्ञान-पटलको

नाश करनेवाली सलाई है। भावार्थ—नेत्ररोग दूर करनेके लिए जैसे सलाई द्वारा सुरमा लगाया जाता है या कोई सलाई ही ऐसी वस्तुओंकी बनी होती है जिसके द्वारा सब नेत्र-रोग नष्ट हो जाते हैं, उसी तरह अज्ञानरूपी रोगको नष्ट करनेके लिए सरस्वती—जिनवाणी सलाईका काम देने-वाली है। इसकी सहायतासे पदार्थोंका ज्ञान बड़े सहजमें हो जाता है।

उन मुनिराजोंको मैं नमस्कार करता हूँ, जो मोहको जीतनेवाले हैं, रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रसे विभूषित हैं और जिनके चरण-कमल लक्ष्मीके—सब सुखोंके स्थान हैं।

इस प्रकार देव, गुरु और शास्त्रको नमस्कार कर शास्त्र-दान करनेवालेकी कथा संक्षेपमें यहाँ लिखी जाती है। इस-लिए कि इसे पढ़कर सत्पुरुषोंके हृदयमें ज्ञानदानकी पवित्र भावना जाग्रत हो। ज्ञान जीवमात्रका सर्वोत्तम नेत्र है। जिसके यह नेत्र नहीं उसके चर्मनेत्र होने पर भी वह अन्धा है, उसके जीवनका कुछ मूल्य नहीं होता। इसलिए अकि-ञ्चित्कर जीवनको मूल्यवान् बनानेके लिए ज्ञान-दान देना ही चाहिए। यह दान सब दानोंका राजा है। और दानों द्वारा थोड़े समयकी और एक ही जीवनकी ख्वाइशें मिटेंगी, पर ज्ञानदानसे जन्म जन्मकी ख्वाइशें मिटकर वह दाता और वह दान लेनेवाला ये दोनों ही उस अनन्त स्थानको पहुँच

जाते हैं, जहाँ सिवा ज्ञानके कुछ नहीं है—ज्ञान ही जिनका आत्मा हो जाता है। यह हुई परलोककी बात। इसके सिवा ज्ञानदानसे इस लोकमें भी दाताकी निर्मल कीर्ति चारों ओर फैल जाती है। सारा संसार उसकी शत मुखसे बढ़ाई करता है। ऐसे लोग जहाँ जाते हैं वहीं उनका मनमाना आव-आदर होता है। इसलिए ज्ञान-दान भुक्ति और मुक्ति इन दोनोंका ही देनेवाला है। अतः भव्यजनोंको उचित है—उनका कर्त्तव्य है कि वे स्वयं ज्ञान-दान करें और दूसरोंको भी इस पवित्र मार्गमें आगे करें। इस ज्ञान-दानके सम्बन्धमें एक बात ध्यान देनेकी यह है कि यह सम्यक् पनेको लिए हुए हो अर्थात् ऐसा हो कि जिससे किसी जीवका अहित—बुरा न हो, जिसमें किसी तरहका विरोध या दोष न हो। क्योंकि कुछ लोग उसे भी ज्ञान बतलाते हैं, जिसमें जीवोंकी हिंसाको धर्म कहा गया है—धर्मके बहाने जीवोंको अकल्याणका मार्ग बतलाया जाता है और जिसमें कहीं कुछ कहा गया है और कहीं कुछ कहा गया है—जो परस्परका विरोधी है। ऐसा ज्ञान सच्चा ज्ञान नहीं किन्तु मिथ्याज्ञान है। इसलिए सच्चे—सम्यग्ज्ञान-दान देनेकी आवश्यकता है। जीव अनादिसे कर्मोंके वश हुआ अज्ञानी बन कर अपने निज ज्ञानमय शुद्ध स्वरूपको भूल गया है और माया-ममताके पेंचीले जालमें फँस गया है, इसलिए प्रयत्न ऐसा होना चाहिए कि जिससे यह अपना वास्त-

विक स्वरूप प्राप्त कर सके । ऐसी दशामें इसे असुखका रास्ता बतलाना उचित नहीं । सुख प्राप्त करनेका सच्चा प्रयत्न सम्यग्ज्ञान है । इसलिए दान, मान, पूजा-प्रभावना, पठन-पाठन आदिसे इस सम्यग्ज्ञानकी आराधना करना चाहिए । ज्ञान प्राप्त करनेकी पाँच भावनाएँ हैं, उन्हें सदा उपयोगमें लाते रहना चाहिए । वे भावनाएँ ये हैं–वाचना–पवित्र ग्रन्थका स्वयं अध्ययन करना या दूसरे पुरुषोंको कराना, पृच्छना–किसी प्रकारके सन्देहको दूर करनेके लिए परस्परमें पूछ-ताछ करना, अनुप्रेक्षा–शास्त्रोंमें जो विषय पढ़ा हो या सुना हो उसका बार बार मनन-चिन्तन करना, आम्नाय–पाठका शुद्ध पढ़ना या शुद्ध ही पढ़ाना, और धर्मोपदेश–पवित्र धर्मका भव्यजनको उपदेश करना । ये पाँचों भावनाएँ ज्ञान बढ़ानेकी कारण हैं । इसलिए इनके द्वारा सदा अपने ज्ञानकी वृद्धि करते रहना चाहिए । ऐसा करते रहनेसे एक वह दिन आयगा जब कि केवलज्ञान भी प्राप्त हो जायगा । इसीलिए *कहा गया कि ज्ञान सर्वोत्तम दान है* । और यही संसारके जीवमात्रका हित करनेवाला है । पुरा कालमें जिन जिन भव्य जनोंने ज्ञानदान किया आज तो उनके नाम मात्रका उल्लेख करना भी असंभव है, तब उनका चरित लिखना तो दूर रहा । अस्तु, कोण्डेशका चरित ज्ञानदान करनेवालेंमें अधिक प्रसिद्ध है । इसलिए उसीका चरित संक्षेपमे लिखा जाता है ।

जिनधर्मके प्रचार या उपदेशादिसे पवित्र हुए इस भारतवर्षमें कुरुमरी गाँवमें गोविन्द नामका एक ग्वाल रहता

था। उसने एक बार जंगलमें एक वृक्षकी कोटरमें जैनधर्मका एक पवित्र ग्रंथ देखा। उसे वह अपने घर पर ले-आया और रोज रोज उसकी पूजा करने लगा। एक दिन पद्मनंदि नामके महात्माको गोविन्दने जाते देखा। इसने वह ग्रन्थ इन मुनिकी भेंट कर दिया।

यह जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ द्वारा पहले भी मुनियोंने यहाँ भव्यजनोंको उपदेश किया है, इसके पूजा महोत्सव द्वारा जिनधर्मकी प्रभावना की है और अनेक भव्यजनोंको कल्याण मार्गमें लगाकर सच्चे मार्गका प्रकाश किया है। अन्तमें वे इस ग्रंथको इसी वृक्षकी कोटरमें रखकर विहार कर गये हैं। उनके बाद जबसे गोविन्दने इस ग्रन्थको देखा तभीसे वह इसकी भक्ति और श्रद्धासे निरंतर पूजा किया करता था। इसी समय अचानक गोविन्दकी मृत्यु हो गई। वह निदान करके इसी कुरुमरी गाँवमें गाँवके चौधरीके यहाँ लड़का हुआ। इसकी सुन्दरता देखकर लोगोंकी आँखें इस परसे हटती ही न थीं—सब इससे बड़े प्रसन्न होते थे। लोगोंके मनको प्रसन्न करना—उनकी अपने पर प्रीति होना यह सब पुण्यकी महिमा है। इसके पल्लेमें पूर्व जन्मका पुण्य था। इसलिए इसे ये सब बातें सुलभ थीं।

एक दिन इसने उन्हीं पद्मनन्दि मुनिको देखा, जिन्हें कि इसने गोविन्द ग्वालके भवमें पुस्तक भेंट की थी। उन्हें

देखकर इसे जातिस्मरण-ज्ञान हो गया। मुनिको नमस्कार कर तब धर्मप्रेमसे इसने उनसे दीक्षा ग्रहण करली। इसकी प्रसन्नताका कुछ पार न रहा। यह बड़े उच्छाहसे तपस्या करने लगा। दिनों दिन इसके हृदयकी पवित्रता बढ़ती ही गई। आयुके अन्तमें शान्तिसे मृत्यु लाभ कर यह पुण्यके उदयसे कौण्डेश नामका राजा हुआ। कौण्डेश बड़ा वीर था। तेजमें वह सूर्यसे टक्कर लेता था। सुन्दरता उसकी इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि उसे देखकर कामदेवको भी नीचा मुँह कर लेना पड़ता था। उसकी स्वभाव-सिद्ध कान्तिको देखकर तो लज्जाके मारे बेचारे चन्द्रमाका हृदय ही काला पड़ गया। शत्रु उसका नाम सुनकर काँपते थे। वह बड़ा ऐश्वर्यवान् था, भाग्यशाली था, यशस्वी था और सच्चा धर्मज्ञ था। वह अपनी प्रजाका शासन प्रेम और नीतिके साथ करता था। अपनी सन्तानके माफिक ही उसका प्रजा पर प्रेम था। इस प्रकार बड़े ही सुख-शान्तिसे उसका समय बीतता था।

इस तरह कौण्डेशका बहुत समय बीत गया। एक दिन उसे कोई ऐसा कारण मिल गया कि जिससे उसे संसारमें बड़ा वैराग्य हो गया। वह संसारको अस्थिर, विषयभोगोंको रोगके समान, सम्पत्तिको बिजलीकी तरह चंचल–तत्काल देखते देखते नष्ट होनेवाली, शरीरको मांस, मल, रुधिर, आदि महा अपवित्र वस्तुओंसे भरा हुआ, दुःखोंका देनेवाला

घिनौना और नाश होनेवाला जानकर सबसे उदासीन हो गया। इस जैनधर्मके रहस्यको जाननेवाले कौण्डेशके हृदयमें वैराग्य भावनाकी लहरें लहराने लगीं। उसे अब घरमें रहना कैदखानेके समान ज्ञान पड़ने लगा। वह राज्याधिकार पुत्रको सौंप कर जिनमन्दिर गया। वहाँ उसने जिन भगवानकी पूजा की, जो सब सुखोंकी कारण है। इसके बाद निर्ग्रंथ गुरुको नमस्कार कर उनके पास वह दीक्षित हो गया। पूर्व जन्ममें कौण्डेशने जो-दान किया था, उसके फलसे वह थोड़े ही समयमें श्रुतकेवली हो गया। यह श्रुतकेवली होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि ज्ञान-दान तो केवलज्ञानका भी कारण है। जिस प्रकार ज्ञान-दानसे एक ग्वाल श्रुतज्ञानी हुआ उसी तरह अन्य भव्य पुरुषोंको भी ज्ञान-दान देकर अपना आत्महित करना चाहिए। जो भव्यजन संसारके हित करनेवाले इस ज्ञान-दानकी भक्ति पूर्वक पूजा-प्रभावना, पठन-पाठन, लिखने लिखाने, दान-मान, स्तवन-जपन आदि सम्यक्त्वके कारणोंसे आराधना किया करते हैं वे धन, जन, यश, ऐश्वर्य, उत्तम कुल, गोत्र, दीर्घायु आदिका मनचाहा सुख प्राप्त करते हैं। अधिक क्या कहा जाय किन्तु इसी ज्ञानदान द्वारा वे स्वर्ग या मोक्षका सुख भी प्राप्त कर सकेंगे। अठारह दोष रहित जिन भगवानके ज्ञानका मनन-चिन्तन करना उच्च सुखका कारण है।

मैंने जो यह दानकी कथा लिखी है वह आप लोगोंको तथा मुझे केवलज्ञानके प्राप्त करनेकी सहायक हो।

मूलसंघके सरस्वती गच्छमें भट्टारक मल्लिभूषण हुए। वे रत्नत्रयसे युक्त थे। उनके प्रिय शिष्य ब्रह्मचारी नेमिदत्तने यह ज्ञान-दानकी कथा लिखी है। वह निरन्तर आप लोगोंके संसारकी शान्ति करे। अर्थात् जनम, जरा, मरण मिटाकर अनन्त सुखमय मोक्ष प्राप्त कराये।

११२–अभयदानकी कथा।

मोक्षकी प्राप्तिके लिए जिन भगवानके चरणोंको नमस्कार कर अभय-दान द्वारा फल प्राप्त करनेवालेकी कथा जैनग्रन्थोंके अनुसार यहाँ संक्षेपमें लिखी जाती है।

भव्यजनों द्वारा भक्तिसे पूजी जानेवाली सरस्वती श्रुतज्ञानरूपी महा समुद्रके पार पहुँचानेके लिए नावकी तरह मेरी सहायता करे।

परब्रह्म स्वरूप आत्माका निरन्तर ध्यान करनेवाले उन योगियोंको शान्तिके लिए मैं सदा याद करता हूँ, जिनकी केवल भक्तिसे भव्यजन सन्मार्ग लाभ करते हैं–सुखी होते हैं।

इस प्रकार मंगल मय जिन भगवान्, जिनवानी और जैन योगियोंका स्मरण कर मैं वसतिदान–अभयदानकी कथा लिखता हूँ।

धर्म-प्रचार, धर्मोपदेश, धर्म-क्रिया आदि द्वारा पवित्रता लाभ किये हुए इस भारतवर्षमें मालवा बहुत कालसे प्रसिद्ध और सुन्दर देश है। अपनी सर्व श्रेष्ठ सम्पदा और ऐश्वर्यसे वह ऐसा जान पड़ता है मानों सारे संसारकी लक्ष्मी यहीं आकर इकट्ठी हो गई है। वह सुख देनेवाले बगीचों, प्रकृति-सुन्दर पर्वतों और सरोवरोंकी शोभासे स्वर्गके देवों-को भी अत्यन्त प्यारा है। वे यहाँ आकर मनचाहा सुख लाभ करते हैं। यहाँके स्त्री-पुरुष सुन्दरतामें अपनी तुलनामें किसीको न देखते थे। देशके सब लोग खूब सुखी थे, भाग्यशाली थे और पुण्यवान् थे। मालवेके सब शहरोंमें, पर्वतोंमें और सब वनोंमें बड़े बड़े उँचे विशाल और भव्य जिनमन्दिर बने हुए थे। उनके ऊँचे शिखरोंमें लगे हुए सोनेके चमकते कलश बड़े सुन्दर जान पड़ते थे। रातमें तो उनकी शोभा बड़ी ही विलक्षणता धारण करती थी। वे ऐसे जान पड़ते थे मानों स्वर्गोंके महलोंमे दीये जगामगा रहे हों। हवाके झकोरोंसे इधर उधर फड़क रही उन मन्दिरों परकी ध्वजाएँ ऐसी देख पड़ती थीं मानों वे पथिकोंको हाथोंके इशारेसे स्वर्ग जानेका रास्ता बतला रही हैं। उन पवित्र जिन मन्दिरोंके दर्शन मात्रसे पापोंका नाश होता था तब उनके सम्बन्धमें और अधिक क्या लिखें। जिनमें बैठे हुए रत्नत्रय धारी साधु-तपस्वियोंको उपदेश करते हुए देख कर यह कल्पना होती थी कि मानों वे मोक्षके रास्ते हैं।

मालवेमें जिन भगवान्के पवित्र और सुख देनेवाले धर्मका अच्छा प्रचार है। सम्यक्त्वकी जगह जगह चर्चा है। अनेक सम्यक्त्वरत्नके धारण करनेवाले भव्यजनोंसे वह युक्त है। दान-व्रत, पूजा-प्रभावना आदि वहाँ खूब हुआ करते हैं। वहाँके भव्यजनोंका निर्भ्रान्त विश्वास है कि अठारह दोष रहित जिन भगवान ही सच्चे देव हैं। वे ही केवलज्ञानी–सर्वज्ञ हैं। उनकी स्वर्गके देव तक सेवा-पूजा करते हैं। सच्चा धर्म दस लक्षणमय है और उसके प्रगटकर्ता जिनदेव हैं। गुरु परिग्रह रहित और वीतरागी हैं। तत्व वही सच्चा है जिसे जिन् भगवानने उपदेश किया है। वहाँके भव्यजन अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें सदा प्रयत्नवान रहते हैं। वे भगवान् की स्वर्ग-मोक्षका सुख देनेवाली पूजा सदा करते हैं, पात्रों-को भक्तिसे पवित्र दान देते हैं, व्रत, उपवास, शील, संयम-को पालते हैं और आयुके अन्तमें सुख-शान्तिसे मृत्यु लाभ कर सद्गति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार मालवा उस समय धर्मका एक प्रधान केन्द्र बन रहा था, जिस समयकी कि यह कथा है।

मालवेमें तब एक घटगाँव नामका सम्पत्तिशाली शहर था। इस शहरमें देविल नामका एक धनी कुम्हार और एक धर्मिल नामका नाई रहता था। इन दोनोंने मिलकर बाहरके आनेवाले यात्रियोंको ठहरनेके लिए एक धर्मशाला बनवादी। एक दिन देविलने एक मुनिको लाकर इस धर्मशालामें ठहरा

दिया। धर्मिलको जब यह मालूम हुआ तो उसने मुनिको हाथ पकड़ कर बाहर निकाल दिया और वहाँ एक संन्यासीको लाकर ठहरा दिया। सच है, जो दुष्ट हैं, दुराचारी हैं, पापी हैं, उन्हें साधु-सन्त अच्छे नहीं लगते, जैसे उल्लूको सूर्य। धर्मिलने मुनिको निकाल दिया— उनका अपमान किया, पर मुनिने इसका कुछ बुरा न माना। वे जैसे शान्त थे वैसे ही रहे। धर्मशालासे निकल कर वे एक वृक्षके नीचे आकर ठहर गये। रात इन्होंने वहीं पूरी की। डाँस मच्छर वगैरहका इन्हें बहुत कष्ट सहना पड़ा। इन्होंने सब सहा और बड़ी शान्तिसे सहा। सच है, जिनका शरीरसे रत्तीभर मोह नहीं उनके लिए तो कष्ट कोई चीज ही नहीं। सबेरे जब देविल मुनिके दर्शन करनेको आया और उन्हें धर्मशालामें न देख कर एक वृक्षके नीचे बैठे देखा तो उसे धर्मिलकी इस दुष्टता पर बड़ा क्रोध आया। धर्मिलका सामना होने पर उसने उसे फटकारा। देविलकी फटकार धर्मिल न सह सका और बात बहुत बढ़ गई। यहाँतक कि परस्परमें मारामारी हो गई। दोनों ही परस्परमें लड़कर मर मिटे। क्रूर भावोंसे मरकर ये दोनों क्रमसे सूअर और व्याघ्र हुए। देविलका जीव सूअर विन्ध्य पर्वतकी गुहामें रहता था। एक दिन कर्मयोगसे गुप्त और त्रिगुप्तिगुप्त नामके दो मुनिराज अपने विहारसे पृथिवीको पवित्र करते इसी गुहामें आकर ठहरे। उन्हें देखकर इस सूअरको जातिस्मरण हो

गया। इसने उपदेश करते हुए मुनिराजद्वारा धर्मका उपदेश सुन कुछ व्रत ग्रहण किये। व्रत ग्रहण कर यह बहुत सन्तुष्ट हुआ।

इसी समय मनुष्योंकी गन्ध पाकर धर्मिलका जीव व्याघ्र मुनियोंको खानेके लिए झपटा हुआ आया। सूअर उसे दूरहीसे देखकर गुहाके द्वार पर आकर डट गया। इसलिए कि वह भीतर बैठे हुए मुनियोंकी रक्षा कर सके। व्याघ्रने गुहाके भीतर घुसनेके लिए सूअर पर बड़ा जोरका आक्रमण किया। सूअर पहलेहीसे तैयार बैठा था। दोनोंके भावोंमे बड़ा अन्तर था। एकके भाव थे मुनिरक्षा करनेके और दूसरेके उनको खाजानेके। इसलिए देविलका जीव सूअर तो मुनिरक्षा रूप पवित्र भावोंसे मर कर सौधर्म स्वर्गमें अनेक ऋद्धियोंका धारी देव हुआ। जिसके शरीरकी चमकती हुई कान्ति गाढ़से गाढ़ अन्धकारको नाश करनेवाली है, जिसकी रूप-सुन्दरता लोगोंके मनको देखने मात्रसे मोह लेती है, जो स्वर्गीय दिव्य वस्त्रों और मुकुट, कुण्डल, हार, आदि बहुमूल्य भूषणोंको पहरता है, अपनी स्वभाव-सुन्दरतासे जो कल्पवृक्षोंको नीचा दिखाता है, जो अणिमादि ऋद्धि-सिद्धियोंका धारक है, अवधिज्ञानी है, पुण्यके उदयसे जिसे सब दिव्य सुख प्राप्त है, अनेक सुन्दर सुन्दर देव-कन्याएँ और देवगण जिसकी सेवामें सदा उपस्थित रहते हैं, जो महा वैभवशाली है, महा सुखी है, स्वर्गोंके देवों द्वारा जिनके चरण पूजे जाते हैं ऐसे जिन भगवान्की, जिन प्रतिमाओंकी और कृत्रिम तथा

अकृत्तिम जिन मन्दिरोंकी जो सदा भक्ति और प्रेमसे पूजा करता है, दुर्गतिके दुःखोंको नाश करनेवाले तीर्थोंकी यात्रा करता है, महा मुनियोंकी भक्ति करता है और धर्मात्माओंके साथ वात्सल्यभाव रखता है। ऐसी उसकी सुखमय स्थिति है। जिस प्रकार यह सूअर धर्मके प्रभावसे उक्त प्रकार सुखका भोगनेवाला हुआ उसी प्रकार जो और भव्यजन इस पवित्र धर्मका पालन करेंगे वे भी उसके प्रभावसे सब सुख-सम्पत्ति लाभ करेंगे। समझिए, संसारमें जो-जो धन-दौलत, स्त्री, पुत्र, सुख, ऐश्वर्य आदि अच्छी अच्छी आनन्द-भोगकी वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, उनका कारण एक मात्र धर्म है। इसलिए सुखकी चाह करनेवाले भव्यजनोंको जिन-पूजा, पात्र-दान, व्रत, उपवास, शील, संयम आदि धर्मका निरंतर पवित्र भावोंसे सेवन करना चाहिए।

देविल तो पुण्यके प्रभावसे स्वर्ग गया और धर्मिलने मुनियोंको खाजाना चाहा था, इसलिए वह पापके फलसे मरकर नरक गया। इस प्रकार पुण्य और पापका फल जानकर भव्यजनोंको उचित है कि वे पुण्यके कारण पवित्र जैन धर्ममें अपनी बुद्धिको दृढ़ करें।

इस प्रकार परम सुख—मोक्षके कारण, पापोंका नाश करनेवाले और पात्र-भेदसे विशेष आदर योग्य इस पवित्र अभयदानकी कथा अन्य जैनशास्त्रोंके अनुसार संक्षेपमें यहाँ लिखी गई। यह सत्कथा संसारमें प्रसिद्ध होकर सबका हित करे।

११३–करकण्डु राजाकी कथा ।

संसार द्वारा पूजे जानेवाले जिन भगवान्को नमस्कार करकरकण्डुराजाका सुखमय पवित्र चरित लिखा जाता है ।

जिसने पहले केवल एक कमलसे जिन भगवान्की पूजा कर जो महान फल प्राप्त किया, उसका चरित जैसा और ग्रन्थोंमें पुराने ऋषियोंने लिखा है उसे देख कर या उनकी कृपासे उसका थोड़ेमें मैं सार लिखता हूँ।

नील और महानील तेरपुरके राजा थे । तेरपुर कुन्तल देशकी राजधानी थी । यहाँ वसुमित्र नामका एक जिनभक्त सेठ रहता था । सेठानी वसुमती उसकी स्त्री थी । धर्मसे उसे बड़ा प्रेम था । इन सेठ सेठानीके यहाँ धनदत्त नामका एक ग्वाल नौकर था । वह एक दिन गौएँ चरानेको जंगलमें गया हुआ था । एक तालावमें इसने कोई हजार पखुरियों वाला एक बहुत सुन्दर कमल देखा । उस पर यह मुग्ध हो गया । तब तालावमें कूदकर इसने उस कमलको तोड़ लिया । उस समय नागकुमारीने इससे कहा–धनदत्त, तूने मेरा कमल तोड़ा तो है, पर इतना तू ध्यानमें रखना कि यह उस महापुरुषकी भेंट किया जाय, जो संसारमें सबसे श्रेष्ठ हो । नागकुमारीका कहा मानकर धनदत्त कमल लिये

अपने सेठके पास गया और उनसे सब हाल इसने कहा। वसुमित्रने तब राजाके पास जाकर उनसे यह सब हाल कहा। सबसे श्रेष्ठ कौन है और यह कमल किसकी भेंट चढ़ाया जाय, यह किसीकी समझमें न आया। तब सब विचार कर चले कि इसका हाल चलकर मुनिराजसे कहें। संसारमें सबसे श्रेष्ठ कौन है, इस बातका पता वे अपनेको देंगे। यह निश्चय कर राजा, सेठ, ग्वाल तथा और भी बहुतसे लोग सहस्र-कूट नामके जिन मन्दिरमें गये। वहाँ सुगुप्त मुनिराज ठहरे हुए थे। उनसे राजाने पूछा— हे करुणाके समुद्र, हे पवित्र धर्मके रहस्यको समझनेवाले, कृपाकर बतलाइए कि संसारमें सबसे श्रेष्ठ कौन है, जिन्हें यह पवित्र कमल भेंट किया जाय। उत्तरमें मुनिराजने कहा— राजन्, सारे संसारके स्वामी, राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित जिन भगवान् सर्वोत्कृष्ट हैं, क्योंकि संसार उन्हींकी पूजा करता है। सुनकर सबको बड़ा सन्तोष हुआ। जिसे वे चाहते थे वह अनायास मिल गया। उसी समय वे सब भगवान्के सामने आये। धनदत्त ग्वालने तब भगवा-न्को नमस्कार कर कहा—हे संसारमें सबसे श्रेष्ठ गिनेजाने वाले, आपका यह कमल मैं आपकी भेंट करता हूँ। इसे आप स्वीकार कर मेरी आशाको पूरी करें। यह कहकर वह ग्वाल उस कमलको भगवान्के पाँवों पर चढ़ाकर चला गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पवित्र कर्म मूर्ख लोगोंको भी सुख देनेवाला होता है। इसी कथासे सम्बन्ध रखनेवाली एक दूसरी कथा यहाँ लिखी जाती है। उसे सुनिए—

स्रावस्तीके रहनेवाले सागरदत्त सेठकी स्त्री नागदत्ता बड़ी पापिनी थी। उसका चाल-चलन अच्छा न था। एक सोमशर्मा ब्राह्मणके साथ उसका अनुचित बरताव था। सच है, कोई कोई स्त्रियाँ तो बड़ी दुष्ट और कुल-कलंकिनी हुआ करती हैं। उन्हें अपने कुलकी मान-मर्यादाकी कुछ लाज-शरम नहीं रहती। अपने उज्ज्वल कुलरूपी मन्दिरको मलिन करनेके लिए वे काले धुएँके समान होती हैं। बेचारा सेठ सरल था और धर्मात्मा था। इसलिए अपनी स्त्रीका ऐसा दुराचार देखकर उसे बड़ा वैराग्य हुआ। उसने फिर संसारका भ्रमण मिटानेवाली जिनदीक्षा ग्रहण करली। वह बहुत ही कंटाल गया था। सागरदत्त तपस्या कर स्वर्ग गया। स्वर्गायु पूरी कर वह अंगदेशकी राजधानी चम्पा नगरीमें वसुपाल राजाकी रानी वसुमतीके दन्तिवाहन नामका राजकुमार हुआ। वसुपाल सुखसे राज करते रहे।

इधर वह सोमशर्मा मरकर पापके फलसे पहले तो बहुत समय तक दुर्गतियोंमें घूमा किया। एकसे एक दुःसह कष्ट उसे सहना पड़ा। अन्तमें वह कलिंग देशके जंगलमें नर्मदातिलक नामका हाथी हुआ। और ठीक ही है पापसे जीवोंको दुर्गतियोंके दुःख भोगना ही पड़ते हैं। कर्मयोगसे इस हाथीको किसीने पकड़ लाकर वसुपालकी भेंट किया।

उधर इस हाथीके पूर्वभवके जीव सोमशर्माकी स्त्री नागदत्ताने भी पापके उदयसे दुर्गतियोंमें अनेक कष्ट सहे। अन्तमें वह तामलि-

सनगरमें भी वसुदत्त सेठकी स्त्री नागदत्ता हुई। उस समय इसके धनवती और धनश्री नामकी दो लडकियाँ हुई। ये दोनों ही बहिनें बड़ी सुन्दर थीं। स्वर्गकुमारियाँ इनका रूप देखकर मन ही मन बड़ी कुढ़ा करती थीं। इनमें धनवतीका ब्याह नागानन्द पुरके रहनेवाले वनपाल नामके सेठ पुत्रके साथ हुआ और छोटी बहिन धनश्री कोशाम्बीके वसुमित्रकी स्त्री हुई। वसुमित्र जैनी था। इसलिए उसके सम्बन्धसे धनश्रीको कई बार जैनधर्मके उपदेश सुननेका मौका मिला। वह उपदेश उसे बहुत रुचिकर हुआ और फिर वह भी श्राविका हो गई। लड़कीके प्रेमसे नागदत्ता एक बार धनश्रीके यहाँ गई। धनश्रीने अपनी माका खूब आदर-सत्कार किया और उसे कई दिनोंतक अच्छी तरह अपने यहीं रक्खा। नागदत्ता धनश्रीके यहाँ कई दिनोंतक रही, पर वह न तो कभी मन्दिर गई और न कभी उसने धर्मकी कुछ चर्चा की। धनश्री, अपनी माको धर्मसे विमुख देखकर एक दिन उसे मुनिराजके पास ले गई और समझा कर उसे मुनिराज द्वारा पाँच अणुव्रत दिलवा दिये। एक बार इसी तरह नागदत्ताको अपनी बड़ी लड़की धनवतीके यहाँ जाना पड़ा। धनवती बुद्धधर्मको मानती थी। सो उसने इसे बुद्धधर्मकी अनुयायिनी बना लिया। इस तरह नागदत्ताने कोई तीन बार जैनधर्मको छोड़ा। अन्तमें उसने फिर जैनधर्म ग्रहण किया और अबकी बार वह उस पर रही भी बहुत दृढ़। जन्म भर फिर

उसने जैनधर्मको निबाहा। आयुके अन्त मरकर वह कौशाम्बीके राजा वसुपालकी रानी वसुमतीके लड़की हुई। पर भाग्यसे जिस दिन वह पैदा हुई, वह दिन बहुत खराब था। इसलिए राजाने उसे एक सन्दूकमें रखकर और उसके नामकी एक अँगूठी उसकी उँगलीमें पहरा कर उस सन्दूकको यमुनामें छुड़वा दिया। सन्दूक बहती हुई कुसुमपुरके एक पद्महृद नामके तालावमें पहुँच गई। इस तालावमें गंगा-यमुनाके प्रवाहका एक छोटासा नाला बहकर आता था। उसी नालेमें पडकर यह संदूक तालावमें आगई। इसे किसी कुसुमदत्त नामके मालीने देखा। वह निकाल कर उसे अपने घर लिवा लाया। संदूकको खोलकर उसने देखा तो उसमेंसे यह लड़की निकली। कुसुमदत्तके कोई संतान न थी। इसलिए वह इसे पाकर बहुत खुश हुआ। अपनी स्त्रीको बुलाकर उसने इसे उसकी गोदमें रख दिया और कहा-प्रिये, भाग्यसे अपनेको यह लड़की अनायास मिल गई। इससे अपनेको बड़ी खुशी मनानी चाहिए। मुझे विश्वास है कि तुम भी इस अमूल्य संधिसे बहुत प्रसन्न होगी। प्रिये, यह मुझे पद्महृदमें मिली है। हम इसका नाम भी पद्मावती ही क्यों न रक्खें? क्यों, नाम तो बड़ा ही सुन्दर है! मालिन जिन्दगी भरसे अपनी खाली गोदको आज एकाएक भरी पा बहुत आनन्दित हुई। वह आनन्द इतना था कि उसके हृदयमें भी न समा सका। यही कारण था कि उसका रोम रोम पुलकित हो रहा था। उसने बड़े प्रेमसे इसे छाती लगाया।

पद्मावती इस समय कोई तेरह चौदह वर्षकी है । उसके सुकोमल, सुगन्धित, और सुन्दर यौवनरूपी फूलकी कलियाँ कुछ कुछ खिलने लगी हैं । ब्रह्माने उसके शरीरको लावण्य सुधा-धारासे सींचना शुरू कर दिया है । वह अब थोड़े ही दिनोंमें स्वर्गकी देव कुमारियोंसे भी अधिक सुन्दरता लाभ कर ब्रह्माको अपनी सृष्टिका अभिमानी बनावेगी । लोग स्वर्गीय सुन्दरताकी बड़ी प्रशंसा करते हैं । ब्रह्माको उनकी इस थोथी तारीफसे बड़ी डाह है । इसलिए कि इससे उसकी रचना सुन्दरतामें कमी आती है और उस कमीसे इसे नीचा देखना पड़ता है । ब्रह्माने सर्व साधारणके इस भ्रमको मिटानेके लिए, कि जो कुछ सुन्दरता है वह स्वर्गहीमें है, मानों पद्मावतीको उत्पन्न किया है । इसके सिवा इन लोगोंकी झूठी प्रशंसासे जो अमराङ्गनाएँ अभिमानके ऊँचे पर्वत पर चढ़कर सारे संसारको अपनी सुन्दरताकी तुलनामें ना-कुछ चीज समझ बैठी हैं, उनके इस गर्वको चूर चूर करना है। इन्हीं सब अभिमान, ईर्षा, मत्सर आदिके वश हो ब्रह्मा पद्मावतीको त्रिभुवन-सुन्दर बनानेमें विशेष यत्नशील है । इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि पद्मावती कुछ दिनों बाद तो ब्रह्माकी सब तरह आशा पूरी करेगी ही। पर इस समय भी इसका रूप-सौन्दर्य इतना मनोमधुर है कि उसे देखते ही रहनेकी इच्छा होती है । प्रयत्न करने पर भी आँखें उस ओरसे हटना पसन्द नहीं करतीं । अस्तु ।

पद्मावतीकी इस अनिंद्य सुन्दरताका समाचार किसीने चम्पाके राजा दन्तिवाहनको कह दिया । दन्तिवाहन इसकी सुन्दरताकी तारीफ सुनकर कुसुमपुर आये। पद्मावतीको- एक मालीकी लड़कीको इतनी सुन्दरी, इतनी तेजस्विनी देख कर उसके विषय उन्हें कुछ सन्देह हुआ। उन्होंने तब उस मालीको बुलाकर पूछा-सच कह यह लड़की तेरी ही है क्या? और यदि तेरी नहीं तो तू इसे कहाँसे और कैसे लाया? माली डर गया। उससे राजाके सवालोंका कुछ उत्तर देते न बना। सिर्फ उसने इतना ही किया कि जिस सन्दूकमें पद्मावती निकली थी, उसे राजाके सामने ला रख दिया और कह दिया कि महाराज, मुझे अधिक तो कुछ मालूम नहीं, पर यह लड़की इस सन्दूकमेंसे निकली थी। मेरे कोई लड़का-बाला न होनेसे इसे मैंने अपने यहाँ रख लिया । राजाने सन्दूक खोलकर देखा तो उसमें एक अँगूठी निकली। उस पर कुछ इबारत खुदी हुई थी। उसे पढ़कर राजाको पद्मावतीके सम्बन्धमें कोई सन्देह करनेकी जगह न रह गई । जैसे वे राजपुत्र हैं वैसे ही पद्मावती भी एक राजघरानेकी राजकन्या है। दन्तिवाहन तब उसके साथ ब्याह कर उसे चम्पामें ले आये और सुखसे अपना समय बिताने लगे।

दन्तिवाहनके पिता वसुपालने कुछ वर्षोंतक और राज्य किया। एक दिन उन्हें अपने सिर पर यमदूत सफेद केश देख पड़ा । उसे देखकर इन्हें संसार, शरीर, विषय-भोगा-

दिसे बड़ा वैराग्य हुआ। वे अपने राज्यका सब भार दन्तिवाहनको सौंप कर जिनमन्दिर गये। वहाँ उन्होंने भगवान्‌का अभिषेक किया, पूजन की, दान किया, गरीबोंको सहायता दी। उस समय उन्हें जो उचित कार्य जान पड़ा उसे उन्होंने खुले हाथों किया। बाद वे वहीं एक मुनिराज द्वारा दीक्षा ले योगी हो गये। उन्होंने योगदशामें खूब तपस्या की। अन्तमें समाधिसे शरीर छोड़कर वे स्वर्ग गये।

दन्तिवाहन अब राजा हुए। प्रजाका शासन ये भी अपने पिताकी भाँति प्रेमके साथ करते थे। धर्म पर इनकी भी पूरी श्रद्धा थी। पद्मावतीसी त्रिलोक-सुन्दरीको पा ये अपनेको कृतार्थ मानते थे। दोनों दम्पती सदा बड़े हँस-मुख और प्रसन्न रहते थे। सुखकी इन्हें चाह न थी, पर सुख ही इनका गुलाम बन रहा था।

एक दिन सती पद्मावतीने स्वप्नमें सिंह, हाथी और सूरजको देखा। सबेरे उठकर उसने अपने प्राणनाथसे इस स्वप्नका हाल कहा। दन्तिवाहनने उसके फलके सम्बन्धमें कहा—प्रिये, स्वप्न तुमने बड़ा ही सुन्दर देखा है। तुम्हें एक पुत्ररत्नकी प्राप्ति होगी। सिंहका देखना जनाता है, कि वह बड़ा ही प्रतापी होगा। हाथीके देखनेसे सूचित होता है कि वह सबसे प्रधान क्षत्रिय वीर होगा और सूरज यह कहता है कि वह प्रजारूपी कमल-वनका प्रफुल्लित करनेवाला होगा—उसके शासनसे प्रजा बड़ी सन्तुष्ट रहेगी। अपने स्वामी

द्वारा स्वप्नका फल सुनकर पद्मावतीको अत्यन्त प्रसन्नता हुई। और सच है, पुत्र प्राप्तिसे किसे प्रसन्नता नहीं होती।

पाठकोंको तेरपुरके रहनेवाले धनदत्त ग्वालका स्मरण होगा, जिसने कि एक हजार पखुरियोंका कमल भगवान्को चढ़ाकर बड़ा पुण्यबन्ध किया था। उसीकी कथा फिर लिखी जाती है। धनदत्तको तैरनेका बड़ा शौक था। वह रोज रोज जाकर एक तालावमें तैरा करता था। एक दिन वह तैरनेको गया हुआ था। कुछ होनहार ही ऐसा था जो वह तैरता तैरता एक बार घनी काईमें बिंध गया। बहुत यत्न किया पर उससे निकलते न बना। आखिर बेचारा मर ही गया। मरकर वह जिनपूजाके पुण्यसे इसी सती पद्मावतीके गर्भमें आया।

उधर वसुमित्र सेठको जब इसके मरनेका हाल ज्ञात हुआ तो उसे बड़ा दुःख हुआ। सेठ उसी समय तालाव पर आया और धनदत्तकी लाशको निकलवा कर उसका अग्नि-संस्कार किया। संसारकी यह क्षणभंगुर दशा देखकर वसुमित्रको बड़ा वैराग्य हुआ। वह सुगुप्ति मुनिराज द्वारा योगव्रत लेकर मुनि हो गया। अन्तमें वह तपस्या कर पुण्यके उदयसे स्वर्ग गया।

पद्मावतीके गर्भमें धनदत्तके आने पर उसे दोहला उत्पन्न हुआ। उसकी इच्छा हुई कि मेघ बरसने लगें और बिजलियाँ चमकने लगें। ऐसे समय पुरुष-वेषमें हाथमें अंकुश लिये मैं

स्वयं हाथी पर सवार होऊँ और मेरे साथ स्वामी भी बैठें। फिर हम दोनों घूमनेके लिए शहर बाहर निकलें । पद्मावतीने अपनी यह इच्छा दन्तिवाहनसे जाहिर की। दन्तिवाहनने उसकी इच्छाके अनुसार अपने मित्र वायुवेग विद्याधर द्वारा मायामयी कृत्रिम मेघकी काली काली घटाओं द्वारा आकाश आच्छादित करवाया। कृत्रिम बिजलियाँ भी उन मेघोंमें चमकने लगीं। राजा-रानी इस समय उस नर्मदा-तिलक नामके हाथी पर, जो सोमशर्माका जीव था और जिसे किसीने वसुपालकी भेंट किया था, चढ़कर बड़े ठाट-बाटसे नौकर-चाकरोंको साथ लिये शहर बाहर हुए। पद्मावतीका यह दोहला सचमुच ही बड़ा ही आश्चर्य जनक था। जो हो, जब ये शहर बाहर होकर थोड़ी ही दूर गये होंगे कि कर्मयोगसे हाथी उन्मत्त हो गया । अंकुश वगैरहकी वह कुछ परवा न कर आगे चलनेवाले लोगोंकी भीड़को चीरता हुआ भाग निकला। रास्तेमें एक घने वृक्षोंकी वनीमें होकर वह भागा जा रहा था। सो दन्तिवाहनको उस समय कुछ ऐसी बुद्धि सूझ गई, कि जिससे वे एक वृक्षकी डालीको पकड़ कर लटक गये । हाथी आगे भागा ही चला गया । सच है, पुण्य कष्ट समयमें जीवोंको बचा लेता है । बेचारे दन्तिवाहन उदास मुँह और रोते रोते अपनी राजधानीमें आये। उन्हें इस बातका अत्यन्त दुःख हुआ कि गर्भिणी प्रियाकी न जाने क्या

दशा हुई होगी। दन्तिवाहनकी यह दशा देखकर समझदार लोगोंने समझा बुझाकर उन्हें शान्त किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सत्पुरुषोंके बचन चन्दनसे कहीं बढ़कर शीतल होते हैं और उनके द्वारा दुखियोंके हृदयका दुःख-सन्ताप बहुत जल्दी ठंडा पड़ जाता है।

उधर हाथी पद्मावतीको लिये भागा ही चला गया। अनेक जंगलों और गाँवोंको लाँघकर वह एक तालाव पर पहुँचा। वह बहुत थक गया था। इसलिए थकावट मिटानेको वह सीधा उस तालावमें घुस गया। पद्मावती सहित तालावमें उसे घुसता देख जलदेवीने झटसे पद्मावतीको हाथी परसे उतार कर तालावके किनारे पर रख दिया। आफतकी मारी बेचारी पद्मावती किनारे पर बैठी बैठी रोने लगी। वह क्या करे, कहाँ जाय, इस विषयमें उसका चित्त बिलकुल धीर न धरता था। सिवा रोनेके उसे कुछ न सूझता था। इसी समय एक माली इस ओर होकर अपने घर जा रहा था। उसने इसे रोते हुए देखा। इसके वेष-भूषा और चेहरेके रँग-ढंगसे इसे किसी उच्च घरानेकी समझ उसे इस पर बड़ी दया आई। उसने इसके पास आकर कहा—बहिन, जान पड़ता है तुम पर कोई भारी दुःख आकर पड़ा है। यदि तुम कोई हर्ज न समझो तो मेरे घर चलो। तुम्हें वहाँ कोई कष्ट न होगा। मेरा घर यहाँसे थोड़ी ही दूर पर हस्तिनापुरमें है और मैं जातिका माली हूँ। पद्मावती उसे दयावान् देख उसके साथ होली। इसके सिवा

उसके लिए दूसरी गति भी न थी। उस मालीने पद्मावती-को घर लेजाकर बड़े आदर-सत्कारके साथ रक्खा। वह उसे अपनी बहिनके बराबर समझता था। इसका स्वभाव बहुत अच्छा था। ठीक है, कोई कोई साधारण पुरुष भी बड़े ही सज्जन होते हैं। इसे सरल और सज्जन होने पर भी इसकी स्त्री बड़ी कर्कशा थी। उसे दूसरे आदमीका अपने घर रहना अच्छा ही न लगता था। कोई अपने घरमें पाहुना आया कि उस पर सदा मुँह चढ़ाये रहना, उससे बोलना-चालना नहीं, आदि उसके बुरे स्वभावकी खास बातें थीं। पद्मावतीके साथ भी इसका यही बरताव रहा। एक दिन भाग्यसे वह माली किसी कामके लिए दूसरे गाँव चला गया। पीछेसे इसकी स्त्रीकी बन पड़ी। उसने पद्मावतीको गाली-गलौज देकर और बुरा भला कह घर बाहर निकाल दिया। बेचारी पद्मावती अपने कर्मोंको कोसती यहाँसे चलदी। वह एक घोर मसानमें पहुँची। प्रसूतिके दिन आ लगे थे। इस पर चिन्ता और दुःखके मारे इसे चैन नहीं था। इसने यहीं पर एक पुण्य-वान् पुत्र जना। उसके हाथ, पाँव, ललाट वगैरहमें ऐसे सब चिह्न थे, जो बड़ेसे बड़े पुरुषके होने चाहिए। जो हो, इस समय तो उसकी दशा एक भिखारीसे भी बढ़कर थी। पर भाग्य कहीं छुपा नहीं रहता। पुण्यवान् महात्मा पुरुष कहीं हो, कैसी अवस्थामें हो, पुण्य वहीं पहुँच कर उसकी सेवा करता है। पर होना चाहिए पदरमें पुण्य। पुण्य बिना संसारमें

जन्म निस्सार है। जिस समय पद्मावतीने पुत्र जना उसी समय पुत्रके पुण्यका भेजा हुआ एक मनुष्य चाण्डालके वेषमें मसानमें पद्मावतीके पास आया और उसे विनयसे सिर झुका कर बोला–मा, अब चिन्ता न करो। तुम्हारे लड़केका दास आगया है। वह इसकी सब तरह जी-जानसे रक्षा करेगा। किसी तरहका कोई कष्ट इसे न होने देगा। जहाँ इस बच्चेका पसीना गिरेगा वहाँ यह अपना खून गिरावेगा। आप मेरी मालकिनी हैं। सब भार मुझ पर छोड़ आप निश्चिन्त होइए। पद्मावतीने ऐसे कष्टके समय पुत्रकी रक्षा करनेवालेको पाकर अपने भाग्यको सराहा, पर फिर भी अपना सब सन्देह दूर हो, इसलिए उससे कहा–भाई, तुमने ऐसे निराधार समयमें आकर मेरा जो उपकार करना विचारा है, तुम्हारे इस ऋणसे मैं कभी मुक्त नहीं हो सकती। मुझे तुमसे दयावानोंका अत्यन्त उपकार मानना चाहिए। अस्तु, इस समय सिवा इसके मैं और क्या अधिक कह सकती हूँ कि जैसा तुमने मेरा भला किया, वैसा भगवान् तुम्हारा भी भला करे। भाई, मेरी इच्छा तुम्हारा विशेष परिचय पानेकी है। इस लिए कि तुम्हारा पहरावा और तुम्हारे चेहरे परकी तेजस्विता देखकर मुझे बड़ा ही सन्देह हो रहा है। अत एव यदि तुम मुझसे अपना परिचय देनेमें कोई हानि न समझो तो कृपाकर कहो। वह आगत पुरुष पद्मावतीसे बोला–मा, मुझ अभागेकी कथा तुम सुनोगी। अच्छा तो

सुनो, मैं सुनाता हूँ । विजयार्द्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें विद्युत्प्रभ नामका एक शहर है । उसके राजाका नाम भी विद्युत्प्रभ है । विद्युत्प्रभकी रानीका नाम विद्युल्लेखा है । ये दोनों राजा रानी ही मुझ अभागेके मातापिता है । मेरा नाम बालदेव है । एक दिन मैं अपनी प्रिया कनकमालाके साथ विमानमें बैठा हुआ दक्षिणकी ओर जा रहा था । रास्तेमें मुझे रामगिरि पर्वत पड़ा । उस पर मेरा विमान अटक गया । मैंने नीचे नजर डालकर देखा तो मुझे एक मुनि देख पड़े । उन पर मुझे बड़ा गुस्सा आया । मैंने तब कुछ आगा-पीछा न सोचकर उन मुनिको बहुत कष्ट दिया, उन पर घोर उपसर्ग किया । उनके तपके प्रभावसे जिनभक्त पद्मावती देवीका आसन हिला और वह उसी समय वहाँ आई । उसने मुनिका उपसर्ग दूर किया । सच है, साधुओं पर किये उपद्रवको सम्यग्दृष्टि कभी नहीं सह सकते । मा, उस समय देवीने गुस्सा होकर मेरी सब विद्याएँ नष्ट करदीं । मेरा सब अभिमान चूर हुआ । मैं एक मद रहित हाथीकी तरह निःसत्व–तेज रहित हो गया । मैं अपनी इस दशा पर बहुत पछताया । मैं रोकर देवीसे बोला—प्यारी मा, मैं आपका अज्ञानी बालक हूँ । मैंने जो कुछ यह बुरा काम किया वह सब मूर्खता और अज्ञानसे न समझ कर ही किया है । आप मुझे इसके लिए क्षमा करें और मेरी विद्याएँ पीछी मुझे लौटादें । इसमें कोई सन्देह नहीं कि मेरी यह दीनता भरी पुकार व्यर्थ न गई । देवीने शान्त होकर मुझे क्षमा

किया और वह बोली–मैं तुझे तेरी विद्याएँ लौटा देती, पर मुझे तुझसे एक महान् काम करवाना है। इस-लिए मैं कहती हूँ वह कर। समय पाकर सब विद्याएँ तुझे अपने आप सिद्ध हो जायँगीं। मैं हाथ जोड़े हुए उसके मुँहकी ओर देखने लगा। वह बोली–"हस्तिनापुरके समानमें एक विपत्तिकी मारी स्त्रीके गर्भसे एक पुण्यवान् और तेजस्वी पुत्ररत्न जन्म लेगा। उस समय पहुँच कर तू उसकी सावधानीसे रक्षा करना और अपने घर लाकर उसे पालना-पोसना। उसके राज्य समय तुझे सब विद्याएँ सिद्ध होंगी।" मा, उसकी आज्ञासे मैं तभीसे यहाँ इस वेषमें रहता हूँ। इसलिए कि मुझे कोई पहिचान न सके। मा, यही मुझ अभागेकी कथा है। आज मैं आपकी दयासे कृतार्थ हुआ। पद्मावती विद्याधरका हाल सुनकर दुःखी जरूर हुई, पर उसे अपने पुत्रका रक्षक मिल गया, इससे कुछ सन्तोष भी हुआ। उसने तब अपने प्रिय बच्चेको विद्याधरके हाथमें रखकर कहा–भाई, इसकी साव-धानीसे रक्षा करना। अब इसके तुम ही सब प्रकार कर्त्ता-धर्त्ता हो। मुझे विश्वास है कि तुम इसे अपना ही प्यारा बच्चा समझोगे। उसने फिर पुत्रके प्रकाशमान चेहरे पर प्रेम-भरी दृष्टि डालकर पुत्र वियोगसे भर आये हृदयसे कहा–मेरे लाल, तुम पुण्यवान् होकर भी उस अभागिनी माके पुत्र हुए हो, जो जन्मते ही तुम्हें छोड़कर बिछुड़ना चाहती है। लाल, मैं तो अभागिनी थी ही, पर तुम भी ऐसे अभागे

हुए जो अपनी माके प्रेममय हृदयका कुछ भी पता न पा सके और न पाओगे ही। मुझे इस बातका बड़ा खेद रहेगा कि जिस पुत्रने अपनी प्रेम-प्रतिमा माके पवित्र हृदय द्वारा प्रेमका पाठ न सीखा वह दूसरोंके साथ किस तरह प्रेम करेगा ? कैसे दूसरोंके साथ प्रेमका बरताव कर उनका प्रेम-पात्र बनेगा। जो हो, तब भी मुझे इस बातकी खुशी है कि तुम एक दूसरी माके पास जाते हो, और वह भी आखिर है तो मा ही। जाओ लाल जाओ, सुखसे रहना, परमात्मा तुम्हारा मंगल करे। इस प्रकार प्रेममय पवित्र आषिश देकर पद्मावती कड़ा हृदय कर चलदी। बालदेवने उस सुन्दर और तेजपुंज बच्चेको अपने घर ले आकर अपनी प्रिया कनकमालाकी गोदमें रख दिया और कहा—प्रिये, भाग्यसे मिले इस निधिको लो। कनकमाला उस बाल-चन्द्रमासे अपनी गोदको भरी देखकर फूली न समाई। वह उसे जितना ही देखने लगी उसका प्रेम क्षणक्षणमें अनन्त गुणा बढ़ता ही गया। कनकमालाका जितना प्रेम होना संभव न था, उतना इस नये बालक पर उसका प्रेम हो गया, सचमुच यह आश्चर्य है। अथवा नई वस्तु स्वभावहासे प्रिय होती है और फिर यदि वह अपनी हो जाय तब तो उस पर होनेवाले प्रेमके सम्बन्धमें कहना ही क्या। और वह प्रेम, कि जिसकी प्राप्तिके लिए आत्मा सदा तड़फा ही करता है। और वह पुत्र जैसी परम प्रिय वस्तु ! तब पढ़नेवाले कनक-

मालाके प्रेममय हृदयका एक बार अवगाहन करके देखें कि एक नई मा जिस बच्चे पर इतना प्रेम करती है तब जिसने उसे जन्म दिया उसके प्रेमका क्या कुछ अन्त है–सीमा है! नहीं। माका अपने बच्चे पर जो प्रेम होता है उसकी तुलना किसी दृष्टान्त या उदाहरण द्वारा नहीं की जा सकती और जो करते हैं वे माके अनन्त प्रेमको कम करनेका यत्न करते हैं। कनकमाला उसे पाकर बहुत प्रसन्न हुई। उसने उसका नाम करकण्डु रक्खा। इसलिए कि उस बच्चेके हाथमें उसे खुजली देख पड़ी थी। कनकमालाने उसका लालन-पालन करनेमें अपने खास बच्चेसे कोई कमी न की। सच है, पुण्यके उदयसे कष्ट समयमें भी जीवोंको सुख-सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है। इसलिए भव्यजनोंको जिन पूजा, पात्र-दान, व्रत, उपवास, शील, संयम आदि पुण्यकर्मों द्वारा सदा शुभ कर्म करते रहना चाहिए।

पद्मावती तब करकण्डुसे जुदा होकर गान्धारी नामकी क्षुल्लकिनीके पास आई। उसे उसने भक्तिसे प्रणाम किया और आज्ञा पा उसीके पास वह बैठ गई। थोड़ी देर बाद पद्मावतीने उस क्षुल्लकिनीसे अपना सब हाल कहा और जिनदीक्षा लेनेकी इच्छा प्रगट की। क्षुल्लकिनी उसे तब समाधिगुप्त मुनिके पास लिवा गई। पद्मावतीने मुनिराजको नमस्कार कर उनसे भी अपनी इच्छा कह सुनाई। उत्तरमें मुनिने कहा–बहिन, तू साध्वी होना चाहती है, तेरा यह विचार

बहुत अच्छा है पर यह समय तेरी दीक्षाके लिए उपयुक्त नहीं है । कारण तूने पहले जन्ममें नागदत्ताकी पर्यायमें जिन-व्रतको तीन बार ग्रहण कर तीनों बार ही छोड़ दिया था और फिर चौथी बार ग्रहण कर तू उसके फलसे राजकुमारी हुई । तूने तीन बार व्रत छोड़ा उससे तुझे तीनों बार ही दुःख उठाना पड़ा। तीसरी बारका कर्म कुछ और बचा है । वह जब शान्त हो जाय और इस बीचमें तेरे पुत्रको भी राज्य मिल जाय तब कुछ दिनों तक राज्य सुख भोग कर फिर पुत्रके साथ साथ ही तू भी साध्वी होना। मुनि द्वारा अपना भविष्य सुनकर पद्मावती उन्हें नमस्कार कर उस क्षुल्लकिनीके साथ साथ चली गई । अबसे वह पद्मावती उसीके पास रहने लगी ।

इधर करकण्डु बालदेवके यहाँ दिनों दिन बढ़ने लगा । जब उसकी पढ़नेकी उमर हुई तब बालदेवने अच्छे अच्छे विद्वान् अध्यापकोंको रखकर उसे पढ़ाया । करकण्डु पुण्यके उदयसे थोड़े ही वर्षोंमें पढ़-लिख कर अच्छा हुशियार हो गया । कई विषयमें उसकी अरोक गति हो गई । एक दिन बालदेव और करकण्डु हवा-खोरी करते करते शहर बाहर मसानमें आ निकले । ये दोनों एक अच्छी जगह बैठकर मसान भूमिकी लीला देखने लगे । इतनेमें जयभद्र मुनिराज अपने संघको लिये इसी मसानमें आकर ठहरे । यहाँ एक नर-कपाल पड़ा हुआ था । उसके मुँह

और आँखोंके तीन छेदोंमें तीन बाँस उग रहे थे। उसे देखकर एक मुनिने विनोदसे अपने गुरुसे पूछा–भगवन्, यह क्या कौतुक है, जो इस नर-कपालमें तीन बाँस उगे हुए हैं? तपस्वी मुनिने उसके उत्तरमें कहा—इस हस्तिनापुरका जो नया राजा होगा, इन बाँसोंके उसके लिए अंकुश, छत्र, दण्ड वगैरह बनेंगे। जयभद्राचार्य द्वारा कहे गये इस भविष्यको किसी एक ब्राह्मणने सुन लिया। अतः वह धनकी आशासे इन बाँसोंको उखाड़ लाया। उसके हाथसे इन्हें करकण्डुने खरीद लिया। सच है, मुनि लोग जिसके सम्बन्धमें जो बात कह देते हैं वह फिर होकर ही रहती है।

उस समय हस्तिनापुरका राजा बलवाहन था। इसके कोई संतान न थी। इसकी मृत्यु हो गई। अब राजा किसको बनाया जाय, इस विषयकी चर्चा चली। आखिर यह निश्चय पाया कि महाराजका खास हाथी जलभरा सुवर्ण-कलश देकर छोड़ा जाय। वह जिसका अभिषेक कर राज-सिंहासन पर ला बैठादे वही इस राज्यका मालिक हो। ऐसा ही किया गया। हाथी राजाको ढूँढ़नेको निकला। चलता चलता वह करकुण्डुके पास पहुँचा। वही इसे अधिक पुण्यवान् देख पड़ा। उसी समय उसने करकण्डुका अभिषेक कर उसे अपने ऊपर चढ़ा लिया और राज्यसिंहासन पर ला रख दिया। सारी प्रजाने उस तेजस्वी करकण्डुको

अपना मालिक हुआ देख खूब जय जय कार मनाया और खूब आनन्द उत्सव किया। करकण्डुके भाग्यका सितारा चमका। वह राजा हुआ। सच है, जिन भगवान्‌की पूजाके फलसे क्या क्या प्राप्त नहीं होता। करकण्डुको राजा होते ही बालदेवको उसकी नष्ट हुई विद्याएँ फिर सिद्ध हो गईं। उसे उसकी सेवाका मनचाहा फल मिल गया। इसके बाद ही बाल-देव विद्याकी सहायतासे करकण्डुकी खास मा पद्मावती जहाँ थी, वहाँ गया और उसे करकण्डुके पास लाकर उसने दोनों माता-पुत्रोंका मिलाप करवाया। पद्मावती आज कृतार्थ हुई। उसकी वर्षोंकी तपस्या समाप्त हुई। पश्चात् बालदेव इन दोनोंको बड़ी नम्रतासे प्रणाम कर अपनी राजधानीमें चला गया।

करकण्डुके राजा होने पर कुछ राजे लोग उससे विरुद्ध होकर लड़नेको तैयार हुए। पर करकण्डुने अपनी बुद्धि-मानी और राजनीतिकी चतुरतासे सबको अपना मित्र बना-कर देशभरमें शत्रुका नाम भी न रहने दिया। वह फिर सुखसे राज्य करने लगा। करकण्डुके दिनों दिन बढ़ते हुए प्रतापकी खबर चारों ओर फैलती फैलती दन्तिवाहनके पास पहुँची। दन्तिवाहन करकण्डुके पिता हैं। पर न तो दन्ति-वाहनको यह ज्ञात था कि करकण्डु मेरा पुत्र है और न कर-कण्डुको इस बातका पता था कि दन्तिवाहन मेरे पिता होते हैं। यही कारण था कि दन्तिवाहनको इस नये राजाका प्रताप सहन नहीं हुआ। उन्होंने अपने एक दूतको करकण्डुके पास

भेजा। दूतने आकर करकण्डुसे प्रार्थना की–“ राजाधिराज दन्तिवाहन मेरे द्वारा आपको आज्ञा करते हैं कि यदि राज्य आप सुखसे करना चाहते हैं तो उनकी आप आधीनता स्वीकार करें। ऐसा किये बिना किसी देशके किसी हिस्से पर आपकी सत्ता नहीं रह सकती।” करकण्डु एक तेजस्वी राजा और उस पर एक दूसरेकी सत्ता, सचमुच करकण्डुके लिए यह आश्चर्यकी बात थी। उसे दन्तिवाहनकी इस धृष्टता पर बड़ा क्रोध आया। उसने तेज आँखें कर दूतकी ओर देखा और उससे कहा–यदि तुम्हें अपनी जान प्यारी है तो तुम यहाँसे जल्दी भाग जाओ! तुम दूसरेके नौकर हो, इसलिए तुम पर मैं दया करता हूँ। नहीं तो तुम्हारी इस धृष्टताका फल तुम्हें मैं अभी ही बता देता। जाओ, और अपने मालिकसे कहदो कि वह रणभूमिमें आकर तैयार रहे। मुझे जो कुछ करना होगा मैं वहीं करूँगा। दूतने जैसी ही करकण्डुकी आँखें चढ़ी देखीं वह उसी समय डरकर राज्य-दरबारसे रवाना हो गया।

इधर करकण्डु अपनी सेनामें युद्धघोषणा दिलवा कर आप दन्तिवाहन पर जा चढ़ा और उनकी राजधानीको उसने सब ओरसे घेर लिया। दन्तिवाहन तो इसके लिए पहले हीसे तैयार थे। वे भी सेना ले युद्धभूमिमें उतरे। दोनों ओरकी सेनामे व्यूह रचना हुई। रणवाद्य बजनेवाला ही था कि पद्मावतीको यह ज्ञात हो गया कि यह युद्ध शत्रु-

ओंका न होकर खास पितापुत्रका है । वह तब उसी समय अपने प्राणनाथके पास गई और सब हाल उसने उनसे कह सुनाया । दन्तिवाहनको इस समय अपने प्रिया-पुत्रको प्राप्त कर जो आनन्द हुआ, उसका पता उन्हींके हृदयको है । दूसरा वह कुछ थोड़ा बहुत पा सकता है जिस पर ऐसा ही भयानक प्रसंग आकर कभी पड़ा हो । सर्व साधारण उनके उस आनन्दका, उस सुखका थाह नहीं ले सकते । दन्तिवाहन तब उसी समय हाथीसे उतर कर अपने प्रियपुत्रके पास आये । करकण्डुको ज्ञात होते ही वह उनके सामने दौड़ा गया और जाकर उनके पाँवोंमें गिर पड़ा । दन्तिवाहनने झटसे उसे उठाकर अपनी छातीसे लगा लिया । पिता-पुत्रका पुण्य मिलाप हुआ । इसके बाद दन्तिवाहनने बड़े आनन्द और ठाठबाटसे पुत्रका शहरमें प्रवेश कराया । प्रजाने अपने युवराजका अपार आनन्दके साथ स्वागत किया । घर घर आनन्द-उत्सव मनाया गया । दान दिया गया । पूजा-प्रभावना की गई । महा अभिषेक किया गया । गरीब लोग मनचाही सहायतासे खुश किये गये । इस प्रकार पुण्य-प्रसादसे करकण्डुने राज्यसम्पत्तिके सिवा कुटुम्ब-सुख भी प्राप्त किया । वह अब स्वर्गके देवोंकी तरह सुखसे रहने लगा ।

कुछ दिनों बाद दन्तिवाहनने अपने पुत्रका विवाह समारंभ किया । उसमें उन्होंने खूब खर्च कर बड़े वैभवके साथ

करकण्डुका कोई आठ हजार राजकुमारियोंके साथ ब्याह किया । ब्याहके बाद ही दन्तिवाहन राज्यका भार सब करकण्डुके जिम्मे कर आप अपनी प्रिया पद्मावतीके साथ सुखसे रहने लगे । सुख-चैनसे समय बिताना उन्होंने अब अपना प्रधान कार्य रक्खा ।

इधर करकण्डु राज्यशासन करने लगा । प्रजाको उसके शासनकी जैसी आशा थी, करकण्डुने उससे कहीं बढ़कर धर्मज्ञता, नीति, और प्रजाप्रेम बतलाया । प्रजाको सुखी बनानेमें उसने कोई बात उठा न रक्खी । इस प्रकार वह अपने पुण्यका फल भोगने लगा । एक दिन समय देख मंत्रियोंने करकण्डुसे निवेदन किया–महाराज, चेरम, पाण्ड्य और चोल आदि राजे चिर समयसे अपने आधीन हैं । पर जान पड़ता है उन्हें इस समय कुछ अभिमानने आघेरा है । वे मानपर्वतका आश्रय पा अब स्वतंत्रसे हो रहे हैं । राज-कर वगैरह भी अब वे नहीं देते । इसलिए उन पर चढ़ाई करना बहुत आवश्यक है । इस समय ढील कर देनेसे संभव है थोड़े ही दिनोंमें शत्रुओंका जोर अधिक बढ़ जाये । इसलिए इसके लिए प्रयत्न कीजिए कि वे ज्यादा सिर न चढ़ा पावें, उसके पहले ही ठीक ठिकाने आजायँ । मंत्रियोंकी सलाह सुन और उस पर विचार कर पहले करकण्डुने उन लोगोंके पास अपना दूत भेजा । दूत अपमानके साथ लौट आया । करकण्डुने जब सीधी तरह सफलता प्राप्त होती न देखी तब उसे युद्धके लिए तैयार

होना पड़ा । वह अपनी सेना लिए युद्धभूमिमें जा डटा । शत्रु लोग भी चुपचाप न बैठकर उसके सामने हुए । दोनों ओरकी सेनाकी मुठभेड़ हो गई । घमासान युद्ध हुआ । दोनों ओरके हजारों वीर काम आये । अन्तमें करकण्डुकी सेनाके युद्धभूमिसे पाँव उखड़े । यह देख करकण्डु स्वयं युद्धभूमिमें उतरा । बड़ी वीरतासे वह शत्रुओंके साथ लड़ा । इस नई उमरमें उसकी इस प्रकार वीरता देख कर शत्रुओंको दाँतों तले उँगली दबाना पड़ी । विजयश्रीने करकण्डुको ही वरा । जब शत्रुराजे आ-आकर इसके पाँव पड़ने लगे और इसकी नजर उनके मुकुटों पर पड़ी तो देखकर यह एक साथ हतप्रभ हो गया और बहुत बहुत पश्चात्ताप करने लगा कि–हाय ! मुझ पापीने यह अनर्थ क्यों किया ? न जाने इस पापसे मेरी क्या गति होगी ? बात यह थी कि उन राजोंके मुकुटोंमें जिन भगवान्की प्रतिमाएँ खुदी हुई थीं । और वे सब राजे जैनी थे । अपने धर्मबन्धुओंको जो उसने कष्ट दिया और भगवानका अविनय किया उसका उसे बेहद दुःख हुआ । उसने उन लोगोंको बड़े आदर-भावसे उठाकर पूछा–क्या सचमुच आप जैनधर्मी हैं ? उनकी ओरसे सन्तोषजनक उत्तर पाकर उसने बड़े कोमल शब्दोंमें उनसे कहा–महानुभावो, मैंने क्रोधसे अन्धे होकर जो आपको यह व्यर्थ कष्ट दिया– आप पर उपद्रव किया, इसका मुझे अत्यन्त दुःख है । मुझे इस अपराधके लिए आप लोग क्षमा करें । इस प्रकार उनसे क्षमा-

करा कर उनको साथ लिये वह अपने देशको रवाना हुआ। रास्तेमें तेरपुरके पास इनका पड़ाव पड़ा। इसी समय कुछ भीलोंने आकर नम्र मस्तकसे इनसे प्रार्थना की–राजाधिराज, हमारे तेरपुरसे दो-कोस दूरी पर एक पर्वत है। उस पर एक छोटासा धाराशिव नामका गाँव बसा हुआ है। इस गाँवमें एक बड़ा ही सुन्दर और भव्य जिनमन्दिर बना हुआ है। उसमें विशेषता यह है कि उसमें कोई एक हजार खम्भे हैं। वह बड़ा सुन्दर है। उसे आप देखनेको चलें। इसके सिवा पर्वत पर एक यह आश्चर्यकी बात है कि वहाँ एक बाँमी है। एक हाथी रोज रोज अपनी सूँड़में थोड़ासा पानी और एक कमलका फूल लिये वहाँ आता है और उस बाँवीकी परिक्रमा देकर वह पानी और फूल उस पर चढ़ा देता है। इसके बाद वह उसे अपना मस्तक नवाकर चला जाता है। उसका यह प्रतिदिनका नियम है। महाराज, नहीं जान पड़ता कि इसका क्या कारण है। करकण्डु भीलों द्वारा यह शुभ समाचार सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। इस समाचारको लानेवाले भीलोंको उचित इनाम देकर वह स्वयं सबको साथ लिये उस कौतुकमय स्थानको देखने गया। पहले उसने जिन मन्दिर जाकर भक्ति पूर्वक भगवान्‌की पूजा की, स्तुति की। सच है, धर्मात्मा पुरुष धर्मके कामोंमें कभी प्रमाद–आलस नहीं करते। बाद वह उस बाँवीकी जगह गया। उसने वहाँ भीलोंके कहे माफिक हाथीको उस बाँवीकी पूजा करते

पाया। देखकर उसे बड़ा अचंभा हुआ। उसने सोचा कि इसका कुछ न कुछ कारण होना चाहिए। नहीं तो इस पशुमें ऐसा भक्तिभाव नही देखा जाता। यह विचार कर उसने उस बाँवीको खुवाया। उसमेंसे एक सन्दूक निकली। उसने उसे खोलकर देखा। सन्दूकमें एक रत्नमयी पार्श्वनाथ भगवान्‌की पवित्र प्रतिमा थी। उसे देखकर धर्मप्रेमी करकण्डुको अतिशय प्रसन्नता हुई। उसने तब वहाँ 'अग्गलदेव' नामका एक विशाल जिन मन्दिर बनवाकर उसमें बड़े उत्सवके साथ उस प्रतिमाको विराजमान किया। प्रतिमा पर एक गाँठ देखकर करकुण्डुने शिल्पकारसे कहा—देखो, तो प्रतिमा-पर यह गाँठ कैसी है ? प्रतिमाकी सब सुन्दरता इससे मारी गई। इसे सावधानीके साथ तोड़दो। यह अच्छी नहीं देख पड़ती। शिल्पकारने कहा—महाराज, यह गाँठ ऐसी वैसी नहीं है जो तोड़दी जाय। ऐसी रत्नमयी दिव्य प्रतिमा पर गाँठ होनेका कुछ न कुछ कारण जान पड़ता है। इसका बनानेवाला इतना कमबुद्धि न होगा जो प्रतिमाकी सुन्दरता नष्ट होनेका खयाल न कर इस गाँठको रहने देता। मुझे जहाँतक जान पड़ता है, इस गाँठका सम्बन्ध किसी भारी जल-प्रवाहसे होना चाहिए। और यह असंभव भी नहीं। संभवतः इसकी रक्षाके लिए यह प्रयत्न किया गया हो। इसलिए मेरी समझमें इसका तुड़वाना उचित नहीं। करकण्डुने उसका कहा न माना। उसे उसकी बात-

पर विश्वास न हुआ। उसने तब शिल्पकारसे बहुत आग्रह कर आखिर उसे तुड़वाया ही। जैसे ही वह गाँठ टूटी उसमेंसे एक बड़ा भारी जल-प्रवाह बह निकला। मन्दिरमें पानी इतना भर गया कि करकण्डु वगैरहको अपने जीवनके बचनेका भी सन्देह हो गया। तब वह जिनभक्त उस प्रवाहके रोकनेके लिए संन्यास ले कुशासन पर बैठ कर परमात्माका स्मरण चिंतन करने लगा। उसके पुण्य-प्रभावसे नागकुमारने प्रत्यक्ष आकर उससे कहा--राजन, काल अच्छा नहीं, इस लिए प्रतिमाकी सुरक्षाके लिए मुझे यह जलपूर्ण लयण बनाना पड़ा। इसलिए आप इस जलप्रवाहके रोकनेका आग्रह न करें। इस प्रकार करकण्डुको नागकुमारने समझा कर आसन परसे उठ जानेको कहा। करकण्डु नागकुमारके कहनेसे संन्यास छोड़ उठ गया। उठकर उसने नागकुमारसे पूछा—क्योंजी, ऐसा सुन्दर यह लयण यहाँ किसने बनाया और किसने इस बाँबीमें इस प्रतिमाको विराजमान किया ? नागकुमारने कहा—सुनिए, विजयार्द्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें खूब सम्पतिशाली नभस्तिलक नामका एक नगर था। उसमें अमितवेग और सुवेग नामके दो विद्याधर राजे हो चुके हैं। दोनों धर्मज्ञ और सच्चे जिनभक्त थे। एक दिन वे दोनों भाई आर्यखण्डके जिनमन्दिरोंके दर्शन करनेके लिए आये। कई मन्दिरोंमें दर्शन पूजन कर वे मलयाचल पर्वत पर आये। यहाँ घूमते हुए उन्होंने पार्श्व-

नाथ भगवान्‌की इस रत्नमयी प्रतिमाको देखा । इसके दर्शन कर उन्होंने इसे एक सन्दूकमें बन्द कर दिया और सन्दूकको एक गुप्त स्थान पर रखकर वे उस समय चले गये । कुछ समय बाद वे पीछे आकर उस सन्दूकको कहीं अन्यत्र ले जानेके लिए उठाने लगे पर सन्दूक अबकी बार उनसे न उठी । तब तेरपुर जाकर उन्होंने अवधिज्ञानी मुनिराजसे सब हाल कहकर सन्दूकके न उठनेका कारण पूछा । मुनिने कहा—" सुनिए, यह सुखङ्कारिणी सन्दूक तो पहले लयणके ऊपर दूसरा लयण है [illegible] मतलब यह कि यह सुवेग आर्तध्यानसे मरकर हाथी [illegible] । वह इस सन्दूककी पूजा किया करेगा । कुछ समय [illegible] करकण्डु राजा यहाँ आकर इस सन्दूकको निकालेगा और सुवेगका जीव हाथी तब संन्यास ग्रहण कर स्वर्ग गमन करेगा । इस प्रकार मुनि द्वारा इस प्रतिमाकी चिरकाल तक अवस्थिति जानकर उन्होंने मुनिसे फिर पूछा—तो प्रभो, इस लयणको किसने बनाया ? मुनिराज बोले—इसी विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीमें बसे हुए रथनूपुरमें नील और महानील नामके दो राजे हो गये हैं । शत्रुओंके साथ युद्धमें उनकी विद्या, धन, राज्य वगैरह सब कुछ नष्ट हो गया । तब वे इस मलय पर्वत पर आकर बसे । यहाँ वे कई वर्षोंतक आरामसे रहे । दोनों भाई बड़े धर्मात्मा थे । उन्होंने यह लयण बनवाया । पुण्यसे उन्हें उनकी विद्याएँ फिर प्राप्त हो गईं । तब वे पीछे अपनी

जन्मभूमि रथनपूर चले गये। इसके बाद कुछ दिनोंतक वे दोनों और गृह-संसारमें रहे। फिर जिनदीक्षा लेकर दोनों भाई साधु हो गये। अन्तमें तपस्याके प्रसावसे वे स्वर्ग गये।" इस प्रकार सब हाल सुनकर बड़ा भाई अमितवेग तो उसी समय दीक्षा लेकर मुनि हो गया और अन्तमें समाधिसे मरकर ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें महर्द्धिक देव हुआ। और सुवेग–अमितवेगका छोटा भाई आर्त्तध्यानसे मरकर यह हाथी हुआ। सो ब्रह्मोत्तर स्वर्गके देवने पूर्व जन्मके भ्रातृ-प्रेमके वश हो, आकर इसे धर्मोपदेश कि   मझाया। उससे इस हाथीको जाति-स्मरण ज्ञान हो गय   ने तब अणुव्रत ग्रहण किये। तब हीसे यह इस प्रकार श   ता है और सदा इस बाँवीकी पूजन किया करता है। तुमने बाँवी तोड़कर जबसे उसमेंसे प्रतिमा निकाली तबहीसे हाथी संन्यास लिये यहीं रहता है। और राजन्, आप पूर्वजन्ममें इसी तेरपुरमें ग्वाल थे। आपने तब एक कमलके फूल द्वारा जिन भगवानकी पूजा की थी। उसीके फलसे इस समय आप राजा हुए हैं। राजन, यह जिनपूजा सब पुण्यकर्मोंमें उत्तम पुण्यकर्म है। यही तो कारण है कि क्षणमात्रमें इसके द्वारा उत्तमसे उत्तम सुख प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार करकण्डुको आदिसे इति पर्यन्त सब हाल कहकर और धर्म प्रेमसे उसे नमस्कार कर नागकुमार अपने स्थान चला गया। सच है यह पुण्यहीका प्रभाव है जो देव भी मित्र हो जाते हैं।

हाथीको संन्यास लिये आज तीसरा दिन था। करकण्डुने उसके पास जाकर उसे धर्मका पवित्र उपदेश किया। हाथी अन्तमें सम्यक्त्व सहित मरकर सहस्रार स्वर्गमें महर्द्धिक देव हुआ। एक पशु धर्मका उपदेश सुन कर स्वर्गमें अनन्त सुखोंका भोगनेवाला देव हुआ, तब जो मनुष्य-जन्म पाकर पवित्र भावोंसे धर्म पालन करें तो उन्हें क्या प्राप्त न हो? बात यह है कि धर्मसे बढ़कर सुख देनेवाली संसारमें कोई वस्तु है ही नहीं। इसलिए धर्मप्राप्तिके लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

करकण्डुने इसके बाद इसी पर्वत पर अपने, अपनी माके तथा बालदेवके नामसे विशाल और सुन्दर तीन जिनमन्दिर बनवाये, बड़े वैभवके साथ उनकी प्रतिष्ठा करवाई। जब करकण्डुने देखा कि मेरा सांसारिक कर्त्तव्य सब पूरा हो चुका तब राज्यका सब भार अपने पुत्र वसुपालको सौंप कर और संसार, शरीर, विषय-भोगादिसे विरक्त होकर आप अपने माता-पिता तथा और भी कई राजोंके साथ जिनदीक्षा ले योगी हो गया। योगी होकर करकण्डु मुनिने खूब तप किया, जो कि निर्दोष और संसार-समुद्रसे पार करनेवाला है। अन्तमें परमात्म-स्मरणमें लीन हो उसने भौतिक शरीर छोड़ा। तपके प्रभावसे उसे सहस्रार स्वर्गमें दिव्य देह मिला। पद्मावती दन्तिवाहन तथा अन्य राजे भी अपने अपने पुण्यके अनुसार स्वर्गलोक गये।

करकण्डुने ग्वालके जन्ममें केवल एक कमलके फूल द्वारा भगवान्की पूजा की थी। उसे उसका जो फल मिला उसे आप सुन चुके हैं। तब जो पवित्र भावपूर्वक आठ द्रव्योंसे भगवान्की पूजा करेंगे उनके सुखका तो फिर पूछना ही क्या? थोड़ेमें यों समझिए कि जो भव्यजन भक्तिसे भगवान्की प्रतिदिन पूजा किये करते हैं वे सर्वोत्तम सुख-मोक्ष भी प्राप्त कर लेते हैं, तब और सांसारिक सुखोंकी तो उनके सामने गिनती ही क्या है।

एक बे समझ ग्वालने जिन भगवान्के पवित्र चरणोंकी एक कमलके फूलसे पूजा की थी, उसके फलसे वह करकण्डु राजा होकर देवों द्वारा पूज्य हुआ। इसलिए सुखकी चाह करनेवाले अन्य भव्यजनोंको भी उचित है कि वे जिन-पूजाकी ओर अपने ध्यानको आकर्षित करें। उससे उन्हें मनचाहा सुख मिलेगा। क्योंकि भावोंका पवित्र होना पुण्यका कारण है और भावोंके पवित्र करनेका जिन-पूजा भी एक प्रधान कारण है।

गई हो। यहाँके निवासी प्रायः धनी हैं, धर्मात्मा हैं, उदार हैं और परोपकारी हैं।

जिस समयकी यह कथा है उस समय मगधकी राजधानी राजगृह एक बहुत सुन्दर शहर था। सब प्रकारकी उत्तमसे उत्तम भोगोपभोगकी वस्तुएँ वहाँ बड़ी सुलभतासे प्राप्त थीं। विद्वानोंका उसमें निवास था। वहाँके पुरुष देवोंसे और स्त्रियाँ देवबालाओंसे कहीं बढ़कर सुन्दर थीं। स्त्री-पुरुष प्रायः सब ही सम्यक्त्व रूपी भूषणसे अपनेको सिंगारे हुए थे। और इसीलिए राजगृह उस समय मध्यलोकका स्वर्ग कहा जाता था। वहाँ जैनधर्मका ही अधिक प्रचार था। उसे प्राप्त कर सब सुख-शान्ति लाभ करते थे।

राजगृहके राजा तब श्रेणिक थे। श्रेणिक धर्मज्ञ थे। जैनधर्म और जैनतत्व पर उनका पूर्ण विश्वास था। भगवान्की भक्ति उन्हें उतनी ही प्रिय थी, जितनी कि भौंरेको कमलिनी। उनका प्रताप शत्रुओंके लिए मानों धधकती आग थी। सत्पुरुषोंके लिए वे शीतल चन्द्रमा थे। पिता अपनी सन्तानको जिस प्यारसे पालता है श्रेणिकका प्यार भी प्रजा पर वैसा ही था। श्रेणिककी कई रानियाँ थीं। चेलिनी उन सबमें उन्हें अधिक प्रिय थी। सुन्दरतामें, गुणोंमें, चतुरतामें चेलिनीका आसन सबसे ऊँचा था। उसे जैनधर्मसे, भगवान्की पूजा-प्रभावनासे बहुत ही प्रेम था। कृत्रिम भूषणों द्वारा

सिंगार करनेको महत्व न देकर उसने अपने आत्माको अनमोल सम्यग्दर्शन रूप भूषणसे भूषित किया था। जिनवानी सब प्रकारके ज्ञान-विज्ञानसे परिपूर्ण है और अतएव वह सुन्दर है, चेलनीमें भी किसी प्रकारके ज्ञान-विज्ञानकी कमी न थी। इसलिए उसकी रूपसुन्दरताने और अधिक सौन्दर्य प्राप्त कर लिया था। 'सोनेमें सुगन्ध' की उक्ति उस पर चरितार्थ थी।

राजगृहहीमें एक नागदत्त नामका सेठ रहता था। यह जैनी न था। इसकी स्त्रीका नाम भवदत्ता था। नागदत्त बड़ा मायाचारी था। सदा मायाके जालमें यह फँसा हुआ रहता था। इस मायाचारके पापसे मरकर यह अपने घर आँगनकी बावड़ीमें मेंडक हुआ। नागदत्त यदि चाहता तो कर्मोंका नाशकर मोक्ष जाता, पर पाप कर वह मनुष्य पर्यायसे पशुजन्ममें आया—एक मेंडक हुआ। इसलिए भव्य-जनोंको उचित है कि वे संकट समय भी पाप न करें।

एक दिन भवदत्ता इस बावड़ी पर जल भरनेको आई। उसे देखकर मेंडकको जातिस्मरण ज्ञान हो गया। वह उछल कर भवदत्ताके वस्त्रों पर चढ़ने लगा। भवदत्ताने डरकर उसे कपड़ों परसे झिड़क दिया। मेंडक फिर भी उछल उछल कर उसके वस्त्रों पर चढ़ने लगा। उसे बार बार अपने पास आता देखकर भवदत्ता बड़ी चकित हुई और डरी भी। पर इतना उसे भी विश्वास हो गया कि इस मेंडकका और

मेरा पूर्वजन्मका कुछ न कुछ सम्बन्ध होना ही चाहिए। अन्यथा बार बार मेरे झिड़क देने पर भी यह मेरे पास आनेका साहस न करता। जो हो, मौका पाकर कभी किसी साधु-सन्तसे इसका यथार्थ कारण पूछूँगी।

भाग्यसे एक दिन अवधिज्ञानी सुव्रत मुनिराज राजगृहमें आकर ठहरे। भवदत्ताको मेंडकका हाल जाननेकी बड़ी उत्कण्ठा थी। इसलिए वह तुरंत उनके पास गई। उनसे प्रार्थनाकर उसने मेंडकका हाल जाननेकी इच्छा प्रगट की। सुव्रत मुनिराजने तब उससे कहा—जिसका तू हाल पूछनेको आई है, वह दूसरा कोई न होकर तेरा पति नागदत्त है। वह बड़ा मायाचारी था। इसलिए मरकर मायाके पापसे यह मेंडक हुआ है। उन मुनिके संसार-पार करनेवाले वचनोंको सुनकर भवदत्ताको सन्तोष हुआ। वह मुनिको नमस्कार कर घर पर आ गई। उसने फिर मोहवश हो उस मेंडकको भी अपने यहाँ ला रक्खा। मेंडक वहाँ आकर बहुत प्रसन्न रहा।

इसी अवसरमें वैभार पर्वत पर महावीर भगवानका समवशरण आया। वनमालीने आकर श्रेणिकको खबर दी कि राजराजेश्वर, जिनके चरणोंकी इन्द्र, नागेन्द्र, चक्रवर्ती, विद्याधर आदि प्रायः सभी महापुरुष पूजा-स्तुति करते हैं, वे महावीर भगवान् वैभार पर्वत पर पधारे हैं। भगवानके आनेके आनन्द-समाचार सुनकर श्रेणिक बहुत प्रसन्न हुए।

भक्तिवश हो सिंहासनसे उठ कर उन्होंने भगवान्को परोक्ष नमस्कार किया । इसके बाद इन शुभ समाचारोंकी सारे शहरमें सबको खबर हो जाय, इसके लिए उन्होंने आनन्द घोषना दिलवाई । बड़े भारी लाव-लश्कर और वैभवके साथ भव्यजनोंको संग लिये वे भगवान्के दर्शनोंको गये । वे दूरसे उन संसारका हित करनेवाले भगवानके समवशरणको देखकर उतने ही खुश हुए जितने खुश मोर मेघोंको देखकर होते हैं और रासायनिक लोग अपना मन चाहा रस लाभ कर होते हैं । वे समवसरणमें पहुँचे । भगवानके उन्होंने दर्शन किये और उत्तमसे उत्तम द्रव्योंसे उनकी पूजा की । अन्तमें उन्होंने भगवान्के गुणोंका गान किया ।

हे भगवन्, हे दयाके सागर, ऋषि-महात्मा आपको 'अग्नि' कहते हैं, इसलिए कि आप कर्मरूपी ईंधनको जला कर खाक कर देनेवाले हैं । आपहीको वे 'मेघ' भी कहते हैं, इसलिए कि आप प्राणियोंको जलानेवाली दुःख, शोक, चिन्ता, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष,—आदि दावाग्निको क्षणभरमें अपने उपदेशरूपी जलसे बुझा डालते हैं । आप 'सूरज' भी हैं, इसलिए कि अपने उपदेशरूपी किरणोंसे भव्य जनरूपी कमलोंको प्रफुल्लित कर लोक और अलोकके प्रकाशक हैं । नाथ, आप एक सर्वोत्तम वैद्य हैं, इसलिए कि धन्वन्तरीसे वैद्योंकी दवा दारूसे भी नष्ट न होनेवाली ऐसी जन्म, जरा, मरण रूपी महान् व्याधियोंको

जड़ मूलसे खोदेते हैं । प्रभो, आप उत्तमोत्तम गुण रूपी जवाहरातके उत्पन्न करनेवाले पर्वत हो, संसारके पालक हो, तीनों लोकके अनमोल भूषण हो, प्राणीमात्रके निस्स्वार्थ बन्धु हो, दुःखोंके नाश करनेवाले हो और सब प्रकारके सुखोंके देने वाले हो । जगदीश, जो सुख आपके पवित्र चरणोंकी सेवासे प्राप्त हो सकता है वह अनेक प्रकारके कठिनसे कठिन परिश्रम-द्वारा भी प्राप्त नहीं होता । इसलिए हे दयासागर, मुझ गरी-बको—अनाथको अपने चरणोंकी पवित्र और मुक्तिका सुख देनेवाली भक्ति प्रदान कीजिए । जबतक कि मैं संसारसे पार न हो जाऊँ । इस प्रकार बड़ी देरतक श्रेणिकने भग-वान्का पवित्र भावोंसे गुणनुवाद किया । बाद वे गौतम गणधर आदि महर्षियोंको भक्तिसे नमस्कार कर अपने योग्य स्थान पर बैठ गये ।

भगवान्के दर्शनोंके लिए भवदत्ता सेठानी भी गई। आका-शमें देवोंका जय-जय-कार और दुंदुभी बाजोंकी मधुर-मनोहर आवाज सुनकर उस मेंडकको जातिस्मरण हो गया । वह भी तब बावड़ीमेंसे एक कमलकी कलीको अपने मुँहमें दबाये बड़े आनन्द और उल्लासके साथ भगवान्की पूजाके लिए चला । रास्तेमें आता हुआ वह हाथीके पैर नीचे कुचला कर मर गया । पर उसके परिणाम त्रिलोकपूज्य महावीर भग-वान्की पूजामें लगे हुए थे, इसलिए वह उस पूजाके प्रेमसे उत्पन्न होनेवाले पुण्यसे सौधर्म स्वर्गमें महर्द्धिक देव हुआ। देखिए, कहाँ तो वह मेंडक और कहाँ अब स्वर्गका देव !

पर इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं । कारण—जिन भगवान्‌की पूजासे सब कुछ प्राप्त हो सकता है ।

एक अन्तर्मुहूर्त्तमें वह मेंडकका जीव आँखोंमें चकाचौंध लानेवाला तेजस्वी और सुन्दर युवा देव बन गया । नाना तरहके दिव्य रत्नमयी अलंकारोंकी कान्तिसे उसका शरीर ढक रहा था—बड़ी सुन्दर शोभा थी । वह ऐसा जान पड़ता था, मानों रत्नोंकी एक बहुत बड़ी राशि रक्खी हो या रत्नोंका पर्वत बनाया गया हो । उसके बहुमूल्य वस्त्रोंकी शोभा देखते ही बनती थी । गलेमें उसके स्वर्गीय कल्पवृक्षोंके फूलोंकी सुन्दर मालाएँ शोभा दे रही थीं । उनकी सुन्दर सुगन्धने सब दिशाओंको सुगन्धित बना दिया था । उसे अवधिज्ञानसे जान पड़ा कि मुझे जो यह सब सम्पत्ति मिली है और मैं देव हुआ हूँ, यह सब भगवान्‌की पूजाकी पवित्र भावनाका फल है । इसलिए सबसे पहले मुझे जाकर पतित-पावन भगवान्‌की पूजा करनी चाहिए । इस विचारके साथ ही वह अपने मुकुट पर मेंडकका चिह्न बनाकर महावीर भगवान्‌के समवशरणमें आया । भगवान्‌की पूजन करते हुए इस देवके मुकुट पर मेंडकके चिह्नको देखकर श्रेणिकको बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने गौतम भगवान्‌को हाथ जोड़कर पूछा—हे संदेहरूपी अँधेरेको नाश करनेवाले सूरज, कृपाकर कहिए कि इस देवके मुकुट पर मेंडकका चिन्ह क्यों है ? मैंने तो आजतक किसी देवके मुकुट पर ऐसा चिन्ह नहीं देखा । ज्ञानकी प्रकाशमान ज्योतिरूप गौतम भगवान्‌ने

तब श्रेणिकको नागदत्तके भवसे लेकर अब तककी सब कथा कह सुनाई। उसे सुनकर श्रेणिकको तथा अन्य भव्य जनोंको बड़ा ही आनन्द हुआ। भगवान्की पूजा करनेमें उनकी बड़ी श्रद्धा हो गई। जिनपूजनका इस प्रकार उत्कृष्ट फल जानकर अन्य भव्यजनोंको भी उचित है कि वे सुख देनेवाली इस जिन पूजनको सदा करते रहें। जिन पूजाके फलसे भव्यजन धन-दौलत, रूप-सौभाग्य, राज्य-वैभव, बाल-बच्चे और उत्तम कुल-जाति आदि सभी श्रेष्ठ सुख-चैनकी मनचाही सामग्री लाभ करते हैं, वे चिरकाल तक जीते हैं, दुर्गतिमें नहीं जाते और उनके जन्म जन्मके पाप नष्ट हो जाते हैं। जिनपूजा सम्यग्दर्शन और मोक्षका बीज है, संसारका भ्रमण मिटानेवाली है और सदाचार, सद्विद्या तथा स्वर्ग-मोक्षके सुखकी कारण है। इसलिए आत्महितके चाहनेवाले सत्पुरुषोंको चाहिए कि वे आलस छोड़कर निरन्तर जिनपूजा किया करें। इससे उन्हें मनचाहा सुख मिलेगा।

यही जिन-पूजा सम्यग्दर्शनरूपी वृक्षके सींचनेको वरसा सरीखी है, भव्यजनोंको ज्ञान देनेवाली मानों सरस्वती है, स्वर्गकी सम्पदा प्राप्त करानेवाली दूती है, मोक्षरूपी अत्यन्त ऊँचे मन्दिर तक पहुँचानेकी मानों सीढ़ियोंकी श्रेणी है और समस्त सुखोंकी देनेवाली है। यह आप भव्यजनोंकी पाप कर्मोंसे सदा रक्षा करे।

जिनके जन्मोत्सवके समय स्वर्गके इन्द्रोंने जिन्हें स्नान

कराया, जिनके स्नानका स्थान सुमेरु पर्वत नियत किया गया, क्षीर समुद्र जिनके स्नानजलके लिए बावड़ी नियत की गई, देवता लोगोंने बड़े अदबके साथ जिनकी सेवा बजाई, देवाङ्गनाएँ जिनके इस मंगलमय समयमें नाचीं और गन्धर्व देवोंने जिनके गुणोंको गाया जिनका यश बखान किया, ऐसे जिन भगवान् आप भव्य-जनोंको और मुझे परम शान्ति प्रदान करें ।

वह भगवान्‌की पवित्र वानी जय लाभ करे—संसारमें चिर समय तक रह कर प्राणियोंको ज्ञानके पवित्र मार्ग पर लगाये, जो अपने सुन्दर वाहन मोर पर बैठी हुई अपूर्व शोभाको धारण किये है, मिथ्यात्वरूपी गाढ़े अँधेरेको नष्ट करनेके लिए जो सूरजके समान तेजस्विनी है, भव्यजन-रूपी कमलोंके वनको जो विकसित कर आनन्दको बढ़ानेवाली है, जो सच्चे मार्गको दिखानेवाली है और स्वर्गके देव, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि सभी महापुरुष जिसे बहुत मान देते हैं ।

मूलसंघके सबसे प्रधान सारस्वत नामके निर्दोष गच्छमें कुन्दकुन्दाचार्यकी परम्परामें प्रभाचन्द्र एक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं । वे जैनागमरूपी समुद्रके बढ़ानेके लिए चन्द्रमाकी शोभाको धारण किये थे । बड़े बड़े विद्वान् उनका आदर-सत्कार करते थे । वे गुणोंके मानों जैसे खजाने थे—बड़े गुणी थे ।

इसी गच्छमें कुछ समय बाद मल्लिभूषण भट्टारक हुए । वे मेरे गुरु थे । वे जिनभगवान्‌के चरणकमलोंके मानों जैसे

भौंरे थे—सदा भगवान्‌की पवित्र भक्तिमें लगे रहते थे। मूल संघमें इनके समयमें यही प्रधान आचार्य गिने जाते थे। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र रूप रत्नत्रयके ये धारक थे। विद्यानन्दी गुरुके पट्टरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेको ये जैसे सूर्य थे—इनसे उनके पट्टकी बड़ी शोभा थी। ये आप सत्पुरुषोंको सुखी करें।

वे सिंहनन्दी गुरु भी आपको सुखी करें, जो जिन भगवान्‌की निर्दोष भक्तिमें सदा लगे रहते थे। अपने पवित्र उपदेशसे भव्य-जनोंको सदा हितमार्ग दिखाते रहते थे। जो कामरूपी निर्दयी हाथीका दुर्मद नष्ट करनेको सिंह सरीखे थे—कामको जिन्होंने वश कर लिया था। वे बड़े ज्ञानी-ध्यानी थे, रत्नत्रयके धारक थे और उनकी बड़ी प्रसिद्धि थी।

वे प्रभाचन्द्राचार्य विजय लाभ करें, जो ज्ञानके समुद्र हैं। देखिए, समुद्रमें रत्न होते हैं, आचार्य महाराज सम्यग्दर्शन रूपी श्रेष्ठ रत्नको धारण किये हैं। समुद्रमें तरङ्गें होती हैं, ये भी सप्तभङ्गी रूपी तरङ्गोंसे युक्त हैं—स्याद्वादविद्याके बड़े ही विद्वान् हैं। समुद्रकी तरङ्गें जैसे कूड़े-करकटको निकाल बाहर फेंक देती हैं, उसी तरह ये अपनी सप्तभंगी वाणी द्वारा एकान्त मिथ्यात्व रूपी कूड़े-करकटको हटा दूर करते थे—अन्यमतके बड़े बड़े विद्वानोंको शास्त्रार्थमें पराजित कर विजय लाभ

करते थे । समुद्रमें मगरमच्छ, घड़ियाल आदि अनेक भयानक जीव होते हैं, पर प्रभाचन्द्र रूपी समुद्रमें उससे यह विशेषता थी—अपूर्वता थी कि उसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष रूपी भयानक मगरमच्छ न थे । समुद्रमें अमृत रहता है और इनमें जिन भगवान्‌का वचनमयी अमृत समाया हुआ था । और समुद्रमें अनेक बिकने योग्य वस्तुएँ रहती हैं, ये भी व्रतों द्वारा उत्पन्न होनेवाली पुण्यरूपी विक्रेय वस्तुको धारण किये थे । अतएव वे समुद्रकी उपमा दिये गये ।

इन्हींके पवित्र चरणकमलोंकी कृपासे जैनशास्त्रोंके अनुसार मुझ नेमिदत्त ब्रह्मचारीने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपके प्राप्त करनेवालोंकी इन पवित्र पुण्यमय कथाओंको लिखा है । कल्याणकी करनेवाली ये कथाएँ भव्यजनोंको धन-दौलत, सुख-चैन, शान्ति-सुयश और आमोद-प्रमोद आदि सभी सुख सामग्री प्राप्त करानेमें सहायक हों । यह मेरी पवित्र कामना है ।
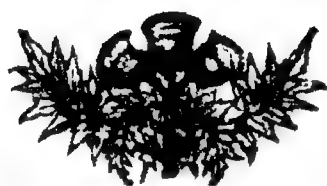
आराधना-कथाकोशः

रचयिता—

ब्रह्मचारी श्रीमन्नेमिदत्तः ।

सम्पादकः—

उदयलालः काशलीवालः ।

नमो वीराय।

आराधना-कथाकोश:

मङ्गलं प्रस्तावना च।

श्रीमद्भव्याब्जसद्भानूल्लोकालोकप्रकाशकान्।
आराधनाकथाकोशं वक्ष्ये नत्वा जिनेश्वरान्॥ १॥
नमस्तस्मै सरस्वत्यै सर्वविज्ञानचक्षुषे।
यस्याः सम्प्राप्यते नाम्ना पारं सज्ज्ञानवारिधेः॥ २॥
रत्नत्रयपवित्राणां मुनीनां गुणशालिनाम्।
वन्देऽहं बोधसिन्धूनां पादपद्मद्वयं सदा॥ ३॥
इत्याप्तभारतीसाधुपादपद्मप्रचिन्तनम्।
अस्तु मे सत्कथारम्भप्रासादकलशश्रिये॥ ४॥

श्रीमूलसङ्घे वरभारतीये
गच्छे बलात्कारगणेऽतिरम्ये।
श्रीकुन्दकुन्दाख्यमुनीन्द्रवंशे
जातः प्रभाचन्द्रमहायतीन्द्रः॥ ५॥
देवेन्द्रचन्द्रार्कसमर्चितेन
तेन प्रभाचन्द्रमुनीश्वरेण।
अनुग्रहार्थं रचितः सुवाक्यै—
राराधनासारकथाप्रबन्धः॥ ६॥

तेन क्रमेणैव मया स्वशक्त्या
श्लोकैः प्रसिद्धैश्च निगद्यते सः
मार्गे न किं भानुकरप्रकाशे
स्वलीलया गच्छति सर्वलोकः ॥ ७ ॥

अथ श्रीजिनसूत्रेण कथ्यते विमलश्रिये ।
आराधनेति किं नाम सतां सन्तोषहेतवे ॥ ८ ॥

सम्यग्दर्शनबोधवृत्ततपसां संसारविच्छेदिनां
शक्त्या भक्तिभरेण सद्गुरुमतात्स्वर्गापवर्गश्रिये ।
उद्योतोद्यमने तथा च नितरां निर्वाहणं साधनं
पूतैर्निस्तरणं महामुनिवरैराराधनेतीरिता ॥ ९ ॥

उक्तं च—

उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वाहण साहणं च णित्थरणं
दंसणणाणचरित्तं तवाणमाराहाणा भणिया ॥

तद्यथा—

यत्सम्यग्दर्शनज्ञाने चारित्रतपसां भवेत् ।
लोके प्रकाशनं तत्स्यादुद्योतनमितिध्रुवम् ॥ १० ॥

तथा हि स्वीकृतानां च तेषामालस्यवर्जितः ।
बाह्याभ्यन्तरमुद्योगः प्रोक्तमुद्यमनं बुधैः ॥ ११ ॥

तेषां सद्दर्शनादीनां सम्प्राप्ते त्यागकारणे ।
संकष्टैरपरित्यागो भवेन्निर्वाहणं शुभम् ॥ १२ ॥

तत्त्वार्थादिमहाशास्त्रपठने यन्मुनेः सदा ।
दर्शनादेः समग्रत्वं साधनं रागवर्जितम् ॥ १३ ॥

तथादृग्ज्ञानचारित्रतपसां मरणावधि ।
निर्विघ्नैः प्रापणं प्रोक्तं बुधैर्निस्तरणं परम् ॥ १४ ॥

इति पंचप्रकारोक्तं श्रीमज्जैनविदांवरैः ।
आराधनाक्रमं प्रोक्त्वा कथ्यते तत्कथाः क्रमात् ॥ १५ ॥

कथारम्भः—

१—पात्रकेसरिणः कथा ।

सम्यक्त्वोद्योतनं चक्रे प्रसिद्धः पात्रकेसरी ।
तच्चरित्रं प्रवक्ष्येऽहं पूर्वं सद्दर्शनश्रिये ॥ १६ ॥
अत्रैव भरतक्षेत्रे पवित्रे श्रीजिनेशिनाम् ।
विचित्रैः पंचकल्याणैः सर्वभव्यप्रशर्मदैः ॥ १७ ॥
निवासे सारसम्पत्तेर्देशे श्रीमगधाभिधे ।
अहिच्छत्रे जगच्चित्रे नागरैर्नगरे वरे ॥ १८ ॥
पुण्यादवनिपालाख्यो राजा राजकलान्वितः ।
प्राज्यं राज्यं करोत्युच्चैर्विप्रैः पञ्चशतैर्वृतः ॥ १९ ॥
विप्रास्ते वेदवेदाङ्गपारगाः कुलगर्विताः ।
कृत्वा सन्ध्याद्वये सन्ध्यावन्दनां च निरन्तरम् ॥ २० ॥
विनोदेन जगत्पूज्यश्रीमत्पार्श्वजिनालये ।
दृष्ट्वा पार्श्वजिनं पूतं प्रवर्तन्ते स्वकर्मसु ॥ २१ ॥
एकदा ते तथा कृत्वा सन्ध्यायां वन्दनां द्विजाः ।
जिनं द्रष्टुं समायाताः कौतुकाज्जिनमन्दिरे ॥ २२ ॥
देवागमाभिधं स्तोत्रं पठन्तं मुनिसत्तमम् ।
चारित्रभूषणं तत्र श्रीमत्पार्श्वजिनाग्रतः ॥ २३ ॥
दृष्ट्वा सम्पृष्टवानित्थं तन्मुख्यः पात्रकेसरी ।
स्वामिन्निमं स्तवं पूतं बुध्यसे, स मुनिस्ततः ॥ २४ ॥
नाहं बुध्येऽर्थतश्चेति संजगौ, प्राह सद्द्विजः ।
पुनः सम्पठ्यते स्तोत्रं भो मुने यतिसत्तम ॥ २५ ॥

तत्स्तेन मुनीन्द्रेण देवागमनसंस्तवः ।
पठितः पदविश्रामैः सतां चेतोनुरञ्जनैः ॥ २६ ॥
शब्दतश्चैकसंस्थत्वात्तदासौ पात्रकेसरी ।
हेलया मानसे कृत्वा देवागमनसंस्तवम् ॥ २७ ॥
तदर्थं चिन्तयामास स्वचित्ते चतुरोत्तमः ।
ततो दर्शनमोहस्य क्षयोपशमलब्धितः ॥ २८ ॥
यदुक्तं श्रीजिनेन्द्रस्य शासने वस्तुलक्षणम् ।
जीवाजीवादिकं सत्यं तदेवात्र त्रिविष्टपे ॥ २९ ॥
नान्यथेति समुत्पन्नजैनतत्त्वार्थसद्रुचिः ।
गत्वा गृहे पुनर्धीमान् स विप्रो वस्तुलक्षणम् ॥ ३० ॥
चित्ते सञ्चिन्तनं कुर्वन्रात्रौ विप्रकुलाग्रणीः ।
जीवाजीवादिकं वस्तु प्रमेयं जिनशासने ॥ ३१ ॥
तत्त्वज्ञानं प्रमाणं च प्रोक्तं तत्त्वार्थवेदिभिः ।
लक्षणं नानुमानस्य भाषितं तच्च कीदृशम् ॥ ३२ ॥
श्रीमज्जिनमतेऽस्तीति सन्देहव्यग्रमानसः ।
यावत्सन्तिष्ठते तावन्निजासनसुकम्पनात् ॥ ३३ ॥
पद्मावत्या महादेव्या तत्रागत्य ससम्भ्रमम् ।
स द्विजो भणितस्तूर्णं भो धीमन्पात्रकेसरिन् ॥ ३४ ॥
प्रातः श्रीपार्श्वनाथस्य दर्शनादेव निश्चयः ।
लक्षणे चानुमानस्य सम्भविष्यति ते तराम् ॥ ३५ ॥
इत्युक्त्वा संलिखित्वेति पार्श्वेशफणमण्डपे ।
सा गता ह्यनुमानस्य लक्षणं श्लोकमुत्तमम् ॥ ३६ ॥
" अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥"

देवतादर्शनादेव सञ्जाता तस्य शर्मदा ।
श्रीमज्जैनमते श्रद्धा भवभ्रमणनाशिनी ॥ ३७ ॥
प्रभाते परमानन्दात्पार्श्वनाथं प्रपश्यतः ।
फणाटोपेऽनुमानस्य लक्षणश्लोकदर्शनात् ॥ ३८ ॥
जातस्तल्लक्षणोत्कृष्टनिश्चयश्च द्विजन्मनः ।
भास्करस्योदये जाते न तिष्ठति तमो यथा ॥ ३९ ॥
ततोऽसौ ब्राह्मणाधीशः पवित्रः पात्रकेसरी ।
प्रहर्षाञ्चितसर्वाङ्गो जिनधर्ममहारुचिः ॥ ४० ॥
देवोर्हन्नेव निर्दोषः संसाराम्भोधितारकः ।
अयमेव महाधर्मो लोकद्वयसुखप्रदः ॥ ४१ ॥
एवं दर्शनमोहस्य क्षयोपशमयोगतः ।
अभूदुत्पन्नसम्यक्त्वरत्नरञ्जितमानसः ॥ ४२ ॥
तथानिशं जिनेन्द्रोक्तं तत्त्वं त्रैलोक्यपूजितम् ।
पुनःपुनर्महाप्रीत्या भावयन्पात्रकेसरी ॥ ४३ ॥
तैर्द्विजैर्भणितश्चैवं किं मीमांसादिकं त्वया ।
त्यक्त्वा संस्मर्यते जैनमतं नित्यमहो हृदि ॥ ४४ ॥
तच्छ्रुत्वा भणितास्तेन ते विप्रा वेदगर्विताः ।
अहो द्विजा जिनेन्द्राणां मतं सर्वमतोत्तमम् ॥ ४५ ॥
अतः कारणतः कष्टं त्यक्त्वा मिथ्याकुमार्गकम् ।
भवद्भिश्चापि विद्वद्भिः संग्राह्यं जैनशासनम् ॥ ४६ ॥
ततो राजादिसान्निध्ये पात्रकेसरिणा मुदा ।
जित्वा सर्वद्विजांस्तांश्च विवादेन स्वलीलया ॥ ४७ ॥
समर्थ्य शासनं जैनं त्रैलोक्यप्राणिशर्मदम् ।
स्वसम्यक्त्वगुणं सारं सम्प्रकाश्य पुनः पुनः ॥ ४८ ॥

कृतोऽन्यमतविध्वन्सो जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः ।
संस्तवः परमानन्दात्समस्तसुखदायकः ॥ ४९ ॥
पात्रकेसरिणं दृष्ट्वा ततः सर्वगुणाकरम् ।
सारपण्डितसन्दोहसमर्चितपदद्वयम् ॥ ५० ॥
ते सर्वेऽवनिपालाद्यास्त्यक्त्वा मिथ्यामतं द्रुतम् ।
भूत्वा जैनमतेऽत्यन्तं संसक्ताः शुद्धमानसाः ॥ ५१ ॥
गृहीत्वा सारसम्यक्त्वं संसाराम्भोधितारणम् ।
प्राप्य श्रीजैनसद्धर्मं स्वर्मोक्षसुखकारणम् ॥ ५२ ॥
त्वं भो द्विजोत्तम श्रीमज्जैनधर्मे विचक्षणः ।
त्वमेव श्रीजिनेन्द्रोक्तसारतत्वप्रवीक्षणः ॥ ५३ ॥
त्वं श्रीजिनपादाब्जसेवनैकमधुव्रतः ।
इत्युच्चैः स्तवनाद्यैस्तं पूजयन्ति स्म भक्तितः ॥ ५४ ॥

पञ्चभिः कुलकम्

इत्थं श्रीशिवशर्मदं शुचितरं सम्यक्त्वमुद्योतनं
कृत्वा प्राप नरेन्द्रपूजनपदं पात्रादिकः केसरी ॥
अन्यश्चापि जिनेन्द्रशासनरतः सद्दर्शनोद्योतनं
भक्त्या यस्तु करोति निर्मलयशाः स स्वर्गमोक्षं भजेत् ॥ ५५ ॥

सत्कुन्देन्दुविशुद्धकीर्त्तिकलिते श्रीकुन्दकुन्दान्वये
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुभ्रातुः सदादेशतः ।
सूरिश्रीश्रुतसागरस्य सुधियः सम्यक्त्वरत्नश्रिये
सान्निध्ये शुचि सिंहनन्दिसुमुनेश्चक्रे मयेदं शुभम् ॥ ५६ ॥

इति कथाकोशे सम्यक्त्वद्योतिनी पात्रकेसरिणः कथा समाप्ता ।

२–अकलङ्कदेवस्य कथा ।

अथ श्रीजिनमानम्य सर्वसत्वसुखप्रदम् ।
वक्ष्येऽकलङ्कदेवस्य ज्ञानोद्योतनसत्कथाम् ॥ १ ॥
अत्रैव भारते मान्यखेटाख्यनगरे वरे ।
राज्ञाऽभूच्छुभतुङ्गाख्यस्तन्मंत्री पुरुषोत्तमः ॥ २ ॥
भार्या पद्मावती तस्य तयोः पुत्रौ मनःप्रियौ ।
सञ्जातावकलङ्काख्यनिष्कलङ्कौ गुणोज्वलौ ॥ ३ ॥
नन्दीश्वरे महाष्टम्यामेकदा परया मुदा ।
पितृभ्यां रविगुप्ताख्यं नत्वा भक्त्या मुनीश्वरम् ॥ ४ ॥
गृहीत्वाऽष्ट दिनान्युच्चैर्ब्रह्मचर्यं सुशर्मदम् ।
क्रीडया पुत्रयोश्चापि दापितं तद्व्रतं महत् ॥ ५ ॥
ततः कैश्चिद्दिनैर्दृष्ट्वा विवाहोद्यममद्भुतम् ।
पुत्राभ्यां भणितस्तातः किमर्थं क्रियते त्वया ॥ ६ ॥
परिश्रमो महानेष भो पितस्तन्निशम्य सः ।
भवतो सद्विवाहार्थं प्राहैवं पुरुषोत्तमः ॥ ७ ॥
तच्छ्रुत्वा कथितं ताभ्यां किं विवाहेन भो सुधीः ।
आवयोर्ब्रह्मचर्यं च दापितं शर्मदं त्वया ॥ ८ ॥
पित्रोक्तं क्रीडया वत्सौ दापितं भवतोर्मया ।
ब्रह्मचर्यमिति श्रुत्वा प्राहतुस्तौ विचक्षणौ ॥ ९ ॥
धर्मे व्रते च का क्रीडा व्रीडा वा तदनन्तरम् ।
सम्प्राह युवयोर्दत्तं व्रतं चाष्ट दिनानि तत् ॥ १० ॥
इत्याकर्ण्य पितुर्वाक्यं पुत्रौ तावूचतुः पुनः ।
आवयोर्न कृता तात मर्यादाष्ट दिनैस्तथा ॥ ११ ॥

सूरिणा भवता चापि तस्मादाजन्म निर्मलम् ।
ब्रह्मचर्यं व्रतं वर्यं नियमस्तु विवाहके ॥ १२ ॥
इत्युक्त्वा सकलासारं व्यापारं परिहृत्य च ।
नाना शास्त्राण्यधीतानि ताभ्यां भक्त्या बहूनि वै ॥ १३ ॥
तथा बौद्धमतज्ञाता मान्यखेटे न वर्तते ।
ततस्तस्य मतं ज्ञातुं मूर्खच्छात्रस्य रूपकम् ॥ १४ ॥
धृत्वा ततो महाबोधिस्थान गत्वा गुणाकरौ ।
बौद्धमार्गपरिज्ञातुर्धर्माचार्यस्य सन्निधौ ॥ १५ ॥
स्थितौ, सोपि विजातीयं धर्माचार्यो विशोध्य च ।
ऊर्द्ध्वभूमौ परिस्थित्वा बौद्धांस्तद्बौद्धशास्त्रकम् ॥ १६ ॥
नित्यं पाठयति व्यक्तं जैनधर्मरतौ च तौ ।
भूत्वाऽज्ञौ मातृकापाठं पठन्तौ गूढमानसौ ॥ १७ ॥
तदाकर्णयतः स्मोच्चैरशेषं बौद्धशासनम् ।
एकसंस्थोऽकलङ्काख्यदेवोऽभूत्तद्विचक्षणः ॥ १८ ॥
निष्कलङ्को द्विसंस्थश्च चित्ते तच्चिन्तयत्परम् ।
एवं काले गलत्येव धर्माचार्यस्य चैकदा ॥ १९ ॥
व्याख्यानं कुर्वतस्तस्य श्रीमज्जैनेन्द्रभाषिते ।
सप्तभङ्गीमहावाक्ये कूटत्वात्संशयोऽजनि ॥ २० ॥
व्याख्यानमथ संवृत्य व्यायामं स गतस्तदा ।
शुद्धं कृत्वाशु तद्वाक्यं धृतवानकलङ्कवाक् ॥ २१ ॥
बौद्धानां गुरुणागत्य दृष्ट्वा वाक्यं सुशोधितम् ।
अस्ति कश्चिज्जिनाधीशशासनाम्भोधिचन्द्रमाः ॥ २२ ॥
अस्माकं मतविध्वंसी बौद्धवेषेण धूर्तकः ।
अस्मच्छास्त्रं पठन्सोऽत्र संशोध्यैवाशु मार्यताम् ॥ २३ ॥

इत्युक्त्वा शोधितास्तेन ते सर्वे शपथादिना ।
पुनः संकारिता जैनबिम्बस्योल्लङ्घनं तथा ॥ २४ ॥
तदाकलङ्कदेवेन चातुर्याद्गुणशालिना ।
प्रतिमोपरि संक्षिप्त्वा सूत्रं संसूत्रवेदिना ॥ २९ ॥
इयं सावरणा मूर्त्तिः कृत्वा संकल्पनं हृदि ।
तस्या उल्लङ्घनं चक्रे ततो जैनमजानता ॥ २६ ॥
कांस्योद्भवानि तेनोच्चैर्भाजनानि बहूनि च ।
गौण्यां निक्षिप्य बौद्धानां शयनस्थानसन्निधौ ॥ २७ ॥
एकैकं स्थापयित्वा च स्वकीयं चरमानुषम् ।
वन्दकं प्रति तान्येव दूरमुद्धृत्य वेगतः ॥ २८ ॥
निक्षिप्तानि ततो रात्रौ विद्युत्पातोपमे रवे ।
समुत्थितेऽकलंकाख्यनिष्कलङ्कौ कलस्वनौ ॥ २९ ॥
सारं पंचनमस्कारं स्मरन्तावुत्थितौ तदा ॥
धृत्वा तौ तत्समीपे च नीत्वाप्यालपितं चरैः ॥ ३० ॥
आदेशं देहि देवैतौ धूर्तौ जैनमतोत्तमौ ।
इति श्रुत्वा जगौ सोपि बौद्धेशो दुष्टमानसः ॥ ३१ ॥
धृत्वा सप्तमभूभागे पश्चाद्रात्रौ कुमारकौ ।
मार्यतामिति तौ तत्र नीत्वा च स्थापितौ तकैः ॥ ३२ ॥
निष्कलङ्कस्तदा प्राह भो धीमन्नकलङ्कवाक् ।
अस्माभिर्गुणरत्नानि भ्रातश्चोपार्जितानि वै ॥ ३३ ॥
दर्शनस्योपकारस्तु विहितो नैव भूतले ।
वृथा मरणमायातं तच्छ्रुत्वा ज्येष्ठबान्धवः ॥ ३४ ॥
जगादैवं महाधीरो माविसूरय धीधन ।
उपायो जीवितस्यायं विद्यते कोपि साम्प्रतम् ॥ ३५ ॥

इदं छत्रं करे धृत्वा क्षिप्त्वात्मानं सुयत्नतः ।
गत्वा भूमौ च यास्यावः स्वस्थानं वेगतः सुधीः ॥ ३६ ॥
इत्यालोच्य विधायोच्चैस्तत्सर्वं निर्गतौ च तौ ।
अर्धरात्रे गते यावन्मारणार्थं दुराशयैः ॥ ३७ ॥
अन्वेषितौ तदा नैव दृष्टौ तौ पत्तने ततः ।
वापिकूपतडागादौ संशोध्य प्राप्य ते पुनः ॥ ३८ ॥
अश्वारूढाः सुपापिष्ठाः कष्टाः सम्मारणेच्छया ।
दयावल्लीदवपृष्ठाः पृष्ठतो निर्गतास्तयोः ॥ ३९ ॥
उच्छलद्धूलिमालोक्य ज्ञात्वा तान्प्राणलोलुपान् ।
निष्कलङ्कोऽवदद्धीरो भो भ्रातस्त्वं विचक्षणः ॥ ४० ॥
एकसंस्थो महाप्राज्ञो दर्शनोद्यतनश्रिये ।
एतस्मिन्पद्मिनीखण्डमण्डिते सुसरोवरे ॥ ४१ ॥
संप्रविश्य निजात्मानं रक्षत क्षतकल्मष ।
मार्गे मां वीक्ष्य गच्छन्तं हन्त्वैते यान्तु पापिनः ॥ ४२ ॥
ततस्तद्वचनेनैव सखेदं सोऽकलङ्कवाक् ।
तत्रस्थितः प्रविश्योच्चैः के धृत्वा पद्मिनीदलम् ॥ ४३ ॥
न चक्रे केवलं तेन शरण्यं पद्मपत्रकम् ।
अनन्यशरणीभूतं शासनं च जिनेशिनाम् ॥ ४४ ॥
निष्कलङ्कस्तु नश्यन्सन्पृष्टोऽसौ रजकेन च ।
वस्त्रप्रक्षालनं कर्म कुर्वता गगनोद्गताम् ॥ ४५ ॥
धूलीं विलोक्य भीतेन किमेतदिति सोऽवदत् ।
शत्रुसैन्यं समायाति यन्नरं पश्यति ध्रुवम् ॥ ४६ ॥
तं हन्ति पापकृद्गाढं तेन सन्नश्यते मया ।
तच्छ्रुत्वा रजकः सोपि सार्धं तेनैव नष्टवान् ॥ ४७ ॥

ततस्ते पापिनो धृत्वा नश्यन्तौ तौ सुनिर्दयम् ।
हत्वा तयोः शिरोयुग्मं समादाय गृहं गताः ॥ ४८ ॥
किं न कुर्वन्ति भो लोके पापाय पापपण्डिताः ।
जिनधर्मविनिर्मुक्ता मिथ्यात्वविषदूषिताः ॥ ४९ ॥
येषां श्रीमज्जिनेन्द्राणां धर्मः शर्मशतप्रदः ।
लेशतोऽपि न हृत्कोशे तेषां का करुणाकथा ॥ ५० ॥
ततोऽकलङ्कदेवोऽसौ विनिर्गत्य सरोवरात् ।
मार्गे गच्छन् जिनेन्द्रोक्ततत्वविन्निश्चलाशयः ॥ ५१ ॥
कलिङ्गविषये रत्नसंचयाख्यं पुरं परम् ।
कैश्चिद्दिनैः परिप्राप्तस्तावद्वक्ष्ये कथान्तरम् ॥ ५२ ॥
तत्र राजा प्रजाऽभीष्टो नाम्ना श्रीहिमशीतलः ।
राज्ञी जिनेन्द्रपादाब्जभृङ्गी मदनसुन्दरी ॥ ५३ ॥
तया श्रीमज्जिनेन्द्राणां स्वयं कारितमन्दिरे ।
फाल्गुने निर्मलाष्टम्यां रथयात्रामहात्सवे ॥ ५४ ॥
प्रारब्धे जिनधर्मस्य स्वर्गमोक्षप्रदायिनः ।
महाप्रभावनाङ्गाय नाना सत्सम्पदा मुदा ॥ ५५ ॥
सङ्घश्री वन्दकेनोच्चैर्विद्यार्दपण पापिना ।
रथयात्रा न कर्त्तव्या जिनेन्द्रस्य महीपते ॥ ५६ ॥
जिनस्य शासनाभावादिति प्रोक्त्वा दुरात्मना ।
मुनीनां पत्रकं चापि दत्तं वादप्रकाङ्क्षया ॥ ५७ ॥
ततश्च भूभुजा प्रोक्तं हे प्रिये जैनदर्शनम् ।
समर्थ्येयं प्रकर्त्तव्या यात्रा वै नान्यथा त्वया ॥ ५८ ॥
तच्छ्रुत्वा सा सती राज्ञी भूत्वा चोद्विग्नमानसा ।
श्रीमज्जिनालयं गत्वा पापस्य विलयं तदा ॥ ५९ ॥

नत्वा जगौ मुनीन्द्राणामस्माकं दर्शने बुधाः ।
एतस्य वन्दकस्योच्चैः कोप्यस्ति प्रतिमल्लकः ॥ ६० ॥
जित्वेमं यो महाभव्यो वाञ्छितं मे करोत्यलम् ।
श्रुत्वेति मुनयः प्राहुर्मान्यखेटादिकेषु ते ॥ ६१ ॥
एतस्मादधिकाः सन्ति पण्डिता जिनशासने ।
किन्तु दूरे तदाकर्ण्य सुन्दरीमदनादिका ॥ ६२ ॥
सर्पोऽस्ति मस्तकोपान्ते योजनानां शते भिषक् ।
इत्युक्त्वा श्रीजिनेन्द्राणां कृत्वा पूजां विशेषतः ॥ ६३ ॥
राजगेहं परित्यज्य प्रविश्य जिनमन्दिरम् ।
सङ्घश्रीदर्पविध्वंसात्पूर्वरीत्या शुभोदयात् ॥ ६४ ॥
यात्रा रथस्य मे पूता भविष्यति महोत्सवैः ।
धर्मप्रभावना चापि तदा मे भोजनादिकम् ॥ ६५ ॥
प्रवृत्तिर्नान्यथा चेति कृत्वा चित्ते सुनिश्चयम्
जिनाग्रे संस्थिता पंच जपन्ती सुनमस्कृतीः ॥ ६६ ॥
कायोत्सर्गेण मेरोर्वा निश्चला सारचूलिका ।
सर्वथा भव्यजन्तूनां जिनभक्तिः फलप्रदा ॥ ६७ ॥
अर्धरात्रे ततस्तस्याः सारपुण्यप्रभावतः ।
चक्रेश्वरी महादेवी विष्टरस्य प्रकम्पनात् ॥ ६८ ॥
समागत्य शुभे श्रीमज्जिनपादाब्जमानसे ।
किंचिन्मा कुरु चोद्वेगमहो मदनसुन्दरि ॥ ६९ ॥
प्रातः सङ्घश्रियोमानमर्दनैकविचक्षणः ।
रथप्रभावनाकारी श्रीमज्जैनागमे चणः ॥ ७० ॥
नाना मनोरथानां ते पूरको दिव्यमूर्तिमान् ।
अत्राऽकलङ्कदेवाख्यस्तव पुण्यात्समेष्यति ॥ ७१ ॥

इत्युक्त्वा सा गता भक्त्या तच्छ्रुत्वा च महीपतेः ।
सा राज्ञी परमानन्दनिर्भराभक्तितत्परा ॥ ७२ ॥
महास्तुतिं जिनेन्द्राणां कृत्वा सद्वाञ्छितप्रदाम् ।
प्रातर्महाभिषेकं च विधायोच्चैस्तथार्चनम् ॥ ७३ ॥
ततोऽकलङ्कदेवस्य समन्वेषणहेतवे ।
चतुर्दिक्षु सती शीघ्रं प्रेषयामास सन्नरान् ॥ ७४ ॥
तन्मध्ये ये गतास्तत्र पूर्वस्यां दिशि पूरुषाः
तैरुद्यानवनेऽशोकवृक्षमूलेऽकलङ्कवाक् ॥ ७५ ॥
कैश्चिच्छात्रैः समायुक्तः कुर्वन्विश्रामकं सुखम् ।
दृष्टोऽसौ सर्वशास्त्रज्ञः पृष्ट्वैकं छात्रकं ततः ॥ ७६ ॥
तन्नामापि समागत्य सर्वं राज्या निवेदितम् ।
ततो राज्ञी महाभूत्या सर्वसङ्घसमन्विता ॥ ७७ ॥
साऽन्नजपानसद्दानसमेता धर्मवत्सला ।
तत्रागत्य लसत्प्रीत्या वन्दितः स बुधोत्तमः ॥ ७८ ॥
तस्य सन्दर्शनात्तुष्टा सा सती शुद्धमानसा ।
पद्मिनीव रवेर्मेधा मुनेर्वा तत्त्वदर्शनात् ॥ ७९ ॥
चन्दनागुरुकर्पूरैर्नानावस्त्रादिभिस्तराम् ।
पूजयामास तं राज्ञी बुधं धर्मानुरागतः ॥ ८० ॥
ततः स प्राह पूतात्मा विद्वज्जनशिरोमणिः ।
भो देवि भवतां क्षेमः सङ्घस्यापि प्रवर्त्तते ॥ ८१ ॥
तं निशम्याश्रुपातं च राज्या कुर्वाणया पुनः ।
स्वामिन्सन्तिष्ठते सङ्घः किन्तु तस्यापमानता ॥ ८२ ॥
वर्तते साम्प्रतं चेति तया प्रोक्त्वा समग्रतः ।
सङ्घश्रीचेष्टितं तस्य सूचितं चारुचेतसः ॥ ८३ ॥

तदाकर्ण्याकलङ्काख्यः कोपतः किल संजगौ ।
कियन्मात्रो वराकोऽयं सङ्घश्रीर्यन्मया समम् ॥ ८४ ॥
वादं कर्त्तुं समर्थो न सुगतोपि मदोद्धतः ।
इति प्रव्यक्तसद्वाक्यैस्तां सन्तोष्य समग्रधीः ॥ ८५ ॥
सङ्घश्रीवन्दकस्योच्चैर्दत्वा पत्रं महोत्सवैः ।
सम्प्राप्तः श्रीजिनेन्द्रस्य मन्दिरं शर्ममन्दिरम् ॥ ८६ ॥
सङ्घश्रिया तदालोक्य पत्रं क्षुभितचेतसः ।
तन्न भिन्नं महापत्रं श्रुत्वा तद्गर्जनाक्रमम् ॥ ८७ ॥
तदाकलङ्कदेवोऽसौ हिमशीतलभूभुजा ।
सम्भ्रमेण समानीय वादं तेनैव कारितः ॥ ८८ ॥
सङ्घश्रिया महावादं तेन सार्धं प्रकुर्वता ।
नाना प्रत्युत्तरैर्दृष्ट्वा तस्य वाग्विभवं नवम् ॥ ८९ ॥
अशक्तिं चात्मनो ज्ञात्वा ये केचिद्बौद्धपण्डिताः ।
देशान्तरे स्थिताः सर्वास्तान्समाहूय गर्वितान् ॥ ९० ॥
पूर्वसिद्धां तथा देवीं ताराभगवतीं निशि ।
तदावतार्य तेनोक्तं समर्थोऽहं न सुन्दरि ॥ ९१ ॥
वादं कर्त्तुमनेनैव सार्धं देवि तया द्रुतम् ।
एष वादेन कर्तव्यो निग्रहस्थानभाजनम् ॥ ९२ ॥
इत्याकर्ण्य तया प्रोक्तं सभायां भूपतेर्मया ।
अन्तःपटे घटे स्थित्वा विवादः क्रियते पुनः ॥ ९३ ॥
ततः प्रभाते भूपाग्रे सङ्घश्रीः कपटेन च ।
अन्तःपटेन कस्यापि मुखं चापश्यता मया ॥ ९४ ॥
विचित्रवाक्यविन्यासैरुपन्यासो विधीयते ।
इत्युक्त्वाऽन्तःपटं दत्वा बुद्धदेवार्चनं तथा ॥ ९५ ॥

तद्देव्याश्चर्चनं कृत्वा चक्रे कुम्भावतारणम् ।
करोति केतवं मूढो नास्त्येवान्तेनुसिद्धिदम् ॥ ९६ ॥
ततो घटं प्रविश्योच्चैः सा देवी दिव्यवाग्भरैः ।
क्षणोपन्यासकं कर्त्तुं प्रवृत्ता निजशक्तितः ॥ ९७ ॥
अथाकलङ्कदेवोपि दिव्यध्वानिविराजितः ।
कृत्वोपन्यासकं तस्याः खण्डखण्डं क्षणक्षयम् ॥ ९८ ॥
अनेकान्तमतं पूतं सारतत्वैः समन्वितम् ।
स्वपक्षस्थापकं गाढं परपक्षक्षयप्रदम् ॥ ९९ ॥
तत्समर्थयितुं लग्नः समर्थो भयवर्जितः ।
एवं तयोर्महावादैः षण्मासाः संययुस्तराम् ॥ १०० ॥
तदाकलङ्कऽदेवस्य मानसे निशि चाभवत् ।
चिन्तामानुषमात्रोऽयं वन्दको दासकोपमः ॥ १०१ ॥
एतावन्ति दिनान्येवं मया सार्धं करोत्यरम् ।
वादं किं कारणं चेति सचिन्तश्चतुरोत्तमः ॥ १०२ ॥
स श्रीमानकलङ्काख्यो यावदास्ते विचारवान् ।
तावच्चक्रेश्वरी देवी समागत्य सुपुण्यतः ॥ १०३ ॥
अहो धीमज्जिनेन्द्रोक्तसारतत्त्वविदाम्वर ।
अकलङ्क त्वया सार्धं वादं कर्त्तुं न भूतले ॥ १०४ ॥
समर्थो नरमात्रोऽसौ किन्तु वादं त्वया समम् ।
करोति तारिका देवी दिनान्येतानि धीधन ॥ १०५ ॥
अतः प्रातः समुत्थाय पूर्वोपन्यस्ततद्वचः ।
व्याघुटय पृच्छ तां तस्या मानभङ्गो भविष्यति ॥ १०६ ॥
इत्युक्त्वा सा गता देवी ततः सोप्यकलङ्कवाक् ।
देवतादर्शनाज्जातपरमानन्दानिर्भरः ॥ १०७ ॥

प्रातर्गत्वा जिनं नत्वा सभायां दिव्यमूर्त्तिभाक् ।
क्रीडार्थं च प्रभावार्थं धर्मस्यैव जिनेशिनः ॥ १०८ ॥
दिनान्येतानि संचक्रे वादोऽनेन समं मया ।
अद्य वादं द्रुतं जित्वा भोजनं क्रियते ध्रुवम् ॥ १०९ ॥
उक्त्वेति स्पष्टसद्वाक्यैर्वादं कर्त्तुं समुद्यतः
उपन्यासं ततस्तस्याः कुर्वत्यास्तेन जल्पितम् ॥ ११० ॥
प्रागुक्तं कीदृशं वाक्यं तदस्मांक प्रकथ्यते ।
तदाकर्ण्याकलङ्कस्य वाक्यं हृत्क्षोभकारणम् ॥ १११ ॥
देवता वचनैकत्वादुत्तरं दातुमक्षमा ।
सूर्योदये निशेवाशु सा गता मानभङ्गतः ॥ ११२ ॥
ततोऽकलङ्कदेवेन समुत्थायप्रकोपतः ।
अन्तःपटं विदार्योच्चैः स्फोटयित्वा च तं घटम् ॥ ११३ ॥
महापादप्रहारेण हत्वा रूपं तु सौगतम्
मानभङ्गं तथा कृत्वा तेषां मिथ्याकुवादिनाम् ॥ ११४ ॥
पुनर्मदनसुन्दर्या सम्प्राप्तानन्दसम्पदः ।
समस्तभव्यलोकानामग्रतः परया मुदा ॥ ११५ ॥
गलगर्जितं विधायोच्चैस्तेनोक्तं चेति सोत्सवम् ।
अहो मया वराकोऽयं सङ्घश्रीर्धर्मवर्जितः ॥ ११६ ॥
निर्जितः प्रथमे घस्रे किन्तु दैव्यैतया समम् ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां मतोद्योतनहेतवे ॥ ११७ ॥
संज्ञानोद्योतनार्थं च कृतो वादः स्वलीलया ।
एतदुक्त्वा महाकाव्यं स्वामिना पठितं स्फुटम् ॥ ११८ ॥

" नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया

राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धाघान्सकलान्विजित्य सुगतः पादेन विस्फालितः ॥"

तदा प्रभृति बौद्धास्ते नरेन्द्राद्यैर्निराकृताः ।
त्यक्त्वा देशं द्रुतं नष्टा खद्योता वा दिनागमे ॥ ११९ ॥
एवं श्रीमज्जिनेन्द्राणां दृष्ट्वा ज्ञानप्रभावनाम् ।
हिमशीतलभूपाद्याः सर्वे ते भक्तिभारतः ॥ १२० ॥
जिनधर्मरता भूत्वा त्यक्त्वा मिथ्यामतं द्रुतम् ।
नाना रत्नसुवर्णाद्यैः संस्तोत्रैः शर्मकारिभिः ॥ १२१ ॥
पूजयन्ति स्म तं पूतमकलङ्कं बुधोत्तमम् ।
श्रीमज्जिनेन्द्रसंज्ञानप्रभावात्के न पूजिताः ॥ १२२ ॥
तथा मदनसुन्दर्या महोत्सवशतै रथः ।
विचित्ररचनोपेतो लसत्पट्टांशुकैर्वृतः ॥ १२३ ॥
संरणत्किङ्किणीजालो घण्टाटङ्कारशोभितः ।
त्रैलोक्यपूज्यजैनेन्द्रमहाबिम्बैः पवित्रितः ॥ १२४ ॥
नाना छत्रवितानाद्यैश्चामराद्यैरलङ्कृतः ।
कनत्काञ्चनसद्रत्नमुक्तामालाविराजितः ॥ १२५ ॥
अनेक भव्यलोकानां समन्ताज्जयघोषणैः ।
सम्पतत्कुसुमामोदैः सुगन्धीकृतादिङ्मुखः ॥ १२६ ॥
झल्लरीतालकंसालभेरीभम्भामृदङ्गकैः ।
पठत्पण्डितसन्दोहैश्चारणस्तुतिपाठकैः ॥ १२७ ॥
कामिनीगीतझङ्कारैर्नानानृत्यादिभिर्युतः ।
जङ्गमः पुण्यरत्नानां रोहणाद्रिरिवोद्गतः ॥ १२८ ॥
वस्त्राभरणसन्दोहैर्नाना ताम्बूलदानतः ।
स भव्यानां विभाति स्म पर्यटन्निव सुरद्रुमः ॥ १२९ ॥

वर्ण्यते स रथः केन यस्य दर्शनमात्रतः ।
अनेकदुर्द्दशां चापि संजाता दर्शनश्रियः ॥ १३० ॥
इत्यादि सम्पदासारै रथः पूर्णमनोरथः ।
सम्यक्चचाल तद्राज्या यशोराशिरिवापरः ॥ १३१ ॥
सोऽस्माकं भव्यजीवानां नाना शर्मशतप्रदः ।
नित्यं सम्भावितश्चित्ते दद्यात्सद्दर्शनश्रियम् ॥ १३२ ॥
यथाऽकलङ्कदेवोऽसौ चक्रे ज्ञानप्रभावनाम् ।
अन्येनापि सुभव्येन कर्त्तव्या सा सुखप्रदा ॥ १३३ ॥

स जयति जिनदेवो देवदेवन्द्रवन्द्य—
त्रिभुवनसुखकारी यस्य बोधप्रदीपः ।
गुणगणमणिरुद्रो बोधसिन्धुर्मुनीन्द्रो
दिशतु मम शिवानि श्रीप्रभाचन्द्रदेवः ॥ १३४ ॥

इति कथाकोशे ज्ञानेद्योतिनी श्रीमदकलङ्कदेवस्य कथा समाप्ता ।

३—सनत्कुमारचक्रवर्त्तिनः कथा ।

नत्वा पञ्च गुरून्भक्त्या स्वर्गमोक्षसुखप्रदान् ।
चारित्रद्योतने वच्मि चरित्रं तुर्यचाक्रिणः ॥ १ ॥
अत्रैव भरतक्षेत्रे वीतशोकपुरे प्रभुः ।
अभूदनन्तवीर्याख्यो राज्ञी सीताऽभिधा सती ॥ २ ॥
पुत्रः सनत्कुमारोऽभूत्तयोः सत्पुण्यपाकतः ।
चतुर्थश्चक्रवर्तीशः सम्यग्दृष्टिशिरोमणिः ॥ ३ ॥
षट्खण्डमण्डितां पृथ्वीं संसाध्यैव शुभोदयात् ।
निधानैर्नवभी रत्नैश्चतुर्दशाभिरुत्तमैः ॥ ४ ॥

गजैश्चतुरशीत्युक्तलक्षैर्दक्षो विराजितः ।
रथैस्तावत्प्रमाणैश्च नित्यं पूर्णमनोरथैः ॥ ५ ॥
अश्वैरष्टादशोत्कृष्टैः कोटिभिर्भर्मभूषितैः ।
भटैश्चतुरशीत्युक्तकोटिभिः शस्त्रपाणिभिः ॥ ६ ॥
ग्रामैः षण्णवतिप्रोक्तकोटिभिर्धान्यसम्भृतैः ।
स्त्रीणां षण्णवतिप्राप्तसङ्ख्यानैश्च सहस्रकैः ॥ ७ ॥
लसद्रत्नकिरीटाद्यैर्नरेन्द्राणां सहस्रकैः ।
द्वात्रिंशद्गणनोपेतैर्नित्यं सेवाविधायिभिः ॥ ८ ॥
इत्यादिसम्पदासारैर्देवविद्याधरैः श्रितः ।
रूपलावण्यसौभाग्यमहाभाग्यैः समन्वितः ॥ ९ ॥
कुर्वन्राज्यं महाप्राज्यं यावदास्ते विचक्षणः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां धर्मकर्मपरायणः ॥ १० ॥
तावत्सौधर्मकल्पेशः स्वकीये सदसि स्थितः ।
पुरुषस्य लसद्रूपगुणव्यावर्णनां पराम् ॥ ११ ॥
प्रकुर्वाणः सुरैः पृष्टो देव किं कोपि वर्तते ।
उक्तप्रकाररूपश्रीर्भरतक्षेत्रके न वा ॥ १२ ॥
इन्द्रेणोक्तं शुभं रूपं यादृशं चक्रवर्त्तिनः ।
सनत्कुमारनाम्नोऽस्ति देवानां नापि तादृशम् ॥ १३ ॥
तच्छ्रुत्वा मणिमालाख्यरत्नचूलौ सुरोत्तमौ ।
तद्रूपं दृष्टुमायातौ प्रच्छन्नं मज्जनक्षणे ॥ १४ ॥
चक्रिणोरूपमालोक्य सर्वावयवसुन्दरम् ।
वस्त्रभूषादिनिर्मुक्तं तथापि त्रिजगत्प्रियम् ॥ १५ ॥
देवानामपि नास्त्येवं रूपं ताभ्यां विचिन्त्य च ।
शिरःकम्पं विधायेति सिंहद्वारे प्रहर्षतः ॥ १६ ॥

स्वरूपं प्रकटीकृत्य प्रतीहारं प्रतीरितम् ।
भो दौवारिक भूपाग्रे त्वया शीघ्रं निरूप्यते ॥ १७ ॥
द्रष्टुकामौ भवद्रूपं स्वर्गाद्देवौ समागतौ ।
तदाकर्ण्य प्रतीहारश्चक्रिणं तन्निवेदयत् ॥ १८ ॥
ततस्तेन विधायोच्चैः शृङ्गारं चक्रवर्तिना ।
स्थित्वा सिंहासने भृत्याऽऽकारितौ तौ सुधाशिनौ ॥ १९ ॥
सभायां तौ समागत्य दृष्ट्वा भूपं समूचतुः ।
हा कष्टं यादृशं रूपं दृष्टं प्रच्छन्नवृत्तितः ॥ २० ॥
आवाभ्यां पूर्वमेवेदं लीलया मज्जनाश्रितम् ।
साम्प्रतं तादृशं नास्ति ततः सर्वमशाश्वतम् ॥ २१ ॥
तच्छ्रुत्वा सेवकैरुक्तं तथा मण्डनकारिणा ।
पूर्वरूपादिदानीं च न किञ्चिद्धीनतामितम् ॥ २२ ॥
अस्माकं प्रतिभातीति श्रुत्वा ताभ्यां च तद्वचः ।
तद्धीनस्य प्रतीत्यर्थं नृपाग्रे जलसम्भृतम् ॥ २३ ॥
कुम्भमानीय सर्वेषा दर्शयित्वा पुनश्च तान् ।
बहिर्निष्कास्य भूपस्य पश्यतः पुरतो घटम् ॥ २४ ॥
तोयबिन्दुमपाकृत्य तस्मात्तृणशलाकया ।
तानाहूय पुनस्तेषां स कुम्भो दर्शितस्तराम् ॥ २५ ॥
कीदृशः प्रागिदानीं च कुम्भोयं कथ्यतामिति ।
सम्पृष्टास्ते जगुश्चैवं पूर्णोयं पूर्ववद्ध्रुवम् ॥ २६ ॥
देवौ ततश्च भो राजन् यथायं जलबिन्दुकः ।
दूरीकृतोपि न ज्ञातस्तथा ते रूपहीनता ॥ २७ ॥
एतैर्न लक्ष्यते चेति कथयित्वा दिवं गतौ ।
ततश्चक्री चमत्कारं दृष्ट्वा चित्ते विचारयन् ॥ २८ ॥

पुत्रमित्रकलत्रादिसम्पदा विविधा तराम् ।
चंचला चपलेवासौ संसारे दुःखसागरे ॥ २९ ॥
बीभत्सु तापकं पूति शरीरमशुचेर्गृहम् ।
का प्रीतिर्विदुषामत्र यत्क्षणार्धे परिक्षयि ॥ ३० ॥
भोगाः पञ्चेन्द्रियोत्पन्ना वञ्चकेभ्योति वञ्चकाः ।
यैर्वञ्चितो जनोयं च पिशाचीव प्रवर्तते ॥ ३१ ॥
मिथ्यात्वग्रसितो जीवो जैनवाक्यामृते हिते ।
न करोति मतिं मूढो ज्वरीव क्षीरशर्करे ॥ ३२ ॥
अद्य हत्वा महामोहं कुर्वेहं स्वात्मनो हितम् ।
इत्यादिकं विचार्योच्चैः सुधीर्वैराग्यतत्परः ॥ ३३ ॥
कृत्वा पूजां जिनेन्द्राणां सर्वसिद्धिप्रदायिनीम् ।
दानं विधाय कारुण्यादथायोग्यं सुखप्रदम ॥ ३४ ॥
दत्वा देवकुमाराय राज्यं पुत्राय धीधनः ।
त्रिगुप्तमुनिपार्श्वे च दीक्षां जैनीं जगद्धिताम् ॥ ३५ ॥
गृहीत्वा गुरुसद्भक्त्या तपश्चोग्राप्रसंज्ञकम् ।
कुर्वन्पञ्च प्रकारं च चारित्रं प्रतिपालयन् ॥ ३६ ॥
तदा विरुद्धकाहारैस्तस्य सर्वशरीरके ।
अनेकव्याधयो जाताः कण्डूप्रभृतयस्तराम् ॥ ३७ ॥
तथाप्यसौ महासाधुः शरीरेऽत्यन्तनिस्पृहः ।
चिन्तां नैव करोत्युच्चैः कुरुते चोत्तमं तपः ॥ ३८ ॥
तदा सौधर्मकल्पेशः सुधीर्धर्मानुरागतः ।
संस्थितः स्वसभामध्ये चारित्रं पञ्चधा मुदा ॥ ३९ ॥
व्यावर्ण्यंश्च देवेन पृष्टो मदनकेतुना ।
देव देव यथा प्रोक्तं चारित्रं भवता तथा ॥ ४० ॥

किं कस्यापि लसद्दृष्टेः क्षेत्रे भरतसंज्ञके ।
अस्ति वा नास्ति तच्छ्रुत्वा सौधर्मेन्द्रो जगाद च ॥ ४१ ॥
सनत्कुमारचक्रेशस्त्यक्त्वा षट्खण्डमण्डिताम् ।
तृणवच्च महीं धीमान्स्वदेहेऽतीव निस्पृहः ॥ ४२ ॥
तच्चरित्रं जगाच्चित्रं पञ्चधास्ति जिनोदितम् ।
एतदाकर्ण्य देवोसौ शीघ्रं मदनकेतुवाक् ॥ २३ ॥
तत्रागत्य महाटव्यामनेकव्याधिसंयुतम् ।
निश्चलं मेरुवद्गाढं सुरासुरनमस्कृतम् ॥ ४४ ॥
दुर्धरं भूरि चारित्रमनुतिष्ठन्तमद्भुतम् ।
समालोक्य मुनीन्द्रं तं पवित्रीकृतभूतलम् ॥ ४५ ॥
सम्प्राप्य परमानन्दं तथा तस्य परीक्षितुम् ।
शरीरे निस्पृहत्वं च वैद्यरूपं विधाय वै ॥ ४६ ॥
स्फेटयित्वा महाव्याधीन्सर्वान्वैद्यशिरोमणिः ।
शीघ्रं दिव्यं करोम्युच्चैः शरीरं रोगवर्जितम् ॥ ४७ ॥
एवं मुहुर्मुहुर्व्यक्तं ब्रुवाणः पुरतो मुनेः ।
इतस्ततश्च सञ्चरन्पृष्टोऽसौ मुनिना तदा ॥ ४८ ॥
कस्त्वं किमर्थमत्रैव निर्जने च वने घने ।
पूत्कारं सङ्करोषीति तदाकर्ण्य सुरोऽवदत् ॥ ४९ ॥
वैद्योऽहं भवतां देव निखिलं व्याधिसञ्चयम् ।
स्फेटयित्वा सुवर्णाभशरीरं सङ्करोम्यहम् ॥ ५० ॥
ततश्च स मुनिः प्राह यदि स्फेटयसि ध्रुवम् ।
व्याधिं मे स्फेटय त्वं च शीघ्रं सांसारिकं सुधीः ॥ ५१ ॥
तेनोक्तं भो मुने नाऽहं समर्थस्तन्निवारणे ।
तत्र शूरा भवन्त्येव भवन्तस्तु विचक्षणाः ॥ ५२ ॥

ततः प्रोक्तं मुनीन्द्रेण किं व्याधिस्फेटनेन मे ।
अशाश्वतेऽशुचौ काये निर्गुणे दुर्जनोपमे ॥ ५३ ॥
निष्ठीवनस्य संस्पर्शमात्रेण व्याधिसङ्क्षयः ॥
यत्र शीघ्रं भवत्येव किं कार्यं वैद्यभेषजैः ॥ ५४ ॥
इत्युक्त्वा मुनिना तेन स्वनिष्ठीवनमात्रतः ।
अपनीय महाव्याधिं स्वबाहुर्दर्शितः शुभः ॥ ५५ ॥
दृष्ट्वा स्वर्णशलाकाभं बाहुमेकं मुनेस्तराम् ।
स्वमायामुपसंहृत्य तं प्रणम्य जगाद सः ॥ ५६ ॥
भो स्वामिन्भवतां चित्रं चरित्रं दोषवर्जितम् ।
निस्पृहत्वं शरीरादौ सौधर्मेन्द्रेण वर्णितम् ॥ ५७ ॥
सभायां यादृशं देव महाधर्मानुरागतः ।
तादृशं दृष्टमेवात्र समागत्य मयाऽधुना ॥ ५८ ॥
अतस्त्वं धन्य एवात्र भूतले जन्म ते शुभम् ।
मानुष्यं शर्मदं चेति तं प्रशस्य मुहुर्मुहुः ॥ ५९ ॥
नत्वा भक्तिभरेणोच्चैः स्वर्गं देवो गतस्तदा ।
मुनिः सनत्कुमारोऽसौ महावैराग्यतः पुनः ॥ ६० ॥
पञ्च प्रकारचारित्रं प्रकृष्टोद्योतनादिकम् ।
विधाय क्रमशो धीरः शुक्लध्यानप्रभावतः ॥ ६१ ॥
घातिकर्मक्षयं कृत्वा लोकालोकप्रकाशकम् ।
सम्प्राप्तः केवलज्ञानं देवेन्द्राद्यैः प्रपूजितः ॥ ६२ ॥
सम्बोध्य सकलान्भव्यान्सद्धर्मामृतवर्षणैः ।
शेषकर्मक्षयं कृत्वा प्राप्तवान्मोक्षमक्षयम् ॥ ६३ ॥
सोऽस्माकं केवलज्ञानी स्वर्गमोक्षसुखप्रदः ।
पूजितो वन्दितो नित्यं भूयात्सत्केवलश्रिये ॥ ६४ ॥

यथाऽनेन मुनीन्द्रेण चारित्रोद्योतनं कृतम् ।
तथान्येन सुभव्येन कर्त्तव्यं तद्धि शर्मदम् ॥ ६५ ॥

गच्छे श्रीमति मूलसङ्घतिलके श्रीशारदायाः शुभे
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुश्चारित्रचूडामणिः ।
तच्छिष्यो गुणरत्नराञ्जितमतिर्नित्यं सतां सद्गति—
र्भूयान्मे भवतारको वरमुदे श्रीसिंहनन्दी मुनिः ॥ ६६ ॥

इति चारित्रोद्योतिनी श्रीसनत्कुमारचक्रवर्तिनः कथा समाप्ता ।

४-श्रीसमन्तभद्रस्वामिनः कथा ।

नत्वा जिनं जगत्पूज्यं द्योतने दृष्टिबोधयोः ।
श्रीमत्समन्तभद्रस्य चरित्रं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
इहैव दाक्षिणस्थायां काञ्च्यां पुर्यां परत्मावित् ।
मुनिः समन्तभद्राख्यो विख्यातो भुवनत्रये ॥ २ ॥
तर्कव्याकरणोत्कृष्टच्छन्दोऽलङ्कृतिकादिभिः ।
अनेकशास्त्रसन्दोहैर्मण्डितो बुधसत्तमः ॥ ३ ॥
दुर्द्धरानेकचारित्ररत्नरत्नाकरो महान् ।
यावदास्ते सुखं धीरस्तावत्तत्कायकेऽभवत् ॥ ४ ॥
असद्वेद्यमहाकर्मोदयाद्दुर्दुःखदायिनः ।
तीव्रकष्टप्रदः कष्टं भस्मकव्याधिसंज्ञकः ॥ ५ ॥
तेन सम्पीडितश्चित्ते चिन्तयत्यैवमञ्जसा ।
व्याधिनानेन सन्तप्ता विद्वान्सोपि वयं भुवि ॥ ६ ॥
दर्शनस्योपकाराय जाता नैव समर्थकाः ।
अतस्तद्व्याधिनाशाय विधिः कश्चिद्विधीयते ॥ ७ ॥

स विधिस्तु भवेन्नाना पक्वान्नाहारसञ्चयैः ।
अन्यैः स्निग्धतरैरन्नैस्तद्दुःखौघप्रशान्तिदः ॥ ८ ॥
तदाहारस्य सम्प्राप्तेरभावादत्र साम्प्रतम् ।
यस्मिन्देशे यथास्थाने येन लिङ्गेन सम्भवेत् ॥ ९ ॥
तथाहारपरिप्राप्तिराश्रयं तं व्रजाम्यहम् ।
विचार्येति परित्यज्य पुरीं काञ्चीं स संयमी ॥ १० ॥
उत्तराभिमुखो गच्छन्पुण्ड्रेन्दुनगरे गतः ।
तत्र वन्दकलोकानां स्थाने च महतीं मुदा ॥ ११ ॥
दानशालां समालोक्य भस्मकव्याधिसङ्क्षयः ।
भविष्यत्यत्र संचिन्त्य धृतवान्बौद्धलिङ्गकम् ॥ १२ ॥
तत्रापि तन्महाव्याधिशान्तिदाहारदुर्विधात् ।
स निर्गत्य पुनस्तस्मादुत्तरापथसम्मुखः ॥ १३ ॥
पर्यटन्नगराण्युच्चैरनेकानि क्षुधाहतः ।
सम्प्राप्तः कतिभिर्घस्रैः पुरं दशपुराभिधम् ॥ १४ ॥
तत्र दृष्ट्वा तथा भागवतानामठमुन्नतम् ।
तल्लिङ्गिभिः समाकीर्णं काककीर्णं वनं यथा ॥ १५ ॥
तद्भाक्तिकैः सदा दत्तविशिष्टाहारसञ्चयम् ।
त्यक्त्वा वन्दकलिङ्गं च धृत्वा भागवतं हि तत् ॥ १६ ॥
तत्रैवं भस्मकव्याधिविनाशाहारहानितः ।
ततो निर्गत्य नानोरुदिग्देशादींश्च पर्यटन् ॥ १७ ॥
अन्तः स्फुरितसम्यक्त्वो बहिर्व्याप्तकुलिङ्गकः ।
शोभितोऽसौ महाकान्तिः कर्दमाक्तो मणिर्यथा ॥ १८ ॥
वाणारसीं ततः प्राप्तः कुलघोषैः समन्वितम् ।
योगिलिङ्गं तथा तत्र गृहीत्वा पर्यटन्पुरे ॥ १९ ॥

स योगी लीलया तत्र शिवकोटिमहीभुजा ।
कारितं शिवदेवोरुप्रासादं सम्विलोक्य च ॥ २० ॥
सृष्टाष्टादशसद्भक्षसमूहैश्चारुकैर्युतम् ।
अत्रास्मदीयदुर्व्याधिशान्तिता सम्भविष्यति ॥ २१ ॥
यावदेवं विचार्योच्चैः संस्थितस्तावदेव च ।
कृत्वा देवस्य तैः पूजां भाक्तिकैर्भक्षभेदकैः ॥ २२ ॥
बहिर्निक्षिप्यमाणं च दृष्ट्वा नैवेद्यकं महत् ।
अहो किमत्र कस्यापि सामर्थ्यं नास्ति सोऽवदत् ॥ २३ ॥
यः कोपि देवमत्रेममवतार्य सुभक्तितः ।
राज्ञा सम्प्रेषितं दिव्यमाहारं भोजयत्यलम् ॥ २४ ॥
इत्याकर्ण्य जगुस्तेपि किं सामर्थ्यं तवास्ति च ।
भक्षं भोजयितुं देवमवतार्य यतो भवान् ॥ २५ ॥
वदत्येवं तदाकर्ण्य स जगौ मेस्ति तद्ध्रुवम् ।
ततस्तत्र स्थितैर्लोकैः शीघ्रं राज्ञे निवेदितम् ॥ २६ ॥
योगिनैकेन देवात्र समागत्य महाद्भुतम् ।
त्वदीयदेवसत्पूजाविसर्जनविधौ प्रभो ॥ २७ ॥
बहिर्निक्षिप्यमाणं च नैवेद्यं संविलोक्य तत् ।
प्रोक्तमत्रावतार्याशु देवं दिव्याशनं महत् ॥ २८ ॥
भोजयामीति तच्छ्रुत्वा शिवकोटिमहीपतिः ।
सञ्जातकौतुको दिव्यं नानाहारं घृतादिभिः ॥ २९ ॥
प्रचुरेक्षुरसैर्दुग्धदध्यादिकसमन्वितैः
पूर्णैः कुम्भशतैर्युक्तं सत्प्रपैर्वटकादिभिः ३० ॥
समादाय समागत्य तत्रैवं संजगाद सः ।
भोजयन्तु भवन्तस्तु देवं भो योगिनोऽशनम् ॥ ३१ ॥

एवं करोमि तेनोक्त्वा सर्वं तद्भोज्यसञ्चयम् ।
प्रासादान्तः प्रविश्योच्चैः सर्वान्निष्कास्य तान्बहिः ॥ ३२ ॥
द्वारं दत्वा स्वयं भुक्त्वा कपाटयुगलं पुनः ।
समुद्घाट्य ततः प्रोक्तं भाजनानि बहिस्तराम् ॥ ३३ ॥
निस्सार्यतां ततो जाते महाश्चर्ये स भूपतिः ।
नित्यं नैवेद्यसन्दोहं कारयित्वोत्तरोत्तरम् ॥ ३४ ॥
प्रेषयामास सद्भक्त्या षण्मासेषु गतेषु च ।
संजाते भस्मकव्याधिप्रक्षये तस्य योगिनः ॥ ३५ ॥
आहारे प्रकृतिं प्राप्ते शरीरे शान्तितामिते ।
समस्तभक्षसन्दोहं दृष्ट्वा चोद्धरितं जगुः ॥ ३६ ॥
ततस्तत्र स्थिता लोकाः किं भो योगीन्द्र साम्प्रतम् ।
तथैवोद्ध्रियते सर्वो नाना भक्षसमुच्चयः ॥ ३७ ॥
तेनोक्तं भूपतेर्भक्त्या सन्तृप्तो भगवानयम् ।
स्तोकमेवात्र भुंक्ते च तच्छ्रुत्वा ते जगुर्नृपम् ॥ ३८ ॥
तत्सर्वं भूपतिः सोपि शुष्कपुष्पादिवेष्टितम् ।
धृतं माणवकं तस्य चारित्रं वीक्षितुं तराम् ॥ ३९ ॥
तं प्रणालप्रदेशे च स्थापयामास मूढतः ।
द्वारं दत्वा तु योगीन्द्रं भुञ्जानं वीक्ष्य तत्स्वयम् ॥ ४० ॥
छात्रो जगौ नृपस्याग्रे योगी भो देव किं चन ।
देवं न भोजयत्येव किन्तु भुंक्ते स्वयं पुनः ॥ ४१ ॥
तदाकर्ण्य नृपः प्राह कोपेन कलितस्तराम् ।
भो योगिंस्त्वं मृषावादी न किञ्चिद्भोजनादिकम् ॥४२॥
देवं मे भोजयस्येव किन्तु दत्वा कपाटकम् ।
स्वयं त्वं भक्षयत्येव महान्धूर्ततरो भवान् ॥ ४३ ॥

नमस्कारं न देवस्य करोषीति कथं पुनः ।
तच्छ्रुत्वा योगिना प्रोक्तं देवस्ते सोढुमक्षमः ॥ ४४ ॥
अस्माकं सुनमस्कारं रागद्वेषमलीमसः ।
राजत्वं राजते नैव राजन्सामान्यके नरे ॥ ४५ ॥
यस्त्वष्टादशदुर्दोषैर्निर्मुक्तो जिनभास्करः ।
केवलज्ञानसत्तेजोलोकालोकप्रकाशकः ॥ ४६ ॥
अस्मदीयं नमस्कारं स सोढुं वर्तते क्षमः ।
तेनाहं न नमस्कारं करोम्यस्मै महीपते ॥ ४७ ॥
यद्यस्मै तं करोम्युच्चैस्तदायं तव देवकः ।
स्फुटत्यैव तदाकर्ण्य नृपः प्राह सकौतुकः ॥ ४८ ॥
स्फुटत्यसौ स्फुटत्यैव कुरु त्वं च नमस्कृतिम् ।
पश्यामस्ते नमस्कारसामर्थ्यं सकलं ध्रुवम् ॥ ४९ ॥
ततो जगाद योगीन्द्रः प्रभाते भवतां पुनः ।
सामर्थ्यं दर्शयिष्यामि मदीयं भो महीपते ॥ ५० ॥
एवमस्त्वीति सम्प्रोक्त्वा राज्ञा तं योगिनं तदा ।
धृत्वा देवगृहे पश्चाद्बहिस्तु बहुयत्नतः ॥ ५१ ॥
खड्गपाणिभटैर्गाढं हस्तिनां च घटादिभिः ।
संरक्षितस्तदा रात्रिप्रहरद्वितये गते ॥ ५२ ॥
— मयोक्तं रभसादित्थं न विद्मः किं भविष्यति ।
इत्यादिचिन्तनोपेतः संस्मरञ्जिनपादयोः ॥ ५३ ॥
यावदास्ते स योगीन्द्रस्तावदासनकम्पनात् ।
— अम्बिकाशु समागत्य जिनशासनदेवता ॥ ५४ ॥
तं जगाद प्रभो श्रीमज्जिनपादाब्जषट्पद ।
चिन्तां मा कुरु योगीन्द्र यत्प्रोक्तं भवता ध्रुवम् ॥ ५५ ॥

" **स्वयंभुवा भूतहिते—नभूतल** " इति स्फुटम् ।
पदमाद्यं विधायोच्चैः कुर्वतः स्तुतिमुन्नताम् ॥ ५६ ॥
चतुर्विंशतितीर्थेशां शान्तिकोटिविधायिनाम् ।
भविष्यति द्रुतं सर्वे स्फुटिष्यति कुलिङ्गकम् ॥ ५७ ॥
इत्युक्त्वा सा गता देवी जिनभक्तिपरायणा ।
ततः समन्तभद्रोसौ देवतादर्शनात्तराम् ॥ ५८ ॥
सञ्जातपरमानन्दप्रोल्लसद्वदनाम्बुजः ।
चतुर्विंशतितीर्थेशां स्तुतिं कृत्वा सुखं स्थितः ॥ ५९ ॥
प्रभाते च समागत्य राज्ञा कौतुहलाद्द्रुतम् ।
समस्तलोकसन्दोहसंयुतेन महाधिया ॥ ६० ॥
देवद्वारं समुद्घाटय बहिराकारितो हि सः ।
आगच्छन्तं समालोक्य सम्मुखं हृष्टचेतसम् ॥ ६१ ॥
विकाशितमुखाम्भोजभास्करं वा महाद्युतिम् ।
ततश्चेतसि भूपेन चिन्तितं योगिनोधुना ॥ ६२ ॥
मूर्त्तिः सन्दृश्यते दिव्या ध्रुवं निर्वाहयिष्यति ।
आत्मीयं भावितं चेति संविचार्यैव योगिराट् ॥ ६३ ॥
तेनोच्चैर्भणितः शीघ्रं भो योगीन्द्र कुरु ध्रुवम् ।
त्वं देवस्य नमस्कारं पश्यामो वयमद्भुतम् ॥ ६४ ॥
चतुर्विंशतितीर्थेशां योगीन्द्रेण महास्तुतिः ।
प्रारब्धा भक्तितः कर्तुं शर्मदा दिव्यभाषया ॥ ६५ ॥
तां कुर्वन्नष्टमश्रीमच्चन्द्रप्रभजिनेशिनः ।
तमस्तमोरिव रश्मिभिन्नमिति संस्तुतेः ॥ ६६ ॥
वाक्यं यावत्पठत्येवं स योगी निर्भयो महान् ।
तावत्सल्लिङ्गकं शीघ्रं स्फुटितं च ततस्तराम् ॥ ६७ ॥

निर्गता श्रीजिनेन्द्रस्य प्रतिमा सुचतुर्मुखी ।
संजातः सर्वतस्तत्र जयकोलाहलो महान् ॥ ६८ ॥
समुत्पन्ने महाश्चर्ये भूपादीनां ततो नृपः ।
जगौ योगीन्द्र भो कस्त्वं परमाश्चर्यकारकः ॥ ६९ ॥
महासामर्थ्यसंयुक्तोऽयन्कालिंगीति तच्छ्रुतेः ।
स्फुटं काव्यद्वयं चेति योगीन्द्रः समुवाच सः ॥ ७० ॥
"काञ्च्यां नग्नाटकोहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः
पुण्ड्रोन्द्रे शाकभिक्षुर्दशपुरनगरे मृष्टभोजी परिव्राट् ।
वाणारस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुराङ्गस्तपस्वी ।
राजन्यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ॥
पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालवसिन्धुढक्कविषये काञ्चीपुरे वैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटैर्विद्योत्कटैः सङ्कटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ॥"
इत्युक्त्वा कुलघोषस्य त्यक्त्वा लिङ्गं कुलिङ्गिनः ।
जैननिर्ग्रन्थसल्लिङ्गं शिखिपिच्छसमन्वितम् ॥ ७१ ॥
सन्धृत्यैकान्तिनः सर्वान्वादिनो दुर्मदान्वितान् ।
अनेकान्तप्रवादेन निर्जित्यैकहेलया ॥ ७२ ॥
कृत्वा श्रीमज्जिनेन्द्राणां शासनस्य प्रभावनाम् ।
स्वर्मोक्षदायिनीं धीरो भावितीर्थङ्करो गुणी ॥ ७३ ॥
समुद्योतितवान्सारं सम्यग्दर्शनमुत्तमम् ।
कुदेवस्य नमस्काराऽकरणात्कविसत्तमः ॥ ७४ ॥
एकान्तवादिनां भङ्गात्सम्यग्ज्ञानं जिनेशिनः ।
स्वामी समन्तभद्राख्यो द्योतयामास शुद्धधीः ॥ ७५ ॥

एवं दृष्ट्वा महाश्चर्यं लोकानां भूपतेस्तराम् ।
श्रद्धा श्रीमज्जिनेन्द्राणां शासने समभूत्तदा ॥ ७६ ॥
शिवकोटिमहाराजो विवेकोत्कृष्टमानसः ।
चारित्रमोहनीयस्य क्षयोपशमहेतुना ॥ ७७ ॥
महावैराग्यसम्पन्नो राज्यं त्यक्त्वा विचक्षणः ।
जैनीं दीक्षां समादाय शर्मदां गुरुभक्तितः ॥ ७८ ॥
सकलश्रुतसन्दोहमधीत्य क्रमशः सुधीः ।
लोहाचार्यकृतां पूर्वां शुद्धात्माराधनां पराम् ॥ ७९ ॥
सहस्रैश्चतुराशीत्या श्लोकैः संख्यामितां हिताम् ॥
संक्षिप्य ग्रन्थतो मन्दमेधातुच्छायुषोर्वशात् ॥ ८० ॥
अर्थतश्चारिहे लिङ्ग इत्यादिभिरनुत्तरैः ।
चत्वारिंशन्महासूत्रैः सन्मूलाराधनां नवाम् ॥ ८१ ॥
तृतीयाद्धसहस्राप्तसंख्यां चक्रे जगद्धिताम् ।
सा राधना मुनीन्द्रौ तौ शर्मदाः सन्तु मे सदा ॥ ८२ ॥
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तविलसद्रत्नाकरो निर्मलः
कामोद्दामकरीन्द्रपञ्चवदनो विद्यादिनन्दी गुरुः ।
षट्तर्कागमजैनशास्त्रनिपुणः श्रीमूलसङ्घे श्रियं
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुः सूरिः श्रुताब्धिः क्रियात् ॥ ८३ ॥

इति सम्यग्दर्शनज्ञानोद्योतिनी श्रीसमन्तभद्रस्वामिनः कथा समाप्ता ।

५–श्रीसञ्जयन्तमुनेः कथा ।

श्रीमज्जैनपदाम्भोजयुग्मं नत्वा सुखप्रदम् ।
सञ्जयन्तमुनेर्वच्मि सत्तपोद्योतने कथाम् ॥ १ ॥

जम्बूद्वीपे महामेरोः पश्चिमास्थे विदेहके ।
विषये गन्धमालिन्यां वीतशोकपुरे पुरे ॥ २ ॥
वैजयन्तो महाराजो भव्यश्री नाम तत्प्रिया ।
सञ्जयन्तजयन्ताख्यौ सञ्जातौ सुसुतौ तयोः ॥ ३ ॥
एकदा स महीनाथो विजयन्तोऽतिनिर्मलः ।
विद्युत्पातेन संवीक्ष्य मरणं पट्टहस्थिनः ॥ ४ ॥
महावैराग्यसम्पन्नो पुत्राभ्यां राज्यसम्पदम् ।
ददानो भणितस्ताभ्यां भो पितश्चेदिदं शुभम् ॥ ५ ॥
कथं सन्त्यज्यते राज्यं युष्माभिः सुविक्षणैः ॥
आवाभ्यां न ततस्तात राज्यं तद्गृह्यते सुधीः ॥ ६ ॥
ततो राज्यं बुधैस्त्याज्यं सञ्जयन्तसुताय च ।
वैजयन्ताय दत्वेति गृहीतं सुतपस्त्रिभिः ॥ ७ ॥
विशिष्टं स तपः कुर्वन्पिता सद्ध्यानवह्निना ।
घातिकर्मेन्धनं दग्ध्वा प्राप्तवान्केवलश्रियम् ॥ ८ ॥
केवलज्ञानपूजार्थं सञ्जाते मरुदागमे ।
मुनिर्जयन्तनामासौ संविलोक्य तदा लघुः ॥ ९ ॥
सद्रूपं धरणेन्द्रस्य विभूतिं च मनोहराम् ।
ईदृशं सुतरां रूपं सम्पदा महतीदृशी ॥ १० ॥
तपोमाहात्म्यतो भूयाच्छीघ्रं मे परजन्मनि ।
इत्युत्कटनिदानेन धरणेन्द्रश्चाभवत्ततः ॥ ११ ॥
सञ्जयन्तमुनिश्चापि पक्षमासोपवासकैः ।
क्षुत्पिपासादिभिः क्षीणो महाटव्यां सुनिश्चलः ॥ १२ ॥
स सूर्यप्रतिमायोगसंस्थितो गिरिवत्तराम् ।
तदातस्योपरिप्राप्तो विद्युद्दंष्ट्रो खगाधिपः ॥ १३ ॥

आकाशे स्वविमानस्य स्खलनाद्वीक्ष्य तं मुनिम् ।
ततस्तस्योपसर्गं च चक्रे कोपतो दृढम् ॥ १४ ॥
स मुनिस्तु निजध्यानाच्चलितो नैव धीरधीः ।
महावायुशतैश्चापि चालितः किं सुराचलः ॥ १५ ॥
ततस्तेनातिकष्टेन मुनिं विद्याप्रभावतः ।
नीत्वा च भरतक्षेत्रे पूर्वदिग्भागसंस्थिते ॥ १६ ॥
क्षिप्त्वा सिंहवतीमुख्यनदीपञ्चकसङ्गमे ।
तद्देशवर्तिनश्चापि सर्वलोकाः सुपापिनः ॥ १७ ॥
आकार्य भणिताः शीघ्रं राक्षसोऽयं महानहो ।
युष्मान्भक्षयितुं प्राप्तो मत्वैवं मार्यतामिति ॥ १८ ॥
तदाकर्ण्य मिलित्वा ते लोकैर्लकुटकादिभिः ।
पाषाणैर्मार्यमाणोपि शत्रुमित्रसमाशयः ॥ १९ ॥
दुष्टोपसर्गकं जित्वा स मुनिः सञ्जयन्तवाक् ।
घातिकर्मक्षयं कृत्वा केवलज्ञानमद्भुतम् ॥ २० ॥
उत्पाद्य शेषकर्माणि हत्वा मोक्षं गतो द्रुतम् ।
ततो निर्वाणपूजार्थं जाते देवागमे तराम् ॥ २१ ॥
यो जयन्तमुनिर्जातो धरणेन्द्रो निदानतः ।
तेनागतेन तं दृष्ट्वा बन्धोः कायं महाक्रुधा ॥ २२ ॥
एभिर्मदीयसद्बन्धोरुपसर्गः कृतो महान् ।
मत्वेति नागपाशेन बद्धा लोकाः सुनिष्ठुरम् ॥ २३ ॥
ततस्तैर्भणितं लोकैर्नजानीमो वंय प्रभो ।
एतत्सर्वमहापापं विद्युद्दंष्ट्रेण निर्मितम् ॥ २४ ॥
तच्छ्रुत्वा नागपाशेन तं बद्ध्वा पापिनं पुनः ।
सुनिक्षिप्य महाम्भोधौ मारयन्धरणेद्रवाक् ॥ २५ ॥

तदा दिवाकराख्येन देवेन भणितो द्रुतम् ।
किं नागेन्द्र वराकेन मारितेनामुना सुधीः ॥ २६ ॥
चतुर्भवान्तराण्युच्चैर्वैरं पूर्वं प्रवर्तते ।
कारणेन पुनस्तेन मुनेश्चोपद्रवः कृत ॥ २७ ॥
एतदाकर्ण्य नागेन्द्रः प्राहैवं ब्रूहि कारणम् ।
ततो दिवाकरेणोक्तं श्रृणुत्वं भो विचक्षण ॥ २८ ॥
जम्बूद्वीपेऽत्र विख्याते भरतक्षेत्रमध्यगे ।
पुरा सिंहपुरे राजा सिंहसेनोऽभवत्सुधीः ॥ २९ ॥
रामदत्ता महादेवी साध्वी तस्य विचक्षणा ।
मंत्री श्रीभूतिनामाभूत्परेषा वंचनापरः ॥ ३० ॥
पद्मखण्डे पुरे श्रेष्ठी सुमित्रो गुणमाण्डितः ।
पुत्रः समुद्रदत्ताख्यो सुमित्राकुक्षिसंभवः ॥ ३१ ॥
वाणिज्येनैकदागत्य तत्र सिंहपुरे महान् ।
वंणिक्समुद्रदत्तोऽसौ सत्यशौचपरायणः ॥ ३२ ॥
श्रीभूतिमंत्रिणः पार्श्वे धृत्वा सद्रत्नपञ्चकम् ।
गत्वा समुद्रपारं च तस्मादायाति तत्क्षणे ॥ ३३ ॥
पापतः स्फुटिते यान-पात्रे जातोतिनिर्धनः ।
आगतेन ततस्तेन श्रीभूतिस्तु स याचितः ॥ ३४ ॥
देहि मे पञ्च रत्नानि सत्यघोष दयापर ।
तेन श्रीभूतिना प्रोक्तं लोकानामग्रतस्तदा ॥ ३५ ॥
किं भो पुरा मया प्रोक्तं तत्सत्यं समभूद्वचः ।
मन्येऽहं धननाशेन समागच्छति कोप्ययम् ॥ ३६ ॥
निर्धनो गृहिलो भूत्वा कस्यापि महतस्तराम् ।
करिष्यति वृथा मूढो गले वल्गनकं ध्रुवम् ॥ ३७ ॥

कस्मात्समागतान्यस्य सद्रत्नानि महीतले ।
केन वा लोकितानीति किं न कुर्वन्ति पापिनः ॥ ३८ ॥
ततः समुद्रदत्तोपि मदीयं रत्नपंचकम् ।
श्रीभूतिर्न ददात्येवं सर्वस्मिन्नगरे सुधीः ॥ ३९ ॥
कृत्वा पूत्कारकं नित्यं राजवेश्मसमीपतः ।
पश्चात्पश्चिमरात्रौ च पूत्कारं प्रकरोत्यसौ ॥ ४० ॥
षण्मासेषु गतेष्वेवं राज्ञ्या राज्ञे निवेदितम् ।
देवायं गृहिलो न स्यादेक्यवाक्यप्रजल्पनात् ॥ ४१ ॥
एकान्ते च ततो राज्ञा सम्पृष्टो गृहिलो जगौ ।
पूर्ववृत्तान्तकं सर्वं रत्नानां सत्यमेव च ॥ ४२ ॥
ततः परस्परं द्यूते पृष्ट्वा तं रामदत्तया ।
श्रीभूतिं भोजनं पश्चात्साभिज्ञानेन तेन च ॥ ४३ ॥
रत्नार्थं प्रेषिता दासी पार्श्वे श्रीभूतिकस्त्रियः ।
न दत्तानि तया पश्चाज्जित्वा तन्मुद्रिकां शुभाम् ॥ ४४ ॥
प्रेषिता सा पुनर्नैव तया दत्तानि तानि च ।
जित्वा च प्रेषिते यज्ञोपवीते भीतया तया ॥ ४५ ॥
शीघ्रं रत्नानि दत्तानि तान्यादाय तया पुनः ।
भूपतेर्दर्शितान्युच्चैस्ततस्तेन महीभुजा ॥ ४६ ॥
स्वकीयसाररत्नानां मध्ये निक्षिप्य तानि च ।
धृत्वा समुद्रदत्ताग्रे युष्माकं त्वं गृहाण भो ॥ ४७ ॥
इत्युक्ते तेन रत्नानि गृहीतानि निजानि वै ।
न विस्मृतिः सतां क्वापि काले दीर्घतरे गते ॥ ४८ ॥
तदा कोपेन तेनोक्तं भूभुजा स्वाधिकारिणाम् ।
अस्य किं क्रियते ब्रूत महाचोरस्य पापिनः ॥ ४९ ॥

ततोधिकारिभिः प्रोक्तं राजन्नीदग्विधायिनः ॥
भक्षणं गोमस्योच्चैर्द्वात्रिंशन्मल्लमुष्टयः ॥ ५० ॥
सर्वस्वहरणं दण्डः क्रियते वास्य निश्चयात् ।
श्रीभूतिस्तु महालोभी क्रमाद्दण्डत्रयं कुधीः ॥ ५१ ॥
स्वीकृत्यैव महाकष्टमार्त्तध्यानेन पीडितः ।
मृत्वा तस्य नृपस्याभूद्भाण्डागारे भुजङ्गमः ॥ ५२ ॥
सुधीः समुद्रदत्तस्तु धर्माचार्यमहामुनेः ।
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं गृहीत्वा सुतपस्ततः ॥ ५३ ॥
मृत्वा कालेन तस्यैव सिंहसेनमहीपतेः ।
सिंहचन्द्राभिधो धीमान्पुत्रो जातोतिनिर्मलः ॥ ५४ ॥
एकदा सिंहसेनोसौ भाण्डागारे नृपो गतः ।
श्रीभूतिचरसर्पेण भक्षितो मरणं श्रितः ॥ ५५ ॥
सल्लकीवनमध्ये च हस्ती जातो महान् ध्रुवम् ।
नृपो मृत्वा गजो जातो दुस्सहः कर्मसञ्चयः ॥ ५६ ॥
राज्ञो मरणमालोक्य महाकोपेन मन्त्रतः ।
सुघोषमन्त्रिणाहूय सर्वान्सर्पान्प्रजल्पितम् ॥ ५७ ॥
भो नागा ये तु निर्दोषाः प्रवेशं वह्निकुण्डके ।
कृत्वा स्वस्थानके यान्तु तं कृत्वा ते च निर्गताः ॥ ५८ ॥
श्रीभूतिचरसर्पे च संस्थिते मंत्रिणोदितम् ।
विषं मुञ्चाग्निकुण्डे वा कुरु त्वं रे प्रवेशनम् ॥ ५९ ॥
अगन्धनकुलोद्भूतो नाहं मुञ्चामि तद्विषम् ।
इति क्रूराशयः सोपि कृत्वा वह्निप्रवेशनम् ॥ ६० ॥
मृत्वा कुर्कुटसर्पोऽभूत्पापी तत्सल्लकीवने ।
पापिनां पुनरावर्तो भवत्येवं कुयोनिषु ॥ ६१ ॥

रामदत्ता तदा राज्ञी पत्युर्मरणदुःखिता ।
कनश्र्यार्यिकापार्श्वे तपो धृत्वा सुखं स्थिता ॥ ६२ ॥
सिंहचन्द्रोपि तातस्य मरणेन विरक्तधीः ।
स्वभ्रात्रे पूर्णचन्द्राय राज्यं दत्वा कनीयसे ॥ ६३ ॥
सुव्रताख्यमुनेः पार्श्वे जैनीं दीक्षां गृहीतवान् ।
संजातः सुतपोयोगैर्मनःपर्ययबोधवान् ॥ ६४ ॥
एकदा तं मुनिं दृष्ट्वा चतुर्थज्ञानसंयुतम् ।
रामदत्तार्यिका प्राह भक्त्या नत्वा तपोनिधिम् ॥ ६५ ॥
स्वामिन्धन्योऽत्र मे कुक्षिर्धृतो येन भवान्भृशम् ।
पूर्णचन्द्रस्तु ते भ्राता कदा धर्मं गृहीष्यति ॥ ६६ ॥
तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह सिंहचंद्रो गुणोज्वलः ।
मातस्त्वं पश्य संसारवैचित्र्यं वच्मि तेऽधुना ॥ ६७ ॥
सिंहसेनो महाराजो दष्टः सर्पेण पापिना ।
स मृत्वा सल्लकीनामवने हस्ती बभूव च ॥ ६८ ॥
स मां वीक्ष्यैकदा धावन्मारणार्थे मया ततः ।
भणितो भो करीन्द्र त्वं सिंहसेनो नृपः पुरा ॥ ६९ ॥
पुत्रोऽहं सिंहचन्द्रस्ते प्राणेभ्यश्चातिवल्लभः ।
इदानीन्तु समायातो मारणार्थं कथं विधिः ॥ ७० ॥
इत्युक्ते स गजेन्द्रोपि भूत्वा जातिस्मरो महान् ।
अश्रुपात्तं तरां कुर्वन्नत्वा मे पादयोः स्थितः ॥ ७१ ॥
मया पुनस्ततस्तस्य कारयित्वा जिनेशिनः ।
सद्धर्मश्रवणं सारसम्यक्त्वाणुव्रतानि च ॥ ७२ ॥
ग्राहितानि गतः सोपि तान्युच्चैः प्रतिपालयन् ।
गृह्णन्नाहारतोयादिसमस्तं प्रासुकं पुनः ॥ ७३ ॥

क्षीणकायो नदीतीरे निर्मग्नः कर्दमे तदा ।
श्रीभूतिचरसर्पेण कुर्कुटाख्येन मस्तके ॥ ७४ ॥
स्थित्वा संखाद्यमानस्तु कृत्वा सन्यासमुत्तमम् ।
स्मरन्पञ्चनमस्कारान्सर्वपापक्षयङ्करान् ॥ ७५ ॥
मृत्वा स्वर्गे सहस्रारे देवोऽभूच्छ्रीधराह्वयः ।
नाना सत्सम्पदोपेतः किमन्यद्धर्मतः शुभम् ॥ ७६ ॥
सर्पः सोपि महापापी मृत्वा कष्टशतप्रदे ।
चतुर्थे नरके घोरे पतितः पापकर्मणा ॥ ७७ ॥
हस्तिनस्तस्य सद्दन्तौ तदा मुक्ताफलानि च ।
वनराजेन भिल्लेन गृहीत्वा तानि तेन च ॥ ७८ ॥
दत्तानि धनमित्राख्यसार्थवाहस्य तेन तु ।
पूर्णचंद्रमहीभर्तुरर्पितानि सुभक्तितः ॥ ७९ ॥
पूर्णचन्द्रेण दन्ताभ्यां स्वपल्यङ्कस्य कारिताः ।
पादा मुक्ताफलैर्हारो राज्ञीकण्ठे च कारितः ॥ ८० ॥
एवं संसारवैचित्र्यं पूर्णचन्द्रस्य कथ्यते ।
गत्वा मातस्त्वया सोपि जैनं धर्मं गृहीष्यति ॥ ८१ ॥
ततो नत्वा मुनिं सापि गता भूपस्य मन्दिरम् ।
तां दृष्ट्वा पूर्णचन्द्रश्चोत्थाय पल्यङ्कतो द्रुतम् ॥ ८२ ॥
प्रणम्य मातरं यावत्संस्थितो विनयानतः ।
सा जगौ पुत्र ते तातो दष्टः सर्पेण पापिना ॥ ८३ ॥
स मृत्वात्र गजेन्द्रोभूत्सल्लकीकानने सुधीः ।
सर्पो मृत्वा पुनः सोपि कुर्कुटाख्योहिकोऽभवत् ॥ ८४ ॥
निर्मग्नः कर्दमे हस्ती तेन सर्पेण भक्षितः ।
तद्दन्तौ हस्तिनस्तस्य मुक्ताफलकदम्बकम् ॥ ८५ ॥

अर्पयामास ते राजन्सार्थवाहः सुभक्तितः ।
एते पल्यङ्कपादास्ते तद्दन्ताभ्यां विनिर्मिताः ॥ ८६ ॥
हारोयं शोभते राज्ञीकण्ठे ते भूपते तराम् ।
ज्ञेयो मुक्ताफलैस्तस्य हस्तिनस्तु विनिर्मितः ॥ ८७ ॥
इत्यादिसर्वसंबन्धं स श्रुत्वा भूपतिस्तराम् ।
महोशोकेन सन्तप्तो गिरिर्दावानलेन वा ॥ ८८ ॥
ततः पल्यङ्कपादांस्तान्समालिङ्गय प्रमोहतः ।
हा तातेति च पूत्कारं पूर्णचन्द्रश्चकार सः ॥ ८९ ॥
अन्तःपुरेण तेनोच्चैः सुजनैश्च तथा जनैः ।
कृत्वा संरोदनं पश्चाच्चन्दनाक्षतपुष्पकैः ॥ ९० ॥
दन्तमुक्ताफलानां च पूजां कृत्वा ततः परम् ।
संस्कारस्तु कृतो लोके किन्न कुर्वन्ति मोहिनः ॥ ९१ ॥
पूर्णचन्द्रस्ततो धीमान्प्रतिपाल्य जिनोदितम् ।
सारं श्रावकसद्धर्मं महाशुक्रे सुरोजनि ॥ ९२ ॥
रामदत्ता तपस्तप्त्वा देवस्तत्रैव चाभवत् ।
के के नैव गता लोके कालेन कवलीकृताः ॥ ९३ ॥
चतुर्थज्ञानधारी च सिंहचन्द्रो मुनीश्वरः ।
शुद्धचारित्रयोगेन प्रान्तं ग्रैवेयकं गतः ॥ ९४ ॥
अथ जम्बूमति द्वीपे भरतस्थे खगाचले ।
श्रीसूर्याभपुरे राजा सुरावर्त्तो विचक्षणः ॥ ९५ ॥
यशोधरा महाराज्ञी रूपलावण्यमण्डिता ।
दानपूजालसच्छीलप्रोषधैः प्रविराजिता ॥ ७६ ॥
सिंहसेनचरो योऽसौ गजो मृत्वा दिवं गतः ।
तद्गर्भे हि समागत्य रश्मिवेगः सुतोभवत् ॥ ९७ ॥

ततः कैश्चिद्दिनैस्तस्मै रश्मिवेगाय धीमते ।
दत्वा राज्यं सुरावर्त्तो राजा जातो मुनीश्वरः ॥ ९८ ॥
अथैकदा महाराजो रश्मिवेगः सुधार्मिकः ।
सिद्धकूटजिनागारे वन्दनार्थं गतो मुदा ॥ ९९ ॥
तत्र श्रीहरिचन्द्राख्यं मुनिं दृष्ट्वा जगद्धितम् ।
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं तदन्ते सत्तपोऽगृहीत् ॥ १०० ॥
एकदा स तपःक्षीणो रश्मिवेगो महामुनिः ।
स्थितो वने गुहामध्ये कायोत्सर्गेण शुद्धधीः ॥ १०१ ॥
तदायं कुर्कुटः सर्पश्चतुर्थे नरकं गतः ।
स जातोऽजगरो नाम पापी सर्पस्तु तद्वने ॥ १०२ ॥
तं पूत्कारं प्रकुर्वन्तं दहन्तं काननं महत् ।
गुहाभिमुखमागच्छन्तं विलोक्य महाशयुम् ॥ १०३ ॥
सुधीः संन्याममादाय संस्थितो मुनिसत्तमः ।
भक्षितस्तेन दुष्टेन पापिनाजगरेण सः ॥ १०४ ॥
मृत्वा कापिष्ठकल्पेऽसौ देवो जातो महर्द्धिकः ।
आदित्यप्रभनामा श्री—जिनपादाब्जयो रतः ॥ १०५ ॥
मृत्वासोऽजगरो नागश्चतुर्थे नरकं गतः ।
छेदनैर्भेदनैः शूलारोहणाद्यैः कदर्थितः ॥ १०६ ॥
ततः कापिष्ठकल्पाच्च सिंहसेनचरः सुरः ।
च्युत्वा चक्रपुरे रम्ये चक्रायुधमहीपतिः ॥ १०७ ॥
चित्रमाला महादेवी तयोः पूर्वस्वपुण्यतः ।
वज्रायुधो सुतो जातो जैनधर्मधुरन्धरः ॥ १०८ ॥
तस्मै राज्यं समर्प्योच्चैश्चक्रायुधमहाप्रभुः ।
जैनीं दीक्षां समादाय संजातो मुनिसत्तमः ॥ १०९ ॥

वज्रायुधोपि सद्राज्यं चिरं भुक्त्वा प्रसन्नधीः ।
एकदा कारणं वीक्ष्य पितुः पार्श्वेऽभवन्मुनिः ॥ ११० ॥
पंकप्रभात्समागत्य स सर्पो रौद्रमानसः ।
संजातो निजपापेन भिल्लो नाम्नातिदारुणः ॥ १११ ॥
प्रयंगुपर्वते सोपि कायोत्सर्गेण संस्थितः ।
वज्रायुधो मुनिस्तेन हतो भिल्लेन बाणतः ॥ ११२ ॥
मुनिः सर्वार्थसिद्धिं च सम्प्राप्तः पुण्यसम्बलः ।
भिल्लो मृत्वा तथा पापी सप्तमं नरकं गतः ॥ ११३ ॥
सर्वार्थसिद्धितश्च्युत्वा वज्रायुधचरः सुरः ।
संजयन्तमुनिर्जातो विख्यातो भुवनत्रये ॥ ११४ ॥
पूर्णचन्द्रः पुरा यस्तु भवैः कैश्चित्सुनिर्मलैः ।
जयन्ताख्यो मुनिर्भूत्वा जातस्त्वं लोभतोहिराट् ॥ ११५ ॥
दीर्घकालं महादुःखं भुक्त्वा सप्तमदुस्तलात् ।
स भिल्लस्तु समागत्य नाना तिर्यक्कुयोनिषु ॥ ११६ ॥
भ्रान्त्वा चैरावते क्षेत्रे भूतादिरमणे वने ।
नदी वेगवती तस्यास्तटे गोश्रृङ्गतापसः ॥ ११७ ।
तत्प्रिया शंखिनी तस्यां जातो हरिणश्रृङ्गवाक् ।
पञ्चाग्निसाधनं कृत्वा मृत्वा जातः खगोप्यसौ ॥ ११८ ॥
विद्युद्दंष्ट्रोति पापिष्टः पूर्ववैरेण तेन च ।
उपसर्गो महांश्चक्रे मुनेरेतस्य दारुणः ॥ ११९ ॥
मुनिश्चासौ विशुद्धात्मा निश्चलो मेरुवत्तराम् ।
संजयन्तो जगत्पूज्यो जित्वा सर्वपरीषहान् ॥ १२० ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्तं सत्तपो द्योतनादिकम् ।
कृत्वा मोक्षं सुधीः प्राप्तः संजातोष्टमहागुणी ॥ १२१ ॥

भो नागेन्द्र त्वया धीमन् ज्ञात्वैवं संसृतेः स्थितिम् ।
त्यक्त्वा कोपं वराकोयं मुच्यतां नागपाशतः ॥ १२२ ॥
तच्छ्रुत्वा नागराजोसौ संजगाद महाद्युतिः ।
भो दिवाकरदेवाख्य यद्ययं मुच्यते मया ॥ १२३ ॥
शापोस्य दीयते दर्पविनाशाय दुरात्मनः ।
मा भूत्पुंसां कुले चास्य विद्यासिद्धिः कदाचन ॥ १२४ ॥
किं तु श्रीसंजयन्तस्य प्रतिमाग्रे सुभक्तितः ।
नाना सद्गन्धधूपाद्यैः स्त्रीणां तत्सिद्धिरस्तु वै ॥ १२५ ॥
इत्युत्वा तं विमुच्याशु सुधी नागाधिपस्तदा ।
जगाम स्थानकं स्वस्य मुनिभक्तिपरायणः ॥ १२६ ॥
इत्युत्कटतपोलक्ष्मीं भुक्त्वा लक्ष्मीं च शास्वतीम् ।
संजयन्तमुनिः प्राप्तः सोऽस्माकं सत्सुखं क्रियात् ॥ १२७ ॥
अर्हत्पादसरोजयुग्ममधुलिट् सद्बोधसिन्धुः सुधीः
सच्चारित्रविचित्ररत्ननिचयः श्रीकुन्दकुन्दान्वये ।
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुः संसारनिस्तारकः
कुर्यान्मे वरमङ्गलानि नितरां भव्यैर्जनैः सेवितः ॥ १२८ ॥

इति कथाकोशे सत्तपोद्योतिनी श्रीसंजयन्तमुनेः कथा समाप्ता ।

८–अंजनचोरस्य कथा ।

श्रीसर्वज्ञपदाम्भोजं नत्वा सारसुखप्रदम् ।
निःशङ्कितगुणोद्योते चरित्रं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
अत्रैव भरतक्षेत्रे देशे मगधसंज्ञके ।
श्रेष्ठी राजगृहे नाम्ना नगरे जिनदत्तवाक् ॥ २ ॥

श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्जसेवनैकमधुव्रतः ।
दानपूजाव्रताद्युक्तश्रावकाचारमण्डितः ॥ ३ ॥
एकदाऽसौ चतुर्दश्यां रात्रौ रौद्रे श्मशानके ।
त्रिधा वैराग्यसंयुक्तः कायोत्सर्गेण संस्थितः ॥ ४ ॥
तदामितप्रभो देवो जिनभक्तिपरायणः ।
अन्यो विद्युत्प्रभो देवो मिथ्यादृष्टिमतेक्षणः ॥ ५ ॥
ताभ्यां परस्परं धर्मपरीक्षार्थं महीतले ।
गच्छद्भ्यां तपसा मूढश्चालितो यमदग्निवाक् ॥ ६ ॥
तत्रागत्य श्मशाने च तं दृष्ट्वा श्रेष्ठिनं शुभम् ।
अमितप्रभदेवोऽसौ संजगाद प्रमोदतः ॥ ७ ॥
अहो विद्युत्प्रभोत्कृष्टचारित्रप्रतिपालकाः ।
तिष्ठन्तु मुनयो मेत्र किन्त्वैनं श्रावकोत्तमम् ॥ ८ ॥
चालय त्वं महाध्यानात्सामर्थ्ये वर्तते यदि ।
ततो विद्युत्प्रभाख्येन देवेनातीव दुस्सहः ॥ ९ ॥
तस्योपसर्गकश्चक्रे कृष्णरात्रौ महांस्तदा ।
स धीरश्चलितो नैव सद्दृष्टिर्निजयोगतः ॥ १० ॥
प्रभातसमये जाते ततस्ताभ्यां सुभक्तितः ।
स्वमायामुपसंहृत्य तं प्रशस्य मुहुर्मुहुः ॥ ११ ॥
आकाशगामिनीं विद्यां दत्वा तस्मै सुदृष्टये ।
प्रोक्तमेवं च भो श्रेष्ठिन्सिद्धा विद्या तवाद्भुता ॥ १२ ॥
इयं ते वचनात्पञ्चनमस्कारविधानतः ।
अन्यस्य सुधियश्चापि सुधीः सिद्धा भविष्यति ॥ १३ ॥
ततः सोपि लसद्दृष्टिः श्रेष्ठी विद्याप्रभावतः ।
अकृत्रिमे जिनागारे स्वर्गमोक्षसुखप्रदे ॥ १४ ॥

नित्यं श्रीजिनपूजार्थं महाभक्त्या प्रयाति च ।
सोमदत्तेन सम्पृष्टो वटुकेन तदा मुदा ॥ १५ ॥
अहो स्वामिन्भवद्भिस्तु प्रातरुत्थाय नित्यशः ।
क्क गम्यते महाभाग जैनधर्मपरायण ॥ १६ ॥
तच्छ्रुत्वा जिनदत्तोसौ जगौ श्रेष्ठी विशिष्टवाक् ।
विद्यालाभस्तु मे जातस्तेनाऽहं भक्तितस्तराम् ॥ १७ ॥
शाश्वतेषु जिनेन्द्राणां हेमचैत्यालयेषु च ।
नित्यं व्रजामि पूजार्थं महाशर्मविधायिषु ॥ १८ ॥
सोमदत्तस्ततः प्राह विद्यां मे देहि भो सुधीः ।
येनाहं भवता सार्धं सद्गन्धकुसुमादिकम् ॥ १९ ॥
गृहीत्वा तत्र चागत्य पूजां श्रीमज्जिनेशिनाम् ।
करोमि वन्दनां भक्तिं भवत्पुण्यप्रसादतः ॥ २० ॥
ततः श्रीजिनदत्तेन श्रेष्ठिना तस्य निर्मलः ।
दत्तो विद्योपदेशस्तु तत्समादाय सोपि च ॥ २१ ॥
रात्रौ कृष्णचतुर्दश्यां श्मशाने भूरिभीतिदे ।
वटद्रोः पूर्वशाखायां शतपादैर्वसूत्तरैः ॥ २२ ॥
अलंकृतं समारोप्य दर्भशिक्यं तथा तरोः ।
अधोभागे च शस्त्राणि वह्निज्वालोपमानि च ॥ २३ ॥
ऊर्ध्ववक्त्राणि संस्थाप्य कृत्वार्चां पुष्पकादिभिः ।
षष्ठोपवाससंयुक्तः स्थित्वा शिक्ये सुखप्रदम् ॥ २४ ॥
सारं पंचमस्कारं प्रोच्चैरुच्चारयंस्ततः ।
एकैकं दर्भपादं तं छिन्दंश्छुरिकया पुनः ॥ २५ ॥
अधस्थितं समालोक्य सुतीक्ष्णं शस्त्रसञ्चयम् ।
संभीतश्चिन्तयामास सोमदत्तः स्वचेतसि ॥ २६ ॥

यदीदं श्रेष्ठिनो वाक्यमसत्यं भवति ध्रुवम् ।
तदा मे प्राणनाशस्तु संभवत्येव साम्प्रतम् ॥ २७ ॥
इत्यादिसंशयोपेतश्चटनोत्तरणादिकम् ।
करोति स्म स मूढात्मा क सिद्धिर्निश्चयं विना ॥ २८ ॥
येषां श्रीमज्जिनेन्द्राणां स्वर्गमोक्षसुखप्रदे ।
वाक्येपि निश्चयो नास्ति तेषां सिद्धिर्न भूतले ॥ २९ ॥
तस्मिन्नेव क्षणे रात्रौ गणिकाञ्जनसुन्दरी ।
चोरमञ्जनकं प्राह शृणु त्वं प्राणवल्लभ ॥ ३० ॥
प्रजापालमहीभर्तुः कनकाख्या प्रियोत्तमा ।
तस्याः कण्ठे मया हारो दृष्टश्चातीव सुन्दरः ॥ ३१ ॥
तं समानीय चेद्धारं ददासि मम साम्प्रतम् ।
भर्त्ता मे त्वं भवस्येव नान्यथेति महाभट ॥ ३२ ॥
तच्छ्रुत्वाञ्जनचोरोसौ तस्यां संसक्तमानसः ।
ततो गत्वा तमादाय हारं रात्रौ स्वबुद्धितः ॥ ३३ ॥
समागच्छंस्तदा ज्ञात्वा हारोद्योतेन कर्कशैः ।
कोटपालादिभिर्गाढं ध्रियमाणः सुनिर्दयैः ॥ ३४ ॥
ततो हारं परित्यक्त्वा नष्ट्वागत्य स्मशानके ।
तथाभूतं तमालोक्य सोमदत्तं सुकातरम् ॥ ३५ ॥
पृष्ट्वा सम्बन्धकं तस्मान्मन्त्रमादाय चोत्तमम् ।
शिक्यमारुह्य निःशङ्कस्तेनैवविधिना मुदा ॥ ३६ ॥
वाक्यं मे श्रेष्ठिनो सत्यं प्रमाणं च तदेव हि ।
इत्युक्त्वा संछिनात्ति स्म शिक्यपादानशेषतः ॥ ३७ ॥
एकवारं सुधीः सोपि यावन्नोत्पतति ध्रुवम् ।
शस्त्रकेषु तदागत्य सा विद्याकाशगामिनी ॥ ३८ ॥

आदेशं देहि देवेति तं धृत्वा भक्तितो जगौ ।
ततः संप्राह चोरोसौ परमानन्दनिर्भरः ॥ ३९ ॥
यत्र मेरौ जिनेन्द्राणां प्रतिमाः पूजयान्स्थितः ।
श्रेष्ठी सन्तिष्ठते भक्त्या तत्र मां प्रापय ध्रुवम् ॥ ४० ॥
ततस्तया समादाय श्रेष्ठिनः सोग्रतो धृतः ।
जैनधर्मप्रसादेन किं शुभं यन्न जायते ॥ ४१ ॥
तं नत्वा भक्तितः प्राह निर्भयोञ्जनसंज्ञकः ।
भो श्रेष्ठिंस्त्वत्प्रसादेन प्राप्ता विद्या मया यथा ॥ ४२ ॥
आकाशगामिनी धीर तथा मे करुणार्णव ।
संमन्त्रो दीयते येन शीघ्रं सिद्धो भवाम्यहम् ॥ ४३ ॥
परोपकरिणा तेन श्रेष्ठिना गुणशालिना ।
चारणस्य मुनेः पार्श्वे जैनीं दीक्षां शिवप्रदाम् ॥ ४४ ॥
ग्राहितः सुतरां सोपि तामुच्चैः प्रतिपालयन् ।
क्रमात्कैलासमारूढो लोकालोकप्रकाशकम् ॥ ४५ ॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य भक्त्या त्रैलोक्यपूजितः ।
शेषकर्मक्षयं कृत्वा प्राप्तवान्मोक्षमक्षयम् ॥ ४६ ॥
निःशंकितगुणेनोच्चैरंजनोपि निरञ्जनः ।
संजातस्तु ततः सोपि पालनीयो बुधोत्तमैः ॥ ४७ ॥
सद्रत्नत्रयमण्डितोतिचतुरः श्रीमूलसङ्घाग्रणीः
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुः सद्बोधसिन्धुर्महान् ।
तच्छिष्यः कुमताद्रिभेदनपविः श्रीसिंहनन्दीमुनि —
र्जीयाद्भव्यसरोजनिर्मलरविः स्वाचार्यवर्यः सताम् ॥ ४८ ॥

इति कथाकोशे निःशङ्किताङ्गेऽञ्जनचोरस्य कथा समाप्ता ।

७—अनन्तमत्याः कथा ।

पादपद्मद्वयं नत्वा शर्मदं भक्तितोऽर्हताम् ।
निष्कांक्षितगुणोद्योते वक्ष्येनन्तमतीकथाम् ॥ १ ॥
अङ्गदेशेत्र विख्याते चारु चम्पापुरीप्रभुः ।
वसुवर्धननामाभूद्राज्ञी लक्ष्मीमती सती ॥ २ ॥
प्रियदत्तोऽभवच्छ्रेष्ठी परमेष्ठिप्रतीतिवान् ।
तद्भार्याङ्गवती नाम्ना धर्मकर्मविचक्षणा ॥ ३ ॥
तयोः पुत्री द्वयोर्जाता नाम्नानन्तमती सती ।
रूपलावण्यसौभाग्यगुणरत्नाकरक्षितिः ॥ ४ ॥
एकदा प्रियदत्तेन धर्मकीर्तिमुनीश्वरम् ।
नत्वा नन्दीश्वराष्टम्यां ब्रह्मचर्यं व्रतोत्तमम् ॥ ५ ॥
गृहीत्वाष्टदिनान्युच्चैः क्रीडया ग्राहिता सुता ।
सत्यं सतां विनोदोपि भवेत्सन्मार्गसूचकः ॥ ६ ॥
अन्यदा सम्प्रदानस्य कालेनन्तमती जगौ ।
दापितं ब्रह्मचर्यं मे त्वया तातेन किं पितः ॥ ७ ॥
तेनोक्तं क्रीडया पुत्रि दापितं ते मया व्रतम् ।
तयोक्तं तात का क्रीडा व्रते धर्मे च शर्मदे ॥ ८ ॥
श्रेष्ठी सुतां पुनः प्राह ननु पुत्रि व्रतं तदा ।
दत्तं तेष्टदिनान्येव कुलमन्दिरदीपिके ॥ ९ ॥
तच्छ्रुत्वा सा सुतोवाच पितर्भट्टारकैस्तथा ।
मर्यादा विहिता नैव भवतापि मम व्रते ॥ १० ॥
ततो मे जन्मपर्यन्तं ब्रह्मचर्यं व्रतं हितम् ।
नियमस्तु विवाहेस्ति प्रोक्त्वैवं परमार्थतः ॥ ११ ॥

जैनशास्त्रार्थसन्दोहे संस्थिताभ्यासतत्परा ॥
अथैकदा निजोद्याने दोलयन्ती स्वलीलया ॥ १२ ॥
चैत्रे सद्यौवनोपेतामुल्लसत्रूपसम्पदम् ।
खगाद्रिदक्षिणश्रेणिकिन्नराख्यः पुराधिराट् ॥ १३ ॥
विद्याधरो स्मरोन्मत्तो नाम्ना कुण्डलमण्डितः ।
सुकेश्याभार्ययोपेतः समागच्छन्नभोङ्गणे ॥ १४ ॥
तां विलोक्य किमेतेन जीवितेनैतया विना ।
संचिन्त्येति गृहे धृत्वा स खगः पुनरागतः ॥ १५ ॥
तां बालिकां समादाय यावद्याति नभस्तले ।
आगच्छन्तीं तदावेक्ष्य स्वकान्तां कोपकम्पिताम् ॥ १६ ॥
संभीतः पर्णलघ्व्याख्यविद्यया श्रेष्ठिनः सुताम् ।
महाटव्यां विटः सोपि मुक्तवान् शीलमण्डिताम् ॥ १७ ॥
हा तातेति प्रजल्पन्तीं तां सतीं कानने सदा ।
भीमाख्यभिल्लराजेन दृष्ट्वा नीत्वा स्वपल्लिकाम् ॥ १८ ॥
करोमि त्वां महाराज्ञीं ददामि बहुसम्पदम् ।
मामिच्छेति भणित्वा सा नेच्छन्ती वातिवित्तकम् ॥ १९ ॥
रात्रौ प्रभोक्तुमारब्धा तदा तच्छीलपुण्यतः ।
वनदेवतया तस्य ताडनाद्युपसर्गकः ॥ २० ॥
कृतः काचिदियं देवी महासामर्थ्यसंयुता ।
भिल्लेनेति विचार्योच्चैः सा कन्या कमलेक्षणा ॥ २१ ॥
पुष्पकाख्यमहासार्थवाहकस्य समर्पिता ।
सोपि तद्रूपसंसक्तः प्रोवाच मलिनं वचः ॥ २२ ॥
एतान्याभरणान्युच्चैर्नानासद्रत्नसञ्चयम् ।
गृहाण तव दासोस्मि मामिच्छेति प्रणष्टधीः ॥ २३ ॥

तयोक्तं यादृशं मेस्ति प्रियदत्तः पितापरः ।
तादृशास्त्वमपि भ्रष्ट मावादीः पापदं वचः ॥ २४ ॥
इत्यादिकं स्थिरं वाक्यं समाकर्ण्यैव पापिना ।
सार्थवाहेन चानीयायोध्यायां सुदृढव्रता ॥ २५ ॥
कामसेनाख्यकुट्टिन्याः पापिन्याः सा समर्पिता ।
कः कस्य दीयते दोषो विचित्रा कर्मणां स्थितिः ॥ २६ ॥
वेश्ययापि तयानेकप्रकारैश्चालिता सती ।
मेरोः सच्चूलिकेवासौ नाचलच्छीलशैलतः ॥ २७ ॥
येषां संसारभीरूणां न्यायोपार्जितवस्त्वपि ।
कदाचित्प्रीतये न स्यात्तन्मतिः किंकुकर्मसु ॥ २८ ॥
तदा तयापि कुट्टिन्या सिंहराजमहीभुजः ।
समर्पिता तथा बाला तस्याः सद्रूपयौवनम् ॥ २९ ॥
संविलोक्य सुलुब्धेन तेन रात्रौ दुरात्मना ।
हठात्सेवितुमारब्धा सा सती भुवनोत्तमा ॥ ३० ॥
तदा तद्व्रतमाहात्म्यात्पुरेदवतया क्रुधा ।
उपसर्गो महांश्चक्रे तस्य दुष्कर्मणस्ततः ॥ ३१ ॥
निस्सारिता सुभीतेन भूभुजा तेन मन्दिरात् ।
सापि पंचनमस्कारं संस्मरन्ती सुखप्रदम् ॥ ३२ ॥
क्वचिद्देशे स्थिता यावत्तस्याः पुण्यप्रभावतः ।
पद्मश्रीरार्यिका वीक्ष्य तां ज्ञात्वा श्राविकोत्तमाम् ॥ ३३ ॥
दृष्ट्वा तस्याश्चरित्रं च स्वान्तिके परमादरात् ।
स्थापयामास पूतात्मा सतां वृत्तं परार्थकृत् ॥ ३४ ॥
अथानन्तमतीशोकवह्निसन्तप्तमानसः ।
प्रियदत्तो महाश्रेष्ठी गृहान्निर्गत्य पुण्यधीः ॥ ३५ ॥

तद्दुःखहानये कैश्चित्सज्जनैः परिवेष्टितः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रसत्तीर्थयात्रां कुर्वन्सखप्रदाम् ॥ ३६ ॥
अयोध्यानगरीं प्राप्य सन्ध्यायां स गुणोज्वलः
तत्रस्थजिनदत्ताख्यश्यालकस्य गृहं गतः ॥ ३७ ॥
तेन श्रीजिनदत्तेन कृत्वा प्राघूर्णकक्रियाम् ।
सुखं पृष्टो जगौ श्रेष्ठी दुःखदं निजवृत्तकम् ॥ ३८ ॥
ततः प्रातः समुत्थाय प्रियदत्तोति धार्मिकः ।
स्नानादिकं विधायोच्चैर्गतो गेहं जिनेशिनाम् ॥ ३९ ॥
तदा कर्त्तुं च सद्भोज्यं चतुष्कं दातुमङ्गणे ।
जिनदत्तस्त्रियाहूता पद्मश्रीक्षान्तिकाश्रिता ॥ ४० ॥
कन्या सापि समागत्य भोज्यं कृत्वामृतोपमम् ।
दत्वांगणे चतुष्कं च प्रीतितो वसतिं गता ॥ ४१ ॥
ततो देवेन्द्रनागेन्द्रनरेन्द्राद्यैः समर्चिताः ।
जिनेन्द्रप्रतिमाः श्रेष्टी समभ्यर्च्य समागतः ॥ ४२ ॥
तच्चतुष्कं समालोक्य स्मृत्वानन्तमतीं स ताम् ।
अश्रुपातेन संयुक्तो जगाद प्रियदत्तवाक् ॥ ४३ ॥
ययेदं मण्डनं चक्रे सा समानीयतां द्रुतम् ।
ततस्तैः सुजनैस्तस्य सुतामानीय दर्शिता ॥ ४४ ॥
निर्गलच्छोकपानीयपूरपूरितलोचनाम् ।
समालिंग्य सतां श्रेष्टी प्रोवाच मधुरं वचः ॥ ४५ ॥
भो पुत्रि त्वं महाशीलसलिलक्षालिताखिल ।
पापकर्दमसन्दोहपापिना केन संहृता ॥ ४६ ॥
केनवात्र समानीता शून्यं कृत्वा ममालयम् ।
संपृष्टेति सुता प्राह सर्वं तद्वृत्तकं निजम् ॥ ४७ ॥

तदा श्रीजिनदत्तेन तयोर्मेलापके तराम् ।
चक्रे महोत्सवः पुर्यां सन्तुष्टेन स्वचेतसा ॥ ४८ ॥
प्रियदत्तस्ततः प्राह भो सुते निजमन्दिरम् ।
एहि संगम्यतेस्माभिः सानन्दं सुमनोहरम् ॥ ४९ ॥
सा चोवाच तदा पुत्री दृष्टं तात मयाधुना ।
कष्टं संसारवैचित्र्यं ततो दापय मे तपः ॥ ५० ॥
वल्लीवत्कोमलाङ्गी त्वं जैनी दीक्षा सुदुःसहा ।
कियत्कालं सुते तिष्ठ धर्मध्यानेन मन्दिरे ॥ ५१ ॥
पश्चात्ते वाञ्छितं पुत्रि पुण्यतः सम्भविष्यति ।
इत्यादिकोमलालापैः श्रेष्ठिना गुणशालिना ॥ ५२ ॥
निषेध्यपि तथा पुत्री महावैराग्यमण्डिता ।
पद्मश्रीक्षान्तिका पार्श्वे जैनीं दीक्षां सुखप्रदाम् ॥ ५३ ॥
समादाय लसद्भक्त्या तथानन्तमती दृढम् ।
पक्षमासोपवासादितपः कृत्वा सुदारुणम् ॥ ५४ ॥
सन्यासविधिना मृत्वा स्मरन्ती जिनपङ्कजम् ।
सहस्रारे सुरो जातः प्रोल्लसन्मुकुटादिभिः ॥ ५५ ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां साभवद्भक्तिभाजनम् ।
नाना सत्सम्पदोपेतः सुपुण्यात्किं न जायते ॥ ५६ ॥
क्रीडामात्रगृहीतशीलममलं सम्पाल्य शर्मप्रदं
नाना रत्नसुवर्णभोगनिचये निष्काङ्क्षितामाश्रिता ।
या सानन्तमती जिनेन्द्रचरणाम्भोजात्तभृङ्गीव्रता—
त्स्वर्गे देवमहर्द्धिकोजनि तरां दद्यात्सतां मङ्गलम् ॥ ५७ ॥

इति श्रीकथाकोशे निष्काङ्क्षिताङ्गेनन्तमतीकथा समाप्ता ।

८—उद्दायनराज्ञः कथा।

नत्वार्हतं जगत्पूज्यं भारतीं गुरुपङ्कजम्।
वक्ष्ये निर्विचिकित्साङ्गे कथामुद्दायनप्रभोः॥ १॥
इहैव भरतक्षेत्रे देशे कच्छाभिधे शुभे।
पुरे रौरवके नाम्ना सुधीरुद्दायनप्रभुः॥ २॥
सद्दृष्टिर्जिनदेवानां पादपद्मार्चने रतः।
दाता भोक्ता विचारज्ञः प्रजानां सुतरां हितः॥ ३॥
तस्य प्रभावती राज्ञी साध्वी पूर्णेन्दुनिर्मला।
दानपूजाव्रताम्भोभिः प्रक्षालितमनोमला॥ ४॥
निष्कण्टकं महाराज्यं कुर्वन्सद्धर्मतत्परः
यावदास्ते सुखं राजा स पुण्येन तदा मुदा॥ ५॥
धर्मानुरागतः स्वर्गे सौधर्मेन्द्रेण धीमता।
सभायां सर्वदेवानामग्रतश्चेति भाषितम्॥ ६॥
देवोर्हन्दोषनिर्मुक्तो धर्मश्चेति क्षमादिकः।
गुरुर्निर्ग्रन्थतायुक्तस्तत्वे श्रद्धार्हते रुचिः॥ ७॥
सा रुचिस्तु जिनेन्द्राणां स्वर्गमोक्षसुखप्रदा।
धर्मानुरागतस्तीर्थ-यात्राभिः सुमहोत्सवैः॥ ८॥
जिनेन्द्रभवनोद्धारैः प्रतिष्ठाप्रतिमादिभिः।
साधर्मिकेषु वात्सल्याज्जायते भव्यदेहिनाम्॥ ९॥
शृण्वन्तु सुधियो देवाः सम्यक्त्वं जगदुत्तमम्।
दुर्गत्यादिक्षयो यस्मात्सम्प्राप्तिः स्वर्गमोक्षयोः॥ १०॥
इत्यादिसारसम्यक्त्व-स्फीर्ति वर्णयता सता।
चक्रे निर्विचिकित्साङ्गे तेन तद्भूपतेः स्तुतिः॥ ११॥

तच्छ्रुत्वा वासवाख्यश्च देवो मायामयं द्रुतम् ।
दुष्टकुष्टव्रणोपेतं धृत्वा रूपं महामुनेः ॥ १२ ॥
मध्याह्ने तत्परीक्षार्थं भिक्षार्थी स समागतः ।
तदोद्दायनभूपालस्तं विलोक्य मुनीश्वरम् ॥ १३ ॥
पतन्तं पीडयाक्रान्तं मक्षिकाजालवेष्टितम् ।
ससम्भ्रमं समुत्थाय तिष्ठ तिष्ठेति सम्वदन् ॥ १४ ॥
प्रतिष्ठाप्य महाभक्त्या पादप्रक्षलनादिभिः ।
प्रासुकं सरसाहारं स तस्मै दत्तवान्मुदा ॥ १५ ॥
स भुक्त्वा विविधाहारं मायया प्रचुरं पुनः ।
महादुर्गन्धसंयुक्तं चकार वमनं मुनिः ॥ १६ ॥
तदा दुर्गन्धतो नष्टाः पार्श्वस्थाः सज्जनाः जनाः ।
प्रतीच्छन्वान्तिकं भूपः सस्त्रीकः संस्थितः सुधीः ॥ १७ ॥
तदा सोपि मुनिर्गाढं प्रभावत्यास्तथोपरि ।
महाकष्टेन दुर्गन्धं छर्दिकं कृतवान्पुनः ॥ १८ ॥
हा मया पापिना दत्तं विरुद्धं मुनयेशनम् ।
महापुण्यैर्विना पात्र-दानसिद्धिर्न भूतले ॥ १९ ॥
यथा चिन्तामणिः कल्प-वृक्षो वा वाञ्छितप्रदः ।
प्राप्यते तुच्छपुण्यैर्न पात्रदानं तथा क्षितौ ॥ २० ॥
इत्यादिकं स भूपालो निन्दां कुर्वन्निजात्मनः ।
स्वच्छतोयं समादाय क्षालनार्थं पुनर्वपुः ॥ २१ ॥
समुत्थितस्तदा सोपि ज्ञात्वा तद्भक्तिमद्भुताम् ।
देवो मायामपाकृत्य संजगाद प्रहर्षतः ॥ २२ ॥
अहो नरेन्द्र सद्दृष्टेर्महादानपतेस्तव ।
गुणो निर्विचिकित्साङ्गे सौधर्मेन्द्रेण वर्णितः ॥ २३ ॥

यादृशोत्र मयागत्य स दृष्टस्तादृशस्तराम् ।
अतस्त्वं श्रीजिनेन्द्रोक्त-सारधर्मस्य तत्ववित् ॥ २४ ॥
त्वां विना पाणिपद्माभ्यां मुनेर्वान्तिं सुदुःसहाम् ।
समुद्धर्तुं क्षमः कोत्र सम्यग्दृष्टिः शिरोमणिः ॥ २५ ॥
इति स्तुत्वा महीनाथं देवो वासवसंज्ञकः ।
प्रोक्त्वा वृत्तान्तकं सर्वं तं समर्च्य दिवं गतः ॥ २६ ॥
अहो पुण्यस्य माहात्म्यं सतां केनात्र वर्ण्यते ।
यद्वर्णनं सुराधीशः करोति परमादरात् ॥ २७ ॥
एकदोद्दायनो राजा राज्यं कुर्वन्स्वलीलया ।
दानपूजाव्रताद्युक्ते जिनधर्मे सुतत्परः ॥ २८ ॥
कियत्यपि गते काले कारणं वीक्ष्य किं चन ।
त्रिधा वैराग्यसम्पन्नो दत्वा राज्यं सुताय च ॥ २९ ॥
वर्द्धमानजिनेन्द्रस्य स्वर्गमोक्षप्रदायिनः ।
पादपङ्कजयोर्मूले महाभक्त्या सुनिश्चलः ॥ ३० ॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं देवेन्द्राद्यैः समर्चिताम् ।
प्रतिपाल्य जगत्सारं सुधी रत्नत्रयं मुदा ॥ ३१ ॥
ततो ध्यानाग्निना दग्ध्वा घातिकर्मचतुष्टयम् ।
केवलज्ञानमुत्पाद्य सुरासुरनरार्चितः ॥ ३२ ॥
सम्बोध्य सकलान्भव्यान्स्वर्गमोक्षप्रदायकः ।
शेषकर्मक्षयं कृत्वा सम्प्राप्तो मोक्षमक्षयम् ॥ ३३ ॥
प्रभावती महादेवी गृहीत्वा सुतपः सती ।
मुक्त्वा स्त्रीलिङ्गकं कष्टं ब्रह्मस्वर्गे सुरोभवत् ॥ ३४ ॥
सकलगुणसमुद्रः केवलज्ञानचन्द्रः
पदनमदमरेन्द्रः शर्मदः श्रीजिनेन्द्रः ।

स भवतु मम नित्यं सेवितो भक्तिभारै-
गुणगणमणिरुद्रो बोधसिन्धुर्यतीन्द्रः ॥ ३५ ॥

इति कथाकोशे निर्विचिकित्साङ्गे श्रीमदुद्दायनस्य कथा समाप्ता ।

९–श्रीरेवतीराज्याः कथा ।

प्रणम्य परया भक्त्या जिनेन्द्रं त्रिजगद्धितम् ।
कथाममूढदृष्टेश्च रेवत्या रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
अत्रैव विजयार्धस्थ-दक्षिणश्रेणिसंस्थिते ।
मेघकूटपुरे राजा नाम्ना चन्द्रप्रभः सुधीः ॥ २ ॥
प्राज्यं राज्यं प्रकुर्वाणश्चैकदा स खगेश्वरः ।
चन्द्रशेखरपुत्राय दत्वा राज्यं सुधार्मिकः ॥ ३ ॥
यात्रां कुर्वञ्जिनेन्द्राणां महातीर्थेषु शर्मदाम् ।
गत्वा दक्षिणदेशस्थ-मथुरायां स्वपुण्यतः ॥ ४ ॥
गुप्ताचार्यमुनेः पार्श्वे श्रुत्वा धर्मकथास्ततः ।
प्रोक्तः परोपकारोत्र महापुण्याय भूतले ॥ ५ ॥
इति ज्ञात्वा तथा तीर्थयात्रार्थे श्रीजिनेशिनाम् ।
काश्चिद्विद्या दधानोपि क्षुल्लको भक्तितोऽभवत् ॥ ६ ॥
एकदा तीर्थयात्रार्थमुत्तरां मथुरां प्रति ।
गन्तुकामेन तेनोच्चैर्गुरुः पृष्टः प्रणम्य च ॥ ७ ॥
किं कस्य कथ्यते देव भवद्भिः करुणापरैः ।
स प्राह परमानन्दाद्गुप्ताचार्यो विचक्षणः ॥ ८ ॥
सुव्रताढ्यमुनेर्वाच्या नतिर्मे गुणशालिनः ।
धर्मवृद्धिश्च रेवत्याः सम्यक्त्वासक्तचेतसः ॥ ९ ॥

त्रिपृष्टेन तदेवोच्चैराचार्येण प्रजल्पितम् ।
ततश्चन्द्रप्रभः सोपि क्षुल्लको निजचेतसि ॥ १० ॥
भव्यसेनमुनेरेका-दशाङ्गश्रुतधारिणः ।
अन्येषामपि न प्रोक्तं किंचिदत्रास्ति कारणम् ॥ ११ ॥
सम्प्रधार्येति गत्वा च तत्र सुव्रतसन्मुनेः ।
प्रोक्त्वा तद्वन्दनां तस्य तुष्टो वात्सल्यतस्तराम् ॥ १२ ॥
ये कुर्वन्ति सुवात्सल्यं भव्या धर्मानुरागतः ।
साधर्मिकेषु तेषां हि सफलं जन्म भूतले ॥ १३ ॥
ततोसौ क्षुल्लकश्चापि विनोदेन विशिष्टधीः ।
लिङ्गमात्रमुनेर्भव्य-सेनस्य वसतिं गतः ॥ १४ ॥
तेन विद्याप्रमत्तेन तस्मै सुब्रह्मचारिणे ।
न दत्ता धर्मवृद्धिश्च धिग्गर्वं कष्टकोटिदम् ॥ १५ ॥
यत्र वाक्येपि दारिद्रयं विवेकविकलात्मनि ।
प्राघूर्णकक्रिया तत्र स्वप्ने स्यादपि दुर्लभा ॥ १६ ॥
सर्वदोषापहं जैनं ज्ञानं तस्य मदेभवत् ।
सत्यं पुण्यविहीनाना-ममृतं च विषायते ॥ १७ ॥
ततस्तस्य परीक्षार्थं बहिर्भूमिं प्रगच्छतः ।
प्रातः कुण्डीं समादाय पृष्ठतश्चलितो व्रती ॥ १८ ॥
मार्गे स्वविद्यया तस्य ब्रह्मचारी गुणोज्वलः ।
कोमलैर्हरितैः स्निग्धैस्तृणाङ्कुरकदम्बकैः ॥ १९ ॥
आच्छादितं महीपीठं दर्शयामास सर्वतः ।
तद्विलोक्य महीपीठं भव्यसेनो विनष्टधीः ॥ २० ॥
एते त्वेकेन्द्रिया जीवाः प्रोक्ताः सन्ति जिनागमे ।
इत्युक्त्वात्राशर्चिं कृत्वा गतस्तेषां तदोपरि ॥ २१ ॥

ततः शौचक्षणे सोपि मायया कुण्डिकाजलम् ।
शोषयित्वा जगादैवं भो मुने नात्र विद्यते ॥ २२ ॥
कुण्डिकायां जलं तस्मादेतस्मिंश्च सरोवरे ।
शौचं मृत्तिकया सार्द्धं कुरु त्वं सुमनोहरे ॥ २३ ॥
भवत्वेवं भणित्वेति तत्र शौचं चकार सः ।
किं करोति न मूढात्मा कार्यं मिथ्यात्वदूषितः॥ २४ ॥
न स्यान्मुक्तिप्रदं ज्ञान-चारित्रं दुर्दृशामपि ।
उद्गतो भास्करश्चापि किं घूकस्य सुखायते ॥ २५ ॥
मिथ्यादृष्टिश्रितं शास्त्रं कुमार्गाय प्रवर्तते ।
तथा मृष्टं भवेत्कष्टं सुदुग्धं तुम्बिकागतम् ? ॥ २६ ॥
इत्यादिकं विचार्योच्चैः स्वचित्ते चतुरोत्तमः ।
मिथ्यादृष्टिं परिज्ञात्वा तं कुमार्गविधायिनम् ॥ २७ ॥
भव्यसेनस्य तस्यैवा-भव्यसेन इति व्रती ।
चक्रे नाम दुराचारात्किं न कष्टं प्रवर्तते ॥ २८ ॥
ततोन्यस्मिन्दिने सोपि ब्रह्मचारी शुचिव्रतः ।
वरुणाख्यमहीनाथ-राज्ञी या रेवती सती ॥ २९ ॥
तस्याश्चापि परीक्षार्थं पूर्वस्यां दिशि मायया ।
पद्मस्थितं चर्तुवक्त्रं महायज्ञोपवीतकम् ॥ ३० ॥
वेदध्वनिसमायुक्तं सुरासुरनमस्कृतम् ।
ब्रह्मणो रूपमादाय संस्थितो निजलीलया ॥ ३१ ॥
तदाकर्ण्य च भूपाल-भव्यसेनादयो जनाः ।
गत्वा तद्वन्दनां चक्रुः प्रमोदेन जडाशयाः ॥ ३२ ॥
तदा वरुणभूपेन प्रेर्यमाणापि रेवती ।
सम्यक्त्वरत्नसंयुक्ता जिनभक्तिपरायणा ॥ ३३ ॥

मोक्षे तथात्मनि ज्ञाने वृत्ते श्रीवृषभेश्वरः ।
ब्रह्मा जिनागमे चेति सम्प्रोक्तो न परो नरः ॥ ३४ ॥
अयं कोपिमहाधूर्त्तो जनानां चित्तरञ्जकः ।
इत्युक्त्वा सा गता नैव तत्र राज्ञी विचक्षणा ॥ ३५ ॥
तथान्ये दिवसे सोपि दक्षिणस्यां दिशि व्रती ।
गरुडस्थं चतुर्बाहु-शङ्खचक्रगदान्वितम् ॥ ३६ ॥
लसत्खड्गेन संयुक्तं सर्वदैत्यभयप्रदम् ।
दर्शयामास गूढात्मा वैष्णवं रूपमद्भुतम् ॥ ३७ ॥
पश्चिमस्यां दिशि प्रौढं वृषारूढं तथान्यदा ।
पार्वतीवदनाम्भोज-समीक्षणसमान्वितम् ॥ ३८ ॥
जटाजूटशिरोदेशं लम्बोदरविराजितम् ।
रूपं माहेश्वरं तेन दर्शितं च सुरैः स्तुतम् ॥ ३९ ॥
ततोन्यस्मिन्दिने धीमा-नुत्तरस्यां दिशि स्फुरत् ।
समवादिसृतिस्थं च प्रातिहार्यैर्विभूषितम् ॥ ४० ॥
मानस्तंभादिभिर्मिथ्या-दृशां चेतोविडम्बनम् ।
सुरासुरनराधीश-समर्चितपदद्वयम् ॥ ४१ ॥
निर्ग्रन्थादिगुणोपेतं रूपं तीर्थेशिनः शुभम् ।
विद्यया दर्शयामास स क्षुल्लको जगदुत्तमम् ॥ ४२ ॥
तदानन्दभरेणोच्चै-र्वरुणाख्यमहीभुजा ।
सार्द्धं सर्वजनाः शीघ्रं भव्यसेनादयो गताः ॥ ४३ ॥
तद्भक्त्यर्थं तथा पौरैः प्रेर्यमाणापि रेवती ।
जगाद त्रिजगत्सार-सम्यक्त्वेन विराजिता ॥ ४४ ॥
अहो जिनागमे प्रोक्ताश्चतुर्विंशतिरेव च ।
श्रीमत्तीर्थंकरा देवाः सर्वदेवेन्द्रवन्दिताः ॥ ४५ ॥

नवैव वासुदेवाश्च रुद्राश्चैकादश स्मृताः ।
ते सर्वे तु यथास्थानं सम्प्राप्ताः स्वगुणैः क्रमात् ॥ ४६ ॥
अतः कोपि समायातो मूढानां मूढताप्रदः ।
जनानां वञ्चने चंचु-रेष पाखण्डमाण्डितः ॥ ४७ ॥
इत्युक्त्वा सा स्थिता गेहे राज्ञी सम्यक्त्वशालिनी ।
किं कदा चलिता वातैर्निश्चला मेरुचूलिका ॥ ४८ ॥
ततः क्षुल्लकरूपेण स व्रती मायया पुनः ।
महाव्याधिग्रहग्रस्त-परेद्युर्व्रतभूषितः ॥ ४९ ॥
रेवत्या प्राङ्गणे चर्या-वेलायां भोजनाय च ।
आगच्छन्मूर्छयाक्रान्तः स पपात महीतले ॥ ५० ॥
तं विलोक्य तदा राज्ञी रेवती धर्मवत्सला ।
हा हा कारं विधायोच्चैः शीघ्रमागत्य भक्तितः ॥ ५१ ॥
कृत्वा सचेतनं चारु-शीतवातादिभिस्ततः ।
नयति स्म गृहान्तस्तु महाकारुण्यमण्डिता ॥ ५२ ॥
सा तस्मै प्रासुकाहारं सरसं विधिपूर्वकम् ।
ददौ कारुण्ययुक्तानां युक्तं दाने मतिः सदा ॥ ५३ ॥
भुक्त्वाहारं व्रती सोपि मायया प्रचुरं पुनः ।
चकार वमनं भूरि पूतिगन्धं सुदुस्सहम् ॥ ५४ ॥
अपथ्यं हा मयादत्तं पापिन्या व्रतिनेऽशनम् ।
इत्यात्मनो महानिन्दां कुर्वन्ती रेवती सती ॥ ५५ ॥
दूरीकृत्य तदा वान्ति भक्त्या निःशङ्कमानसा ।
सुखोष्णतोयमादाय तद्वपुः क्षालनं व्यधात् ॥ ५६ ॥
तदा चन्द्रप्रभो सोपि ब्रह्मचारी दृढव्रतः ।
तस्याः सद्भक्तिमालोक्य सुधीर्हृष्टा स्वचेतसि ॥ ५७ ॥

तां मायामुपसंहृत्य संजगाद लसद्वचः ।
महासन्तोषसन्दोह-दायकः परमादरात् ॥ ५८ ॥
भो देवि त्रिजगत्सार-गुप्ताचार्यस्य मद्गुरोः ।
धर्मवृद्धिः स्फुरत्सिद्धिः पुनातु तव मानसम् ॥ ५९ ॥
पूजा श्रीमज्जिनेन्द्राणां त्वन्नाम्ना या मया कृता ।
धर्मानुरागतः सा ते भूयात्कल्याणदायिनी ॥ ६० ॥
अमूढत्वं त्रिजगत्सारं ससाराम्भोधिपारदम् ।
दृष्टं मया तवागत्य व्यक्तं नाना प्रकारकैः ॥ ६१ ॥
अतस्ते त्रिजगत्पूज्यं सम्यक्त्वं केन वर्ण्यते ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां चरणार्चनकोविदे ॥ ६२ ॥
इत्यादिकं प्रशस्योच्चै-स्तां देवीं गुणशालिनीम् ।
प्रोक्त्वा सर्वं च वृत्तान्तं स्वस्थानं स व्रती गतः : ॥ ६३ ॥
ततो वरुणभूपालः सूनवे शिवकीर्तये ।
दत्वा राज्यं जगद्वन्द्यं तपो धृत्वा जिनोदितम् ॥ ६४ ॥
जातो माहेन्द्रकल्पेसौ देवो दिव्याङ्गभासुरः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्ज-पूजनेतीव तत्परः ॥ ६५ ॥
रेवती च महाराज्ञी जिनेन्द्रवचने रता ।
वैराग्येन समादाय जैनीं दीक्षां सुखप्रदाम् ॥ ६६ ॥
क्रमेण तपसा ब्रह्म-स्वर्गे देवो महर्द्धिकः ।
संजातो जैनतीर्थेषु महायात्राविधायकः ॥ ६७ ॥

धर्मे श्रीजिनभाषिते शुचितरे स्वर्मोक्षसौख्यप्रदे
देवेन्द्रैश्च नरेन्द्रखेचरतरैर्भक्त्या निसंसेविते ।
भो भव्याः कुरुत प्रतीतिमतुलां चेदिच्छवः सत्सुखं
त्यक्त्वा सर्वकुमार्गसङ्गमाचिरं श्रीरेवतीवत्तराम् ॥ ६८ ॥

इति कथाकोशेऽमूढदृष्टयङ्गे श्रीमद्रेवतीकथा समाप्ता ।

१०–श्रीजिनेन्द्रभक्तस्य कथा ।

नत्वा श्रीमज्जिनं भक्त्या स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ।
वक्ष्ये जिनेन्द्रभक्तस्य सत्कथां सोपगूहने ॥ १ ॥
सौराष्ट्रविषयेत्रैव सरसे सद्दयान्विते ।
श्रीमान्नेमिजिनेन्द्रस्य जन्मना सुपवित्रिते ॥ २ ॥
पुरे पाटलिपुत्राख्ये राजा जातो यशोध्वजः ।
तस्य राज्ञी सुसीमाख्या रूपलावण्यमण्डिता ॥ ३ ॥
तयोः पुत्रः सुवीराख्यः सप्तव्यसनतत्परः ॥
संजातः पापतः सोपि तस्करोत्करसेवितः ॥ ४ ॥
किं करोति पिता माता कुलं जातिश्च सर्वथा ।
भाविदुर्गतिदुःखानां कुले जन्मापि निष्फलम् ॥ ५ ॥
अथास्ति गौडदेशे च तामलिप्ताभिधा पुरी ।
यत्र संतिष्ठते लक्ष्मीर्दानपूजायशस्करी ॥ ६ ॥
श्रेष्ठी जिनेन्द्रभक्ताख्यो जिनभक्तिपरायणः ।
संजातस्तत्र सद्दृष्टिः श्रावकाचारसच्चणः ॥ ७ ॥
स्वर्मोक्षसस्यदं पूतं जिनोक्तं क्षेत्रसप्तकम् ।
तर्पयामास स श्रेष्ठी स्ववित्तजलदोत्करैः ॥ ८ ॥
जिनेन्द्रभवनोद्धार-प्रतिमापुस्तकस्तथा ।
सङ्घश्चतुर्विधश्चेति संप्रोक्तं क्षेत्रसप्तकम् ॥ ९ ॥
श्रेष्ठिनो विद्यते तस्य सम्यग्दृष्टेः शिरोमणेः ।
सप्तभूम्याश्रितोत्कृष्ट-प्रासादस्योपरिस्थिता ॥ १० ॥
श्रीमत्पार्श्वजिनेन्द्रस्य महायत्नेन रक्षिता ।
छत्रत्रयेण संयुक्ता प्रतिमा रत्ननिर्मिता ॥ ११ ॥

तस्याश्छत्रत्रयस्योच्चै-रुपरिप्रस्फुरद्युतिः ।
मणिर्वैडूर्यनामास्ति बहुमूल्यसमन्वितः ॥ १२ ॥
तां वार्त्तां च समाकर्ण्य सुवीरस्तस्कराग्रणीः ।
स्वांस्तस्करान्प्रति प्राह तमानेतुं लसत्प्रभम् ॥ १३ ॥
अहो कोपि समर्थोस्ति तच्छ्रुत्वा सूर्यनामकः ।
चोरो जगाद भो स्वामिन्नहं शक्रस्य मस्तकात् ॥ १४ ॥
आनयामि क्षणार्धेन शिरोरत्नं सुनिर्मलम् ॥
युक्तं ये तु दुराचाराः स्युस्ते दुष्कर्मतत्पराः ॥ १५ ॥
ततोऽसौ सूर्यको धूर्त्तः कपटेन तदाज्ञया ।
धृत्वा क्षुल्लकरूपं च क्लेशतः क्षीणतां गतः ॥ १६ ॥
पर्यटन्नगरग्राम-पत्तनेषु ।निरन्तरम् ।
लोकान्प्रतारयन्नुच्चैः स्फीतिं सन्दर्शयन्निजाम् ॥ १७ ॥
क्रमेण तामलिप्ताख्यां तां पुरीं प्राप्तवांस्ततः ।
श्रुत्वा जिनेन्द्रभक्तोसौ श्रेष्ठी तं वन्दितुं गतः ॥ १८ ॥
दृष्ट्वा तं क्षुल्लकं चापि मायया तपसा कृशम् ।
स्तुत्वा प्रणम्य सद्भक्त्या नयति स्म निजालयम् ॥ १९ ॥
अहो धूर्त्तस्य धूर्त्तत्वं लक्ष्यते केन भूतले ।
यस्य प्रपञ्चतो गाढं विद्वान्सश्चापि वञ्चिताः ॥ २० ॥
ततो विलोक्य चोरोसौ तं मणिं विस्फुरत्प्रभम् ।
सन्तुष्टो स्वर्णकारो वा कनत्काञ्चनवीक्षणात् ॥ २१ ॥
तदासौ श्रेष्ठिना तेन स्थापितः कपटव्रती ।
अनिच्छन्माययाप्युच्चै-रक्षार्थं तत्र भक्तितः ॥ २२ ॥
एकदासौ वणिग्वर्यः पृष्ट्वा तं क्षुल्लकं सुधीः ।
गन्तुं समुद्रयात्रायां पुरबाह्ये स्थितस्तदा ॥ २३ ॥

स तस्करः समालोक्य कुटुम्बं कार्यन्यग्रकम् ।
अर्धरात्रौ समादाय तं मणिं निर्गतो गृहात् ॥ २४ ॥
कोट्टपालैस्तदामार्गे दृष्टोसौ मणितेजसा।
गृहीतुं च समारब्धो न समर्थः पलायितुम् ॥ २५ ॥
रक्ष रक्षेति संजल्पन् श्रेष्ठिनः शरणं गतः ।
तदा जिनेन्द्रभक्तोसौ श्रुत्वा कोलाहलध्वनिम् ॥ २६ ॥
ज्ञात्वा तं तस्करं धीमान्सम्यग्दृष्टिर्विशाम्पतिः ।
दर्शनोद्वाहनाशार्थे कोट्टपालान् जगाद च ॥ २७ ॥
रे रे मूर्खा भवद्भिस्तु कृतं बाढं विरूपकम् ।
महातपस्विनश्चास्य तस्करत्वं यदीरितम् ॥ २८ ॥
मद्वाक्येन समानीतो मणिश्चैतेन धीमता ।
महाचारित्ररत्नेन नित्यं सम्भावितात्मना ॥ २९ ॥
इत्याकर्ण्य तमानम्य श्रेष्ठिनं गुणशालिनम् ॥
कोट्टपालजनाः शीघ्रं स्वस्थानं ते गतास्ततः ॥ ३० ॥
श्रेष्ठी तस्मात्समादाय तं मणिं तेजसा युतम् ।
एकान्ते तं प्रति प्राह दुराचारसमन्वितम् ॥ ३१ ॥
रे रे नष्ट महाकष्टं धिक्ते पापिष्ठ चेष्टितम् ।
अन्यायेन रतो मूढ दुर्गतिं यास्यसि ध्रुवम् ॥ ३२ ॥
ये कृत्वा पातकं पापाः पोषयन्ति स्वकं भुवि ।
त्यक्त्वा न्यायक्रमं तेषां महादुःखं भवार्णवे ॥ ३३ ॥
कुमार्गकलितो लोकः क्षयं याति न संशयः ।
तीव्रतृष्णातुरः प्राणी त्वादृशः पापपण्डितः ॥ ३४ ॥
इत्यादिदुर्वचोवज्र-पातेनैव निहत्य च ।
चक्रे निष्कासनं तस्य स्वस्थानात्स गुणाकरः ॥ ३५ ॥

एवमन्यो महाभव्यो दुर्जनासक्तलम्पटैः।
दर्शनस्यागते दोषे कुर्यादाच्छादनं श्रिये॥ ३६॥

विमलतरजिनेन्द्रप्रोक्तमार्गेत्र दोषं
वदति विगतबुद्धिर्यस्तु सोस्ति प्रमत्तः।
अमृतरससमानं शर्करादुग्धपानं
कटु भवति न किं वा दुष्टपित्तज्वराणाम्॥ ३७॥

इति कथाकोशे उपगूहनाङ्गे जिनेन्द्रभक्तस्य कथा समाप्ता

११—श्रीवारिषेणमुनेः कथा।

श्रीमज्जिनं जगत्पूज्यं नत्वा भक्त्या प्रवच्म्यहम्।
सुस्थितिकरणाङ्गे च वारिषेणस्य सत्कथाम्॥ १॥
अथेह मगधादेशे निवेशे सारसम्पदाम्।
पुरे राजगृहे नाम्ना सद्दृष्टिः श्रेणिकः प्रभुः॥ २॥
तद्राज्ञी चेलना नाम्ना सम्यक्त्वव्रतशालिनी।
वारिषेणस्तयोः पुत्रः संजातः श्रावकोत्तमः॥ ३॥
एकदासौ चतुर्दश्यां रात्रौ तत्वविदाम्वरः।
श्मशाने सोपवासश्च कायोत्सर्गेण संस्थितः॥ ४॥
तस्मिन्नेव दिने क्रीडां कर्तुं मगधसुन्दरी।
विलासिनी वनं प्राप्ता श्रीकीर्त्तेः श्रेष्ठिनो गले॥ ५॥
दृष्ट्वा हारं द्युतिस्फारं निस्सारं जन्म मे भुवि।
विना हारेण चैतेन सञ्चिन्त्येति गृहं गता॥ ६॥
सुदुःखिता स्थिता यावत्तावद्रात्रौ समागतः।
विद्युच्चोरस्तदासक्तः संविलोक्य जगाद च॥ ७॥

हे प्रिये त्वं स्थिता कष्टं कस्मात्तद्ब्रूहि कारणम् ।
तयोक्तं श्रेष्ठिनो हारं श्रीकीर्त्तेर्विलसत्प्रभम् ॥ ८ ॥
समानीय ददास्येव यदि त्वं प्राणवल्लभ ।
अस्ति मे जीवितं भर्त्ता भवस्यत्र च नान्यथा ॥ ९ ॥
तच्छ्रुत्वा तां समुद्धीर्य तस्करः साहसोद्धतः ।
गत्वा रात्रौ गृहीत्वा च तं हारं निजबुद्धितः ॥ १० ॥
मार्गे तत्तेजसा ज्ञात्वा समागच्छंश्च तस्करः ।
कोट्टपालैस्तथा धर्तुं प्रारब्धो गृहरक्षकैः ॥ ११ ॥
तदा पलायितुं तेभ्यो न समर्थः स पापधीः ।
वारिषेणकुमाराग्रे तं धृत्वाऽदृश्यतां गतः ॥ १२ ॥
दृष्ट्वा ते तं तथाभूतं कोट्टपालादयो जगुः ।
नृपस्याग्रे कुमारोऽयं तस्करश्चेति भो प्रभो ॥ १३ ॥
तच्छ्रुत्वा श्रेणिको भूपो महाकोपेन कम्पितः ।
पश्य भो पापिनश्चास्य दुश्चरित्रं दुरात्मनः ॥ १४॥
क श्मशाने महाध्यानं वञ्चनं क च कष्टदम् ।
लोकानां किं न कुर्वन्ति वञ्चने ये तु चञ्चवः ॥ १५ ॥
यौवराज्ये मया प्राज्ये स्थापनीयो महोत्सवैः ।
स चेदीदृग्विधः पुत्रः किं नु कष्टमतः परम् ॥ १६ ॥
इत्युक्त्वासौ कुमारस्य मस्तकच्छेदनाय वै ।
आदेशं दत्तवांस्तूर्णं तेषां दुष्कर्मकारिणाम् ॥ १७ ॥
नृपादेशात्समादाय श्मशाने मिलितास्ततः ।
चण्डालाश्चण्डकर्माण-श्चोराणां प्राणहारिणः ॥ १८ ॥
तदैकेन गले तस्य वारिषेणस्य पापिना ।
गृहीतुं मस्तके क्षिप्तस्तीक्ष्णः खड्गः लसद्युतिः ॥ १९ ॥

तदा तत्पुण्यमाहात्म्यात्स खड्गः संपतन्नपि ।
पश्यत्सु सर्वलोकेषु पुष्पमाला बभूव च ॥ २० ॥
अहो पुण्येन तीव्राग्निर्जलत्वं याति भूतले ।
समुद्रः स्थलतामेति दुर्विषं च सुधायते ॥ २१ ॥
शत्रुर्मित्रत्वमाप्नोति विपदा सम्पदायते ।
तस्मात्सुखैषिणो भव्याः पुण्यं कुर्वन्तु निर्मलम् ॥ २२ ॥
पुण्यं श्रीमज्जिनेन्द्राणां पादपद्मद्वयार्चनम् ।
पात्रदानं तथा शील-रक्षणं सोपवासकम् ॥ २३ ॥
तदाश्चर्यं समालोक्य सन्तुष्टास्ते सुरासुराः ।
अहो पुण्यमहोपुण्यं कुर्वन्तश्चेति संस्तवम् ॥ २४ ॥
भ्रमद्भृङ्गसमाकीर्णां सुगन्धीकृतदिङ्मुखाम् ।
तस्योपरि महाभक्त्या पुष्पवृष्टिं प्रचक्रिरे ॥ २५ ॥
पौरा ये तु महाशूराः परमानन्दनिर्भराः ।
साधु भो वारिषेणात्र चरित्रं ते मनोहरम् ॥ २६ ॥
त्वं हि श्रीमज्जिनेन्द्राणां पादपङ्कजषट्पदः ।
श्रावकाचारशुद्धात्मा जिनधर्मविचक्षणः ॥ २७ ॥
इत्यादिभिः शुभैर्वाक्यैर्महाधर्मानुरागतः ।
चक्रुस्ते संस्तुतिं तस्य सुपुण्यात्किं न जायते ॥ २८ ॥
श्रेणिकोपि महाराजः श्रुत्वा तद्वृत्तमद्भुतम् ।
पश्चात्तापेन सन्तप्तो हा मया किं कृतं वृथा ॥ २९ ॥
ये कुर्वन्ति जडात्मानः कार्यं लोकेऽविचार्य च ।
ते सीदन्ति महान्तोपि मादृशा दुःखसागरे ॥ ३० ॥
इत्यालोच्य समागत्य श्मशाने भूरिभीतिदे ।
अहो पुत्र मयाज्ञान-शून्येनात्र विनिर्मितम् ॥ ३१ ॥

यत्र त्वया महाधीर क्षम्यतामिति वाग्भरैः ।
तं पुत्रं विनियोपेतं सत्क्षमां नयति स्म सः ॥ ३२ ॥
चन्दनं घृष्यमाणं च दह्यमानो यथागुरुः ।
न याति विक्रियां साधुः पीडितोपि तथापरैः ॥ ३३ ॥
ततो लब्धभयो विद्यु-च्चोरश्चागत्य भूपतिम् ।
नत्वा जगाद वृत्तान्तं स्वकीयं सुभटः स्फुटम् ॥ ३४ ॥
इदं मे चेष्टितं देव वेश्यासक्तस्य पापिनः ।
वारिषेणस्तु पुत्रस्ते शुद्धात्मा श्रावकोत्तमः ॥ ३५ ॥
तदा श्रीश्रेणिकः प्राह स्वपुत्रं प्रति सादरम् ।
आगच्छ पुत्र गच्छावः स्वगेहं सम्पदाभृतम् ॥ ३६ ॥
तेनोक्तं भो मया तात दृष्टं संसारचेष्टितम् ।
अतो मे श्रीजिनेन्द्राणां शरणं चरणद्वयम् ॥ ३७ ॥
भोक्तव्यं पाणिपात्रेण कर्त्तव्यं स्वात्मनो हितम् ।
गन्तव्यं च वने नित्यं स्थातव्यं मुनिमार्गतः ॥ ३८ ॥
इत्युक्त्वा वारिषेणोसौ संविरक्तो भवादितः ।
सूरदेवमुनेः पार्श्वे जैनीं दीक्षां गृहीतवान् ॥ ३९ ॥
ततोसौ श्रीजिनेन्द्रोक्त-महाचारित्रतत्परः ।
कुर्वन्विहारमत्युच्चैर्भव्यान्सम्बोधयन्मुनिः ॥ ४० ॥
ग्रामं पलासकूटाख्यं संप्राप्तश्चैकदा सुधीः ।
श्रेणिकस्य महीभर्तु-र्मन्त्री तत्रास्ति भूतिवाक् ॥ ४१ ॥
तत्पुत्रः पुष्पडालाख्यो दानपूजापरायणः ।
दृष्ट्वा चर्यार्थमायातं तं मुनिं गुणशालिनम् ॥ ४२ ॥
ससंभ्रमं समुत्थाय तिष्ठ तिष्ठेति सम्वदन् ।
संस्थाप्य नवभिः पुण्यैः सप्तभिः स्वगुणैर्युतः ॥ ४३ ॥

प्रासुकं सरसाहारं भक्तितः परया मुदा ।
स तस्मै दत्तवान्दाता सुपात्राय सुखप्रदम् ॥ ४४ ॥
पुष्पडालस्ततो राज-पुत्रत्वाद्बालमित्रतः ।
भक्तितश्च तथा सार्धं मुनिना तेन गच्छता ॥ ४५ ॥
सोमिल्यां स्वस्त्रियं पृष्ट्वा सोनुव्रजनहेतवे ।
स्तोकमार्गं समादाय कुण्डिकां निर्गतो गृहात् ॥ ४६ ॥
पश्चादागन्तुकामोसौ मंत्रिपुत्रो जगौ पथि ।
पश्य देव पुरावाभ्यां क्रीडितं सरसीह च ॥ ४७ ॥
सच्छायः सफलस्तुङ्गो जनानां सौख्यदायकः ।
सुराजेव विभात्युच्चै-रयं चाम्रतरुः पुरः ॥ ४८ ॥
यत्रावाभ्यां समागत्य पूर्वं क्रीडा विनिर्मिता ।
शोभतेयं महीदेशो विस्तीर्णो वा सतां मनः ॥ ४९ ॥
इत्यादिकं मुहुश्चिह्नं दर्शयन्प्रणमन्पुनः ।
तच्चित्तं जानताप्युच्चैः स्वामिना तेन सादरम् ॥ ५० ॥
धृत्वा करे सुवैराग्यं नीत्वा सत्तत्ववाग्भरैः ।
कृत्वा धर्मश्रुतिं जैनीं दीक्षां संग्राहितः सखा ॥ ५१ ॥
पठन्नपि महाशास्त्रं पालयन्नपि संयमम् ।
सोमिल्यां भामिनीं काणीं स्मरत्येव नवव्रती ॥ ५२ ॥
धिक्कामं धिग्महामोहं धिग्भोगान्यैस्तु वञ्चितः ।
सन्मार्गेपि स्थितो जन्तुर्न जानाति निजं हितम् ॥ ५३ ॥
ततो द्वादशवर्षाणि तत्तपःसिद्धिहेतवे ।
गुरुस्तं कारयामास तीर्थयात्रां निजैः सह ॥ ५४ ॥
एकदा तौ मुनी श्रीमद्वर्धमानजिनेशिनः ।
समवादिसृतिं प्राप्तौ चक्रतुर्जिनवन्दनाम् ॥ ५५ ॥

तत्रस्थैर्जिनसद्भक्त्या सद्गन्धर्वसुधाशिभिः ।
गीयमानमिदं पद्यं शृणोति स्म लघुव्रती ॥ ५६ ॥
"मइल कुचेली दुम्मणी णाहे पवासियएण ।
कह जीवेसइ धणियधर वज्झंते विरहेण ॥"
तच्छ्रुत्वा पुष्पडालोसौ मुनिः कामाग्निपीडितः ।
सोमिल्यासक्तचेतस्कश्चक्रे चित्तं व्रतोन्मुखम् ॥ ५७ ॥
वारिषेणो मुनिर्ज्ञात्वा मानसं तस्य तादृशम् ।
चचाल स्वपुरीं नीत्वा तं स्थितीकरणाय च ॥ ५८ ॥
तमागच्छन्तमालोक्य मुनीन्द्रं शिष्यसंयुतम् ।
चारित्राच्चलितः किं वा पुत्रोऽयं चेलना सती ॥ ५९ ॥
सञ्चिन्त्य मानसे चेति परीक्षार्थं तदा तदौ ।
सरागवीतरागे द्वे आसने तस्य भाक्तितः ॥ ६० ॥
वीतरागासने धीमान्संस्थितो वारिषेणवाक् ।
मुनीन्द्रो न तपत्येव सतां भ्रान्तिः क्रियाविधौ ॥ ६१ ॥
तदामृतरसस्वादु-हारिभिर्वचनोत्करैः ।
मातरं तोषयामास यतीन्द्रो विनयान्विताम् ॥ ६२ ॥
ततः प्राह मुनिर्मातर्मदीयान्तःपुरं परम् ।
आनीयतामिति श्रुत्वा सा सती चेलना तदा ॥ ६३ ॥
द्वात्रिंशद्गणनोपेतास्तद्भार्या रूपमण्डिताः ।
सालङ्काराः समानीय दर्शयामास सद्गुणाः ॥ ६४ ॥
कृत्वा नतिं ततस्तास्तु संस्थिताः सुयथाक्रमम् ।
गुरुः शिष्यं प्रति प्राह सावधानः प्रमादिनम् ॥ ६५ ॥
यौवराज्यमिदं प्राज्यमेता मे सारसम्पदः ।
सर्वं गृहाण चेत्तुभ्यं रोचते भो मुने ध्रुवम् ॥ ६६ ॥

तच्छ्रुत्वा पुष्पडालोसौ मुनिर्लज्जाभरान्वितः ।
समुत्थाय गुरोपाद-द्वयं नत्वा जगाद च ॥ ६७ ॥
धन्यस्त्वं भो मुने स्वामिन्हतलोभमहाग्रहः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-सारतत्वविदाम्वर ॥ ६८ ॥
ये कुर्वन्ति महान्तोत्र मुक्त्वैताः सारसम्पदः ।
त्वादृशाः सुतपस्तेषां किं लोके यच्च दुर्लभम् ॥ ६९ ॥
सत्यं जन्मान्धकोहं च गृहीत्वा यत्तपोमणिम् ।
अक्ष्णा काणीं तु सोमिल्यां नात्यजन्निजच्चेतसः ॥ ७० ॥
त्वया द्वादशवर्षाणि तपश्चक्रे सुनिर्मलम् ।
मया मूर्खेण तत्रैव तत्कृतं शल्यकश्मलम् ॥ ७१ ॥
अतोपराधिनो मे च प्रायश्चित्तं प्रदीयताम् ।
भवद्भिः करुणासारैर्यतो पापक्षयो भवेत् ॥ ७२ ॥
तदासौ वारिषेणश्च मुनीन्द्रो निश्चलव्रतः ।
संजगाद वचो धीमान्परमानन्ददायकम् ॥ ७३ ॥
अहो धीर महादुःखं मा कुरु त्वं स्वचेतासि ।
दुष्टकर्मवशाज्जीवो विद्वान् क्वापि च मुह्यति ॥ ७४ ॥
इत्युक्त्वा तं समुद्धीर्य प्रायश्चित्तं यथागमम् ।
दत्वा तत्तपसश्चेति सुस्थितीकरणं व्यधात् ॥ ७५ ॥
पुष्पडालस्ततो धीमान्गुरुवाक्यप्रसादतः ।
महावैराग्यभावेन तपश्चक्रे सुदुःसहम् ॥ ७६ ॥
इत्थं चान्येन कर्त्तव्यं सुस्थितीकरणं श्रिये ।
केनापि कारणेनात्र पततो धर्मपर्वतात् ॥ ७७ ॥
येत्र भव्याः प्रकुर्वन्ति सुस्थितीकरणं परम् ।
स्वर्मोक्षफलदस्तैश्च सिञ्चितो धर्मपादपः ॥ ७८ ॥

शरीरसम्पदादीना-मस्थिराणां क्वचिद्भवेत् ।
रक्षणं शर्मदं धर्मे का कथा शर्मकोटिदे ॥ ७९ ॥
एवं ज्ञात्वा समुत्सृज्य प्रमादं दुःखकारणम् ।
कार्यं तद्भि महाभव्यैः संसाराम्भोधितारणम् ॥ ८० ॥

श्रीमज्जैनपदाब्जयुग्ममधुलिट् श्रीवारिषेणो मुनि-
दत्वा तस्य मुनेस्तपोद्रिपततो हस्तावलम्बं दृढम् ।
ज्ञानध्यानरतः प्रसिद्धमहिमा प्राप्तो वनं निर्मलं
दद्यान्मे भवतारकः स भगवान्नित्यं सुखं मङ्गलम् ॥ ८१ ॥

इति कथाकोशे स्थितिकरणाङ्गे श्रीवारिषेणमुनेः कथा समाप्ता ।

१२–श्रीविष्णुकुमारमुनेः कथा ।

श्रीजिनं भारतीं साधु-पादद्वैतं सुखप्रदम् ।
नत्वा विष्णुकुमारस्य वात्सल्याङ्गे कथां ब्रुवे ॥ १ ॥
अथेह भारते क्षेत्रेवन्तिदेशे महापुरि ।
उज्जयिन्यां प्रभुर्जातः श्रीवर्मा श्रीमतिप्रियः ॥ २ ॥
न्यायशास्त्रविचारज्ञो धार्मिको वैरिमर्दकः ।
प्रजानां पालने दक्षो दुष्टानां निग्रहे क्षमः ॥ ३ ॥
बलिर्बृहस्पतिस्तस्य प्रल्हादो नमुचिस्तथा ।
चत्वारो मन्त्रिणश्चेति संजाता धर्मशत्रवः ॥ ४ ॥
शोभते स्म स भूपालोऽधार्मिकैस्तैर्निसेवितः ।
पन्नगैर्वेष्टितो दुष्टैर्यथा चन्दनपादपः ॥ ५ ॥
एकदाकम्पनाचार्यो लसत्संज्ञानलोचनः ।
प्रसिञ्चन्भव्यसस्यौघान्स्ववाक्यामृतवर्षणैः ॥ ६ ॥
मुनीनां कामशत्रूणां संयुक्तः सप्तभिः शतैः ।
समागत्य तदुद्याने संस्थितः सुरपूजितः ॥ ७ ॥

वारितो गुरुणा तेन स्वसंघो विनयान्वितः ।
आगते भूमिपादौ च भवद्भिर्भो यतीश्वराः ॥ ८ ॥
सार्धं केनापि कर्त्तव्यं जल्पनं नैव साम्प्रतम् ।
अन्यथा सर्वसंघस्य विनाशोद्य भविष्यति ॥ ९ ॥
तदाकर्ण्य गुरोर्वाक्यं लोकद्वयहितप्रदम् ।
मौनेन संस्थितास्तेपि मुनयो ध्यानमानसाः ॥ १० ॥
शिष्यास्तेत्र प्रशस्यन्ते ये कुर्वन्ति गुरोर्वचः ।
प्रीतितो विनयोपेता भवन्त्यन्ये कुपुत्रवत् ॥ ११ ॥
तदा पौराः समादाय पूजाद्रव्यं मनोहरम् ।
निर्गता वन्दनाभक्त्या तेषामानन्दनिर्भराः ॥ १२ ॥
स्वप्रसादस्थितो राजा श्रीवर्मा वीक्ष्य ताञ्जगौ ।
अकालेपि क्व यात्येष पौरः पुष्पादिसंयुतः ॥ १३ ॥
तच्छ्रुत्वा मंत्रिणः प्राहुर्दुष्टास्ते भूपतिं प्रति ।
देवोद्याने समायाता नित्यं नग्ना दिगम्बराः ॥ १४ ॥
तत्र प्रयाति लोकोयं तदाकर्ण्य नृपोवदत् ।
तान्द्रष्टुं वयमप्युच्चै-र्गच्छामः कौतुकीमयान् ॥ १५ ॥
इत्युक्त्वा मंत्रिभिः सार्धं गत्वा तत्र महीपतिः ।
तान्विलोक्य महाध्यान-सम्पन्नान्हृष्टमानसः ॥ १६ ॥
प्रत्येकं भक्तितस्तेषां स चक्रे वन्दनां मुदा ।
केनापि मुनिना नैव दत्तमाशीर्वचस्तदा ॥ १७ ॥
महाध्यानेन तिष्ठन्ति निस्पृहा मुनयस्तराम् ।
स कुर्वन्संस्तुतिं चेति व्याघुट्य चलितो नृपः ॥ १८ ॥
तदा ते पापिनः प्राहुर्मंत्रिणो द्वेषिणः सताम् ।
एते देव किमप्यत्र वक्तुं जानन्ति नैव च ॥ १९ ॥

ततो मौनं समादाय संस्थिताः कपटेन हि ।
हास्यं कृत्वेति तेनैव निर्गता भूभुजा समम् ॥ २० ॥
इन्द्रप्रतीन्द्रनागेन्द्रै-र्वन्दितानां मुनीशिनाम् ।
निन्दां कुर्वन्ति ये सत्यं दुर्जना भाषणोपमाः ॥ २१ ॥
ततोः मार्गे समालोक्य चर्यां कृत्वा मुनीश्वरम् ।
आगच्छन्तं जगुस्तेपि श्रुतसागरसंज्ञकम् ॥ २२ ॥
बलीवर्दः समायाति पूर्णकुक्षिस्तु नूतनः ॥
तदाकर्ण्य मुनीन्द्रेण ज्ञात्वा वादोद्धतांश्च तान् ॥ २३ ॥
स्याद्वादवादिना तेन द्विजास्ते ज्ञानगर्विताः ।
निर्जिता भूपसान्निध्ये वाक्कल्लोलभरैर्निजैः ॥ २४ ॥
एकेन तेन सर्वेपि निर्जिताश्चेति नाद्भुतम् ।
एको हि तिमिरश्रेणि-प्रक्षये भास्करः प्रभुः ॥ २५ ॥
समागत्य गुरोः पार्श्वे स्ववृत्तान्तं जगौ हि सः ।
तच्छ्रुत्वा च गुरुः प्राह हा कृतं भो विरूपकम् ॥ २६ ॥
हतस्त्वया स्वहस्तेन संघोयं शर्मदः सताम् ।
वादस्थाने त्वमेकाकी गत्वा रात्रौ यदि ध्रुवम् ॥ २७ ॥
कायोत्सर्गेण सद्ध्यानं करोषि परमार्थतः ।
संघस्य जीवितं ते च विशुद्धिः संभवेत्तदा ॥ २८ ॥
स धीरो मेरुवद्गाढं मुनिः श्रीश्रुतसागरः ।
श्रुत्वेति संघरक्षार्थं गत्वा तत्र तथा स्थितः ॥ २९ ॥
तदा ते विप्रकाः सर्वे मानभङ्गेन लज्जिताः ।
मुनीनां मारणार्थं च रात्रौ गेहाद्विनिर्गताः ॥ ३० ॥
मार्गे तं मुनिमालोक्य कायोत्सर्गेण संस्थितम् ।
येनास्माकं कृतो मान-भङ्गः सोयं तु हन्यते ॥ ३१ ॥

इत्यालोच्य मुनेस्तस्य वधार्थं दुष्टमानसाः ।
खड्गानुत्थापयामासुश्चत्वारश्चैकवारतः ॥ ३२ ॥
तदा तत्पुण्यमाहात्म्यात्प्रकम्पितनिजासना ।
तथैव स्तंभयामास मंत्रिणः पुरदेवता ॥ ३३ ॥
प्रभातसमये श्रुत्वा लोकेभ्यो भूपतिस्तदा ।
मंत्रिणां दुश्चरित्रं तत्संदृष्ट्वा कीलितांश्च तान् ॥ ३४ ॥
बाधा निरपराधानां येत्र कुर्वन्ति पापिनः ।
प्रयान्ति नरकं घोरं दुस्सहं ते दुराशयाः ॥ ३५ ॥
सामान्यजन्तुहन्तॄणां मुखं दृष्टुं न युज्यते ।
किं पुनस्त्रिजगत्पूज्य-मुनिपीडाविधायिनाम् ॥ ३६ ॥
इत्युक्त्वा कुलमंत्रित्वाद्द्विप्रत्वाच्च न मारिताः ।
कोपेन कारयित्वाशु गर्दभारोहणं च तान् ॥ ३७ ॥
देशान्निर्घाटयामास श्रीवर्मा न्यायशास्त्रवित् ।
युक्तं पापप्रयुक्तानां जनानामीदृशी गतिः ॥ ३८ ॥
तं प्रभावं समालोक्य सर्वे भव्यजनास्तदा ।
संचक्रुः परमानन्दै-र्जयकोलाहलध्वनिम् ॥ ३९ ॥
अथास्ति हस्तिनागाख्ये पुरे राजा सुधार्मिकः ।
महापद्मो गतच्छद्मा राज्ञी लक्ष्मीमती सती ॥ ४० ॥
बभूवतुस्तयोः पुत्रौ पद्मो विष्णुश्च शर्मदौ ।
एकदा स महापद्मो राजा राजीवलोचनः ॥ ४१ ॥
त्रिधा वैराग्यमासाद्य जिनपादाब्जयो रतः ।
दत्वा राज्यं सुधीर्ज्येष्ठ-पुत्राय परमार्थतः ॥ ४२ ।
श्रुतसागरचन्द्राख्यं मुनिं नत्वा जगद्धितम् ।
सार्धं विष्णुकुमारेण जैनीं दीक्षां गृहीतवान् ॥ ४३ ॥

श्रीमद्विष्णुकुमारोसौ मुनिः सद्ध्यानतत्परः ।
कुर्वंस्तपो जिनेन्द्रोक्तं संजातो विक्रयर्द्धिवाक् ॥ ४४ ॥
तदा पद्ममहीभर्त्तुः सद्राज्यं कुर्वतः सुखम् ।
विप्रास्ते तु समागत्य संजाता मंत्रिणः पुनः ॥ ४९ ॥
अन्यदा दुर्बलं वीक्ष्य पद्मराजानमब्रवीत् ।
बलिः किं देव दौर्बल्य-कारणं च प्रभुर्जगौ ॥ ४६ ॥
अस्ति कुंभपुरे राजा नाम्ना सिंहबलो महान् ।
दुष्टो दुर्गबलेनासौ मद्देशं हन्ति दारुणः ॥ ४७ ॥
ततो नृपाज्ञया सोपि बलिर्मंत्री स्वबुद्धितः ।
गत्वा दुर्गाश्रयं भङ्क्त्वा गृहीत्वा च महारिपुम् ॥ ४८ ॥
आगत्य नृपतिं प्राह सोयं सिंहबलः प्रभो ।
इत्याकर्ण्य जगौ राजा पद्माख्यो हृष्टमानसः ॥ ४९ ॥
प्रार्थय त्वं वरं धीर यत्तुभ्यं रोचते तराम् ।
तेनोक्तं प्रार्थयिष्यामि तदा मे दीयतां विभो ॥ ५० ॥
अथैकदा समागत्य मुनिवृन्दैः समन्वितः ।
सुधीरकम्पनाचार्यो भव्यौघान्प्रतिबोधयन् ॥ ५१ ॥
संस्थितः पुरबाह्येसौ पौरास्तत्र महोत्सवैः ।
तान्वन्दितुं गताः सर्वे पूजाद्रव्यैः प्रमोदतः ॥ ५२ ॥
तदाकर्ण्य द्विजास्तेपि चक्रुश्चिन्तां स्वचेतसि ।
एतेषां भाक्तिको राजा भीत्वा मंत्रं विधाय च ॥ ५३ ॥
बलिः प्राह ततो भूपं दीयतां मे प्रभो वरम् ।
राज्यं सप्तादिनान्येव भवद्भिः सत्यसंयुतैः ॥ ५४ ॥
ततोसौ पद्मभूपालो वंचितस्तैः कुमंत्रिभिः ।
दत्वा राज्यं निजं तस्मै स्वयं वान्तःपुरे स्थितः ॥ ५५ ॥

तैस्तदा राज्यमादाय कपटेन शठद्विजैः ।
मुनीनां मारणार्थे च वृत्या संवेष्टय तान्पुनः ॥ ५६ ॥
कारयित्वा तृणैः काष्ठैः पापिष्ठैः मण्डपं ततः ।
वेद्वाक्यैः समारब्धो यज्ञकः पशुघातकः ॥ ५७ ॥
तदा छागोद्भवैर्धूमै-रुत्थितैः खर्परादिभिः ।
पीडिताः मुनयस्तेपि सन्यासं द्विविधं दृढम् ॥ ५८ ॥
गृहीत्वा संस्थिताश्चित्ते स्मरन्तः परमात्मनः ।
शत्रुमित्रसमाः सर्वे निश्चला मेरुवत्तराम् ॥ ५९ ॥
मिथिलायामथ ज्ञानी श्रुतसागरचन्द्रवाक् ।
मुनीन्द्रो व्योम्नि नक्षत्रं श्रवणं श्रमणोत्तमः ॥ ६० ॥
कम्पमानं समालोक्यं हाहाकारं विधाय च ।
उपसर्गो मुनीन्द्राणां वर्तते महतां महान् ॥ ६१ ॥
इति प्राह तदाकर्ण्य पृष्टोसौ क्षुल्लकेन च ।
पुष्पदन्तेन भो देव कुत्र केषां गुरुर्जगौ ॥ ६२ ॥
हस्तिनागपुरेकम्प-नाचार्यादिमुनीशिनाम् ।
उपसर्गं कथं देव संक्षयं याति धीधन ॥ ६३ ॥
गुरुर्जगाद भो वत्स भूमिभूषणपर्वते ।
मुनिर्विष्णुकुमारोस्ति विक्रियर्द्धिप्रमण्डितः ॥ ६४ ॥
स तं निवारयत्येव मुनीनामुपसर्गकम् ।
तच्छ्रुत्वा क्षुल्लको गत्वा सर्वं तस्य मुनेर्जगौ ॥ ६५ ॥
ततो विष्णुकुमारेण विक्रियर्द्धिर्ममास्ति च ।
संचिन्त्येति परिक्षार्थं हस्तः स्वस्य प्रसारितः ॥ ६६ ॥
तदासौ भूधरं भित्वा समुद्रे पतितः करः ।
विक्रियर्द्धिं ततो ज्ञात्वा मुनिः सद्धर्मवत्सलः ॥ ६७ ॥

गत्वा नागपुरं पद्मं भूपतिं प्रति चोक्तवान् ।
अहो भ्रातस्त्वया कष्टं किमारब्धं मुनीशिनाम् ॥ ६८ ॥
अस्मत्कुले पुरा केन निर्मितं नैव चेदृशम् ।
मुनीनामुपसर्गो रे कथं कारयासि त्वकम् ॥ ६९ ॥
शिष्टानां पालनं दुष्ट-निग्रहं यः करोत्यहो ।
कथ्यते स महीनाथो न पुनर्मुनिघातकः ॥ ७० ॥
साधूनामत्र सन्तापो कष्टदो भवति ध्रुवम् ।
सुष्ठु तप्तं यथा तोयं दहत्यङ्गं न संशयः ॥ ७१ ॥
कुरु त्वं शान्तिमेतेषां यावत्ते नागतापदा ।
तदाकर्ण्य प्रभुः प्राह किं करोमि महामुने ॥ ७२ ॥
मया सप्त दिनान्येत्र स्वराज्यं बलिमंत्रिणे ।
दत्तं ततो भवान्नेत्र युक्तमुच्चैः करोतु च ॥ ७३ ॥
किं कथ्यते मया तत्र भवतां कार्यशालिनाम् ।
प्रोल्लसद्भास्करे भाति किं दीपेनाल्पतेजसा ॥ ७४ ॥
ततो विष्णुमुनिः सोपि विक्रयर्द्धिप्रभावतः ।
वामनब्राह्मणस्योच्चै-रूपमादाय लीलया ॥ ७५ ॥
कुर्वन्वेदध्वनिं गत्वा यज्ञस्थाने स्थितस्तदा ।
बलिस्तं वीक्ष्य सन्तुष्टः प्रोवाच वचनं शुभम् ॥ ७६ ॥
यत्तुभ्यं रोचते विप्र तन्मया दीयते वद ।
स प्राह वेदवेदाङ्ग-पारगो वामनो द्विजः ॥ ७७ ॥
देहि भो भूपते मह्यं भूमेः पादत्रयं मुदा ।
किं त्वया याचितं विप्र बहु प्रार्थय वाञ्छितम् ॥ ७८ ॥
लोकैः प्रेर्यमाणोपि याचते स्म तदेव सः ।
दानेनैतेन भो देव पूर्यतामिति साम्प्रतम् ॥ ७९ ॥

तदा बलिः प्रभुर्विप्र त्वं गृहाण निजेच्छया ।
भूमेः पादत्रयं चेति दत्तवांस्तत्करे जलम् ॥ ८० ॥
ततः कोपेन तेनोच्चै-रेकः पादः सुराचले ।
द्वितीयश्चरणो दत्तो मानुषोत्तरपर्वते ॥ ८१ ॥
तृतीयश्चरणश्चेति विना स्थानं न चालितः ।
आकाशे तु तदा क्षोभः सजातो भुवनत्रये ॥ ८२ ॥
कम्पिताः पर्वताः सर्वे ससमुद्राः सभूमयः ।
प्रापुः संघट्टनं व्योम्नि विमानाश्चकिताः सुराः ॥ ८३ ॥
क्षम्यतां क्षम्यतां देव भीत्वा चेति सुरासुराः ।
समागत्य बलिं बध्वा पूजयन्ति स्म तत्क्रमौ ॥ ८४ ॥
भक्त्या तदा मुनीन्द्राणामुपसर्गं विशिष्टधीः ॥
शीघ्रं निवारयामास मुनिर्विष्णुकुमारवाक् ॥ ८५ ॥
स पद्मोपि महाराजो भयादागत्य वेगतः ।
विष्णोर्मुनेस्तथा तेषां पतितश्चरणद्वये ॥ ८६ ॥
मंत्रिणश्चेति चत्वारो मुक्त्वा दुष्टाशयं तदा ।
विष्णोरकम्पनाचार्य-मुनीनां पादपद्मयोः ॥ ८७ ॥
नत्वा सद्भावतस्त्यक्त्वा कष्टं मिथ्यामतं द्रुतम् ।
संजाताः श्रावकाः सर्वे जैनधर्मपरायणाः ॥ ८८ ॥
तथा विष्णुकुमारस्य पादपूजार्थमद्भुतम् ।
दत्तं वीणात्रयं देवैस्त्रैलोकानां शर्मदायकम् ॥ ८९ ॥
एवं भव्यात्मना भक्त्या मुन्यादीनां सुखप्रदम् ।
वात्सल्यं सर्वथा कार्यं स्वर्गमोक्षसुखश्रिये ॥ ९० ॥

इत्थं श्रीजिनपादपङ्कजरतो धर्मानुरागान्वितः
कृत्वा श्रीमुनिपुंगवेषु नितरां वात्सल्यमुद्यन्मतिः ।

म्प्राप्तः स्वपदं प्रमोदकलितः श्रीविष्णुनामा मुनि—
भूयान्मे भवसिन्धुतारणपरः सन्मोक्षसौख्यश्रिये ॥ ९१ ॥

इति कथाकोशे वात्सल्याङ्गे विष्णुकुमारमुनेः कथा समाप्ता।

१३–श्रीवज्रकुमारमुनेः कथा।

प्रणम्य परमात्मानं श्रीजिनं त्रिजगद्गुरुम्।
वक्ष्ये प्रभावनाङ्गेहं कथां वज्रकुमारजाम् ॥ १ ॥
हस्तिनागपुरे रम्ये बलनाम्नो महीपतेः।
पुरोहितोभवत्तस्य गरुडाख्यो विचक्षणः ॥ २ ॥
तत्पुत्रः सोमदत्तोभून्नाना शास्त्रसरित्पतेः।
पारगः परमानन्द-दायकः सज्जनादिषु ॥ ३ ॥
अहिच्छत्रपुरं गत्वा त्वेकदासौ विशालधीः।
सुभूतिं मातुलं प्राह भो माम विनयान्वितः ॥ ४ ॥
राजानं दुर्मुखाख्यं मे दर्शय त्वं कृपापरः।
गर्वितेन प्रभुस्तेन दर्शितो नैव तस्य सः ॥ ५ ॥
ततोसौ गृहिलो भूत्वा सभायां भूपतेः स्वयम्।
गत्वाशीर्वचनं तस्मै दत्वा पुण्यप्रभावतः ॥ ६ ॥
नाना शास्त्रप्रवीणत्वं स्वं प्रकाश्यैकहेलया।
प्राप्तो मंत्रिपदं दिव्यं स्वशक्तिः शर्मदायिनी ॥ ७ ॥
तथाभूतं तमालोक्य सोमदत्तं स मातुलः।
सुभूतिर्विधिना तस्मै यज्ञदत्तां सुतां ददौ ॥ ८ ॥
एकदा यज्ञदत्ताया गर्भिण्याया हृदोऽभवत्।
आम्रपक्कफलास्वादे प्रावृषि स्त्रीस्वभावतः ॥ ९ ॥

तान्यालोकितुं विप्रो गतश्चाम्रवनं तदा ।
अकालेपि सुधीरोत्र किं करोति न साहसम् ॥ १० ॥
तत्रान्वेषयता तेन सहकारद्रुमेषु च ।
एकोह्याम्रतरुर्दृष्टः सुमित्रमुनिना श्रितः ॥ ११ ॥
नाना फलौघसम्पन्नो महद्भिः सेवितो महान् ।
शोभते स्म तरुः सोपि जैनधर्म इवापरः ॥ १२ ॥
प्रभावोयं मुनेरस्य द्विजो ज्ञात्वेति चेतसि ।
तान्यादाय फलान्युच्चैः प्रेषयामास योषितः ॥ १३ ॥
स्वयं स्थित्वा मुनेः पाद-मूलेसौ भक्तिनिर्भरः ।
नत्वा तं त्रिजगत्पूतं पृष्टवान्सोमदत्तवाक् ॥ १४ ॥
भो मुने करुणासिन्धो सारं किं भुवनत्रये ।
तदहं श्रोतुमिच्छामि श्रीमतां मुखपद्मतः ॥ १५ ॥
तच्छ्रुत्वा मुनिनाथोसौ सुमित्राख्योवदत्तराम् ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-धर्म एव विचक्षण ॥ १६ ॥
सोपि वत्स द्विधा प्रोक्तः स्वर्गमोक्षसुखप्रदः ।
मुनिश्रावकभेदेन भवभ्रमणनाशकः ॥ १७ ॥
तत्राद्यो दशधा धर्मो मुनीनां गुणशालिनां ।
रत्नत्रयादिभिश्चैव जिनेन्द्रैः परिकीर्तितः ॥ १८ ॥
दानपूजादिभिः शील-प्रोषधैश्च शुभश्रिये ।
भवेत्परोपकाराद्यैः श्रावकाणां वृषोत्तमः ॥ १९ ॥
इत्यादिधर्मसद्भावं श्रुत्वा श्रीमुनिभाषितम् ।
महावैराग्यसम्पन्नो नत्वा तं मुनिनायकम् ॥ २० ॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥
आगमाम्भोधिसत्पारं प्राप्तोसौ गुरुभक्तितः ॥ २१ ॥

ततो नाभिगिरिं गत्वा सोमदत्तो महामुनिः ।
स्थित्वा तापनयोगेन सद्ध्याने संश्रितः सुधीः ॥ २२ ॥
अथातो यज्ञदत्ता सा ब्राह्मणी सुषुवे सुतम् ।
दिव्यं शर्माकरं पूज्यं सुकाव्यं वा सतां मतिः ॥ २३ ॥
एकदा सा समाकर्ण्य भर्तृवृत्तान्तमद्भुतम् ।
बन्धूनामग्रतो गत्वा जगादाश्रुविलोचना ॥ २४ ॥
बन्धुवर्यैः समं गत्वा ततो नाभिगिरिं द्रुतम् ।
दृष्ट्वा तापनयोगेन संस्थितं मुनिसत्तमम् ॥ २५ ॥
महाकोपेन सन्तप्ता यज्ञदत्ता जगाद च ।
रे रे दुष्ट त्वया कष्टं परिणीता कथं यतः ॥ २६ ॥
मां विमुच्य तपःप्रीत्या संस्थितोसि शिलोच्चये ।
अतस्ते त्वं गृहाणेमं पुत्रं पालय साम्प्रतम् ॥ २७ ॥
इत्युक्त्वा निष्ठुरं वाक्यं तं पुत्रं निर्दयाशया ।
धृत्वा तत्पादयोरग्रे कोपतः स्वगृहं गता ॥ २८ ॥
सिंहव्याघ्रसमाकीर्णे पर्वते तत्र निर्दया ।
त्यक्त्वा बालं गता सेत्थं किं न कुर्वन्ति योषितः ॥ २९ ॥
अत्रान्तरेमरावत्या नगर्याश्च खगाधिपः ।
श्रीदिवाकरदेवाख्यः कुटुम्बकलहे सति ॥ ३० ॥
स पुरंदरदेवेन लघुभ्रात्रा महायुधि ।
राज्यान्निर्घाटितो ज्येष्ठः सकलत्रो विषण्णधीः ॥ ३१ ॥
ततो विमानमारुह्य जैनीं यात्रां सुखप्रदाम् ।
नाना तीर्थेषु संकर्तुं निर्गतो दुर्गतिच्छिदम् ॥ ३२ ॥
पर्यटंश्च नभोभागे नाभिपर्वतसंस्थितम् ।
दृष्ट्वा तं मुनिमायातो वन्दितुं भक्तिनिर्भरः ॥ ३३ ॥

तत्र बालं विलोक्योच्चैः प्रस्फुरत्कान्तिमद्भुतम् ।
मुनीन्द्रपादपद्माग्रे विकसन्मुखपङ्कजम् ॥ ३४ ॥
ज्ञात्वा तं पुण्यसंयुक्तं समाहूय प्रहर्षतः ।
दत्तवान्निजभार्यायै गृहाणेति सुतं प्रिये ॥ ३५ ॥
संविलोक्य करौ तस्य वज्रचिह्नादिशोभितौ ।
नाम्ना वज्रकुमारोय-मित्युक्त्वा तौ गृहं गतौ ॥ ३६ ॥
स्वमात्रापि विमुक्तोसौ लालितः खेचरस्त्रिया ।
प्रकृष्टपूर्वपुण्यानां न हि कष्टं जगत्त्रये ॥ ३७ ॥
तथासौ स्वगुणैः सार्द्धं वृद्धिं सम्प्राप्तवान्सुधीः ।
कुर्वन्सर्वजनानन्दं द्वितीयेन्दुरिवामलः ॥ ३८ ॥
कनकाख्यपुरे राजा नाम्ना विमलवाहनः ।
स बालस्य भवत्येव तस्य कृत्रिममातुलः ॥ ३९ ॥
तत्समीपे कुमारोसौ नाना शास्त्रमहार्णवम् ।
तरति स्म यथा सर्वे खेचरा विस्मयं गताः ॥ ४० ॥
अथैकदा खगाधीशः सुधीर्गरुडवेगवाक् ।
तद्भार्याङ्गवती नाम्नी सती तद्गुणमण्डिता ॥ ४१ ॥
तयोः पवनवेगाख्या पुत्री सद्रूपशालिनी ।
ह्रीमन्तपर्वते पूते विद्यां प्रज्ञप्तिमद्भुताम् ॥ ४२ ॥
साधयन्ती स्थिता यावद्बदर्याः कण्टकेन च ।
पवनान्दोलितेनोच्चैर्विद्धा सा लोचने सती ॥ ४३ ॥
पीडया चलच्चित्तायास्तस्या विद्या न सिद्ध्यति ।
पुण्याद्वज्रकुमारोसौ लीलया तत्र चागतः ॥ ४४ ॥
तां विलोक्य तथाभूतां लोचनाच्चतुरोत्तमः ।
दूरीचकार यत्नेन कण्टकं दुर्जनोपमम् ॥ ४५ ॥

ततस्तस्यास्तरां स्वस्थ-चित्ताया मंत्रयोगतः ।
सिद्धा प्रज्ञप्तिका विद्या कार्यकोटिविधायिनी ॥ ४६ ॥
सा जगाद ततः कन्या त्वत्प्रसादेन मे ध्रुवम् ।
सिद्धा विद्येति भो धीर परमानन्ददायिनी ॥ ४७ ॥
अतस्त्वमेव मे भर्त्ता कार्यसिद्धिविधायकः ।
नान्यः परो नरः कोपि निर्गुणः सगुणोऽथवा ॥ ४८ ॥
ततो गरुडवेगोसौ तत्पिता विधिपूर्वकम् ।
तस्मै वज्रकुमाराय तां सुतां दत्तवान्मुदा ॥ ४९ ॥
अथ वज्रकुमारोसौ तां विद्यां स्वप्रियो द्रुतम् ।
समादाय महासैन्यं विधाय परमादरात् ॥ ५० ॥
श्रीदिवाकरदेवेन समं गत्वामरावतीम् ।
संग्रामेण ततो जित्वा तं पुरंदरदेवकम् ॥ ५१ ॥
तं दिवाकरदेवं च धर्मतातं महोत्सवैः ।
तद्राज्ये स्थापयामास सुपुत्रः कुलदीपकः ॥ ५२ ॥
एकदा भूपतेः पत्नी जयश्रीः प्राह कोपतः ।
स्वपुत्रराज्यसन्देहदाष्ट्या तन्मान्यतां तराम् ॥ ५३ ॥
अन्येन जनितश्चान्यं संतापयति दुष्टधीः ।
कुपुत्रोसौ महाकष्टं स्त्रीबुद्धिर्नैव निश्चला ॥ ५४ ॥
तदा वज्रकुमारोसौ श्रुत्वा मातुः कटुश्रुतिम् ।
प्रोवाच वचनं तातं प्रतीत्यर्थं भो खगेश्वर ॥ ५५ ॥
अहं कस्य सुतो देव तदाकर्ण्य प्रभुर्जगौ ।
किं भो पुत्र मतिभ्रंसोभवत्ते येन साम्प्रतम् ॥ ५६ ॥
महादुःखप्रदं वाक्यं वदस्येव मनोहरम् ।
सोपि प्राह सुधीस्तात वद त्वं सत्यमेव च ॥ ५७ ॥

अन्यथा भोजनादौ मे प्रवृत्तिर्नैव भूपते ।
सतां चित्ते यदा यार्तं तत्कथं केन वार्यते ॥ ५८ ॥
विद्याधरप्रभुः प्राह ततो वृत्तान्तमादित : ।
सत्यमेवाग्रहेणात्र शक्यते छादितुं न हि ॥ ५९ ॥
तं निशम्य कुमारोसौ स्ववृत्तान्तं विरक्तवान् ।
ततौ विमानमारुह्य वन्दितुं तं मुनीश्वरम् ॥ ६० ॥
तातादिबन्धुभिः सार्द्धं मथुरानिकटस्थिताम् ।
क्षत्रियाख्यगुहां प्राप्तो यत्रास्ते स महामुनिः ॥ ६१ ॥
इन्द्रचन्द्रनरेन्द्राद्यैः समर्चित्तपदद्वयम् ।
सोमदत्तमुनिं दृष्ट्वा सन्तुष्टास्ते स्वचेतसि ॥ ६२ ॥
त्रिः परीत्य समभ्यर्च्य नत्वा तं भक्तितो मुनिम् ।
संस्थितेषु सुखं तत्र सर्वलोकेषु लीलया ॥ ६३ ॥
सोमदत्तगुरोरग्रे महाधर्मानुरागतः ।
स दिवाकरदेवश्च स्ववृत्तान्तं पुनर्जगौ ॥ ६४ ॥
तदा वज्रकुमारेण प्रोक्तं भो तात शुद्धधीः ।
आदेशं देहि येनाहं करोमि सुतपो ध्रुवम् । ६५ ॥
खगेशः प्राह भो पुत्र त्वत्सहायेन साम्प्रतम् ।
युक्तं मेत्र तप कर्तुं त्वं गृहाणेति मे श्रियम् ॥ ६६ ॥
इत्यादिमधुरैर्वाक्यै-र्निषिद्धोपि महीभुजा ।
युक्त्या सम्बोध्य तानुच्चै-र्मुनिर्जातः स धीरधीः ॥ ६७ ॥
तपो धृत्वा कुमारोसौ कन्दर्पकरिकेसरी ।
श्रीमज्जैनमताम्भोधौ जातः पूर्णेन्दुरद्भुतम् ॥ ६८ ॥
अत्रान्तरे कथां वक्ष्ये श्रृण्वन्तु सुधियो जनाः ॥
पूतिगन्धाभिधो राजा मथुरायां प्रवर्त्तते ॥ ६९ ॥

तस्योर्विला महाराज्ञी सम्यग्दृष्टिशिरोमणिः ।
नित्यं श्रीमज्जिनेन्द्राणां चरणार्चनकोविदा ॥ ७० ॥
धर्मप्रभावनायां च संसक्ता श्रीजिनेशिनाम् ।
नन्दीश्वरमहापर्व-दिनान्यष्टौ प्रमोदतः ॥ ७१ ॥
वर्षं प्रति त्रिवारांश्च महासंघेन संयुता ।
श्रीजिनेन्द्ररथोत्साहं कारयत्येव शर्मदम् ॥ ७२ ॥
तत्रैव नगरे श्रेष्ठी जातः सागरदत्तवाक् ।
भार्या समुद्रदत्ताख्या तयोः पुत्री बभूव च ॥ ७३ ॥
पापतः सा दरिद्राख्या दुःखदारिद्र्यकारिणी ।
मृते सागरदत्ताख्ये बन्धुवर्गे क्षयं गते ॥ ७४ ॥
दरिद्रा जीविता कष्टं परोच्छिष्टाऽशैनरपि ।
दानपूजागुणैः हीनः प्राणी स्याद्दुःखभाजनम् ॥ ७५ ॥
तदा तत्पुरमायातौ चर्यार्थं मुनिनायकौ ।
नन्दनाख्यो मुनिर्ज्येष्ठो द्वितीयश्चाभिनन्दनः ॥ ७६ ॥
तामुच्छिष्टाशनं बालां भक्षयन्तीं विलोक्य च ।
लघुः प्राह मुनिज्येष्ठं हासौ कष्टेन जीवति ॥ ७७ ॥
इत्याकर्ण्य मुनीन्द्रोसौ नन्दनो ज्ञानलोचनः ।
अभिनन्दननामानं प्रोवाच मधुरं वचः ॥ ७८ ॥
अहो कन्या दरिद्रासौ पूतिगन्धमहीपतेः ।
अस्य पट्टमहाराज्ञी भविष्यति सुवल्लभा ॥ ७९ ॥
तदाकर्ण्य च भिक्षार्थं भ्रमता तत्र पत्तने ।
धर्मश्रीवन्दकेनोच्चै-र्नान्यथा मुनिभाषितम् ॥ ८० ॥
संचिन्त्येति दरिद्रासौ नाना मृष्टाशनादिभिः ।
नीत्वा शीघ्रं निजस्थानं पोषिता बहुयत्नतः ॥ ८१ ॥

एकदा यौवनारम्भे चैत्रमासे स्वलीलया ।
विलोक्यान्दोलयन्तीं तां दैवयोगान्महीपतिः ॥ ८२ ॥
कामान्धः पूतिगन्धोसौ तद्रूपासक्तमानसः ।
मांत्रिणं प्रेषयामास तदर्थं वन्दिकान्तिकम् ॥ ८३ ॥
गत्वा ते मंत्रिणः प्राहुर्भो वन्दक महीभुजे ।
दत्वा कन्यामिमां पूतां सुखीभव धनादिभिः ॥ ८४ ॥
तेनोक्तं बौद्धधर्मं मे करोति यदि भूपतिः ।
तदासौ दीयते कन्या मया तस्मै गुणोज्वला ॥ ८५ ॥
तत्स्वीकृत्य ततो भूपो दरिद्रां परिणीतवान् ।
कामी कामाग्निसन्तप्तः किं करोति न पातकम् ॥ ८६ ॥
दरिद्रा बुद्धदासीति स्वं प्रकाश्याभिधानकम् ।
प्राप्य राज्ञीपद बौद्ध-कुधर्मे तत्पराभवत् ॥ ८७ ॥
युक्तं श्रीमज्जिनेन्द्राणां धर्मः शर्मकरो भुवि ।
प्राप्यते नाल्पपुण्यैश्च निधानं वा भवान्धकैः ॥ ८८ ॥
अथ श्रीफाल्गुणे मासि नन्दीश्वरमहोत्सवे ।
महापूजाविधाने च रथं काञ्चननिर्मितम् ॥ ८९ ॥
लसन्तं पट्टकूलाद्यैः किंकिणीजालशोभितम ।
नाना रत्नाञ्चितं चारु-छत्रत्रयविराजितम् ॥ ९० ॥
घण्टाटंकारसंयुक्तं वीज्यमानं सुचामरैः ।
सनाथं जिनबिम्बेन पूजितं सज्जनोत्तकरैः ॥ ९१ ॥
प्रोल्लसत्पुष्पमालाभिः सुगन्धीकृतादिङ्मुखम् ।
इत्यादिबहुशोभाढ्यमुर्विलाया विलोक्य तम् ॥ ९२ ॥
बुद्धदासी नृपं प्राह क्षोभं गत्वा स्वमानसे ।
भो नरेन्द्र रथो मेत्र पूर्वं भ्रमतु पत्तने ॥ ९३ ॥

तदाकर्ण्य तदासक्तो नृपः प्राह भवत्विति ।
मोहान्धा नैव जानन्ति गोक्षीरार्कपयोन्तरम् ॥ ९४ ॥
उर्विला च महाराज्ञी जिनपादाब्जयो रता ।
पत्तने प्रथमं मे त्रै यदा भ्रमति सद्रथः ॥ ९५ ॥
तदाहारप्रवृत्तिर्मे प्रतिज्ञामिति मानसे ।
कृत्वा शीघ्रं तदा गत्वा क्षत्रियाख्यां गुहां सती ॥ ९६ ॥
सोमदत्तमुनिं नत्वा भक्तितो धर्मवत्सला ।
तथा वज्रकुमाराख्यं प्रणम्य मुनिसत्तमम ॥ ९७ ॥
अहो मुने जिनेन्द्राणां सद्धर्माम्बुधिचन्द्रमाः ।
त्वमेव शरणं मेस्ति मिथ्यात्वध्वान्तभास्करः ॥ ९८ ॥
इति स्तुत्वा महाभक्त्या जगाद निजवृत्तकम् ।
संस्थिता तत्पदांभोज-मूले यावद्गुणोज्वला ॥ ९९ ॥
तौ दिवाकरदेवाद्यास्तदा विद्याधरेशिनः ।
तं वन्दितुं समायाता मुनीन्द्रौ पुण्यपाकतः ॥ १०० ॥
तदा वज्रकुमारेण मुनीन्द्रेण लसद्धिया ।
प्रोक्तं भो भूपते शीघ्रं भवद्भिर्धर्मवत्सलैः ॥ १०१ ॥
उर्विलाया महाराज्याः सम्यग्दृष्टिशिरोमणेः ।
यात्रा रथस्य जैनेंद्री कर्त्तव्या परमादरात् ॥ १०२ ॥
तच्छ्रुत्वा ते मुनेर्वाक्यं सर्वविद्याधरा द्रुतम् ।
तौ प्रणम्य मुनी भक्त्या सम्प्राप्ता मथुरापुरीम् ॥ १०३ ॥
स्वयं ते श्रीजिनेन्द्राणां धर्मकर्मपरायणाः ।
किं पुनः प्रेरितास्तेन मुनीन्द्रेण सुकर्मणि ॥ १०४ ॥
तत्र कोपेन ते प्रोच्चैर्बुद्धदास्या रथं भटान् ।
चूर्णीकृत्य समं तस्या महागर्वेण वेगतः ॥ १०५ ॥

उर्विलाया महादेव्या जिनधर्मासक्तचेतसः ।
संचक्रे परमानन्दा-द्रथयात्रामहोत्सवम् ॥ १०६ ॥
नदत्सु सर्ववादित्र-प्रकारेषु समंततः ।
स्तुवत्सु भव्यलोकेषु चारणेषु पठत्सु च ॥ १०७ ॥
समन्ताज्जयघोषेषु पुष्पवृष्टियुतेषु च ।
नाना नृत्यविनोदेषु कामिनीगीतहारिषु ॥ १०८ ॥
दीयमानेषु दानेषु प्रोल्लसत्प्रमदेषु च ।
अनेकभव्यलोकानां वर्द्धमानेषु सुदृष्टिषु ॥ १०९ ॥
जिनेन्द्रप्रतिमोपेतः सर्वसंघैरलंकृतः ।
संचचाल महाभूत्या रथः पूर्णमनोरथः ॥ ११० ॥
उर्विलाया महादेव्याः सर्वेषां भव्यदेहिनाम् ।
संजातः परमानन्दः स केनात्र प्रवर्ण्यते ॥ १११ ॥
जैनधर्मस्य ते सर्वे संविलोक्य प्रभावनाम् ।
राजा पूतिमुखो भक्त्या बुद्धदासी तथापरे ॥ ११२ ॥
त्यक्त्वा मिथ्यामतं शीघ्रं वान्तिवद्दुःखकारणम् ।
जैनधर्मे जगत्पूज्ये संजाता नितरां रताः ॥ ११३ ॥
एवं वज्रकुमारोसौ मुनीन्द्रो धर्मवत्सलः ।
कारयामास संप्रीत्या जैनधर्मप्रभावनाम् ॥ ११४ ॥
अन्यैश्चापि महाभव्यैः स्वर्गमोक्षप्रदायिनी ।
प्रभावना जिनेन्द्रोक्ते धर्मे कार्या जगद्धिता ॥ ११५ ॥
नाना यात्राप्रतिष्ठाभि-र्गरिष्ठाभिर्विशिष्टधीः ।
जैनशासनमुद्दिश्य यः करोति प्रभावनाम् ॥ ११६ ॥
धर्मानुरागतो धीमान्सम्यग्दृष्टिः शिरोमणिः ।
स भवेत्त्रिजगत्पूज्यः स्वर्गमोक्षसुखाधिपः ॥ ११७ ॥

स श्रीवज्रकुमारोत्र जिनधर्मे सुवत्सलः ।
नित्यं जैनमते कुर्यान्मतिं मे मुनिनायकः ॥ ११८ ॥

गच्छे श्रीमति मूलसंघातिलके श्रीशारदायाः शुभे
श्रीभट्टारकमाल्लिभूषणगुरुः सूरिः श्रुताब्धिः सुधीः ।
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तविलसद्रत्नाकरोनिर्मलो
दद्यान्मे वरमंगलानि नितरां भक्त्या समाराधितः ॥११९॥

इति कथाकोशे प्रभावनाङ्गे वज्रकुमारमुनेः कथा समाप्ता ।

१४–नागदत्तमुनेः कथा ।

नत्वा पंच गुरून्भक्त्या पंचमीगतिनायकान् ।
नागदत्तमुनेश्चारु चरित्रं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
देशेत्र मगधे ख्याते रम्ये राजगृहे पुरे ।
प्रजापालो महाराजः प्रजापालनतत्परः ॥ २ ॥
धार्मिको न्यायशास्त्रज्ञो जिनभक्तिपरायणः ।
तद्राज्ञी प्रियधर्माख्या दानपूजाप्रसन्नधीः ॥ ३ ॥
तयोर्बभूवतुः पुत्रौ विख्यातौ गुणशालिनौ ।
ज्येष्ठोसौ प्रियधर्माख्यो द्वितीयः प्रियमित्रवाक् ॥ ४ ॥
एकदा राजपुत्रौ तौ दीक्षां जैनीं समाश्रितौ ।
तपः कृत्वाच्युते स्वर्गे देवौ जातौ महर्द्धिकौ ॥ ५ ॥
ज्ञात्वा पूर्वभवं तत्र प्रशस्य जिनशासनम् ।
कुर्वाणौ जैनसद्भक्तिं संस्थितौ सुखतश्च तौ ॥ ६ ॥
धर्मानुरागतस्तत्र प्रतिज्ञेति तयोरभूत् ।
आवयोर्योद्वयोर्मध्ये पूर्वं याति नृजन्मताम् ॥ ७ ॥

स्वर्गस्थितेन देवेन स सम्बोध्य जिनेशिनः ।
दीक्षां संग्राहितव्यश्च भवभ्रमणनाशिनीम् ॥ ८ ॥
नगर्यामुज्जयिन्यां च नागधर्मो महीपतिः ।
नागदत्ता महाराज्ञी रूपलावण्यमण्डिता ॥ ९ ॥
प्रियदत्तसुरस्तस्यां स्वर्गादागत्य शुद्धधीः ।
नागदत्तः सुतो जातः नागक्रीडाविचक्षणः ॥ १० ॥
एकदा प्रियधर्मोसौ देवो वाचातिनिश्चलः ।
भूत्वा गारुडिको धृत्वा सर्पयुग्मं करण्डके ॥ ११ ॥
उज्जयिन्यां समागत्य तस्य सम्बोधनाय च ।
सर्पक्रीडाविधौ चंचु-रहं चेति परिभ्रमन् ॥ १२ ॥
तदासौ नागदत्तेन राजपुत्रेण गर्विणा ।
धृतः प्रोक्तं च भो नाग-पालक प्रस्फुरद्विषम् ॥ १३ ॥
त्वदीयं सर्पकं मुञ्च तेन क्रीडां करोम्यहम् ।
तदा गारुडिकः प्राह राजपुत्रैः समं मया ॥ १४ ॥
विवादः क्रियते नैव रुष्टो राजा यदि ध्रुवम् ।
तदा मां मारयत्येव समाकर्ण्य नृपात्मजः ॥ १५ ॥
नीत्वा तं भूपतेरग्रे दापयित्वाभयं वचः ।
एकं भुजंगमं तस्य क्रीडया जयति स्म सः ॥ १६ ॥
ततो हृष्टेन तेनोक्तं नागदत्तेन तं प्रति ।
मुञ्च मुञ्च द्वितीयं च सर्पं भो मन्त्रवादिक ॥ १७ ॥
तेनोक्तं देव सर्पोयं महादुष्टः प्रवर्तते ।
दैवात्खादति चेदस्य प्रतीकारो न विद्यते ॥ १८ ॥
नागदत्तस्ततो रुष्ट्वा वराकोयं करोति किम् ।
मंत्रतंत्रप्रवीणस्य ममेति वचनं जगौ ॥ १९ ॥

ततस्तेन नृपादींश्च कृत्वा तान्साक्षिणः पुनः ।
विमुक्तः कालसर्पेश्च तेनासौ भक्षितः पुमान् ॥ २० ॥
तदा तद्विषमाहात्म्यान्नागदत्तो महीतले ।
पपात निश्चलो भूत्वा मोहान्धो वा भवाम्बुधौ ॥ २१ ॥
राज्ञाप्याकारिताः सर्वे तदा ते मन्त्रवादिनः ।
तैरुक्तं कालदष्टोयं भो स्वामिन्नैव जीवति ॥ २२ ॥
महाचिन्तातुरेणोच्चै-र्नागधर्ममहीभुजा ।
अहो वादिन्यदि त्वं च करोष्येतं सचेतनः ॥ २३ ॥
अर्धराज्यं तदा तुभ्यं दीयतेत्र मया ध्रुवम् ।
इत्युक्त्वा तेन तस्यैव स्वपुत्रोसौ समर्पितः ॥ २४ ॥
स वादी प्राह भो नाथ कालसर्पेण भक्षितः ।
जीवत्यत्र यदा जैनीं दीक्षां गृह्णाति निर्मलाम् ॥ २५ ॥
भूत्वा सचेतनश्चेति ममादेशोस्ति भूपते ।
एवमस्त्विति भूभर्त्ता संजगाद प्रमोदतः ॥ २६ ॥
तदा चोत्थापयामास मंत्रवादी नृपात्मजम् ।
मिथ्यामार्गविषक्रान्तं प्राणिनां वा गुरुर्महान् ॥ २७ ॥
सावधानस्ततो भूत्वा नागदत्तो विचक्षणः ।
श्रुत्वा नृपादितः सर्वां तां प्रतिज्ञां प्रसन्नधीः ॥ २८ ॥
मुनेर्यमधरस्योच्चैः पादमूले सुभक्तितः ।
दीक्षां जग्राह जैनेन्द्रीं सुरेन्द्रैः परिपूजिताम् ॥ २९ ॥
प्रियधर्मचरो देवः प्रकटीभूय भक्तिभाक् ।
नत्वा तं पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा दिवं गतः ॥ ३० ॥
ततः परमवैराग्यान्नागदत्तो मुनीश्वरः ।
विशुद्धचरणोपेतो जिनकल्पी बभूव च ॥ ३१ ॥

सुधीः श्रीमज्जिनेन्द्राणां नाना तीर्षेषु शर्मदाम् ।
यात्रां जिनेन्द्रसद्भक्तिं कुर्वाणः परया मुदा ॥ ३२ ॥
एकदासौ महाटव्या-मागच्छन्मुनिसत्तमः ।
सूरदत्ताश्रितैश्चोरै रुद्धमार्गो दुराशयैः ॥ ३३ ॥
अस्मानसौ मुनिर्गत्वा लोकानां कथयिष्यति ।
भीत्वेति धर्त्तुमारब्धो महालुण्टाकपण्डितैः ॥ ३४ ॥
सूरदत्तस्तत प्राह चोराणामग्रणीर्महान् ।
अहो परमचारित्रो वीतरागोयमद्भुतम् ॥ ३५ ॥
पश्यन्नपि प्रभुर्धीमान्नैव पश्यति किंचन ।
न किंचित्कथयिष्यत्येष केषांचिद्धीरमानसः ॥ ३६ ॥
अतोसौ मुच्यतां शीघ्रं मा भयं कुरुत ध्रुवम् ।
तदाकर्ण्य भटैस्तैश्च विमुक्तो मुनिनायकः ॥ ३७ ॥
अत्रान्तरे मुनेस्तस्य माता या नागदत्तिका ।
नागश्रियं निजां पुत्रीं समादाय विभूतिभिः ॥ ३८ ॥
वत्सदेशेत्र कोशाम्ब्यां जिनदत्तमहीपतेः ।
पुत्राय जिनदत्ताया जिनपालाय धीमते ॥ ३९ ॥
तां दातुं बहुभिः सार-सम्पदाभिः समान्विता ।
सा गच्छन्ती तदामार्गे सुजनैः परिमण्डिताः ॥ ४० ॥
सम्मुखं नागदत्तं तं मुनीन्द्रं वीक्ष्य भक्तितः ।
नत्वा प्राह मुने मार्गो विशुद्धोस्ति नवैति च ॥ ४१ ॥
मौनं कृत्वा मुनिः सोपि निर्गतो मोहवर्जितः ।
शत्रुमित्रसमानश्च महाचारित्रमण्डितः ॥ ४२ ॥
नागदत्ता तथा चोरैर्धृत्वा सर्वधनादिकम् ।
गृहीत्वा सूरदत्तस्य सपुत्री सा समर्पिता ॥ ४३ ॥

तदा तस्करनाथोसौ सूरदत्तो जगाद च ।
चोराणमग्रतः किं भो भवद्भिः साम्विलोकितम् ॥ ४४ ॥
औदासीन्यं मुनीन्द्रस्य निस्पृहस्यास्य सर्वथा ।
एतया वन्दितश्चापि पृष्टश्चापि सुभक्तितः ॥ ४५ ॥
एतेषां भाक्तिकानां च नास्मद्वार्त्तां जगौ मुनिः ।
धीरो वीरोतिगंभीरो जिनतत्वविदाम्वरः ॥ ४६ ॥
इत्याकर्ण्य ततः प्राह नागदत्ता प्रकोपतः ।
देहि भो सूरदत्त त्वं छुरिकामतिदारुणाम् ॥ ४७ ॥
कुक्षिं विदारयामीति यत्रायं नवमासकान् ।
निष्ठुरः स्थापितः कष्टैः कुपुत्रो मोहवर्जितः ॥ ४८ ॥
तच्छ्रुत्वा सूरदत्तोसौ महावैराग्यमाप्तवान् ।
या माता मुनिनाथस्य सा त्वं माता ममापि च ॥ ४९ ॥
इत्युक्त्वा तां प्रणम्योच्चैर्दत्वा सर्वधनं पुनः ।
संविसर्ज्य तथागत्य सूराणामग्रणीर्द्रुतम् ॥ ५० ॥
नागदत्तमुनेः पाद-पद्मद्वेतं प्रणम्य च ।
स्तुत्वा तं परया प्रीत्या मुनीन्द्रं गुणशालिनम् ॥ ५१ ॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं तत्समीपे सुखप्रदाम् ।
क्रमात्सद्दर्शनज्ञान-चारित्रैर्जिनभाषितैः ॥ ५२ ॥
घातिकर्मक्षयं कृत्वा लोकालोकप्रकाशकम् ।
केवलज्ञानमुत्पाद्य देवेन्द्राद्यैः प्रपूजितः ॥ ५३ ॥
सम्बोध्य सकलान्भव्यान्स्वर्गमोक्षप्रदायकः ।
शेषकर्मक्षयं कृत्वा प्राप्तवान्मोक्षमक्षयम् ॥ ९४ ॥

सकलगुणसमुद्रः सर्वदेवेन्द्रवन्द्य—
त्रिभुवनजननेत्रोत्कृष्टनीलोत्पलेन्दुः ।

सृजतु मम शिवानि श्रीजिनः सूरदत्तो
भवतु च भवशान्त्यै नागदत्तो मुनीन्द्रः ॥ ५५ ॥

इति कथाकोशे नागदत्तमुनेः कथा समाप्ता ।

१५—कुसङ्गोद्भवदोषस्य कथा ।

श्रीसर्वज्ञं नमस्कृत्य सर्वसत्वहितप्रदम् ।
वक्ष्ये दुस्सङ्गदोषस्य कथां दुस्सङ्गहानये ॥ १ ॥
वत्सदेशेत्र विख्याते कोशाम्बीपत्तने शुभे ।
राजाभूद्धनपालाख्यो दुष्टानां मानमर्दकः ॥ २ ॥
चतुर्वेदपुराणादि-सर्वशास्त्रविचक्षणः ।
पुरोहितो भवत्तस्य शिवभूतिर्द्विजोत्तमः ॥ ३ ॥
तत्रैव कल्पपालश्च पूर्णचन्द्रो धनैर्युतः ।
मणिभद्रा प्रिया तस्य सुमित्राख्या सुता भवत् ॥ ४ ॥
कदाचित्पूर्णचन्द्रोसौ सुमित्राया विवाहके ।
भोजयित्वाखिलं लोकं युक्तितो वरभोजनैः ॥ ५ ॥
आमंत्रितश्च मित्रत्वाच्छिवभूतिः पुरोहितः ।
तेनोक्तं मित्र शूद्रान्न-मस्माकं नैव कल्पते ॥ ६ ॥
कल्पपालः पुनः प्राह पवित्रोद्यानके सुधीः ।
निष्पादितं महाविप्रैर्भोजनं क्रियतामिति ॥ ७ ॥
एवमस्त्विति तेनोक्तं ब्राह्मणेन तदाग्रहात् ।
तद्दानं हि प्रधानं स्याल्लोके यद्विनयान्वितम् ॥ ८ ॥
ततोसौ पूर्णचन्द्रश्च विप्रहस्तेन भोजनम् ।
उद्याने कारयामास रसैः षड्भिः समन्वितम् ॥ ९ ॥

तत्रैकतो वने पूर्ण-चन्द्रं तं बन्धुभिर्युतम् ।
अन्यपार्श्वे द्विजं तं च पिबन्तं दुग्धशर्कराम् ॥ १० ॥
कैश्चिल्लोकैः समालोक्य धनपालमहीपतेः ।
प्रोक्तं देव कृतं मद्य-पानं ते शिवभूतिना ॥ ११ ॥
इत्याकर्ण्य महीनाथस्तमाहूय द्विजोत्तमम् ।
पृष्टवांश्च द्विजः प्राह कृतं नैव मया प्रभो ॥ १२ ॥
परीक्षार्थं ततो राज्ञा शिवभूतिः पुरोहितः ।
कारितो वमनं विप्रो वेदवेदाङ्गपारगः ॥ १३ ॥
स्वभावतोतिदुर्गन्धे कृते तस्मिंश्च वान्तिके ।
महाकोपेन सन्तप्तो धनपालो धराधिपः ॥ १४ ॥
निर्भर्त्स्य निष्ठुरैर्वाक्यैः शिवभूतिं सुकष्टतः ।
देशान्निर्घाटयामास कुसङ्गः कष्टदो ध्रुवम् ॥ १५ ॥
अतो भव्यैः परित्यज्य कुसङ्गं सर्वनिन्दितम् ।
सङ्गतिः सुजनानां च कर्त्तव्या परमादरात् ॥ १६ ॥

श्रीमज्जैनपदाब्जयुग्मरसिकैर्भव्यालिभिः साधुभिः
कर्तव्या सह सङ्गतिः सुनितरां त्यक्त्वा कुसगं बुधैः ।
सम्मानं धनधान्यमुन्नतिपदं प्रीतिं सतां सर्वदा
या लोके च करोति सङ्गतिरसौ सा मे क्रियान्मङ्गलम्॥ १७॥

इति कथाकोशे कुसङ्गोद्भवदोषस्य कथा समाप्ता ।

१६—पवित्रहृदयबालकस्य कथा।

बालो विलोक्यते यादृक्तादृशं वदति ध्रुवम् ।
नत्वा जिनं प्रवक्ष्यामि तत्कथां बुद्धये नृणाम् ॥ १ ॥

कोशाम्बीनगरे राजा जयपालो विचक्षणः ।
श्रेष्ठी सागरदत्ताख्यो धनाढ्यो धर्मवत्सलः ॥ २ ॥
भार्या सागरदत्ताभूत्तयोः पुत्रो बभूव च ।
नाम्ना समुद्रदत्तोसौ रूपलावण्यमण्डितः ॥ ३ ॥
तत्रैव नगरे जातो गोपायनवणिक्कुधीः ।
सप्तव्यसनसंसक्तः पापतो धनवर्जितः ॥ ४ ॥
तस्य सोमाभवद्भार्या तयोः पुत्रश्च सोमकः ।
संजातो वत्सरैः कैश्चित्क्रमेण प्रौढबालकः ॥ ५ ॥
तौ द्वौ स्वलीलया बालौ बालक्रीडां परस्परम् ।
नित्यं समुददत्ताख्य-सोमकौ कुरुतः स्म च ॥ ६ ॥
एकदा धनलोभेन पापी गोपायनो वणिक् ।
बालं समुद्रदत्ताख्यं सर्वाभरणभूषितम् ॥ ७ ॥
पश्यतः सोमकस्याग्रे मारयित्वा स्वगेहके ।
गृहीत्वाभरणान्याशु गर्त्तायां क्षिप्तवान्कुधीः ॥ ८ ॥
तदा सागरदत्ताद्यैस्तत्कुटुम्बैः सुदुःखितैः ।
कष्टतोपि न दृष्टोसौ पुण्यहीने यथा सुखम् ॥ ९ ॥
ततः पुत्रमपश्यन्ती सती सागरदत्तिका ।
क्व रे समुद्रदत्तोसौ सोमकं प्रति संजगौ ॥ १० ॥
सोमकः प्राह बालत्वाद्गर्त्तायां तत्र पुत्रकः ।
तिष्ठतीति, नवेत्त्येव बालकः किंचिदप्यहो ॥ ११ ॥
पापी पापं करोत्येव प्रच्छन्नापि पापतः ।
तत्प्रसिद्धं भवत्येव कष्टकोटिप्रदायकम् ॥ १२ ॥
तत्र सागरदत्ता सा मृतं पुत्रं विलोक्य तम् ।
भर्तुः सागरदत्तस्य जगौ वार्ता सुदुःखदाम् ॥ १३ ॥

तेनोक्तं यमदण्डाख्य-कोट्टपालस्य तेन च ।
भूपतेस्तेन कोपेन चक्रे तन्निगृहं भृशम् ॥ १४ ॥
इति ज्ञात्वा बुधैर्नित्यं त्यक्त्वा पापं सुखःखदम् ।
धर्मः श्रीमज्जिनेन्द्रोक्तः सेवनीयः सुखप्रदः ॥ १५ ॥

बाले, वोत्ति हिताहितं न विकलो लोकेत्र कामातुर–
स्तारुण्ये गतयौवने च नितरां प्राणी जरापीडितः ।
मध्यस्थोपि कुटुम्बदुर्भरतृषाक्रान्तः कदा स्वस्थता
दैवात्प्राप्य जिनेन्द्रशासनमसौ भव्योस्तु धर्माशयः १६

इति कथाकोशे पवित्रहृदयबालकस्य कथा समाप्ता ।

१७–धनदत्तराज्ञः कथा ।

नत्वा श्रीमज्जिनाधीशं सुराधीशैः समर्चितम् ।
धनदत्तमहीभर्तुः सत्कथां कथयाम्यहम् ॥ १ ॥
अन्धदेशेत्र विख्याते धान्यादिकनकेपुरे ।
धनदत्ताभिधो राजा सद्दृष्टिर्धर्मवत्सलः ॥ २ ॥
संघश्रीवन्दकस्तस्य मंत्री मिथ्यामताश्रितः ।
एवं राज्यं करोति स्म धर्मकर्मपरो नृपः ॥ ३ ॥
एकदा धनदत्तख्या-संघश्रीभ्यां स्वलीलया ।
ताभ्यां मंत्रप्रकुर्वद्भ्यां प्रासादस्योपरि क्षितौ ॥ ४ ॥
काले पराह्लके तत्र समालोक्य नभस्तले ।
मुनीन्द्रौ चारणौ चित्ते चमत्काराविधायिनौ ॥ ५ ॥
ससम्भ्रमं समुत्थाय कृत्वा तद्वन्दनां मुदा ।
स्वान्तिके तौ समानीतौ साधुसङ्गः सतां प्रियः ॥ ६ ॥

तदा तस्य महीभर्तुर्वचनेन विचक्षणौ ।
श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्म—व्याख्यानं संविधाय तौ ॥ ७ ॥
संघश्रीवन्दकं कृत्वा श्रावकं परमादरात् ।
स्वस्थानं जग्मतुः पूतौ मुनीन्द्रौ गुणशालिनौ ॥ ८ ॥
बुद्धश्रीवन्दकं सोपि संघश्रीः स्वगुरुं सदा ।
त्रिसन्ध्यं वन्दितुं याति पुरा मिथ्यात्वमोहितः ॥ ९ ॥
तस्मिन्दिने गतो नैव वन्दनासमये ततः ।
बुद्धश्रिया समाहूय स नीतो निजपार्श्वकम् ॥ १० ॥
नमस्कारमकुर्वन्सन्पृष्टोसौ वन्दकेन च ।
न प्रणामं करोषीति कथं रे साम्प्रतं मम ॥ ११ ॥
मंत्रिणा मुनिवृत्तान्ते कथिते सुमनोहरे ।
वन्दकेन तदा प्रोक्तं पापिना पलभक्षिणा ॥ १२ ॥
हा हा त्वं वञ्चितोसीति सन्ति नैवात्र चारणाः ।
मुनयो गगने मूढ गम्यते किं निराश्रये ॥ १३ ॥
राजा ते कपटी लोके दर्शयामास साम्प्रतम् ।
इन्द्रजालं महाभ्रान्ति मा गास्त्वं बुद्धभाक्तिकः ॥ १४ ॥
एवं मिथ्यात्वमानीतो वारितो नितरामसौ ।
प्रभाते त्वं च मा गच्छ भूपतेः सदसि ध्रुवम् ॥ १५ ॥
गत्वापि तत्र मावादी मया दृष्टौ मुनी इति ।
संघश्रीस्तत्समाकर्ण्य श्रावकत्वमपाकरोत् ॥ १६ ॥
स्वयं ये पापिनो लोके परं कुर्वन्ति पापिनम् ।
यथा सन्तप्तमानोसौ दहत्यग्निर्न संशयः ॥ १७ ॥
धनदत्तो महीभर्त्ता सम्यग्दृष्टिशिरोमणिः ।
प्रभाते स्वसभामध्ये महाधर्मानुरागतः ॥ १८ ॥

सामन्तादिमहाभव्य-लोकानामग्रतः सुधीः ।
चक्रे चारणयोगीन्द्र-समागमकथां शुभाम् ॥ १९ ॥
विश्वासहेतवे तत्र समाहूय च मंत्रिणम् ।
अहो मंत्रिन्नृपः प्राह कीदृशौ तौ मुनीश्वरौ ॥ २० ॥
तनोक्तं निन्दकेनेति वन्दकेन सुपापिना ।
नैव दृष्टं किमप्यत्र मया भो चारणादिकम् ॥ २१ ॥
तदा संघाश्रियस्तस्य महापापप्रभावतः ।
कष्टतः स्फुटिते नेत्रे तत्क्षणाद्दुष्टचेतसः ॥ २२ ॥
प्रभावो जिनधर्मस्य सूर्यस्येव जगत्त्रये ।
नैव संछाद्यते केन घूकप्रायेण पापिना ॥ २३ ॥
जैनधर्मं प्रशस्योच्चैः सर्वे ते भूमिपादयः ।
संजाताः श्रावकाचार–चञ्चवो भक्तिनिर्भराः ॥ २४ ॥

इत्थं श्रीजिनशासनेऽतिविमले देवेन्द्रचन्द्रार्चिते
ज्ञात्वा भव्यजनैः प्रभावमतुलं स्वर्गापवर्गप्रदे ।
त्यक्त्वा भ्रांतिमतीवशर्मनिलये कार्या मतिर्निर्मला
धर्मे श्रीजिनभाषितेत्र नितरां सर्वेष्टसंसाधिनी ॥ २५ ॥

इति कथाकोशे धनदत्तराज्ञः कथा समाप्ता ।

१८–ब्रह्मदत्तस्य कथा ।

प्रणम्य परया भक्त्या जिनेन्द्रं जगदर्चितम् ।
ब्रह्मदत्तकथां वक्ष्ये सतां सद्बोधहेतवे ॥ १ ॥
कांपिल्यनगरेत्रैव राजा ब्रह्मरथः सुधीः ।
राज्ञी रूपगुणोपेता रामिल्या प्राणवल्लभा ॥ २ ॥

तयोर्द्वादशचक्रेशो ब्रह्मदत्तोभवत्सुतः ।
षट्खण्डमडितां पृथ्वीं संसाध्य सुखतः स्थितः ॥ ३ ॥
एकदा सूपकारश्च तस्मै विजयसेनवाक् ।
भोजनावसरे तप्तं पायसं दत्तवांस्ततः ॥ ४ ॥
उष्णत्वात्तेन तद्भोक्तु-मसमर्थेन चाक्रिणा ।
तेनैव पायसेनाशु क्रोधान्धेन कुबुद्धिना ॥ ५ ॥
मस्तके दाहयित्वा च सूपकारः स मारितः ।
धिक्कोपं प्राणिनां लोके कष्टकोटिविधायकम् ॥ ६ ॥
ततो विजयसेनोसौ सूपकारः सुदुःखितः ।
मृत्वा क्षारसमुद्रस्थे रत्नद्वीपे सुविस्तृते ॥ ७ ॥
भूत्वा व्यन्तरदेवश्च विभंगज्ञानचक्षुषा ।
ज्ञात्वा पूर्वभवं कष्टं महाकोपेन कम्पितः ॥ ८ ॥
परिव्राजकरूपेण पूर्ववैरेण संयुतः ।
कदल्यादिमहामिष्ट-फलान्यादाय वेगतः ॥ ९ ॥
तत्रागत्य ततस्तस्मै ब्रह्मदत्ताय दत्तवान् ।
स जिह्वालम्पटश्चक्री भक्षित्वा सुफलानि च ॥ १० ॥
सन्तुष्टः पृष्टवानित्थं परिव्राजक भो वद ।
ईदृशानि फलान्युच्चैः कुत्र सन्ति प्रियाणि च ॥ ११ ॥
तच्छ्रुत्वा सोपि संप्राह समुद्रे भो नरेश्वर ।
मदीयमठसान्निध्ये वाटिकायां बहून्यलम् ॥ १२ ॥
तदाकर्ण्य नृपस्तत्र गन्तुकामोभवत्तराम् ।
शुभाशुभं न जानाति हा कष्टं लम्पटः पुमान् ॥ १३ ॥
अन्तःपुरादिसंयुक्तं नीत्वा तं तेन सागरे ।
मारणार्थं समारब्धस्तथोच्चैरुपसर्गकः ॥ १४ ॥

तदा पञ्चनमस्कारं स्मरन्तं चक्रवर्तिनम् ॥
देवो मारयितुं तत्र न समर्थो बभूव च ॥ १५ ॥
ततोसौ प्रकटो भूत्वा देवो दुष्टाशयोवदत् ।
रे रे दुष्ट त्वया कष्टं मारितोहं पुरा किल ॥ १६ ॥
अतोहं मारयामि त्वां साम्प्रतं बहु दुःखतः ।
यदि त्वं नास्ति जैनेन्द्र-शासनं भुवनत्रये ॥ १७ ॥
भणित्वेति प्रशस्योच्चैः स्ववाक्यैः परदर्शनम् ।
लिखित्वा च जले पञ्च-नमस्कारपदानि च ॥ १८ ॥
विनाशयसि पादेन त्वां मुञ्चामि तदा ध्रुवम् ।
ब्रह्मदत्तस्ततो मिथ्या-दृष्टिश्चक्रे तदीरितम् ॥ १९ ॥
मारितः सिन्धुमध्येसौ व्यन्तरेण सुवैरिणा ।
सप्तमं नरकं प्राप्तो मिथ्यात्वं कष्टकोटिदम् ॥ २० ॥
यस्य चित्ते न विश्वासो धर्मे श्रीजिनभाषिते ।
तस्य किं कुशलं लोके महादुष्कर्मकारिणः ॥ २१ ॥
मिथ्यात्वेन समं किंचिन्निन्द्यं न भुवनत्रये ।
यतोसौ चक्रवर्त्ती च सप्तमं नरकं गतः ॥ २२ ॥
तस्मात्तद्दूरतस्त्यक्त्वा मिथ्यात्वं वान्तिवद्बुधाः ।
स्वर्मोक्षसाधने हेतुं सम्यक्त्वं भावयन्तु वै ॥ २३ ॥
देवोर्हन्भुवनत्रयेत्र नितरां दोषौघसङ्गोज्झितो
देवेन्द्रार्कनरेन्द्रखेचरशतैर्भक्त्या सदाभ्यर्चितः ।
तद्वाक्यं भवसागरप्रवहणप्रायं महाशर्मदं
नित्यं चेतसि भावितं च भवतां कुर्याद्वरं मङ्गलम् ॥२४॥

इति कथाकोशे ब्रह्मदत्तचक्रिणः कथा समाप्ता ।

१९-श्रीश्रेणिकनृपस्य कथा।

नत्वा जिनं जगत्पूज्यं केवलज्ञानलोचनम्।
वक्ष्ये श्रीश्रेणिकस्योच्चैः सत्कथां श्रेयसे नृणाम् ॥ १ ॥
देशेत्र मगधे ख्याते पुरे राजगृहे परे।
राजा श्रीश्रेणिकस्तत्र राजविद्याविराजितः ॥ २ ॥
तद्राज्ञी चेलिनी नाम्नी सम्यग्दृष्टिर्विचक्षणा।
श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्ज-पूजनैपकरायणा ॥ ३ ॥
एकदा श्रेणिकेनोक्तं श्रृणु त्वं देवि वच्म्यहम्।
सर्वधर्मप्रधानोयं विष्णुधर्मोत्र वर्त्तते ॥ ४ ॥
अतस्त्वया रतिः कार्या तत्रैवाशु सुखप्रदे।
तदाकर्ण्य प्रभोर्वाक्यं जैनतत्वेषु निश्चला ॥ ५ ॥
चेलना विनयोपेता संजगाद प्रियं वचः।
भो देव विष्णुभक्तानां भोजनं दीयते मया ॥ ६ ॥
अथैकदा समाहूय भोजनार्थे स्वमण्डपे।
गौरवात्स्थापयामास सर्वान्भागवतान्सती ॥ ७ ॥
तत्र ते कपटोपेताः शठा ध्यानेन संस्थिताः।
पृष्टास्तया भवन्तोत्र किं कुर्वन्ति तपास्विनः ॥ ८ ॥
इत्याकर्ण्य जगुस्तेपि त्यक्त्वा देहं मलैर्भृतम्।
जीवं विष्णुपदं नीत्वा तिष्ठामो देवि सौख्यतः ॥ ९ ॥
ततस्तया महादेव्या चेलिन्या सोपि मण्डपः।
प्रज्वालितोग्निना नष्टाः कष्टास्ते वायसा यथा ॥ १० ॥
राज्ञा रुष्टेन सा प्रोक्ता भक्तिर्नास्ति यदि ध्रुवम्।
किं ते मारयितुं चैतान्युक्तं कष्टात्तपस्विनः ॥ ११ ॥

तयोक्तं देव भो त्यक्त्वा कुत्सितं स्ववपुर्द्रुतम् ।
एते विष्णुपदं प्राप्ताः सारसौख्यसमन्वितम् ॥ १२ ॥
नित्यं तत्रैव तिष्ठन्ति किमत्रागमनेन च ।
इति ज्ञात्वोपकाराय मयेदं निर्मितं प्रभो ॥ १३ ॥
अस्त्येव मम वाक्यस्य निश्चयार्थे महीपते ।
सद्दृष्टान्तकथां वक्ष्ये श्रूयतां परमादरात् ॥ १४ ॥
" वत्सदेशे सुविख्याते कोशाम्बीपत्तने प्रभुः ।
प्रजापालो महाराज्यं करोति स्म स्वलीलया ॥ १५ ॥
श्रेष्ठी सागरदत्ताख्यो वसुमत्या स्त्रिया युतः ।
तत्रैव च समुद्रादि दत्तः श्रेष्ठी परोभवत् ॥ १६ ॥
भार्या समुद्रदत्ताख्या श्रेष्ठिनोश्च तयोर्द्वयोः ।
महास्नेहवशादुच्चै-र्वाचा बन्धोभवद्ध्रुवम् ॥ १७ ॥
आवयोः पुत्रपुत्र्यौ यौ संजायेते परस्परम् ।
तयोर्विवाहः कर्त्तव्यो यस्मात्प्रीतिर्भवेत्सदा ॥ १८ ॥
ततः सागरदत्तस्य वसुमत्यां सुतोभवत् ।
तिष्ठति स्म गृहे चेति वसुमित्रो महाद्भुतम् ॥ १९ ॥
तथा समुद्रदत्तस्य नागदत्ता सुताजनि ।
तस्यां समुद्रदत्तायां रूपलावण्यमण्डिता ॥ २० ॥
वसुमित्रेण तेनोच्चैः परिणीता क्रमेण सा ।
नैव वाचा चलत्वं च सतां कष्टशतैरपि ॥ २१ ॥
ततश्च वसुमित्रोसौ निशायां निजलीलया ।
धृत्वा पिट्टारके शीघ्रं नित्यं सर्पशरीरकम् ॥ २२ ॥
भूत्वा दिव्यनरो नाग-दत्तया सह सौख्यतः ।
भुंक्ते भोगान्मनोभीष्टान्विचित्रा संसृतेः स्थितिः ॥ २३ ॥

एकदा यौवनाक्रान्तां नागदत्तां विलोक्य च ।
जगौ समुद्रदत्ता सा पुत्रीं स्नेहेन दुःखिता ॥ २४ ॥
हा विधेश्चेष्टितं कष्टं कीदृशी मे सुतोत्तमा ।
वरश्च कीदृशो जातो भीतिकारी भुजङ्गमः ॥ २५ ॥
तच्छ्रुत्वा नागदत्तासौ भो मातर्माविसूरय ।
समुद्रीयेति वृत्तान्तं स्वभर्तुः संजगाद च ॥ २६ ॥
तदाकर्ण्य समुद्रादिदत्ता गत्वा सुतागृहम् ।
रात्रौ पिट्टारके मुक्त्वा सर्पदेहं सुनिन्दितम् ॥ २७ ॥
धृत्वा मनुष्यसद्रूपं वसुमित्रे च निर्गते ।
सा प्रच्छन्नं तदा भस्मी-चक्रे पिट्टारकं सती ॥ २८ ॥
दाहिते च तदा तस्मिन्वसुमित्रो गुणोज्वलः ।
भुञ्जानो विविधान्भोगान्सदासौ पुरुषः स्थितः ॥ २९ ॥
तथैते देव तिष्ठन्ति विष्णुलोके निरन्तरम् ।
एतदर्थं मयारब्धो देहदाहस्तपस्विनाम् ॥ ३० ॥ "
तन्निशम्य महीनाथः श्रेणिकश्चेलनोदितम् ।
समर्थो नोत्तरं दातुं कोपान्मौनेन संस्थितः ॥ ३१ ॥
अथैकदा नृपाधीशो गतः पापर्द्धिहेतवे ।
तत्रातापनयोगस्थं यशोधरमहामुनिम् ॥ ३२ ॥
समालोक्य महाकोपान्ममेमं विघ्नकारिणम् ।
मारयामीति संचिन्त्य मुक्तवान्कुक्कुरान्वृथा ॥ ३३ ॥
गत्वा पञ्चशतान्युच्चैः कुक्कुरास्तेपि निष्ठुराः ।
यशोधरमुनेस्तस्य तपोमाहात्म्ययोगतः ॥ ३४ ॥
कृत्वा प्रदक्षिणां पाद-मूले तस्थुः सुभक्तितः ।
क्रोधान्धेन पुनस्तेन बाणा मुक्ताः सुदारुणाः ॥ ३५ ॥

तेपि बाणा बभूवुश्च पुष्पमालाः सुनिर्मलाः ।
प्रभावो मुनिनाथस्य महान्केनात्र वर्ण्यते ॥ ३६ ॥
तस्मिन्काले महीपालः सप्तमं नरकं प्रति ।
त्रयस्त्रिंशत्समुद्रायुर्बन्धं चक्रे सुकष्टदम् ॥ ३७ ॥
ततः प्रभावमालोक्य मुनेः पादाम्बुजद्वयम् ।
प्रणम्य परया भक्त्या त्यक्त्वा दुष्टाशयं नृपः ॥ ३८ ॥
पुण्येन पूर्णयोगोसौ यशोधरमहामुनिः ।
तत्वं जगाद जैनेन्द्रं सुरेन्द्राद्यैः प्रपूजितम् ॥ ३९ ॥
तच्छ्रुत्वोपशमं सार-सम्यक्त्वं संगृहीतवान् ।
तदायुश्चतुराशीति-गुणवर्षसहस्रकम् ॥ ४० ॥
संचक्रे प्रथमे शीघ्रं नरके प्रस्तरादिमे ।
किं न स्याद्भव्यमुख्यानां शुभं सद्दर्शनागमे ॥ ४१ ॥
ततः पादान्तिके चित्र-गुप्तनाम महामुनेः ।
क्षयोपशमिकं प्राप्य सम्यक्त्वं भक्तिनिर्भरः ॥ ४२ ॥
वर्द्धमानजिनेन्द्रस्य पादमूले जगद्गुरोः ।
गृहीत्वा शुद्धसम्यक्त्वं क्षायिकं मुक्तिदायकम् ॥ ४३ ॥
स्वीचक्रे तीर्थकृन्नाम त्रैलोक्येशैः समर्चितम् ।
तस्माच्छ्रेणिको भूपस्तीर्थेशः संभविष्यति ॥ ४४ ॥

स जयति जिनदेवः केवलज्ञानदीपः
सकलसुरनरेन्द्रैः खेचरेन्द्रैः प्रपूज्यः ।
यदुदितवरवाक्यैर्भावितैः स्वच्छचित्ते
भवति विमललक्ष्मीनायकोसौ मनुष्यः ॥ ४५ ॥

इति कथाकोशे श्रीश्रेणिकनृपस्य कथा समाप्ता ।

२०–पद्मरथस्य कथा ।

श्रीजिनं त्रिजगन्नाथैः समर्चितपदद्वयम् ।
नत्वा पद्मरथस्योच्चै-र्जिनभक्तिकथोच्यते ॥ १ ॥
देशेत्र मागधे रम्ये मिथिलायां महापुरि ।
राजा पद्मरथो जातो विख्यातो मुग्धमानसः ॥ २ ॥
एकदासौ महाटव्यां पापर्द्ध्यै भूपतिर्गतः ।
दृष्ट्वैकं शशकं पृष्टे तस्याश्वं वाहयद्द्रुतम् ॥ ३ ॥
भूत्वैकाकी वने काल-गुहां प्राप्तः स्वपुण्यतः ।
तत्र दीप्ततपोयोगा-द्विस्फुरत्कान्तिमद्भुतम् ॥ ४ ॥
सुधर्ममुनिमालोक्य रत्नत्रयविराजितम् ।
शान्तो बभूव सन्तप्तो लोहापिण्डो यथाम्भसा ॥ ५ ॥
तुरंगादवतीर्याशु तं प्रणम्य महामुदा ।
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं सुरेन्द्राद्यैः समर्चितम् ॥ ६ ॥
सम्यक्त्वाणुव्रतान्युच्चैः समादाय सुभाक्तितः ।
सन्तुष्टः पृष्टवानित्थं सुधीः पद्मरथो नृपः ॥ ७ ॥
भो मुने भुवनाधार-जैनधर्माम्बुधौ विधो ।
वक्तृत्वादिगुणोपेत-स्त्वादृशः पुरुषोत्तमः ॥ ८ ॥
किं कोपि वर्तते क्वापि परो वा नेति धीधन ।
सन्देहो मानसे मेस्ति ब्रूहि त्वं करुणापर ॥ ९ ॥
तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह सुधर्मो जैनतत्ववित् ।
शृणु त्वं भो महीनाथ चम्पायां विबुधार्चितः ॥ १० ॥
तीर्थकृद्वासुपूज्योस्ति द्वादशो भवशर्मदः ।
स कोटिभास्करोत्कृष्ट-कान्तिसन्दोहसाधिकः ॥ ११ ॥

तस्य श्रीवासुपूज्यस्य ज्ञानदीप्तिगुणोदये ।
अन्तरं मे तरां चास्ति मेरुसर्षपयोरिव ॥ १२ ॥
तदाकर्ण्य मुनेर्वाक्यं धर्मप्रीतिविधायकम् ।
तत्पादवन्दनाभक्त्यै संजातः सोत्सवो नृपः ॥ १३ ॥
यावच्चचाल सद्भूत्या प्रभाते प्रीतिनिर्भरः ।
यावद्धन्वन्तरिर्नाम्ना सुधीर्विश्वानुलोमवाक् ॥ १४ ॥
तौ सखायौ सुरौ भूत्वा समागत्य महीतले ।
तस्य भक्तेः परीक्षार्थे मार्गे सङ्गच्छतो मुदा ॥ १५ ॥
दर्शयामासतुः कष्टं कालसर्पं तिरोगतम् ।
मायया छत्रभंगं च पुरो दाहादिकं पुनः ॥ १६ ॥
वातोद्भूतमहाधूली-पाषाणपतनादिकम् ।
अकालेपि महावृष्टिं निमग्नं कर्दमे द्विपम् ॥ १७ ॥
मन्त्र्यादिभिस्तदा वार्य-माणोपि बहुधा नृपः ।
अमङ्गलशते जाते गम्यते नैव भूपते ॥ १८ ॥
नमः श्रीवासुपूज्याय भणित्वेति प्रसन्नधीः ।
कर्दमे प्रेरयामास भक्तिमान्निजकुंजरम् ॥ १९ ॥
तथाभूतं तमालोक्य जिन भक्तिभरान्वितम् ।
स्वमायामुपसंहृत्य संप्रशस्य सुरोत्तमौ ॥ २० ॥
सर्वरोगापहं हारं भेरीं योजननादिनीम् ।
धर्मानुरागतस्तस्मै दत्वा स्वस्थानकं गतौ ॥ २१ ॥
यस्य चित्ते जिनेन्द्राणां भक्तिः सन्तिष्ठते सदा ।
सिध्यन्ति सर्वकार्याणि तस्य नैवात्र संशयः ॥ २२
ततो पद्मरथो राजा प्रहृष्टहृदयाम्बुजः ।
गत्वा चम्पापुरीं तत्र दृष्ट्वा त्रैलोक्यमङ्गलम् ॥ २३ ॥

समवादिसृतौ संस्थं प्रातिहार्यादिभूषितम् ।
सुरासुरनराधीश-समर्चितपदद्वयम् ॥ २४ ॥
केवलज्ञाननिर्णीत-विश्वतत्वोपदेशकम् ।
अनन्तभवसम्बद्ध-महामिथ्यात्वनाशकम् ॥ २५ ॥
वासुपूज्यजिनाधीशं समभ्यर्च्य सुभक्तितः ।
स्तुत्वा स्तोत्रैस्तथा नत्वा श्रुत्वा तत्वं जिनोदितम् ॥ २६ ॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं पादमूले जिनेशिनः ।
संजातो गणभृच्चारु-चतुर्ज्ञानविराजितः ॥ २७ ॥
अतो भव्यैः सदा कार्या जिनभक्तिः सुशर्मदा ।
त्यक्त्वा मिथ्यामतं शीघ्रं स्वर्गमोक्षसुखाप्तये ॥ २८ ॥
यथा पद्मरथो राजा जिनभक्तिपरोभवत् ।
अन्यैश्चापि महाभव्यै-र्भवितव्यं तथा श्रिये ॥ २९ ॥
यद्भक्तिर्भुवनत्रयेत्र नितरां निर्वाणसंसाधिनी
सामान्येन सुरेन्द्रखेचरनराधीशादिशर्मप्रदा ।
स श्रीमान्मुनिपुंगवः शुचितरः सत्केवलोद्योतको
दद्यात्सारसुखं समस्तजगतो पूज्यः सतां सेवितः ॥ ३० ॥

इति कथाकोशे जिनभक्तपद्मरथस्य कथा समाप्ता ।

२१—पञ्चनमस्कारमंत्रप्रभावकथा ।

नत्वा पंच गुरून्भक्त्या पञ्चमीगतिसिद्धये ।
कथा पञ्चनमस्कार-फलस्योच्चैर्निगद्यते ॥ १ ॥
अंगदेशे सुविख्याते चम्पायां चारुलोचनः ।
प्रतापनिर्जितारातिर्-जातो राजा नृवाहनः ॥ २ ॥

श्रेष्ठि वृषभदासाख्यो-र्हद्दासी मानसप्रियः ।
श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोज-सेवनैकलसत्क्रियः ॥ ३ ॥
श्रेष्ठिनस्तस्य गोपालः कदाचित्पुण्ययोगतः ।
स्वेच्छया गृहमागच्छन्नरण्ये भुवनोत्तमम् ॥ ४ ॥
दृष्ट्वा चारणयोगीन्द्रं यथा स्तिमितमद्भुतम् ।
अभ्रावकाशिनं शीत-काले तीव्रे शिलास्थितम् ॥ ५ ॥
अहो कथं मुनीन्द्रोसौ वस्त्रादिपरिवर्जितः ।
शिलापीठे स्थितो रात्रिं कष्टतो गमयिष्यति ॥ ६ ॥
संचिन्त्येति गृहं गत्वा मुनिं स्मृत्वा सुमानसे ।
तथा पश्चिमरात्रौ च गृहीत्वा महिषीः पुनः ॥ ७ ॥
तत्रागत्य समालोक्य तं मुनिं ध्यानसंस्थितम् ।
तच्छरीरे महाशीतं तुषारं पतितं द्रुतम् ॥ ८ ॥
स्फेटयित्वा स्वहस्तेन मुनेः पादादिमर्दनम् ।
कृत्वा स्वास्थ्यं निधायोच्चैः पुण्यभागी बभूव च ॥ ९ ॥
प्रभातेसौ महाध्यान-मुपसंहृत्य धीधनः ।
अयमासन्नभव्योस्ति मत्वेति मुनिनायकः ॥ १० ॥

" **णमो अरिहंताणं** "

इति दत्वा महामंत्रं तस्मै स्वर्मोक्षदायकम् ।
तमेवाशु समुच्चार्य नभोभागे स्वयं गतः ॥ ११ ॥
गोपालस्य तदा तस्य तन्मंत्रस्योपरि स्थिरा ।
संजाता महती श्रद्धा सैव लोके सुखप्रदा ॥ १२ ॥
ततोसौ सर्वकार्येषु गोपालः परमादरात् ।
पूर्वमेव महामंत्रं तमुच्चरति सुस्फुटम् ॥ १३ ॥
एकदा श्रेष्ठिना तेन पठन्मंत्रं स गोपकः ।
किं रे करोषि चापल्यं वारितश्चेति धीमता ॥ १४ ॥

तेनोक्ते पूर्ववृत्तान्ते श्रेष्ठी सन्तुष्टमानसः ।
संजगाद त्वमेवात्र धन्यो गोप महीतले ॥ १५ ॥
येन दृष्टौ मुनीन्द्रस्य पादौ त्रैलोक्यपूजितौ ।
भवन्ति भुवने सन्तः सत्यं धर्मानुरागिणः ॥ १६ ॥
अथैकदा महिष्योस्य वह्निक्षेत्रं प्रभक्षितुम् ।
गंगानदीं समुत्तीर्य निर्गता निजलीलया ॥ १७ ॥
ता निवर्तयितुं सोपि महिषीर्गोपकस्तदा ।
तं सुमंत्रं समुच्चार्य नद्यां झंपां प्रदत्तवान् ॥ १८ ॥
तत्रादृश्योरुकाष्टेन विद्धोसौ जठरे तदा ।
प्रच्छन्नदुर्जनेनेव तीक्ष्णेन प्राणहारिणा ॥ १९ ॥
मृत्वा निदानतस्तस्य श्रेष्ठिनस्तनयोभवत् ।
अर्हद्दास्याः शुभे गर्भे पुण्यान्नाम्ना सुदर्शनः ॥ २० ॥
रूपलावण्यसौभाग्य-धनधान्यसमन्वितः ।
संजातः कृतपुण्यानां किमप्यत्र न दुर्लभम् ॥ २१ ॥
ततः सागरदत्तस्य पुत्रीं नाम्ना मनोरमाम् ।
जातां सागरसेनायां युक्त्यासौ परणीतवान् ॥ २२ ॥
एकदासौ महाश्रेष्ठी सुधीर्वृषभदत्तवाक् ।
त्रिधा वैराग्यमासाद्य धृत्वा तं स्वपदे सुतम् ॥ २३ ॥
मुनेः समाधिगुप्तस्य पादमूले सुभक्तितः ।
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं मुनिर्जातो विचक्षणः ॥ २४ ॥
तदा सुदर्शनो धीमान्प्राप्य श्रेष्ठीपदं महत् ।
राजादिपूजितो जातः सुप्रसिद्धो बभूव च ॥ २५ ॥
नित्यं श्रीमज्जिनेन्द्रोक्त-श्रावकाचारतत्परः ।
दानपूजास्वशीलादि-धर्मकर्मपरोऽभवत् ॥ २६ ॥

कदाचिद्भूभुजा सार्द्धं वनक्रीडनहेतवे ।
गतोसौ निजसंभूत्या श्रेष्ठी सर्वगुणान्वितः ॥ २७ ॥
तं दृष्ट्वा श्रेष्ठिनं तत्र निधानं रूप सम्पदः ।
तद्राज्ञी विन्हलीभूया-ऽभयाख्या प्राह धात्रिकाम् ॥ २८ ॥
कोयं भो धात्रिके धीमान्नरकोटिशिरोमणिः ।
तयोक्तं देवि विख्यातो राजश्रेष्ठी सुदर्शनः ॥ २९ ॥
तच्छ्रुत्वा सावदद्राज्ञी यद्यमुं पुरुषोत्तमम् ।
त्वं ददासि समानीय तदाजीवाम्यहं ध्रुवम् ॥ ३० ॥
धात्री जगाद भो देवि करिष्यामि तवेप्सितम् ।
अवश्यं दुष्टनारीभिर्निन्दितं क्रियते न किम् ॥ ३१ ॥
स श्रीसुदर्शनः श्रेष्ठी विशिष्टश्रावकव्रती ।
अष्टम्याञ्चचतुर्दश्यां रात्रौ भीमे श्मशानके ॥ ३२ ॥
स्थित्वा वैराग्यभावेन योगं गृह्णाति शुद्धधीः ।
तन्मत्वा धात्रिका सापि पापकर्मविचक्षणा ॥ ३३ ॥
कुंभकारगृहं गत्वा मृत्तिकापुत्तलं तदा ।
नरप्रमाणकं शीघ्रं कारयित्वा सुवाससा ॥ ३४ ॥
वेष्टयित्वा समादाय राज्ञीपार्श्वे चचाल सा ।
किमेतद्धात्रिके ब्रूहि धृतेति द्वारपालकैः ॥ ३५ ॥
कौटिल्येन तया तत्र क्षिप्त्वा पुत्तलकं क्षितौ ।
भग्नमालोक्य कोपेन प्रोक्तं धात्र्या सुधूर्तया ॥ ३६ ॥
रे रे दुष्टाः सुपापिष्टा भवद्भिर्निन्दितं कृतम् ।
राज्ञ्या नरव्रतं चास्ति पूजयित्वा सुपुत्तलम् ॥ ३७ ॥
पश्चात्तया च कर्तव्यं भोजनं नान्यथा ध्रुवम् ।
अतः प्रभाते मार्यन्ते भवन्तोऽन्यायकारिणः ॥ ३८ ॥

तदा भीत्वा जगुस्तेपि भो मातस्त्वं क्षमां कुरु ।
कदाचित्कोपि नैव त्वां वारयत्यत्र सर्वथा ॥ ३९ ॥
एवं सर्वान्वशीकृत्य धात्री तान्द्वारपालकान् ।
अष्टम्याश्च तथा रात्रौ गत्वा घोरे श्मशानके ॥ ४० ॥
कायोत्सर्गस्थितं दृष्ट्वा श्रेष्टिनं तं सुदर्शनम् ।
राज्ञ्याः समर्पयामास तत्रानीय प्रयत्नतः ॥ ४१ ॥
आलिङ्गनादिविज्ञानैः सा राज्ञी कामपीडिता ।
नानोपसर्गकं चक्रेऽभयाख्या तस्य धीमतः ॥ ४२ ॥
सः श्रेष्टी मेरुवद्धीरो गंभीरो जलधेस्तराम् ।
श्रीमज्जैनेन्द्रपादाब्ज-सेवनैकमधुव्रतः ॥ ४३ ॥
एतस्मादुपसर्गान्मे यदि शान्तिर्भविष्यति ।
पाणिपात्रे तदाहारं करिष्यामि सुनिश्चयात् ॥ ४४ ॥
इति प्रतिज्ञामादाय संस्थितः काष्ठवत्तराम् ।
सन्तः कष्टशतैश्चापि चारित्रान्न चलत्यलम् ॥ ४५ ॥
असमर्था तदा भूत्वा राज्ञी तच्छीलखण्डने ।
संविदार्य नखैर्देहं स्वकीयं दुष्टमानसा ॥ ४६ ॥
इदं मे श्रेष्ठिना चक्रे सा चकारेति पूत्कातिम् ।
किं न कुर्वन्ति पापिन्यो निन्द्यं दुष्टस्त्रियो भुवि ॥ ४७ ॥
तदाकर्ण्य महीनाथो महाकोपेन कम्पितः ।
नीत्वा श्मशानके श्रेष्टिं मार्यतामिति चोक्तवान् ॥ ४८ ।
ततो राजभटैः सोपि समानीतः श्मशानके ।
तत्रैकेन गले तस्य खड्गो मुक्तो दुरात्मना ॥ ४९ ॥
तदा तच्छीलमाहात्म्यात्स खड्गः सम्पतन्नपि ।
पुष्पमालाभवत्कण्ठे सुगन्धीकृतदिङ्मुखा ॥ ५० ॥

जय त्वं त्रिजगत्पूज्य-जिनपादाब्जषट्पद ।
विशिष्टधीरहो श्रेष्ठिन् श्रावकाचारकोविद ॥ ५१ ॥
इत्यादिभिः शुभैर्वाक्यैः पुष्पवृष्ट्यादिभिस्तराम् ।
देवास्तं पूजयन्ति स्म लसद्धर्मानुरागतः ॥ ५२ ॥
अहो पुण्यवतां पुंसां कष्टं चापि सुखायते ।
तस्माद्भव्यैः प्रयत्नेन कार्यं पुण्यं जिनोदितम् ॥ ५३ ॥
पुण्यं श्रीमज्जिनेन्द्राणां भक्त्या यच्चर्चनं सदा ।
पात्रदानं तथा शीलं सोपवासादिकं मतम् ॥ ५४ ॥
श्रुत्वा तद्व्रतमाहात्म्यं श्रेष्ठिनो भुवनोत्तमम् ।
राज्ञा लोकैः समागत्य सत्क्षमां कारितः सुधीः ॥ ५५ ॥
ततः सुदर्शनः श्रेष्ठी संसारादेर्विरक्तवान् ।
दत्वा श्रेष्ठिपदं शीघ्रं सुकान्ताख्यसुताय च ॥ ५६ ॥
नत्वा मुनिं जगत्पूतं भक्त्या विमलवाहनम् ।
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं मुनिर्भूत्वातिनिर्मलः ॥ ५७ ॥
दर्शनज्ञानचारित्र-तपोत्यागैः सुशर्मदम् ।
केवलज्ञानमुत्पाद्य देवेन्द्राद्यैः समर्चितः ॥ ५८ ॥
भव्यान्सम्बोध्य पूतात्मा स्वर्गमोक्षसुखप्रदः ।
निराबाधसुखोपेतां मुक्तिं संप्राप्तवान्सुधीः ॥ ५९ ॥
इत्थं ज्ञात्वा महाभव्यैः कर्तव्यः परया मुदा ।
सारपञ्चनमस्कार-विश्वासः शर्मदः सताम् ॥ ६० ॥

स जयति जिनचन्द्रः केवलज्ञानकान्ति-
र्मुदितसकलभव्योत्कृष्टनेत्रोत्पलौघः ।
असुरसुरनरेन्द्रैः खेचरेंद्रैः सुभक्त्या
श्रुतजलधिमुनीद्रैः सेवितः शर्मदाता ॥ ६१ ॥

इति कथाकोशे पंचनमस्कारप्रभावकथा समाप्ता ।

२२—श्रीयममुनेः कथा ।

श्रीजिनं भारतीं साधुं प्रणम्य परया मुदा ।
खण्डश्लोकैः कथा जाता कथ्यते सा सुखप्रदा ॥ १ ॥
उड्रदेशेत्र विख्याते धर्माख्यनगरे वरे ।
जातो राजा यमो धीमान्सर्वशास्त्रविचक्षणः ॥ २ ॥
तद्राज्ञी धनवत्याख्या गर्दभाख्यः सुतस्तयोः ।
सुताभूत्कोणिका नाम्ना रूपलावण्यमण्डिता ॥ ३ ॥
तस्यैव यमभूपस्य पुत्राः पञ्चशतानि च ।
अन्यराज्ञीषु संजाता जैनधर्मधुरन्धराः ॥ ४ ॥
दीर्घनामाभवन्मंत्री मंत्रकर्मपरायणः ।
एवं राज्यं प्रकुर्वाणः स राजा सुखतः स्थितः ॥ ५ ॥
नैमित्तिकेन सम्प्रोक्तमेकदा तस्य भूपतेः ।
यः कोणिकापतिर्भावी स भावी सर्वभूमिपः ॥ ६ ॥
तच्छ्रुत्वा स यमो राजा तां पुत्रीं भूरियत्नतः ।
प्रच्छन्नं पालयामास सुधीर्भूमिगृहे सदा ॥ ७ ॥
एकदा नगरे तत्र मुनिपञ्चशतैर्युतः ।
महामुनिः समायातः सुधर्माख्यो जगद्धितः ॥ ८ ॥
वन्दनार्थं तदा सर्वे पूजाद्रव्येण संयुताः ।
प्रचेलुः परया भक्त्या पौराः सन्तुष्टमानसाः ॥ ९ ॥
तान् गच्छतो जनान् वीक्ष्य स भूपो ज्ञानगर्वतः ।
कुर्वन्निन्दां मुनीन्द्राणां तत्रैव गतवांस्तदा ॥ १० ॥
निन्दया ज्ञानगर्वाच्च तत्कालं तस्य भूपतेः ।
सर्वबोधक्षयो जातो लक्ष्मीर्वा पापकर्मणा ॥ ११ ॥

ततोऽष्टधा महाकष्टं गर्वं दुःखशतप्रदम् ।
ज्ञानविज्ञानमिच्छन्तो न कुर्युर्भव्यदेहिनः ॥ १२ ॥
निर्मदोऽसौ ततो भूत्वा गजो वा दन्तवर्जितः ।
नत्वा मुनीन्महाभक्त्या संस्थितस्तत्र भूपतिः ॥ १३ ॥
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं द्विधा शर्मप्रदायकम् ।
त्रिधा वैराग्यसम्पन्नो यमो भूत्वा स्वमानसे ॥ १४ ॥
गर्दभाख्यस्वपुत्राय राज्यं दत्वा सुनिश्चलः ।
युक्तैः पञ्चशतैः पुत्रैर्मुनिर्भक्त्या बभूव सः ॥ १५ ॥
तत्पुत्रास्ते तदा सर्वे जाताः सर्वश्रुतैर्युताः ।
मुनेः पञ्चनमस्कार-मात्रं नायाति तस्य तु ॥ १६ ॥
ततो लज्जापरो भूत्वा गुरुं पृष्ट्वा सुभक्तितः ।
यमो मुनिर्जिनेन्द्राणां तीर्थयात्रासु निर्गतः ॥१० ॥
तत्रैकाकी मुनिः सोऽपि कुर्वन्यात्रां सुखप्रदाम् ।
एकदा च महामार्गे गच्छन्स्वेच्छाशयो मुदा ॥ १८ ॥
दृष्ट्वा रथं नरोपेतं नीयमानं च गर्दभैः ।
भक्षणार्थं यवक्षेत्रं हरितं प्रति लोलुपैः ॥ १९ ॥
रथोपरिस्थितेनोच्चैर्ध्रियमाणं च कष्टतः ।
खण्डश्लोकं तदा चक्रे किंचिद्बुद्धेः प्रसादतः ॥ २० ॥

'कट्टसि पुण णिक्खेवसि रे गद्दहा जवं पेच्छसि खादितुं ।"

तथैकदा सुधीर्मार्गे बालक्रीडां प्रकुर्वताम् ।
लीलया लोकपुत्राणां बिलेऽगात्काष्ठकोणिका ॥ २१ ॥
तां कोणिकामपश्यन्तो जातास्ते व्यग्रमानसाः ।
तान् विलोक्य मुनिः सोऽपि खण्ड श्लोकं चकार सः ॥ २२ ॥

"अण्णत्थ किं पलोवह तुम्हे पत्थणिबुद्धि
या छिद्दे अत्थई कोणिआ।"

एकदा पद्मिनीपत्र-छन्नदुःसर्पसम्मुखम् ।
भीत्या गच्छन्तमालोक्य मण्डूकं च यमोवदत् ॥ २३ ॥

" अह्मादो णत्थि भयं दीहादो दीसदे भयं तुम्हे । "

एतैः खण्डैस्त्रिभिः श्लोकैः स मुनिर्नित्यमेव च ।
स्वाध्यायं श्रीजिनेन्द्राणां वन्दनादिकमद्भुतम् ॥ २४ ॥
कुर्वंस्तीर्थेषु शुद्धात्मा महाधर्मानुरागतः ।
गत्वा धर्मपुरोद्याने कायोत्सर्गेण संस्थितः ॥ २५ ॥
तमायातं समाकर्ण्य गर्दभो दीर्घकश्च तौ ।
राज्यं गृहीतुमायातो यमोयमिति भीवशौ ॥ २६ ॥
अर्धरात्रौ मुनेस्तस्य मारणार्थं दुराशयौ ।
तत्रागत्य वने शस्त्रो-पेतौ तत्पृष्टतः स्थितौ ॥ २७ ॥
धिक्राज्यं धिङ्मूर्खत्वं कातरत्वं च धिक्तराम् ।
निस्पृहाच्च मुनेर्येन शङ्का राज्येभवत्तयोः ॥ २८ ॥
तदा गर्दभदीर्घौ च मुनेर्हत्याभयं गतौ ।
खड्गस्याकर्षणं कष्टं चक्रतुस्तु पुनः पुनः ॥ २९ ॥
तस्मिन्नेव क्षणे तेन स्वाध्यायं गृह्णता मुदा ।
श्लोकार्धं पठितं पूर्वं यमेन मुनिनेति च ॥ ३० ॥

"कड्डसि पुण णिक्खेवसि रे गद्दहा जवं पेच्छसि खादिदुं"

तच्छ्रुत्वा गर्दभेनोक्तं मंत्रिणं प्रति भो सुधीः ।
आवां द्वौ लक्षितौ दुष्टौ मुनीन्द्रेण महाधिया ॥ ३१ ॥
पठिते द्वितीयार्धे च गर्दभो हि पुनर्जगौ ।
अहो दीर्घ मुनीन्द्रोसौ राज्यार्थं नागतो ध्रुवम् ॥ ३२ ॥

कोणिका भगिनी मे च या स्थिता भूमिसद्गृहे ।
महास्नेहेन तां वक्तुं समायातो विचक्षणः ॥ ३३ ॥
तृतीयार्द्धं मुनिः प्राह तच्छ्रुत्वा गर्दभेन वै ।
स्वचित्ते चिन्तितं चेति दुष्टोयं दीर्घकः कुधीः ॥ ३४ ॥
मां हंतुमिच्छति क्रूरस्तद्धुतं स्नेहतो मम ।
बुद्धिं दातुं समायातः पिता मे मुनिसत्तमः ॥ ३५ ॥
ततस्तौ परया भक्त्वा त्यक्त्वा दुष्टाशयं द्रुतम् ।
तं प्रणम्यं मुनिं पूतं शुद्धचारित्रमण्डितम् ॥ ३६ ॥
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं स्वर्गमोक्षप्रदायकम् ।
तुष्टौ गर्दभदीर्घौ च संजातौ श्रावकोत्तमौ ॥ ३७ ॥
ततो यमो मुनीन्द्रोसौ महावैराग्यमण्डितः ।
जिनोक्तैः शुद्धचारित्रैर्जातः सप्तर्द्धिसंयुतः ॥ ३८ ॥
यतोसौ ज्ञानलेशेन संजातो गुणभाजनम् ।
यतो भव्यैः सदाराध्यं जैनं ज्ञानं जगद्धितम् ॥ ३९ ॥

स्तोकं ज्ञानमपि प्रसिद्धमहिमा भवत्या समाराध्य च
जातोसौ मुनिसत्तमो गुणनिधिः सप्तर्द्धियुक्तो महान् ।
ज्ञात्वेत्थं त्रिजगत्प्रपूज्यजिनपैः प्रोक्तं सुशर्मप्रदं
ज्ञानं निर्वृतिसाधनं शुचितरं सन्तः श्रयन्तु श्रिये ॥४०॥

इति कथाकोशे यममुनेः कथा समाप्ता ।

२३—श्रीदृढसूर्यस्य कथा ।

नत्वा जिनं जगत्पूज्यं लोकालोकप्रकाशकम् ।
वक्ष्येहं दृढसूर्यस्य वृत्तं विश्वासदायकम् ॥ १ ॥

उज्जयिन्यां महाराजो नगर्यां धनपालवाक् ।
तद्राज्ञी धनवत्याख्या सैकदा निजलीलया ॥ २ ॥
वसन्ततौ वनं प्राप्ता क्रीडार्थं सुजनैर्वृता ।
तत्र तस्या गले हारं धनवत्या मनोहरम् ॥ ३ ॥
दृष्ट्वा वसन्तसेनाख्या गणिका धनलम्पटा ।
किं हारेण विनानेन जीवितं निष्फलं मम ॥ ४ ॥
सञ्चिन्त्येति गृहं गत्वा संस्थिता दुःखमानसा ।
तदा रात्रौ समागत्य चोरोसौ दृढसूर्यकः ॥ ५ ॥
तां जगाद तदासक्तः किं प्रिये दुःखतः स्थिता ।
तयोक्तं चेत्समानीय राज्ञीहारं ददासि मे ॥ ६ ॥
तदा जीवाम्यहं धीर नान्यथा त्वं च मे प्रियः ।
तच्छ्रुत्वा दृढसूर्योसौ तां समुद्धीर्य वल्लभाम् ॥ ७ ॥
राजगेहं प्रविश्योच्चैर्गृहीत्वा हारमुत्तमम् ।
निशायां निर्गतः शीघ्रं किं न कुर्वन्ति लम्पटाः ॥ ८ ॥
हारोद्योतेन चोरोसौ यमपाशेन संधृतः ।
कष्टतः कोट्टपालेन शूले प्रोतो नृपाज्ञया ॥ ९ ॥
प्रभाते धनदत्ताख्यं संगच्छन्तं जिनालये ।
दृष्ट्वा कण्ठगतः प्राणस्तस्करः श्रेष्ठिनं जगौ ॥ १० ॥
त्वं दयालुर्महाधीर जिनपादाब्जषट्पद ।
महातृषातुरस्योच्चैस्तोयं देहि मम द्रुतम् ॥ ११ ॥
श्रेष्ठी तस्योपकारार्थं संजगादेति शुद्धधीः ।
वर्षैर्द्वादशभिर्दत्ता विद्या मे गुरुणा मुदा ॥ १२ ॥
जलार्थं गच्छतः सा मे विस्मृतिं याति साम्प्रतम् ।
तां धृत्वा यत्नतो विद्या-मागताय ददासि चेत् ॥ १३ ॥

तदा तोयं समानीय मया तुभ्यं प्रदीयते ।
एवं करोमि तेनोक्ते स श्रेष्ठी धर्मतत्त्ववित् ॥ १४ ॥
तस्मै पञ्चनमस्कारं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ।
कथयित्वा गतो धीमान्सर्वेषां हितकारकः ॥ १५ ॥
स चोरो दृढसूर्यश्च श्रेष्ठिवाक्येषु निश्चलः ।
तं मंत्रं त्रिगजत्पूतं स्मरन्नुच्चारयन्नपि ॥ १६ ॥
मृत्वा सौधर्मकल्पेभू-द्देवो नानर्द्धिमण्डितः ।
अहो पञ्चनमस्कारैर्जायते किं न देहिनाम् ॥ १७ ॥
तदा केनापि सम्प्रोक्तं दुर्जनेन महीपतेः ।
भो देव धनदत्ताख्यः श्रेष्टी तेन्यायकारकः ॥ १८ ॥
गत्वा चोरसमीपं च मंत्रं तेन समं व्यधात् ।
अतोस्य मन्दिरे तस्य धनं तिष्ठति निश्चितम् ॥ २९ ॥
धिग्दुर्जनं दुराचारं वृथा प्राणप्रहारिणम् ।
सर्वलोकहितानां च सतां यो वक्ति दुर्वचः ॥ २० ॥
तच्छ्रुत्वा धनपालाख्यः स भूपः कोपकम्पितः ।
बन्धनार्थं गृहे तस्य प्रेषयामास किङ्करान् ॥ २१ ॥
तस्मिन्नेव क्षणे सोपि देवो ज्ञात्वावधीक्षणात् ।
श्रेष्ठिनो गृहरक्षार्थं शीघ्रमागत्य भक्तितः ॥ २२ ॥
द्वारपालः स्वयं भूत्वा संस्थितो यष्टिमंडितः ।
तद्गृहं विशतः क्रूरान्वारयामास किंकरान् ॥ २३ ॥
कुर्वन्तश्च हठं तत्र भटास्ते दुष्टमानसाः ।
मायया मारिताः सर्वे तदानेन स्वशक्तितः ॥ २४ ॥
तत्समाकर्ण्य भूपेन प्रेषिताः बहवो भटाः ।
तेन तेपि तथा सर्वे मारिताः क्षणतस्तराम् ॥ २५ ॥

तदा रुष्टो महीनाथस्तत्रायातो बलान्वितः ।
एकेन तेन तच्छीघ्रं बलं सर्वं तथा हतम् ॥ २६ ॥
नष्टो राजा भयग्रस्तो देवेन भणितास्त्विति ।
श्रेष्ठिनः शरणं यासि तदा ते जीवितं ध्रुवम् ॥ २७ ॥
ततो राजा जिनेन्द्राणां मन्दिरे शर्ममन्दिरे ।
रक्ष रक्षेति संजल्पन् श्रेष्ठिनः शरणं गतः ॥ २८ ॥
श्रेष्ठी तदा विशिष्टात्मा संजगाद सुरं प्रति ।
कस्त्वं धीर किमर्थं च त्वयेदं निर्मितं वद ॥ २९ ॥
दृढसूर्यचरो देवः श्रेष्ठिनं तं प्रणम्य च ।
स्वरूपं प्रकटीकृत्य प्रोवाच मधुरं वचः ॥ ३० ॥
अहो श्रेष्ठिन् जिनाधीश-चरणार्चनकोविद ।
अहं चोरो महापापी दृढसूर्याभिधानकः ॥ ३१ ॥
त्वत्प्रसादेन भो स्वामिन्स्वर्गे सौधर्मसंज्ञके ।
देवो महर्द्धिको जातो ज्ञात्वा पूर्वभवं सुधीः ॥ ३२ ॥
महोपकारिणस्तेत्र रक्षार्थं च समागतः ।
मयेदं सेवकेनोच्चैः कार्यं सर्वं विनिर्मितम् ॥ ३३ ॥
एवं प्रोक्त्वा महाभक्त्या श्रेष्ठिनं गुणशालिनम् ।
रत्नादिभिः समभ्यर्च्य स देवः स्वर्गमासवान् ॥ ३४ ॥
स श्रेष्ठी धनदत्ताख्यो जिनभक्तिपरायणः ।
पूजितश्च नरेन्द्राद्यैर्धार्मिकः कैर्न पूज्यते ॥ ३४ ॥

सर्वे ते धनपालभूपतिमुखा दृष्ट्वा प्रभावं शुभं
श्रीमत्पञ्चनमस्कृतेश्च नितरां सन्तुष्टसच्चेतसः ।
श्रीमज्जैनविशुद्धशासनरता जाताः सुभक्त्या श्रिये
भव्यैश्चापि परैर्जिनेन्द्रकथिते धर्मेत्र कार्या मतिः ॥२९॥

इति कथाकोशे दृढसूर्यचोरस्य कथा समाप्ता ।

२४–यमपालचाण्डालस्य कथा ।

प्रणम्य श्रीजिनाधीशं शर्मदं धर्महेतवे ।
मातङ्गः पूजितो देवैस्तच्चरित्रं सतां ब्रुवे ॥ १ ॥
बाणारस्यां महापुर्यां राजाभूत्पाकशासनः ।
एकदासौ निजे देशे पीडां श्रुत्वातिदारुणाम् ॥ २ ॥
शान्त्यर्थं कार्त्तिके मासे शुक्ले नन्दीश्वरोत्सवे ।
अष्टम्यादिदिनान्यष्टौ जीवामारिप्रघोषणाम् ॥ ३ ॥
दापयामास भूभर्ता प्रजानां हितकारकः ।
तदा श्रेष्ठिसुतः पापी सप्तव्यसनतत्परः ॥ ४ ॥
धर्मनामा महोद्याने राजकीयं च मेढूकम् ।
हत्वा प्रच्छन्नतः शीघ्रं भक्षयित्वा च तत्पलम् ॥ ५ ॥
तदस्थीनि च गर्तायां निक्षिप्य गतवान्कुधीः ।
व्यसनेन युतो जीवः सत्यं पापपरो भवेत् ॥ ६॥
मेढूकादर्शने तत्र पाकशासनभूभुजा ।
सर्वत्र स्वपुरीमध्ये चराः शीघ्रं निरूपिताः ॥ ७ ॥
उद्यानपालको रात्रौ तदा गेहे स्वकामिनीम् ।
जगौ मेढूकवृत्तान्तं श्रेष्ठिपुत्रेण निर्मितम् ॥ ८ ॥
तां वार्तां च समाकर्ण्य चरः प्राह महीपतिम् ।
स राजा यमदण्डाख्यं कोट्टपालं क्रुधावदत् ॥ ९ ॥
धर्मकः श्रेष्ठिनः पुत्रः पापी धर्मपराङ्मुखः ।
कोट्टपाल त्वया शूला-रोहणं कार्यतामिति ॥ १० ॥
कोट्टपालेन तं नीत्वा शूलाभ्यर्णे च धर्मकम् ।
मातंगो यमपालाख्यः समाहूतः स्वकिंकरैः ॥ ११ ॥

सर्वौषधिमुनेः पार्श्वे मातङ्गेनैकदा मुदा ।
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं लोकद्वयसुखप्रदम् ॥ १२ ॥
चतुर्दशीदिने जीवं मारयामि न सर्वथा ।
एतद्व्रतं जगत्पूतं गृहीतं वर्तते पुरा ॥१३ ॥
यतश्चागच्छतो वीक्ष्य कोट्टपालस्य किंकरान् ।
मातंगो व्रतरक्षार्थं संजगाद स्वकामिनीम् ॥ १४ ॥
प्रिये ग्रामं गतश्चेति वद त्वं किंकरान्प्रति ।
इति प्रोक्त्वा द्रुतं गेह-कोणेसौ संस्थितः सुधीः ॥ १५ ॥
सा मातंगी तदा प्राह गतो ग्रामं मम प्रियः ।
तच्छ्रुत्वा सुभटैरुक्तं हा पापी दैववञ्चितः ॥ १६ ॥
अद्यैवाभरणोपेत-श्रेष्ठिपुत्रस्य मारणे ।
गतो ग्रामं तदाकर्ण्य मातंग्या स्वर्णलोभतः ॥ १७ ॥
गतो ग्राममिति व्यक्तं पूत्कुर्वत्या च मायया ।
हस्तस्य संज्ञया शीघ्रं मातंगो दर्शितस्तया ॥ १८ ॥
स्त्रीणां स्वभावतो माया किं पुनर्लोभकारणे ।
प्रज्वलन्नपि दुर्वह्निः किं वाते वाति दारुणे ॥ १९ ॥
गृहान्निःसारितः सोपि चाण्डालः सुवचो जगौ ।
प्राणत्यागेपि जीवोद्य मार्यते न मया ध्रुवम् ॥ २० ॥
राजाग्रेपि भटैर्नीतो मातंगो धीरमानसः ।
जीवघाते चतुर्दश्या नियमोस्ति मम प्रभो ॥ २१ ॥
मारयामि हि ततो नैव जीवमद्यैवमब्रवीत् ।
यस्य धर्मे सुविश्वासः क्वापि भीतिं न स याति सः ॥ २२ ॥
श्रेष्ठिपुत्रमहादोषात्ततो रुष्टेन भूभुजा ।
क्षिप्येते द्वावपि प्रोक्तं शिशुमारह्रदे द्रुतम् ॥ २३ ॥

ततस्तौ कोट्टपालेन यमदण्डेन तेन च ।
निक्षिप्तौ द्वावपि क्रूरैर्जन्तुभिः संकुले ह्रदे ॥ २४ ॥
धर्महीनः स धर्माख्यो भक्षितः शिशुमारकैः ।
मातंगो यमपालोसौ निश्चलो व्रतरक्षणे ॥ २५ ॥
तदा तद्व्रतमाहात्म्यात्महाधर्मानुरागतः ।
सिंहासने समारोप्य देवताभिः शुभैर्जलैः ॥ २६ ॥
अभिषिच्य प्रहर्षेण दिव्यवस्त्रादिभिः सुधीः ।
नाना रत्नसुवर्णाद्यैः पूजितः परमादरात् ॥ २७ ॥
तं प्रभावं समालोक्य राजाद्यैः परया मुदा ।
अभ्यर्चितः स मातंगो यमपालो गुणोज्वलः ॥ २८ ॥
इत्थं ज्ञात्वा महाभव्यैः स्वर्गमोक्षसुखप्रदे ।
धर्मे श्रीमज्जिनेन्द्रोक्ते मतिः कार्या सदा मुदा ॥ २९ ॥
चाण्डालोपि व्रतोपेतः पूजितो देवतादिभिः ।
तस्मादन्यैर्न विप्राद्यैर्जातिगर्वो विधीयते ॥ ३० ॥
मातंगो यमपालको गुणरतैर्देवादिभिः पूजितो
नाना वस्त्रसुवर्णरत्नविकसत्पुष्पोत्करैः सादरम् ।
यद्धर्मस्य हि लेशतोपि भुवने स श्रीजिनः सत्क्रिया—
द्भक्त्या देवनिकायपूजितपदद्वन्द्वो महाश्रेयसे ॥ ३१ ॥

इति कथाकोशे यमपालचाण्डालस्य कथा समाप्ता ।

समाप्तः प्रथमो भागः ।

सुशीला ।

जैनसमाजकी इस उपन्यासका परिचय देनेकी जरूरत नहीं है। जनी पाठकोंको सबसे पहले इसी उपन्यासने उपन्यास पढ़नेका चसका लगाया है। इसमें कथाका सन्दर्भ, कुतूहल और आकांक्षा बढ़ानेवाला है। भाषा शुद्ध सरल और रचना सुन्दर, रसमयी है। इसके पढ़नेमें आपको सभी रसोंका स्वाद मिलेगा। साथ ही जैनधर्मके गूढ़ तत्त्वोंका रहस्य, जिसका अन्यत्र मिलना दुर्लभ है—इसके अनेक अध्यायोंमें भरा हुआ है। वहाँ आपको ऐसा मालूम होगा कि हम जैनधर्मका कोई तात्त्विक ग्रन्थ पढ़ रहे हैं। इस कारण जो लोग उपान्यासोंसे नाक भोंह सिकोड़नेवाले हैं, वे भी इस ग्रन्थको पढ़कर सन्तुष्ट होंगे। सदाचार और सत्प्रवृत्तियोंकी शिक्षापर लेखकने बहुत ध्यान रक्खा है।

पहली आवृत्ति समाप्त हो जानेके कारण अब यह दूसरी बार छपाया गया है। मूल्य पहलेसे कम अर्थात् एक रुपया रक्खा गया है। इससे जो मुनाफा होगा वह जैनमित्र की सहायतामें लगेगा। शीघ्रही मंगाइए।

मिलनेका पताः—

मैनेजर " जैनमित्र "

हीराबाग, गिरगांव–बम्बई.

आराधना-कथाकोशः ।

[द्वितीय खण्डम् ।]

रचयिता—

ब्रह्मचारी श्रीमन्नेमिदत्तः ।

सम्पादकः—

उदयलालः काशलीवालः ।

श्रीवीतरागाय नमः

आराधना-कथाकोशः।

(द्वितीयखण्डम्)

२५—मृगसेनधीवरस्य कथा।

नत्वा श्रीमज्जिनं भक्त्या केवलज्ञानलोचनम्।
वक्ष्येऽहिंसाफलप्राप्त-धीवरस्य कथानकम् ॥ १ ॥
जयत्वत्रार्हती वाणी सर्वसन्देहहारिणी।
प्राणिनां प्राणवत्प्रीत्या सेविता शर्मकारिणी ॥ २ ॥
सन्तु मे गुरवो नित्यं मानसे बोधसिन्धवः।
घोरसंसारवारांशे-र्भव्यानां यत्र सेतवः ॥ ३ ॥
इत्यर्हद्भारतीसाधु-पादस्मरणमंगलम्।
कृत्वा करोमि कर्मारि-शान्तये सत्कथामहम् ॥ ४ ॥
या हिंसा सर्वजन्तूनां नामतोपि भयप्रदा।
सा त्रेधा त्यज्यते सद्भिर्हिंसा सांकल्पिकी सदा ॥ ५ ॥
पितृर्थं देवतार्थं वा शान्त्यर्थं वात्र निर्मिता।
शर्मणे न भवेद्धिंसा किन्तु दुष्कर्मणे मता ॥ ६ ॥
शृण्वन्तु सुधियो भव्या भवभ्रमणनाशनम्।
अहिंसाव्रतमाहात्म्यं श्रेयसे शर्मकारणम् ॥ ७ ॥

अवन्तिविषये रम्ये सम्पदासारसंभृते ।
शिरीषग्रामवास्तव्यो धीवरो मृगसेनवाक् ॥ ८ ॥
स्कन्धावलम्बितस्फार-पापकृद्गलजालकः ।
गच्छन्सिप्रां नदीं मत्स्यान्समानेतुं कदाचन ॥ ९ ॥
मार्गे भूपादिभिर्भव्यैः समर्चितपदद्वयम् ।
इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्क-सेवनीयं मुनीश्वरम् ॥ १० ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-स्याद्वादनयकोविदम् ।
सर्वजन्तून्समुद्धर्तुं बद्धकक्षं भटोत्तमम् ॥ ११ ॥
धर्मोपदेशपीयूष-सन्तर्पितजगत्त्रयम् ।
स्ववाक्यकिरणैर्ध्वस्त-मिथ्यात्वतिमिरोत्करम् ॥ १२ ॥
दिगम्बरं महारत्न-त्रयालंकृतविग्रहम् ।
दृष्ट्वा यशोधरं नाम तारहारयशोभरम् ॥ १३ ॥
आसन्नसुकृतोत्संगो दूरं त्यक्त्वा गलादिकम् ।
चक्रे दीर्घतरं भक्त्या प्रणामं तत्पदाम्बुजे ॥ १४ ॥
अहो महामुने स्वामिन् कामद्विपमृगाधिप ।
केनचिद्व्रतदानेन जनोयमनुगृह्यताम् ॥ १५ ॥
इत्युक्त्वा संस्थितो प्यग्रे विनयानम्रमस्तकः ।
तदा यशोधरः स्वामी स्वचित्ते संविचारयन् ॥ १६ ॥
कथं हो हिंसकस्यास्य मनोवृत्तिर्व्रतेऽभवत् ।
युक्तं स्यात्प्राणिनां भावि-शुभाशुभनिभं मनः ॥ १७ ॥
प्रयुक्तावधिबोधेन ज्ञात्वा तुच्छायुषं च तम् ।
संजगाद दयायुक्तो भो सुधीरद्य वासरे ॥ १८ ॥

आदौ जाले समायातो मीनः सन्त्यज्यते त्वया ।
जीवन्नेव महाभाग पालनीयं हि मद्वचः ॥ १९ ॥
यावत्स्वकीयहस्तेन मारितप्राणिजंगलम् ।
नैव प्राप्नोषि तावत्ते तन्निवृत्तिश्च सर्वथा ॥ २० ॥
तथा पञ्चनमस्कार-मंत्रोयं त्रिजगद्धितः ।
सुस्थितेन त्वया ध्येयो दुःस्थितेनाथवा सुधीः ॥ २१ ॥
इति श्रुत्वा मुनेर्वाक्यं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ।
मत्स्यबन्धोपि सन्तुष्टः सर्वं स्वीकृतवान्भृशम् ॥ २२ ॥
ये कुर्वन्ति गुरोर्वाक्यं प्रमाणं भक्तिनिर्भराः ।
तेषां स्वर्गापवर्गोत्थं सौख्यमायाति लीलया ॥ २३ ॥
तं नत्वा मृगसेनोसौ गत्वा सिप्रां नदीं द्रुतम् ।
मुक्त्वा जालं समासाद्य महामत्स्यं व्रतस्मृतेः ॥ २४ ॥
अहो मे सर्वदा पाप-कर्मणे मत्स्यघातिने ।
दैवयोगाद्व्रतं दत्तं गुरुणा शर्मकारिणा ॥ २५ ॥
तस्मादयं न हन्तव्यो मयेति व्रतशुद्धधीः ।
सारिणस्तस्य चिह्नाय कर्णे चीरीं स्ववाससः ॥ २६ ॥
बध्वा नद्यां तमत्याक्षीन्निर्विघ्नं हि सतां व्रतम् ।
भवेदामृत्युपर्यन्तं सारसम्पाद्विधायकम् ॥ २७ ॥
पुनस्तत्तीरणीतीरे दूरं गत्वा स्वकर्मकृत् ।
लब्ध्वा तमेव पाठीनं सोमुचद्धाविसद्व्रतिः ॥ २८ ॥
एवं तस्मिन्महामत्स्ये मोहजालोपमे तते ।
जाले लग्ने विमुक्ते च पञ्चशो व्रतरक्षणात् ॥ २९ ॥

तदाऽस्तं भुवनोद्भासी भास्करो गतवान्भृशम् ।
निर्गुणाः सगुणाश्चापि के के नास्तं गताः क्षितौ ॥ ३० ॥
ततोसौ मृगसेनस्तु स्वव्रते प्रीतमानसः ।
संस्मरन्स्वगुरोर्वाक्यं चचाल स्वगृहं प्रति ॥ ३१ ॥
आगच्छन्तं तमालोक्य रिक्तं ज्ञात्वा च कारणम् ।
घंटाख्या यमघंटा वा कुपिता तस्य कामिनी ॥ ३२ ॥
रे रे मूढ कथं रिक्तः समायातोसि मद्गृहे ।
भक्ष्यते किं दृषच्चेति जल्पंती निष्ठुरं वचः ॥ ३३ ॥
कुटीरान्तः प्रविश्याशु दत्वा द्वारं दृढं स्थिता ।
सत्यं सामान्यनारीणां लाभे लाभे पतिः प्रियः ॥ ३४ ॥
तदासौ धीवरो बाह्ये स्मरन्पंच नमस्कृतीः ।
उच्छीर्षके निधायोच्चै-र्जीर्णकाष्ठं च सुप्तवान् ॥ ३५ ॥
रात्रौ तस्माद्विनिर्गत्य दुर्जनेनैव पापिना ।
दष्टः सर्पेण निर्मुक्तः प्राणैर्दशभिरुत्सुकैः ॥ ३६ ॥
प्रातःकाले तमःकाले दृष्ट्वा तं घण्टया मृतः ।
पश्चात्तापं तदा कृत्वा रुदित्वा च पुनः पुनः ॥ ३७ ॥
यदेवास्य व्रतं पूतं तदेवं स्यान्ममापि च ।
अयं जन्मान्तरे भर्त्ता भूयान्मे मानसप्रियः ॥ ३८ ॥
कृत्वा निदानकं चेति सार्द्धं तेनैव साहसात् ।
संचक्रे चतुरैर्निंद्यं तया वह्निप्रवेशनम् ॥ ३९ ॥
अथास्त्येव विशालायां पुर्यां विश्वंभरः प्रभुः ।
राज्या विश्वगुणाख्याया-श्चित्तरत्नमलिम्लुचः ॥ ४० ॥

श्रेष्ठी श्रीगुणपालाख्यः परमेष्ठिप्रसन्नधीः ।
धनश्रीः श्रेष्ठिनी तस्याः सुबन्धुस्तनुजा शुभा ॥ ४१ ॥
तस्या धनश्रियश्चैव गर्भे पूर्वस्वपुण्यतः ।
मृगसेनः समागत्य संस्थितो गुणमण्डितः ॥ ४२ ॥
तदा विश्वंभरो राजा विटसंगप्रणष्टधीः ।
नर्मभर्माख्यसचिव-सूनवे नर्मधर्मणे ॥ ४३ ॥
श्रेष्ठिनं गुणपालं तं सुतां याचितवान् भृशम् ।
सुबन्धुं बन्धुराकारां कुलोद्योतनदीपिकाम् ॥ ४४ ॥
अहो नष्टधिया राज्ञ्या याचितोहं भयाकुलः ॥
चेद्ददामि सुतां निंद्य-कर्मणे नर्मधर्मणे ॥ ४५ ॥
कुलक्रमक्षयो लोकेऽ-पवादस्तु भवेन्मम ।
नो चेत्सर्वस्वनाशः स्यात्प्राणापायोपि, मानसे ॥ ४६ ॥
इत्याकलय्य स श्रेष्ठी श्रीदत्तस्य वणिक्पतेः ।
स्वमित्रस्य गृहे धृत्वा गर्भिणीं निजकामिनीम् ॥ ४७ ॥
स्वापतेयं सुतां चापि गृहीत्वा गूढवृत्तितः ।
कोशाम्बीविषयं प्राप्तो देशत्यागो हि दुर्जनात् ॥ ४८ ॥
अत्रान्तरे मुनी पूतौ श्रीदत्तावाससन्निधौ ।
वासिनोपासकेनोच्चैः समायातौ स्वमन्दिरे ॥ ४९ ॥
शिवादिगुप्तमुन्यादि-गुप्तौ सद्वृत्तमण्डितौ ।
यथाविधि प्रतीक्ष्याशु ताभ्यां दत्वा शुभश्रिये ॥ ५० ॥
अन्नदानं जगत्सारं नाना सम्पद्विधायकम् ।
दुःखदारिद्र्यनिर्नाशि स्वीचक्रे पुण्यमद्भुतम् ॥ ५१ ॥

ततस्तत्प्राङ्गणे वीक्ष्य मुनिगुप्तो धनश्रियम् ।
पतिस्वपुत्रिकासार-कुटुम्बविरहाश्रितम् ॥ ५२ ॥
परावासनिवासोत्थ-महादुःखेन दुःखिताम् ।
अलंकारविनिर्मुक्तां दुष्कृतिं कुकवेरिव ॥ ५३ ॥
गर्भभारभराक्रान्तां दुर्व्यवस्थां समाश्रिताम् ।
ज्येष्ठं मुनीश्वरं प्राह पश्यतां भो महामुने: ॥ ५४ ॥
कोपि कष्टप्रदः पुत्रः कुक्षिमस्याः समाश्रितः ।
येनासौ दृश्यते नारी वराकी च मलीमसा ॥ ५५ ॥
तच्छ्रुत्वा शिवगुप्तोसौ मुनीन्द्रो ज्ञानलोचनः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-सप्ततत्वविशारदः ॥ ५६ ॥
संजगौ मुनिगुप्त त्वं मैवं ब्रूहि वृथा वचः ।
यद्यपि श्रेष्ठिनीदृक्च दुःखिता दृश्यते सती ॥ ५७ ॥
गतेषु कतिचिद्दुःख-वासरेषु शुभोदयात् ।
अस्याः पुत्रः पवित्रात्मा जिनधर्मधुरंधरः ॥ ५८ ॥
राजश्रेष्ठिपदाधीशो विश्वंभरमहीपतेः ।
कन्यापतिर्वणिग्वृन्द-सेवितः संभविष्यति ॥ ५९ ॥
तन्निशम्य निजावास-कोष्ठस्थो दुष्टमानसः ।
श्रीदत्तो हन्तुकामोऽभू-त्तदातद्भाविबालके ॥ ६० ॥
तिष्ठति स्म गृहे चैव स पापी बकवत्तराम् ।
कारणेन विना वैरी दुर्जनः सुजनो भवेत् ॥ ६१ ॥
धनश्रीः श्रेष्ठिनी प्राप्य प्रसूतिदिवसं सती ।
सासूत तनयं साक्षात्पुण्यपुंजमिवापरम् ॥ ६२ ॥

प्रसूतिदुःखतो मूर्च्छा संगतां तां धनश्रियम् ।
ज्ञात्वा श्रीदत्तकः पापी स्वचित्ते कृतचिन्तनः ॥ ६३ ॥
वह्निवद्बालकोप्येष स्वाश्रयक्षयकारकः ।
इत्यालोच्य मृतो जातो बालको जरतीजनैः ॥ ६४ ॥
कृत्वोद्घोषं समाकार्य चाण्डालं चण्डकर्मकृत् ।
बालं तस्यार्पयामास वधार्थी स वणिक्कुधीः ॥ ६५ ॥
शत्रुजोपि न हन्तव्यो बालकः किं पुनर्वृथा ।
हा कष्टं किं न कुर्वन्ति दुर्जनाः फणिनो यथा ॥ ६६ ॥
मातंगोपि तमादाय गत्वैकान्ते लसत्प्रभम् ।
तदाकारं समालोक्य शर्मकोटिविधायकम् ॥ ६७ ॥
संजातकरुणासार-सुधासंपूरिताशयः ।
तत्रार्भकं सुखं धृत्वा स्वयं च गतवान् गृहम् ॥ ६८ ॥
श्रीदत्तकस्य तस्यैव भगिन्याः पतिरुत्तमः ।
इन्द्रदत्तो वणिग्वर्यो विक्रयाय विनिर्गतः ॥ ६९ ॥
गोष्ठीने च समायातः श्रुत्वा गोपालजल्पनैः ।
चन्द्रकान्तोत्पलोत्पीठे गोवत्साद्यैश्च सेविते ॥ ७० ॥
सुखासीनं समालोक्य बालं वा बालभास्करम् ।
नीत्वा पुत्रविहीनत्वात्पुत्रबुद्धया प्रहर्षतः ॥ ७१ ॥
हे राधे गूढगर्भोत्थं पुत्रं ते त्वं गृहाण वै ।
इत्युक्त्वा निजभार्यायै राधायै परमादरात् ॥ ७२ ॥
दत्वा स्तनंधयोत्पत्तेः संचक्रेसौ महोत्सवम् ।
प्राणिनां पूर्वपुण्याना-मापदा सम्पदायते ॥ ७३ ॥

श्रीदत्तेन तमाकर्ण्य वृत्तान्तं दुष्टचेतसा ।
तत्रागत्येन्द्रदत्तस्य गेहे भो स्नेहवत्सल ॥ ७४ ॥
भागिनेयोयमत्यन्त-भाग्यभाग् मन्दिरे मम ।
वर्धतामिति कूटोक्त्या नीतोसौ भगिनीयुतः ॥ ७५ ॥
अहो दुष्टाशयः प्राणी चित्तेऽन्यद्वचनेऽन्यथा ।
कायेनान्यत्करोत्येव परेषां वंचनं महत् ॥ ७६ ॥
पूर्ववद्धन्तुकामोसौ तं शिशुं शुभलक्षणम् ।
अन्तावसायिने शीघ्रं ददौ निर्दयमानसः ॥ ७७ ॥
गृहीत्वा श्वपचः सोपि बालकं भुवनोत्तमम् ।
तद्रूपसम्पदां वीक्ष्य सञ्जातः सदयो भृशम् ॥ ७८ ॥
क्वचित्स गह्वरे देशे प्रोल्लसद्द्रुमसंकुले ।
सत्तोयतीरणीतीरे तं निधाय गतो गृहम् ॥ ७९ ॥
गुणपालसुतः सोपि पुरोपार्जितपुण्यतः ।
तत्रायाताभिरानन्द-ध्वनिभिर्धेनुभिस्तराम् ॥ ८० ॥
तद्वीक्षणात्क्षरत्क्षीर-स्तनीभिरुपसेवितः ।
धात्रिकाभिरिव प्रीत्या स्थितो वा जननीकरे ॥ ८१ ॥
गोपालकैस्तथाभूतं दृष्ट्वा तं लीलया स्थितम् ।
सन्ध्याकाले समायातैः प्रोल्लसन्मुखपंकजम् ॥ ८२ ॥
सर्वगोष्टप्रधानाय गोविन्दाय प्रवेगतः ।
महाविस्मयतां प्राप्तैः प्रोक्तं तद्बालचेष्टितम् ॥ ८३ ॥
गोपालाधिपतिः सोपि गोविन्दस्तं सुतेच्छया ।
समानीय सुनन्दायाः स्वकान्तायाः समर्प्य च ॥ ८४ ॥

धनकीर्त्तिरिति व्यक्तं कृत्वा नामास्य संभ्रमात् ।
पालयामास यत्नेन प्रोल्लसत्प्रीतिमण्डितः ॥ ८५ ॥
सोपि गोपाङ्गनानेत्र-नीलोत्पलसुधाकरः ।
सर्वलक्षणसम्पूर्णो जनयन्प्रीतिमद्भुताम् ॥ ८६ ॥
रूपेण कामदेवो वा कान्त्या वा मृगलाञ्छनः ।
तेजसा नूतनार्को वा वृद्धिं प्राप गुणैः सह ॥ ८७ ॥
आज्यार्थमेकदा तेन तत्रायातेन दुर्धिया ।
श्रीदत्तेन तमालोक्य ज्ञात्वा तद्वृत्तकं महत् ॥ ८८ ॥
प्रोक्तं गोविन्द मद्गेहे कार्यमस्त्येव सत्वरम् ।
इम लेखं करे दत्वा प्रेषणीयोयमङ्गजः ॥ ८९ ॥
गोविन्दः प्राह शुद्धात्मा भो श्रेष्ठिन्नेवमस्तु च ।
अहो दुष्टस्य दुष्टत्वं लक्ष्यते केन वेगतः ॥ ९० ॥
पापिना लिखितस्तेन लेखं पुत्रमहाबल ।
अस्मत्कुलद्रुमध्वंसी-ज्वलत्कालानलोप्ययम् ॥ ९१ ॥
हन्तव्यो ब्रह्मपुत्रेण मद्वाक्यैर्मुसलेन वा ।
तं गृहीत्वा कुमारोपि धनकीर्त्तिर्गुणोज्वलः ॥ ९२ ॥
कण्ठालंकारसान्निध्ये बध्वा लेखं भटाग्रणीः ।
तातश्रेष्ठिनिर्देशेन निःशंकश्चलितो मुदा ॥ ९३ ॥
उज्जयिन्यां प्रवेशेसौ प्राप्तश्चाम्रमहावनम् ।
मार्गश्रमविनाशाय सुप्तो वृक्षतले सुखम् ॥ ९४ ॥
अत्रान्तरे समायाता तद्वने सपरिच्छदा ।
नाना प्रसूनसन्दोह-चुण्टने प्रीतिमानसा ॥ ९५ ॥

भूरिविद्याविनोदाढ्याऽनंगसेनाभिधानिका ।
पण्याङ्गनाम्रवृक्षस्य मूले सुप्तं निरीक्ष्य तम् ॥ ९६ ॥
पूर्वजन्मोपकारेण जातस्नेहा महादरात् ।
शनैर्लेखं समादाय ज्ञात्वा तच्छ्रेष्ठिचेष्टितम् ॥ ९७ ॥
तान्यक्षराण्युपायेन परामृश्य विचक्षणा ।
तस्मिन्नेव तदा पत्रे लोचनाञ्जनभाजनात् ॥ ९८ ॥
गृहीतकज्जलेनोच्चै-र्वल्लीनिर्यासशालिना ।
संलिखित्वेति मद्भार्यो मन्यते मां यदि प्रियम् ॥ ९९ ॥
पुत्रो महाबलश्चापि चेन्मां जानाति तातकम् ।
तदा सर्वप्रकारेण कन्यास्मै धनकीर्त्तये ॥ १०० ॥
शाखासप्तकपर्यन्तं शोधिताय महात्मने ।
ममापेक्षां विना शीघ्रं दानमानादिपूर्वकम् ॥ १०१ ॥
दातव्या श्रीमतिश्चेति पूर्ववत्पत्रमुत्तमम् ।
कण्ठे तस्य निबध्योच्चै-र्जीवितं वा हि सागमत् ॥ १०२ ॥
ततः श्रीधनकीर्त्तिस्तु चिरेणोत्थाय शुद्धधीः ।
श्रीदत्तस्य गृहं गत्वा दत्वा लेखं तयोर्द्वयोः ॥ १०३ ॥
मातृपुत्रकयोः शीघ्रं श्रीमत्या वल्लभोभवत् ।
संभवेत्कृतपुण्यानां महापायेपि सत्सुखम् ॥ १०४ ॥
तां वार्तां च समाकर्ण्य श्रीदत्तो व्यग्रमानसः ।
प्रत्यागत्य पुरीबाह्ये चण्डिकामन्दिरे पुनः ॥ १०५ ॥
संकेतपुरुषं धृत्वा तद्वधाय दुराशयः ।
समागत्य गृहं प्राह प्रच्छन्नं तनुजापतिम् ॥ १०६ ॥

धनकीर्त्ते श्रृणु व्यक्तं मदीयेप्यस्ति वंशके ।
आचारोयं सुधी रात्रि-मुखे कात्यायनीगृहे ॥ १०७ ॥
गृहीत्वा माषनिर्माणं कीरकाकबलिं द्रुतम् ।
संछाद्य रक्तवस्त्रेण पुत्रीकान्तेन सादरम् ॥ १०८ ॥
हस्थस्थकंकणेनोच्चै-र्गन्तव्यं सर्वशान्तये ।
तच्छ्रुत्वा धनकीर्त्तिस्तु यथादेशस्तथास्तु वै ॥ १०९ ॥
गदित्वेति समादाय तं बलिं भद्रमानसः ।
निर्गतस्तु पुरीबाह्ये दृष्टोसौ शालकेन च ॥ ११० ॥
महाबलेन पृष्टस्तु हंहो त्वं यासि कुत्रचित् ।
एकाकी तमसि व्याप्ते तन्निशम्य जगाद सः ॥ १११ ॥
महाबल बलिं दातुं दुर्गायै गम्यते मया ।
मातुलस्य निदेशेन तदाकर्ण्य महाबलः ॥ ११२ ॥
प्राहैवं तत्र गच्छामि याहि त्वं निजमन्दिरम् ।
तातो रोशिष्यति व्यक्तं सर्वं जानेऽहकं तदा ॥ ११३ ॥
इत्युच्चैस्तन्निषिद्धोसौ धनकीर्त्तिः स्वपुण्यतः ।
निर्विघ्नं गृहमायातः स च प्राप्तो यमालयम् ॥ ११४ ॥
पूर्वपुण्येन जन्तूनां कालवह्निर्जलायते ।
स्थलायते समुद्रोपि शत्रुर्मित्रायते भृशम् ॥ ११५ ॥
हालाहलं सुधाभावं यात्यापत्सम्पदा भवेत् ।
विघ्ना नश्यन्ति निःशेषा महाभीत्येव सत्वरम् ॥ ११६ ॥
तस्मात्पुण्यं बुधैः कार्यं स्वर्मोक्षसुखबीजकम् ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्तं सर्वदुःखौघनाशकम् ॥ ११७ ॥

तत्सुपुण्यं जिनेन्द्रार्चा महाभक्तिभरान्विता ।
पात्रदानं व्रतं शीलं सोपवासं क्रियादिकम् ॥ ११८ ॥
पुत्रशोकाकुलः श्रेष्ठी श्रीदत्तो धर्मवर्जितः ।
एकान्ते कामिनीं प्राह विशाखां प्रति हे प्रिये ॥ ११९ ॥
अस्मद्वंशतरुच्छेदी हन्यतेऽयं कथं खलः ।
नाना पापपरित्यक्तो व्यक्तो वैरी गृहे स्थितः ॥ १२० ॥
श्रेष्ठिन्यालपितं श्रेष्ठिन्वृद्धत्वान्नैव वेत्सि च ।
तस्मात्तूष्णीं समास्व त्वं कुर्वेहं वाञ्छितं तव ॥ १२१ ॥
इत्याभाष्य परेद्युश्च विषं संचार्य मोदकान् ।
कृत्वा तां तनुजां प्राह विशाखा पापमण्डिता ॥ १२२ ॥
श्रीमते भो सुते ये च चन्द्रकान्तिवदुज्ज्वलाः ।
ते मोदकाः स्वकान्ताय श्यामवर्णास्तु ये ध्रुवम् ॥ १२३ ॥
दीयन्ते त्वया मुग्धे स्वताताय गुणोज्वले ।
इत्युक्त्वा श्रेष्ठिनी शीघ्रं गता स्नानाय सा नदीम् ॥ १२४ ॥
सा पुत्री श्रीमतिश्चेति यच्छुभं भुवनत्रये ।
तद्देयं स्वपितुर्भक्त्या किं पत्ती रागकारणम् ॥ १२५ ॥
अज्ञातमातृदुश्चेष्टा संविचार्येति मोदकान् ।
विपर्ययेण दत्ते स्म विचित्रा कर्मणां गतिः ॥ १२६ ॥
तद्भक्षणात्तदा श्रेष्ठी श्रीदत्तो मृत्युमाप्तवान् ।
दुष्कर्मकारिणां लोके कुतः श्रेयो भवत्यहो ॥ १२७ ॥
सा विशाखा समागत्य नाथशून्यं निजालयम् ।
दृष्ट्वा शोकं विधायोच्चै रुदित्वा च सुतां जगौ ॥ १२८ ॥

हे सुते तव तातेन मयापि क्रूरचेतसा ।
स्वान्वयक्षयकारीति सर्वं दुश्चेष्टितं वृथा ॥ १२९ ॥
पूर्णं बाहुप्रलापेन स्वकान्तेन समं सुखम् ।
तिष्ठ त्वमेव गेहेस्मिञ्छक्रेणेव शची यथा ॥ १३० ॥
इत्याशीर्वचनं दत्वा तं समासाद्य मोदकम् ।
प्राप्ता यमालयं सापि दुर्धियामीदृशी गतिः ॥ १३१ ॥
परेषां येत्र कुर्वन्ति विघ्नं दुष्टाशयाः खलाः ।
ते स्वयं विघ्नमासाद्य पश्चाद्यान्त्येव दुर्गतिम् ॥ १३२ ॥
ततः श्रीधनकीर्त्तिस्तु पूर्वपुण्यप्रभावतः ।
उल्लंघितमहाघोर-पंचापत्सुखतः स्थितः ॥ १३३ ॥
एकदा शुभयोगेन विश्वंभरमहीभुजा ।
महोत्सवशतैस्तस्मै दत्वा कन्यां निजां शुभाम् ॥ १३४ ॥
नाना रत्नादिसन्दोहैः पूजितो धनकीर्त्तिवाक् ।
महाश्रेष्ठिपदे शीघ्रं स्थापितो जयघोषणैः ॥ १३५ ॥
अहो भव्या न कर्त्तव्य-माश्चर्यं भुवनत्रये ।
जैनधर्मप्रसादेन किं शुभं यन्न जायते ॥ १३६ ॥
तत्प्रतापं समाकर्ण्य स श्रेष्ठी गुणपालवाक् ।
कोशाम्बीदेशतः शीघ्र-मुज्जयिन्यां समागतः ॥ १३७ ॥
एवं श्रीधनकीर्त्तिस्तु प्राप्ततातादिसंगमः ।
सुस्थितो निजपुण्येन सम्पदासारमण्डितः ॥ १३८ ॥
भुञ्जानो विविधान्भोगान्सुधीः पञ्चेन्द्रियोचितान् ।
धर्मशर्माकरे जैने सावधानो विचक्षणः ॥ १३९ ॥

श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोजं नित्यं भक्त्या समर्चयन् ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः पात्रदानेषु तत्परः ॥ १४० ॥
नित्यं परोपकारादि-सत्कर्मस्थितिमाचरत् ।
बह्वालपेन किं कार्यं यत्फलं सुकृतोदयात् ॥ १४१ ॥
तत्तत्सर्वं समासाद्य पूर्वपुण्यप्रभावतः ।
अन्वभूत्सुचिरं सौख्यं जगच्चेतोनुरञ्जयन् ॥ १४२ ॥
अथैकदा महाश्रेष्ठी गुणपालो गुणोज्ज्वलः ।
सुधीः श्रीधनकीर्त्त्यादि-पुत्रमित्रादिसंयुतः ॥ १४३ ॥
दर्शनार्थं समायाता-नंगसेनायुतोपि च ।
श्रीयशोध्वजनामानं मुनीन्द्रं त्रिजगद्धितम् ॥ १४४ ॥
अभिवन्द्य महाभक्त्या प्रीत्याप्रच्छच्च तं गुरुम् ।
स्वामिन्ननेन पुत्रेण पुण्यं श्रीधनकीर्त्तिना ॥ १४५ ॥
किं पुरोपार्जितं येन बालत्वेपि महानसौ ।
नाना दुष्टोपसर्गौघं हेलया जयति स्म च ॥ १४६ ॥
कीर्त्तिमान्सारलक्ष्मीशः संजातः सारसौख्यभाक् ।
महाविज्ञानसम्पन्नो दाता भोक्ता दयापरः ॥ १४७ ॥
तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि भगवन्वक्तुमर्हसि ।
तदा यशोध्वजः स्वामी चतुर्ज्ञानविराजितः ॥ १४८ ॥
स जगौ करुणासिन्धुः श्रूयतां भो वणिक्पते ।
अवन्तिविषये पूर्वं शिरीषग्रामवासकः ॥ १४९ ॥
मृगादिसेनको मत्स्य-बन्धकः किल त्वेकदा ।
यशोधरमुनेर्वाक्या-देकस्मिन्वासरे मुदा ॥ १५० ॥

अहिंसाव्रतमाराध्य जातोसौ धनकीर्त्तिभाक् ।
महाभव्यो जगत्सार-सम्पदाप्रमदापतिः ॥ १९१ ॥
या घण्टा कामिनी पूर्वे निदानवशवर्त्तिनी ।
सा श्रीमती प्रिया जाता सती सद्गुणमण्डिता ॥ १९२ ॥
पञ्चकृत्वो विमुक्तस्तु यो मत्स्यः स क्रमेण वै ।
अभूदनंगसेनेयं परोपकृतितत्परा ॥ १९३ ॥
एतत्सर्वमहिंसायाः फलं श्रेष्ठिन् विजृंभते ।
जैनधर्मेण जन्तूनां किं न स्याद्भुवनत्रये ॥ १९४ ॥
इत्याकर्ण्य मुनेर्वाक्यं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ।
श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्मे बभुवुस्ते तरां रताः ॥ १९५ ॥
श्रुत्वा भवान्तरं श्रीमान् धनकीर्त्तिः प्रसन्नधीः ।
श्रीमती कामिनी सापि गणिकानंगसेनिका ॥ १९६ ॥
त्रयो जातिस्मृतिं प्राप्य त्रिधा वैराग्यमाश्रिताः ।
धर्मे धर्मफलं ज्ञात्वा संजातास्तुष्टमानसाः ॥ १९७ ॥
तस्यैव सद्गुरोः पाद-मूले सेवापरायणः ।
श्रेष्ठी श्रीधनकीर्त्तिस्तु कीर्त्त्या व्याप्तजगत्त्रयः ॥ १९८ ॥
केशपाशं समुन्मूल्य मोहपाशमिवापरम् ।
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं जगत्तापनिवारिणीम् ॥ १९९ ॥
निर्मलं सुतपस्तप्त्वा भव्यान्सम्बोध्य युक्तितः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-धर्मे कृत्वा प्रभावनाम् ॥ १६० ॥
रत्नत्रयं समाराध्य संन्यासविधिना सुधीः ।
सर्वार्थसिद्धिसत्सौख्यं प्राप्तवान्भाविकेवली ॥ १६१ ॥

अन्यग्रन्थे—

पञ्चकृत्वः किलैकस्य मत्स्यस्याहिंसनात्पुरा ।
अभूत्पञ्चापदोतीत्य धनकीर्त्तिः पतिः श्रियः ॥

श्रीमतिस्तु तथानंग-सेनासौ भोगानिस्पृहे ।
यथायोग्यं समादाय दीक्षां दुःखौघनाशिनीम् ॥ १६२ ॥

स्वस्वभावानुसारेण स्वर्गलोकं समाश्रिते ।
आराध्य शासनं जैनं प्रापुः केके न सत्सुखम् ॥ १६३ ॥

इत्थं श्रीजिनसूत्रतो विरचिताहिंसाकथा शर्मणे
संक्षेपेण मयाल्पबुद्धिवशिना धर्मानुरागेण च ।
नाना सारसुखप्रमोदजननी विघ्नौघनिर्नाशिनी
भव्यानां भवशान्तये भवतु वै संभाविता मानसे ॥१६४॥

जातः श्रीमति मूलसंघतिलके श्रीकुन्दकुन्दान्वये
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुः सद्बोधिसिन्धुर्महान् ।
तच्छिष्यः मरमार्थपंडितनुतः श्रीसिंहनन्दीमुनि—
र्भव्यानां भवतारकोतिचतुरः सूरिश्चिरं नन्दतु ॥ १६५ ॥

इति कथाकोशेऽहिंसाव्रते मृगसेनधींवरस्य कथा समाप्ता ।

२६–वसुनृपस्य कथा ।

नत्वा जिनं जगद्बन्धुं सुरासुरसमर्चितम् ।
वक्ष्ये सत्यवचोदोषे चरित्रं वसुभूपतेः ॥ १ ॥

नगर्यां स्वस्तिकावत्यां राजा विश्वावसुः सुधीः ।
तद्राज्ञी श्रीमती तस्यां वसुनामा सुतोभवत् ॥ २ ॥
तत्र क्षीरकदम्बाख्यः क्षीरवन्निर्मलाशयः ।
उपाध्यायो महाधीमान् विप्रवंशशिरोमणिः ॥ ३ ॥
श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोज-महापूजाविधायकः ।
जैनहोमक्रियामंत्रै-र्भव्यानां शान्तिदायकः ॥ ४ ॥
तद्भार्या स्वस्तिमत्याख्या तयोः पुत्रश्च पर्वतः ।
पापी दुष्कर्मकर्त्ताभू-द्विचित्रा संसृतेः स्थितिः ॥ ५ ॥
एको वैदेशिको विप्रो नारदो निर्मदो महान् ।
जिनेन्द्रपादपद्मेषु चञ्चरीकोतिनिश्चलः ॥ ६ ॥
स वसुः पर्वतः सोपि नारदश्च गुणोज्ज्वलः ।
त्रयः क्षीरकदम्बस्य पार्श्वे शास्त्रं पठन्ति ते ॥ ७ ॥
वसुनारदनामानौ सञ्जातौ शास्त्रकोविदौ ।
पर्वतस्य स्वपापेन शास्त्रं नायाति निर्मलम् ॥ ८ ॥
एकदा स्वपतिं प्राह कोपात्स्वस्तिमती प्रिया ।
स्वपुत्रं भो त्वकं नैव व्यक्तं पाठयसीति च ॥ ९ ॥
प्रोक्तं क्षीरकदम्बेन पुत्रस्ते मूढमानसः ।
किञ्चिन्न वेत्ति पापात्मा मया किं क्रियते प्रिये ॥ १० ॥
विश्वासार्थं ततस्तेन त्रयश्छात्राः स्वबुद्धितः ।
प्रोक्ता भो पुत्रका यूयं शीघ्रमेतैः कपर्दकैः ॥ ११ ॥
भक्षयित्वापणं गत्वा चणकांश्च कपर्दकान् ।
समादाय स्वचातुर्यात्समागच्छथ मन्दिरम् ॥ १२ ॥

ततस्ते तान्समादाय निर्गता गुरुवाक्यतः ।
गत्वापणं स निर्बुद्धिः पर्वतस्तैः कपर्दकैः ॥ १३ ॥
चणाकान्भक्षयित्वा च रिक्तः स्वगृहमागतः ।
अहो पुण्यं विना जन्तोः क्व बुद्धिः प्रीतिदायिनी ॥ १४ ॥
तौ द्वौ विचक्षणौ गत्वा बहुस्थानेषु तान्मुदा ।
अर्थव्याजेन भुक्त्वोच्चै-रागतौ सकपर्दकौ ॥ १५ ॥
तथा पिष्टमयांश्छागान्दत्वा तेन त्रयोपि ते ।
यत्र कोपि न भो पुत्राः पश्यत्येषां च तत्र वै ॥ १६ ॥
कर्णच्छेदो विधातव्यः प्रोक्त्वेति प्रेषिताः पुनः ।
ततस्ते गुरुवाक्येन तान्गृहीत्वा विनिर्ययुः ॥ १७ ॥
पर्वतस्तु क्वचिद्देशे तत्कृत्वा गृहमागतः ।
गत्वा सर्वत्र तौ द्वौ च वनादौ निजमानसे ॥ १८ ॥
अहो सर्वे प्रपश्यन्ति चन्द्रार्कगृहतारकाः ।
व्यन्तराश्चामरा धीराः पक्षिणः पशवस्तथा ॥ १९ ॥
ज्ञानिनो मुनयश्चापि वार्यते ततु केन च ।
इति ज्ञात्वा न तत्कृत्वा गृहीत्वा तौ तथैव च ॥ २० ॥
समागत्य गृहं भक्त्या नत्वा क्षीरकदम्बकम् ।
स्ववृत्तं प्राहतुः सर्वं बुद्धिः कर्मानुसारिणी ॥ २१ ॥
उपाध्यायस्तदावीक्ष्य चातुरीं छात्रयोस्तयोः ।
जगौ स्वास्तिमतीं भार्यां दृष्टं रे सर्वचेष्टितम् ॥ २२ ॥
एकदा तेन विप्रेण स वसुः कृतदोषकः ।
यष्ट्या संकुट्यमानस्तु स्वस्तिमत्या सुरक्षितः ॥ २३ ॥

तस्यै तेन वरो दत्तस्तयोक्तं पुत्र मे यदा ।
कार्यं भविष्यति व्यक्तं तदायं दीयते त्वया ॥ २४ ॥
अथैकदा सुधीः क्षीर-कदम्बोसौ विचक्षणः ।
सेव्यमानस्त्रिभिच्छात्रै-रटव्यां पठने गतः ॥ २५ ॥
तत्र ते स्वच्छभूभागे चत्वारो निजलीलया ।
बृहदारण्यकं शास्त्रं पठन्ति स्म प्रयुक्तितः ॥ २६ ॥
तत्रैकस्मिन्प्रदेशे तु महान्तौ चारणौ मुनी ।
स्वस्वाध्यायं गृहीतुं च संस्थितौ भुवनोत्तमौ ॥ २७ ॥
तान्दृष्ट्वा लघुना प्रोक्तं मुनिना विनयेन भो ।
पश्य स्वामिन्कथं चैते संपठन्ति शुचि क्षितौ ॥ २८ ॥
तच्छ्रुत्वा स गुरुः प्राह मुनीन्द्रो ज्ञानलोचनः ।
एतेषु द्वौ प्रवर्त्तेते स्वपुण्यादूर्द्धगामिनौ ॥ २९ ॥
द्वौ नरौ निजपापेन निन्द्यौ नरकगामिनौ ।
स्यात्स्वकर्मवशाज्जन्तुः सुखदुःखैकभाजनम् ॥ ३० ॥
मुनेर्वाक्यं समाकर्ण्य सुधीः क्षीरकदम्बवाक् ।
छात्रान्गृहं विसृज्याशु स्वयं नत्वा मुनीश्वरम् ॥ ३१ ॥
पृष्टवान्भो मुने ब्रूहि जैनतत्वविदांवर ।
कौ भाविसुखिनौ देव कौ द्वौ संभाविनारकौ ॥ ३२ ॥
ततोसौ मदनद्वेषी संजगाद महामुनिः ।
सुधीर्विप्रकुलाधीश त्वं जिनेन्द्रप्रभक्तिमान् ॥ ३३ ॥
नारदश्चोर्द्धगामी स्यात्स्वपुण्योत्करसम्बलः ।
द्वौ छात्रौ ते ध्रुवं भावि-नारकौ वसुपर्वतौ ॥ ३४ ॥

तत्समाकर्ण्य विप्रोसौ नत्वा मुनिपदद्वयम् ।
पुत्रखेदात्सखेदस्तु चिन्तयन्निजचेतसि ॥ ३५ ॥
काले कल्पशते चापि नान्यथा मुनिभाषितम् ।
ततः स्वगृहमायातः सर्वशास्त्रविचक्षणः ॥ ३६ ॥
एकदा स महाराजः सुधीर्विश्वावसुस्तराम् ।
वसुं राज्ये समारोप्य सम्प्राप्तः सुतपोवनम् ॥ ३७ ॥
तदा राज्यं प्रकुर्वाणो वसुश्चैकदिने मुदा ।
क्रीडां कर्तुं वनं गत्वा तत्राकाशाच्च पक्षिणः ॥ ३८ ॥
प्रस्खल्य पतितान्वीक्ष्य विस्मयाक्रान्तमानसः ।
अत्रास्ति कारणं किञ्चि-दिति ज्ञात्वा स्वचेतसि ॥ ३९ ॥
मुक्त्वा बाणं परीक्षार्थं तत्प्रदेशं प्रति ध्रुवम् ।
तथा तं स्खलितं दृष्ट्वा गत्वा तत्र स्वयं पुनः ॥ ४० ॥
मत्वा प्रभुः करस्पर्शा-दाकाशस्फटिकोद्भवम् ।
महास्तंभं तमानीय स्वगेहं गूढवृत्तितः ॥ ४१ ॥
तेन स्तंभेन निर्माप्य महापादचतुष्टयम् ।
सिंहासनं समारुह्य स्वयं लोके स धूर्तकः ॥ ४२ ॥
सत्यवाक्यप्रभावेन वसोः सिंहासनं महत् ।
आकाशे संस्थितं चेति कृत्वा स्फीतिं प्रपञ्चतः ॥ ४३ ॥
सेव्यमानो जनैर्नित्यं संस्थितः कपटाश्रितः ।
जन्तुर्मायारतो मूढः किः करोति न वञ्चनम् ॥ ४४ ॥
अथ क्षीरकदम्बोसौ सद्दृष्टिर्जिनभक्तिभाक् ।
विरक्तः संसृतेर्भूत्वा मुनिर्जातो गुणोज्ज्वलः ॥ ४५ ॥

तपः कृत्वा जिनेन्द्रोक्तं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ।
प्रान्ते विधाय संन्यासं स्वर्गलोकं सुधीर्ययौ ॥ ४६ ॥
पर्वतस्तु पितुः स्थाने स्थित्वा छात्रान्स्वबुद्धितः ।
शास्त्रं पाठयति स्मोच्चैः स्ववृत्तिस्थितिहेतवे ॥ ४७ ॥
नारदोपि सुधीः श्रीम-ज्जिनपादाब्जषट्पदः ।
तदा देशान्तरं प्राप्तो लीलया शुद्धमानसः ॥ ४८ ॥
ततो भूरि दिनैः सोपि नारदः सर्वशास्त्रवित् ।
पर्वतस्य समीपं तु समायातो विनोदतः ॥ ४९ ॥
तत्प्रस्तावे दुरात्मासौ पर्वतः पापमण्डितः ।
अजैर्यष्टव्यमित्येत-द्वाक्ये शास्त्रे समागते ॥ ५० ॥
अजैश्छागैः प्रयष्टव्यं व्याख्यानं कृतवानिति ।
तच्छ्रुत्वा नारदेनोक्त-मजैर्धान्यैस्त्रिवार्षिकैः ॥ ५१ ॥
उपाध्यायेन सम्प्रोक्तं तदस्माकामिति स्फुटम् ।
त्वया किं लपितं मूढ महापापविधायकम् ॥ ५२ ॥
पापात्मा पर्वतः प्राह यष्टव्यं छागकैर्ध्रुवम् ।
अहो जानन्नपि प्राणी वक्त्येवं भाविदुर्गतिः ॥ ५३ ॥
तौ विवादे तदा कृत्वा जिह्वाच्छेदस्थितिं ध्रुवम् ।
वचः प्रमाणीकृत्योच्चैः संस्थितौ वसुभूपतेः ॥ ५४ ॥
तदा स्वस्तिमती प्राह पर्वतं रे दुराशयम् ।
विरूपकं त्वया चक्रे व्याख्यानं पापकारणम् ॥ ५५ ॥
पिता ते जैनधर्मज्ञो नित्यं पूतैस्त्रिवार्षिकैः ।
धान्यैरेव करोति स्म यज्ञं पुण्याशयः सुधीः ॥ ५६ ॥

इत्यादिकं क्रुधा प्रोक्त्वा पुनः पुत्रस्य मोहतः ।
ब्राह्मणी सा द्रुतं गत्वा वसोः पार्श्वं जगाद च ॥ ५७ ॥
देहि मे तं वरं देव प्रस्तावश्चाद्य विद्यते ।
त्वया प्रमाणीकर्त्तव्यं पर्वतस्य वचः स्फुटम् ॥ ५८ ॥
स्वयं पापीजनश्चैवं सपापान्कुरुते परान् ।
विषोपेतो यथा सर्पः करोति सविषाञ्जनान् ॥ ५९ ॥
प्रभाते च तयोर्वादे पापात्मा वसुभूपतिः ।
उपाध्यायोदितं वाक्यं जानन्नपि हृदि स्फुटम् ॥ ६० ॥
पर्वतस्य वचः सत्यं सम्प्रोक्त्वेति क्षितौ तदा ।
कष्टादाकण्ठपर्यन्तं प्रविष्टो विष्टरान्वितः ॥ ६१ ॥
नारदः प्राह भो भूप यथार्थं गुरुभाषितम् ।
अद्यापि च द्रुतं ब्रूहि मागास्त्वं दुर्गतिं वृथा ॥ ६२ ॥
इत्युच्चैर्भणितः सोपि वसुभूपः स्वपापतः ।
पर्वतोक्तं भवेत्सत्यं प्रोक्त्वा भूमिं तरां श्रितः ॥ ६३ ॥
ततो मृत्वातिकष्टेन सप्तमं नरकं गतः ।
पापिनां दुष्टचित्ताना-मीदृशी कुमतिर्भवेत् ॥ ६४ ॥
तस्मात्प्राणक्षये चापि कष्टकोटिविधायकम् ।
असत्यवचनं सद्भिर्न वाच्यं शुभमिच्छुभिः ॥ ६५ ॥
तदा तं पर्वतं दुष्टं बहिः कृत्वा खरादिभिः ।
नारदः पूजितः सर्वैः सज्जनैर्भक्तिभारतः ॥ ६६ ॥
नारदोपि सुधीस्तत्र जैनधर्मधुरन्धरः ।
सर्वशास्त्रप्रवीणोसौ सारधर्मोपदेशतः ॥ ६७ ॥

राज्यं गिरितटाख्याया नगर्याः प्राप्य पुण्यतः ।
दीर्घकालं सुखं भुक्त्वा दानपूजाव्रतान्वितः ॥ ६८ ॥
प्रान्ते वैराग्यभावेन जैनीं दीक्षां सुखप्रदाम् ।
समादाय मुनिर्भूत्वा भव्यान्सम्बोध्य शुद्धधीः ॥ ६९ ॥
स्वयं रत्नत्रयं पूतं समाराध्य विचक्षणः ।
कृत्वा सारतपः स्वामी जिनपादाब्जभक्तिमान् ॥ ७० ॥
प्राप्तः सर्वार्थसिद्धिं हि प्रोल्लसच्छर्मदायिनीम् ।
जैनधर्मप्रसादेन किं न स्याद्भव्यदेहिनाम् ॥ ७१ ॥
जित्वा सर्वकुवादिनो दृढतरः श्रीनारदो निर्मदः
श्रीमत्सारजिनेन्द्रशासनमहासिन्धोर्लसच्चन्द्रमाः ।
धृत्वा सारतपः प्रसिद्धमहिमा सर्वार्थसिद्धिं श्रितः
स श्रीमान्द्विजवंशमण्डनमणिः कुर्यात्सतां मंगलम् ॥ ७२ ॥

इति कथाकोशेऽनृतदोषाख्याने वसुराज्ञः कथा समाप्ता ।

२७–श्रीभूतेःकथा ।

श्रीजिनं शर्मदं नत्वा सुरासुरसमर्चितम् ।
स्तेयदोषोद्भवं वृत्तं वक्ष्ये श्रीभूतिसंश्रितम् ॥ १ ॥
सुधीः सिंहपुरे राजा सिंहसेनोतिधार्मिकः ।
रामदत्ता महाराज्ञी सर्वकार्यविचक्षणा ॥ २ ॥
अभूत्पुरोहितस्तस्य श्रीभूतिः सोपि विप्रकः ।
सत्यवक्ताहमित्युच्चैः स्वस्फीतिं मायया व्यधात् ॥ ३ ॥

पद्मखंडपुरे चाथ सुमित्राख्यो वणिग्वरः ।
पुत्रः समुद्रदत्तोस्य सुमित्राकुक्षिसंभवः ॥ ४ ॥
वाणिज्येनैकदासौ च सुधीः सिंहपुरं गतः ।
तत्र श्रीभूतिविप्रस्य पार्श्वे सद्रत्नपञ्चकम् ॥ ५ ॥
धृत्वा समुद्रदत्तोगा-द्रत्नद्वीपं, धनार्जनम्— ।
कृत्वा यावत्समायाति समुद्रे पापकर्मतः ॥ ६ ॥
याने संस्फुटिते मृत्युं सम्प्राप्ता बहवो जनाः ।
अहो पुण्यं विना लोके कार्यसिद्धिर्न देहिनाम् ॥ ७ ॥
कष्टात्समुद्रदत्तोसौ प्राप्य सिंहपुरं परम् ।
पार्श्वे श्रीभूतिविप्रस्य रत्नार्थी निर्धनो गतः ॥ ८ ॥
आगच्छन्तं तमालोक्य दूरतो दुष्टमानसः ।
लोकानामग्रतो पापी श्रीभूतिर्लोभसंचयः ॥ ९ ॥
शृण्वन्त्वंहो अयं कोपि श्रूयते भग्नयानकः ।
धनक्षयात्समायाति भूत्वा च ग्रहिलस्तराम् ॥ १० ॥
मन्येहं मां वृथा नत्वा महादुःखेन पीडितः ।
संयाचिष्यति रत्नानी-त्युक्त्वासौ ब्राह्मणः स्थितः ॥ ११ ॥
तदा समुद्रदत्तोसौ तं प्रणम्य जगाद च ।
देहि मे पञ्च रत्नानि श्रीभूते ब्राह्मणोत्तम ॥ १२ ॥
इत्याकर्ण्य तदा तेन किं भो लोका मयोदितम् ।
सत्यं जातमिति प्रोक्त्वा ग्रहिलोयं बहिः कृतः ॥ १३ ॥
ये पापिनो भवन्त्यत्र परेषां धनलम्पटाः ।
ते दुष्टा निन्दितं कर्म किं न कुर्वन्ति लोभतः ॥ १४ ॥

ततो वणिग्वरः सोपि वञ्चितस्तेन पापिना ।
न दत्ते पञ्च रत्नानि श्रीभूतिर्मे द्विजः कुधीः ॥ १५ ॥
सर्वत्र नगरीमध्ये कृत्वेत्याक्रोशकं सदा ।
तथा पश्चिमरात्रौ च राजमन्दिरसन्निधौ ॥ १६ ॥
पूत्कारं संकरोत्येवं षण्मासेषु गतेषु च ।
रामदत्ता तदा राज्ञी सिंहसेनं नृपं जगौ ॥ १७ ॥
नायं देव ग्रहग्रस्तो नित्यमेवैकवाक्यतः ।
इत्युक्त्वा च ततो द्यूते तया राज्या स्वबुद्धितः ॥ १८ ॥
पृष्टः पुरोहितश्चेति ब्रूहि भो द्विजसत्तम ।
अद्यः किं भोजनं भुक्तं भवद्भिः सोशनं जगौ ॥ १९ ॥
साभिज्ञानेन तेनोच्चैः श्रीभूतिस्त्रीसमीपके ।
धात्री निपुणमत्याख्या प्रेषिता रत्नहेतवे ॥ २० ॥
नैव दत्तानि रत्नानि तया श्रीभूतिभार्यया ।
रामदत्ता ततो राज्ञी द्यूते जित्वा प्रपञ्चतः ॥ २१ ॥
पुनः संप्रेषयामास तन्नामाङ्कितमुद्रिकाम् ।
ब्राह्मणी सा तदा नैव ददौ रत्नानि लोभतः ॥ २२ ॥
पुनर्यज्ञोपवीतेन धात्र्या संयाचिता सती ।
सा तस्यै तानि रत्नानि संददाति स्म भीतितः ॥ २३ ॥
ततो राज्या स्वनाथस्य दर्शितानि तया मुदा ।
तेन श्रीसिंहसेनेन रत्नान्यादाय धीमता ॥ २४ ॥
क्षिप्त्वा स्वकीयरत्नानां मध्येसौ भणितो वणिक् ।
यानि ते त्वं गृहाणेति तानि भो ग्रहिल ध्रुवम् ॥ २५ ॥

ततो समुद्रदत्तोसौ स्वरत्नान्येव शुद्धधीः ।
संजग्राह सतां चित्ते परद्रव्यं विषोपमम् ॥ २६ ॥

सिंहसेनो महीनाथस्तदा सन्तुष्टमानसः ।
तस्मै वणिग्वरायोच्चै-र्दिव्यं श्रेष्ठिपदं ददौ ॥ २७ ॥

ततो भूपेन रुष्टेन पृष्टा धर्माधिकारिणः ।
ब्रूत भो रत्नचोरस्य किं कार्यं चास्य पापिनः ॥ २८ ॥

तैरुक्तं देव दण्डोस्य महादोषविधायिनः ।
सर्वस्वहरणं मल्ल-त्रिंशत्सन्मुष्टयोथवा ॥ २९ ॥

कांस्यपात्रत्रयापूर्ण-नवगोमयभक्षणम् ।
इति त्रिविधदण्डेन दण्डितः पुररक्षकैः ॥ ३० ॥

आर्त्तध्यानेन मृत्वासौ श्रीभूतिः पापपण्डितः ।
कष्टतो दुर्गतिं प्राप विप्रको धनलम्पटः ॥ ३१ ॥

इति ज्ञात्वा महाभव्यैः स्तेयत्वं कष्टकोटिदम् ।
त्यक्त्वा श्रीमाज्जिनेन्द्रोक्ते धर्मे कार्या मतिः सदा ॥ ३२ ॥

असुरसुरनरेन्द्रैः खेचरेन्द्रैः प्रपूज्यो
जिनपतिरिह भक्त्या सर्वसन्देहहर्त्ता ।
तदुदितवरवाणी सारसौख्यस्य खानि-
र्दिशतु मम शिवानि श्रीप्रभाचन्द्रदेवः ॥ ३३ ॥

इति कथाकोशे स्तेयदोषस्य श्रीभूतिकथा समाप्ता ।

२८—नीली-कथा।

अथ श्रीजिननाथस्य नत्वा पादद्वयं हितम्।
चतुर्थाणुव्रताख्यानं वक्ष्ये नीलीसमाश्रितम् ॥ १ ॥
क्षेत्रेस्मिन्भारते पूते लाटदेशे मनोहरे।
श्रीमत्सर्वज्ञनाथोक्त-धर्मकार्यैरनुत्तरे ॥ २ ॥
पत्तने भृगुकच्छाख्ये सर्ववस्तुशतैर्भृते।
राजाभूद्वसुपालाख्यो सावधानः प्रजाहिते ॥ ३ ॥
श्रेष्ठी श्रीजिनदत्तोभू-द्वणिक्सन्दोहसुन्दरः।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां चरणार्चनतत्परः ॥ ४ ॥
तत्प्रिया जिनदत्ताख्या साध्वी सद्दानमण्डिता।
नीली नाम्नी तयोः पुत्री मुनीनामिव शीलता ॥ ५ ॥
तत्रैवान्यो वाणिग्जातो मिथ्यादृष्टिर्विनष्टधीः।
नाम्ना समुद्रदत्तोस्य भार्या सागरदत्तिका ॥ ६ ॥
पुत्रः सागरदत्तोभू-देकदा जिनमन्दिरे।
महापूजाविधौ नीलीं सर्वाभरणभूषिताम् ॥ ७ ॥
कायोत्सर्गस्थितां दिव्यां तां विलोक्य सुनिर्मलाम्।
जगौ सागरदत्तोसौ विह्वलीभूतमानसः ॥ ८ ॥
किमेषा देवता काचित्किमेषा नागकन्यका।
किमेषा खेचरीचारु-रूपसौन्दर्यमण्डिता ॥ ९ ॥
तच्छ्रुत्वा तस्य मित्रेण प्रियदत्तेन जल्पितम्।
जिनदत्तमहाश्रेष्ठि-पुत्रीयं कुलदीपिका ॥ १० ॥

तदाकर्ण्य तदासक्तो भूत्वैषा प्राप्यते कथम् ।
इति चिन्ताग्रहग्रस्तो जातोसौ दुर्बलस्तराम् ॥ ११ ॥
हरिर्लक्ष्म्या हरो देवो गंगया जडरूपया ।
उर्वश्या खण्डितो ब्रह्मा हता कामेन के न च ॥ १२ ॥
ततः समुद्रदत्तेन ज्ञात्वा पुत्रस्य वेदनाम् ।
प्रोक्तं भो पुत्र जैनोयं जिनदत्तो विचक्षणः ॥ १३ ॥
मुक्त्वा जैनं निजां पुत्रीं न ददात्येव कस्यचित् ।
इत्युक्त्वा श्रावकौ भूत्वा तदा तौ कपटोक्तिभिः ॥ १४ ॥
कन्यामादाय तां नीलीं नीलोत्पलदलेक्षणाम् ।
कल्याणविधिना जातौ पुनर्बुद्धकुधर्मकौ ॥ १५ ॥
युक्तं पापप्रयुक्तानां सद्धर्मे किं स्थिरा मतिः ।
सुप्रसिद्धमिदं नैव श्वोदरे पायसस्थितिः ॥ १६ ॥
तथा तैर्बुद्धभक्तैश्च नील्यास्तातस्य मन्दिरे ।
निषिद्धं गमनं दुष्टैः किं न कुर्वन्ति पापिनः ॥ १७ ॥
इत्येवं वञ्चने जाते जिनदत्तो वदत्यसौ ।
कूपादौ पतिता पुत्री नीता मे वा यमेन च ॥ १८ ॥
संगतिर्दुर्जनानां हि शोकं यच्छति दारुणम् ।
अधः स्थितोपि वन्हिः स्या-दूर्द्ध्वं कालुष्यकारणम् ॥ १९ ॥
सा नीली निजनाथस्य भूत्वा प्राणप्रिया तदा ।
जिनधर्मं प्रकुर्वाणा स्थिता भिन्नगृहे मुदा ॥ २० ॥
नित्यं श्रीमज्जिनेन्द्राणां पूजां कल्याणदायिनीम् ।
पात्रदानं व्रतं शीलं सोपवासं सुनिर्मलम् ॥ २१ ॥

साधर्मिकेषु वात्सल्यं शर्मदं शल्यवर्जितम् ।
इत्यादिधर्मसद्भावं पालयामास भक्तितः ॥ २२ ॥
एकदा श्वसुरेणैव संविचार्य स्वमानसे ।
संसर्गाद्दर्शनाद्धर्म-श्रुतेर्वा बुद्धभक्तिका ॥ २३ ॥
भविष्यतीति सा प्रोक्ता नीली पुत्रि गुणोज्वले ।
ज्ञानिनां वन्दकानां त्वं भोजनं देहि नो मतात् ॥ २४ ॥
ततस्तया समाहूय वन्दकान्कृतदंभकान् ।
तत्पादत्राणखण्डानि कृत्वा मृष्टानि सद्रसैः ॥ २५ ॥
तेषां भोक्तुं प्रदत्तानि तैः कृत्वा भोजनं मुदा ।
गच्छद्भिश्चेति पृष्टं क्व पादत्राणे तयोदिते ॥ २६ ॥
भवन्तस्त्वेव जानन्ति ज्ञानिनो यतयो भुवि ।
ज्ञानं नास्ति यदि व्यक्त्यै कुर्वन्तु वमनं द्रुतम् ॥ २७ ॥
वर्त्तेते भवतां तुन्दे तत्सुस्वादुविलोभिनाम् ।
कृते तैर्वमने दृष्टस्तत्खण्डानां समूहकः ॥ २८ ॥
बौद्धानां मानभङ्गेन तदा स्वशुरवर्गके ।
रुष्टे सागरदत्तस्य भगिन्यादिभिरर्जितम् ॥ २९ ॥
महापापं वृथा दत्वा तस्याः शीलस्य दूषणम् ।
पापिनां न भयं चित्ते साधूनां दोषभाषणे ॥ ३० ॥
असत्यदोषके तस्मिन्प्रसिद्धे सा गुणोज्वला ।
दोषोच्छेदे ममाहार-प्रवृत्तिर्नान्यथेति च ॥ ३१ ॥
संन्यासं श्रीजिनस्याग्रे गृहीत्वा द्विविधं स्थिता ।
कायोत्सर्गेण मेरोर्वा चूलिका चारुनिश्चला ॥ ३२ ॥

सत्यं सतां सुखे दुःखे प्रध्वस्तापत्सहस्रकः ।
शरणं श्रीजिनस्त्वेव नित्यं शक्रैः समार्चितः ॥ ३३ ॥
ततस्तच्छीलमाहात्म्यात्क्षुभिता पुरदेवता ।
ससंभ्रमं समागत्य तत्समीपं जगौ निशि ॥ ३४ ॥
सती शिरोमणे मैवं कुरु प्राणविसर्जनम् ।
अहं राज्ञः प्रधानानां प्रजानां स्वप्नमद्भुतम् ॥ ३५ ॥
ददामीति नगर्याश्च प्रतोल्यः सकला ध्रुवम् ।
महासती यदा वाम-पादसंस्पर्शनं मुदा ॥ ३६ ॥
करिष्यति तदोद्घाटं यास्यन्त्येताः प्रवेगतः ।
त्वं पादेन प्रतोलीनां कुर्याः संस्पर्शनं शुभे ॥ ३७ ॥
इत्युक्त्वा स्वप्नकं दत्वा राजादीनां सुनिश्चलम् ।
कीलित्वा सा प्रतोलीस्ता गतादृश्यं सुराङ्गना ॥ ३८ ॥
प्रभाते कीलिता दृष्ट्वा प्रतोलीर्भूमिपादिभिः ।
स्मृत्वा तं रात्रिजं स्वप्नं सर्वैस्तत्पुरयोषिताम् ॥ ३९ ॥
कारितश्चरणैर्घातः प्रतोलीनां तथापि सा ।
नोद्घाटिता कयाप्येका नाल्पपुण्यैर्यशोऽर्ज्यते ॥ ४० ॥
पश्चादुत्क्षिप्य नीता सा नीली सच्छीलशालिनी ।
तया स्वपादसंस्पर्शात्सर्वाश्चोद्घाटिता हि ताः ॥ ४१ ॥
शलाकया यथा वैद्यः करोत्युद्घाटनं दृशाम् ।
तथा नीली स्वपादेन प्रतोल्युद्घाटनं व्यधात् ॥ ४२ ॥
तदा स्वशीलमाहात्म्य-प्रहर्षितजगज्जना ।
सा नीली वस्तुसन्दोहै-र्नरेन्द्राद्यैः समर्चिता ॥ ४३ ॥

जय त्वं जिननाथस्य चरणाम्भोजषट्पदी ।
भो मातस्तव शीलस्य माहात्म्यं केन वर्ण्यते ॥ ४४ ॥
इत्यादिभिः शुभैर्वाक्यैः सा सती शीलमण्डिता ।
सर्वैर्धर्मानुरागेण संस्तुता सज्जनैर्मुदा ॥ ४५ ॥
स जयति जिनदेवः सर्वदेवेन्द्रवन्द्यो
विमलतरगिरो वै यस्य विश्वोपकाराः ।
तदुदितवरशीलं पालितं शर्ममूलं
दिशतु शुचिजनानां स्वर्गमोक्षोरुलक्ष्मीम् ॥ ४६ ॥

इति कथाकोशे शीलप्रभाववर्णने नीलीश्राविकाकथा समाप्ता ।

२९–कडारपिङ्गस्य कथा ।

नत्वार्हतं जगत्पूतं भारतीगुरुपङ्कजम् ।
वक्ष्ये कडारपिङ्गस्या-ब्रह्मदोषं कथानकम् ॥ १ ॥
कांपिल्यनगरे राजा नरसिंहो विचक्षणः ।
प्राज्यं राज्यं करोत्युच्चै-र्धर्मकर्मपरायणः ॥ २ ॥
तन्मंत्री सुमतिर्नाम्ना धनश्रीः प्राणवल्लभा ।
तयोः कडारपिङ्गाख्यः पुत्रो जातोतिलम्पटः ॥ ३ ॥
तत्रैव नगरे श्रेष्ठी संजातोत्यन्तधार्मिकः ।
सुधीः कुबेरदत्ताख्यो दानपूजाविराजितः ॥ ४ ॥
तस्य भार्याभवत्सार-पूर्वपुण्येन संयुता ।
प्रियंगुसुन्दरी नाम्ना साध्वी सद्रूपमण्डिता ॥ ५ ॥

एकदा तां समालोक्य श्रेष्ठिनीं गुणशालिनीम् ।
कुधीः कडारपिङ्गोसौ संजातो विकलाशयः ॥ ६ ॥
गत्वा गृहं स्थितो याव-द्धनश्रीः प्राह तं प्रति ।
अहो पुत्र त्वकं कस्माद् दृश्यते दुर्मनास्तराम् ॥ ७ ॥
तेनोक्तं श्रेष्ठिभार्यासौ प्राप्यतेत्र मया यदि ।
तदा मे जीवितं मात-र्नान्यथेति सुनिश्चितः ॥ ८ ॥
धिक्कामान्धजनाँल्लोके लज्जाभयविवर्जितान् ।
यतः कामी न जानाति कार्याकार्यं शुभाशुभम् ॥ ९ ॥
तया धनश्रिया प्रोक्तं स्वभर्त्तुः सुमतेस्तदा ।
निजपुत्रमहादुःखं परस्त्रीदर्शनोद्भवम् ॥ १० ॥
तच्छ्रुत्वा सुमतिर्मंत्री पापात्मा कपटेन सः ।
नरसिंहमहीनाथं संजगाविति दुष्टधीः ॥ ११ ॥
अहो महीपते रत्न-द्वीपे किंजल्कपक्षिणः ।
तिष्ठन्ति बहवो देव भवाद्भिः श्रूयतां प्रभो ॥ १२ ॥
तत्प्रभावान्महाव्याधि-दुर्भिक्षमरणादयः ।
शत्रुचक्रं तथा चोराः प्रभवन्ति न निश्चयात् ॥ १३ ॥
ततः कुबेरदत्तोसौ श्रेष्ठी कार्यविचक्षणः ।
तं पक्षिणं समानेतुं प्रेषणीयो न संशयः ॥ १४ ॥
तत्समाकर्ण्य भूभर्त्ता तमानेतुं सुमुग्धधीः ।
श्रेष्ठिनं प्रेषयामास राजानो मंत्रिणां वशाः ॥ १५ ॥
तदा श्रेष्ठी विशुद्धात्मा गृहमागत्य वेगतः ।
प्रयाणं स्वस्य भार्यायै संजगाद महाद्भुतम् ॥ १६ ॥

प्रियंगुसुन्दरी प्राह भो स्वामिन्वञ्चितोसि च ।
पापी कडारपिंगो मे महाशीलस्य खण्डनम् ॥ १७ ॥
कर्त्तुं समीहते तस्मा-त्तवेदं गमनं ध्रुवम् ।
क्वापि स्त्रियो भवन्त्युच्चैः स्वप्रियादतिचञ्चवः ॥ १८ ॥
श्रेष्ठी कुबेरदत्तोसौ समाकर्ण्य प्रियोदितम् ।
शुभे दिने विसृज्योच्चै-र्जलयानं सुबुद्धिमान् ॥ १९ ॥
स्वयं व्याघुट्य गेहे च प्रच्छन्नं संस्थितो द्रुतम् ।
लोकदुस्संगतेः क्वापि सन्तोसन्तो भवन्त्यमी ॥ २० ॥
तदा कडारपिङ्गोसौ श्रेष्ठिनीरूपलम्पटः ।
कुधीस्तद्गृहमायातो मदनोन्मत्तमानसः ॥ २१ ॥
ततो वर्चोगृहे सापि पल्यंकं रज्जुवर्जितम् ।
छादितं शुभ्रवस्त्रेण स्थापयामास सुन्दरी ॥ २२ ॥
यावत्तत्रोपविष्टोसौ शठो विष्टागृहे तदा ।
पतितो मंत्रिणः पुत्रो नारको नरके यथा ॥ २३ ॥
षण्मासेषु गतेषूच्चै-रागते जलयानके ।
नाना पक्षिमहापक्षान्कृत्वा तस्य शरीरके ॥ २४ ॥
विधाय तन्मुखं कृष्णं कृत्वा हस्तादिबन्धनम् ।
धृत्वा पंजरके कष्टं मंत्रिपुत्रं कुकर्मगम् ॥ २५ ॥
पक्षी कुबेरदत्तेन श्रेष्ठिना गुणशालिना ।
समानीतो महाद्वीपा-दिति क्षोभं गते जने ॥ २६ ॥
दुष्टं कडारपिङ्गाख्यं नीत्वा श्रेष्ठी नृपान्तिकम् ।
देव किंजल्कपक्षी ते समानीतोयमद्भुतः ॥ २७ ॥

इति हास्यं विधायोच्चैः पूर्ववृत्तान्तमुक्तवान् ।
तच्छ्रुत्वा नरसिंहेन महाकोपेन भूभुजा ॥ २८ ॥
गर्दभारोहणं कृत्वा दण्डितो मंत्रिपुत्रकः ।
मृत्वा कडारपिंगोसौ दुर्ध्यानान्नरकं गतः ॥ २९ ॥
परस्त्रीलम्पटो जन्तु-र्दुर्गतिं याति निश्चयात् ।
तस्मात्सदा परस्त्रीणां त्यागः कार्यो बुधोत्तमैः ॥ ३० ॥
ये भव्या श्रीजिनेन्द्रोक्तं शीले शर्मशतप्रदे ।
महायत्नं प्रकुर्वन्ति ते पूज्यन्ते पदे पदे ॥ ३१ ॥
शीलं श्रीजिनभाषितं शुचितरं देवेन्द्रवृन्दैः स्तुतं
नाना शर्ममहाप्रमोदजनकं स्वर्गापवर्गप्रदम् ।
ये भव्याः प्रतिपालयन्ति नितरां त्रेधा जगन्मोहनं
भुक्त्वा ते त्रिदशादिसौख्यमतुलं मुक्तेर्लभन्ते सुखम् ॥३२॥

इति कथाकोशे ब्रह्मचर्यदोषोद्भवकडारपिङ्गस्य कथा समाप्ता ।

३०—देवरतिराज्ञः कथा ।

नत्वा जिनं जगत्पूज्यं केवलज्ञानलोचनम् ।
कथा देवरतेर्वच्मि विनितापत्तनेशिनः ॥ १ ॥
अयोध्यां नगरे राजा जातो देवरतिर्महान् ।
रक्ता नाम्नी महाराज्ञी रूपसौभाग्यशालिनी ॥ २ ॥
स भूपतिः सदा तस्या-मासक्तः कामलम्पटः ।
शत्रुभिः पीडितश्चापि राज्यचिन्तां करोति न ॥ ३ ॥

मुक्त्वा धर्मार्थनामानौ पदार्थौ नीतिवर्जितः ।
भुंक्ते भोगान्कुधीर्योत्र स स्याद्दुःखैकभाजनम् ॥ ४ ॥
मंत्रिभिश्चैकदा पुत्रं जयसेनाभिधानकम् ।
राज्ये धृत्वा तया सार्द्धं देशान्निर्घाटितः प्रभुः ॥ ५ ॥
तदा देवरतिः सोपि रक्तया सह भूपतिः ।
महाटव्यां समायातो धिक्कामं नीतिवर्जितम् ॥ ६ ॥
तत्र क्षुधामहाक्लेश-पीडितायाः स्वयोषितः ।
स्वोरुमांसं सुसंस्कृत्य दत्तवान्मोहवञ्चितः ॥ ७ ॥
तथा तस्यास्तृषाक्रान्त-चेतसो मूढमानसः ।
बाहुरक्तं महौषध्या जलं कृत्वा च सन्ददौ ॥ ८ ॥
यमुनायास्तटं प्राप्य रक्तां धृत्वा तरोस्तले ।
भोजनं च समानेतुं ग्राममध्ये नृपो गतः ॥ ९ ॥
सापि तत्र समालोक्य वाटिकासेवनोद्यतम् ।
वार्यन्त्रं खेटयन्तं च पंगुं सद्गानसंयुतम् ॥ १० ॥
तस्मिन्नासक्तचित्ताभू-द्रक्ता तं प्राह पापिनी ।
अहो पंगो त्वकं शीघ्रं मामिच्छेति प्रभो स्वयम् ॥ ११ ॥
तेनोक्तं पंगुना मुग्धे त्वदीयप्राणनाथतः ।
अहं चित्ते बिभेमीति महाभटशिरोमणेः ॥ १२ ॥
सावोचन्मारयामीति तं प्रियं मा भयं कुरु ।
दुराचाराश्रिता लोके किं न कुर्वन्ति योषितः ॥ १३ ॥
गृहीत्वा भोजनं तत्र समायाते महीपतौ ।
रोदनं कर्तुमारब्धं तया कौटिल्यभावतः ॥ १४ ॥

नृपः प्राह प्रिये कस्मा-त्त्वं करोषीति रोदनम् ।
सा जगौ देव रक्ताख्या रिक्ताहं पापकर्मतः ॥ १५ ॥
अद्य किं क्रियते प्राप्ते तवायुर्ग्रन्थिवासरे ।
जन्तोः पुण्यं विना घोरे मज्जनं शोकसागरे ॥ १६ ॥
इत्याकर्ण्य तदासक्तः संजगाद महीपतिः ।
किं शोकेन प्रिये सर्वं त्वयैव मम पूर्यते ॥ १७ ॥
तथाप्याचारमात्रं च करोमीति प्रजल्प्य सा ।
तंत्रीगुंफितपुष्पौघै-र्बन्धित्वा स्वपतिं गले ॥ १८ ॥
यमुनाख्यमहानद्यां क्षिप्त्वा तं दुष्टमानसा ।
पंगुना सह दुष्कर्म-कुर्वती संस्थिता तदा ॥ १९ ॥
अथ देवरतिर्भूपः कथंचित्कर्मयोगतः ।
मंगलाख्यपुरं प्राप्य श्रान्तो नद्याः प्रवाहतः ॥ २० ॥
सुप्तस्तत्र बहिर्देशे वृक्षमूले सुखप्रदे ।
जन्तूनां जैनधर्मे वा महाभ्युदयकारणे ॥ २१ ॥
तत्र श्रीवर्द्धनो राजा विपुत्रो मृत्युमाप्तवान् ।
मंत्रिभिर्भणितेनोच्चै-र्विधिना पट्टहस्तिना ॥ २२ ॥
पूर्णकुंभेन संस्नाप्य स भूपः पुण्ययोगतः ।
नीत्वा पुरं तदा राज्ये स्थापितः सन्महोत्सवैः ॥ २३ ॥
पूर्वपुण्येन जन्तूना-मापदा सम्पदायते ।
तस्माच्छ्रीमज्जिनेन्द्रोक्तं पुण्यं कुर्वन्तु भो बुधाः ॥ २४ ॥
पुण्यं श्रीजिनपादार्चा पुण्यं सत्पात्रदानतः ।
पुण्यं पुण्यव्रतादुक्तं पुण्यं सत्प्रोषधादिभिः ॥ २५ ॥

तदा देवरातिर्भूपः स्थितो राज्ये सुखप्रदे ।
गुणोपेतस्त्रियश्चापि मुखाब्जं नैव पश्यति ॥ २६ ॥
दुर्जनैर्वंचितो धत्ते विश्वासं नैव सज्जने ।
संतप्तपयसा दग्धो भुंक्ते फूत्कृत्य सद्दधि ॥ २७ ॥
तथा दानं ददात्युच्चैः सर्वेभ्योसौ यशस्करम् ।
पंगूनां न ददात्येव भूपतिः किञ्चिदप्यथ ॥ २८ ॥
सा रक्ता पापिनी पंगुं तं कृत्वा चोल्लके तदा ।
अयं मे प्राणनाथोस्ति दत्तस्तातादिभिस्तराम् ॥ २९ ॥
इत्याद्यसत्यवाग्जालै-र्लोकानामग्रतो मुदा ।
स्वसतीत्वं प्रकाश्योच्चैः पर्यटन्ती पुरादिषु ॥ ३० ॥
भिक्षां सर्वत्र कुर्वाणा मंगलाख्यपुरं ययौ ।
तत्र तां वीक्ष्य पौरास्ते प्रापुराश्चर्यकं महत् ॥ ३१ ॥
येन स्त्रीणां चरित्रेण ब्रह्माद्या वंचिता भुवि ।
का कथा तत्र लोकानां वञ्चने मुग्धतेचसाम् ॥ ३२ ॥
राजद्वारे तथा प्राप्तौ तौ गायन्तौ मनोहरम् ।
प्रतीहारस्तदा प्राह भूपतिं परमादरात् ॥ ३३ ॥
अहो स्वामिन्महाश्चर्यं सिंहद्वारे कलस्वनौ ।
सतीपंगू समायातौ दृष्टव्यौ धार्मिकैर्जनैः ॥ ३४ ॥
इत्याकर्ण्य प्रभुः सोपि जनानामाग्रहेण च ।
अन्तःपटं विधायोच्चै-स्तौ समाहूय लम्पटौ ॥ ३५ ॥
प्रियावाक्यं समाकर्ण्य ज्ञात्वा तां च स्वकामिनीम् ।
अहो सती समायाता मया ज्ञातेयमद्भुता ॥ ३६ ॥

इत्युक्त्वा तां प्रचार्योच्चैः पापिनीं शीलवर्जिताम् ।
त्रिधा वैराग्यसम्पन्नः सुधीर्देवरतः प्रभुः ॥ ३७ ॥
तस्यैव जयसेनाख्य-स्वपुत्रस्य महोत्सवैः ।
राज्यलक्ष्मीं समर्प्याशु जिनानभ्यर्च्य भक्तितः ॥ ३८ ॥
दीक्षां यमधराचार्य-पार्श्वे शर्मशतप्रदाम् ।
समादाय मुनिर्भूत्वा पूतात्मा भव्यतारकः ॥ ३९ ॥
कृत्वा तपो जिनेन्द्रोक्तं लोकद्वयसुखप्रदम् ।
स्वर्गे देवोभवत्काले महान्मानर्द्धिमण्डितः ॥ ४० ॥
दृष्ट्वा स्त्रीचरितं समस्तजगतां निन्द्यं सदा वञ्चकं
ज्ञात्वा संसृतिदेहभोगमखिलं शक्रस्य चापोपमम् ।
नाम्ना देवरतिप्रभुर्जिनपतेर्दीक्षां समादाय यः
संजातो मुनिसत्तमो गुणनिधिर्नित्यं स मेशं क्रियात् ॥४१॥

इति कथाकोशे देवरतिराज्ञः कथा समाप्ता

३१—गोपवती-कथा ।

सर्वसौख्यप्रदं नत्वा श्रीजिनं जगदर्चितम् ।
वैराग्याय सतां वक्ष्ये वृत्तं गोपवतीश्रितम् ॥ १ ॥
पलासग्रामवास्तव्यो नाम्ना सिंहबलो नरः ।
भार्या गोपवती तस्य संजाता दुष्टमानसा ॥ २ ॥
एकदा पद्मिनीखेट-ग्रामं गत्वा निजेच्छया ।
प्रच्छन्नं स्वस्त्रियो गाढं सुधीः सिंहबलो मुदा ॥ ३ ॥

तत्रस्थसिंहसेनाख्य-ग्रामकूटस्य पुत्रिकाम् ।
सुभद्रां रूपलावण्य-मण्डितां परणीतवान् ॥ ४ ॥
तच्छ्रुत्वा पापिनी सापि महाकोपाग्निकम्पिता ।
गत्वा गोपवती तत्र तद्गृहं सम्प्रविश्य च ॥ ५ ॥
मातृकाग्रे प्रसुप्तायाः सुभद्रायाश्च मस्तकम् ।
गृहीत्वा गृहमायाता सपत्नी पापकारिणी ॥ ६ ॥
प्रातःकाले सुभद्राया रुण्डं दृष्ट्वा भयानकम् ।
सोपि सिंहबलो दुःखी समायातो निजं गृहम् ॥ ७ ॥
तदा गोपवती तस्य स्वनाथस्यातिसंभ्रमम् ।
आगतस्वागतं कृत्वा सा ददाति स्म भोजनम् ॥ ८ ॥
तदुद्वेगात्तदा तस्मै रोचते नैव भोजनम् ।
महादुःखाश्रितस्यात्र का प्रीतिर्भोजनादिषु ॥ ९ ॥
ततस्तया सुपापिन्या गोपवत्या प्रकोपतः ।
सुभद्राया मुखं पश्य यतस्ते रोचतेशनम् ॥ १० ॥
इत्युक्त्वा मस्तकं तच्च क्षिप्तं तद्भाजने तदा ।
तद्दृष्ट्वा भयभीतोसौ राक्षसीयं भयानका ॥ ११ ॥
इति ज्ञात्वा द्रुतं चित्ते नश्यन्सिंहबलो भटः ।
कुन्तेन मारितः कष्टं पापिन्या दुष्टयोषिता ॥ १२ ॥
मत्वा स्त्रीचरितं चेति स्वचित्ते चतुरोत्तमैः ।
विश्वासो नैव कर्तव्यो दुष्टस्त्रीणां कदाचन ॥ १३ ॥
स जयति जिनदेवो देवदेवेन्द्रवन्द्यो
मदनमदकरीन्द्रध्वंसने यो मृगेन्द्रः ।

तव भवभयहर्त्ता स्वर्गमोक्षप्रकर्त्ता
शिवयुवतिसुभर्त्ता शान्तये शान्तिदाता ॥ १४ ॥

इति कथाकोशे गोपवती-कथा समाप्ता ।

३२—वीरवती-कथा ।

नत्वार्हतं जगन्मित्रं पवित्रं मुक्तिशर्मदम् ।
वक्ष्ये वीरवतीवृत्तं सतां वैराग्यकारणम् ॥ १ ॥
पुरे राजगृहे श्रेष्ठी धनमित्रो धनैर्युतः ।
धारिणी श्रेष्ठिनी तस्य तयोर्दत्तोभवत्सुतः ॥ २ ॥
तथा भूमिगृहे नाम्ना नगरे सम्पदाभृते ।
आनन्दमित्रवत्योश्च पुत्री वीरवती मता ॥ ३ ॥
तां कन्यां कुलजाचारैः स दत्तः परणीतवान् ।
सम्बन्धो विधिना बद्धो धीमता केन वार्यते ॥ ४ ॥
तत्रैव नगरे चोरः प्रचण्डोगारनामकः ।
रक्ता वीरवती तस्मिन्सा जाता पापकर्मणि ॥ ५ ॥
एकदासौ सुधीर्दत्तो रत्नद्वीपं मनोहरम् ।
गत्वोपार्ज्य धनं भूरि वासरैर्बहुभिर्मुदा ॥ ६ ॥
आगच्छन्स्वसुरावासं भार्या संसक्तमानसः ।
महाटव्यां सहस्त्रादि-भटचोरेण वीक्षितः ॥ ७ ॥
तदा कौतूहलात्सोपि तस्करस्तस्य पृष्ठतः ।
द्रष्टुं तच्चेष्टितं मूढं तत्पुरं च समागतः ॥ ८ ॥

मन्दिरे श्वसुरस्योच्चै-रागतस्य तदा द्रुतम् ।
भार्या तातादिभिस्तस्य कृता प्राघूर्णिकक्रिया ॥ ९ ॥
तस्मिन्नेव दिने पापी चोरो गारकसंज्ञकः ।
धृत्वा स कोट्टपालाद्यैः शूले प्रोतः सुकष्टतः ॥ १० ॥
रात्रौ वीरवती सापि सुप्तं त्यक्त्वा च दत्तकम् ।
चचाल तस्कराभ्यर्णं खड्गं कृत्वा करे खरम् ॥ ११ ॥
सहस्रभटचोरोपि द्रष्टुं तस्याश्चरित्रकम् ।
पृष्ठतश्चलितो गूढं चोराः केचिद्विनोदिनः ॥ १२ ॥
ज्ञात्वा तत्पादसंचारं तया खड्गेन दुष्टया ।
छिन्ना चोराङ्गुलिश्छिन्नो वटप्रारोहकोपि च ॥ १३ ॥
शूलाभ्यर्णे गता यावत्स चोरो गारकोऽवदत् ।
हे प्रिये म्रियमाणं मां समालिंग्य, मम द्रुतम् ॥ १४ ॥
स्वताम्बूलं मुखेनोच्चै-स्त्वं देहीति सुखप्रदम् ।
धिक्कामं मरणं प्राप्तो यतो वाञ्छति भोगकम् ॥ १५ ॥
ततस्तस्याः सुपापिन्याः कृत्वा मृतकसञ्चयम् ।
तस्योपरि चटित्वा च ताम्बूलं स्वमुखस्थितम् ॥ १६ ॥
ददत्याः पापतस्तस्मै तस्मिन्काले शवोच्चये ।
पतिते म्रियमाणेना-धरश्चोरेण खण्डितः ॥ १७ ॥
तस्यैव तस्करस्यास्ये सोधरः संस्थितस्तदा ।
गूढं वीरवती वक्त्रं वस्त्रेणाच्छाद्य वेगतः ॥ १८ ॥
ततो गेहं समागत्य सा दत्तस्य समीपके ।
अनेनैतत्कृतं चेति चक्रे पूत्कारमुच्चकैः ॥ १९ ॥

पापिनी लम्पटा योषि-त्स्वकुलक्षयकारिणी ।
किं करोति न दुष्कर्म कष्टकोटिविधायकम् ॥ २० ॥
मार्यमाणो ततो दत्तो राज्ञा रुष्टेन कष्टतः ।
सहस्रभटचोरेण तदीयं पापचेष्टितम् ॥ २१ ॥
सर्वं प्रोक्त्वा नृपस्याग्रे रक्षितः शुभयोगतः ।
लोके पुण्यवतां पुंसां सर्वे कुर्वन्ति रक्षणम् ॥ २२ ॥
इत्थं ज्ञात्वा बुधैश्चित्ते कुस्त्रीवृत्तं सुदारुणम् !
कार्यं कष्टकराणां हि विषयाणां विचारणम् ॥ २३ ॥
धन्यास्ते मुनयो जिनेन्द्रकथितैः शीलव्रतैर्मण्डिताः
कामक्रूरकरीन्द्रदुर्जयघटावित्रासकण्ठीरवाः ।
ज्ञानध्यानरता विरक्तहृदया भव्याब्जसद्भास्कराः
संसारार्णवतारणेतिचतुराः कुर्युः सतां मंगलम् ॥ २४ ॥

इति कथाकोशे वीरवतीकथा समाप्ता ।

३३—सुरतभूपस्य कथा ।

इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्कैः समर्चितपदद्वयम् ।
भक्त्या नत्वा जिनं वक्ष्ये वृत्तं सुरतभूपतेः ॥ १ ॥
अयोध्यानगरे राजा सुरताख्यो महानभूत् ।
सती नाम्नी महादेवी योषित्पञ्चशताग्रणीः ॥ २ ॥
स तस्यां भूपतिर्नित्यं भोगासक्तैकमानसः ।
प्रतीहारं प्रति प्राह भो त्वया द्वारपालक ॥ ३ ॥

समायाते महाराज-कार्ये च मुनिसत्तमे ।
स्तवनीयं मम व्यक्तं नान्यत्किञ्चित्कदाचन ॥ ४ ॥
इत्युक्त्वान्तःपुरं शीघ्रं प्रविश्य परया मुदा ।
भुंजानो विविधान्भोगान्संस्थितो तृप्तिकारकान् ॥ ५ ॥
एकदा पुण्ययोगेन मन्दिरे तस्य भूपतेः ।
दमदत्तो धर्मरुचिर्मुनी मासोपवासिनौ ॥ ६ ॥
चर्यार्थं तौ समायातौ दृष्ट्वासौ द्वारपालकः ।
कुर्वन्तं तिलकं सत्या वक्त्राब्जे मण्डिते तराम् ॥ ७ ॥
नत्वा तं सुरतं भूपं संजगौ भो महीपते ।
समायातौ मुनीन्द्रौ द्वौ सुरेन्द्रार्चितपङ्कजौ ॥ ८ ॥
इत्याकर्ण्य प्रभुः सोपि हे प्रिये तिलकस्तव ।
यावच्छुष्यति नैवात्र तावद्भक्त्या मुनीन्द्रयोः ॥ ९ ॥
आहारं कारयित्वोच्चै-रागमिष्यामि सत्वरम् ।
प्रोक्त्वेति सुरतो धीमान्स्थापयित्वा मुनीश्वरौ ॥ १० ॥
नव पुण्यैः समायुक्तं ताभ्यामाहारमुत्तमम् ।
ददौ भक्त्या गुणैर्युक्तो भूरिशर्माकरं परम् ॥ ११ ॥
दानपूजाव्रतोपेतः शोभते श्रावकोत्तमः ।
तैर्विहीनो नरो नैव भाति वा निष्फलो द्रुमः ॥ १२ ॥
तस्माद्दानं त्रिधा पात्रे पूजां श्रीमज्जिनेशिनः ।
स्वव्रतं शर्मणे शक्त्या संभजन्तु सदा बुधाः ॥ १३ ॥
तस्मिन्काले सती सापि मुनि निन्दोरुपापतः ।
उदंचरमहाकुष्ट-कष्टराशिप्रपीडिता ॥ १४ ॥

वरं हालाहलं भुक्त-मेकजन्मभयप्रदम् ।
नैव निन्दा मुनीन्द्राणां जन्मकोटिषु कष्टदा ॥ १५ ॥
ये नित्यं व्रतशीलाद्यै-र्मण्डिता मुनिनायकाः ।
सन्मार्गदीपका प्राया-स्ते निन्द्यन्ते कथं भुवि ॥ १६ ॥
गुरुर्दीपो गुरुर्बन्धु-र्गुरुः संसारतारकः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन समाराध्यो गुरुर्बुधैः ॥ १७ ॥
ततो राजा तदासक्तो समागत्य तदन्तिकम् ।
तस्याः शरीरमालोक्य कुष्टकालाग्निपीडितम् ॥ १८ ॥
संसारदेहभोगेषु विरक्तः सुरतः सुधीः ।
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं मुनिर्जातो जगद्धितः ॥ १९ ॥
सापि मृत्वा सती नाम्नी दीर्घसंसारमाश्रिता ।
स्वकीयपुण्यपापस्य फलं भुंक्ते जनो ध्रुवम् ॥ २० ॥
मत्वेति संसृतिचरित्रविचित्रमुच्चैः
श्रीमज्जिनेन्द्रकथिते भुवि सारधर्मे ।
स्वर्गापवर्गसुखसाधनहेतुभूते
कार्या मतिर्बुधजनैः सततं सुखाप्त्यै ॥ २१ ॥

इति कथाकोशे श्रीसुरतराज्ञः कथा समाप्ता ।

३४—विषयलुब्धसंसारिजीवस्य कथा ।

श्रीसर्वज्ञं प्रणम्योच्चैः संसाराम्भोधितारणम् ।
वक्ष्ये संसारिजीवस्य वृत्तं स्तोकेन दारुणम् ॥ १ ॥

महाटव्यां नरः कोपि भीतो व्याघ्राद्भयानकात् ।
अन्धकूपे स्थितस्तत्र तृणस्तम्बे विलम्बितः ॥ २ ॥
तथा व्याघ्राहतोत्तुङ्ग-कूपवृक्षप्रकम्पनात् ।
प्रोच्छलन्मधुकक्रूर-मक्षिकाभिः प्रपीडितः ॥ ३ ॥
स्तम्बमूलेऽशितिश्वेत-मूषकाभ्यां निरन्तरम् ।
छेद्यमानोप्यधोभागे चतुस्सर्पेषु सत्सु च ॥ ४ ॥
इत्यादिभूरिकष्टेषु स मूढो नष्टमानसः ।
प्राप्तास्यमधुबिन्दुश्च तदेवं वाञ्छति स्फुटम् ॥ ५ ॥
अत्रान्तरे समागत्य जगौ कश्चित्खगो हि तम् ।
आगच्छ भो नभोयाने तिष्ठ त्वं शर्मदायिनि ॥ ६ ॥
तदाकर्ण्य कुधीः सोपि कूपस्थो लम्पटोऽवदत् ।
मधुबिन्दुः समायाति यावन्मे मधुरो मुखे ॥ ७ ॥
भव त्वं सुस्थिरस्ताव-दित्याकर्ण्य खगो गतः ।
विषयैर्वञ्चितो जीवो न कदाचिद्धिते रतः ॥ ८ ॥
यथासौ पुरुषः कूपे संस्थितो मधुलम्पटः ।
समाहूतः खगेनापि न वेत्ति स्म निजं हितम् ॥ ९ ॥
तथासौ विषयासक्तः प्राणी संसारकूपके ।
कालव्याघ्रादिभिर्नित्यं पीडितोपि प्रकष्टतः ॥ १० ॥
बोधितो गुरुभिश्चापि लोकद्वयसुखप्रदैः ।
सन्मार्गं नैव जानाति पापतो भाविदुर्गतिः ॥ ११ ॥
इत्थं कष्टशतप्रदानचतुरे संसारघोरार्णवे
ज्ञात्वा वै विषयान् विषान्नसदृशान्तान्दुर्जनान्वा भुवि ।

श्रीमत्सारजिनेन्द्रदेवगदितो धर्मः सुशर्मप्रद-
श्चित्ते निश्चलभावतो बुधजनैराराधनीयः सदा ॥ १२ ॥

इति कथाकोशे विषयलुब्धसंसारिजीवस्य कथा समाप्ता ।

३५–चारुदत्तश्रेष्ठिनः कथा ।

श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोज-युग्मं नत्वा सुरार्च्चितम् ।
श्रेष्ठिनश्चारुदत्तस्य चरित्रं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
चम्पाख्ये नगरे राजा शूरसेनो महानभूत् ।
भानुनामाभवच्छ्रेष्ठी सुभद्रा श्रेष्ठिनी प्रिया ॥ २ ॥
पुत्रार्थिनी कुदेवानां सा करोति स्म सेवनम् ।
श्रेष्ठिनी न सुतं लेभे नास्ति सिद्धिः कुदेवतः ॥ ३ ॥
एकदा श्रीजिनेन्द्राणां मन्दिरे शर्ममन्दिरे ।
नत्वा चारणयोगीन्द्रं सा सुभद्रा जगाद च ॥ ४ ॥
ब्रूहि भो भगवन्मेत्र तपोलक्ष्मीर्भविष्याति ।
नैवं वेति समाकर्ण्य मुनीन्द्रो ज्ञानलोचनः ॥ ५ ॥
ज्ञात्वा तस्या मनोभावं जगौ भो पुत्रि साम्प्रतम् ।
मिथ्यादेवस्य सेवां च कृत्वा सम्यक्त्वहानितांम् ॥ ६ ॥
मा कुरु त्वं, महान्पुत्रः सत्यं तेत्र भविष्यति ।
तच्छ्रुत्वा सा मुनिं नत्वा प्रहर्षेण गृहं गता ॥ ७ ॥
ततस्तस्याः प्रकुर्वन्त्या सद्धर्मं श्रीजिनोदितम् ।
कैश्चिद्दिनैः सुतो जात-श्चारुदत्तो गुणोज्ज्वलः ॥ ८ ॥

नाना महोत्सवैर्नित्यं स वृद्धिं प्राप सद्गुणैः ।
जीवानां कृतपुण्यानां माङ्गल्यं च दिने दिने ॥ ९ ॥
सर्वार्थमातुलस्योच्चैः पुत्रीं मित्रवतीं सतीम् ।
आग्रहेण कुटुम्बस्य स धीमान्परिणीतवान् ॥ १० ॥
तथाप्यसौ विरक्तः सन् चारुदत्तो विचक्षणः ।
कामसेवां विशुद्धात्मा न करोति कदाचन ॥ ११ ॥
तदा स्वपुत्रस्य मोहेन संगतिं गणिकादिभिः ।
सुभद्रा कारयामास तस्योच्चैर्लम्पटैर्जनैः ॥ १२ ॥
ततोसौ चारुदत्तश्च कुसंगात्तप्रदोषतः ।
मांसादिकेपि संसक्तः कुसंगः पापकारणम् ॥ १३ ॥
तथा द्वादशवर्षेषु षोडशस्वर्णकोटयः ।
वसन्तसेनया सार्द्धं भक्षितस्तेन वेश्यया ॥ १४ ॥
एकदा चारुदत्तस्य भार्यायाश्च समागतम् ।
दृष्ट्वाभरणसन्दोहं कुट्टिनी स्वसुतां जगौ ॥ १५ ॥
अहो पुत्रि त्वया शीघ्र-मिमं त्यक्त्वा धनोज्झितम् ।
अन्यस्मिन्सधने पुंसि प्रीतिः कार्या च सम्पदे ॥ १६ ॥
इत्याकर्ण्य तया सोपि वसन्तादिकसेनया ।
त्यक्तः धनप्रिया लोके वेश्या नैव स्थिरस्थितिः ॥ १७ ॥
ततश्च चारुदत्तोसौ वञ्चितो भोगतस्करैः ।
स्वभार्यायाः समादाय तदाभरणसञ्चयम् ॥ १८ ॥
उलूखाख्यस्थदेशस्थ-मुशिरावर्त्तपत्तनम् ।
मातुलेन समं गत्वा तस्मात्कर्पासकं मुदा ॥ १९ ॥

गृहीत्वा ताम्रलिप्ताख्यां पुरीं प्रति चचाल च ।
महाटव्यां स कर्पासो दग्धो दावाग्निना तदा ॥ २० ॥
अहो पुण्यं विना जन्तो-र्नोद्यमो सिद्धिदो भवेत् ।
तस्मात्पुण्यं जिनेन्द्रोक्तं कर्त्तव्यं धीधनैः सदा ॥ २१ ॥
आपृच्छ्य मातुलं तस्मा-दुद्वेगात्पीडिताशयः ।
नाम्ना समुद्रदत्तस्य कस्यचिज्जलयानके ॥ २२ ॥
स्थित्वासौ पवनद्वीपं गत्वा लक्ष्मीकृते ततः ।
धनं चोपार्ज्य कष्टेन समागच्छन्यदा तदा ॥ २३ ॥
पापतः स्फुटितः पोतो हा कष्टं पापचेष्टितम् ।
एवं सप्तसु वारेषु यानेषु स्फुटितेषु च ॥ २४ ॥
किञ्चित्पुण्यात्समासाद्य फलकं गुरुवाक्यवत् ।
समुत्तीर्य समुद्रं स प्राप्तो राजगृहं परम् ॥ २५ ॥
तत्रैको विष्णुमित्राख्यः परिव्राजकक: कुधीः ।
चारुदत्तं समालोक्य दुष्टात्मा संजगाविति ॥ २६ ॥
भो पुत्रत्वं समागच्छ भीमाटव्यां प्रवर्त्तते ।
नितम्बे पर्वतस्योच्चै-र्महाधेनुरसोधिकम् ॥ २७ ॥
तुभ्यं ददामि तं पूतं येन दारिद्र्यसञ्चयः ।
क्षयं याति तवेदानीं तदाकर्ण्य वणिक्सुतः ॥ २८ ॥
चारुदत्तो वदत्तात कुरु त्वेवं मम ध्रुवम् ।
धनाशालम्पटा लोके दुर्जनैः के न वञ्चिताः ॥ २९ ॥
ततस्तेन गिरिं नीत्वा नितम्बस्थितकूपकम् ।
तत्करे तुम्बकं दत्वा वरत्राबद्धसिक्यके ॥ ३० ॥

धृत्वा प्रवेशितः सोपि रसं गृह्णन्निजेच्छया ।
तत्रस्थितेन चैकेन निषिद्धश्चारुदत्तकः ॥ ३१ ॥
ततः प्राह सुधीः कस्त्वं सोपि कूपस्थितोऽवदत् ।
उज्जयिन्यां महापुर्यां धनदत्तोहकं वणिक् ॥ ३२ ॥
गत्वा च सिंहलद्वीपं तस्माद्व्याघुटितोम्बुधौ ।
भग्ने याने धनैर्हीनः परिव्राजककेन तु ॥ ३३ ॥
वञ्चित्वानेन दुष्टेन गृहीत्वा रसतुम्बकम् ॥
कर्त्तित्वा वरत्रां च निक्षिप्तः कूपकेऽशुभात् ॥ ३४ ॥
रसेन भक्षिताः प्राणाः साम्प्रतं यान्ति मे ध्रुवम् ।
इत्याकर्ण्य जगौ सोपि रसोस्मै किं न दीयते ॥ ३५ ॥
कूपस्थोपि जगावेवं यद्यस्मै स न दीयते ।
तदा पाषाणकैरेष चोपसर्गं करिष्यति ॥ ३६ ॥
तच्छ्रुत्वा चारुदत्तश्च सुधीर्बुद्धिप्रपञ्चतः ।
तस्मै पापात्मने दत्वा तुम्बकं रससंभृतम् ॥ ३७ ॥
धृत्वा द्वितीयवेलायां सिक्ये पाषाणकं पुनः ।
दत्वा तस्मै स्वयं तत्र कूपेसौ यत्नतः स्थितः ॥ ३८ ॥
स परिव्राजकश्चापि समाकृष्य वरत्रिकाम् ।
कर्त्तित्वा रसमादाय पापिष्ठः स्वगृहं गतः ॥ ३९ ॥
ततोऽसौ चारुदत्तेन कूपस्थो भाणितो मुदा ।
त्वया मे जीवितं दत्तं तवेदानीं ददाम्यहम् ॥ ४० ॥
सुगतेः साधनोपायं जिनेन्द्रैः परिकीर्त्तितम् ।
इत्युत्वा च तथा तस्मै स्वर्गमोक्षसुखप्रदान् ॥ ४१ ॥

सारपञ्चनमस्कारान्संन्यासेन समन्वितान् ।
दत्वा तेन पुनः पृष्टो भक्त्यासौ कूपसंस्थितः ॥ ४२ ॥
कोपि निःसरणोपायो वर्त्तते ब्रूहि मे सुधीः ।
तन्निशम्य स च प्राह शृणु त्वं भो विचक्षण ॥ ४३ ॥
अद्य पीत्वा रसं गोधा गता प्रातः समेष्यति ।
पुच्छं तस्या गृहीत्वा त्वं गच्छ स्वेच्छाशयः स्वयम् ॥ ४४ ॥
इति श्रुत्वा प्रभातेसौ चारुदत्तो गुणोज्वलः ।
तथा निर्गत्य कूपाच्च गतोटव्यां सुधीरधीः ॥ ४५ ॥
महाटवीं परित्यज्य ततो गच्छन्निजेच्छया ।
दृष्टोसौ रुद्रदत्तारव्य-मातुलेन मनोहरः ॥ ४६ ॥
चारुदत्त समागच्छ रत्नद्वीपं सुखप्रदम् ।
शीघ्रमावां प्रगच्छाव-स्तेनासो भणितो मुदा ॥ ४७ ॥
गन्तुकामौ ततस्तौ द्वौ रत्नद्वीपं धनाशया ।
छागपृष्ठं समारुह्य चलितौ छागमार्गतः ॥ ४८ ॥
पर्वतोपरि गत्वासौ रुद्रदत्तोवदत्तदा ।
पापी रौद्राशयश्चेति शृणु त्वं चारुदत्त भो ॥ ४९ ॥
हत्वा छागौ परावृत्य चर्मसं स्थीयतेत्र च ।
भेरुण्डपक्षिणौ शीघ्रं समागत्य पलाशया ॥ ५० ॥
आवां चंच्वा समादाय रत्नद्वीपं प्रयाष्यतः ।
इत्युच्चैः प्रेरितश्चापि तेनासौ करुणापरः ॥ ५१ ॥
चारुदत्तो निजं छागं नैव मारयति स्म च ।
न कुर्वन्ति दुराचारं सन्तः कस्मादपि ध्रुवम् ॥ ५२ ॥

सोपि छागस्ततस्तेन रुद्रदत्तेन मारितः ।
ये दुष्टा निर्दयास्तेत्र किं न कुर्वन्ति पातकम् ॥ ९३ ॥
चारुदत्तस्तदा तस्मै छागायोच्चैः सुखप्रदान् ।
सारपञ्चनमस्कारान्संन्यासं च प्रदत्तवान् ॥ ९४ ॥
धर्मिणो येत्र वर्तन्ते ज्ञातश्रीजिनसद्गिरः ।
नित्यं परोपकाराय सन्ति ते परमार्थतः ॥ ९५ ॥
छागयोश्चर्मभस्त्रायां तौ प्रविश्य स्थितौ ततः ।
रत्नद्वीपात्समागत्य तदा भेरुण्डपक्षिणौ ॥ ९६ ॥
तौ समादाय चञ्चुभ्यां रत्नद्वीपं विनिर्गतौ ।
द्वयोर्भेरुण्डयोर्युद्धे नभोभागे स्वपापतः ॥ ९७ ॥
दुष्टात्मा रुद्रदत्तोऽसौ समुद्रे पतितस्तदा ।
मृत्वा च दुर्गतिं प्राप क्व भवेत्पापिनां शुभम् ॥ ९८ ॥
चारुदत्ताश्रितां भस्त्रां रत्नद्वीपे मनोहरे ।
रत्नचूलगिरिं नीत्वा भेरुण्डस्तां विदार्य च ॥ ९९ ॥
चारुदत्तं समालोक्य भीत्वा पक्षी स नष्टवान् ।
लोके पुण्यवतां पुंसां दुष्टाश्चापि हितंकराः ॥ ६० ॥
तत्रातापेन योगस्थं रत्नचूलगिरौ मुनिम् ।
दृष्ट्वा तत्पादयोर्लग्न-श्चारुदत्तोतिभक्तितः ॥ ६१ ॥
पूर्णयोगस्तदा प्राह मुनीन्द्रः शुद्धमानसः ।
अस्ति भो कुशलं चारु-दत्त ते गुणमण्डित ॥ ६२ ॥
तदाकर्ण्य मुनेर्वाक्यं सन्तुष्टश्चारुदत्तवाक् ।
क्व भो मुने त्वया दृष्टः सेवकश्चेत्यहं जगौ ॥ ६३ ॥

तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह शृणु त्वं भानुनन्दन ।
अमिताख्यो महाविद्या-धरोहं चैकदा मुदा ॥ ६४ ॥
चम्पायां कदलीवृक्ष-वने शोभासमन्विते ।
क्रीडां कर्त्तुं गतो धीर वसन्तप्रियया युतः ॥ ६५ ॥
धूमसिंहखगः पापी तत्रागत्य दुराशयः ।
वसन्तश्रियमालोक्य महाकन्दर्पपीडितः ॥ ६६ ॥
कीलित्वा मां छलेनोच्चैः पादपे निजविद्यया ।
तां समादाय मे भार्यां नभोभागे गतो द्रुतम् ॥ ६७ ॥
तस्मिन्नेव क्षणे वत्स मम पुण्यप्रभावतः ।
क्रीडितुं त्वमपि प्राप्तः सूत्रोत्कृष्टदयानिधिः ॥ ६८ ॥
त्वां विलोक्य मया प्रोक्तं तस्मिन्मे करके सुधीः ।
तिस्रश्चौषधयः सन्ति दुष्टविद्याक्षयप्रदाः ॥ ६९ ॥
ताः पिष्ट्वा त्वं प्रयत्नेन देहि मे वपुषि ध्रुवम् ।
भवाम्युत्कीलितो येन भो मित्रेति गुणाकरः ॥ ७० ॥
तासु त्वया प्रदत्तासु ममाङ्गे भूरियत्नतः ।
निःशल्योहमभूवं हि प्राणी वा सद्गुरोर्मतात् ॥ ७१ ॥
ततः कैलासनामानं गत्वाहं वेगतो गिरिम् ।
धूमसिंहं खगं जित्वा गृहीत्वा कामिनीं निजाम् ॥ ७२ ॥
पश्चादागत्य भक्त्या त्वं भणितोसि मया मुदा ।
वरं प्रार्थय भो मित्र मनोभीष्टमिति स्फुटम् ॥ ७३ ॥
त्वया प्रोक्तं न मे कार्यं वरेणेति महाधिया ।
कृत्वा परोकारं हि सन्तो वाञ्छन्ति किं धनम् ॥ ७४ ॥

ततोहं दक्षिणश्रेण्यां शिवमन्दिरपत्तने ।
राज्यं भुक्त्वा कियत्कालं नाना भोगैः समन्वितम् ॥ ७५ ॥
त्रिधा वैराग्यमासाद्य क्षिप्त्वा राज्यं सुपुत्रयोः ।
नाम्ना सिंहयशश्चारु-वराहग्रीवसंज्ञयोः ॥ ७६ ॥
जैनीं दीक्षां समादाय भवभ्रमणनाशिनीम् ।
चारणर्द्धिमुनिर्भूत्वा करोम्यत्र महातपः ॥ ७७ ॥
इत्यादिकं मुनिप्रोक्तं श्रुत्वासौ परमादरात् ।
चारुदत्तः सुधीस्तुष्टो यावत्तत्र सुखास्थितः ॥ ७८ ॥
अत्रान्तरे समायातौ वन्दनार्थं खगाधिपौ ।
स्वपुत्रौ प्रति योगीन्द्र-श्चारुदत्तकथां जगौ ॥ ७९ ॥
तस्मिंश्चापि क्षणे छाग-चरदेवेन धीमता ।
तत्रागत्य प्रणामश्च चारुदत्ताङ्घ्रिके कृतः ॥ ८० ॥
तेनोक्तं चारुदत्तेन नैव युक्तं सुरोत्तम ।
कर्त्तुं मे ते नमस्कारं विद्यमाने महामुनौ ॥ ८१ ॥
तच्छ्रुत्वा स सुरः प्राह शृणु त्वं भो सुधीः पुरा ।
पापिना रुद्रदत्तेन मारितायाजकाय मे ॥ ८२ ॥
संन्यासपूर्वक दत्ता त्वया पञ्चनमस्कृतिः ।
तत्प्रभावेन सौधर्मे देवो जातोहमद्भुतः ॥ ८३ ॥
तस्मात्त्वमेव मे स्वामिन्गुरुः सन्मार्गदर्शकः ।
इत्युक्त्वा स ततो देवो महाधर्मानुरागतः ॥ ८४ ॥
वस्त्राभरणसन्दोहै-श्चारुदत्तं गुणोज्वलम् ।
समभ्यर्च्य पुनर्नत्वा स्वर्गलोकं गतो मुदा ॥ ८५ ॥

परोपकारिणो लोके सन्ति ये बुधसत्तमाः ।
कैः सुराद्यैर्न पूज्यन्ते महाभक्तिभरैश्च ते ॥ ८६ ॥
ततः सिंहयशाः सोपि वराहग्रीवसंज्ञकः ।
विद्याधरेशिनौ तौ द्वौ नत्वा तं मुनिनायकम् ॥ ८७ ॥
चारुदत्तवणिक्पुत्रं नाना रत्नादिभिर्युतम् ।
नीत्वा चम्पापुरीं भूत्या भक्त्या संस्थाप्य सौख्यतः ॥ ८८ ॥
तं प्रणम्य समापृच्छ्य स्वस्थानं जग्मतुः सुखम् ।
अहो पुण्येन जीवानां किं न जायेत भूतले ॥ ८९ ॥
तस्माच्छ्रीमज्जिनेन्द्रोक्तः सद्धर्मोसौ चतुर्विधः ।
दानपूजाव्रतैः शीलैः पालनीयो बुधैः श्रिये ॥ ९० ॥
भानुः श्रेष्ठी सुभद्रा सा चारुदत्तागमे तदा ।
अन्ये चम्पापुरीलोकाः प्रीतिं प्राप्ता महाद्भुताम् ॥ ९१ ॥
चारुदत्तः सुधीश्चापि भुक्त्वा भोगान्स्वपुण्यतः ।
समाराध्य जिनेन्द्रोक्तं धर्मशर्माकरं चिरम् ॥ ९२ ॥
ततो वैराग्यमासाद्य सुन्दराख्यसुताय च ।
दत्वा श्रेष्ठिपदं पूतं दीक्षां जैनेश्वरीं श्रितः ॥ ९३ ॥
संन्यासविधिना कालं कृत्वासौ शल्यवर्जितः ।
स्वर्गलोकं समासाद्य देवो जातो महर्द्धिकः ॥ ९४ ॥
तत्र भोगान्सुभुञ्जानः स्वर्गलोकसमुद्भवान् ।
कुर्वन्यात्रां जिनेन्द्राणां महास्वर्णाचलादिषु ॥ ९५ ॥
साक्षात्तीर्थंकरानुच्चैः केवलज्ञानलोचनान् ।
चारुदत्तचरो देवः समभ्यर्चत्सुभक्तितः ॥ ९६ ॥

श्रृण्वन् जैनेश्वरीं वाणी-माप्तेभ्यः शर्मदायिनीम् ।
इत्यादिधर्मसंसक्तः स देवः सुखतःस्थितः ॥ ९७ ॥
श्रीमत्सारसुरेन्द्रचन्द्रनिकरैर्नागेन्द्रसत्खेचरैः
षट्खण्डाधिपभूचरैश्च नितरां भक्त्या सदाभ्यर्चितम् ।
धर्मं श्रीजिनभाषितं शुचितरं स्वर्गापवर्गप्रदं
नित्यं सारसुखाय शर्मनिलयं सन्तः श्रयन्त्वञ्जसा ॥ ९८ ॥

इति कथाकोशे चारुदत्तकथा समाप्ता ।

३६—पाराशरकथा ।

नत्वा श्रीमज्जिनं देवं ज्ञातुं चान्यमतं सताम् ।
वक्ष्ये पाराशरस्याहं कुमुनेर्लौकिकी कथा ॥ १ ॥
हस्तिनागपुरे पूर्वं गंगादिभटधीवरः ।
एकदासौ महामत्सीं धृत्वा जालेन पापधीः ॥ २ ॥
तां निहन्ति यदा ताव-त्तस्याः कुक्षेर्विनिर्गता ।
कन्यासद्रूपसंयुक्ता महादुर्गन्धविग्रहा ॥ ३ ॥
तेन सत्यवतीत्युक्त्वा पोषिता धीवरेण च ।
हा कष्टं दुर्दृशां शास्त्रं सर्वमेतदसत्यकम् ॥ ४ ॥
गंगातीरे च तां कन्यां सनावं सोपि धीवरः ।
धृत्वा गंगभटो गेहं गतश्चैकदिने मुदा ॥ ५ ॥
ततो ग्राम्यमुनिस्तत्र नाम्ना पाराशरः कुधीः ।
मार्गश्रान्तः समागत्य नद्यास्तीरे निजेच्छया ॥ ६ ॥

गन्तुं नदीं समुत्तीर्य तां जगाद सुकन्यकाम् ।
एहि मां नय भो कन्ये नद्याः पारं मनोहरम् ॥ ७ ॥
तयागत्य तदा शीघ्रं नौ मध्येसौ धृतः सुखम् ।
नीयमानः पुनः प्राह दृष्ट्वा तद्रूपमद्भुतम् ॥ ८ ॥
मामिच्छेति समाकर्ण्य कन्या सत्यवती जगौ ।
दुर्जातिर्दुष्टगन्धाहं कथं स्पर्शं करोमि ते ॥ ९ ॥
त्वं तपस्वी सदा गंगा-नदीस्नानविधायकः ।
शापानुग्रहसंयुक्तो बिभेमीति स्वचेतसि ॥ १० ॥
ततस्तस्याश्च दुर्गन्धं स्फेटयित्वा स्वविद्यया ।
सुगन्धकुसुमामोदं स चक्रे तच्छरीरकम् ॥ ११ ॥
तया प्रोक्तमहो स्वामिँल्लोकाः पश्यन्ति सर्वतः ।
तदासौ धूमरीं कृत्वा नौ मध्ये कामलम्पटः ॥ १२ ॥
द्वीपं तत्र विधायोच्चैः परिणीय न तां पुनः ।
कामसेवां तया सार्द्धं यावत्पाराशरो व्यधात् ॥ १३ ॥
तत्क्षणे पञ्चकूर्चादि-जटायज्ञोपवीतभीक् ।
व्यासनामाऽभवत्पुत्रः पितुश्चक्रेऽभिवादनम् ॥ १४ ॥
लौकिकं लपितं चेति मत्तचेष्टा समानकम् ।
कस्य चित्ते समायाति सद्दृष्टेर्ज्ञानचक्षुषः ॥ १५ ॥
इत्थं मत्तजनप्रजल्पितमिमं भक्त्या कुवादीरितं
विद्वद्भिर्जिनतत्वसारनिपुणैः सार्द्धं सदा संगतिम् ।
कृत्वा श्रीजिनधर्मकर्मणि रता भूत्वा स्वयं भक्तितो
नित्यं शास्त्रमहाशुभे शुचिमतिं कुर्वन्तु सन्तः श्रियै ॥ १६ ॥

इति कथाकोशे पाराशरस्य लौकिकी कथा समाप्ता ।

३७–सात्यकिरुद्रयोः कथा।

श्रीजिनं केवलज्ञान-लोचनं सम्प्रणम्य च।
वक्ष्येहं पूर्वसूत्रेण कथां सात्यकिरुद्रयोः ॥ १ ॥
गन्धारविषये रम्ये महेश्वरपुरेभवत्।
राजा सत्यन्धरस्तस्य राज्ञी सत्यवती मता ॥ २ ॥
तयोः सात्यकिनामाभूत्पुत्रो राजकलान्वितः।
राजाविद्यां विना राजा राजते नैव भूतले ॥ ३ ॥
सिन्धुदेशे विशालाख्य-पत्तने चेटको नृपः।
श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्ज-सेवनैकमधुव्रतः ॥ ४ ॥
तस्य राज्ञी सुभद्राऽभूत्सती व्रतमतल्लिका।
पुत्र्यस्तयोः समुत्पन्नाः सप्त सद्रूपमण्डिताः ॥ ५ ॥
तासामाद्याभवत्पुत्री पवित्रा प्रियकारिणी।
मृगावती द्वितीया च तृतीया सुप्रभा मता ॥ ६ ॥
प्रभावती चतुर्थी च पञ्चमी चेलिनी शुभा।
ज्येष्ठा षष्ठी बुधैः प्रोक्ता सप्तमी चन्दना सती ॥ ७ ॥
अथाभयकुमारेण श्रेणिकाय महीभुजे।
चेलिन्या भूमिमार्गेण प्रच्छन्नं नीयमानया ॥ ८ ॥
सा ज्येष्ठाभरणव्याजा-द्वञ्चिता दुःखिता सती।
यशस्वत्यर्यिकापार्श्वे दीक्षां जग्राह भक्तितः ॥ ९ ॥
सात्यकेस्तस्य सा ज्येष्ठा पूर्वं दत्तास्ति वाक्यतः।
तस्या दीक्षां समाकर्ण्य सात्यकिस्तु विरक्तधीः ॥ १० ॥
मुनेः समाधिगुप्तस्य नत्वा पादद्वयं मुदा।
जिनदीक्षां समादाय सोपि जातो मुनिस्तदा ॥ ११ ॥

एकदा वर्द्धमानस्य श्रीमत्तीर्थकरेशिनः ।
वन्दनार्थं प्रगच्छन्त्यो यशस्वत्यर्यिकादयः ॥ १२ ॥
महाटव्यामकालोत्थ-वृष्ट्या ताः पीडितास्तराम् ।
इतस्ततो गताः कष्टं प्रावृट्कालो हि दुःसहः ॥ १३ ॥
जेष्ठा कालगुहामध्यं संप्रविश्य स्ववाससः ।
चक्रे निपीडनं चित्ते मत्वैकान्तं निजेच्छया ॥ १४ ॥
अन्धकारे स्थितस्तत्र सात्यकिः स मुनिस्तदा ।
तां दृष्ट्वा विह्वलीभूत-मानसोजनि पापतः ॥ १५ ॥
तद्वपुर्वन्हिना मूढः स्वकीयं शीलरत्नकम् ।
भस्मीचकार हा कष्टं कामान्धः किं करोति न ॥ १६ ॥
ततस्तदिङ्गितैर्ज्ञात्वा यशस्वत्यार्यिका सती ।
नीत्वा ता चेलिनीपार्श्वे स्थापयामास शुद्धधीः ॥ १७ ॥
प्रच्छन्न च तया ज्येष्ठा चेलिन्या स्वगृहे धृता ।
सद्दृष्टयः प्रकुर्वन्ति दर्शनच्छादनं महत् ॥ १८ ॥
सा ज्येष्ठा नवभिर्मासैः प्रसूता तनुजं ततः ।
चेलिन्यास्तनुजो जातः श्रेणिकेनेति घोषितम् ॥ १९ ॥
कैश्चिद्दिनैरसौ सार्द्धं वृद्धिं प्राप दुराशयैः ।
यो वृक्षो मूलतो नष्टस्तत्फले कात्र मिष्टता ॥ २० ॥
एकदा रौद्रभावेन मारयत्परपुत्रकान् ।
चेलिन्या रुष्टया सोपि रुद्रनामेति जल्पितः ॥ २१ ॥
तथैकदा कृतेऽन्याये चेलिनी प्राह कोपतः ।
अन्येन जनितोप्ययन्नं सन्तापयति पापधीः ॥ २२ ॥

तच्छ्रुत्वा रुद्रकश्चित्ते किमप्यत्रास्ति कारणम् ।
विचार्येति नृपं प्राह को मे तातो महाग्रहात् ॥ २३ ॥
ततः कष्टेन तेनोक्तं समाकर्ण्य स्ववृत्तकम् ।
गत्वा सात्यकिसान्निध्ये रुद्रो दीक्षां गृहीतवान् ॥ २४ ॥
ततश्चैकादशाङ्गानि दशपूर्वमहाश्रुतम् ।
तस्योच्चैः पठतः शास्त्र-प्रभावेण समागता ॥ २५ ॥
विद्याः पञ्चशतान्याशु महत्यश्च तथा पराः ।
लघ्व्यः सप्तशतान्येव विद्याः सिद्धा मनोहराः ॥ २६ ॥
लोभतः सोपि ता विद्याः स्वीचक्रे रुद्रकस्तदा ।
श्रेयसे न भवेल्लोभो भाविसौख्यक्षयंकरः ॥ २७ ॥
रुद्रस्ताभिश्च विद्याभि-र्गोकर्णगिरिमस्तके ।
महातापनयोगस्थं सात्यकिं तं मुनीश्वरम् ॥ २८ ॥
वन्दितुं ये समायान्ति भक्ता भव्यमतल्लिकाः ।
सिंहव्याघ्रादिरूपेण दुष्टस्तांस्त्रासयते तराम् ॥ २९ ॥
तदाकर्ण्य तकं प्राह सात्यकिर्मुनिसत्तमः ।
अहो रुद्र वृथा चेष्टां मा कुरु त्वं प्रकष्टदाम् ॥ ३० ॥
स्त्रीनिमित्तात्तपोभङ्गः संभाविष्यति ते कुधीः ।
इत्याकर्ण्य गुरोर्वाक्यं स रुद्रो दुष्टमानसः ॥ ३१ ॥
चेष्टां न मुञ्चति स्मोच्चै-स्तां करोति स्म पापतः ।
मानसे नैव तिष्ठन्ति पापिनां सद्गुरोर्गिरः ॥ ३२ ॥
ततः कैलासनामानं पर्वतं सुमनोहरम् ।
गत्वा तापनयोगेन स्थितोसौ मुनिमर्कटः ॥ ३३ ॥

अथेह विजयार्द्धे च दक्षिणश्रेणिसंस्थितम् ।
पुरं मेघनिबद्धाख्यं मेघादिनिचयं पुनः ॥ ३४ ॥
तथा मेघनिदानं च तेषु राजा महानभूत् ।
कनकादिरथो नाम्ना राज्ञी तस्य मनोहरा ॥ ३५ ॥
तयोः पुत्रौ समुत्पन्नौ देवदारुर्द्वितीयकः ।
विद्युज्जिह्वो महाविद्या-रूपसौभाग्यमण्डितौ ॥ ३६ ॥
एकदा स महाराज-स्त्रिधा वैराग्ययोगतः ।
देवदारुसुपुत्राय राज्यं दत्वा प्रमोदतः ॥ ३७ ॥
दीक्षां गणधराख्यस्य मुनेः पार्श्वे विकल्मषः ।
समादाय मुनिर्जातो भव्यसन्दोहतारकः ॥ ३८ ॥
कैश्चिद्दिनैस्ततः सोपि देवदारुखगाधिपः ।
निर्घाटितो लघुभ्रात्रा विद्युज्जिह्वेन लोभिना ॥ ३९ ॥
तस्मात्कैलासमागत्य संस्थितो मानभंगतः ।
कुटुम्बकलहेनात्र नष्टाः के के न भूतले ॥ ४० ॥
तस्याष्टौ च महाकन्याः प्रोल्लसद्रूपसम्पदाः ।
वाप्यां स्नातुं समायान्ता यत्रास्ते रुद्रको मुनिः ॥ ४१ ॥
यावद्वापी तटे धृत्वा वस्त्राभरणसंञ्चयम् ।
कन्यास्तोयं प्रविष्टास्ताः स्नानं कर्त्तुं निजेच्छया ॥ ४२ ॥
तदा तद्रूपसंसक्तः स रुद्रः स्मरपीडितः ।
विद्यया चोरयामास तासां वस्त्रादिकं कुधीः ॥ ४३ ॥
ततस्ताभिः समागत्य व्याकुलाभिः स्वेतसि ।
पृष्टः सोपि मुनिः स्वामिन्नस्माकं केन सहृतः ॥ ४४ ॥

वस्त्रालंकारसन्दोहो ब्रूहि भो नाथ वेगतः ।
आपदायां कुतो लज्जा प्राणिनां पापकर्मतः ॥ ४५ ॥
तेनोक्तं यदि मां यूय-मिच्छथेति सुनिश्चितम् ।
तदाहं दर्शयाम्युच्चै-र्युष्माकं सर्ववस्तुकम् ॥ ४६ ॥
ताभिरुक्तं यदास्माकं पिता तुभ्यं ददाति नः ।
त्वामिच्छामस्तदा सत्यं वाक्यमेतत्कुलस्त्रियः ॥ ४७ ॥
इत्युक्ते तेन तत्सर्वं तासामेव समर्पितम् ।
ताभिस्ततो गृहं गत्वा स्वपितुस्तं निरूपितम् ॥ ४८ ॥
तदाकर्ण्य ततस्तेन देवदारुखगेशिना ।
प्रधानः प्रेषितः शीघ्रं तत्समीपेषु कार्यवित् ॥ ४९ ॥
विद्युज्जिह्वं खगं हत्वा राज्यं मे त्रिपुरोद्भवम् ।
त्वं ददासि तदा तुभ्यं दीयन्ते सर्वकन्यकाः ॥ ५० ॥
इति श्रुत्वा प्रधानोक्तं सर्वमेवं करोम्यहम् ।
अंगीचकार तद्रुद्रः कामी किं न करोत्यघम् ॥ ५१ ॥
तदातेन खगेन्द्रेण नीतोसौ स्वगृहं मुदा ।
किं करोति न राज्यार्थं राज्यभ्रष्टो महीपतिः ॥ ५२ ॥
ततो रौद्रेण रुद्रेण स्वविद्यानां प्रभावतः ।
विजयार्द्धगिरिं गत्वा हत्वा तं दुष्टमानसम् ॥ ५३ ॥
विद्युज्जिह्वं खगाधीशं त्रिपुरेषु तदा द्रुतम् ।
देवदारुर्नृपो राज्ये स्थापितः सन्महोत्सवैः ॥ ५४ ॥
ततस्तेन महाभूत्या विद्याधरमहीभुजा ।
तस्मै रुद्राय ताः कन्या दत्ताश्चान्यास्तु भूरिशः ॥ ५५ ॥

तदा तस्य महातीव्र-कामसेवावशं गताः ।
अन्येषां भूभुजां कन्याः शतशश्च क्षयं ययुः ॥ ५६ ॥
ततोऽसौ पार्वतीख्यातां परिणीय गुणोज्वलाम् ।
संजातः कामभोगेषु सन्तुष्टो रुद्रको महान् ॥ ५७ ॥
दुरात्मना ततस्तेन सर्वे भूपादयस्तराम् ।
पीडिताः स्वस्य विद्याभि-र्दुष्टात्मा कस्य शान्तये ॥ ५८ ॥
ततस्तस्याश्च पार्वत्या-स्तातायैर्दुःखतो भृशम् ।
कामसेवाक्षणे तस्य विद्यास्तिष्ठन्ति दूरतः ॥ ५९ ॥
इति ज्ञात्वा स संभोग-समये क्रूरमानसः ।
सस्त्रीको मारितः कष्टं पापिनां सुहृदोऽरयः ॥ ६० ॥
तदा तस्य महाविद्याः स्वनाथमरणक्षणे ।
प्रजानां पीडनं चक्रु-र्नाना व्याधिशतैस्तराम् ॥ ६१ ॥
ततो ज्ञानिमुनेर्वाक्यात्कस्यचित्ते पुनर्जनाः ।
एकवारं स्वशान्त्यर्थं कृत्वा लिङ्गं क्षमां जगुः ॥ ६२ ॥
इदं तस्मान्महामूढो गड्डुरीणां प्रवाहवत् ।
देवत्वं मानसे ज्ञात्वा मानयन्ति स्म दुर्दृशः ॥ ६३ ॥
देवोऽर्हन्दोषनिर्मुक्तो देवेन्द्राद्यैः प्रपूजितः ।
केवलज्ञानसाम्राज्यो नान्यो रागादिदूषितः ॥ ६४ ॥
सकलभुवननाथैः पूजितो भक्तिभारैः
विमलतरगुणौघैः केवलज्ञानचन्द्रः ।
निखिलसुखसुदाता सर्वसन्तापहर्त्ता
स जयतु जगदेकः श्रीजिनो मे प्रशान्त्यै ॥ ६५ ॥

इति कथाकोशे सात्यकिरुद्रयोः कथा समाप्ता ।

३८–ब्रह्मणः कथा ।

नत्वा जिनं जगत्पूज्य-माद्यब्रह्माणमद्भुतम् ।
ब्रवीति देवपुत्रोसौ वक्ष्येहं लौकिकीं कथाम् ॥ १ ॥
एवं मूढाः प्रजल्पन्ति ब्रह्मासावेकदामुदा ।
इन्द्रादीनां पदं जित्वा सर्वोत्कृष्टो भवाम्यहम् ॥ २ ॥
इत्यास्थया महाटव्या-मूर्द्धबाहुः प्रकष्टतः ।
देवतार्द्धचतुर्वर्ष-सहस्राणि महातपः ॥ ३ ॥
कुर्वन्नेकपदेनोच्चै-र्भुञ्जानः पवनं स्थितः ।
तपःशक्त्या तदेन्द्रादे-र्जातमासनकम्पनम् ॥ ४ ॥
इन्द्रनागेन्द्ररुद्राद्याः स्वराजक्षयभीतितः ।
अप्सरोरूपमादाय कृत्वा देवीं तिलोत्तमाम् ॥ ५ ॥
नाना गन्धर्वसद्गान-पेटकाद्यैः समान्विताम् ।
तत्पार्श्वे प्रेषयामासुः सत्तपःक्षयहेतवे ॥ ६ ॥
सापि स्वर्गात्समागत्य तत्ससीपे सुरांगना ।
हावैर्भावैर्विलासाद्यैः संचक्रे नर्त्तनं महत् ॥ ७ ॥
सोपि तद्रूपसंसक्तो भूत्वा ब्रह्मा स्वमानसे ।
प्रोत्फुल्ललोचनस्तां च पश्यति स्म स्मरोहतः ॥ ८ ॥
तच्चित्तं सा परिज्ञात्वा विद्धं कन्दर्पसायकैः ।
ब्रह्मणो वामपार्श्वे च गत्वा नृत्यं चकार च ॥ ९ ॥
दिव्यवर्षसहस्रोत्थ-तपसा दारुणेन च ।
तत्रापि वामपार्श्वेसौ चक्रे वक्त्रं द्वितीयकम् ॥ १० ॥
एवं क्रमात्तदासक्तो जातोसौ चतुराननः ।
ऊर्द्धे च गर्दभाकारं स्वतुण्डं कृतवान्पुनः ॥ ११ ॥

सा नर्त्तकी तपो भ्रष्टं तं विधायेति धूर्त्तिका ।
स्वर्गं गत्वा सुरेन्द्राणां नत्वा तद्वृत्तकं जगौ ॥ १२ ॥
भो स्वामिनः सुखं नित्यं यूयं तिष्ठथ लीलया ।
कन्दर्पमूर्च्छितो ब्रह्मा सम्पपात महीतले ॥ १३ ॥
इन्द्रेणोक्तं तदाकर्ण्य तत्र किं त्वं स्थिता न हि ।
सा जगादेति भो देव वृद्धोसौ नैव रोचते ॥ १४ ॥
ततः कारुण्यभावेन देवेन्द्रेण महाधिया ।
उर्वशी प्रेषिता वेश्या तत्समीपे मनोहरा ॥ १५ ॥
सापि तत्र समागत्य शक्रादेशेन भक्तितः ।
कृत्वा तत्पादसंस्पर्शं चक्रे तं च सचेतनम् ॥ १६ ॥
तदा तामुर्वशीं प्राप्य गृहं कृत्वा निजेच्छया ।
नाना भोगान्प्रभुञ्जानः स ब्रह्मा लौकिकः स्थितः ॥ १७ ॥
अहो मूढा न जानन्ति देवं देवस्वरूपकम् ।
जल्पन्ति मत्तवन्नित्यं स्वेच्छया सत्यवर्जितम् ॥ १८ ॥
इन्द्रादीनां पदं दिव्यं गृह्यते केन तद्धठात् ।
किं दुराचारमित्युच्चैः कुर्वन्ति सुरयोषितः ॥ १९ ॥
यो ब्रह्मा त्रिजगद्देवः किं करोति कुकर्म सः ।
सर्वमेतदसत्यं हि ज्ञातव्यं नीतिवेदिभिः ॥ २० ॥
श्रीमज्जिनागमे प्रोक्तो ब्रह्मासौ पञ्चधा ध्रुवम् ।
मोक्षे तथाऽऽत्मनिज्ञाने चारित्रे वृषभप्रभुः ॥ २१ ॥
अन्यथा न परो ब्रह्मा विद्यते भुवनत्रये ।
रागादिदूषितः कामी कथं देवो भवेद्भुवि ॥ २२ ॥

यस्तु रागादिभिर्मुक्तो लोकालोकप्रकाशकः ।
केवलज्ञानसच्चक्षुः स मे ब्रह्मा वृषध्वजः ॥ २३ ॥
यो जानात्यखिलं जगत्त्रयमिदं सत्केवलज्ञानभाक्
भव्याम्भोरुहभास्करोतिचतुरः संसारनिस्तारकः ।
ब्रह्मा श्रीवृषभेश्वरो गुणनिधिः स्वर्गापवर्गप्रदः
स स्यान्मे भवशान्तये शुचितरो देवेन्द्रवर्यैः स्तुतः ॥ २४ ॥

इति कथाकोशे लौकिकस्य ब्रह्मणः कथा समाप्ता ।

३९—परिग्रहाद्भीतस्य धनदत्तस्य कथा ।

नत्वा निर्ग्रन्थनाथेशं श्रीजिनं परमेश्वरम् ।
ग्रन्थोत्पन्नं भयं प्राप्तौ भ्रातरौ तत्कथां ब्रुवे ॥ १ ॥
दशार्णविषये रम्ये पुरे चैकरथाभिधे ।
धनदत्तोभवच्छ्रेष्ठी धनदत्ता प्रिया तयोः ॥ २ ॥
संजातौ धनदेवाख्य-धनमित्रौ सुतोत्तमौ ।
धनमित्राभवत्पुत्री स्वरूपगुणमण्डिता ॥ ३ ॥
धनदत्ते मृते तस्मिन्तौ पुत्रौ पापकर्मणा ।
दारिद्र्येण महाकष्टं पीडितौ शर्महारिणा ॥ ४ ॥
कौशाम्बीं नगरीं गत्वा प्रणम्य निजमातुलम् ।
ऊचतुः साश्रुपातं च स्वपितुर्मरणं तदा ॥ ५ ॥
मातुलोपि ततो धीमान् श्रुत्वा तद्वृत्तकं तयोः ।
समुद्धीर्य शुभैर्वाक्यै-रष्टानर्घ्यमणीन्ददौ ॥ ६ ॥

बन्धुत्वं तद्दयालुत्वं गम्भीरत्वं तदेव च ।
अर्थिनां यन्निजैर्वित्तै-र्भवेदाशाप्रपूरणम् ॥ ७ ॥
तौ तान्मणीन्समादाय मार्गे तल्लोभतस्तराम् ।
चिन्तयामासतुश्चित्ते मारणं च परस्परम् ॥ ८ ॥
ततः स्वपुरसान्निध्यं समागत्य स्वमानसे ।
पश्चात्तापं विधायोच्चै-स्तौ प्रकाश्य मनोमलम् ॥ ९ ॥
क्षिप्त्वा वेत्रवतीनद्यां तान्मणीन्गृहमागतौ ।
मत्स्येन गिलितास्ते तु मांसं मत्वा सुपापिना ॥ १० ॥
ततोसौ धीवरेणैव हतस्तोयचरः पुनः ।
तयोर्मातुः करे प्राप्ता मणयः कर्मयोगतः ॥ ११ ॥
तदासौ धनदत्तोपि मणीनादाय मानसे ।
पुत्रपुत्रीमहाघातं चिन्तयामास लोभतः ॥ १२ ॥
पुनर्निन्दां निजां कृत्वा स्वपुत्र्यै संददौ मणीन् ।
गृहीत्वा धनमित्रा च महापापप्रमोहिता ॥ १३ ॥
सापि स्वभ्रातृमातॄणां चित्ते धत्ते स्म मारणम् ।
अहो कष्टं कुधीर्लोभो जन्तूनां पापकारणम् ॥ १४ ॥
ततस्तया निजे चित्ते पश्चात्तापं विधाय च ।
भ्रातृभ्यां मणयो दत्ता कष्टकोटिविधायकाः ॥ १५ ॥
तौ तान्मणीन्परिज्ञात्वा महावैराग्ययोग्यतः ।
त्यक्त्वा परिग्रहं सर्वं महाक्लेशस्य कारकम् ॥ १६ ॥
स्वमातृभगिनीयुक्तौ नत्वा दमधराभिधम् ।
मुनीन्द्रं परया भक्त्या स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ॥ १७ ॥

दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं सुरेन्द्राद्यैः समर्चिताम् ।
ज्ञातौ मुनी जगत्पूज्यौ निजात्मपरताकौ ॥ १८ ॥
मत्वैवं भवभूरिदुःखजनकं लोभं महापापदं
मातृभ्रातृकुटुम्बवञ्चनगृहं त्यक्त्वा त्रिधा धार्मिकैः ।
श्रीमज्जैनमते जगत्त्रयहिते धर्मे सुशर्मप्रदे
कर्त्तव्यं सुमनो दृढं प्रतिदिनं शुद्धं महाश्रेयसे ॥ १९ ॥

इति कथाकोशे परिग्रहाद्भयमिति कथा समाप्ता ।

४०–धनाद्भीतस्य सागरदत्तस्य कथा ।

प्रणम्य परमात्मानं श्रीजिनं केवलेक्षणम् ।
जातं भयं धनाच्चेति कथयामि कथानकम् ॥ १ ॥
कौशाम्ब्यां धनमित्राख्य-धनदत्तादयो मुदा ।
वाणिज्येन वणिक्पुत्रा निर्गता राजगेहकम् ॥ २ ॥
तस्करैश्च महाटव्यां पापिष्ठैस्तद्धनं हृतम् ।
हानिर्लोके विपुण्यानामुद्यमेपि भवेद्ध्रुवम् ॥ ३ ॥
चोरास्तेपि धनार्थं च मारणार्थं परस्परम् ।
रात्रौ चक्रुर्विषाहारं हा कष्टं दुष्ट चेष्टितम् ॥ ४ ॥
दस्यवस्ते तदाहारं भुक्त्वाशु प्राणनाशकम् ।
मृत्युं प्रापुः प्रकष्टेन क भवेत्पापिनां शुभम् ॥ ५ ॥
तेषां मध्ये वणिक्पुत्रः सुधीः सागरदत्तवाक् ।
रात्रिभुक्तिव्रतात्तेन न भुक्तं तद्विषान्नकम् ॥ ६ ॥

समालोक्य तदा सोपि तेषां मृत्युं विरक्तवान् ।
संत्यक्त्वा तद्धनं त्रेधा मुनिर्जातो जगद्धितः ॥ ७ ॥
एकेनापि जिनेन्द्रदेवकथिते नोच्चैर्व्रतेन स्वयं
ज्ञात्वा संसृतिचेष्टितं च हृदये विद्युच्चलं जीवितम् ।
त्यक्त्वा तच्च धनं विशिष्टचरणो ज्ञातो मुनिः शुद्धधीः
स श्रीसागरदत्तवाग्गुणनिधिः कुर्यात्सतां मंगलम् ॥ ८ ॥

इति कथाकोशे धनाढ्यीतस्य सागरदत्तस्य कथा समाप्ता ।

४१—धनाक्रमबुद्धिकुबेरदत्त-कथा ।

श्रीजिनं त्रिजगत्पूज्यं भारतीं भुवनोत्तमाम् ।
नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या वक्ष्ये संगकथानकम् ॥ १ ॥
देशे मणिवते ख्याते पुरे मणिवताभिधे ।
राजा मणिवतो नाम्ना तद्राज्ञी पृथिवीमती ॥ २ ॥
तत्पुत्रो मणिचन्द्राख्यः संजातो गुणसंयुतः ।
शूरो धीरोतिगंभीरो राजविद्याविराजितः ॥ ३ ॥
स राजा पूर्वपुण्येन कुर्वन्राज्यं निजेच्छया ।
संस्थितः श्रीजिनेन्द्रोक्त-धर्मकर्मपरायणः ॥ ४ ॥
दानं भक्त्या सुपात्रेषु पूजां श्रीमज्जिनेशिनाम् ।
नित्यं परोपकारं च करोति स्म स भूपतिः ॥ ५ ॥
एकदा पृथिवीदेवी कुर्वती केशसंस्कृतिम् ।
मस्तके स्वपतेः केशं पलितं वीक्ष्य सा ददौ ॥ ६ ॥

दृष्ट्वा मणिवतो राजा केशं वा यमपाशकम् ।
त्रिधा वैराग्यमापन्नो जैनतत्वविदाम्वरः ॥ ७ ॥
स्वराज्यं मणिचन्द्राय दत्वा पुत्राय धीमते ।
कृत्वा पूजां जिनेन्द्राणां महास्नपनपूर्वकम् ॥ ८ ॥
दानं दत्वा यथायोग्य-मर्थिभ्यो विनयान्वितः ।
जिनदीक्षां समादाय मुनिर्जातो जगद्धितः ॥ ९ ॥
एकदासौ विशुद्धात्मा संस्मरञ्जिनपादयोः ।
एकाकी विहरन्धीमा-नुज्जयिन्याः श्मशानके ॥ १० ॥
समागत्य स्थितो रात्रौ धीरो मृतकशय्यया ।
ध्यायंश्चित्ते महाशान्त्यै परमात्मानमुत्तमम् ॥ ११ ॥
तदा कापालिकः पापी तत्रागत्य श्मशानके ।
मृतकद्वयं समानीय मुनेः पार्श्वे सुनिर्घृणः ॥ १२ ॥
तन्मस्तकत्रयेणाशु कृत्वा चुल्लीं निजेच्छया ।
तत्र वेतालिकीविद्या-साधनार्थं नरस्य च ॥ १३ ॥
कपाले चरुकं कर्तुं प्रवृत्तो वह्निना तदा ।
मुनेस्तस्य नसादाहात्पातिते च कपालके ॥ १४ ॥
नष्टः कापालिकः सोपि भयाच्चकितमानसः ।
मुनीन्द्रो मेरुवद्धीरो तथैवोच्चैः स संस्थितः ॥ १५ ॥
प्रभाते तं मुनिं दृष्ट्वा केनचित्कर्मयोगतः ।
श्रेष्ठिनो जिनदत्तस्य प्रोक्तं तद्वृत्तकं तदा ॥ १६ ॥
श्रेष्ठिना तेन तच्छ्रुत्वा गत्वा शीघ्रं श्मशानके ।
तं विलोक्य मुनिं धीरं हाहाकारं विधाय च ॥ १७ ॥

समानीय निजं गेहं महायत्नेन धीमता ।
पृष्टो वैद्यो मुनेस्तस्य शान्त्यर्थं सोपि संजगौ ॥ १८ ॥
अहो श्रेष्ठिन्सुधीः सोम-शर्म भट्टगृहेस्ति च ।
लक्षपाकं शुभं तैलं तेन स्यादग्निशान्तिता ॥ १९ ॥
श्रेष्ठिना तत्समाकर्ण्य गत्वा विप्रगृहं तदा ।
तुंकारी नामतद्भार्या तत्तैलं याचिता सती ॥ २० ॥
तया प्रोक्तं गृहाणैकं भो श्रेष्ठिंस्तैलसद्घटम् ।
केचिल्लोकेर्थिनां सन्ति दानिनो वा सुरद्रुमाः ॥ २१ ॥
ततस्तद्घटमादाय निर्गतो यावदेव सः ।
भग्नो घटस्ततस्तेन पुनस्तस्या निरूपितम् ॥ २२ ॥
सा जगाद सुधीरन्यो घटः संगृह्यते त्वया ।
चित्तं सतां भवेन्नित्यं गंभीरं सागरादपि ॥ २३ ॥
स्फुटिते च द्वितीयेस्मिन्कर्मतस्तृतीयेपि च ।
सा तुंकारी सती प्राह भो श्रेष्ठिन्मा भयं कुरु ॥ २४ ॥
यावत्ते कार्यसिद्धिः स्यात्तावत्तैलं गृहाण मे ।
तच्छ्रुत्वा जिनदत्तेन श्रेष्ठिना निजमानसे ॥ २५ ॥
अस्याः क्षमा महाश्चर्य-मद्वितीयात्र दृश्यते ।
संविचार्येति सा प्रष्टा भो मातः केन हेतुना ॥ २६ ॥
कृते महापराधेस्मिन्कोपो न क्रियते त्वया ।
तया प्रोक्तं मया प्राप्तं भो सुधीः कोपजं फलम् ॥ २७ ॥
तत्कथं श्रूयतां तात पुरे चानन्दनामनि ।
विप्रोभूच्छिवशर्माख्यो धनवान्नृप पूजितः ॥ २८ ॥

कमलश्रीः प्रिया पुत्राः शिवभूत्यादयोऽभवन् ।
अष्टाहं नवमी पुत्री भट्टा नाम्नी मता जनैः ॥ २९ ॥
रूपलावण्यसौभाग्य-महामानविराजिता ।
तुंकर्त्तुं मां समर्थो न विद्यते कोपि भीतितः ॥ ३० ॥
एकदा मे पिता पुर्यां दापयामास घोषणाम् ।
तुंकारं मे सुतां कोपि माकरोत्विति सर्वथा ॥ ३१ ॥
तदा तुंकारिका चेति संजातं मम नामकम् ।
महामानो भवत्यत्र श्रेयसे नैव देहिनाम् ॥ ३२ ॥
कदाचिन्न करोम्यस्य तुंकारमिति निश्चयात् ।
सोमशर्मद्विजेनाहं परिणीता कुलक्रमात् ॥ ३३ ॥
अत्रैवोज्जयिनीमध्ये समानीता विभूतिभिः ।
यावत्स्थिता सुखं गेहे सारसम्पद्विराजिते ॥ ३४ ॥
तावच्चैकं दिने सोम-शर्मा मे प्राणवल्लभः ।
रात्रौ नाट्यकलां दृष्ट्वा दीर्घकाले समागतः ॥ ३५ ॥
द्वारे स्थित्वा जगादोच्चै-रुद्घाटय कपाटकम् ।
मया तदा प्रकोपेन मौनेनावस्थितं गृहे ॥ ३६ ॥
बृहद्वेला गता याव-त्तावत्तेन क्रुधा मम ।
तुंकारितं तदा चित्ते कोपनाहं प्रकम्पिता ॥ ३७ ॥
वह्निज्वालेव मूढात्मा कृत्वा द्वारं निरर्गलम् ।
त्यक्त्वा गेहं पुरं चापि बहिर्यावद्विनिर्गता ॥ ३८ ॥
तावच्चौरैः समालोक्य गृहीत्वाभरणादिकम् ।
नाम्ना विजयसेनस्य भिल्लस्याहं समर्पिता ॥ ३९ ॥

पल्लिकायां स पापिष्ठः कुर्वन्मे शीलखण्डनम् ।
वारितो वनदेव्योच्चैः कृत्वा नानोपसर्गकम् ॥ ४० ॥
भिल्लो भीत्वा तदा सोपि सार्थवाहाय मां ददौ ।
सार्थवाहोपि मे शीलं कालं कर्त्तुं क्षमो न हि ॥ ४१ ॥
ततो रुष्ट्वा स पापात्मा नीत्वा मां परतीरकम् ।
दत्तवान्क्रमिरागेण रक्तकम्बलकारिणे ॥ ४२ ॥
तदा तेन जलूकाभिः कष्टतो रक्तकं मम ।
कम्बलानां निमित्तेन स्वीकृतं भूरिवासरैः ॥ ४३ ॥
महाकोपेन जन्तूनां मादृशानां स्वपापतः ।
भो श्रेष्ठिन्संभवन्त्येव दुष्टापच्च पदे पदे ॥ ४४ ॥
उज्जयिन्या महीभर्त्रा तत्र पारसभूपतेः ।
पार्श्वे सम्प्रेषितो दूतो मद्भ्राता धनदेवभाक् ॥ ४५ ॥
कृतकार्येण तेनाहं दृष्ट्वा भ्रात्रा शुभोदयात् ।
प्रोक्त्वा तद्भूपतेः सर्व-मत्रानीय च भक्तितः ॥ ४६ ॥
सोमशर्मद्विजस्यास्य भर्तृकस्य समर्पिता ।
बान्धवास्ते भवन्त्येव ये कष्टे शर्मदायिनः ॥ ४७ ॥
रक्तक्षयात्तदा कष्टं वातेनाहं प्रपीडिता ।
लक्ष्यपाकेन तैलेन वैद्येन सुखिनी कृता ॥ ४८ ॥
ततो मया मुनीन्द्रेभ्यो धर्मं श्रुत्वा जिनेशिनाम् ।
सम्यक्त्वं त्रिजगत्पूतं व्रतं चादाय शर्मदम् ॥ ४९ ॥
नैव कस्योपरि श्रेष्ठिन्कर्तव्यः कोपको ध्रुवम् ।
स्वीचक्रे सद्व्रतं चेति शर्मकोटिविधायकम् ॥ ५० ॥

तस्माद्भद्रो तात कुत्रापि कोपो न क्रियते मया ।
सारं तैलं गृहीत्वोच्चैः समाधानं मुनेः कुरु ॥ ९१ ॥
श्रेष्ठिना तां प्रणम्याशु तैलमादाय वेगतः ।
गत्वा गृहं मुनेस्तस्य शरीरे भूरि यत्नतः ॥ ९२ ॥
तत्तैलेन दिनैः कैश्चित्कृत्वा सम्मर्दनादिकम् ।
महाशान्तिं विधायोच्चैः सारपुण्यमुपार्जितम् ॥ ९३ ॥
ततः श्रेष्ठी महाभक्त्या तस्यैव जिनमन्दिरे ।
जगत्पूज्यो मुनीन्द्रोसौ प्रावृट्योगं गृहीतवान् ॥ ९४ ॥
श्रेष्ठिनानर्घ्यरत्नौघैः पूरितस्ताम्रसद्घटः ।
सप्तव्यसनसंसक्त-स्वपुत्रस्य दुरात्मनः ॥ ९५ ॥
तदा कुवेरदत्तस्य भयात्तत्र जिनालये ।
निखन्य स्थापितो गूढं मुनेः शयनसन्निधौ ॥ ९६ ॥
तदा कुबेरदत्तोसौ प्रच्छन्नं पापमण्डितः ।
सत्सर्वं पश्यतिस्मोच्चै-श्चेष्टितं स्वपितुः कुधीः ॥ ९७ ॥
एकदा तेन पुत्रेण तस्मादुत्खन्य वेगतः ।
प्रासादं प्रांगणे सोपि निखन्य स्थापितो घटः ॥ ९८ ॥
मुनिर्विशुद्धचारित्रो जानन्पश्यन्नपि ध्रुवम् ।
तदा मध्यस्थभावेन संस्थितो मेरुवत्तराम् ॥ ९९ ॥
पूर्णयोगे तु योगीन्द्रः पृष्ट्वा तं श्रेष्ठिनं सुखम् ।
विहाराय विनिर्गत्य स्थितो ध्याने पुराद्बहिः ॥ ६० ॥
श्रेष्ठी कुम्भमनालोक्य संजातो व्यग्रमानसः ।
तं जानाति मुनिश्चैव नान्यः कोपीति चेतसि ॥ ६१ ॥

संविचार्य मुनेः पार्श्वे गत्वा देव मम ध्रुवम् ।
त्वां विना न रतिश्चित्ते तस्मादागच्छ भो पुरम् ॥ ६२ ॥
इत्यादि मायया पश्चा-त्तं समानीय सन्मुनिम् ।
पृच्छति स्म मुने ब्रूहि काञ्चिद्धर्मकथामिति ॥ ६३ ॥
तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह भो श्रेष्ठिंस्त्वं महानपि ।
चिरश्रावकतो दिव्यं कथयात्र कथानकम् ॥ ६४ ॥
ततोऽसौ जिनदत्ताख्यः श्रेष्ठी स्वाभिमतार्थकम् ।
सूचयन्समुवाचैवं ख्याते पद्मरथे पुरे ॥ ६५ ॥
वसुपालो महाराज-स्तेनायोध्यापतिं प्रति ।
जितशत्रुं द्रुतं दूतः प्रेषितः कार्यहेतवे ॥ ६६ ॥
स दूतस्तु महाटव्यां तृषितो मूर्च्छयान्वितः ।
वृक्षाधः पतितः कष्टं गतप्राणधनोथवा ॥ ६७ ॥
दूतं कण्ठगतप्राणं तमालोक्यैकवानरः ।
निमज्य सरसि स्वच्छे तत्रागत्य दयापरः ॥ ६८ ॥
तस्योपरि स्वकीयं च संविधूय शरीरकम् ।
अग्रे भूत्वा जलं तस्य दर्शयामास निर्मलम् ॥ ६९ ॥
सोपि पापी पयः पीत्वा हत्वा तं वानरं पुनः ।
तच्चर्मभस्त्रिकां कृत्वा ततो गमनहेतवे ॥ ७० ॥
तोयमादाय दुष्टात्मा निर्गतो धर्मवर्जितः ।
किं स्वामिंस्तस्य दूतस्य युक्तं मर्कटमारणम् ॥ ७१ ॥
तदाकर्ण्य मुनीन्द्रोसौ प्रोक्त्वा युक्तं न तद्भुवि ।
निर्दोषत्वं स्वकीयं च सूचयन्सत्कथां जगौ ॥ ७२ ॥

कौशाम्बीपत्तने विप्रः शिवशर्माभिधानकः ।
ब्राह्मणी कपिला तस्य संजाता पुत्रवर्जिता ॥ ७३ ॥
एकदा शिवशर्मासौ दृष्ट्वाटव्यां द्विजोत्तमः ।
पिल्लकं नकुलस्योच्चैः समानीय स्वयोषितः ॥ ७४ ॥
इमं पुत्रं गृहाणेति कपिलायाः समर्पयत् ।
किं करोति न मोहान्धः प्राणी तत्वपराङ्मुखः ॥ ७५ ॥
ततोसौ पालितः सौख्यं शिक्षितो गृहकर्मकम् ।
करोति नकुलः किंचित्स्वशक्त्या प्रेषणं तदा ॥ ७६ ॥
ततश्च कपिला कुक्षौ पुत्रोद्भूत्कर्मयोगतः ।
तं सुप्तं मञ्चके पुत्रं सैकदा कपिला द्रुतम् ॥ ७७ ॥
नकुलस्य समर्प्योच्चै-स्तण्डुलान्खण्डितुं गता ।
तदा सर्पेण पुत्रोसौ भक्षितो मृत्युमाप्तवान् ॥ ७८ ॥
कोपतो नकुलः सोपि हत्वा सर्पं सुदारुणम् ।
रक्तलिप्तमुखः पश्चात्संप्राप्तः कपिलान्तिकम् ॥ ७९ ॥
अनेन मारितः पुत्रः इत्याशंक्य स्वमानसे ।
मारितो नकुलः कष्टं ब्राह्मण्या मुशलेन सः ॥ ८० ॥
पश्चात्स्वगेहमागत्य मृतं दृष्ट्वा भुजंगमम् ।
पश्चात्तापस्तया चक्रे धिङ्मूढानां विचेष्टितम् ॥ ८१ ॥
भो श्रेष्ठिन्सर्पदोषेण किं तस्या विप्रयोषितः ।
युक्तं निरपराधस्य नकुलस्यैव मारणम् ॥ ८२ ॥
न युक्तमिति भो देव श्रेष्ठी प्राह कथानकम् ।
वाणारस्यां महाराजो जितशत्रुर्विचक्षणः ॥ ८३ ॥

तद्वैद्यो धनदत्ताख्यो धनदत्ता प्रियाभवत् ।
तयोर्धनादिमित्राख्य-धनचन्द्रौ सुतौ मतौ ॥ ८४ ॥
पठितौ न भिषक्शास्त्रं मृते वैद्ये स्वकर्मतः ॥
तज्जीवनं तदान्यस्मै ददौ वैद्याय भूपतिः ॥ ८५ ॥
वैद्यपुत्रौ तु चम्पायाः शिवभूतिभिषग्वरम् ।
नत्वा वैद्यमहाशास्त्रं ज्ञात्वा व्याघुटितौ पुनः ॥ ८६ ॥
ततोटव्यां समालोक्य व्याघ्रं चक्षुःप्रपीडितम् ।
ज्येष्ठेन वारितश्चापि धनचन्द्रो लघुर्भिषक् ॥ ८७ ॥
औषधं नेत्रयोस्तस्य परीक्षार्थं ददौ मुदा ।
नीरोगेण तदा तेन लघुरेव प्रभक्षितः ॥ ८८ ॥
किं मुने पापिनस्तस्य युक्तं वैद्यप्रभक्षणम् ।
इत्यादि श्रेष्ठिनो वाक्यं समाकर्ण्य सकारणम् ॥ ८९ ॥
मुनिः प्राह विशुद्धात्मा शृणु त्वं भो वणिग्वर ।
चम्पायां सोमशर्माख्यो ब्राह्मणोस्य प्रिया द्वयम् ॥ ९० ॥
सोमिल्या सोमशर्मा च सोमिल्यायाः सुतोभवत् ।
तत्रैव पत्तने चास्ति भद्राख्यो वृषभोत्तमः ॥ ९१ ॥
गृहे गृहे पशुः सोपि ग्रासं च लभते तृणम् ।
शान्तत्वात्कस्यचिन्नैव स बाधां कुरुते कदा ॥ ९२ ॥
वन्ध्या सा सोमशर्मा च ब्राह्मणी दुष्टमानसा ।
सपत्नी पुत्रकं हत्वाऽऽरोपयद्भद्रश्रृंगके ॥ ९३ ॥
अनेन मारितो बालो विप्रघातीति पत्तने ।
त्यक्तः सर्वजनैर्भद्र-वृषोयं क्षुत्प्रपीडितः ॥ ९४ ॥

प्रवेशं लभते नैव कदा कापि सुदुःखितः।
एकदा जिनदत्ताख्य-श्रेष्ठिनो वल्लभा प्रिया ॥ ९५ ॥
संजाते परगोधोरु-दोषे सा चात्मशुद्धये ।
कर्त्तुकामोज्वलद्दिव्यं संस्थिता जनसंगमे ॥ ९६ ॥
तदा प्रस्तावमासाद्य वृषोयं तप्तफालकम् ।
संजग्राह सुखेनाशु निर्दोषो भणितो जनैः ॥ ९७ ॥
किं भो श्रेष्ठिन्वृथा तस्य जनानां मूढचेतसाम् ।
दोषं निरपराधस्य दातुं युक्तं भवेद्भुवि ॥ ९८ ॥
जिनदत्तो जगादैवं गंगातीरे मनोहरे ।
गर्त्तायां पतितः कष्टं हस्तिबालः कदाचन ॥ ९९ ॥
तापसो विश्वभूतिस्तु तं विलोक्य तदा द्रुतम् ।
नीत्वा स्वपल्लिकायां च पोषयामास यत्नतः ॥ १०० ॥
कैश्चिद्दिनैस्ततो सोपि संजातः सुमहान् गजः ।
तच्छ्रुत्वा श्रेणिकेनोच्चै-र्गृहीतस्तापसात्सुखम् ॥ १०१ ॥
बन्धनाङ्कुशघातादि-कष्टं दृष्ट्वा द्विपोपि सः ।
भक्त्वा स्तंभं समायातस्तदा तापससन्निधौ ॥ १०२ ॥
तत्पृष्ठतः समायाता राजकीयनृणां पुनः ।
तेषां समर्प्यमानेन सम्बोध्य मधुरैः स्वनैः ॥ १०३ ॥
पापिना हस्तिना तेन तापसः सोपि मारितः ।
युक्तं किं भो मुनेस्तस्य महातापसमारणम् ॥ १०४ ॥
ततो मुनिः कथां प्राह हस्तिनागपुरे शुभे ।
पूर्वस्यां दिशि भात्युच्चै-र्विश्वसेनेन कारितम् ॥ १०५ ॥

भूभुजा सहकाराणां वनं तत्रैकदा पुरा ।
सौलिका सर्पमादाय स्थिता चाम्रतरूपरि ॥ १०६ ॥
तदा सर्पविषेणाशु पक्वमेकं फलं च तत् ।
गृहीत्वा वनपालोपि दर्शयामास भूपतेः ॥ १०७ ॥
स्वराज्यै धर्मसेनायै ददौ राजा च तत्फलम् ।
तद्भक्षणात्तदा सापि राज्ञी प्राप्ता यमालयम् ॥ १०८ ॥
रुष्टो राजा ततः सर्व-तदुद्यानस्य खण्डनम् ।
कारयामास भो श्रेष्ठिन्तत्किं युक्तं महीपते ॥ १०९ ॥
नैव युक्तमिति प्रोक्त्वा ततः श्रेष्ठी कथां जगौ ।
कश्चिन्नरो महाटव्यां गच्छन्सिंहं विलोक्य च ॥ ११० ॥
शीघ्रं सिंहभयान्नष्टा-ऽऽसन्नपल्लीमहाद्रुमम् ।
समारुह्य स्थितः सौख्यं ततः सिंहे गते सति ॥ १११ ॥
अवतीर्य तरोर्मार्गे गच्छता तेन पापिना ।
तदान्वेषयतां काष्ठं महद्भूमिपतेर्नृणाम् ॥ ११२ ॥
सारभेरीनिमित्तं च दर्शितः सोपि पादपः ।
तैस्तु संखंडितो वृक्षः सुच्छायः सुमनोहरः ॥ ११३ ॥
रक्षाविधायिनस्तस्य सुजनस्येव सत्तरोः ।
तत्किं कारयितुं युक्तं भो मुने तस्य पापिनः ॥ ११४ ॥
तच्छ्रुत्वा मुनिनाथोसौ संजगाद कथानकम् ।
कौशाम्बीपत्तने राजा गन्धर्वानीक संज्ञकः ॥ ११५ ॥
स्वर्णकारोभवत्तत्र सज्जातिः पत्तने तराम् ।
नामतोङ्गारदेवोसौ रत्नसंस्कारकोविदः ॥ ११६ ॥

एकदा राजकीयोरु-मुकुटाग्रहामणिम् ।
तेनोज्वालयता गेहे समायातो मुनीश्वरः ॥ ११७ ॥
चर्यार्थं संप्रणम्याशु भक्त्या मेदजसंज्ञकः ।
स्थापितः कर्मशालायां स मुनिस्तु सुखं स्थितः ॥ ११८ ॥
तत्समीपे मणिं धृत्वा भार्याग्रे स गतो यदा ।
मणिः संगलितस्ताव-द्रक्तत्वात्क्रौञ्चपक्षिणा ॥ ११९ ॥
आगतेन ततस्तेन मणिं चापश्यता द्रुतम् ।
सम्पृष्टोसौ मुनीन्द्रोपि जानन्मौनेन संस्थितः ॥ १२० ॥
स्वर्णकारः पुनः प्राह ब्रूहि त्वं भो मणिं मुने ।
अन्यथा सकुटुम्बस्य संक्षयो मे भविष्यति ॥ १२१ ॥
तथैव संस्थितः सोपि मुनीन्द्रः करुणापरः ।
ततो रुष्टेन तेनाशु चोरोयं चेति मानसे ॥ १२२ ॥
ज्ञात्वा बध्वा महाकाष्ठै-राहतोसौ मुनीश्वरः ।
धिग्धनं धिक्च मूढत्वं वेत्ति किंचिन्न यज्जनः ॥ १२३ ॥
एककाष्ठे तदा क्रौञ्च-गले लग्ने लसद्दुद्युतिः ।
पद्मरागमणिः सोपि निर्गतो वा यशस्ततिः ॥ १२४ ॥
तं विलोक्य मणिं सोपि स्वर्णकारः सुदुःखितः ।
हाहाकारं विधायोच्चै-र्लग्नस्तन्मुनिपादयोः ॥ १२५ ॥
अहो श्रेष्ठिन्यथा तेन जानता मुनिना मणिः ।
प्रोक्तो नैव दयालुत्वा-त्तथाहं ते च सद्घटम् ॥ १२६ ॥
जानन्नपि ध्रुवं धीर कथयामि न संयमी ।
कुरु त्वं यच्च जानासि साम्प्रतं त्वन्मनोगतम् ॥ १२७ ॥

तदा कुबेरदत्तोसौ प्रच्छन्नं तन्निशम्य च ।
समानीय घटं शीघ्रं प्रोल्लसद्रत्नसंभृतम् ॥ १२८ ॥
कियन्तमुपसर्गं भो करिष्यति भवान्मुने: ।
इत्युक्त्वा कोपतः पित्रे जिनदत्ताय तं ददौ ॥ १२९ ॥
ततोसौ जिनदत्ताख्यः श्रेष्ठी लज्जाभरान्वितः ।
कुबेरदत्तोपि पुत्रः पश्चात्तापं विधाय च ॥ १३० ॥
नत्वा तं मेरुवद्धीरं मुनीन्द्रं सत्तपोनिधिम् ।
भक्त्या क्षमापयित्वा च तस्यैव चरणान्तिके ॥ १३१ ॥
त्रिधा वैराग्यमासाद्य जैनीं दीक्षां सुखप्रदाम् ।
गृहीत्वा तौ मुनी जातौ निजात्मपरतारकौ ॥ १३२ ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-प्रोल्लसद्बोधसिंधवः ।
सारसम्यक्त्वरत्नाढ्या लसच्छीलोर्मिराजिताः ॥ १३३ ॥
ये ते मुनयो नित्यं सुरेन्द्राद्यैः समर्चिताः ।
अस्माकं वन्दिता भक्त्या शान्तये सन्तु शर्मदाः ॥ १३४ ॥
जातः श्रीमतिमूलसंघतिलके श्रीकुन्दकुन्दान्वये
विद्यानन्दिगुरुप्रपट्टकमलोल्लासप्रदो भास्करः ।
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरू रत्नात्रयालंकृतः
कुर्यात्सूरिमतल्लिको गुणनिधिर्नित्यं सतां मङ्गलम् ॥ १३५ ॥

इति कथाकोशे भट्टारक-श्रीमल्लिभूषण-शिष्य-ब्रह्मनेमिदत्त-विरचिते संगभयाधिकारे मणिवतमुनि-तुंकारी-कथा-वर्णनायां द्वितीयः परिच्छेदः ।

४२—पिण्याकगन्धस्य कथा ।

प्रणम्य त्रिजगन्नाथं श्रीजिनं सारशर्मदम् ।
वक्ष्ये पिण्याकगन्धस्य चरित्रं धनलोभिनः ॥ १ ॥
कांपिल्यनगरे राजा नाम्ना रत्नप्रभोभवत् ।
राज्ञी विद्युत्प्रभा जाता रूपसौभाग्यमण्डिता ॥ २ ॥
श्रेष्ठी श्रीजिनदत्ताख्यो जिनपादाब्जषट्पदः ।
राजादिपूजितो धीमान् श्रावकाचारकोविदः ॥ ३ ॥
तत्रैव नगरे श्रेष्ठी परः पिण्याकगन्धवाक् ।
द्वात्रिंशत्कोटिसुद्रव्यो लोभाद्भुंक्ते खलं खलः ॥ ४ ॥
द्रव्यं लब्ध्वा कुधीर्यस्तु दातुं भोक्तुं क्षमो न हि ।
पापतः कृपणत्वाच्च स भुंक्ते दुःखमेव च ॥ ५ ॥
तस्य स्त्री सुन्दरी नाम्नी विष्णुदत्तः सुतोजनि ।
एकदा राजकीयं च तडागं खनता तदा ॥ ६ ॥
उड्डुनैकेन संलब्ध्वा सुवर्णकुशिकाभृता ।
मञ्जूषा कर्मयोगेन चिरकालस्थिता ततः ॥ ७ ॥
महाकिट्टिप्रलिप्तत्वा-देका लोहस्य मूल्यतः ।
दत्ता श्रीजिनदत्ताख्य-श्रेष्ठिने कुशिका मुदा ॥ ८ ॥
सोपि श्रेष्ठी सुधीर्ज्ञात्वा पश्चात्स्वर्णमनोहरम् ।
पापभीरुस्तदा तेन सुवर्णेन सुखप्रदाम् ॥ ९ ॥
जिनेन्द्रप्रतिमां कृत्वा तत्प्रतिष्ठां जगद्धिताम् ।
कारयामास सद्दृष्टि-र्धर्मिणामीदृशी मतिः ॥ १० ॥

द्वितीया च कुशी तेन जिनदत्तेन धीमता ।
परद्रव्यमिति ज्ञात्वा गृहीता नैव तद्व्रतात् ॥ ११ ॥
ततः पिण्याकगन्धस्तां गृहीत्वा लोहमूल्यतः ।
ज्ञात्वा सुवर्णमयीं तां च पुनर्देहीति संजगौ ॥ १२ ॥
तथाष्टानवतिः कुश्यः प्रच्छन्नं चोड्डकेन हि ।
तस्य तावद्दिनैर्दत्ता लोहमूल्यादजानता ॥ १३ ॥
ततः पिण्याकगन्धाख्यः स श्रेष्ठी धनलम्पटः ।
भागिनेयविवाहार्थं भगिन्याग्रहतो द्रुतम् ॥ १४ ॥
कुशीनां ग्रहणे पुत्रं तं निरूप्य प्रलोभतः ।
संप्राप्तः पिप्पलग्रामं प्रेरितः पापकर्मणा ॥ १५ ॥
तेनोड्डुना समानीतां विष्णुदत्तस्तु तां कुशीम् ।
किं कार्यमनया चेति तदासौ न गृहीतवान् ॥ १६ ॥
ततो राजभटेनाशु खननार्थं हठेन ताम् ।
गृहीत्वा खनता तेन सुवर्णकुशिका शतम् ॥ १७ ॥
इत्यक्षराणि संवीक्ष्य दर्शिता सा महीपतेः ।
उड्डुश्चाकारितो राज्ञा पृष्टोसौ संजगाविति ॥ १८ ॥
एका श्रीजिनदत्ताय कुश्योष्टानवतिर्ध्रुवम् ।
अन्याः पिण्याकगन्धाय मया दत्ता महीपते ॥ १९ ॥
आहूतो जिनदत्तोसौ प्रोक्त्वा तद्वृत्तकं पुनः ।
दर्शयामास जैनेन्द्रीं प्रतिमां पापनाशिनीम् ॥ २० ॥
तां दृष्ट्वा भूपतिश्चित्ते परमानन्दनिर्भरः ।
वस्त्राद्यैः पूजयामास श्रेष्ठिनं तं गुणोज्ज्वलम् ॥ २१ ॥

पिण्याकश्रेष्ठिनो गेहं गृहीत्वा तत्कुटुम्बकम् ।
निक्षिप्तं कष्टतो राज्ञा कारागारे प्रकोपतः ॥ २२ ॥
येन तृष्णातुरेणोच्चै-र्गृहीतं परवित्तकम् ।
निजं तेन स्वहस्तेन क्षयं नीतं च सर्वथा ॥ २३ ॥
विवाहान्तरं सोपि समागच्छन्निजं गृहम् ।
श्रुत्वा स्वगेहवृत्तान्तं मार्गे पिण्याकगन्धकः ॥ २४ ॥
इमौ पादौ दुरात्मानौ सर्वलक्ष्मीक्षयङ्करौ ।
गतौ ग्राममिति क्रोधाद्धत्वा पाषाणकेन च ॥ २५ ॥
मृत्वार्तध्यानतो कष्टं षष्ठेसौ नरके कुधीः ।
लेल्लकप्रस्तरे पापी पपात प्रौढलोभतः ॥ २६ ॥
इति ज्ञात्वा बुधैर्नित्यं विवेकोत्कृष्टमानसैः ।
त्याज्यः पापप्रदो लोभो यस्त्वन्यायप्रवर्त्तकः ॥ २७ ॥
स जयतु जिननाथः सर्वदेवेन्द्रवन्द्यः
सकलगुणसमुद्रो विश्वतत्वैकदीपः ।
विगतनिखिलदोषो दत्तभव्यप्रलक्ष्मी-
र्विमलतरगिरीशो बोधसिन्धुः सतां वै ॥ २८ ॥

इति कथाकोशे कृपण-पिण्याकगन्धस्य कथा समाप्ता ।

४३—लुब्धकस्य कथा ।

प्रोल्लसत्केवलज्ञानं श्रीजिनं त्रिजगद्गुरुम् ।
प्रणम्य परया भक्त्या वक्ष्ये लुब्धकथानकम् ॥ १ ॥
चम्पापुर्यां महाराजः संजातोभयवाहनः ।
पुण्डरीकाऽभवद्राज्ञी पुण्डरीकसमेक्षणा ॥ २ ॥
लुब्धनामाजनि श्रेष्ठी पापतो धनलम्पटः ।
श्रेष्ठिनी नागवस्वाख्या तस्याभूत्प्राणवल्लभा ॥ ३ ॥
पुत्रौ गुरुडदत्ताख्य-नागदत्तौ मनःप्रियौ ।
लुब्धकश्रेष्ठिना तेन स्वगेहे भूरिवित्ततः ॥ ४ ॥
यक्षयक्षीगजोष्ट्रादि-महिषाश्वयुगानि च ।
हैमानि कारितान्युच्चैः शृङ्गपुच्छखुरादिषु ॥ ५ ॥
नाना रत्नप्रवालादि-जटितानि निजेच्छया ।
बलीवर्दस्तु वैकाकी सुवर्णाभावतस्तदा ॥ ६ ॥
द्वितीयवृषभस्योच्चै-र्निमित्तेनैकदा कुधीः ।
सप्ताहोरात्रिसद्वृष्टौ जातायां कर्मयोगतः ॥ ७ ॥
गंगाप्रवाहतः काष्ठं कष्टादानयति स्म सः ।
अहो दुरात्मनां तृष्णा कदा केन प्रशाम्यति ॥ ८ ॥
पुण्डरीका तदा राज्ञी स्वप्रासादोपरि स्थिता ।
आनयन्तं महाकाष्ठं कष्टतो वीक्ष्य लुब्धकम् ॥ ९ ॥
स्वनाथं प्रति सा प्राह हंहो स्वामिंस्तवापि च ।
राज्ये कोपि दरिद्रोयं दृश्यते कष्टमाश्रितः ॥ १० ॥

अस्मै किञ्चिद्धनं देव दीयते करुणाधिया ।
युक्तं कारुण्ययुक्तानां चित्ते दानमतिर्भवेत् ॥ ११ ॥
तदाकर्ण्य नृपो धीमांस्तं समाहूय लुब्धकम् ।
संजगाद त्वया वित्तं यावदत्र प्रयोजनम् ॥ १२ ॥
तावत्संगृह्यते शीघ्रं तच्छ्रुत्वा लुब्धकोवदत् ।
एकाकी मे गृहे देव बलीवर्दः प्रवर्त्तते ॥ १३ ॥
विलोक्यते द्वितीयस्तु तन्निशम्य महीपतिः ।
जगावित्थं मदीयेषु बलीवर्देषु साम्प्रतम् ॥ १४ ॥
बलीवर्दं गृहाण त्वं यः सर्वेषु मनोहरः ।
राजकीयान्समालोक्य ततोसौ वृषभोत्तमात् ॥ १५ ॥
अस्माद्वृषेन सादृश्यो नास्ति देवेति ते वृषः ।
लुब्धकः प्राह भूपाग्रे ततो राज्ञा प्रजल्पितम् ॥ १६ ॥
कीदृशस्ते बलीवर्दो भो वणिक्मे प्रदर्शय ।
ततस्तेन गृहं नीत्वा राज्ञः सन्दर्शितो वृषः ॥ १७ ॥
तं समालोक्य भूपालः सुवर्णवृषभोत्तमम् ।
ईदृशस्ते वृषभोस्ति परमाश्चर्यमाप्तवान् ॥ १८ ॥
श्रेष्ठिन्या नागवस्वा च रत्नैः स्थालं प्रपूरितम् ।
दत्वा श्रेष्ठिकरे प्रोक्तं समर्पय महीभुजे ॥ १९ ॥
तदा तस्य प्रलोभत्वात्स्थालं च ददतो द्रुतम् ।
हस्तस्याङ्गुल्यो जाताः फणाकाराः सुकष्टतः ॥ २० ॥
दत्तं येन कदा किञ्चित्कस्मैचिन्नैव पापतः ।
तन्मतिः प्रेरिता चापि नास्ति दाने कदाचन ॥ २१ ॥

ततो राजा विलोक्योच्चै-स्तच्चरित्रं सुनिन्दितम् ।
दुष्टात्मा फणहस्तोय-मित्युक्त्वा स्वगृहं गतः ॥ २२ ॥
एकदासौ महालोभ-ग्रहग्रस्तस्तु लुब्धकः ।
तद्द्वितीयबलीवर्द-निमित्तं पापकर्मतः ॥ २३ ॥
गत्वा च सिंहलद्वीप-प्रमुखेषु बहुष्वपि ।
चतस्रः स्वर्णकोट्यस्तु समुपार्ज्य प्रकृष्टतः ॥ २४ ॥
सिन्धुमध्ये समागच्छन्स्फुटिते यानपात्रके ।
मृत्वा सर्पो निजे गेहे निधिस्थाने बभूव च ॥ २५ ॥
तत्रापि तद्धनं कस्य गृहीतं न ददाति सः ।
कोपाद्गरुडदत्तेन ज्येष्ठपुत्रेण मारितः ॥ २६ ॥
तदा मृत्वा चतुर्थेऽसौ महार्त्तध्यानपीडितः ।
संजातो नारको घोरे नरके पापकर्मणा ॥ २७ ॥
एवं धर्मं विना जन्तु-र्नाना लोभादिवञ्चितः ।
कष्टं प्रयाति पापेन संसारे दुःखसागरे ॥ २८ ॥
ज्ञात्वैवं भवदुःखकोटिजनकं दुष्क्रोधलोभादिकं
त्यक्त्वा दूरतरं विशुद्धमनसस्त्रेधा सदा चेतसि ।
श्रीमत्सारजिनेन्द्रदेवगदितं धर्मं सुशर्मप्रदं
शक्त्या भक्तिभरेण शान्तिनिलयं सन्तो भजन्तु श्रियै ॥२९॥

इति कथाकोशे लुब्धकश्रेष्ठिनः कथा समाप्ता।

४४—वसिष्ठतापसस्य कथा ।

नत्वाष्टादशभिर्दोषै-र्निर्मुक्तं जिननायकम् ।
वसिष्ठतापसस्योच्चै-श्चरित्रं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
मथुरानगरे राजा समभूदुग्रसेनवाक् ।
रेवतीनाम तद्राज्ञी संजाता चित्तवल्लभा ॥ २ ॥
श्रेष्ठी श्रीजिनदत्ताख्यो जिनपादाब्जषट्पदः ।
तस्यैव श्रेष्ठिनो दासी प्रियंगुलतिकाभवत् ॥ ३ ॥
पुरे तत्र वसिष्ठाख्य-स्तापसो यमुनातटे।
कृत्वा स्नानं च पञ्चाग्नि-साधनं कुरुते सदा ॥ ४ ॥
तदा पौरजनो मूढस्तं समालोक्य तापसम् ।
स जातो भक्तिकस्तस्य मूढा मूढक्रियारताः ॥ ५ ॥
पौरदास्यस्तथा सर्वाः पानीयानयनक्षणे ।
नित्यं प्रदक्षिणीकृत्य भक्तितस्तं नमन्ति च ॥ ६ ॥
सा प्रियंगुलता दासी सखीभिः प्रेरितापि च ।
प्रणामं कुरुते नैव जैनगेहप्रसंगतः ॥ ७ ॥
ततस्ताभिर्बलात्कारं संधृत्वा हस्तपत्सु ? च ।
पात्यमाना पदे तस्य निःशंकं सा जगाविति ॥ ८ ॥
यद्यस्य तापसस्यात्र प्रणाम. क्रियते मया ।
तदा धीवरनाथस्य प्रणामः क्रियते न किम् ॥ ९ ॥
तच्छ्रुत्वा सर्वदासीनां रुष्टोसौ तापसः कुधीः ।
नष्टास्ताश्च मदोन्मत्ताः कृत्वा हास्यं च दासिकाः ॥ १०

उग्रसेननृपस्याग्रे गत्वासौ तापसोवदत् ।
भो प्रभो जिनदत्तेन धीवरो भणितोप्यहम् ॥ ११ ॥
ततो राज्ञा समाहूतो स श्रेष्ठी जिनदत्तवाक् ।
सद्दृष्टिर्निर्भयः प्राह भूपाग्रे सत्यमण्डितः ॥ १२ ॥
देवार्यं तापसश्चैव प्रमाणं तपसा युतः ।
यद्यसौ धीवरः प्रोक्तो मया भो नाऽथ निश्चयात् ॥ १३ ॥
तापसेन ततः प्रोक्तं दास्याहं भणितोस्य च ।
हसित्वा वचनं तस्य साहूता भूभुजा तदा ॥ १४ ॥
तां दृष्ट्वा तापसः कोपात्स च प्राह कुधीस्तदा ।
रे रण्डे विप्रपुत्रोहं वायुभक्षी सुतापसः ॥ १५ ॥
कथं त्वयातिपापिन्या धीवरो भणितो भुवि ।
सा प्रियंगुलतावोच-त्तदोच्चैर्निर्भया सती ॥ १६ ॥
मत्स्यान्मारयाति व्यक्तं धीवरस्त्वमपि ध्रुवम् ।
ततस्ते धीवरस्यापि विशेषो नैव भूतले ॥ १७ ॥
परीक्षार्थं जटाभारं झाटय त्वं शठ द्रुतम् ।
तस्मिन्कृते तदा तेन पतिताः क्षुद्रमत्स्यकाः ॥ १८ ॥
तदा राजा जिनेन्द्राणां धर्मस्योच्चैः प्रशंसनम् ।
कृत्वा निष्कासितः शीघ्रं तापसो मानवर्जितः ॥ १९ ॥
गंगागंधवतीनद्योः संगमे सोपि तापसः ।
पञ्चाग्निसाधनं कर्तुं प्रवृत्तः कष्टतः पुनः ॥ २० ॥
तत्र पञ्चशतैर्युक्तो मुनीन्द्रो मुनिभिस्तदा ।
वीरभद्रः समायातो जैनतत्त्वविदांवरः ॥ २१ ॥

दृष्ट्वा तं तापसं तत्र मुनिश्चैको जगौ तदा ।
अस्य घोरं तपो देव तच्छ्रुत्वा गुरुरब्रवीत् ॥ २२ ॥
अज्ञानिनां दयाहीनं किं तपस्तु प्रशस्यते ।
ततो रुष्टाहमज्ञानी कथं भो तापसोवदत् ॥ २३ ॥
आचार्येण तदा प्रोक्तं यदि त्वं ज्ञानवान्ध्रुवम् ।
मृत्वा गुरुः क्व ते जातो वद त्वं चेति तापस ॥ २४ ॥
स च प्राह गतः स्वर्गे मे गुरुस्तापसोत्तमः ।
तच्छ्रुत्वा वीरभद्रेण प्रोक्तं संज्ञानचक्षुषा ॥ २५ ॥
नन्वसिन्दह्यमाने च महाकाष्ठे प्रकष्टतः ।
गुरुस्ते सर्परूपेण दह्यमानस्तु तिष्ठति ॥ २६ ॥
ततो रुष्टेन तेनाशु तत्काष्ठे च द्विधाकृते ।
दृष्टो भुजंगमः सोपि हा कष्टं मूढचेष्टितम् ॥ २७ ॥
तं दृष्ट्वा तापसश्चापि त्यक्त्वा गर्वं ततो द्रुतम् ।
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं मुनिर्जातो दिगम्बरः ॥ २८ ॥
एकदा मथुराभ्यर्णे गोवर्द्धनगिरौ शुभे ।
वसिष्ठयतिनस्तस्य महामासोपवासिनः ॥ २९ ॥
सुविद्यादेवताः सिद्धाः संजगुश्चेति भो प्रभो ।
आदेशं देहि नः शीघ्रं किं कुर्मो दासिका वयम् ॥ ३० ॥
तेनोक्तं लोभभावेन यदास्माकं प्रयोजनम् ।
तदागच्छथ यूयं भो देवता गुणमण्डिताः ॥ ३१ ॥
पूर्णे मासोपवासेथ भक्तितश्चोग्रसेनकः ।
स्थापयत्वत्र मा कोपि वसिष्ठमुनिसत्तमम् ॥ ३२ ॥

अहं संस्थापयिष्यामि पत्तने चेति घोषणम् ।
दापयामास भूभर्त्ता मूढभक्तिस्तु कष्टदा ॥ ३३ ॥
पारणादिवसे पूर्वं पट्टहस्तिमदाश्रितः ।
आलानस्तंभमुन्मूल्य निर्गतो निजलीलया ॥ ३४ ॥
स राजा व्यग्रचित्तोभू-दुग्रसेनः सुविस्मृतः ।
मुनिः सोपि क्षुधाक्रान्तो भ्रमित्वा पत्तनेखिले ॥ ३५ ॥
राजालये तथा नैव प्राप्तवान्भ्रामरीं ततः ।
अलाभेन समागत्य स्वस्थानं तपसि स्थितः ॥ ३६ ॥
द्वितीये पारणाघस्रे वह्निदाहे पुरे सति ।
कर्मतश्चोग्रसेनोसौ संजातो व्याकुलाशयः ॥ ३७ ॥
तृतीयस्य तथा मासो-पवासस्य परे दिने ।
प्रेषिते श्रीजरासन्ध-राजेनादेशके तदा ॥ ३८ ॥
उग्रसेनः स मूढात्मा संजातो व्यग्रमानसः ।
अज्ञानादत्र जन्तूनां कार्यसिद्धिः कुतो भवेत् ॥ ३९ ॥
अन्तरायं ततः कृत्वा निर्गच्छन्तं पुराद्बहिः ।
मूर्च्छया विकलीभूतं दृष्ट्वा तं कष्टमाश्रितम् ॥ ४० ॥
वृद्धैका कोपतः प्राह मुनिं स्थापयतो जनान् ।
वारयत्येष भूनाथः स्वयं न स्थापयत्यहो ॥ ४१ ॥
मारितोनेन राज्ञासौ मुनीन्द्रस्तपसां निधिः ।
इत्याकर्ण्य मुनिः सोपि महाकोपाग्निमास्थितः ॥ ४२ ॥
गत्वा गोवर्द्धनं शीघ्रं पर्वतं ताः स्वदेवताः ।
प्रोक्तवान्पापकर्मायं युष्माभिर्मार्यतां नृपः ॥ ४३ ॥

ताभिः प्रोक्तं मुने नैव युक्तं ते जिनलिङ्गिनः ।
तच्छ्रुत्वा स पुनः प्राह मूढधीः कोपमण्डितः ॥ ४४ ॥
जन्मान्तरे तु युष्माभि-र्मदीयाज्ञा विधीयताम् ।
इत्युक्त्वा मारयिष्यामि भवेन्यस्मिन्सुपापिनम् ॥ ४५ ॥
उग्रसेनमिमं दान-महाविघ्नविधायकम् ।
कृत्वा निदानकं चेति स्वतपःक्षयकारकम् ॥ ४६ ॥
मृत्वासौ रेवतीगर्भे समायातो निदानतः ।
हा कष्टं पापरूपोयं कोपः कार्यविनाशकः ॥ ४७ ॥
एकदा क्षीणदेहां च रेवतीं वक्ष्य भूपतिः ।
उग्रसेनो जगौ देवि किं ते दौर्बल्यकारणम् ॥ ४८ ॥
तयोक्तं देव संजातो दोहलो दुष्टको मम ।
कीदृशो दोहलश्चेति पृष्टा सापि पुनर्जगौ ॥ ४९ ॥
वक्तुं न शक्यते स्वामिन्दुष्टत्वात्सोपि दोहलः ।
आग्रहेण तदावोच-द्रेवती प्राणवल्लभम् ॥ ५० ॥
विदार्य हृदयं तेत्र रक्तपानं करोम्यहम् ।
यादृशो बालको गर्भे तादृशः स्त्रीमनोरथः ॥ ५१ ॥
ततस्तेन नरेन्द्रेण कारिते लेपानिर्मिते ।
स्वाकारे च तया चक्रे हा कष्टं पापकर्म तत् ॥ ५२ ॥
कैश्चिद्दिनैः सुतः सोपि संजातः कुलनाशकः ।
यथा वंशोद्भवो वन्हि-र्दहत्येव सुकाननम् ॥ ५३ ॥
तन्मुखं चोग्रसेनस्य तदालोकयतः स्वयम् ।
क्रूरदृष्टिं विधायोच्चै-र्बद्धो मुष्टिः सुतेन तु ॥ ५४ ॥

दुष्टोयमिति संज्ञात्वा स बालो भूभुजा तदा ।
स्वनाममुद्रिकारत्न-कम्बलाभ्यां समन्वितः ॥ ५५ ॥
धृत्वा कांस्यसमुत्पन्न-मंजूषायां प्रवेगतः ।
यमुनायां विनिर्मुक्तो दुष्टात्मा कस्य वा प्रियः ॥ ५६ ॥
कौशाम्ब्यां गंगभट्टाख्य-कल्पपालस्य भामिनी ।
राजोदरी समागत्य नदीतीरं जलार्थिनी ॥ ५७ ॥
तां समादाय मंजूषां दृष्ट्वा तं बालकं मुदा ।
कंसनाम विधायोच्चैः पोषयामास सा गृहे ॥ ५८ ॥
यदाष्टवार्षिको जातो दुष्टत्वात्परपुत्रकान् ।
निर्दयं हन्ति पापिष्ठः प्राणी कस्य सुखप्रदः ॥ ५९ ॥
निर्घाटितस्तया गेहात्स कंसो रौद्रमानसः ।
सौरीं पुरीं समागत्य वसुदेवमहीपतेः ॥ ६० ॥
शिष्यो भूत्वा सुशास्त्रज्ञो वरं कञ्चिच्च लब्धवान् ।
अत्रान्तरे कथां वक्ष्ये नत्वा श्रीमज्जिनेश्वरान् ॥ ६१ ॥
अथ सिंहरथो राजा जरासंधस्य शत्रुकः ।
नैव सिद्ध्यति दुष्टत्वा-त्ततोसौ चक्रभृज्जगौ ॥ ६२ ॥
सर्वसामन्तभूपाना-मग्रणीर्यस्तु सद्भटः ।
शीघ्रं सिंहरथं शत्रुं धृत्वा चानयति ध्रुवम् ॥ ६३ ॥
तस्मै जीवंजसां पुत्रीं स्वदेशं वाञ्छितं पुनः ।
ददामीति पुरे शीघ्रं दापयामास घोषणम् ॥ ६४ ॥
तच्छ्रुत्वा वसुदेवोसौ समुद्रविजयस्य वै ।
ज्येष्ठभ्रातुः समादेशा-त्सर्वसैन्यसमान्वितः ॥ ६५ ॥

पोदनंपुरमासाद्य सैन्यं धृत्वा पुराद्बहिः ।
सार्थवाहस्य रूपेण पुरे प्रच्छन्नभावतः ॥ ६६ ॥
सिंहमूत्रादिकं तत्र दापयित्वा गजादिषु । ?
रणे सिंहरथं जित्वा पातयामास भूतले ॥ ६७ ॥
पुनः कंसं प्रति प्राह वसुदेवः स्वसारथिम् ।
गृह्यते भो त्वया शीघ्रं शत्रुकश्चेति धीमता ॥ ६८ ॥
तेन क्रुद्धेन कंसेन बद्धः सिंहरथो नृपः ।
स्वयं तप्तो भवेद्वन्हिः किं पुनर्वायुना हतः ॥ ६९ ॥
तं गृहीत्वा द्रुतं सोपि वसुदेवो विचक्षणः ।
जरासन्धमहीभर्त्तु-रर्पयामास शत्रुकम् ॥ ७० ॥
जरासन्धस्तु सन्तुष्टो जगाद मम देहजाम् ।
गृहाणेमं शुभं देशं यत्तुभ्यं रोचते तराम् ॥ ७१ ॥
प्रोक्तं श्रीवसुदेवेन नायं बद्धो मया प्रभो ।
बद्धः कंसेन भो देव ततोस्मै दीयतेखिलम् ॥ ७२ ॥
कुलं पृष्टस्ततः प्राह कंसोयं सुभटाग्रणीः ।
कल्पपालीसुतोहं च भो नरेन्द्रेति सेवकः ॥ ७३ ॥
तल्लक्षणं समालोक्य जरासन्धो नरेश्वरः ।
तस्याः पुत्रोयमित्युच्चै-र्निश्चयो नैव संभवेत् ॥ ७४ ॥
इत्यालोच्य तदा शीघ्रं तामाकारयति स्म सः ।
भवन्ति प्रायशो भूपा भूतले चतुराशयाः ॥ ७५ ॥
कल्पपाली ततो भीत्या धृत्वा मंजूषिकां करे ।
तत्रागत्य नृपस्याग्रे तां मुक्त्वा चेति संजगौ ॥ ७६ ॥

नायं देव सुतो मेस्ति मंजूषायाः सुतोप्ययम् ।
इत्याकर्ण्य ततश्चक्री दृष्ट्वा तद्रत्नकम्बलम् ॥ ७७ ॥
उग्रसेनमहीभर्त्तु-स्तां विलोक्य च मुद्रिकाम् ।
ज्ञात्वा राजकुलोत्पन्नं ददौ तस्मै स्वपुत्रिकाम् ॥ ७८ ॥
जीवंजसाभिधां कंसः परिणीय महोत्सवैः ।
स्वपितुः पर्ववैरेण देशमादाय दुष्टधीः ॥ ७९ ॥
मथुरायां समागत्य प्रज्वलन्कोपवान्हिना ।
उग्रसेनं च संग्रामे धृत्वा कष्टेन तातकम् ॥ ८० ॥
पुरीगोपुरसान्निध्ये कृत्वा तं पंजरे दृढम् ।
दत्वा कोद्रवकाहारं काञ्जिकेन तु मिश्रितम् ॥ ८१ ॥
स्वयं राज्यं प्रकुर्वाणः संस्थितः क्रूरमानसः ।
अहो लोके भवत्येव कुपुत्रः कुलनाशकः ॥ ८२ ॥
तदा कंसलघुभ्राता दृष्ट्वा संसारचेष्टितम् ।
अतिमुक्तकनामासौ संजातो मुनिसत्तमः ॥ ८३ ॥
ततः कंसेन सद्भक्त्या गुरुत्वाद्वसुदेववाक् ।
संस्थापितः स्वसान्निध्ये प्रीतितो गुणमण्डितः ॥ ८४ ॥
अथेह मृतिकावत्यां पुर्यां देवकिभूपतेः ।
भार्याया धनदेव्यास्तु देवकीं चारुकन्यकाम् ॥ ८५ ॥
प्रतिपन्नस्वभगिनीं तां विवाहप्रयुक्तितः ।
कंसोसौ वासुदेवाय कुरुवंशोद्भवां ददौ ॥ ८६ ॥
देवक्याश्चैकदा पूर्वं पुष्यवत्याः सुचीरकम् ।
धृत्वा स्वमस्तके तूर्य-निनादेन महोत्सवैः ॥ ८७ ॥

पुरीमध्ये प्रनृत्यन्ती तदा जीवंजसा मुदा ।
चर्यागतमुनिं हास्या-दतिमुक्तकसंज्ञकम् ॥ ८८ ॥
चक्रिपुत्री जगौ तं च देवर त्वमपि स्फुटम् ।
नृत्यं कुरु स्वयं चेति यौवनादिमदोद्धता ॥ ८९ ॥
तेनोक्तं ज्ञानिना मुग्धे नृत्यं मे नैव कल्पते ।
मार्गं रुद्धा स्थिता सापि पापिनी कंसभामिनी ॥ ९० ॥
तदातिपीडितेनोक्तं मुनीन्द्रेणेति मूढधीः ।
किं नृत्यं त्वं करोषीति देवक्या पुत्रकेन हि ॥ ९१ ॥
भर्त्ता तव प्रहन्तव्य-स्तच्छ्रुत्वा तच्च चीरकम् ।
कोपतः सा द्विधा चक्रे पुनस्तेन प्रजल्पितम् ॥ ९२ ॥
त्वयेदं चीरकं मुग्धे कृतं द्वेधा यथा ध्रुवम् ।
तथा च देवकीभावीपुत्रः शूरमतल्लिकः ॥ ९३ ॥
संकरिष्यति भो बाले त्वत्पितुर्देहखण्डनम् ।
तत्समाकर्ण्य सा शीघ्रं कष्टतः स्वगृहं गता ॥ ९४ ॥
हसन्पापं प्रपुष्णाति प्राणी चाज्ञानभावतः ।
पश्चात्तत्कर्मणः सोपि फलं भुंक्ते सुकष्टतः ॥ ९५ ॥
पृष्टा कंसेन सा प्राह गलदश्रुविलोचना ।
तन्मुनेर्वचनं चित्ते महाचिन्ताविधायकम् ॥ ९६ ॥
तच्छ्रुत्वा कंसराजोसौ मूढात्मा जीविताशया ।
दुष्टबुद्धया ततो नत्वा वसुदेवं गुणोज्ज्वलम् ॥ ९७ ॥
देवक्या जनितः पुत्रो हन्तव्यः स मया ध्रुवम् ।
देवकी च प्रसूतिं मे गृहे कुर्यादिति स्फुटम् ॥ ९८ ॥

वरं याचितवान्पूर्वं सोपि तस्मै प्रदत्तवान् ।
नैव छद्म सतां चित्ते स्ववाक्यप्रतिपालने ॥ ९९ ॥
तन्निशम्य तदा प्राह देवकी स्वपतिं प्रति ।
तपो गृह्णामि भो देव पुत्रदुःखं सुदुस्सहम् ॥ १०० ॥
ततश्च वसुदेवोसौ देवक्या भार्यया सह ।
गत्वोद्याने समालोक्य फलिताम्रतरोरधः ॥ १०१ ॥
अतिमुक्तकनामानं नुनीन्द्रं ज्ञानलोचनम् ।
प्रणम्य च महाभक्त्या संजगौ भो यतीश्वर ॥ १०२ ॥
केन मे तनुजेनोच्चै-र्जरासन्धश्च कंसकः ।
हन्तव्यो ब्रूहि योगीन्द्र जिनेन्द्रपदपद्मभाक् ॥ १०३ ॥
देवक्या च तदा हस्त-धृताम्रतरुशाखिका ।
मुक्त्वा तस्यास्तु शाखायाः फलयुग्मत्रयं शुभम् ॥ १०४ ॥
ऊर्द्धगतं ततश्चैकं फलं भूमौ पपात तत् ।
अष्टमं च फलं पक्व-मूर्द्धभागं गतं पुनः ॥ १०५ ॥
तं निमित्तं समालोक्य तेनोक्तं ज्ञानचक्षुषा ।
शृणु भो वासुदेव त्वं महाभव्यशिरोमणे ॥ १०६ ॥
षट् पुत्रास्तेत्र निर्वाण-गामिनो नास्ति संशयः ।
सप्तमस्तु जरासन्ध-कंसयोः प्राणनाशकः ॥ १०७ ॥
अष्टमश्चाष्ट कर्माणि क्षयं नीत्वा विचक्षणः ।
ज्ञातव्यो मुक्तिकान्तायाः कान्तो भावी गुणाष्टभाक् ॥ १०८ ॥
तच्छ्रुत्वा मुनिनाथोक्तं परमानन्ददायकम् ।
स्वचित्ते संविचार्येति नान्यथा मुनिभाषितम् ॥ १०९ ॥

भक्त्या तौ तं मुनिं नत्वा संप्राप्तौ हर्षितौ गृहे ।
धर्मे श्रीमज्जिनेन्द्रोक्ते विश्वासः शर्मकारणम् ॥ ११० ॥
अथैकदा सती सैव देवकी शुद्धमानसा ।
कंसगेहे सुतं द्वंद्वं संप्रसूता शुभप्रदम् ॥ १११ ॥
तत्क्षणे पुण्ययोगेन तच्च देवतया द्वयम् ।
भद्रिलाख्यपुरे रम्ये श्रेष्ठी श्रीश्रुतदृष्टिवाक् ॥ ११२ ॥
अलकाख्या प्रिया तस्याः प्रसूतायाः समर्प्य च ।
मृतं तत्पुत्रयुग्मं तु देवक्याग्रे शनैर्धृतम् ॥ ११३ ॥
अहो पुण्यवतां पुंसां सुराः कुर्वन्ति रक्षणम् ।
तस्मात्पुण्यं जिनेन्द्रोक्तं कार्यं सत्सौख्यकारणम् ॥ ११४ ।
पुण्यं जिनेन्द्रपादाब्ज-चर्चनं परया मुदा ।
पात्रदानं व्रताद्यैस्तु संयुक्तं मुनिभिः स्मृतम् ॥ ११५ ॥
पापिना तेन कंसेन धृत्वा तन्मृतकद्वयम् ।
आस्फालितं शिलापीठे पापिनां धिक्च जीवितम् ॥ ११६ ॥
एवं तस्याः सुदेवक्याः पुत्रयुग्मत्रयं मुदा ।
देवतापूर्वपुण्येन स्थापयामास यत्नतः ॥ ११७ ॥
भद्रिलाख्यपुरे तत्र षट् पुत्रास्ते गुणोज्वलाः ।
चरमाङ्गधरा धीराः प्राप्ता वृद्धिं यथासुखम् ॥ ११८ ॥
ततोसौ सप्तमे मासे देवक्या चाष्टमीनिशि ।
सप्तमः शत्रुसन्दोह-ध्वंसकस्तनुजोभवत् ॥ ११९ ॥
तदा रात्रौ गलत्तोये तं समादाय देहजम् ।
संचचाल पिता धीरो रक्षार्थं वसुदेववाक् ॥ १२० ॥

छत्रं श्रीबलभद्रेण संधृतं बालकोपरि ।
रक्षाविधायिनी सापि देवता पुण्ययोगतः ॥ १२१ ॥
शीघ्रं वृषभरूपेण शृङ्गे कृत्वा सुदीपकम् ।
द्योतयामास सन्मार्ग-मग्रे भूत्वा शुभोदयात् ॥ १२२ ॥
वासुदेवपदाङ्गुष्ठ-स्पर्शमात्रेण पुण्यतः ।
अभूत्प्रतोलिकासार-कपाटं च निरर्गलम् ॥ १२३ ॥
समुत्तीर्य नदीं दत्त-पारां तां यमुनां ततः ।
मातृकादेवतागेहं सम्प्रविश्य सबालकौ ॥ १२४ ॥
प्रच्छन्नं देवतापृष्ठे यावत्तौ संस्थितौ भटौ ।
तावदेव प्रपुण्येन नन्दाख्यो यस्तु गोपकः ॥ १२५ ॥
तस्य प्रिया यशोदा च चन्दनाक्षतपुष्पकैः ।
पुत्रार्थिनी समाराध्य भक्त्या तां पुरदेवताम् ॥ १२६ ॥
तस्यामेव सती रात्रौ प्रसूता स्वगृहे सुताम् ।
तां विलोक्य ततो रुष्टा नन्दगोपस्य भामिनी ॥ १२७ ॥
गृहीत्वा पुत्रिकां कोपा-त्तत्रागत्य मठे तदा ।
धृत्वा तां देवताग्रे च गृहाण तव देवते ॥ १२८ ॥
इत्युक्त्वा निर्गता याव-त्तावत्तेनैव धीमता ।
तां पुत्रीं वसुदेवेन गृहीत्वा परया मुदा ॥ १२९ ॥
देवताग्रे निजं पुत्रं धृत्वा प्रच्छन्नतो द्रुतम् ।
गच्छन्ती भणिता सैवं हे यशोदे मनोहरम् ॥ १३० ॥
पुत्रमेतं गृहाण त्वं तच्छ्रुत्वा साच मूढधीः ।
तं समादाय संतुष्टा स्वगेहं गोपिका गता ॥ १३१ ॥

अहो पुण्यस्य सामग्री लक्ष्यते केन भूतले ।
यत्प्रसादाद्भवत्युच्चै-रचिन्त्यं फलमद्भुतम् ॥ १३२ ॥
तौ समादाय तां पुत्री-मागत्य स्वगृहं शनैः ।
अर्पयामासतुः शीघ्रं देवक्याः सुभटोत्तमौ ॥ १३३ ॥
तां प्रभाते समालोक्य देवक्यग्रे च पुत्रिकाम् ।
दुष्टात्मा नासिकाभङ्गं तस्याश्चक्रे स कंसकः ॥ १३४ ॥
वर्द्धमानेथ तत्रोच्चै-र्वासुदेवे स्वलीलया ।
कंसो गेहे च नक्षत्र-पाताद्युत्पातवीक्षणात् ॥ १३५ ॥
तदा नैमित्तिकं प्राह किमेतदिति कारणम् ।
ततः शकुनशर्माख्यो जगौ नैमित्तिकाग्रणीः ॥ १३६ ॥
हन्तव्यो येन भो देव त्वं क्षणेन प्रकोपतः ।
गोकुले वर्द्धमानस्तु सोपि संतिष्ठत भटः ॥ १३७ ॥
तदाकर्ण्य स कंसोपि स्मृत्वा पूर्वभवागताः ।
सिद्धा विद्याः प्रति प्राह भो देव्यो यत्र मे रिपुः ॥ १३८ ॥
मारणीयः स युष्माभि-र्वेगतो दुष्टमानसः ।
तच्छ्रुत्वा देवतास्ताश्च तं हन्तुं चक्रिरे मनः ॥ १३९ ॥
पूतना प्रथमा विद्या विषदुग्धस्तनी तदा ।
हन्तुकामा गता तत्र वासुदेवसमीपकम् ॥ १४० ॥
पीत्वा तत्क्षीरमत्युच्चै-र्वासुदेवेन वैरिणा ।
निर्घाटिता गता देवी प्राणसन्देहमाश्रिता ॥ १४१ ॥
द्वितीया काकदेवी च चञ्चुपक्षप्रलुञ्चनात् ।
यमलार्जुनदेवी सा बद्धोदूखलकेन च ॥ १४२ ॥

चतुर्थी निर्जिता विद्या निजपादप्रहारतः ।
शीघ्रं शाकटिका नष्टा मानभंगेन लज्जिता ॥ १४३ ॥
वृषाख्या गलभंगेन पंचमी दामिता तराम् ।
अश्वदेवी तथा षष्ठी गलस्योन्मोटनेन च ॥ १४४ ॥
मेघदेवी तदा तेन सप्ताहोरात्रिवर्षणैः ।
निर्जिता सप्तमी देवी वासुदेवेन धीमता ॥ १४५ ॥
शीघ्रं गोवर्द्धनोत्तुङ्ग-पर्वतोद्धारणेन च ।
काली नामाष्टमी देवी हता पद्मन्हदे मुदा ॥ २४६ ॥
भग्नास्ता देवताः सर्वाः प्रोक्त्वा कंसं प्रति द्रुतम् ।
समर्था देव नैवात्र वयं चेति स्वयं गताः ॥ १४७ ॥
ततश्चाणूरमल्लादि-मर्दनेसौ रणाङ्गणे ।
हत्वा कंसं दुरात्मानं वासुदेवः सुनिर्दयम् ॥ १४८ ॥
उग्रसेनं तथा राज्ये धृत्वा प्राज्ये गुणोज्वलम् ।
जरासन्धं द्विधा कृत्वा त्रिखण्डेशो बभूव च ॥ १४९ ॥
श्रीमन्महापुराणे च कथासौ विस्तरेण वै ।
ज्ञातव्या श्रीजिनेन्द्रोक्त-धर्मशास्त्रविचक्षणैः ॥ १५० ॥
इत्युच्चैर्बहुरागरोषवशतः के के न नष्टा स्वयं
लोकेधर्मपराङ्मुखा जडधियो दुष्कर्मजालाश्रिताः ।
ज्ञात्वैवं बुधसत्तमैः शुचितमैर्धर्मोजिनेन्द्रोदितः
संसेव्यो भवसिन्धुतारणपरः स्वर्गापवर्गप्रदः ॥ १५१ ॥

इति कथाकोशे वसिष्ठमुनेः कथा समाप्ता ।

४५–लक्ष्मीमत्या मानकथा ।

यस्य ज्ञानं जगद्वन्द्यो-र्लोकालोकप्रकाशकम् ।
श्रेयसे तं जिनं नत्वा वक्ष्ये मानकथानकम् ॥ १ ॥
देशेत्र मगधे ख्याते लक्ष्मीग्रामे मनोहरे ।
सोमदेवद्विजस्यासी-ल्लक्ष्मीमत्यभिधा प्रिया ॥ २ ॥
रूपसौभाग्यसल्लक्ष्मी-र्यौवनोन्मत्तमानसा ।
सदा विप्रत्वगर्वेण मण्डिता मण्डनप्रिया ॥ ३ ॥
एकदा सोमदेवोसौ ब्राह्मणो धर्मवत्सलः ।
पक्षमासोपवासादि-तपोरत्नाकरं मुनिम् ॥ ४ ॥
समाधिगुप्तनामानं चर्याकाले समागतम् ।
भक्त्या संस्थाप्य तं शीघ्रं दानार्थं त्रिजगद्धितम् ॥ ५ ॥
हे प्रिये भोजयेत्युच्चै-र्मुनीन्द्रं गुणशालिनम् ।
प्रोक्त्वेति कार्यन्यग्रत्वा-न्निर्गतो गेहतः स्वयम् ॥ ६ ॥
साप्यासने स्थिता मूढा पश्यन्ती दर्पणे मुखम् ।
स्वगर्वेण मुनेस्तस्य दत्वा दुर्वचनानि च ॥ ७ ॥
विचिकित्सां पुनः कृत्वा द्वाःकपाटं पिधाय च ।
तस्थौ दुष्टाशया कष्टं हा पापं किमतः परम् ॥ ८ ॥
मुनीन्द्रोपि जगद्वन्द्यो गतश्चारित्रमण्डितः ।
युक्तं पापात्मनां याति निधानं च गृहागतम् ॥ ९ ॥
तत्पापात्सप्तमे घस्रे महोदुम्बरकुष्ठिनी ।
संजाता ब्राह्मणी मानान्मुनेर्निन्दा न शान्तये ॥ १० ॥
सर्वैस्त्यक्ता जनैः पापा-त्तत्कष्टं सोढुमक्षमा ।
अग्निं प्रविश्य सा लक्ष्मी-मती मृत्वार्त्तमानसा ॥ ११ ॥

तत्रैव रजकस्याभू-द्गर्दभी पापकर्मणा ।
दुग्धपानं विना मृत्वा जाता तत्रैव शूकरी ॥ १२ ॥
कुक्कुरी क्रूरपापेन पुनस्तत्रैव कुक्कुरी ।
सापि दावाग्निना दग्धा कुक्कुरी प्राणहारिणा ॥ १३ ॥
अहो हालाहलं घोरं वरं जन्मैकदुःखदम् ।
भक्षितं न पुनर्निन्दा मुनीनां शीलशालिनाम् ॥ १४ ॥
पत्तने भृगुकच्छाख्ये नर्मदारुनदीतटे ।
काणा नाम्नी सुदुर्गन्धा साभूद्धीवरपुत्रिका ॥ १५ ॥
मानतो ब्राह्मणी जाता क्रमाद्धीवरदेहजा ।
जातिगर्वो न कर्त्तव्य-स्ततः कुत्रापि धीधनैः ॥ १६ ॥
तत्र नावा जनान्नित्यं सा समुत्तारयत्यलम् ।
एकदा तं समालोक्य मुनीन्द्रं ज्ञानलोचनम् ॥ १७ ॥
नदीतीरे प्रणम्योच्चैः संजगौ त्वं मया प्रभो ।
क्वापि दृष्टोसि तच्छ्रुत्वा तेनोक्तं पूर्ववृत्तकम् ॥ १८ ॥
त्वं बालिके पुरा लक्ष्मी-ग्रामे लक्ष्मीमती कुधीः ।
सोमदेवद्विजस्योच्चै-र्भामिनी मानवञ्चिता ॥ १९ ॥
कृत्वा मे निन्हवं मुग्धे महाकष्टेन पीडिता ।
अग्नौ मृत्वा पुनर्जाता गर्दभी शूकरी क्रमात् ॥ २० ॥
तत्रैव कुक्कुरी भूत्वा कुक्कुरी च ततो मृता ।
अत्र जातासि दुर्गन्धा धीवरीकुक्षिसंभवा ॥ २१ ॥
इत्यादिकं समाकर्ण्य सैव धीवरबालिका ।
ततो जातिस्मरी भूत्वा नत्वा तं मुनिनायकम् ॥ २२ ॥

भो मुने पापकर्माहं संजगादेति दुःखिता ।
रक्ष रक्षात्र योगीन्द्र मां पतन्तीं कुयोनिषु ॥ २३ ॥
ततः समाधिगुप्तेन मुनीन्द्रेण प्रजाल्पितम् ।
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं सुरेन्द्राद्यैः समर्चितम् ॥ २४ ॥
संजाता क्षुल्लिका तत्र तपः कृत्वा स्वशक्तितः ।
मृत्वा स्वर्गं समासाद्य तस्मादागत्य भूतले ॥ २५ ॥
कुण्डाख्यनगरे राजा भीष्मो राज्ञी यशस्वती ।
तयोः पुत्री बभूवासौ रूपिणी रूपमण्डिता ॥ २६ ॥
वासुदेवेन सा कन्या परिणीता गुणोज्वला ।
पुण्येन सर्वजन्तूनां भवेयुः सम्पदोखिलाः ॥ २७ ॥

सुकुलजन्मयशोवरसम्पदा
सकलशास्त्रमतिर्बुधसंगमः ।
सुगतिरद्भुतशर्म शिवोद्भवं
भवति जैनमतोत्तमसेवनात् ॥ २८ ॥

इति कथाकोशे लक्ष्मीमत्या मानकथा समाप्ता ।

४६–मायाविनी-पुष्पदत्तायाः कथा ।

प्रणम्य त्रिजगन्नाथं श्रीजिनं शर्मकोटिदम् ।
मायाशल्यकथां माया-विनाशाय गदाम्यहम् ॥ १ ॥
अत्राभूदजितावर्त्त-पत्तने सुचिरंतने ।
पुष्पचूलो महाराजः पुष्पदत्ता प्रियाभवत् ॥ २ ॥

एकदासौ महीनाथो राज्यं कुर्वन्निजेच्छया ।
अमरादिगुरोः पार्श्वे मुनन्द्रिस्य महाधियः ॥ ३ ॥
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ।
त्रिधा वैराग्यमासाद्य मुनिर्जातो विचक्षणः ॥ ४ ॥
पुष्पदत्ता च सा राज्ञी बह्मिलाख्यार्यिकान्तिके ।
आर्यिकारूपमादाय कुलैश्वर्यादिगार्विता ॥ ५ ॥
अन्यासामार्यिकाणां च धर्मतत्वपराङ्मुखा ।
वन्दनां न करोति स्म धिङ्मूढाना कुचेष्टितम् ॥ ६ ॥
तथासौ पुष्पदत्ताख्या मूढात्मा स्वशरीरके ।
सुगंन्धद्रव्यकेनोच्चैः संस्कारं कुरुते स्म च ॥ ७ ॥
तदा सा ब्रह्मिला प्राह जैनमार्गे विचक्षणा ।
आर्यिके पुष्पदत्ते भो तवेदं नैव युज्यते ॥ ८ ॥
तच्छ्रुत्वा सापि दुष्टात्मा मायावाक्यं जगाद च ।
भो कन्तिके स्वभावेन सुगन्धं मे शरीरकम् ॥ ९ ॥
यस्य चित्ते स्वयं नास्ति धर्मः श्रीमज्जिनेशिनाम् ।
बोधितस्यापि दुष्टत्वा-त्तस्य दुष्कर्म पापिनः ॥ १० ॥
एवं मायामहाशल्य-मंडिता पुष्पदत्तिका ।
मृत्वा पापेन चम्पायां तद्राजश्रेष्ठिनो गृहे ॥ ११ ॥
जाता सागरदत्तस्य दासी पूतिमुखी कुधीः ।
इति ज्ञात्वा बुधैर्नित्यं त्याज्यं मायाकुकर्म तत् ॥ १२ ॥
मायासौ पशुयोनिदुःखजननी माया कुलध्वंसिनी
माया रूपयशोमहत्वसुगतिश्रीशर्मनिर्नाशिनी ।

ज्ञात्वेत्थं जिनधर्मकर्मनिरतैः सत्पंडितैर्दूरत—
स्त्यक्त्वा तां भवसागरस्य लतिकां धर्मेत्र कार्या मतिः॥ १३॥

इति कथाकोशे मायाविनी-पुष्पदत्ता-कथा समाप्ता ।

४७—मरीचि-कथा ।

शर्मशस्याम्बुदं नत्वा श्रीजिनाङ्घ्रिद्वयं मुदा ।
वक्ष्ये मरीचिवृत्तान्तं पूर्वसूत्रानुसारतः ॥ १ ॥
अयोध्यानगरे पूर्वं चक्रिणो भरतेशिनः ।
पुत्रो मरीचिनामाभू-द्भव्यात्मा भद्रमानसः ॥ २ ॥
इन्द्रनागेन्द्रचन्द्राद्यै-श्चर्चितेन निरन्तरम् ।
श्रीमदादिजिनेनामा सोपि जातो मुनिस्ततः ॥ ३ ॥
एकदा तं जिनाधीशं श्रीमत्तीर्थकरं मुदा ।
समवादिसृतौ नत्वा जगाद भरतेश्वरः ॥ ४ ॥
स्वामिन्नग्रे भविष्यन्ति ये त्रयो विंशतिर्जिनाः ।
तेषां मध्येत्र कोप्यस्ति तीर्थेशां भावितीर्थकृत् ॥ ५ ॥
तेनोक्तं श्रीजिनेन्द्रेण केवलज्ञानचक्षुषा ।
भो वत्स ते सुतश्चायं मरीचिर्नैव संशयः ॥ ६ ॥
अन्त्यतीर्थकराधीशो भविष्यति गुणोज्वलः ।
तच्छ्रुत्वा भरताधीशः संजातो हर्षसंकुलः ॥ ७ ॥
मरीचिस्तु तदाकर्ण्य मूढबुद्धिप्रभावतः ।
त्यक्त्वा व्रतं च सम्यक्त्वं मुक्त्वा भूत्वा कुलिंगिभाक् ॥ ८ ॥

परिव्राजकरूपादिनाना सांख्यमतादिकम् ।
संप्रकाश्य स्वयं घोरे संसारे दुःखसागरे ॥ ९ ॥
नाना जन्मांतरा गाधे संभ्रान्तो भूरिभीतिदे ।
प्रमादो देहिनां लोके विघ्नकारीति शत्रुवत् ॥ १० ॥
अज्ञानाद्भव्यजन्तुश्च भवेद्दुःखी प्रमादवान् ।
तस्माद्भव्यैर्न कर्त्तव्यो धर्मकार्ये प्रमादकः ॥ ११ ॥
ततः कालान्तरे कष्टं भ्रमित्वा भूरि संसृतौ ।
मरीचिर्मोहमाहात्म्या-त्पश्चाच्छ्रीजिनधर्मतः ॥ १२ ॥
नन्दाख्यो भूपतिर्भूत्वा गुरुं नत्वाभवन्मुनिः ।
उपार्ज्य तीर्थकृन्नाम षोडशोत्कृष्टकारणैः ॥ १३ ॥
भुक्त्वा स्वर्गसुखं दिव्यं समागत्य महीतले ।
ख्याते कुण्डपुरेत्रैव श्रीसिद्धार्थमहीपतेः ॥ १४ ॥
पुत्रोऽभूत्प्रियकारिण्या-स्तीर्थकृद्भुवनार्चितः ।
कुमारत्वे समादाय दीक्षां जातो मुनीश्वरः ॥ १५ ॥
घातिकर्मक्षयं कृत्वा केवलज्ञानभास्करः ।
सर्वदेवेन्द्रनागेन्द्र-नरेन्द्राद्यैः प्रपूजितः ॥ १६ ॥
भव्यान्सम्बोध्य सन्मार्गे स्वर्गमोक्षसुखप्रदः ।
शेषकर्मक्षयं कृत्वा सम्प्राप्तो मोक्षमक्षयम् ॥ १७ ॥
अहो भव्यास्ततो नित्यं भवन्तः सारशर्मणे ।
चित्ते संभावयन्तूच्चै-र्नान्यथा जिनभाषितम् ॥ १८ ॥
स जयतु शुभकर्त्ता वर्द्धमानो जिनेन्द्रः
सकलभुवननाथैः पूजितो बोधसांद्रः ।

सुरनरखचरेन्द्रोत्कृष्टसौख्यं प्रदत्वा
फलति परमलक्ष्मीं शाश्वतीं यस्य भक्तिः ॥ १९ ॥

इति कथाकोशे मरीचि-कथा समाप्ता ।

४८—गन्धमित्रस्य कथा ।

नत्वानन्तगुणाधीशं श्रीजिनं त्रिजगद्धितम् ।
घ्राणेन्द्रियकथां गन्ध-मित्रस्य रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
अयोध्यापत्तने राजा सुधीर्विजयसेनवाक् ।
राज्ञी विजयमत्याख्या तयोः पुत्रौ बभूवतुः ॥ २ ॥
ज्येष्ठोसौ जयसेनाख्यो द्वितीयो गन्धमित्रकः ।
नाना सुगन्धपुष्पादौ लम्पटो मधुलिट् यथा ॥ ३ ॥
एकदासौ महीनाथ-स्त्रिधा वैराग्ययोगतः ।
स्वराज्यं ज्येष्ठपुत्राय दत्वा स्नपनपूर्वकम् ॥ ४ ॥
गन्धमित्रं लघुं पुत्रं युवराज्ये विधाय च ।
मुनेः सागरसेनस्य पादमूले सुभक्तितः ॥ ५ ॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं मुनिर्जातो विचक्षणः ।
धर्मकर्मरतो नित्यं भवेत्प्राणी सुलक्षणः ॥ ६ ॥
गन्धमित्रेण तेनापि महातृष्णातुरेण च ।
राज्यमुद्दाल्य तत्पुर्या ज्येष्ठो निर्घाटितो हठात् ॥ ७ ॥
राज्यलक्ष्मीर्महापापं ज्ञातव्यं प्रायशो भुवि ।
यत्रासक्तो जनो मूढो हन्ति बन्धूनपि ध्रुवम् ॥ ८ ॥

तदासौ जयसेनश्च राज्यभ्रष्टः सुदुःखितः ।
तस्य संमारणोपायं स्वचित्ते चिन्तयत्यलम् ॥ ९ ॥
गन्धमित्रः सदा स्त्रीभिः संयुतः सरयूनदीम् ।
गत्वा तत्र जलक्रीडां प्राणासक्तः करोति सः ॥ १० ॥
तन्मत्वा जयसेनेन ज्येष्ठभ्रात्रा प्रकोपतः ।
विषवासितपुष्पाणि सुगन्धानि प्रपञ्चतः ॥ ११ ॥
तेन मुक्तानि तन्नद्यां तान्यादाय प्रवेगतः ।
गन्धमित्रस्तु मूढात्मा पुष्पाण्याघ्राय लम्पटः ॥ १२ ॥
मृत्वा घ्राणेन्द्रियासक्तः संप्राप्तो नरकं कुधीः ।
इन्द्रियाणां वशः प्राणी क्षयं यान्ति क्षितौ विधिः ॥ १३ ॥
एकेनापि वशीकृतोत्र विषयेनोच्चैर्नरेन्द्रात्मजः
सम्प्राप्तो नरकं सुदुःखकलितं हा गन्धमित्रः कुधीः ।
मूढो यस्तु समस्तभोगनिरतः कष्टं न किं यास्यति
सोप्येवं सुविचार्य पंडितजनः श्रीजैनधर्मेस्तु वै ॥ १४ ॥

इति कथाकोशे घ्राणदोषाख्याने गन्धमित्रस्य कथा समाप्ता।

४९–गन्धर्वसेनायाः कथा।

सर्वसौख्यप्रदं नत्वा पादद्वैतं जिनेशिनः ।
वक्ष्ये गन्धर्वसेनाया श्चरित्रं मूढचेतसः ॥ १ ॥
पुरे पाटलिपुत्राख्ये राजा गन्धर्वदत्तकः ।
राज्ञी गन्धर्वदत्ताभूत्तयोः पुत्री बभूव च ॥ २ ॥

नाम्ना गन्धर्वसेनासौ नाना गान्धर्वशास्त्रवित् ।
यो जयत्यत्र मां धीरो लसद्गन्धर्वविद्यया ॥ ३ ॥
स मे भर्त्ता भवत्येव नान्यथेति प्रगर्विता ।
प्रतिज्ञां च समादाय क्षत्रियाज्ञयति स्म सा ॥ ४ ॥
श्रुत्वा तां वार्त्तिकां धीमान्पोदनाख्यपुरात्स्वयम् ।
युतः पञ्चशतैश्छात्रैः पांचालस्तत्कलाचणः ॥ ५ ॥
उपाध्यायः समागत्य वादार्थी परया मुदा ।
तत्र पाटलिपुत्रस्य स्थित्वोद्याने मनोहरे ॥ ६ ॥
समायाति यदा कोपि सूचनीयः स मे ध्रुवम् ।
इत्युक्त्वाशोकवृक्षाधः सुप्तोसौ छात्रकान्प्रति ॥ ७ ॥
पुरं द्रष्टुं गतास्तेपि छात्रकाः कौतुकात्तदा ।
तत्र गन्धर्वसेना सा वीक्षितुं तं समागता ॥ ८ ॥
पृष्ट्वा छात्रं च तन्नाम दृष्ट्वा तं निद्रयाश्रितम् ।
वीणासमूहमध्यस्थं लालालिप्तमुखाम्बुजम् ॥ ९ ॥
तत्रारुचिं विधायोच्चै-र्गन्धपुष्पादिवस्त्रकैः ।
तं पादपं समभ्यर्च्य गता गेहं नृपात्मजा ॥ १० ॥
पाञ्चालोशोकवृक्षं च समालोक्य समर्चितम् ।
श्रुत्वा तद्वृत्तकं सर्वं हंहो जातं विरूपकम् ॥ ११ ॥
इत्युक्त्वा तत्पुरं गत्वा नत्वा तं भूपतिं बुधः ।
तत्कन्यामन्दिराभ्यर्णे स्वस्थानं संगृहीतवान् ॥ १२ ॥
तत्र पश्चिमरात्रौ च वीणायाः सुस्वरं मुदा ।
गीतं चकार पाञ्चालो जनानां श्रुतिपेशलम् ॥ १३ ॥

श्रुत्वा गन्धर्वसेना सा गीतं चेतोनुरंजनम् ।
तदासक्ता ततो भूत्वा कुरंगीव प्रवेगतः ॥ १४ ॥
तत्सम्मुखं प्रगच्छन्ती प्रासादाद्भद्रसात्तदा ।
पपात भ्रान्तितः कष्टं मृत्वा दीर्घभवं गता ॥ १५ ॥
कन्याकर्णरसेन लम्पटमतिर्गंधर्वसेना कुधीः
सम्प्राप्ता भवसागरेति विषमे दुष्कर्मणा मज्जनम् ।
चित्ते चेति विचार्य दुःखजनकं पञ्चेन्द्रियाणां सुखं
सन्तः श्रीजिनधर्मशर्मनिलयं नित्यं श्रयन्तु श्रिये ॥१६॥

इति कथाकोशे कर्णेन्द्रियाख्याने गन्धर्वसेनायाः कथा समाप्ता ।

५०–भीमराज्ञः कथा ।

नत्वाहं केवलज्ञान-लोचनं श्रीजिनेश्वरम् ।
वक्ष्ये भीमनृपाख्यानं सतां वैराग्यकारणम् ॥ १ ॥
कांपिल्यनगरे राजा भीमो भीमाशयः कुधीः ।
सोमश्रीर्भामिनी तस्यां भीमदासः सुतोभवत् ॥ २ ॥
कुलक्रमागतत्वाच्च नन्दीश्वरमहाविधौ ।
जीवघातनिषेधस्य दापिता तेन घोषणा ॥ ३ ॥
तत्र तेनैव भीमेन मांसासक्तेन पापिना ।
सूपकारः स्वयं मांसं याचितो दुष्टचेतसा ॥ ४ ॥
सोपि बालं श्मशानाच्च समानीय मृतं तदा ।
भूपतेस्तस्य संस्कृत्य ददौ भीमस्य पापिनः ॥ ५ ॥

तद्भक्षणात्तदा भीमो जिह्वादुस्वादुलम्पटः ।
सूपकारं प्रति प्राह कस्मान्मृष्टमिदं वद ॥ ६ ॥
लब्धाभयेन तेनापि प्रोक्ते तस्मिन्कुकर्मणि ।
भीमो जगाद मे देहि तदेवं नरजंगलम् ॥ ७ ॥
सूपकारस्तदा पापी लड्डुकादिप्रवञ्चनैः ।
नित्यमेकं कुधीर्बालं जनानां हन्ति तत्कृते ॥ ८ ॥
यस्तु पापीजनो लोके संगतिस्तस्य तादृशी ।
यथा भीमस्य सम्पन्नः सूपकारोतिपापधीः ॥ ९ ॥
ज्ञात्वा जनेन तत्सर्वं तयोः पापप्रचेष्टितम् ।
प्रोक्तं मंत्रिकुमाराणां ततस्तैर्नीतिवेदिभिः ॥ १० ॥
भीमदासो विशिष्टात्मा राजपुत्रो महोत्सवैः ।
राज्ये संस्थापितो भक्त्या प्रजानां हितकारकः ॥ ११ ॥
कांपिल्यनगरात्सोपि भीमो दुष्टाशयो द्रुतम् ।
निर्घाटितः कुधीस्तेन सूपकारेण संयुतः ॥ १२ ॥
पापिनः स्वप्रजापुत्र-मित्रमंत्र्यादयो जनाः ।
सर्वे स्युर्बान्धवाश्चापि शत्रवो नात्र संशयः ॥ १३ ॥
ततस्तेन च भीमेन कानने सूपकारकः ।
महाक्षुधातुरेणाशु भक्षितः पापकर्मणा ॥ १४ ॥
सोपि भीमः स्वपापेन मेखलाख्यपुरं गतः ।
मारितो वसुदेवेन संप्राप्तो नरकं ततः ॥ १५ ॥

विगतधर्ममतिर्भवसागरे
पतति कर्मकलंकवशीकृतः ।

बुधजनाश्च ततो वरशर्मणे
शुभकरं जिनधर्मं भजन्तु वै ॥ १६ ॥

इति कथाकोशे रसनेन्द्रियलुब्धभीमराज्ञः कथा समाप्ता ।

५१—नागदत्तायाः कथा ।

श्रीजिनं त्रिजगत्स्वामि—समर्चितपदद्वयम् ।
नत्वाहं नागदत्ताया-श्चरित्रं रचयामि च ॥ १ ॥
आभीराख्यमहादेशे नासक्यनगरे वरे ।
वणिक्सागरदत्तोभू-न्नागदत्ता च तत्प्रिया ॥ २ ॥
श्रीकुमारस्तयोः पुत्रः श्रीषेणा तनुजाजनि ।
निजेन नन्दगोपेन नागदत्ता रताभवत् ॥ ३ ॥
एकदा नागदत्ताया वाक्यतः सोपि गोपकः ।
व्याधिव्याजेन दुष्टात्मा संस्थितश्च गृहे तदा ॥ ४
स्वयं सागरदत्तस्तु गृहीत्वा गोधनं तदा ।
गत्वा पश्चिमरात्रौ च सुप्तोटव्यां सुनिश्चलः ॥ ५ ॥
तत्र गत्वा स नन्देन मारितः पापकर्मणा ।
परस्त्रीलम्पटो जीवः किं करोति न निन्दितम् ॥ ६ ॥
तदासौ नागदत्ता च नन्दको निन्दितो भुवि ।
दुराचारं प्रकुर्वन्तौ स्थितौ गेहे दुराशयौ ॥ ७ ॥
श्रीकुमारस्तदा मातुः पापकर्मप्रपीडितः ।
नित्यं चित्ते करोत्येव महाकष्टं सुलज्जितः ॥ ८ ॥

रुष्टया च तया नन्दः पापिन्या प्रेरितः पुनः ।
श्रीकुमारमपि त्वं रे मारयेत्यत्र गोपकः ॥ ९ ॥
तथा नन्दः स्थितो गेहे रोगव्याजेन पापधीः ।
ततो गोधनमादाय गच्छन्स श्रीकुमारकः ॥ १० ॥
भगिन्या भणितः शीघ्रं बान्धवः श्र्यादिषेणया ।
नागदत्ताज्ञया धीर यथा ते मारितः पिता ॥ ११ ॥
मार्यसे त्वमपि व्यक्तं नन्दकेनाद्य पापिना ।
कुरु त्वं यत्नमत्युच्चै-स्तच्छ्रुत्वा श्रीकुमारवाक् ॥ १२ ॥
गत्वाटव्यां महाकाष्ठं वस्त्रेणाछाद्य वेगतः ।
धृत्वा वने स्वयं तत्र तिरो भूत्वा च संस्थितः ॥ १३ ॥
ततो नन्देन गत्वाशु हते खड्गेन दारुके ।
सेल्लेन श्रीकुमारेण हतो नन्दः सुपृष्ठतः ॥ १४ ॥
प्रभाते गृहमायातो गृहीत्वा गोधनं तदा ।
दोहनार्थं कुमारोसौ तया पृष्टः सुदुष्टया ॥ १५ ॥
त्वां गवेषयितुं पुत्र प्रेषितो नन्दको मया ।
कुत्र संतिष्ठते सोपि तच्छ्रुत्वा नन्दनोवदत् ॥ १६ ॥
अयं जानाति सेल्लो मे ततस्तं वीक्ष्य सेल्लकम् ।
रक्तलिप्तं सुपापिन्या दुष्टया नागदत्तया ॥ १७ ॥
आहत्य मुषलेनैव मारितः श्रीकुमारकः ।
श्रीषेणयातिकोपेन सा तदा दुष्टमानसा ॥ १८ ॥
मारिता मुशलेनाशु नागदत्ता सुपापिनी ।
मृत्वा च नरकं प्राप्ता पापी पापेन पच्यते ॥ १९ ॥

धिक्कामं सुदुराचारं येनासक्तो जनः कुधीः ।
महापापमुपार्ज्यैवं स्वयं यात्येव दुर्गतिम् ॥ २० ॥
तस्माद्भव्यैर्जिनेन्द्रोक्तं शीलं शर्मशतप्रदम् ।
पालनीयं जगच्चेतो-रंजनं धर्महेतवे ॥ २१ ॥
शीलं श्रीजिनभाषितं शुचितरं देवेन्द्रवृन्दैः स्तुतं
शीलं दुःखकलंकपंकसलिलं शीलं जगन्मोहनम् ।
ये भव्याः प्रतिपालयन्ति नितरां नित्यं सुशर्मप्रदं
भुक्त्वा ते त्रिदशादिसौख्यमतुलं शुद्धं लभन्ते सुखम् ॥२२॥

इति कथाकोशे नागदत्तायाः कथा समाप्ता ।

५२–द्वीपायनमुनेः कथा ।

प्रणम्य त्रिजगत्पूज्यं श्रीजिनं शर्मकोटिदम् ।
द्वीपायनस्य संवक्ष्ये चरित्रं ... मुनिभाषितम् ॥ १ ॥
पुरी द्वारवती ख्याता ... देशे सौराष्ट्रसंज्ञके ।
श्रीमन्नेमिजिनेन्द्रत्रौ...स्य जन्ममायापवित्रिता ॥ २ ॥
तत्र श्रीबल...भद्राख्य-वासुदेवौ नरेश्वरौ ।
महाराज्यं प्रकुर्वन्तौ नवमौ हलिकेशवौ ॥ ३ ॥
एकदा तौ जगत्पूज्यं श्रीमन्नेमिजिनाधिपम् ।
ऊर्जयन्तगिरौ नत्वा समवादिसृतौ स्थितम् ॥ ४ ॥
अष्टधा सुमहाद्रव्यैः समभ्यर्च्य सुभक्तितः ।
स्तुत्वा सद्धर्ममाकर्ण्य हृष्टो ज्येष्ठो जगाद च ॥ ५ ॥

जगद्बन्धो जिनाधीश केवलज्ञानलोचन।
ब्रूहि भो त्रिजगन्नाथ प्रोल्लसत्करुणार्णव ॥ ६ ॥
ईदृशी वासुदेवस्य सम्पदा शर्मदायिनी।
भविष्यति कियत्कालं लोकालोकप्रकाशक ॥ ७ ॥
तदा प्राह जिनाधीशो वासुदेवस्य सम्पदा।
स्थित्वा द्वादशवर्षेषु ततो नाशं प्रयास्यति ॥ ८ ॥
यादवानां क्षयो मद्या-द्भविष्यति निसंशयः।
दाहो द्वारवतीपुर्या द्वीपायनकुमारतः ॥ ९ ॥
अनया छुरिकया च बलभद्र त्वदीयया।
जरत्कुमारहस्तेन वासुदेवक्षयो ध्रुवम् ॥ १० ॥
तच्छ्रुत्वा वासुदेवेन मद्यं सर्वं प्रवेगतः।
ऊर्जयन्तगिरेः कुंजे निक्षिप्तं पापकारणम् ॥ ११ ॥
द्वीपायनो मुनिर्भूत्वा पूर्वदेशं गतो द्रुतम्।
मूढाः कुर्वन्तु कर्माणि नान्यथा जिनभाषितम् ॥ १२ ॥
छुरिका बलभद्रस्य घृष्टा सूक्ष्मा च सागरे।
निक्षिप्ता सा तु मत्स्येन गृहीता कर्मयोगतः ॥ १३ ॥
पारंपर्येण तां प्राप्य विध्वस्तछुरिकां तदा।
चक्रे जरत्कुमारोसौ बाणाग्रं पापकर्मणा ॥ १४ ॥
ततो द्वादश वर्षेषु द्वीपायनमुनिर्मुदा।
अजानन्नधिकान्मासान्समागत्य निजेच्छया ॥ १५ ॥
ऊर्जयन्तगिरेः पार्श्वे स्थितश्चातापनेन सः।
योगेन कर्मणां योगो हन्यते केन भूतले ॥ १६ ॥

तस्मिन्नेव दिने पाप-कर्मणा प्रेरितैर्भृशम् ।
यादवानां कुमाराद्यैः क्रीडां कृत्वा च पर्वते ॥ १७ ॥
मार्गे महातृषाक्रान्तै-र्भ्रान्त्या मद्याश्रितं जलम् ।
पीत्वा पुरं प्रगच्छद्भि-र्मत्तवन्नष्टचेतनैः ॥ १८ ॥
द्वीपायनमुनेरग्रे रक्षार्थं भक्तितस्तराम् ।
सार्द्धं श्रीवासुदेवेन बलभद्रेण निर्मिताम् ॥ १९ ॥
पाषाणवृत्तिमालोक्य पाषाणैः स मुनिस्तदा ।
पूरितस्तैर्महापापं हा कष्टं मद्यचेष्टितम् ॥ २० ॥
मत्तो मातृभगिन्यादौ कामचेष्टां प्रवाञ्छति ।
वेत्ति किंचिन्न पापात्मा मद्यपानी सुनिर्दयः ॥ २१ ॥
तां वार्त्तां च समाकर्ण्य बलभद्रेण धीमता ।
युतेन वासुदेवेन तत्रागत्य प्रभक्तितः ॥ २२ ॥
सोपि कण्ठगतप्राणो द्वीपायनमुनिर्द्रुतम् ।
सत्क्षमां कारितो मूढो दर्शयामास चांगुली ॥ २३ ॥
ततो मृत्वा क्रुधा भूत्वा सोपि भावनदेवकः ।
तौ द्वौ मुक्त्वाग्निना पापी सर्वां द्वारवतीं पुरीम् ॥ २४ ॥
भस्मीचक्रेति कोपेन किं करोति न मूढधीः ।
ततो भव्यैः प्रशान्त्यर्थं कोपः सन्त्यज्यते सदा ॥ २५ ॥
नष्ट्वा तौ भ्रातरौ कष्टं देहमात्रपरिग्रहौ ।
संप्राप्तौ काननं घोरं पापपाके क सम्पदा ॥ २६ ॥
पुण्योदये सुखी प्राणी भवेद्दुःखी स्वपापतः ।
तस्मात्पापं परित्यज्य पुण्यं कुर्वन्तु धीधनाः ॥ २७ ॥

पुण्यं पात्राश्रितं दानं पुण्यं श्रीजिनपूजनम् ।
पुण्यं शीलोपवासाद्यै-र्भाषितं पूर्वसूरिभिः ॥ २८ ॥
वने जरत्कुमारेण तेन बाणेन कष्टतः ।
वासुदेवस्तृषाक्रान्तो हतः स्वस्थानकं गतः ॥ २९ ॥
शोकाच्छ्रीबलभद्रस्तु संवहन्मृतकं तदा ।
पूर्वजन्मप्रमित्रेण देवेन प्रतिबोधितः ॥ ३० ॥
चन्दनाद्यैः सुधीः शीघ्रं कृत्वा तद्दहनक्रियाम् ।
त्रिधा वैराग्यसम्पन्नो जैनतत्वविदांवरः ॥ ३१ ॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं तपः कृत्वा सुदुस्सहम् ।
तुंग्यां सम्प्राप्य माहेन्द्र-स्वर्गे देवो बभूव सः ॥ ३२ ॥
लसत्किरीटभूषाद्यै-र्दिव्यवस्त्रैः सुभूषितः ।
सेवितः सुरसन्दोहै-रप्सरोभिः समान्वितः ॥ ३३ ॥
नाना भोगान्प्रभुञ्जानः स्वर्गलोकसमुद्भवान् ।
मेरुकैलासशैलादौ जिनबिम्बानि पूजयन् ॥ ३४ ॥
महाभक्त्या विमानस्थो गत्वा सद्धर्महेतवे ।
साक्षात्तीर्थङ्करानुच्चैः सद्दृष्टिस्तान्समर्चयन् ॥ ३५ ॥
इत्यादिश्रीजिनाधीश-महासेवापरायणः ।
स देवः पूर्वपुण्येन संस्थितस्तत्र सौख्यतः ॥ ३६ ॥
स श्रीमान्बलभद्रदेवसुमुनी रत्नत्रयालङ्कृतः
श्रीमज्जैनपदाब्जयुग्ममधुलिट् चारित्रचूडामणिः ।
शान्तिं कान्तिमनःप्रसन्नसहितां नित्यं महामङ्गलं
दद्यान्मे गुणरत्नरंजितमतिः सद्बोधसिन्धुः सुखम् ॥ ३७ ॥

इति कथाकोशे द्वीपायनमुनेः कथा समाप्ता ।

५३—मद्यदोष-कथा ।

श्रीमत्सर्वज्ञमानम्य वक्ष्ये सम्पद्विधायकम् ।
जनानां प्रतिबोधाय मद्यदोषकथानकम् ॥ १ ॥
एकचक्रपुरात्पूर्वं गंगां गन्तुं विनिर्गतः ।
एकपादविधो वेद-वेदाङ्गानां सुपारगः ॥ २ ॥
स परिव्राजको विष्णु-चरणाम्भोजषट्पदः ।
मार्गे गच्छन्विधेर्योगा-त्प्राप्तो विन्ध्याटवीं तदा ॥ ३ ॥
तत्राटव्यां वयोन्मत्तैः प्रोन्मत्तैर्मद्यपानतः ।
मांसासक्तैः कुमातंगै-र्मातंगीगीतसङ्गतैः ॥ ४ ॥
मार्गे रुद्ध्वा धृतः सोपि भणितश्चेति रे द्विज ।
मद्यमांसनवस्त्रीणां मध्ये यद्रोचते तराम् ॥ ५ ॥
तदेकं क्रियते कर्म त्वया भो नान्यथा ध्रुवम् ।
जीवता दृश्यते गंगा-नदी रे मूढमानस ॥ ६ ॥
सोपि तत्र स्मृतेर्वाक्यं चिन्तयामास चेतसि ।
तिलसर्षपमात्राच्च दोषाः स्युर्मांसभक्षणात् ॥ ७ ॥

यतः—

तिलसर्षपमात्रं च मांसं खादन्ति ये नराः ।
तिष्ठन्ति नरके ताव-द्यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥
चाण्डालीसंगमे चात्र द्विजानां सुकुलोद्भवाम् ।
प्रायश्चित्ताद्भवेच्छुद्धिः काष्ठभक्षणसंशकात् ॥
य एवं विधां सुरां पिबति न तेन सुरा पीता भवतीति निखिलमखमणौ सुत्रामणौ ।

धातकीपिष्टपानीयै-र्गुडाद्यैर्मद्यसंभवः ।
तस्माद्धेतोर्न दोषोत्र, स्वचित्ते चेति मूढधीः ॥ ८ ॥
संविचार्य महापापं मद्यपानं चकार सः ।
तस्य माहात्म्यतो गाढं संजातो नष्टमानसः ॥ ९ ॥
दूरीकृत्य स्वकौपीनं चक्रे चोद्भटनर्त्तनम् ।
ग्रहग्रस्तो यथा कष्टं कुसङ्गः कुलनाशकः ॥ १० ॥
ततस्तीव्रक्षुधाक्रान्तो मतिभ्रष्टः स तापसः ।
पापकर्मोदये शीघ्रं पलं भक्षितवान्पुनः ॥ ११ ॥
पूर्णकुक्षिस्ततः सोपि प्रोल्लसत्कामपीडितः ।
मातंगीं मदनोन्मत्तां कुधीः कामितवांस्तदा ॥ १२ ॥

भवतिचात्र श्लोक—

हेतुशुद्धेः श्रुतेर्वाक्यात्पीतमद्यः किलैकपात् ।
मांसमातङ्गिकासङ्ग-मकरोन्मूढमानसः ॥

इति ज्ञात्वा बुधैस्त्याज्या हेतुशुद्धेर्मतिर्भुवि ।
मृष्टतोयात्समुत्पन्नं विषं हन्त्येव देहिनाम् ॥ १३ ॥
नित्यस्नानविधायको हरिपदद्वन्द्वे सुसेवापरो
वेदज्ञोपि किलैकपात्स्मृतिमतिर्नष्टः परिव्राजकः ।
अज्ञानादिह हेतुशुद्धिचलितो मुक्त्वा सुशीलं ततो
ज्ञात्वैवं बुधसत्तमैर्जिनपतेः संज्ञानमासेव्यताम् ॥ १४ ॥

इति कथाकोशे मद्यदोषाख्याने एकपात्परिव्राजकस्य कथा समाप्ता ।

५४—सगरचक्रवर्त्तिनः कथा।

संप्रणम्य जिनाधीशं सुराधीशैः समर्चितम् ।
श्रीमद्द्वितीयचक्रेश-चारित्रं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
जम्बूद्वीपेत्र विख्याते प्राग्विदेहे मनोहरे ।
सीतानद्या अवाग्भागे सुदेशो वत्सकावती ॥ २ ॥
तत्रस्थे पृथिवीनाम-पत्तने सुचिरन्तने ।
जयसेनो महाराजो जयसेनास्य तत्प्रिया ॥ ३ ॥
तयोः पुत्रः समुत्पन्नो रतिषेणो गुणोज्वलः ।
द्वितीयो धृतिषेणश्च चारुसौभाग्यशोभितः ॥ ४ ॥
एकदा रतिषेणाख्यो मृत्युं प्राप्तो विधेर्वशात् ।
तच्छोकेन महीनाथो जयसेनो विशुद्धधीः ॥ ५ ॥
स्वराज्यं धृतिषेणाय दत्वा पुत्राय धीमते ।
समभ्यर्च्य जिनाधीशान्कार्यसिद्धिविधायिनः ॥ ६ ॥
सार्द्धं महारुतेनोच्चै-र्मिथुनेन तथा नृपैः ।
यशोधरगुरोः पार्श्वे दीक्षां जैनेश्वरीं श्रितः ॥ ७ ॥
दीर्घकालं तपः कृत्वा संन्यासेन प्रसन्नधीः ।
मृत्वा महाबलो नाम्ना देवोभूदच्युतो महान् ॥ ८ ॥
महारुतोपि तत्रैव मणिकेतुः सुरोभवत् ।
जिनेन्द्रपदपद्मेषु चञ्चरीकोतिभक्तिमान् ॥ ९ ॥
स्वर्गलक्ष्मीं समासाद्य तयोः सन्तुष्टचेतसोः ।
आवयोर्यो महीभागे पूर्वं याति नृजन्मताम् ॥ १० ॥

तस्यान्यो बोधको भूया-ज्जैनदीक्षाकृते सुधीः ।
धर्मानुरागतश्चेति संजाते वचसि स्थिरे ॥ ११ ॥
द्वाविंशत्यब्धिभिः पूर्णं भुक्त्वा सौख्यं सुराश्रितम् ।
च्युत्वासावच्युतः स्वर्गा-च्छेषपुण्यप्रभावतः ॥ १२ ॥
सुधीर्महाबलो देवः साकेतनगरे शुभे ।
समुद्रविजयस्योच्चै-र्भूपतेः सुबलापतेः ॥ १३ ॥
पुत्रोभूत्सगराख्योसौ सज्जनानन्ददायकः ।
पूर्वाणां सप्ततिर्लक्षा-स्तस्यायुःपरमावधिः ॥ १४ ॥
चतुःशतानि चापानां पञ्चाशदधिकानि च ।
कनत्काञ्चनसद्वर्ण-कायोत्सेधोस्य वर्णितः ॥ १५ ॥
रूपलावण्यसंयुक्तः प्राप्तसद्यौवनो गुणी ।
श्रित्वा राज्यश्रियं धीमान्षट्खण्डाधिपतिर्बभौ ॥ १६ ॥
भुञ्जानस्य महाभोगा-ञ्जिनभक्तिप्रपूर्वकम् ।
तस्य षष्ठि सहस्राणि पुत्राणामभवन्सुखम् ॥ १७ ॥
अहो पुण्येन जन्तूनां भवेयुः सारसम्पदः ।
तस्मात्पुण्यं जिनोद्दिष्टं कुर्वन्तु सुधियो जनाः ॥ १८ ॥
तदा सिद्धवने श्रीम-च्चतुर्मुखमहामुनेः ।
केवलज्ञानसम्प्राप्तौ पूजार्थं परया मुदा ॥ १९ ॥
देवेन्द्राद्यैः समायातैः सहागत्य सुरोत्तमः ।
ज्ञात्वा तं सगराधीशं मणिकेतुर्मुदावदत् ॥ २० ॥
भो प्रभो स्मरसि व्यक्तं यदावाभ्यां पुरोदितम् ।
अच्युताख्ये महास्वर्गे प्रोल्लसत्प्रीतियोगतः ॥ २१ ॥

नृलोकं याति यः पूर्वं स्वर्गस्थेन महाधिया ।
शीघ्रं सम्बोधनीयश्च स श्रीजैनतपोविधौ ॥ २२ ॥
त्वया भुक्तं महाराज्यं दीर्घकालं विचक्षणः ।
किं पुनर्भूरिभिर्भोगै-र्भव्यात्मन्दुःखकारणैः ॥ २३ ॥
अतस्त्वं श्रीजिनेन्द्रोक्तं तपो धृत्वा जगद्धितम् ।
सावधानस्त्वरां भूत्वा कुरु प्रीतिं शिवश्रिये ॥ २४ ॥
इति श्रीसगरश्चक्री बोधितोपि सुधाशिना ।
विरक्तः संसृतेर्नैव पुत्राणां मोहमूर्च्छितः ॥ २५ ॥
ज्ञात्वा तन्मानसं भूरि सम्पदाप्रमदाश्रितम् ।
स्वस्थानं स सुरः प्राप्तः कुतो लब्ध्या विना शुभम् ॥ २६ ॥
तथैकदा सुरः सोपि तं तपो ग्राहितुं पुनः ।
मणिकेतुः समागत्य धृत्वा चारणरूपकम् ॥ २७ ॥
भावयन्संयमं जैनं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ।
सगरस्य जिनागारे जिनबिम्बानि भक्तितः ॥ २८ ॥
वन्दित्वा शर्मदान्युच्चैः संस्थितो दिव्यरूपभाक् ।
दृष्ट्वा तं विस्मयं प्राप्तो जगाद सगरो नृपः ॥ २९ ॥
किं कारणं तपो लक्ष्म्या भो मुने यौवनोद्यते ।
तवेत्याकर्ण्य गूढात्मा संजगौ स मुनीश्वरः ॥ ३० ॥
यौवनं तडिदाभं भो भूपते भाति भूतले ।
कोयं कायोशुचिर्गाढं भोगा वा भोगिनोऽहिताः ॥ ३१ ॥
संसाराब्धिर्महाघोरो दुस्तरो मोहिनां विभो ।
तीर्यतेत्र मया चारु-तपोनावा जिनेशिनः ॥ ३२ ॥

इत्यादिकैः शुभैर्वाक्यै-र्बोधितोपि महीपतिः ।
जानन्संसारसद्भावं पुत्रपाशं न मुक्तवान् ॥ ३३ ॥
वर्त्तते नातितुच्छोस्य संसारश्चेति मानसे ।
ज्ञात्वा देवः सखेदोसौ माणिकेतुर्दिवं गतः ॥ ३४ ॥
अथैकदा सुतास्तेपि नृपं सिंहासनस्थितम् ।
नत्वा भक्त्या जगुः सर्वे श्रूयतां भो नृपाधिप ॥ ३५ ॥
ये पुत्राः क्षात्रियाणां च शूरा धीरा धरातले ।
असाध्यं स्वपितुर्नैव साधयन्ति सुभक्तितः ॥ ३६ ॥
तेषां जन्म भटत्वं च निष्फलं वन्ध्यवृक्षवत् ।
अतोस्माकं कृपां कृत्वा भवद्भिः सुविचक्षणैः ॥ ३७ ॥
दीयते प्रेषणं किंचि-द्येन स्यात्सफलं तनुः ।
तत्समाकर्ण्य चक्रेशो जगाद मधुरं वचः ॥ ३८ ॥
न मेऽसाध्यमहो पुत्राः षट्खण्डेषु प्रवर्त्तते ।
तस्मादेष ममादेशो भवद्भिर्भुज्यते धनम् ॥ ३९ ॥
तच्छ्रुत्वा भूपतेर्वाक्य-मनुल्लंघ्यं च ते सुताः ।
नत्वा मौनं विधायोच्चैः संस्थिताः शंकिताशयाः ॥ ४० ॥
तथान्येद्युः समासाद्य भूपतिं स्थिरसंस्थितम् ।
पुनः प्रणम्य सद्भक्त्या प्रोचुस्ते सुभटोत्तमाः ॥ ४१ ॥
प्रेषणेन विना देव क्रियते नैव भोजनम् ।
अस्माभिश्चेति तच्छ्रुत्वा संविचार्य प्रभुर्जगौ ॥ ४२ ॥
भो पुत्रा धर्मकार्यं मे वर्त्तते शर्मकारणम् ।
कैलासे कारिताः श्रीम-च्चक्रिणा भरतेशिना ॥ ४३ ॥

चतुर्विंशतितीर्थेशां गृहाः काञ्चननिर्मिताः ।
प्रोल्लसद्रत्ननिर्माणा यत्रार्हत्प्रतिमाः शुभाः ॥ ४४ ॥
तेषां यत्नाय कुर्वन्तु भवन्तः परितो गिरिम् ।
गंगासत्खातिकां शीघ्रं दुस्तरां दुष्टचेतसाम् ॥ ४५ ॥
ततस्ते तं नृपं नत्वा परमानन्दनिर्भराः ।
दण्डरत्नेन तां चक्रुः सत्वरं साहसोद्धताः ॥ ४६ ॥
तस्मिन्नेव क्षणे धीमान्सम्बोधाय महीपते ।
मणिकेतुः सुरः सोपि कुमारान्देवमायया ॥ ४७ ॥
क्रूरनागाकृतिं धृत्वा भस्मीचक्रे बुधोत्तमः ।
क्वचित्सन्तः प्रकुर्वन्ति सद्धिताय हितेतरम् ॥ ४८ ॥
ज्ञात्वापि मरणं तेषां मंत्र्याद्यास्तस्य भूपतेः ।
तद्दुःखमसमर्थस्य सोढुं चक्रुर्न तां कथाम् ॥ ४९ ॥
तदा ब्राह्मणरूपेण स देवो मणिकेतुवाक् ।
समागत्य नृपप्रान्ते शोकाकुलितमानसः ॥ ५० ॥
अहो चक्रेश भूचक्रं रक्षत्युच्चैस्त्वयि प्रभो ।
अन्तकेन सुतो मेत्र गृहीतो दुष्टचेतसा ॥ ५१ ॥
तं त्वं प्राणप्रियं पुत्रं समानीय प्रभो द्रुतम् ।
यावत्प्राणस्थितिर्मेत्र तावद्देहि महीपते ॥ ५२ ॥
चक्रे पूत्कारकं चेति तन्निशम्य धराधिपः ।
किंचिद्धास्यं विधायोच्चै-स्तस्य सम्बोधनाय च ॥ ५३ ॥
जगौ भो विप्र किं मुग्ध-स्त्वं जातोसि महीतले ।
विना सिद्धैर्निराबाधैर्यमः केनात्र वार्यते ॥ ५४ ॥

तं निवारयितुं वाञ्छा वर्त्तते भवतो यदि ।
दीक्षां जैनीं समादाय कुरु त्वं स्वात्मनो हितम् ॥ ९५ ॥
तच्छ्रुत्वा स द्विजः प्राह सत्यमेतन्महीपते ।
यद्यमं प्रति नैवात्र समर्थोऽस्ति नरोपि कः ॥ ९६ ॥
त्वया भयं न कर्त्तव्यं मया किंचित्प्रकथ्यते ।
पुत्रास्ते मारिताः सर्वे यमेन प्राणहारिणा ॥ ९७ ॥
तत्समाकर्ण्य भूपालो प्रोल्लसच्छोकमूर्च्छितः ।
महादुःखवचः श्रुत्वा कस्य मूर्च्छा न जायते ॥ ९८ ॥
तदा शीतोपचाराद्यै-र्गुरोर्वाक्यामृतैरिव ।
चेतनां स नृपो नीतः सज्जनैश्चित्तरञ्जनैः ॥ ९९ ॥
ततस्त्रिविधवैराग्यं समासाद्यैव चक्रभृत् ।
दत्वा भागीरथायोच्चैः स राज्यं मोहवर्जितः ॥ ६० ॥
दृढधर्मजिनेन्द्रस्य पादपद्मद्वयान्तिके ।
दीक्षां जग्राह जैनेन्द्रीं भवभ्रमणनाशिनीम् ॥ ६१ ॥
तदासौ वेगतो गत्वा कैलासं च सुरोत्तमः ।
मायामृत्युमपाकृत्य चक्रिपुत्राञ्जगौ पुनः ॥ ६२ ॥
अहो पुत्रा भवन्मृत्युं समाकर्ण्यैव दुःखितः ।
युष्मत्पिता श्रियं त्यक्त्वा तपो धृत्वा वनं श्रितः ॥ ६३ ॥
यस्मादहं समायातो महाचिन्ताहताशयः ।
युष्मत्कुलद्विजोन्वेष्टुं भवतो नृपदेहजान् ॥ ६४ ॥
सर्वे षष्ठि सहस्राणि पुत्रास्ते तद्वचः श्रुतेः ।
दृढधर्मजिनस्यैव पार्श्वे दीक्षां समाश्रिताः ॥ ६५ ॥

श्रीमान्भगीरथश्चापि नत्वा तान्मुनिसत्तमान् ।
श्रुत्वा धर्मं जिनेन्द्राणां संजातः श्रावकोत्तमः ॥ ६६ ॥
तदासौ प्रगटीभूय मणिकेतुसुरः सुधीः ।
नत्वा श्रीसगरादींश्च मुनीन्सुतपासि दृढान् ॥ ६७ ॥
क्षन्तव्यं सेवकेनोच्चै-र्निर्मितेत्रापराधके ।
भवद्भिर्जैनतत्वज्ञै-र्भक्त्या चेति जगौ गिरम् ॥ ६८ ॥
तच्छ्रुत्वा मुनयः प्राहुर्भो सुरेन्द्र बुधोत्तम ।
कोपराधस्तवास्माकं कार्यसिद्धिर्विधायिनः ॥ ६९ ॥
यत्त्वया निर्मितं कार्यं महामित्रेण धीमता ।
तत्कर्तुं कः क्षमो लोके त्वां विना धर्मवत्सलः ॥ ७० ॥
अतस्त्वमेव भो देव जैनपादाब्जषट्पदः ।
मुक्तिलक्ष्म्याः परिप्राप्त्यै कारणं शर्मकारणम् ॥ ७१ ॥
इत्यादिकं वचः श्रुत्वा स देवो सुखदायकम् ।
तान्प्रणम्य महाभक्त्या सिद्धकार्यो दिवं गतः ॥ ७२ ॥
ते मुनीद्रा जिनेन्द्रोक्तं तपः कृत्वा सुदुस्सहम् ।
सम्मेदपर्वते मोक्षं शुक्लध्यानेन संययुः ॥ ७३ ॥
तेषां निर्वाणसम्प्राप्तिं श्रुत्वा निर्विण्णमानसः ।
सुधीर्भगीरथश्चापि वरदत्ताय धीमते ॥ ७४ ॥
दत्वा राज्यं निजं प्राज्यं जिनस्नपनपूर्वकम् ।
कैलासाख्यगिरिं गत्वा शिवगुप्तमहामुनेः ॥ ७५ ॥
नत्वा पादद्वयं भक्त्या गृहीत्वा सुतपःश्रियम् ।
भूत्वा महामुनिर्गंगा-नदीतीरे मनोहरे ॥ ७६ ॥

संस्थितः प्रतिमायोगं समादाय बुधोत्तमः ।
तदा सर्वे सुरेन्द्राद्याः क्षीराब्धेस्तोयसद्घटैः ॥ ७७ ॥
श्रीमद्भगीरथस्यास्य भक्त्या पादाब्जयोर्मुदा ।
चक्रुर्महाभिषेकं च शर्मकोटिविधायकम् ॥ ७८ ॥
तत्प्रवाहं समासाद्य सापि गंगा नदी तराम् ।
तदा प्रभृति तीर्थत्वं जनानां समुपागता ॥ ७९ ॥
तस्मिन्गंगातटे चापि भगीरथमुनीश्वरः ।
कृत्वा तपः शिवं प्राप्तो जरामरणवार्जितम् ॥ ८० ॥
स जयतु सगराख्यः केवलज्ञानचक्षुः
सकलसुरसमर्च्यो मुक्तिकान्तासुकान्तः ।
विदितपरमतत्वास्ते मुनीन्द्राश्च नित्यं
मम विशदसुखश्रीकारणं सन्तु सन्तः ॥ ८१ ॥

इति कथाकोशे द्वितीयचक्रवर्तिसगरस्य कथा समाप्ता ।

५५–मृगध्वजस्य कथा ।

नत्वा जिनं महाभक्त्या त्रैलोक्यप्रभुपूजितम् ।
वक्ष्ये मृगध्वजाख्यानं पूर्वाचार्यैः प्रभाषितम् ॥ १ ॥
अयोध्या नगरे रम्ये राजा सीमन्धरोभवत् ।
तत्प्रिया जिनसेनाख्या तयोः पुत्रो मृगध्वजः ॥ २ ॥
राजकीयोपि तत्रैको महिषो भणितो जनैः ।
समायाति प्रयात्येव पादयोश्च पतत्यलम् ॥ ३ ॥

क्रीडन्तं पुष्करिण्यां तं समालोक्यैकदा पशुम् ।
मंत्रिश्रेष्ठिकुमाराभ्यां सहायातो मृगध्वजः ॥ ४ ॥
राजपुत्रो जगौ तत्र मांसासक्तः स्वसेवकम् ।
पश्चिमं चरणं चास्य मह्यं देहीति पापधीः ॥ ५ ॥
तथा कृते च भृत्येन महिषः सोपि कष्टतः ।
त्रिभिः पादैर्नृपस्याग्रे गत्वा संपतितस्तदा ॥ ६ ॥
राजा सीमन्धरस्तस्मै जिनधर्मधुरन्धरः ।
सारपञ्चनमस्कारान्ददौ संन्याससंयुतान् ॥ ७ ॥
परोपकारिणः केचित्सन्ति सन्तो गुणाकराः ।
चन्द्रार्ककल्पवृक्षोरु-तोयदेभ्योतिसुन्दराः ॥ ८ ॥
तत्प्रभावेन सौधर्म-स्वर्गे देवो बभूव सः ।
श्रीमज्जैनेन्द्रसद्धर्मो देहिनां सुहितंकरः ॥ ९ ॥
पुत्रवृत्तान्तमाकर्ण्य ततो रुष्टेन भूभुजा ।
सिद्धार्थमंत्रिणः प्रोक्तं मारय त्रीनपि द्रुतम् ॥ १० ॥
तां वार्तां च ततः श्रुत्वा मंत्रिश्रेष्ठिनृपात्मजाः ।
मुनिदत्तमुनेः पार्श्वे जैनीं दीक्षां समाश्रिताः ॥ ११ ॥
ततो वैराग्यभावेन तपः कृत्वा सुदुस्सहम् ।
मृगध्वजो मुनिः सोपि जैनतत्वविदाम्वरः ॥ १२ ॥
क्षयं नीत्वा सुधीर्ध्यानाद् घातिकर्मचतुष्टयम् ।
केवलज्ञानमुत्पाद्य संजातो भुवनार्चितः ॥ १३ ॥
महापापप्रकर्त्तापि प्राणी श्रीजैनधर्मतः ।
भवेत्रिलोक्यसंपूज्यो धर्मात्किं भो परं शुभम् ॥ १४ ॥

स श्रीकेवललोचनोतिचतुरो भव्यौघनिस्तारको
देवेन्द्रादिसमर्चितो हितकरो धीरो मृगादिध्वजः ।
नाना शर्मयशःप्रबोधजनकैर्भक्त्या समाराधितो
दद्यान्मे भवतां च निर्वृतिपदं नित्यं महामङ्गलम् ॥ १९ ॥

इति कथाकोशे मृगध्वजमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

५६—परशुरामस्य कथा ।

नमस्कृत्य जिनाधीशं संसाराम्भोधितारणम् ।
श्वेतरामस्य संवच्मि चरित्रं चित्रकारणम् ॥ १ ॥
अयोध्यापत्तने राजा कार्त्तवीर्योतिमूढधीः ।
पद्मावती महाराज्ञी तस्यासीत्प्राणवल्लभा ॥ २ ॥
अटव्यां तापसावास-पल्लिकायां च तापसः ।
रेणुका कामिनीनाथ-स्तत्रास्ते यमदग्निवाक् ॥ ३ ॥
तयोः पुत्रौ मनःप्रीतौ श्वेतरामस्तु पूर्वकः ।
महेन्द्ररामनामा च द्वितीयः प्राणवल्लभः ॥ ४ ॥
एकदा रेणुकाभ्राता वरदत्तो मुनीश्वरः ।
तत्पल्लिकासमीपेसौ वृक्षमूले सुखास्थितः ॥ ५ ॥
तत्र तं रेणुका वीक्ष्य भ्रातरं मुनिसत्तमम् ।
महाप्रीत्या प्रणम्योच्चैः पादमूले च संस्थिता ॥ ६ ॥
तेनोक्तं वरदत्ताख्य-मुनीन्द्रेण महाधिया ।
शृणु त्वं भो भगिन्यत्र सावधानेन चेतसा ॥ ७ ॥

सम्यक्त्वं त्रिगजत्पूतं दुर्गतिच्छेदकारणम् ।
स्वर्गमोक्षतरोर्बीजं भवभ्रान्तिनिवारणम् ॥ ८ ॥
तच्च, देवो जिनाधीशो रागद्वेषादिवर्जितः ।
केवलज्ञानसाम्राज्यः सुरासुरनमस्कृतः ॥ ९ ॥
तद्भाषितो भवेद्धर्मो लोकद्वयसुखप्रदः ।
इन्द्रनागेन्द्रचन्द्राद्यैः पूजितो दशधा मुदा ॥ १० ॥
उत्तमादिक्षमादिस्तु प्रसिद्धो भुवनत्रये ।
भवेद्धाले गुरुश्चापि शीलसंयमतत्परः ॥ ११ ॥
ज्ञानध्यानरतो नित्यं भार्यादिग्रन्थवर्जितः ।
इत्येतच्छर्मदं विद्धि सम्यक्त्वं मुग्धमानसे ॥ १२ ॥
पात्रदानं गुणाधानं जिनार्चा शर्मदायिनी ।
शीलपर्वोपवासादि-धर्मोयं गृहिणां शुभः ॥ १३ ॥
इत्यादिकं समाकर्ण्य रेणुका बान्धवोदितम् ।
धर्मं श्रीमज्जिनेन्द्राणा सन्तुष्टा मानसे तदा ॥ १४ ॥
सम्यक्त्वरत्नमादाय सा सती भक्तितस्तराम् ।
स्वात्मनो मण्डनं चक्रे भव्यानां तद्विभूषणम् ॥ १५ ॥
ततो धर्मानुरागेण तस्यै श्रीवरदत्तवाक् ।
परश्वाख्यां महाविद्यां भगिन्यै मुनिसत्तमः ॥ १६ ॥
कामधेनुसुविद्यां च दत्वा शर्मप्रदायिनीम् ।
स्वस्थानं प्राप्तवान्धीरो जैनतत्वविदाम्वरः ॥ १७ ॥
सम्यक्त्वशालिनी सा च रेणुका स्वगृहे सुखम् ।
संस्थिता जिनपादाब्ज-भृङ्गी सद्धर्मवत्सला ॥ १८ ॥

एकदा कार्त्तवीर्योसौ राजा तत्र वने घने ।
गजस्य बन्धनार्थं च समायातस्तदा मुदा ॥ १९ ॥
कामधेनुमहाविद्या-प्रभावेन मनोहरम् ।
कारितः षड्रसोपेतं भोजनं यमदग्निना ॥ २० ॥
स पापी कार्त्तवीर्योपि संभुक्त्वा लोभपूरितः ।
संग्रामे तापसं हत्वा कुधीस्तं यमदग्निकम् ॥ २१ ॥
कामधेनुं समादाय निर्गतस्तद्वनाज्जवात् ।
पोषितो दुर्जनः प्राणी सर्पवत्प्राणनाशकः ॥ २२ ॥
तदा तौ रेणुकापुत्रौ गृहीत्वा समिधादिकम् ।
समागतौ गृहं मातु-र्ज्ञात्वा तां कष्टवार्त्तिकाम् ॥ २३ ॥
श्वेतरामस्ततो ज्येष्ठः पुत्रोसौ सुभटाग्रणीः ।
रेणुकायाः समादाय तां विद्यां परशुप्रथाम् ॥ २४ ॥
गत्वा महेन्द्ररामेण संयुतः कौशलां पुरीम् ।
कीर्त्तवीर्यं सुसंग्रामे मारयामास भूपतिम् ॥ २५ ॥
मृत्वासौ निजपापेन कार्त्तवीर्यो नृपः कुधीः ।
सम्प्राप्तो नरकं घोरं पापिनामीदृशी गतिः ॥ २६ ॥
धिक्तृष्णां पापिनीं जन्तो-र्महादुःखप्रदायिनीम् ।
यत्रासक्तो जनोऽन्यायं कृत्वा कष्टं प्रयात्यलम् ॥ २७ ॥
अन्यायेन नरेन्द्राद्याः क्षयं गच्छन्ति किं परे ।
यद्वायुना द्विपा यान्ति तत्र किं शलभादयः ॥ २८ ॥
तदायोध्यापुरे सोपि श्वेतरामः स्वविद्यया ।
ख्यातः परशुरामेति संजातः सुमहीपतिः ॥ २९ ॥

भवति जगति शूरः पण्डितो दिव्यलक्ष्मी—
पतिरिह सुखयुक्तः पुण्यपण्येन जीवः ।
इति मनसि विचारं चारु कृत्वा सुभव्याः
कुरुत जिनमतोक्तं सारपुण्यं सुखाय ॥ ३० ॥

इति कथाकोशे परशुरामस्य कथा समाप्ता ।

५७–सुकुमालमुनेः कथा ।

यन्नामस्मृतिमात्रेण प्राप्यते सारसम्पदा ।
तं प्रणम्य जिनं वक्ष्ये सुकुमालकथां मुदा ॥ १ ॥
कौशाम्बीनगरे ख्याते संजातोऽतिबलो नृपः ।
पुरोहितोऽभवत्तस्य सोमशर्मा विचक्षणः ॥ २ ॥
काश्यपी कामिनी तस्यां काश्यप्यां संबभूवतुः ।
अग्निभूतिस्तथा वायु-भूतिनामा सुतोपि च ॥ ३ ॥
तौ द्वौ पुत्रौ प्रमादेन शास्त्राभ्यासं न चक्रतुः ।
विना पुण्येन जन्तूनां मुखाब्जे नैव भारती ॥ ४ ॥
सोमशर्मण्यतस्तास्मि-न्कालव्याधेन भक्षिते ।
पुरोहितपदं तस्य गृहीतं गोत्रिभिस्तदा ॥ ५ ॥
मूर्खत्वान्न तयोर्दत्तं भूभुजातिबलेन तत् ।
क्व भवेन्मूढजन्तूनां दानमानादिकक्रिया ॥ ६ ॥
ततस्तौ मानभंगेन गत्वा राजगृहं पुरम् ।
पितृव्यं सूर्यमित्राख्यं नत्वा वृत्तान्तमूचतुः ॥ ७ ॥

कैश्चिद्दिनैस्ततस्तेन सूर्यमित्रेण धीमता ।
नाना शास्त्राणि तावुच्चैः पाठितौ पोषितावपि ॥ ८ ॥
तौ विद्वांसौ ततो भूत्वा समागत्य निजं गृहम् ।
स्वविद्यां भूपतेस्तस्य दर्शयामासतुस्तराम् ॥ ९ ॥
स राजातिबलस्ताभ्यां पुरोहितपदं ददौ ।
सरस्वत्याः प्रसादेन किं न जायेत भूतले ॥ १० ॥
अथ राजगृहे तस्य सूर्यमित्रस्य चैकदा ।
सन्ध्यायां सरसो मध्ये सूर्यार्घ्यं ददतो मुदा ॥ ११ ॥
मुद्रिका राजकीया च हस्ताद् ध्वस्ता जलान्विते ।
पद्मे सम्पतिता तत्र ततो भीतेन तेन तु ॥ १२ ॥
मुनिं सुधर्मनामानं प्रणम्यावधिलोचनम् ।
प्रोक्तं मे मुद्रिका देव न जाने क्व गता मुने ॥ १३ ॥
ब्रूहि भो करुणासिन्धो सा मया प्राप्यते कथम् ।
मुनिः प्राह सुधीः सास्ति तडागे कमलोपरि ॥ १४ ॥
पुरोहितः प्रभातेसौ सूर्यमित्रश्च मुद्रिकाम् ।
दृष्ट्वा तस्मात्समादाय सन्तुष्टो मुनिपादयोः ॥ १५ ॥
नत्वा जगाद योगीन्द्र विद्यां मे देहि धीधन ।
यया प्रश्नं सुजानामि भवत्पादप्रसादतः ॥ १६ ॥
तेनोक्तं मुनिना धीर जैनदीक्षां विना भुवि ।
विद्यैषा न समायाति ततोसौ सूर्यमित्रवाक् ॥ १७ ॥
केवलं लोभतस्तस्य पादमूले मुनेर्मुदा ।
दीक्षां जग्राह जैनेन्द्रीं सर्वसिद्धिप्रदायिनीम् ॥ १८ ॥

पुनः पुनश्च तां विद्यां संपृच्छन्भक्तितस्तदा ।
क्रियागमं जिनेन्द्रोक्तं पाठितो गुरुणाखिलम् ॥ १९ ॥
ततोसौ गुरुसद्वाक्य-प्रदीपोद्योतनेन च ।
हत्वाज्ञानतमस्तोमं संजातो धर्मतत्ववित् ॥ २० ॥
येन भव्येन सद्भक्त्या गुरुः सन्मार्गदर्शकः ।
आराधितो जगन्बन्धुः किं न सिद्ध्यति तस्य वै ॥ २१ ॥
ततः श्रीजैनसद्धर्मे भूत्वा यो प्रौढधीर्मुनिः ।
पृष्ट्वा गुरुसुधर्माख्य-मेकाकी विहरन्भुवि ॥ २२ ॥
कौशाम्बीं नगरीं गत्वा चर्यार्थं युक्तितो भ्रमन् ।
सूर्यमित्रो मुनिर्धीमा-नग्निभूतिगृहं गृतः ॥ २३ ॥
तदाग्निभूतिना तेन महाभक्त्या प्रयुक्तितः ।
अन्नदानं जगत्सारं तस्मै दत्तं सुखप्रदम् ॥ २४ ॥
वायुभूतिर्लघुभ्राता प्रेरितश्चाप्यनेन तु ।
स तस्मै वन्दनां नैव चक्रे चक्रे च निन्दनम् ॥ २५ ॥
भाविदुर्गतिभाक्प्राणी सद्धर्मे प्रेरितोपि च ।
कदाचिन्न रतो मूढ भवेत्पापात्कुकर्मसु ॥ २६ ॥
अग्निभूतिः सुपूतात्मा सूर्यमित्रं मुनीश्वरम् ।
अनुव्रजन्क्रियन्मार्गं धर्ममाकर्ण्य शर्मदम् ॥ २७ ॥
त्रिधा वैराग्यमापन्नो-ऽसौ गृहीत्वा तपस्तराम् ।
मुनिर्जातो लसद्भक्त्या सुधीः स्वपरतारकः ॥ २८ ॥
अग्निभूतिप्रिया या च सोमदत्ता महासती ।
श्रुत्वा तां स्वपतेर्वार्त्तां दुःखतो देवरं जगौ ॥ २९ ॥

वायुभूते त्वया पापान्न कृता मुनिवन्दना ।
कृतं तन्निन्दनं चापि रे कुधीस्तन्निमित्ततः ॥ ३० ॥
भ्राता ते स मुनिर्जातो महावैराग्यतो ध्रुवम् ।
तच्छ्रुत्वा कोपतस्तेन पापिना वायुभूतिना ॥ ३१ ॥
गच्छ गच्छ त्वकं चापि पार्श्वे नग्नस्य तस्य च ।
विटलस्याशुचेश्चेति प्रोक्त्वा पादेन सा हता ॥ ३२ ॥
सोमदत्ता तदा श्रुत्वा तद्वाक्यं कष्टकोटिदम् ।
जन्मान्तरे सपुत्राहं पादं ते सुखदायकम् ॥ ३३ ॥
भक्षयिष्यामि मूढात्मा निदानं सा करोदिति ।
धिङ्मूढत्वं यतो मूढा भस्मीकुर्वन्ति सच्छुभम् ॥ ३४ ॥
वायुभूतिस्तु पापात्मा मुनिनिन्दाप्रभावतः ।
उदुम्बरोरुकुष्ठेन पीडितः सप्तभिर्दिनैः ॥ ३५ ॥
यो मुनिस्त्रिजगत्पूज्यो धर्ममार्गोपदेशकः ।
तन्निन्दको महापापी किं कष्टं न प्रयाति सः ॥ ३६ ॥
मृत्वा ततः कुधीः सोपि दुष्टकष्टप्रकष्टतः ।
कौशाम्बीनगरे तत्र नटस्याजनि गर्दभी ॥ ३७ ॥
तत्रैव सा पुनर्मृत्वा संजाता शूकरी ततः ।
चम्पापुर्यां स्वपापेन जाता चाण्डालकुक्करी ॥ ३८ ॥
चम्पायां च पुनस्तत्र जाता चाण्डालपुत्रिका ।
दुष्टदुर्गन्धसंयुक्ता चक्षुषान्धा स्वकर्मणा ॥ ३९ ॥
जम्बूवृक्षतले कष्टाद्भक्षयन्ती च तत्फलम् ।
दृष्ट्वा चाण्डालपुत्रीं तां कर्मयोगेन धीधनः ॥ ४० ॥

अग्निभूतिमुनिः प्राह सूर्यमित्रं गुरुं प्रति ।
वराकीयं महाकष्टं हा कथं जीवति क्षितौ ॥ ४१ ॥
तच्छ्रुत्वा सूर्यमित्रेण प्रोक्तं संज्ञानचक्षुषा ।
तवेयं वायुभूतिस्तु भ्राता धर्मपराङ्मुखः ॥ ४२ ॥
मन्निन्दापापतः कुष्ठी मृत्वा भूत्वा च गर्दभी ।
शूकरी कुक्करी चापि जाता चाण्डालपुत्रिका ॥ ४३ ॥
ततस्तेन मुनीन्द्रेण प्रोल्लसत्करुणाधिया ।
ग्राहिता शर्मदान्युच्चैः सा पंचाणुव्रतानि च ॥ ४४ ॥
ततो मृत्वा च चम्पायां नागशर्माभिधस्य सा ।
पुरोहितस्य संजाता नागश्रीर्नाम कन्यका ॥ ४५ ॥
नागोद्याने तदा श्रेष्ठि-मंत्रिकन्यादिभिः सह ।
एकदा नागपूजार्थं सा गता तत्र पुण्यतः ॥ ४६ ॥
सूर्यमित्राग्निभूती तौ समायातौ मुनीश्वरौ ।
दृष्ट्वा सद्भावतः सा च तयोः पार्श्वे स्थिता तदा ॥ ४७ ॥
नागश्रियं समालोक्य तां कन्यां च लघोर्मुनेः ।
पूर्वजन्मस्वसम्बन्धा-त्स्नेहोभून्मानसे तराम् ॥ ४८ ॥
पृष्टेन सूर्यमित्रेण संप्रोक्ते स्नेहकारणे ।
ततोऽग्निभूतिना तस्यै सारसम्यक्त्वपूर्वकम् ॥ ४९ ॥
अणुव्रतानि पञ्चैव दत्वा प्रोक्तं च बालिके ।
व्रतान्येतानि ते तातो यदि त्याजयति त्वया ॥ ५० ॥
अत्रागत्य पुनः पुत्रि दीयन्ते मे गुणोज्वले ।
भवन्ति मुनयो धीराः सत्यं सन्मार्गदर्शकाः ॥ ५१ ॥

ततोऽसौ भक्तिभारेण नत्वा तौ द्वौ मुनीश्वरौ ।
नागश्रीः स्वगृहं प्राप्ता यावच्चित्ते प्रमोदतः ॥ ५२ ॥
अन्याभिर्लोककन्याभिः श्रुत्वा तां वार्त्तिकां तदा ।
नागशर्मद्विजेनोक्तं भो सुते मुग्धमानसे ॥ ५३ ॥
अस्माकं न कुले युक्तं ब्राह्मणानां मुनेर्व्रतम् ।
कर्त्तुं पुत्रि ततः शीघ्रं त्यज त्वं व्रतसञ्चयम् ॥ ५४ ॥
तत्समाकर्ण्य सावोच-त्तर्हि तानि व्रतानि तु ।
समर्पयामि तस्यैव मुनेश्चैतानि निश्चयात् ॥ ५५ ॥
ततस्तां स्वकरे धृत्वा ब्राह्मणः कोपसंयुतः ।
वने तन्मुनिसान्निध्ये संचचाल प्रवेगतः ॥ ५६ ॥
मार्गे तया प्रगच्छन्त्या शूलाभ्यर्णे सुकष्टतः ।
वाद्यमाने कुवादित्रे जाते कोलाहले स्वरे ॥ ५७ ॥
बद्धमेकं नरं दृष्ट्वा पृष्टोसौ कन्यया द्विजः ।
किमर्थं कष्टतो बद्ध-स्तातायं ब्रूहि कारणम् ॥ ५८ ॥
तेनोक्तं वरसेनाख्यो याचमानो निजं धनम् ।
मारितोत्र वणिक्पुत्रः पुत्रि चानेन पापिना ॥ ५९ ॥
तस्मादयं प्रकष्टेन मार्यते राजकिंकरैः ।
तन्निशम्य सुता प्राह शृणु त्वं तात मे वचः ॥ ६० ॥
एतद्व्रतं जगत्सारं दत्तं मे मुनिना सुधीः ।
कथं सन्त्यज्यते धीर महाशर्मविधायकम् ॥ ६१ ॥
विप्रः प्राह सुते चैतद्व्रतं तिष्ठतु साम्प्रतम् ।
पश्चादन्यानि दीयन्ते तस्मै नग्नाय बालिके ॥ ६२ ॥

ततश्चाग्रे प्रगच्छन्त्या दृष्ट्वा नागश्रिया परम् ।
बद्धं तथा द्विजः पृष्टः संजगादेति पुत्रिके ॥ ६३ ॥
वणिक्नारदनामासौ व्यलीकवचनैः कुधीः ।
जनानां वंचनं पुत्रि करोत्यत्र स्वपापतः ॥ ६४ ॥
तद्दोषेण सुते चायं हन्यते पापधीरिह ।
शेषं वक्तव्यमत्रापि ज्ञातव्यं पूर्ववद्बुधैः ॥ ६५ ॥
एवं चोर्यपरस्त्रीक-भूरिलोभाश्रिताञ्जनान् ।
नागशर्मा द्विजः प्रोक्त्वा पुनः प्राह सुतां प्रति ॥ ६६ ॥
अहो पुत्रि प्रतिष्ठन्तु व्रतान्येतानि किं तु वै ।
त्वमागच्छ मुनिः सोपि तर्ज्यते वचनोत्करैः ॥ ६७ ॥
येनासौ परबालानां व्रतं नैवं ददात्यतः ।
दुर्जनो न भवत्येव सर्वथा सुजनैः रतः ॥ ६८ ॥
ततो गत्वा सुदूरस्थो द्विजो कोपाग्निपूरितः ।
जगौ किं रे मुने नग्न वंचिता मत्सुता व्रतैः ॥ ६९ ॥
हा कष्टं मूर्खजन्तूनां चेष्टितं पापकर्मणाम् ।
व्रतैः शीलैः शुभोपेतै-र्वंचितः कोपि किं भुवि ॥ ७० ॥
सूर्यमित्रेण संप्रोक्तं भो विप्रेयं सुता मम ।
नागश्रीर्न त्वदीया च सर्वथा भणितापि सा ॥ ७१ ॥
एहि पुत्रीति मत्पार्श्वे तच्छ्रुत्वा सा च कन्यका ।
भट्टारकस्य सान्निध्ये गत्वोच्चैः संस्थिता तदा ॥ ७२ ॥
अन्यायोन्यायकश्चेति कुर्वन्पूत्कारकं द्विजः ।
गत्वा चम्पापुरीमध्ये चन्द्रवाहनभूपतिम् ॥ ७३ ॥

जगौ देव मुनीन्द्रेण गृहीता मत्सुता हठात् ।
तच्छ्रुत्वा सर्वलोकाना-माश्चर्यं समभूद्हृदि ॥ ७४ ॥
ततः सर्वजनैर्युक्त-श्चन्द्रवाहनभूपतिः ।
समागत्य मुनेः पार्श्वे नत्वां तं कौतुकाश्रितः ॥ ७५ ॥
मदीयासौ मदीयासौ पुत्रिका मुनिविप्रयोः ।
विवादे चेति संजाते जगौ भट्टारकस्तदा ॥ ७६ ॥
चतुर्दश लसद्विद्या पाठितासौ मया प्रभो ।
मदीयेयं ततः पुत्री तच्छ्रुत्वा स नृपोवदत् ॥ ७७ ॥
यद्येवं भो मुनिस्वामि-न्पाठयेमां स्वकन्यकाम् ।
सूर्यवत्सूर्यमित्रोसौ स्ववाक्यकिरणैस्तदा ॥ ७८ ॥
जगच्चित्तस्थमूढत्व-प्रौढान्धतिमिरं हरन् ।
मुनिः प्राहेति भो वायु-भूते संपठ्यते त्वया ॥ ७९ ॥
तच्छ्रुत्वा प्रोल्लसद्विद्याः पूर्वजन्माश्रितास्तया ।
नागश्रिया महाश्चर्यं प्रव्यक्तं पठितास्तदा ॥ ८० ॥
विस्मितेन नरेन्द्रेण प्रोक्तं नत्वा मुनीश्वरम् ।
महामुने स्वसम्बन्धं ब्रूहि भो करुणाकर ॥ ८१ ॥
संज्ञानलोचनोवोच-त्तदासौ मुनिसत्तमः ।
वायुभूतिभवादेस्तु साक्षात्पूर्वप्रचेष्टितम् ॥ ८२ ॥
तच्छ्रुत्वा मुनिनाथोक्तं परमाश्चर्य कारणम् ।
ज्ञात्वा मोहादिकं सर्वं मानसे दुःखकारणम् ॥ ८३ ॥
चन्द्रवाहनभूपालो महावैराग्ययोगतः ।
भूरि राजसुतैः सार्द्धं जिनदीक्षां गृहीतवान् ॥ ८४ ॥

स विप्रो नागशर्मापि श्रुत्वा धर्मं जिनेशिनाम् ।
मुनिर्भूत्वाऽच्युते स्वर्गे देवोभूत्पुण्यपावनः ॥ ८५ ॥
नागश्रीश्च जिनेन्द्रोक्तं तपः कृत्वा स्वपुण्यतः ।
तत्रैवाच्युतकल्पेसौ देवो जातो महर्द्धिकः ॥ ८६ ॥
अहो भव्या जगत्सारो गुरुश्चिन्तामणिर्यथा ।
यत्प्रसादेन जन्तूनां सम्पदा विविधाः सदा ॥ ८७ ॥
अग्निमन्दरसच्छैले सूर्यमित्राग्निभूतिकौ ।
तौ मुनीन्द्रौ जगद्वन्द्यौ घातिकर्मक्षयंकरौ ॥ ८८ ॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य भूत्वा त्रैलोक्यपूजितौ ।
संप्राप्तौ परमानन्द-दायकौ मोक्षमक्षयम् ॥ ८९ ॥
तौ द्वौ सत्केवलज्ञान-लोचनौ श्रीजिनेश्वरौ ।
अस्माकं भवतां नित्यं सच्छ्रिये भुवनोत्तमौ ॥ ९० ॥
अथावन्तिलसद्देशे विख्यातोज्जयिनीपुरे ।
इन्द्रदत्तो महाश्रेष्ठी परमेष्ठीप्रभक्तिमान् ॥ ९१ ॥
श्रेष्ठिनी गुणवत्याख्या रूपसौभाग्यमण्डिता ।
तस्यागर्भे समागत्य स्वर्गादच्युतसंज्ञकात् ॥ ९२ ॥
नागशर्मचरो देवः पूर्वपुण्यप्रसादतः ।
पुत्रः सुरेन्द्रदत्ताख्यः संजातो सुगुणान्वितः ॥ ९३ ॥
तत्रैव नगरे श्रीम-त्सुभद्रश्रेष्ठिनः सुताम् ।
यशोभद्रां सुरेन्द्रादि-दत्तोसौ परिणीतवान् ॥ ९४ ॥
नाना भोगान्प्रभुञ्जानौ तौ स्थितौ पूर्वपुण्यतः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-धर्मकर्मसुतत्परौ ॥ ९५ ॥

एकदा सा यशोभद्रा प्रणम्यावधिलोचनम् ।
मुनिं प्राह सुधीर्मेत्र पुत्रो भावी न वा मुने ॥ ९६ ॥
तेनोक्तं श्रीमुनीन्द्रेण भो सुते संभविष्यति ।
पुत्रस्ते नैव सन्देहो भव्यानामग्रणीः सुधीः ॥ ९७ ॥
भर्त्ता सुरेन्द्रदत्तस्ते दृष्ट्वा तन्मुखपंकजम् ।
ग्रहीष्यति ध्रुवं जैनीं दीक्षां स्वर्मोक्षदायिनीम् ॥ ९८ ॥
सोपि पुत्रि सुतस्ते तु सुधीः सन्मुनिदर्शनात् ।
त्यक्त्वा भोगान्विशुद्धात्मा तपः शघ्रिं गृहीष्यति ॥ ९९ ॥
ततः कैश्चिद्दिनैः सापि यशोभद्रा गुणोज्वलम् ।
नागश्रीचरदेवं तं संप्राप्ता सुतमुत्तमम् ॥ १०० ॥
महोत्सवशतैस्तत्र बन्धुभिः परमादरात् ।
सुकुमाल इति व्यक्तं प्रोक्तः शर्मप्रदायकः ॥ १०१ ॥
श्रेष्ठी सुरेन्द्रदत्तस्तु दृष्ट्वा तं तनयं तदा ।
दत्वा श्रेष्ठिपदं तस्मै मुनिर्जातो जगद्धितः ॥ १०२ ॥
ततोसौ पूर्वपुण्येन श्रेष्ठी श्रीसुकुमालवाक् ।
नवयौवनमासाद्य परिणीय कुलोत्तमाः ॥ १०३ ॥
द्वात्रिंशत्प्रोल्लसत्कन्या रूपलावण्यमण्डिताः ।
नित्यं ताभिः प्रभुञ्जानो दिव्यान्भोगान्सुखं स्थितः ॥ १०४ ॥
तन्माता च यशोभद्रा स्वगेहे पुत्रमोहतः ।
मुनीनामपि तत्रोच्चैः प्रवेशं सा निराकरोत् ॥ १०५ ॥
उज्जयिन्यां समागत्य केनचिच्चैकदा तदा ।
राज्ञः प्रद्योतनाम्नश्च दर्शितो रत्नकम्बलः ॥ १०६ ॥

भूरि मूल्यभराद्राजा गृहीतुं न क्षमोभवत् ।
ततस्तं सा यशोभद्रा गृहीत्वा रत्नकम्बलम् ॥ १०७ ॥
खण्डं खण्डं विधायाशु पादत्राणार्थमद्भुतम् ।
द्वात्रिंशत्स्ववधूभ्यश्च लीलया संददौ सती ॥ १०८ ॥
एकदा सौलिका चैकं पादत्राणं सुरक्तकम् ।
चञ्च्वादाय क्वचिच्छीघ्रं पातयामास तत्तदा ॥ १०९ ॥
वेश्यया च समादाय राज्ञः संदर्शितं ततः ।
तत्समालोक्य भूपालो ज्ञात्वा तद्वृत्तकं पुनः ॥ ११० ॥
महाश्चर्येण तद्गेहे सुधीः प्रद्योतवाक् स्वयम् ।
द्रष्टुं श्रीसुकुमालं तं समायातः शुभाशयः ॥ १११ ॥
तज्जनन्या विधायोच्चै-रभ्युत्थानादिकं तदा ।
राज्ञः पुत्रस्य चैकत्र चक्रे स्वारात्तिकां मुदा ॥ ११२ ॥
तत्तेजसा तथाकण्ठ- हारसत्तेजसाकुलम् ।
सुकुमालं समालोक्य तथा सद्भोजनक्षणे ॥ ११३ ॥
एकैकं सिक्तकं सारं भुंजानं तं महीपतिः ।
दृष्ट्वा पृष्ट्वा यशोभद्रां ज्ञात्वा तत्कारणं मुदा ॥ ११४ ॥
महाविस्मयमापन्नो भो श्रेष्ठिन्पूर्वपुण्यभाक् ।
अवन्ति सुकुमालस्त्वं तं जगादेति हर्षतः ॥ ११५ ॥
भोजनानन्तरं तत्र क्रीडावाप्यां स भूपतिः ।
कुर्वन्स्वयं जलक्रीडां पतितां निजमुद्रिकाम् ॥ ११६ ॥
तां पश्यन्प्रोल्लसत्कान्ति नानासद्भूषणोत्करम् ।
समालोक्य जले तत्र महाश्चर्येण चेतसि ॥ ११७ ॥

अहो पुण्येन सामग्री कीदृशीति विचारयन् ।
लज्जित्वा स्वगृहं प्राप्त-स्तत्पुण्यं संस्तुवन्मुहुः ॥ ११८ ॥
शृण्वन्तु महाभव्या धनं धान्यं सुसम्पदाः ।
पुत्रं मित्रं कलत्रं च रूपसौभाग्यमण्डितम् ॥ ११९ ॥
सद्बान्धवान्सुखोपेता-न्नानावस्त्रादिभूषणम् ।
एकद्वित्र्यादिसद्भूमि-लसत्प्रासादसञ्चयम् ॥ १२० ॥
यानजं पानसन्मान-यत्सारं भुवनत्रये ।
लभन्ते श्रीजिनेन्द्रोक्त-पुण्यपण्येन देहिनः ॥ १२१ ॥
तस्मात्त्यक्त्वाशु दुर्मार्गं कष्टदं बुधसत्तमैः ।
स्वर्गमोक्षश्रियो बीजं कार्यं पुण्यं जिनोदितम् ॥ १२२ ॥
तत्सुपुण्यं भवेदत्र भक्त्या श्रीमज्जिनार्चनैः ।
पात्रदानैस्तथाशीलो-पवासादिव्रतोत्तमैः ॥ १२३ ॥
अथैकदा जगत्पूज्यः सुकुमालस्य मातुलः ।
नाम्ना गणधराचार्यो जैनतत्वविदांवरः ॥ १२४ ॥
ज्ञात्वा श्रीसुकुमालस्य स्वल्पायुर्मुनिसत्तमः ।
तदीयोद्यानमागत्य सुधीर्योगं गृहीतवान् ॥ १२५ ॥
यशोभद्रा च तन्माता प्रोच्चैः स्वाध्यायघोषणम् ।
यावद्योगपरिप्राप्ति-र्वारयामास तं मुनिम् ॥ १२६ ॥
ततस्तेन मुनीन्द्रेण योगनिष्ठापनक्रियाम् ।
कृत्वा पश्चादूर्द्ध्वलोक-प्रज्ञप्तिपठनोच्चकैः ॥ १२७ ॥
अच्युतस्वर्गदेवाना-मायुरुत्सेधसत्सुखे ।
व्यावर्णनं तरां कर्तुं प्रारब्धं पुण्ययोगतः ॥ १२८ ॥

तच्छ्रुत्वा सुकुमालोसौ स्वामी जातिस्मरोभवत् ।
गत्वा तस्य मुनेः पार्श्वे नत्वा तं भक्तितः स्थितः ॥ १२९ ॥
मुनिः प्राह सुधीर्वत्स तवायुश्च दिनत्रयम् ।
यज्जानासि हितं स्वस्य कुरु त्वं तद्धि वेगतः ॥ १३० ॥
तत्समाकर्ण्य धीरोसौ सुकुमालो गुणोज्वलः ।
शीघ्रं दीक्षां समादाय जैनीं स्वसौख्यदायिनीम् ॥ १३१ ॥
त्रिधा वैराग्यतः कृत्वा संन्यासं शल्यवर्जितम् ।
प्रायोपयानसन्नाम्नि संस्थितो मरणे सुधीः ॥ १३२ ॥
अग्निभूतेस्तु या भार्या सोमदत्ता निदानतः ।
सा संसारे परिभ्रम्य तत्रैवोज्जयिनीपुरे ॥ १३३ ॥
शृगाली पापतो भूत्वा चतुःपुत्रसमन्विता ।
पूर्ववैरेण पादाभ्यां समारभ्यैव तं मुनिम् ॥ १३४ ॥
भक्षयामास हा कष्टं निदानं पापराशिदम् ।
तस्माद्भव्यैर्न कर्त्तव्यं तत्रिधा दुःखकारणम् ॥ १३५ ॥
सुकुमालमुनिः सोपि मेरुवद्धीरमानसः ।
शत्रमित्रसमश्चित्ते सुधीः सारसमाधिना ॥ १३६ ॥
तृतीये दिवसे तं च सहमानः परीषहम् ।
मृत्वा तदाच्युतस्वर्गे जातो देवो महर्द्धिकः ॥ १३७ ॥
क्व ते भोगा मनोभीष्टा-स्तपः क्वेदं सुदारुणम् ।
अहो भव्या सतां वृत्तं परमाश्चर्यकारणम् ॥ १३८ ॥
तत्राच्युते सुधीः स्वर्गे देवोसौ सारसौख्यभाक् ।
श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्ज-संजातो भक्तिनिर्भरः ॥ १३९ ॥

उज्जयिन्यां तदा देवैर्महाकोलाहलः कृतः ।
महाकालः कुतीर्थोभू-ज्जन्तूनां तत्र नाशकृत् ॥ १४० ॥
गन्धतोयलसद्वृष्टिः कृता देवैः सुभक्तितः ।
तत्र गन्धवती नाम्नी नदी जातेति भूतले ॥ १४१ ॥
स श्रीमान्वरभोगसंगनिरतो ज्ञात्वा मुनेर्वाक्यतः
स्वल्पं जीवितमात्मनो हि सकलं त्यक्त्वा कलत्रादिकम् ।
धृत्वा चारु तपो जिनेन्द्रकथितं सोढ्वापशूपद्रवं ।
देवोभूत्सुकुमालनिर्मलमुनिर्भूयात्सतां शान्तये ॥ १४२ ॥
इति कथाकोशे श्रीसुकुमालमुनेराख्यानं समाप्तम् ॥

५८—सुकोशलमुनेः कथा ।

अर्हन्तं त्रिजगत्पूतं भारतीं भुवनोत्तमाम् ।
नत्वा गुरुं प्रवक्ष्येहं सुकोशलकथामिमाम् ॥ १ ॥
अयोध्यायां महाराजः प्रजापालो गुणोज्वलः ।
श्रेष्ठी सिद्धार्थनामाभू-द्धनैर्धान्यैः समान्वितः ॥ २ ॥
द्वात्रिंशत्तस्य संजाता भार्याः सद्रूपमण्डिताः ।
सर्वास्ताः कर्मयोगेन कामिन्यः पुत्रवर्जिताः ॥ ३ ॥
अहो पुत्र विना नारी राजते नैव भूतले ।
रूपलावण्ययुक्तापि वल्लीव निष्फला भुवि ॥ ४ ॥
तासां मध्ये तु या भार्या श्रेष्ठिनः प्राणवल्लभा ।
पुत्रार्थं यक्षदेवान्सा पूजयन्ती जयावती ॥ ५ ॥
प्रोक्ता ज्ञानिमुनीन्द्रेण भो सुते दुःखदायिनीम् ।
त्यक्त्वा भक्तिं कुदेवानां जैनधर्मे स्थिरा भव ॥ ६ ॥

येन ते सप्तवर्षाणां मध्ये स्याद्गर्भसंभवः ।
तच्छ्रुत्वा सा च संतुष्टा जिनधर्मे दृढाभवत् ॥ ७ ॥
यद्वाञ्छा मानसे नित्यं वर्तते सुतरां भुवि ।
तद्वस्तु प्राप्तिसान्निध्ये भवेद्धर्षो न कस्य वै ॥ ८ ॥
ततः कैश्चिद्दिनैस्तस्या जयावत्याः सुधर्मतः ।
सुकोशलो लसत्कान्तिः पुत्रो जातो मनोहरः ॥ ९ ॥
श्रेष्ठी सिद्धार्थनामासौ दृष्ट्वा तन्मुखपंकजम् ।
नयंधरमुनेः पार्श्वे सुधीर्दीक्षां गृहीतवान् ॥ १० ॥
मां बालपुत्रसंयुक्तां मुक्त्वा जातो मुनिस्त्विति ।
जयावती महाकोपं चक्रे सिद्धार्थसन्मुनौ ॥ ११ ॥
अहो चास्मै मुनीन्द्रस्य युक्तं दातुं तपः किमु ।
कोपान्मुनिप्रवेशस्तु निषिद्धः स्वगृहे तया ॥ १२ ॥
हा कष्टं मोहतो जन्तुः सद्धर्मं त्यजति ध्रुवम् ।
जन्मान्धको यथा चिन्ता-मणिं हस्तस्थितं कुधीः ॥ १३ ॥
वृद्धिं प्राप्य ततः सोपि सुकोशलवणिक्पतिः ।
द्वात्रिंशत्कुलजाः कन्याः परिणीय गुणोज्वलाः ॥ १४ ॥
नाना भोगान्प्रभुञ्जानः संस्थितः पूर्वपुण्यतः ।
जन्तूनां पूर्वपुण्येन सम्पदो विविधा भवेत् ॥ १५ ॥
एकदा जननीभार्या-धात्रिकाभिः समन्वितः ।
स्वप्रासादोपरिस्थोसौ सुकोशलवणिग्वरः ॥ १६ ॥
पश्यन्पुरस्य सच्छोभां तत्रायातं मुनीश्वरम् ।
नाना देशान्विहृत्योच्चै-र्दृष्ट्वा सिद्धार्थमद्भुतम् ॥ १७ ॥

कोयं मातः सुधीरेवं पृष्टवान् जननीं मुदा ।
जयावती क्रुधा प्राह रंकोयं याति कोपि भो ॥ १८ ॥
तदा सुकोशलेनोक्तं सावधानेन धीमता ।
सर्वलक्षणयुक्तत्वा-न्नायं रंको भवत्यहो ॥ १९ ॥
सुनन्दा धात्रिकावोच-त्तदा तन्मातरं प्रति ।
न युक्तं निन्दितं वाक्यं वक्तुं चास्य महामुनेः ॥ २० ॥
मुग्धे कुलप्रभोस्ते च ततो रुष्टा तु सा जगौ ।
तिष्ठ मौनेन नेत्राभ्यां वारयामास धात्रिकाम् ॥ २१ ॥
दुष्टस्त्रीमानसे नास्ति धर्मस्नेहः कदाचन ।
यथा ज्वलन्महावह्नि-मध्यभागो न शीतलः ॥ २२ ॥
मात्राहं वंचितः कष्टं चिन्तयन्निजचेतसि ।
तदा सुकोशलो धीमान्सूपकारेण भाषितः ॥ २३ ॥
जाता भोजनवेलेति भो स्वामिन्क्रियते कृपा ।
तथा मातृस्वभार्याभिः प्रेरितो भोजनाय सः ॥ २४ ॥
तेनोक्तं धीमता तत्र मया सत्यस्वरूपकम् ।
अस्योत्तमपुरुषस्य ज्ञात्वा भोक्तव्यमित्यलम् ॥ २५ ॥
ततः सुनन्दया धात्र्या प्रोक्तं पूर्वं प्रघट्टकम् ।
सुकोशलः समाकर्ण्य महावैराग्ययोगतः ॥ २६ ॥
गत्वा तस्य मुनेः पार्श्वे नत्वा पादद्वयं मुदा ।
ज्ञात्वा धर्मस्य सद्भावं जिनेन्द्रैः परिकीर्त्तितम् ॥ २७ ॥
सुभद्रायाः स्वभार्याया गर्भस्थाय सुताय च ।
दत्वा श्रेष्ठिपदं शीघ्रं त्यक्त्वा मोहादिकं धनम् ॥ २८ ॥

नत्वा सिद्धार्थनामानं पुनस्तं मुनिसत्तमम् ।
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं मुनिर्जातो विचक्षणः ॥ २९ ॥
यः सुधीः पूर्वपुण्येन संयुक्तो धर्मवत्सलः ।
सावधानो हिते नित्यं स केन भुवि वंच्यते ॥ ३० ॥
आर्त्तध्यानेन सा मृत्वा श्रेष्ठिनी तु जयावती ।
देशे मगधसंज्ञे च गिरौ मौद्गिलनामनि ॥ ३१ ॥
व्याघ्री स्वपापतो जाता त्रिपुत्रा क्रूरमानसा ।
मुक्त्वा धर्मं जिनेन्द्रोक्तं जन्तुर्यात्येव दुर्गतिम् ॥ ३२ ॥
तदा तौ कर्मयोगेन मुनीन्द्रौ गुणशालिनौ ।
मौद्गिलपर्वते योगं गृहीत्वा भुवनोत्तमौ ॥ ३३ ॥
चतुर्मासोपवासान्ते पूर्णयोगे जगद्धितौ ।
चर्यार्थं निर्गतौ तौ च दृष्ट्वा व्याघ्री दुराशया ॥ ३४ ॥
संन्यासेन स्थितौ यावत्तया तावत्क्रमेण च ।
भक्षितौ मरणं प्राप्य तदा सारसमाधिना ॥ ३५ ॥
जातौ सर्वार्थसिद्धौ तौ सिद्धार्थाख्यसुकोशलौ ।
भाविमुक्तिश्रियः कान्तौ शान्तौ मे भवतां श्रिये ॥ ३६ ॥
सा व्याघ्री च समालोक्य खादन्ती तत्पलं तदा ।
सुकोशलकरे चारु लाञ्छनं भुवनोत्तमम् ॥ ३७ ॥
भूत्वा जातिस्मरी शीघ्रं त्यक्त्वा तत्पापकर्मकम् ।
हा कष्टं दुष्टसंसारे त्यक्तश्रीजैनसद्वृषाः ॥ ३८ ॥
भ्रमन्ति प्राणिनो मूढा मादृश्यः पापपंडिताः ।
पुत्रादीन्भक्षयन्तीति कृत्वा संसारनिन्दनम् ॥ ३९ ॥

संन्यासं च समादाय मृत्वा शुद्धाशयेन सा ।
प्राप्ता सौधर्मसत्स्वर्गे जीवानां शक्तिरद्भुता ॥ ४० ॥
अहो श्रीजैनसद्धर्म-प्रभावोभुवनोत्तमः ।
क्व व्याघ्री पापकर्मासौ क्व स्वर्गे सारसंभवः ॥ ४१ ॥
ततः श्रीजैनसद्धर्मो स्वर्गमोक्षसुखप्रदः ।
आराध्यो भक्तितो नित्यं भव्यैः स्वात्मप्रसिद्धये ॥ ४२ ॥
सिद्धश्रीमूलसंघाख्ये प्रोत्तुंगोदयभूधरे ।
भानुर्भट्टारकः स्वामी जीयान्मे मल्लिभूषणः ॥ ४३ ॥
प्रोद्यत्सम्यक्त्वरत्नो जिनकथितमहासप्तभंगीतरङ्गैः—
निर्द्धूतैकान्तमिथ्यामतमलनिकरः क्रोधनक्रादिदूरः ।
श्रीमज्जैनेन्द्रवाक्यामृतविशदरसः श्रीजिनेन्दुप्रवृद्धो
जीयान्मे सूरिवर्यो व्रतनिचयलसत्पुण्यपण्यः श्रुताब्धिः ॥४४॥

इति कथाकोशे भट्टारकश्रीमल्लिभूषणशिष्यब्रह्मनेमिदत्त-विरचिते श्रीसुकोशलश्रेष्ठिनः कथा समाप्ता ।

५९—गजकुमारमुनेः कथा ।

प्रसिद्धं स्वगुणैः सिद्धं पूजार्थं जिननायकम् ।
नत्वा गजकुमारस्य कथयामि कथानकम् ॥ १ ॥
श्रीमद्द्वारवतीपुर्यां प्रसिद्धायां जगत्त्रये ।
श्रीमन्नेमिजिनेन्द्रस्य पवित्रायां सुजन्मना ॥ २ ॥
वासुदेवोभवद्राजा त्रिखण्डेशो महाबलिः ।
तस्य गन्धर्वसेनायां राज्यां गजकुमारवाक् ॥ ३ ॥

पुत्रोभूद्भटकोटीनां मध्येसौ सुभटाग्रणीः ।
यत्प्रतापेन शत्रूणां दग्धा मानलता तता ॥ ४ ॥
योदनादिपुरे राजा तथाभूदपराजितः ।
स च श्रीवासुदेवस्य नैव सिद्ध्यति दुष्टधीः ॥ ५ ॥
ततः श्रीवासुदेवेन घोषणा दापिता पुरे ।
योपराजितभूपालं समानयति विद्विषम् ॥ ६ ॥
तस्मै ददामि सत्प्रीत्या वाञ्छितं वरमुत्तमम् ।
श्रीमान् गजकुमारोसौ तत्समाकर्ण्य वेगतः ॥ ७ ॥
पितुः पादद्वयं नत्वा गत्वा तत्पोदनं पुरम् ।
युद्धेऽपराजितं जित्वा गृहीत्वा जीवितं द्रुतम् ॥ ८ ॥
समानीय त्रिखण्डोरु-स्वामिनस्तं समर्पयत् ।
दुःसाध्यं साध्यते केन सद्भटेन विना क्षितौ ॥ ९ ॥
वरं प्राप्य कुमारोसौ कामचारं सुलम्पटः ।
हठाद्द्वारवतीस्त्रीणां समूहं सेवते स्म च ॥ १० ॥
धिग्धिक्कामं दुराचारं महापापस्य कारणम् ।
यतो लज्जाभयं नैव कामिनां मुग्धचेतसाम् ॥ ११ ॥
श्रेष्ठिनः पांसुलस्यापि सुरत्याख्यास्ति कामिनी ।
प्रोल्लसद्रूपसंयुक्ता तस्यां सोपि रतोभवत् ॥ १२ ॥
अन्तः पांसुलकश्चापि प्रज्वलन्कोपवह्निना ।
गृहे संतिष्ठते कष्ट-मक्षमस्तन्निवारणे ॥ १३ ॥
एकदा केवलज्ञान-प्रकाशितजगत्त्रयः ।
श्रीमन्नेमिजिनः स्वामी सुरेन्द्राद्यैः प्रसेवितः ॥ १४ ॥

भव्यपुण्योदयेनोच्चै-र्द्वारवत्यां समागतः ।
तत्र श्रीबलभद्रेण वासुदेवान्वितेन च ॥ १५ ॥
अन्यैर्भूपादिभिः सर्वैः परमानन्दनिर्भरैः ।
तस्य श्रीजिननाथस्य पादपद्मद्वयं मुदा ॥ १६ ॥
समभ्यर्च्य बलाद्यैश्च स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ।
स्तुत्वा नत्वा महाभक्त्या भावितं चेतसि स्थिरम् ॥ १७ ॥
पुनस्ते धर्ममाकर्ण्य शर्मकोटिविधायकम् ।
मुनिश्रावकभेदाभ्यां श्रीमन्नेमिजिनोदितम् ॥ १८ ॥
सन्तुष्टा मानसे गाढं स्तुतिं चक्रुर्जिनेशिनाम् ।
श्रुत्वा धर्मं जिनेन्द्राणां कस्यानन्दो न जायते ॥ १९ ॥
तथा धर्मं समाकर्ण्य भक्त्या गजकुमारवाक् ।
त्रिधा वैराग्यमासाद्य कृत्वा निन्दां स्वकर्मणः ॥ २० ॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं भवभ्रमणनाशिनीम् ।
विहृत्योच्चैर्महीपीठं प्रान्तेसौ सत्तपोनिधिः ॥ २१ ॥
ऊर्जयन्तमहोद्याने प्रायोपमरणे दृढः ।
संन्यासेन स्थितः स्वामी निश्चलो मेरुवत्तराम् ॥ २२ ॥
तं तत्रस्थं कुधीर्ज्ञात्वा पांसुलो वैरतो द्रुतम् ।
गत्वा तत्र महाकोपा-त्तं संप्राप्य यतीश्वरम् ॥ २३ ॥
सर्वतो लोहकीलैश्च कीलित्वा च प्रसन्धिषु ।
नष्टः पापी समादाय भूरि पापस्य संचयम् ॥ २४ ॥
तदा गजकुमारोसौ मुनीन्द्रो जिनतत्त्ववित् ।
तां वेदनां सुधीश्चित्ते गणयंश्च तृणोपमाम् ॥ २५ ॥

कृत्वा समाधिना कालं स्वर्गलोकं ययौ द्रुतम् ।
तत्र सौख्यं चिरंकालं भुंजानः सुखतः स्थितः ॥ २६ ॥
अहो सतां महाचित्रं चारित्रं भुवनोत्तमम् ।
क्व वेदनाभवद्भूरिः क्व समाधिः प्रशर्मदः ॥ २७ ॥
सकलभुवननाथश्रीजिनेन्द्रप्रणीतं
विमलसुखनिवासं जैनधर्मं निशाम्य ।
विशदतरमतीशः संयमी योत्र जातो
भवतु गजकुमारः शान्तयेसौ मुनीन्द्रः ॥ २८ ॥

इति कथाकोशे गजकुमारमुनेः कथा समाप्ता ।

६०—पणिकमुनेः कथा ।

श्रीजिनं शर्मदं नत्वा शान्तये सद्भिरर्चितम् ।
वक्ष्ये श्रीपणिकाख्यानं संक्षेपेण जगद्धितम् ॥ १ ॥
पुरे पणीश्वरे रम्ये प्रजापालो महीपतिः ।
श्रेष्ठी सागरदत्ताख्यः पणिका श्रेष्ठिनी प्रिया ॥ २ ॥
तयोः पुत्रः पवित्रात्मा संजातः पणिकाभिधः ।
सुधीः सन्मार्गसंसक्तो विरक्तः पापकर्मणि ॥ ३ ॥
एकदा पणिको धीमान्वर्द्धमानजिनेशिनः ।
समवादिसृतिं प्राप्य प्रोल्लसद्रत्नतोरणाम् ॥ ४ ॥
मानस्तंभादिसद्भूत्या जगच्चेतोनुरंजनम् ।
तत्र गंधकुटीमध्ये त्रिपीठेषु निरंजनम् ॥ ५ ॥

कनत्काञ्चनसद्रत्न-सिंहासनमधिष्ठितम् ।
पूर्णेन्दुकांतिविद्वेषि-छत्रत्रयविराजितम् ॥ ६ ॥
तारहारोज्वलैर्दिव्यै-र्वीज्यमानं सुचामरम् ।
सूर्यकोटिप्रभाभार-हारिसत्कान्तिमण्डितम् ॥ ७ ॥
सर्वसन्देहविध्वंसि-दिव्यध्वनिसमन्वितम् ।
दुंदुभीनां महाध्वानै-र्भुवनत्रयशोभितम् ॥ ८ ॥
इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्क-नरेन्द्राद्यैः समर्चितम् ।
निर्ग्रन्थादिगुणोपेतं भव्यसन्दोहसंस्तुतम् ॥ ९ ॥
चतुस्त्रिंशन्महाश्चर्यै-र्भूषितं भुवनोत्तमम् ।
सच्चतुष्टयसंयुक्तं व्यक्तलोकत्रयक्रमम् ॥ १० ॥
दृष्ट्वा श्रीवर्द्धमानाख्यं जिनेन्द्रं मुक्तिसत्प्रियम् ।
त्रिः परीत्य लसद्भक्त्या समभ्यर्च्य कृतश्रियम् ॥ ११ ॥
नत्वा स्तुत्वा सतां स्तुत्यं धर्ममाकर्ण्य शर्मदम् ।
श्रुत्वास्तोकतरं स्वायु-र्दीक्षामादाय निर्मदम् ॥ १२ ॥
एकाकी विहरन्नुच्चै-स्ततोऽसौ पणिको मुनि ।
गंगां नदीं समागत्य नौमध्ये चैकदा स्थितः ॥ १३ ॥
नौर्निमज्जाति यावत्सा तावत्सोपि मुनीश्वर ।
केवलज्ञानमुत्पाद्य सद्ध्यानान्मोक्षमासवान् ॥ १४ ॥
स श्रीवणिक्सुतो धीमान्मेरुवन्निश्चलाशयः ।
कर्मसन्दोहशत्रुघ्नो दद्यान्मे शाश्वतीं श्रियम् ॥ १५ ॥
श्रीमत्सागरदत्तनामपणिकासच्छ्रेष्ठिनीनन्दनः
पूतात्मा पणिको विलोक्य शिवदं श्रीवर्द्धमानं जिनम् ।

ज्ञात्वा स्वल्पतरं निजायुमखिलं त्यक्त्वा च मोहादिकं
भूत्वा यस्तु मुनिः स मुक्तिमगमन्नित्यं सुखं मे क्रियात् ११

इति कथाकोशे श्रीपणिकमुनेः कथा समाप्ता ।

६१—श्रीभद्रबाहुमुनेः कथा ।

नत्वा जिनं जगद्भद्रं सुरासुरनमस्कृतम् ।
भद्रबाहोर्मुनीन्द्रस्य चरित्रं कथ्यते हितम् ॥ १ ॥
पुण्ड्रवर्द्धनसद्देशे कोटीसन्नगरे वरे ।
राजा पद्मरथो धीमान्सोमशर्मा पुरोहितः ॥ २ ॥
श्रीदेवी भामिनी तस्य तयोः पुत्रो बभूव च ।
भद्रबाहुर्गुणैर्भद्रो भद्रमूर्त्तिर्भवोत्तमः ॥ ३ ॥
एकदा प्रौढबालोसौ मौंजीबन्धे कृते सति ।
क्रीडां कुर्वन्पुरीबाह्ये भूरिबालजनैः सह ॥ ४ ॥
तत्र क्रीडाविधौ धीमान्गोलकांश्च त्रयोदश ।
क्रमेणोपरि संचक्रे बुद्ध्या हस्तकलान्वितः ॥ ५ ॥
सर्वभव्यार्चिते श्रीम-द्वर्धमानजिनेशिनि ।
मुक्तिं प्राप्ते च पञ्चानां चतुर्दशसुपूर्विणाम् ॥ ६ ॥
मध्ये यस्तु चतुर्थस्तु चतुर्दशसुपूर्ववित् ।
गोवर्द्धनो मुनिः श्रीम-दूर्जयन्तगिरौ शुभे ॥ ७ ॥
वन्दनार्थं प्रगच्छन्सन्स कोटीपुरमागतः ।
दृष्ट्वा तद्गोलकक्रीडा-विज्ञानं भुवनोत्तमम् ॥ ८ ॥

चतुर्दशमहापूर्व-धरोयं पञ्चमो ध्रुवम् ।
भद्रबाहुर्विशुद्धात्मा भाविश्रीश्रुतकेवली ॥ ९ ॥
इति ज्ञात्वा ततः प्रोक्त्वा सोमशर्मद्विजस्य च ।
नीत्वा तं बालकं स्वान्तं सर्वशास्त्राणि सद्गुरुः ॥ १० ॥
पाठयित्वा जगत्सार-शर्मकारीणि देहिनाम् ।
प्रेषयामास तद्गेहं स्वामी सर्वगुणाकरः ॥ ११ ॥
भद्रबाहुस्ततो बाल-स्त्यक्त्वा गेहादिकं पुनः ।
गोवर्द्धनमुनेः पार्श्वे समागत्य द्रुतं सुधीः ॥ १२ ॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं स्वर्गमोक्षसुखप्रदाम् ।
मुनिर्भूत्वाभवत्सोपि चतुर्दशसुपूर्ववित् ॥ १३ ॥
ज्ञाततत्वव्रजः प्राणी गृहावासं कुतो भजेत् ।
आस्वादितामृतस्वादुः कथं पिण्याकमाचरेत् ॥ १४ ॥
गोवर्द्धनगुरौ तस्मिन्स्वर्गलोकं गते सति ।
संघाधारस्ततो भूत्वा भद्रबाहुः श्रुतेक्षणः ॥ १५ ॥
संघेन महता सार्द्धं भव्यशस्यापि तर्पयन् ।
स्ववाक्यामृतधाराभि-रुज्जयिन्यां समागतः॥ १६ ॥
चर्यायां स प्रतिष्ठः सन्नुत्संगे संस्थितेन च ।
अव्यक्तबालकेनोक्तो गच्छ गच्छेति भो मुने ॥ १७ ॥
तत्समाकर्ण्य तत्वज्ञो भद्रबाहुर्मुनीश्वरः ।
सत्यं द्वादशवर्षेषु दुर्भिक्षं संभविष्यति ॥ १८ ॥
ज्ञात्वेति सोन्तरायं च कृत्वा स्वस्थानमागतः ।
सन्ध्याकाले तदा सर्व-मुनीनामग्रतोऽवदत् ॥ १९ ॥

अत्र द्वादशवर्षाणि भावि दुर्भिक्षकं ध्रुवम् ।
मया स्वल्पायुषात्रैव स्थीयते भो तपस्विनः ॥ २० ॥
यूयं दक्षिणदेशं तु संगच्छन्तु कृतोद्यमाः ।
इत्युक्त्वा दशपूर्वज्ञं विशाखाचार्यसन्मुनिम् ॥ २१ ॥
स्वशिष्यं संघसंयुक्तं सुधीः संज्ञानलोचनः ।
प्रेषयामास चारित्र-रक्षार्थं दक्षिणापथम् ॥ २२ ॥
तदा ते मुनयः सन्तो गत्वा तत्र सुखं स्थिताः ।
गुरोर्वाक्यानुगाः शिष्याः संभवन्ति सुखाश्रिताः ॥ २३ ॥
ततश्चोज्जयिनी नाथश्चन्द्रगुप्तो महीपतिः ।
वियोगाद्यतिनां भद्र-बाहुं नत्वाभवन्मुनिः ॥ २४ ॥
तदा श्रीभद्रबाहुश्च मुनीन्द्रः सुतपोनिधिः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-सारतत्वविदांवरः ॥ २५ ॥
उज्जयिन्यां सुधीर्भद्रः वटवृक्षसमीपके ।
क्षुत्पिपासादिकं जित्वा संन्यासेन समन्वितः ॥ २६ ॥
स्वामी समाधिना मृत्वा संप्राप्तः स्वर्गमुत्तमम् ।
सोस्माकं सन्मुनिर्दद्या-त्सन्मार्गं शर्मकोटिदम् ॥ २७ ॥

श्रीसोमशर्मद्विजवंशसन्मणिः
श्रीभद्रबाहुर्मुनिसत्तमाग्रणीः ।
जिनेन्द्रधर्माब्धिसमग्रचद्रमाः
कुर्यात्सतां सारसुखाश्रिताः शुभाः ॥ २८ ॥

इति कथाकोशे पञ्चमश्रुतकेवलिश्रीभद्रबाहुमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

६२–द्वात्रिंशच्छ्रेष्ठिपुत्राणां कथा ।

श्रीसर्वज्ञं प्रणम्योच्चै-र्लोकालोकप्रकाशकम् ।
द्वात्रिंशच्छ्रेष्ठिपुत्राणां चरित्रं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
कौशाम्बीनगरे रम्ये द्वात्रिंशच्छ्रेष्ठिनोभवन् ।
इन्द्रदत्तादयः ख्याता भूरिद्रव्यसमन्विताः ॥ २ ॥
तेषां समुद्रदत्ताद्याः पुत्रा द्वात्रिंशदुत्तमाः ।
ये जाताः सद्गुणोपेताः सारसम्यक्त्वमण्डिताः ॥ ३ ॥
सर्वे ते जिनपादाब्ज-सेवनैकमधुव्रताः ।
परस्परं सुमित्रत्वं प्राप्ताः सद्धर्मशालिनः ॥ ४ ॥
अहो पुण्यस्य सामग्री सर्वे ते श्रेष्ठिनां सुताः ।
लक्ष्मीमित्रत्वसद्धर्म-सादृश्यं यत्समागताः ॥ ५ ॥
एकदा त्रिजगत्पूज्यं केवलज्ञानलोचनम् ।
श्रीजिनेन्द्रं गुणैः सान्द्रं समभ्यर्च्य प्रभक्तितः ॥ ६ ॥
नत्वा स्तुत्वा सुरैः स्तुत्यं धर्ममाकर्ण्य निर्मलम् ।
सर्वे समुद्रदत्ताद्या महाभव्यमतल्लिका ॥ ७ ॥
ज्ञात्वा स्वल्पतरं स्वायुः स्वयम्भुवदनाम्बुजात् ।
ततो दीक्षां समादाय भवभ्रमणनाशिनीम् ॥ ८ ॥
ते सर्वे मुनयो धीरा जैनतत्वविदांवराः
सत्तपश्चरणोपेता विस्तीर्णे यमुनातटे ॥ ९ ॥
प्रायोपयानसंज्ञेन मरणेन स्थिरं स्थिताः ।
महावृष्ट्यां प्रजातायां प्रवाहेन नदीह्रदे ॥ १० ॥

पातितास्ते तदा सर्वे कालं कृत्वा समाधिना ।
स्वर्गं प्राप्ताः सतां वृत्तं मेरोः शृंगाच्च निश्चलम् ॥ ११ ॥
स्वर्गे तत्र लसत्सौख्यं भुंजानस्ते स्वपुण्यतः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्ज-संजाता भक्तिनिर्भराः ॥ १२ ॥
स जयतु जिनदेवो यस्य चारित्रमुच्चैः
स्थिरतरमतुलं वै दुष्टनानोपसर्गैः ।
सकलभुवनसारं दत्तसंसारपारं
परमसुखनिवासं ध्वस्तमोहादिपाशम् ॥ १३ ॥

इति कथाकोशे द्वात्रिंशच्छ्रेष्ठिपुत्राणामाख्यान समाप्तम् ।

आराधना-कथाकोशः ।

[तृतीयखण्डम् ।]

रचयिता—

ब्रह्मचारी श्रीमन्नेमिदत्तः ।

सम्पादकः—

उदयलालः काशलीवालः ।

श्रीवीतरागाय नमः ।

आराधना-कथाकोशः ।

(तृतीयखण्डम्)

६३–श्रीधर्मघोषाख्यानम् ।

प्रणम्य त्रिजगद्देवं श्रीजिनं धर्मदेशकम् ।
वक्ष्ये श्रीधर्मघोषाख्य–मुनीन्द्रस्य कथानकम् ॥ १ ॥
चम्पायां चैकदा कृत्वा सुधीर्मासोपवासकम् ।
धर्मघोषो मुनिः पश्चा-द्धर्ममूर्त्तिर्गुणाकरः ॥ २ ॥
गोष्ठे तु पारणां कृत्वा संचचाल स्वलीलया ।
नष्टे मार्गे तदा भूरिहरिताङ्कुरितोपरि ॥ ३ ॥
आगच्छन्स तृषाक्रान्तो गंगातीरे मनोहरे ।
वटवृक्षतले यावद्वि-श्रान्तोसौ मुनीश्वरः ॥ ४ ॥
गंगादेवी तदा वीक्ष्य तं मुनिं तपसां निधिम् ।
प्रासुकं निर्मलं तोयं कुंभे कृत्वा मनोहरम् ॥ ५ ॥
समानीय प्रणम्योच्चैः संजगादेति भो मुने ।
कृपां कृत्वा पिबेदं मे सज्जलं भुवनोत्तमम् ॥ ६ ॥
तेनोक्तं श्रीमुनीन्द्रेण नास्माकं कल्पते शुभे ।
ततोऽसौ देवता गत्वा शीघ्रं पूर्वविदेहकम् ॥ ७ ॥

केवलज्ञानिनं नत्वा भक्तितः संजगौ तदा ।
न पीतं हेतुना केन जलं मे मुनिना विभो ॥ ८ ॥
ततः श्रीकेवली प्राह जिनेन्द्रो भुवनार्चितः ।
मुग्धे देवकराहारो मुनीनां नैव कल्पते ॥ ९ ॥
गंगादेवी तदागत्य सुगन्धीकृतदिङ्मुखाम् ।
समन्तात्तन्मुनेः शीत-तोयवृष्टिं चकार सा ॥ १० ॥
तदासौ धर्मघोषाख्यो मुनीन्द्रो धर्मतत्वविद् ।
समाधानं समासाद्य शुक्लध्यानेन धीरधीः ॥ ११ ॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य सुरासुरसमर्चितः ।
मुक्तिं संप्राप्तवान्स्वामी सोस्माकं सत्सुखं क्रियात् ॥ १२ ॥
स श्रीकेवललोचनोतिचतुरो भव्यौघसम्बोधको
लोकालोकविलोकनैकनिपुणो देवेन्द्रवृन्दार्चितः ।
मिथ्यामोहमहान्धकारतरणिश्चिन्तामणिः प्राणिनां
कुर्यान्मे भवतां च निर्मलसुखं श्रीधर्मघोषो जिनः ॥ १३॥

इति कथाकोशे धर्मघोषमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

६४—श्रीदत्तस्याख्यानम् ।

केवलज्ञानसल्लक्ष्मी-नायकं श्रीजिनेश्वरम् ।
नत्वा देवकृते कष्टे वक्ष्ये श्रीदत्तवृत्तकम् ॥ १ ॥
इलावर्द्धनसत्पुर्यां राजाभूज्जितशत्रुवाक् ।
इला राज्ञी तयोः पुत्रः श्रीदत्तः संबभूव च ॥ २ ॥

अयोध्याभूपतेरंशु-मतः पुत्रीं स्वयंवरे ।
सुधीरंशुमतीं पूतां श्रीदत्तः परिणीतवान् ॥ ३ ॥
अंशुमत्या सहैकस्तु समायातः शुकस्तदा ।
स पक्षी तु तयोर्द्यूते स्वगेहे रममाणयोः ॥ ४ ॥
श्रीदत्तस्य जये रेखा-मेकामंशुमतीजये ।
द्वे रेखे संददात्येव पक्षिणश्चापि वञ्चकाः ॥ ५ ॥
श्रीदत्तेन तदा रुष्ट्वा ग्रीवायां चम्पितः शुकः ।
मृत्वा व्यन्तरदेवोभून्महाकष्टेन दुष्टधीः ॥ ६ ॥
श्रीदत्तश्चैकदा सोपि स्वप्रासादोपरि स्थितः ।
मेघस्य पटलं नष्टं समालोक्य विरक्तवान् ॥ ७ ॥
अहो संसारके सर्वं वस्तु विद्युल्लतोपमम् ।
भोगा भुजंगभोगाभाः कायो मायोपमो मली ॥ ८ ॥
तत्र मूढाः प्रकुर्वन्ति प्रीतिं संसारकादिषु ।
हा कष्टं किमतोन्यच्च मूढत्वेन समं भुवि ॥ ९ ॥
इत्यादिकं विचार्योच्चैः स्वचित्ते संसृतेः स्थितिम् ।
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं स्वर्गमोक्षप्रदायिनीम् ॥ १० ॥
एकाकी विहरन्धीमान्भव्यसंघान्प्रबोधयन् ।
निजं पुरं समागत्य शीतकाले बहिः स्थितः ॥ ११ ॥
कायोत्सर्गे स्थितं वीक्ष्य तदा तं मुनिसत्तमम् ।
शुकव्यन्तरदेवोऽसौ पूर्ववैरेण पापधीः ॥ १२ ॥
घोरवातमहाशीत-तोयसंसेवनादिभिः ।
पीडयामास दुष्टात्मा किं कुकार्यमतः परम् ॥ १३ ॥

श्रीदत्तश्च मुनीन्द्रोसौ शत्रुमित्रसमाशयः ।
महासमाधिना स्वामी सोढ्वाशेषपरीषहीन् ॥ १४ ॥
शुक्लध्यानप्रभावेन मेरुवन्निश्चलस्तराम् ।
केवलज्ञानमुत्पाद्य संप्राप्तो मोक्षमक्षयम् ॥ १५ ॥
स श्रीमज्जितशत्रुराजतनुजः श्रीदत्तनामा मुनि-
भूःत्वा देवकृतप्रकष्टमतुलं सोढ्वा शुभध्यानतः ।
हत्वाशेषनिबन्धनानि नितरां प्राप्तः श्रियं शाश्वतीं
स श्रीकेवललोचनो जिनपतिर्दद्यात्स्वभक्तिं मम ॥ १६ ॥

इति कथाकोशे श्रीदत्तमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

६५—श्रीवृषभसेनस्याख्यानम् ।

प्रोल्लसत्परमानन्द-जगद्वन्द्यं जिनेश्वरम् ।
नत्वा वृषभसेनस्य चरित्रं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
उज्जयिन्यां महाराजः प्रद्योताख्यो गुणोज्वलः ।
मदोन्मत्तगजारूढो गजार्थमटवीं गतः ॥ २ ॥
नीतो मत्तगजेनासौ सुदूरं भूरिदुःखतः ।
वृक्षशाखां नृपः प्रोच्चै-रवलम्ब्यावतीर्य च ॥ ३ ॥
एकाकी तु समागच्छन्खेटग्रामे मनोहरे ।
स्थितः कूपतटे याव-ज्जिनपालस्य धीमतः ॥ ४ ॥
ग्रामकूटस्य तोयार्थं जिनदत्तागता सुता ।
तदा तेन नरेन्द्रेण जलं पातुं प्रयाचिता ॥ ५ ॥

महान्तं पुरुषं ज्ञात्वा दत्वा तस्मै जलं मुदा ।
सा ततो गृहमागत्य तां वार्त्ता स्वपितुर्जगौ ॥ ६ ॥
ततोसौ जिनपालेन समागत्य प्रभक्तितः ।
नीत्वा गृहं सुखस्नानं भोजनं कारितो नृपः ॥ ७ ॥
दानं स्तोकतरं चापि प्रस्तावे शर्मकोटिदम् ।
प्रावृट्काले यथा चोप्तं बीजं भूरिफलं भवेत् ॥ ८ ॥
भृत्यादौ च समायाते स प्रद्योतो महीपतिः ।
महोत्सवशतैस्तत्र तां कन्यां परिणीय च ॥ ९ ॥
चक्रे पट्टमहाराज्ञीं जिनदत्तां गुणोज्वलाम् ।
नाना भोगान्प्रभुञ्जानः संस्थितो निजलीलया ॥ १० ॥
कैश्चिद्दिनैस्ततस्तस्याः सुतोत्पत्तिनिशाक्षणे ।
स्वप्ने राज्ञा समालोक्य वृषभं सुमनोहरम् ॥ ११ ॥
पुत्रो वृषभसेनोयं संप्रोक्तः परया मुदा ।
जिनेन्द्रभवनोत्साह- स्नानपूजाप्रदानतः ॥ १२ ॥
एवं सत्कर्मभिर्नित्यं गते संवत्सराष्टके ।
राजा प्रद्योतनामासौ प्राप्तसौख्यपरम्पराम् ॥ १३ ॥
पुत्रं प्राह सुधी राज्यं त्वं गृहाण सुतोत्तम ।
मया श्रीमज्जिनेन्द्रोक्तं सत्तपः क्रियतेधुना ॥ १४ ॥
सुतेनोक्तमहो तात किं राज्यं कुर्वतोङ्गिनः ।
परलोकमहासिद्धि-र्विद्यते नैव भूतले ॥ १५ ॥
राजा जगाद भो पुत्र नैव मुक्तिस्तपो विना ।
मुक्तेः संसाधनं जैनं तपः प्रोक्तं यतो बुधैः ॥ १६ ॥

यद्यैवं निश्चयस्तात दुःखदे राज्यकर्मणि ।
निर्वृत्तिर्ममाप्यस्ति भवत्पादप्रसादतः ॥ १७ ॥
पुत्रवाक्यं समाकर्ण्य भ्रातृव्याय महोत्सवैः ।
दत्वा राज्यं स्वपुत्रेण सार्द्धं जातो मुनिर्नृपः ॥ १८ ॥
स श्रीवृषभसेनाख्यो मुनिः श्रीजिनभाषितम् ।
तपः कुर्वंस्तदैकाकी विहरन्भुवतोत्तमः ॥ १९ ॥
कोशाम्बीपत्तनाभ्यर्णे पर्वतोरुशिलातले ।
ज्येष्ठमासे सुधीर्योगं ददात्यातापनं सदा ॥ २० ॥
तत्प्रभावं समालोक्य सर्वे भव्यजनास्तदा ।
श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्मे संजाताः सुतरां रताः ॥ २१ ॥
एकदासौ मुनिर्धीर-श्चारुचारित्रमंडितः ।
निर्गतो देहयात्रार्थं जैनतत्वविदांवरः ॥ २२ ॥
तदा चेर्ष्यापरः पापी बुद्धदासः कुवन्दकः ।
तां शिलां पावकेनोच्चै-रग्निवर्णां चकार सः ॥ २३ ॥
साधूनां सुप्रभावस्तु सह्यते नैव दुर्जनैः ।
यथा भानुप्रभावश्च घूकानां न सुखायते ॥ २४ ॥
चर्यां कृत्वा समागत्य शिलामालोक्य तादृशीम् ।
सत्प्रतिज्ञापरः स्वामी स श्रीवृषभसेनवाक् ॥ २५ ॥
सारसंन्याससमादाय निश्चलो मुनिसत्तमः ।
स्थितो यावच्छिलापीठे तावत्त्रैलोक्यपूजितम् ॥ २६ ॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य निर्वाणं प्राप्तवान्सुधीः ।
अहो मेरोरपि व्यक्तं चारित्रं निश्चलं सताम् ॥ २७ ॥

यच्चित्तोन्नतपर्वतस्य पुरतः प्रोत्तुङ्गभूभृद्गणोऽ—
णुत्वं याति सरित्पतिस्तु नितरां दर्भाग्रबिन्दूपमाम् ।
स श्रीमान्वृषभादिसेनजिनपः प्रध्वस्तकर्मा विभु—
र्दद्यात्स्वस्य गुणश्रियं गुणनिधिर्मे सर्वसिद्धिप्रदाम् ॥ २८ ॥

इति कथाकोशे श्रीवृषभसेनमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

६६—कार्त्तिकेयमुनेराख्यानम् ।

केवलज्ञानसन्नेत्रं पवित्रं शर्मकारणम् ।
नत्वा जिनं प्रवक्ष्यामि कार्त्तिकेयकथानकम् ॥ १ ॥
कार्त्तिकाख्यपुरे राजा संजातोग्न्यभिधानकः ।
राज्ञी वीरमती पुत्री कृत्तिका रूपमण्डिता ॥ २ ॥
साथ नन्दीश्वराष्टम्या-मुपवासं विधाय च ।
कृत्वा पूजां जिनेन्द्राणां शेषां पित्रे सुता ददौ ॥ ३ ॥
तदा तद्रूपमालोक्य दिव्यं राजाग्निवाक् कुधीः ।
सर्वलिङ्गीन्द्विजादींश्च दुष्टात्मा कामुकोऽवदत् ॥ ४ ॥
उत्पन्नं मद्गृहे रत्नं कस्य भो भवति ध्रुवम् ।
ब्रूत यूयं तदाकर्ण्य जगुस्ते मुग्धमानसाः ॥ ५ ॥
भो नरेन्द्र तवैव स्या-त्ततः प्राहुर्मुनीश्वराः ।
कन्यारत्नं विना देव सर्वं ते नात्र संशयः ॥ ६ ॥
तद्वाक्यं त्रिजगत्पूज्यं तच्चित्ते कष्टकोटिदम् ।
संजातं पापिनां युक्तं कथं पथ्यायते वचः ॥ ७ ॥

ततस्तेन सुरुष्टेन देशा-न्निर्घाट्य तान्मुनीन् ।
स्वपुत्री कृत्तिका नाम्नी परिणीता स्वयं हठात् ॥ ८ ।
पापिनां कामिनां लोके भाविदुर्गतिदुःखिनाम् ।
क्व धर्मः क्व च लज्जासौ क्व नीतिः क्व च सन्मतिः ॥ ९ ॥
कैश्चिद्दिनैस्ततस्तस्यां कार्त्तिकेयो सुतोभऽवत् ।
पुत्री वीरमती जाता रूपलावण्यमण्डिता ॥ १० ॥
रोहेडनगरे सा तु पुत्री क्रौंचमहीभुजे ।
दत्ता भोगान्प्रभुञ्जाना संस्थिता सुखतः सती ॥ ११ ॥
चतुर्दशसु वर्षेषु गतेषु निजलीलया ।
कार्त्तिकेयः सुधीः क्रीडां कुर्वन्नेकदिने ततः ॥ १२ ॥
नमिप्रभृतितद्राज-कुमाराणां मनोहरम् ।
मातामहात्समायातं दृष्ट्वा वस्त्रादिकं शुभम् ॥ १३ ॥
जगाद मातरं चेति भोमातस्ते पिता मम ।
किं कारणं कदा किंचि-न्नैव प्रेषयते स्फुटम् ॥ १४ ॥
अश्रुपातं विधायोच्चैः कृत्तिका प्राह भो सुत ।
किं कथ्यते स महापाप-मेको मे ते पिता कुधीः ॥ १५ ॥
तद्वृत्तकं समाकर्ण्य कार्त्तिकेयोवदत्पुनः ।
भो मातः किं पिता मेयं निषिद्धो नैव केनचित् ॥ १६ ॥
तयोक्तं मुनिभिः पुत्र निषिद्धो बहुशो बुधैः ।
दुष्टो निर्घाटयामास स्वदेशात्तान्मुनीश्वरान् ॥ १७ ॥
कीदृशास्ते सुतः प्राह मुनीन्द्रा गुणशालिनः ।
सा जगौ जैनतत्वज्ञा निर्ग्रन्था धर्मनायकाः ॥ १८ ॥

मयूरकोमलोत्कृष्ट-पिच्छहस्ता दयान्विताः ।
कमण्डलुकरा दूरे ते तिष्ठन्ति दिगम्बराः ॥ १९ ॥
जनन्या वचनं श्रुत्वा कार्त्तिकेयो विरक्तवान् ।
गृहान्निर्गत्य पूतात्मा गत्वा स्थानं मुनीशिनाम् ॥ २० ॥
नत्वा मुनीन्महाभक्त्या दीक्षामादाय शर्मदाम् ।
मुनिर्जातो जिनेन्द्रोक्त-सप्ततत्वविचक्षणः ॥ २१ ॥
कृत्तिका जननी मृत्वा तदार्त्तेन स्वकर्मणा ।
जाता व्यन्तरदेवी सा प्रोल्लसद्रूपसम्पदा ॥ २२ ॥
कार्त्तिकेयो मुनिर्धीमान्विहरन्स तपोनिधिः ।
रोहेडनगरं प्राप्तो ज्येष्ठमासे गुणोज्वलः ॥ २३ ॥
अमावास्यादिने स्वामी चर्यायां संप्रविष्टवान् ।
प्रासादोपरिभूमिस्था दृष्ट्वा वीरमती च तम् ॥ २४ ॥
भ्राता ममेति संज्ञात्वा पत्युः स्वोत्संगतः शिरः ।
परित्यज्य तदा शीघ्रं समागत्य प्रभक्तितः ॥ २५ ॥
तुभ्यं नमोस्तु वीरेति लग्ना तत्पादपद्मयोः ।
बन्धुत्वाच्च मुनित्वाच्च कस्य प्रीतिर्न जायते ॥ २६ ॥
तदा क्रौंचनृपः पापी दृष्ट्वा तां कामिनीं तथा ।
मारयामास तं क्रोधा-त्स्वशक्त्या मुनिनायकम् ॥ २७ ॥
पापी मिथ्यारतः प्राणी जैनधर्मपराङ्मुखः ।
किं करोति न दुष्कर्म जन्मकोटिप्रकष्टदम् ॥ २८ ॥
तदा शीघ्रं समागत्य व्यन्तरी जननीचरी ।
सा मयूरस्य रूपेण मूर्च्छितं मुनिसत्तमम् ॥ २९ ॥

दृष्ट्वा शीतलनाथस्य मन्दिरे सुमनोहरे ।
नीत्वा यत्नेन सद्भक्त्या स्थापयामास देवता ॥ ३० ॥
तत्रासौ कार्त्तिकेयस्तु मुनीन्द्रो जैनतत्ववित् ।
कृत्वा समाधिना कालं सम्प्राप्तः स्वर्गमुत्तमम् ॥ ३१ ॥
देवैस्तत्र समागत्य कृता पूजा सुभक्तितः ।
स्वामी श्रीकार्त्तिकेयाख्यं ततोभूच्चेति तीर्थकम् ॥ ३२ ॥
वीरमत्यास्तु सम्बन्धा-द्भ्रातृकादिद्वितीयकम् ।
लौकिकं पर्वसंजातं तदा प्रभृति भूतले ॥ ३३ ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्तं शास्त्रं सन्देहनाशकम् ।
संभजन्तु बुधा नित्यं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ॥ ३४ ॥

सकलतत्वविलोकनदीपिका
यदुदितां भुवनोत्तमभारती ।
स मम देवनिकायसमार्चितो
दिशतु शाश्वतशर्म जिनाधिपः ॥ ३५ ॥

इति कथाकोशे श्रीकार्त्तिकेयमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

६७—अभयघोषमुनेराख्यानम् ।

संप्रणम्य जिनाधीशं सुराधीशैः समर्चितम् ।
मुनेरभयघोषस्य चरित्रं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
काकन्दीनगरे राजा संजातोभयघोषवाक् ।
राज्ञी चाभयमत्याख्या तस्याभूत्प्राणवल्लभा ॥ २ ॥

एकदाभयघोषेण पुरबाह्यं गतेन च ।
चतुष्पादेषु संबध्वा जीवन्तं कच्छपं दृढम् ॥ ३ ॥
स्कन्धे यष्ट्यां विधायैव समागच्छंश्च धीवरः ।
दृष्टो राज्ञा स्वचक्रेण पापतोऽज्ञानभावतः ॥ ४ ॥
चत्वारः कच्छपस्याशु छिन्नाः पादाः प्रमादिना ।
हन्ति पापीजनो जन्तून्विना न्यानेन दुष्टधीः ॥ ५ ॥
कच्छपोसौ महाकष्टं मृत्वा तस्यैव भूपतेः ।
चण्डवेगः सुतो जातः कृत्वाकामप्रनिर्जराम् ॥ ६ ॥
एकदासौ महीनाथः सुधीरभयघोषवाक् ।
चन्द्रग्रहणमालोक्य जातो वैराग्यमण्डितः ॥ ७ ॥
अहो पापी दुरात्माहं जैनतत्वपराङ्मुखः ।
मोहान्धतमसाक्रान्तो महान्धे लोचने सति ॥ ८ ॥
हिताहितं न पश्यामि मूढोहं पापमण्डितः ।
कथं संसारवारीशेः पारं यास्यामि निर्मलम् ॥ ९ ॥
अतः परं महाघोरं तपः कृत्वा जिनोदितम् ।
अनादिकालसंलग्ना-ञ्जित्वा कर्ममहारिपून् ॥ १० ॥
मुक्तिकान्ताकरस्पर्शं संकरोमि सुखप्रदम् ।
इत्यादिकं विचार्योच्चैः स्वचित्ते चतुरोत्तमः ॥ ११ ॥
दत्वा राज्यं स्वपुत्राय चण्डवेगाय वेगतः ।
दीक्षामादाय जैनेन्द्री-मिन्द्रियाणां प्रदण्डिनीम् ॥ १२ ॥
गुरुं नत्वा मुनिर्भूत्वा संसाराम्भोधितारणम् ।
जन्ममृत्युजरातंक-कुपंकक्षयकारिणम् ॥ १३ ॥

एकाकी सुतपः कुर्वन्विहरंश्च महीतले ।
काकन्दीनगरोद्याने स्थितो वीरासनेन सः ॥ १४ ॥
पूर्ववैरेण पापात्मा चण्डवेगश्च पुत्रकः ।
तत्रायातस्तदा तस्य मुनीन्द्रस्य महाधियः ॥ १५ ॥
छिनत्ति स्म स्वचक्रेण हस्तौ पादौ च मूढधीः ।
अज्ञानी धर्महीनस्तु किं पापं यत्करोति न ॥ १६ ॥
मुनीन्द्रोभयघोषस्तु तत्क्षणे ध्यानतत्परः ।
केवलज्ञानमुत्पाद्य संप्राप्तो मोक्षमक्षयम् ॥ १७ ॥
अहो जीवस्य सच्छक्ति-र्महाश्चर्यं प्रवर्त्तते ।
क कष्टं दारुणं दिव्यं क च ध्यानं शिवप्रदम् ॥ १८ ॥
जित्वाशेषपरीषहान्दृढतरान्हत्वा च मोहादिका-
न्नाना जन्मशतोरुकष्टजनकान्क्षिप्त्वाशु कर्मारिकान् ।
संप्राप्तोक्षयमोक्षसौख्यमतुलं स श्रीजिनः शं क्रिया-
त्संपूज्योभयघोषनामकलितो नित्यं सतां सेवितः ॥ १९॥

इति कथाकोशे श्रीमदभयघोषमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

६८—श्रीविद्युच्चरमुनेराख्यानम् ।

सर्वसौख्यप्रदं नत्वा जिनेन्द्रं भुवनोत्तमम् ।
वक्ष्ये विद्युच्चराख्यानं विख्यातं मुनिभाषितम् ॥ १ ॥
मिथलाख्यपुरे राजा सुधीर्वामरथोभवत् ।
तत्गरो यमदण्डोभू-च्चोरो विद्युच्चरो महान् ॥ २ ॥

नाना विज्ञानसम्पन्नो निष्पन्नश्चोरकर्मणि ।
दिनेसौ कुष्ठिरूपेण चोरो मायायुतस्तदा ॥ ३ ॥
कश्चिद्देवकुले शून्ये रंको भूत्वा च तिष्ठति ।
रात्रौ दिव्यनरो भूत्वा चोरो भोगान्करोति च ॥ ४ ॥
एकदा तस्य भूपस्य रात्रौ हारं गृहीतवान् ।
प्रभाते यमदण्डाख्यं राजा वामरथोवदत् ॥ ५ ॥
चोरेण दिव्यरूपेण मोहयित्वा च मां पुनः ।
हारो मे संहृतः शीघ्रं यमदण्ड समानय ॥ ६ ॥
तं हारं सप्त रात्रेण नान्यथा निग्रहं तव ।
करिष्यामीति तच्छ्रुत्वा तल्गारः स विचक्षणः ॥ ७ ॥
नत्वा नृपं पुरादौ च तं गवेषयितुं गतः ।
दृष्ट्वा सर्वत्र यत्नेन ततः सप्तमवासरे ॥ ८ ॥
शून्यालये समालोक्य तं नीत्वा च नृपान्तिकम् ।
सुधीः प्राह नरेन्द्रायं तस्करो दुष्टमानसः ॥ ९ ॥
तेनोक्तं नैव चोरोहं कोटपालः पुनर्जगौ ।
अयं देव भवत्येव तस्करो नात्र संशयः ॥ १० ॥
तदा राज्ञो जनैः प्रोक्तं देवासौ तलरक्षकः ।
चोराभावे महारंकं मारयत्येव साम्प्रतम् ॥ ११ ॥
ततस्तेन तल्गारेण नीत्वा तं निजमन्दिरम् ।
माघमासे महाशीत-तोयसेचनकादिभिः ॥ १२ ॥
तापताडनबन्धोरु-द्वात्रिंशद्दुष्कदर्थनैः ।
पीडितोपि वदत्येष नाहं चोर इति स्फुटम् ॥ १३ ॥

प्रभाते भूपतेरग्रं नीत्वा तं तलरक्षकः ।
संजगाद नरेन्द्रासौ सर्वचोरशिरोमणिः ॥ १४ ॥
स च प्राह महादस्यु-र्नाहं चोरो भवाम्यहो ।
चोराणां साहसो गूढो वर्ण्यते केन भूतले ॥ १५ ॥
दत्वाभयप्रदानं च स राज्ञो भणितस्तदा ।
सत्यं ब्रूहि महाधीर किं त्वं चोरो न वेति च ॥ १६ ॥
तेनोक्तं तस्करेणैवं ततो निर्भयचेतसा ।
अहो नरेन्द्र चोरोहं सत्यस्ते तलरक्षकः ॥ १७ ॥
ततो वामरथो राजा महाविस्मयतो जगौ ।
द्वात्रिंशद्दण्डनैः कष्टं कथं रे निर्जितं त्वया ॥ १८ ॥
चोराग्रणीस्तदावोच-द्भूपाल मया श्रुतम् ।
मुनेः पार्श्वे महादुःखं यत्क्रूरं नरकोद्भवम् ॥ १९ ॥
तस्मात्कोटिप्रभागं तु नैतद्दुःखं भवेत्परम् ।
संचिन्त्येति स्वचित्तेहं संजातस्तत्क्षमः प्रभो ॥ २० ॥
हृष्टो राजा जगादैवं वरं प्रार्थय भो भट ।
तेनोक्तं भो नराधीश दीयते भवता द्रुतम् ॥ २१ ॥
दानं मेस्मै सुमित्राय तलारात्र सुनिर्भयम् ।
तच्छ्रुत्वा स महीनाथो महाश्चर्यपरोवदत् ॥ २२ ॥
कथं भो कोट्टपालोयं मित्रं तेत्र प्रवर्त्तते ।
स पुनस्तस्करो प्राह श्रूयतां भो महीपते ॥ २३ ॥
दक्षिणारण्यपथेऽभीर-देशो वेनानदीतटे ।
पुरेवेनातटे ख्याते जितशत्रुर्महीपतिः ॥ २४ ॥

राज्ञी जयावती तस्याः पुत्रो विद्युच्चरोस्म्यहम् ।
श्रूयतां च तथा देव तत्रैव नगरे शुभे ॥ २५ ॥
तल्वारो यमपाशोभू-त्तद्भार्या यमुना सती ।
तयोश्च यमदण्डोसौ पुत्रो जातो गुणोज्वलः ॥ २६ ॥
एकोपाध्यायसान्निध्ये मया चोरागमः सुधीः ।
अनेन कोट्टपालस्य शास्त्रं संपठितं विभो ॥ २७ ॥
द्वाभ्यां कृत्वा प्रतिज्ञेति मयोक्तं तत्र गर्वतः ।
यत्र रे यमदृड त्वं तल्गारस्तत्पुरे मया ॥ २८ ॥
कर्त्तव्या चोरिकावश्यं तच्छ्रुत्वानेन जल्पितम् ।
यत्र त्वं तस्करस्तत्र मया रक्षा विधीयते ॥ २९ ॥
एकदा मे पिता देव जितशत्रुर्गुणाकरः ।
दत्वा राज्यं च मे प्राज्यं जैनीं दीक्षां गृहीतवान् ॥ ३० ॥
यमपाशस्तल्वारस्तु समर्प्यास्मै निजं पदम् ।
सोपि जातो मुनिर्धीमान्यमदण्डः प्रभीतवान् ॥ ३१ ॥
मदीयभयतो राजं-स्त्वदीयमिथिलापुरम् ।
समागत्य तल्गारोयं संजातो यमदण्डकः ॥ ३२ ॥
तत्प्रतिज्ञावशाद्देव समागत्यात्र पत्तने ।
संगवेषयितुं चामुं चोरो जातोहमद्भुतम् ॥ ३३ ॥
इत्युक्त्वा हारपर्यन्तं कथयित्वा च वृत्तकम् ।
ग्रहीत्वा यमण्दडं स्वं पुरं विद्युच्चरो गतः ॥ ३४ ॥
तत्र वैराग्यभावेन संप्रविश्य स्वमन्दिरम् ।
सुधीर्विद्युच्चरः सोपि जैनतत्वविदाम्वरः ॥ ३५ ॥
राज्यं दत्वा स्वपुत्राय जिनस्नपनपूर्वकम् ।
भूरिराजसुतैः सार्द्धं मुनिर्भूत्वा विचक्षणः ॥ ३६ ॥

कुर्वंस्तपो जिनेन्द्रोक्तं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ।
भव्यान्सम्बोधयन्नुच्चै-र्विहरंश्च महीतले ॥ ३७ ॥
मुनिपंचशतैर्युक्तो विरक्तो मदनादिषु ।
ताम्रलिप्तपुरीं प्राप्तो न लिप्तो मोहकर्दमैः ॥ ३८ ॥
पुरप्रवेशे तत्रासौ प्रोक्तश्चामुण्डया मुनिः ।
भो मुने मम पूजाद्या यावत्कालं समाप्यते ॥ ३९ ॥
तावत्त्वया न कर्त्तव्यः प्रवेशस्ताम्रलिप्तके ।
देव्यापि वारितः शिष्यैः प्रेरितो मुनिसत्तमः ॥ ४० ॥
तदा पुरं प्रविश्योच्चैः पुरः पश्चिमभागके ।
प्रकारस्य समीपे तु शिष्यवर्गैः समन्वितः ॥ ४१ ॥
रात्रौ सत्प्रतिमायोगे संस्थितो निश्चलाशयः ।
चामुण्डया तदा शीघ्रं प्रचण्डक्रोधचेतसा ॥ ४२ ॥
कपोतकप्रमाणोरु-दंशकैर्मशकैस्तया ।
उपसर्गो महांश्चक्रे तदा विद्युच्चरो मुनिः ॥ ४३ ॥
महावैराग्यसंयुक्तः सोढ्वाशेषपरीषहम् ।
शुक्लध्यानप्रभावेन हत्वा कर्मारिसंचयम् ॥ ४४ ॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य संप्राप्तो मोक्षमक्षयम् ।
सोस्माकं पूजितो नित्यं प्रकुर्याच्छाश्वतीं श्रियम् ॥ ४५ ॥
इन्द्रैश्चारुनरेन्द्रखेचरतरैर्नागेन्द्रयक्षेश्वरैः
प्रोद्यत्पञ्चविधप्ररत्नमुकुटप्रव्यक्तभाभासुरैः ।
नित्यं यस्तु विशुद्धभक्तिभरतः संपूज्य चाराधितः
स श्रीमान्मम मङ्गलं शिवपतिर्दद्याच्च विद्युच्चरः ॥ ४६

इति कथाकोशे विद्युच्चरमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

६९-श्रीगुरुदत्तमुनेराख्यानम् ।

नत्वा पंच गुरून्भक्त्या प्रोल्लसत्केवलश्रिये ।
गुरुदत्तमुनेर्वच्मि चरित्रं भुवनोत्तमम् ॥ १ ॥
हस्तिनागपुरे धीमान् जिनधर्मधुरन्धरः ।
राजा विजयदत्ताख्यो विजया प्राणवल्लभा ॥ २ ॥
तयोः पुत्रोतिगंभीरो धीरोभूद्गुरुदत्तवाक् ।
पूर्वपुण्येन सम्पूर्णो रूपलावण्यमण्डितः ॥ ३ ॥
तस्मै विजयदत्तोसौ राजा राज्यश्रियं निजाम् ।
दत्वा स्वयं मुनिर्जातो गुरुं नत्वा दिगम्बरम् ॥ ४ ॥
लाटदेशेथ विख्याते द्रोणीमत्पर्वतान्तिके ।
सुधीश्चन्द्रपुरीपुर्यां चन्द्रकीर्तिर्महीपतिः ॥ ५ ॥
चन्द्रलेखा महाराज्ञी सुताभयमती सती ।
तेन श्रीगुरुदत्तेन परिणेतुं प्रयाचिता ॥ ६ ॥
न दत्ता चन्द्रकीर्त्याख्य-भूभुजा निजदेहजा ।
ततः कोपात्समागत्य स सैन्यो गुरुदत्तकः ॥ ७ ॥
समन्ताद्वेष्टयामास शीघ्रं चन्द्रपुरीं महान् ।
तच्छ्रुत्वाभयमत्याख्या तदसक्ता सुता जगौ ॥ ८ ॥
तातं प्रति प्रभो देहि गुरुदत्ताय मां सुधीः ।
ततस्तेन नरेन्द्रेण तस्मै दत्ता सुतोत्सवैः ॥ ९ ॥
तदा श्रीगुरुदत्तस्य प्रोक्तं सर्वजनैरिति ।
अस्मिन्द्रोणीमति ख्याते पर्वते भो नरेश्वर ॥ १० ॥

व्याघ्रः संतिष्ठते देव पापी प्राणिभयंकरः ।
तेनायं भो महावीर देशश्चोत्त्रासितोखिलः ॥ ११ ॥
तच्छ्रुत्वा स्वजनैः सार्द्धं गत्वा तेन प्रवेगतः ।
व्याघ्रः संवेष्टितः सोपि गुहां नष्ट्वा प्रविष्टवान् ॥ १२ ॥
गुहामध्ये तदा क्षिप्त्वा तेन काष्ठानि भूरिशः ।
तद्द्वारे च तथा तीव्रो वह्निः प्रज्वालितो महान् ॥ १३ ॥
ततो व्याघ्रो महाकष्टान्मृत्वा चन्द्रपुरीपुरे ।
विप्रस्य भरताख्यस्य विश्वदेव्याः स्त्रियोभवत् ॥ १४ ॥
पुत्रोसौ कपिलो नाम महाक्रूराशयः पुनः ।
पूर्वाभ्यासाश्रिता जन्तोः प्रायशो भवति क्रिया ॥ १५ ॥
तयोस्तदा महाभोगा-न्नित्यं भुञ्जानयोर्मुदा ।
संजातो गुरुदत्ताख्यः-ऽभयमत्याः सुतोत्तमः ॥ १६ ॥
सुधीः सुवर्णभद्राख्यः स्वगुणैस्तर्पिताखिलः ।
रूपसौभाग्यसद्भाग्य-मंडितो विमलाशयः ॥ १७ ॥
दत्वा तस्मै निजं राज्यं स राजा गुरुदत्तवाक् ।
जिनेन्द्रचरणाम्भोज-सेवनैकमधुव्रतः ॥ १८ ॥
त्रिधा वैराग्यसंयुक्तो मुनिर्भूत्वा निरंजनः ।
एकाकी विहरन्स्वामी जिनतत्वविदाम्वरः ॥ १९ ॥
कपिलक्षेत्रमागत्य कायोत्सर्गेण संस्थितः ।
तदाऽसत्कर्मयोगेन ब्राह्मणः कपिलः कुधीः ॥ २० ॥
भोजनं मे गृहीत्वा त्वं समागच्छेर्द्रुतं प्रिये ।
इत्युक्त्वा कपिलो भार्यां स्वक्षेत्रं गतवांस्तदा ॥ २१ ॥

तत्क्षेत्रं कर्षणायोग्यं मत्वा भट्टारकं प्रति ।
ब्राह्मण्याः कथयेस्त्वं मे भर्त्ता ते गतवान्भुवम् ॥ २२ ॥
अन्यत्क्षेत्रमितिव्यक्तं प्रोक्त्वा मूढाशयो गतः ।
अहो प्राणी न जानाति मूढो मार्गं महामुनेः ॥ २३ ॥
ब्राह्मण्या च समागत्य पृष्टोसौ मुनिसत्तमः ।
स्वामी मौनेन संयुक्तः संस्थितः सा गृहं गता ॥ २४ ॥
तदा महाक्षुधाक्रान्तो विप्रो वेलाव्यतिक्रमे ।
गृहमागत्य कोपेन स्वकान्तां कटुकं जगौ ॥ २५ ॥
रे रे रंडे मृतोद्याहं क्षुधापीडितविग्रहः ।
पृष्ट्वा तं नग्नकं शीघ्रं समायातासि किं न हि ॥ २६ ॥
तयोक्तं भीतितो देव मया पृष्टोपि निस्पृहः ।
किंचिन्नैव मुनिः प्राह ततोहं गृहमागता ॥ २७ ॥
तदा तेन प्ररुष्टेन पापिना कपिलेन च ।
तत्रागत्य मुनिं वेष्ट-यित्वा शाल्मलितूलकैः ॥ २८ ॥
अग्निः प्रज्वालितस्तीव्रं तदासौच मुनीश्वरः ।
शुक्लध्यानाग्निना शीघ्रं घातिकर्मेन्धनोत्करम् ॥ २९ ॥
भस्मीकृत्वा जगत्पूज्यं केवलज्ञानमाप्तवान् ।
तदा देवागमे जाते पुष्पवृष्टिं प्रकुर्वति ॥ ३० ॥
ब्राह्मणोसौ महाश्चर्यं सम्प्राप्तः कपिलस्ततः ।
नत्वा तं केवलज्ञानि-गुरुदत्तं जिनेश्वरम् ॥ ३१ ॥
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं सुरासुरसमर्चितम् ।
कृत्वात्मनिन्दनं तत्र मुनिर्भक्त्या बभूव सः ॥ ३२ ॥

अहो भव्याः सतां नित्यं संगतिः शर्मदायिनी ।
क्वासौ विप्रो महातीव्रः क्व जातस्तु मुनिस्तराम् ॥ ३३ ॥
ततो भव्यैः प्रकर्त्तव्यं साधुसंगैर्निजं कुलम् ।
पवित्रं परमानन्दो जायते येन शर्मदः ॥ ३४ ॥
स जयतु जिनदेवः सर्वदेवेन्द्रवन्द्य–
त्रिभुवनसुखकर्त्ता विश्वसन्देहहर्त्ता ।
स्थिरतरगुरुदत्तः प्राप्तनित्यस्वभावो
मम दिशतु सुखानि श्रीप्रभाचन्द्रदेवः ॥ ३५ ॥

इति कथाकोशे श्रीगुरुदत्तमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

७०–चिलातपुत्रस्याख्यानम् ।

चञ्चत्सत्केवलज्ञान-लोचनं श्रीजिनेश्वरम् ।
नत्वा चिलातपुत्रस्य चरित्रं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
पुरे राजगृहे राजा-भवत्प्रश्रेणिको महान् ।
एकदा पुरबाह्येसौ निर्गतो निजलीलया ॥ २ ॥
दुष्टाश्वेन ततो नीतो महाटव्यां प्रवेगतः ।
तत्रस्थयमदण्डस्य महाटव्या महीपतेः ॥ ३ ॥
तिलकादिवतीं कन्यां दृष्ट्वा सद्रूपशालिनीम् ।
तदा कन्दर्पबाणेन विद्धोसौ भूपतिस्तराम् ॥ ४ ॥
प्रोक्तं च यमदण्डेन हे नरेन्द्र विचक्षण ।
अस्याः पुत्राय चेद्राज्यं दीयते भवता ध्रुवम् ॥ ५ ॥

तदा तुभ्यं ददाम्येतां स्वपुत्रीं तिलकावतीम् ।
तच्छ्रुत्वेवं करिष्यामि प्रोक्त्वा चेति महीपतिः ॥ ६ ॥
तां कन्यां परिणीयोच्चै-स्ततः प्रश्रेणिकः सुधीः ।
प्राप्तो राजगृहाख्यं च स्वपुरं प्रमदान्वितः ॥ ७ ॥
नाना भोगान्प्रभुञ्जानो यावत्संतिष्ठते प्रभुः ।
पुत्रं चिलातपुत्राख्यं प्रसूता तिलकावती ॥ ८ ॥
एकदा च नरेन्द्रेण पृष्टो नैमित्तिको महान् ।
अहो मे बहुपुत्राणां मध्ये को भाविभूपतिः ॥ ९ ॥
तत्समाकर्ण्य स प्राह सुधीर्नैमित्तिकाग्रणीः ।
सिंहासनसमारूढो भेरीं सन्ताडयन्मुदा ॥ १० ॥
क्षैरेयीं कुक्कुराणां च ददतो निजबुद्धितः ।
भुंक्ते तथाग्निदाहे च हस्तिसिंहासनादिकम् ॥ ११ ॥
छत्रं निःसारयत्येव यस्तु स स्यान्महीपतिः ।
तन्निशम्य ततो राजा परीक्षार्थं शुभे दिने ॥ १२ ॥
भेरीसिंहासनाभ्यर्णे दत्वा क्षैरेयिकाशनम् ।
सर्वराजकुमाराणां मुक्ताः पञ्चशतश्वकाः ॥ १३ ॥
तदा नष्टाः कुमारास्ते सर्वे कुक्कुरभीवशाः ।
श्रेणिकस्तु महाधीमान्सर्वपुत्रशिरोमणिः ॥ १४ ॥
क्षैरेयीभाजनान्युच्चै-र्धृत्वा स्वस्य समीपके ।
एकैकं कुक्कुराणां च मुञ्चंस्तद्भाजनं पुनः ॥ १५ ॥
स्वसिंहासनमारुह्य भेरीं संताडयंस्तथा ।
भुंक्ते स्म प्रौढधीः सार-क्षैरेयीमग्निदाहके ॥ १६ ॥

तथा सिंहासनं छत्रं हस्तिचामरयुग्मकम् ।
शीघ्रं निस्सारयामास भावितीर्थंकरः प्रभुः ॥ १७ ॥
ज्ञात्वा प्रश्रेणिकेनायं महाराजो भविष्यति ।
तदा शत्रुभयाच्छीघ्रं दत्वा दोषं प्रपञ्चतः ॥ १८ ॥
कुक्कुरोच्छिष्टकादिं च देशान्निर्घाटितः स च ।
अहो पुण्यवतां पुंसां को वा यत्नं करोति न ॥ १९ ॥
तदा गत्वा कुमारोसौ श्रेणिकः सुभटाग्रणीः ।
पुर्यां द्राविडदेशस्थ-काञ्च्यां सौख्येन संस्थितः ॥ २० ॥
प्रश्रेणिकस्तु भूनाथो भुक्त्वा भोगान्सुधार्मिकः ।
तस्मै चिलातपुत्राय दत्वा राज्यं महोत्सवैः ॥ २१ ॥
स्वयं वैराग्यतः स्वामी दीक्षां जैनेश्वरीं शुभाम् ।
समादाय मुनिर्जातो जगत्प्राणिहितंकरः ॥ २२ ॥
ततश्चिलातपुत्रश्च स्थित्वा राज्येपि मूढधीः ।
अन्यायेषु रतो गाढं हा कष्टं किमतः परम् ॥ २३ ॥
श्रेणिकस्तु समागत्य तदा राजगृहं पुरम् ।
देशान्निर्घाट्य तं शीघ्रं स्वयं राज्ये सुखं स्थितः ॥ २४ ॥
अहो राजाभवत्युच्चै-र्यः प्रजाप्रतिपालकः ।
नान्यो लोकद्वये स्वस्य कीर्त्तिलक्ष्मीविनाशकः ॥ २५ ॥
गत्वा चिलातपुत्रश्च महाटव्यां बलान्वितः ।
दुर्गं कृत्वा तथा देश-करं गृह्णाति निर्भयः ॥ २६ ॥
अथास्य विद्यते कोपि भर्तृमित्राख्यसत्सखा ।
तस्यापि भर्तृमित्रस्य मातुलो रुद्रदत्तवाक् ॥ २७ ॥

सुभद्रां स्वसुतां तस्मै भर्तृमित्राय याचिताम् ।
न ददाति ततश्चापि भर्तृमित्रस्य वाक्यतः ॥ २८ ॥
युक्तश्चिलातपुत्रोसौ भटैः पञ्चशतैर्द्रुतम् ।
गत्वा राजगृहं कोपा-द्विवाहस्नानकालके ॥ २९ ॥
तां छलेन समादाय निर्गतः क्रूरमानसः ।
तच्छ्रुत्वा श्रेणिको राजा ससैन्यः पृष्टतोगमत् ॥ ३० ॥
पलायितुमशक्तेन तेन दुष्कर्मकारिणा ।
सुभद्रा मारिता कन्या संजाता व्यन्तरी तदा ॥ ३१ ॥
शीघ्रं चिलातपुत्रेण नश्यता च स्वकर्मतः ।
वैभारपर्वते रम्ये मुनिपंचशताश्रितम् ॥ ३२ ॥
मुनीन्द्रं मुनिदत्ताख्यं दृष्ट्वा नत्वा सुभक्तितः ।
प्रोक्तं स्वामिंस्तपो देहि साधयामि निजं हितम् ॥ ३३ ॥
स च प्राह मुनिर्ज्ञानी जैनतत्वविदाम्वरः ।
सुधीः शीघ्रं समादाय जैनीं दीक्षां सुखप्रदाम् ॥ ३४ ॥
साधय त्वं निजं कार्यं तवायुर्दिवसाष्टकम् ।
ततश्चिलातपुत्रोसौ श्रुत्वा वाक्यं महामुनेः ॥ ३५ ॥
गृहीत्वा सुतपो जैनं संसाराम्भोधितारणम् ।
स्थितः प्रायोपयानाख्य-मरणे धीरमानसः ॥ ३६ ॥
श्रेणिकस्तु महाराज-स्तं विलोक्य तथास्थितम् ।
नत्वा प्रशस्य सद्भक्त्या पश्चात्प्राप्तो निजं पुरम् ॥ ३७ ॥
सुभद्रा व्यन्तरी सा च पूर्ववैरेण पापिनी ।
सोलिकारूपमादाय स्थित्वा तन्मस्तके तदा ॥ ३८ ॥

चञ्च्वा तल्लोचनद्वंद्वं सन्निष्काश्य प्रकष्टतः ।
पश्चादष्टदिनेषूच्चै-र्विकृत्य मधुमक्षिका ॥ ३९ ॥
चक्रे पीडां सुधीः सोपि निःस्पृहो निजविग्रहे ।
मृत्वा समाधिना स्वामी प्राप्तः सर्वार्थसिद्धिकाम् ॥ ४० ॥
स श्रीमान्सुभटाग्रणीर्गुणनिधिर्जित्वोपसर्गं दृढं
श्रीमज्जैनपदाब्जचिन्तनपरो देवेन्द्रवृन्दैः स्तुतः ।
संप्राप्तो निजपुण्यसंबलयुतः सर्वार्थसिद्धिं शुभां
दद्याच्चारुचिलातपुत्रसुमुनिर्भव्योत्र मे मङ्गलम् ॥ ४१ ॥

इति कथाकोशे महामण्डलेश्वर-श्रीश्रेणिक-सुत-चिलात-पुत्रस्याख्यानं समाप्तम् ।

७१—श्रीधन्यमुनेराख्यानम् ।

नमस्कृत्य जिनाधीशं सारधर्मोपदेशकम् ।
धन्यनाममुनेर्वच्मि चरित्रं शर्मदायकम् ॥ १ ॥
जम्बूद्वीपेत्र विख्याते पूते पूर्वविदेहके ।
वीतशोकपुरे राजा संजातोशोकनामभाक् ॥ २ ॥
धान्यगाहनवेलायां स राजा भूरिलोभतः ।
बन्धनं कारयत्येव बलीवर्दमुखेषु च ॥ ३ ॥
तथा महानसे पाकं कुर्वतीनां च योषिताम् ।
कारयित्वा स्तनेषूच्चै-र्बन्धनं कर्मबन्धनम् ॥ ४ ॥
तद्बालानां स्तनं पातुं न ददात्येव मूढधीः ।
अहो लोभेन मूढात्मा किं करोति न पातकम् ॥ ५ ॥

एकदा तस्य भूभर्त्तु-र्मुखे शिरसि चाभवत् ।
महारोगस्ततस्तस्य विनाशार्थं महौषधम् ॥ ६ ॥
पाचयित्वा समादाय भाजने भोजनाय च ।
यावत्संतिष्ठते राजा-ऽशोकस्तावच्छुभोदयात् ॥ ७ ॥
महारोगग्रहग्रस्तो मुनीन्द्रो भुवनोत्तमः ।
चर्याकाले समायातः पवित्रीकृतभूतलः ॥ ८ ॥
दृष्ट्वा तं सुतपोयुक्तं मुनिं परमनिस्पृहम् ।
यो मे रोगो मुनेरस्य स एव भवति ध्रुवम् ॥ ९ ॥
इति ज्ञात्वा महाभक्त्या नवपुण्यैः समान्वितम् ।
तस्मै तदौषधं दिव्यं पथ्यं चापि ददौ नृपः ॥ १० ॥
ततो द्वादशवर्षोत्थ-रोगस्तस्य महामुनेः ।
शीघ्रं नष्टो यथा मिथ्या-दृष्टिः सद्दृष्टिवाक्यतः ॥ ११ ॥
तत्पुण्येन नृपः सोपि क्षेत्रेऽत्र भरते शुभे ।
पुरे चामलकण्ठाख्ये निष्ठसेनो महीपतिः ॥ १२ ॥
नन्दिमत्यभिधा राज्ञी तयोः पुत्रोभवत्सुधीः ।
रूपलावण्यसत्पुण्य-मण्डितो धन्यनामकः ॥ १३ ॥
एकदा स्वगुणैः सार्द्धं वृद्धिं प्राप्य स धन्यकः ।
अरिष्टनेमितीर्थस्य पादमूले जगद्धिते ॥ १४ ॥
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं सुरेन्द्राद्यैः समार्चितम् ।
ज्ञात्वा स्वल्पतरं स्वायु-र्मुनिर्जातो विचक्षणः ॥ १५ ॥
पूर्वकर्मोदयाद्भिक्षा-मप्राप्तो धीरमानसः ।
उग्रोग्रं सुतपः कुर्वन्विहरंश्च महीतले ॥ १६ ॥

सौरीपुरीं समागत्य यमुनापूर्वसत्तटे ।
आतापनाख्ययोगेन संस्थितो मुनिनायकः ॥ १७ ॥
तदा पापर्द्धिकां गत्वा यमुनाचक्रं भूभुजा ।
पुनर्व्याघुटितेनैव पापिनाशकुनास्थया ॥ १८ ॥
स्वबाणैः पूरितः साधु-स्तदासौ धन्यनामभाक् ।
शुक्लध्यानप्रभावेन सिद्धिं प्राप्तो निरंजनः ॥ १९ ॥
अहो धीरत्वमत्युच्चैः सतां केनात्र वर्ण्यते ।
येनो घोरोपसर्गेपि शीघ्रं मुक्तिः समाप्यते ॥ २० ॥
धन्यो धन्यमुनीश्वरो भयहरो भव्यात्मनां तारको
देवेन्द्रादिसमर्चितो हितकरः श्रीमुक्तिकान्तावरः ।
आधिव्याधिसमस्तदोषनिकरं हत्वा सुखं शाश्वतं
कुर्यान्मे वरबोधसिन्धुरतुलश्चारित्रचूडामणिः ॥ २१ ॥

इति कथाकोशे धन्यमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

७२–पञ्चशतमुनीनामाख्यानम् ।

पादपद्मद्वयं नत्वा जिनेन्द्रस्य शुभश्रिये ।
मुनिपंचशतानां तु चरित्रं श्रेयसे ब्रुवे ॥ १ ॥
दक्षिणाख्यपथे ख्याते देशे च भरताभिधे ।
कुंभकारकटे पूर्वं पत्तने सुचिरंतने ॥ २ ॥
राजाभूद्दण्डको राज्ञी सुव्रता रूपमण्डिता ।
बालकाख्योभवन्मंत्री पापी धर्मपराङ्मुखः ॥ ३ ॥

तत्रैकदा पुरे पंच-शतोत्कृष्टमुनीश्वराः ।
नाम्नाभिनन्दनाद्यास्ते समायाताश्च लीलया ॥ ४ ॥
खण्डकाख्यमुनीन्द्रेण स मंत्री बालकः कुधीः ।
स्याद्वादवाग्भरैर्वादे निर्जितो धर्मवर्जितः ॥ ५ ॥
ततस्तेन प्ररुष्टेन भंडको मुनिरूपभाक् ।
मंत्रिणा बालकेनोच्चैः प्रेषितः सुव्रतान्तिके ॥ ६ ॥
तया सार्द्धं ततश्चेष्टां स कुर्वन्पापमण्डितः ।
राज्ञः संदर्शितः पश्चा-त्पश्यतां भो महामते ॥ ७ ॥
एतेषां भक्तियुक्तस्त्वं मन्येहं तव कामिनीम् ।
दातुं समिच्छसि व्यक्तं किं करोत्येष ते मुनिः ॥ ८ ॥
इत्याकर्ण्य ततो राजा दण्डको मूढमानसः ।
यंत्रे संपीडयामास मुनीन्द्रान्दुष्टकोपतः ॥ ९ ॥
दुष्टात्मा दुर्गतेर्गामी जन्तुर्मिथ्यात्वमोहितः ।
किं पापं कुरुते नैव जन्मकोटिप्रकष्टदम् ॥ १० ॥
तदा ते मुनयो धीरा जैनतत्वाविदाम्वराः । ...तम
शुक्लध्यानप्रभावेन सिद्धिं प्रापुर्जगद्धिताम् ॥ ११ ॥
चञ्चत्सुवर्णगिरिराजसुनिश्चलास्ते
प्रध्वस्तकर्ममलसंगतयो मुनीन्द्राः ।
देवेन्द्रदानवनरेन्द्रसमर्चनीया
नित्यं भवन्तु भवशान्तिविधायिनो मे ॥ १२ ॥

इति कथाकोशे पञ्चशतमुनीनामाख्यानं समाप्तम् ।

७३-चाणक्याख्यानम् ।

नत्वा नमत्सुराधीशैः समर्चितपदद्वयम् ।
श्रीजिनेन्द्रं प्रवक्ष्यामि चाणक्यस्य कथानकम् ॥ १ ॥
पुरे पाटलिपुत्राख्ये नन्दो राजा बभूव च ।
मंत्रिणोस्य त्रयः काविः सुबन्धुः शकटालवाक् ॥ २ ॥
पुरोधा कपिलस्तस्य देविला प्राणवल्लभा ।
तयोश्चाणक्यनामाभू-त्पुत्रो वेदविचक्षणः ॥ ३ ॥
एकदा काविमंत्री च नन्दं प्राह महीपते ।
प्रत्यन्तवासिनो भूपाः समायातास्तवोपरि ॥ ४ ॥
राजा जगाद भो मंत्रिन्द्रव्यं दत्वा मदोद्धतान् ।
शत्रून्निवारय प्रौढां-स्तछ्रुत्वा तेन मंत्रिणा ॥ ५ ॥
द्रव्यं दत्वा यथायोग्यं शत्रवस्ते निवारिताः ।
विनाः मंत्रिजनैर्नैव राज्ञो राज्यस्थितिर्भवेत् ॥ ६ ॥
नैकदा भाण्डा-गारिको धनहेतवे ।
प्रभो सर्वं शत्रूणां काविराददौ ॥ ७ ॥
रुष्टेन नन्देन स काविः सकुटुम्बकः ।
अन्धकूपे विनिक्षिप्तः संकटद्धारके तथा ॥ ८ ॥
तत्रैकैकं तदा भक्त-सरावं दिवसं प्रति ।
दीयते स्तोकपानीयं हा मित्रं कस्य भूपतिः ॥ ९ ॥
कुटुम्बं काविना प्रोक्तं सकुटुम्बस्य भूभुजः ।
यो मारणे क्षमः सोत्र गृह्णात्वेतच्च भोजनम् ॥ १० ॥

परिवारस्तदा प्राह त्वमेवं सुभटस्तराम् ।
स कविस्तुः ततः कूपे बिलं कृत्वा निजोचितम् ॥ ११ ॥
कुर्वाणो भोजनं तत्र त्रीणि वर्षाणि संस्थितः ।
कुटुम्बं च मृतं सर्वं कूपस्थं पापकर्मणा ॥ १२ ॥
प्रत्यन्तवासिनां क्षोभे स्मृत्वा नन्देन कूपतः ।
काविर्मंत्री स निस्सार्य पुनर्मंत्रिपदे धृतः ॥ १३ ॥
ततोसौ नन्दभूभर्त्तु-र्वंशनाशाय वह्निवत् ।
नरं गवेषयन्नित्यं काविर्मंत्री दुराशयः ॥ १४ ॥
अटव्यामेकदा वीक्ष्य खनन्तं दर्भसूचिकाम् ।
तं चाणक्यं प्रति प्राह किमर्थं खन्यते त्वया ॥ १५ ॥
चाणक्येन ततः प्रोक्तं विद्धोहमनयेति च ।
काविस्तु पूर्यतेवो च-त्क्षमां कुरु महामते ॥ १६ ॥
किमत्र खननेनोच्चै-र्यदा मूलं तथा स्थितम् ।
किं शत्रोर्मारणेनात्र गृहीतं चेन्न मस्तकम् ॥ १७ ॥
तद्वाक्यं काविना श्रुत्वा स्वचित्ते चेति चिन्तितम् ।
अयं नन्दकुलोच्छेदे योग्यो भाति न संशयः ॥ १८ ॥
चाणक्यस्य प्रिया प्राह यशस्वत्यभिधा ततः ।
नन्दो राजा ददात्येव कपिलां गोमतल्लिकाम् ॥ १९ ॥
तां त्वं गृहाण भो नाथ गृह्णाम्येवं च सोवदत् ।
तं सम्बन्धं समाकर्ण्य स काविस्तु नृपं जगौ ॥ २० ॥
दीयते भो नराधीश कपिलानां सहस्रकम् ।
ब्राह्मणेभ्यो भवद्भिस्तु भूरिवित्तसमन्वितैः ॥ २१ ॥

अहो दुष्टस्य दुष्टत्वं लक्ष्यते केन भूतले ।
चित्तं चान्यद्वचश्चान्य-त्कायो मायामयो यतः ॥ २२ ॥
नन्दराजेन संप्रोक्तं ब्राह्मणानानय द्रुतम् ।
ददामि कपिलास्तेभ्य-स्ततोसौ मंत्रिशत्रुकः ॥ २३ ॥
चाणक्यं तं समानीय पुरोहितसुतं मुदा ।
अग्रासने शुभे कविः स्थापयामास दुष्टधीः ॥ २४ ॥
चाणक्येन तदा तेन स्वकुंडीभिर्बहूनि च ।
स्वीकृतान्यासनान्युच्चै-र्महातृष्णातुरेण च ॥ २५ ॥
तं तथास्थितमालोक्य कविः प्राह प्रपञ्चतः ।
अहो भट्ट नृपो वक्ति भूरिविप्राः समागताः ॥ २६ ॥
मुञ्चैकमासनं देव मुक्तं तेनैकमासनम् ।
एवं सर्वासनान्युच्चै-र्मोचयित्वा च मंत्रिणा ॥ २७ ॥
पुनः प्रोक्तं महाभट्ट किं करोम्यहमल्पकः ।
नन्दो विवेकशून्यात्मा भणत्येवं महीपतिः ॥ २८ ॥
अग्रासनं त्यज त्वं च दत्तमन्यस्य वर्त्तते ।
गच्छ त्वं स इति प्रोक्त्वा गले धृत्वा बहिः कृतः ॥ २९ ॥
चाणक्योसौ ततः कोपा-न्नन्दवंशक्षयेच्छया ।
यो राज्यं नन्दभूपस्य समिच्छति महाभटः ॥ ३० ॥
गृहीतुं स समायातु भणित्वेति विनिर्गतः ।
एकस्तत्पृष्टतो लग्न-स्तं गृहीत्वा प्रवेगतः ॥ ३१ ॥
प्रत्यन्तवासिनां राज्ञां मिलित्वा क्रूरमानसः ।
घातुकेन समागत्य हत्वा नन्दं महीपतिम् ॥ ३२ ॥

तद्राज्यं च समादाय स्वयं राजा बभूव च ।
अहो मंत्रिप्रकोपेन भूपाः के न क्षयं गताः ॥ ३३ ॥
दीर्घकालं ततो राज्यं कृत्वा चाणक्यभूपतिः ।
महीधरमुनेः पार्श्वे धर्ममाकर्ण्य शर्मदम् ॥ ३४ ॥
मुनिर्भूत्वा सुधीः पञ्च-शतैः शिष्यैः समन्वितः ।
कुर्वन्विहारमत्युच्चै-र्भव्यान्सम्बोधयन्मुदा ॥ ३५ ॥
दक्षिणापथमागत्य जैनतत्वविचक्षणः ।
वनवासमहादेशे क्रौंचनामपुरे सुधीः ॥ ३६ ॥
तत्र पश्चिमभागस्थे गोष्ठे संन्यासपूर्वकम् ।
प्रायोपयानमरणे संस्थितो मुनिभिर्युतः ॥ ३७ ॥
यो नन्दस्य सुबन्ध्वाख्यो मंत्री पापपरायणः ।
नन्दे मृते महाक्रोधं कुधीश्चाणक्यके वहन् ॥ ३८ ॥
सोपि क्रौंचपुरीं प्राप्तः सुमित्राख्यमहीपतेः ।
पार्श्वे स्थितस्तदा राजा सुमित्रो जिनधर्मभाक् ॥ ३९ ॥
भक्त्या गोष्ठं समागत्य नत्वा तान्मुनिसत्तमान् ।
अष्टधा सुमहत्पूजां कृत्वा श्रुत्वा गृहं गतः ॥ ४० ॥
पापी सुबन्धुनामा च मंत्री मिथ्यात्वदूषितः ।
समीपे तन्मुनीन्द्राणां कारीषाग्निं कुधीर्ददौ ॥ ४१ ॥
तदा ते मुनयो धीराः शुक्लध्यानेन संस्थिताः ।
हत्वा कर्माणि निःशेषं प्राप्ताः सिद्धिं जगद्धिताम् ॥ ४२ ॥
यत्रानन्तसुखं समस्तजगतां पूज्यं व्यथावर्जितं
रागद्वेषमदप्रमादरहितं संप्राप्य सिद्धालयम् ।

सर्वे ते मुनयो विशुद्धचरणास्तिष्ठन्ति ये नित्यशः
कुर्युर्मेपि सुखं विमुक्तिजनितं बोधाब्धयो निर्मलम् ॥ ४३ ॥

इति कथाकोशे चाणक्यमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

७४–वृषभसेनस्याख्यानम् ।

श्रीजिनं भारतीं नत्वा श्रुताब्धिं मुनिसत्तमम् ।
वक्ष्ये वृषभसेनस्य चरित्रं भुवनोत्तमम् ॥ १ ॥
दक्षिणादिपथे ख्याते कुणालनगरे वरे ।
राजा वैश्रवणो धीमान्सद्दृष्टिर्जिनभक्तिभाक् ॥ २ ॥
रिष्टामात्योभवन्मंत्री पापी मिथ्यात्वमोहितः ।
युक्तं चन्दनवृक्षस्य पार्श्वे दुष्टोहिको भवेत् ॥ ३ ॥
एकदा भूरिसंघेन मण्डितो मुनिनायकः ।
सुधीर्वृषभसेनाख्य-स्तत्रायातो जगद्धितः ॥ ४ ॥
श्रुत्वा वैश्रवणो भूपो मुनीनामागमं शुभम् ।
लसद्विभूतिसंयुक्तो भक्तिमाञ्छुद्धमानसः ॥ ५ ॥
सार्द्धं सद्भव्यसन्दोहैः समागत्य मुनीश्वरान् ।
त्रिः परीत्य महाप्रीत्या नमस्कृत्य पुनः पुनः ॥ ६ ॥
समभ्यर्च्य जलाद्यैश्च स्तुत्वा स्तोत्रैः सुखप्रदैः ।
धर्मं श्रुत्वा जिनेन्द्रोक्तं प्रीतो राजा जगद्धितम् ॥ ७ ॥
जैनधर्मं जगत्सारं सम्पदाशर्मदायकम् ।
समाकर्ण्य सुखी न स्यात्को वा चेद्भाविसद्गतिः ॥ ८ ॥

रिष्टामात्यस्तदा मंत्री वादं कृत्वा मदोद्धतः ।
मानभङ्गं तरां प्राप्तो मुनीन्द्रवचनोत्करैः ॥ ९ ॥
ततो रात्रौ समागत्य प्रच्छन्नं मानभङ्गतः ।
पापी प्रज्वालयामास वह्निना वसतिं सताम् ॥ १० ॥
स्वयं चापल्यमाधत्ते स्वयं कुप्यति साधुषु ।
स्वयं पापं करोत्येव दुर्जनस्येति चेष्टितम् ॥ ११ ॥
तदा ते मुनयः सर्वे शुक्लध्यानेन भीधनाः ।
अनुभूयोपसर्गं तं प्राप्ताः स्वर्गापवर्गकम् ॥ १२ ॥
विघ्नं करोतु दुष्टात्मा पापी दुर्गतिकारणम् ।
सन्तः सद्धर्मसेवाभि-र्लभन्ते सौख्यमद्भुतम् ॥ १३ ॥
सन्तस्ते मुनिसत्तमाः शुचितराः सद्ध्यानशैलाश्रिताः
श्रीमत्सारजिनेन्द्रतत्वचतुरा जित्वोपसर्गं दृढम् ।
संप्राप्ताः स्वविशुद्धभावभरतः स्वर्गापवर्गं शुभं
देवेन्द्रादिसमर्चिताः शुभकराः कुर्युः सतां मंगलम् ॥ १४ ॥

इति कथाकोशे श्रीवृषसेनमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

७५–शालिसिक्थमत्स्यस्य मनोदोषाख्यानम् ।

स्वयंभुवं नमस्कृत्य जिनेन्द्रं केवलेक्षणम् ।
संबोधाय सतां वच्मि मनोदोषस्य लक्षणम् ॥ १ ॥
स्वंभूरमणे ख्याते समुद्रे प्रान्तवर्त्तिनि ।
सहस्रयोजनैर्दीर्घो विस्तारे च तदर्द्धकः ॥ २ ॥
सार्द्धद्वयशतोत्सेधो महामत्स्यः प्रवर्त्तते ।
तस्य कर्णे तथा शालि-सिक्थमात्रो लघुः कुधीः ॥ ३ ॥

शालिसिक्थाख्यमत्स्योस्ति तत्कर्णे मलभक्षकः ।
महामत्स्यस्य तस्यैव भुक्त्वा जन्तूननेकशः ॥ ४ ॥
मुखच्छिद्रं प्रसार्योच्चै-र्निद्रां षण्मासंसंश्रिताम् ।
कुर्वाणस्य तदा सोपि लघुमत्स्यो दुराशयः ॥ ५ ॥
दृष्ट्वा मुखोरुदंष्ट्रान्तः संप्रविश्य प्रगच्छतः ।
मत्स्यकच्छपकादींश्च योजनादिप्रदीर्घकान् ॥ ६ ॥
स्वचित्ते चिन्तयत्येवं दिनं प्रति सुपापधीः ।
मूर्खोयं स्वमुखायातां-स्त्यजत्येतांश्च जन्तुकान् ॥ ७ ॥
शक्तिर्यदीदृशी मेस्ति तदैको न प्रगच्छति ।
हा कष्टं दुष्टचित्तस्य चेष्टितं पापकारणम् ॥ ८ ॥
स मृत्वा चेतसः स्वस्य महापापोदयात्ततः ।
कालेन सप्तमं नरकं प्राप्तः स कष्टराशिदम् ॥ ९ ॥
अहो पुण्यस्य पापस्य कारणं प्रायशो मनः ।
तस्मान्नित्यं सतां कार्यं चित्तं पूतं जिनश्रुतेः ॥ १० ॥
शास्त्रं विना न जानाति प्राणी किञ्चिच्छुभाशुभम् ।
ततः सद्भिः सदा कार्यं सारजैन श्रुतिश्रुतम् ॥ ११ ॥
श्रीमज्जैनवचः प्रदीपनिकरं मिथ्यातमोनाशकं
देवेन्द्रादिसमस्तभव्यनिवहैर्भक्त्या समभ्यर्चितम् ।
भो भव्या भवभूरिदुःखदलनं स्वर्मोक्षमार्गप्रदं
नित्यं चेतासि चिन्तयन्तु नितरां शान्त्यै भवन्तः श्रियै ॥ १२ ॥

इति कथाकोशे शालिसिक्थमत्स्यस्य मनोदोषाख्यानं समाप्तम् ।

७६–सुभौमचक्रवर्त्तिन आख्यानम् ।

इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्क-समर्चितपदद्वयम् ।
नत्वा जिनं प्रवक्ष्येहं सुभौमेशस्य वृत्तकम् ॥ १ ॥
ईर्ष्यावति पुरे राजा कार्त्तवीर्यो गुणोज्वलः ।
रेवती कामिनी तस्य तयोः पुत्रः सुभौमवाक् ॥ २ ॥
अष्टमश्चक्रवर्त्ती च तस्य पाकविधायकः ।
जातो विजयसेनाख्यो नाना भोजनयुक्तिवित् ॥ ३ ॥
एकदा तेन भूपाय तस्मै सत्पायसाशनम् ।
दत्तमुष्णं प्रभोक्तुं च दग्धोसौ तेन चक्रभृत् ॥ ४ ॥
तत्पायसं प्रकोपेन ततस्तेनैव चक्रिणा ।
क्षिप्त्वा तन्मस्तके शीघ्रं मारितः सूपकारकः ॥ ५ ॥
मृत्वा विजयसेनोसौ भूत्वा क्षारसमुद्रके ।
ततो व्यन्तरदेवश्च ज्ञात्वा पूर्वप्रघट्टकम् ॥ ६ ॥
कोपात्तापसरूपेण सुभौमस्यास्य चक्रिणः ।
नाना मृष्टफलान्युच्चैः समानीय प्रदत्तवान् ॥ ७ ॥
तत्फलास्वादनात्तेन सम्प्रोक्तं चक्रवर्त्तिना ।
कुत्र सन्ति फलानीति महामृष्टानि तापस ॥ ८ ॥
ततस्तेन प्रपंचेन नीत्वा तं फललम्पटम् ।
समुद्रे प्रकटीभूय प्रोक्तमित्थं च शत्रुणा ॥ ९ ॥
रे रे दुष्ट ममप्राण-नाशकस्त्वं मदोद्धतः ।
क्व यासि त्वमिदानीं च हन्यतेत्र मया ध्रुवम् ॥ १० ॥

यदा पञ्चनमस्कारॉ-ल्लिखित्वात्र जले द्रुतम् ।
पादेन स्पृशसि व्यक्तं तदा त्वं मुच्यते मया ॥ ११ ॥
तदासौ चक्रवर्त्ती च कृत्वा तत्कर्मनिन्दितम् ।
कुधीः प्राणक्षयाच्छीघ्रं सप्तमं नरकं गतः ॥ १२ ॥
धिङ्मूढत्वमहो लोके लंपटत्वं हि धिक्तराम् ।
अष्टमश्चक्रभृच्चापि यतोसौ कुगतिं ययौ ॥ १३ ॥
विश्वासेन विहीनोसौ धर्मे श्रीमज्जिनेशिनाम् ।
भवेद्दुर्गतिभाक्प्राणी यथासौ चक्रवर्त्तिकः ॥ १४ ॥
धन्यास्ते जगतां पूज्या येषां चित्ते जिनेशिनः ।
नित्यं वाक्यामृतानि स्युः शर्मकारीणि देहिनाम् ॥ १५ ॥
सम्यक्त्वं त्रिजगद्धितं भवहरं शक्रादिभिः पूजितं
नाना शर्मविधायकं गुणकरं स्वर्गापवर्गप्रदम् ।
तद्भक्त्याष्टविधं जिनेन्द्रकथितं श्रित्वा च मुक्तिश्रिये
चित्ते भव्यमतल्लिका गतभयं संभावयन्तु प्रियम् ॥१६॥

इति कथाकोशे सुभौमचक्रवर्त्तिन आख्यानं समाप्तम् ।

७७–शुभनृपतेराख्यानम् ।

प्रणम्य परमानन्दं श्रीजिनेन्द्रजगद्धितम् ।
शुभाख्यभूपतेर्वच्मि चरित्रं विरतिप्रदम् ॥ १ ॥
मिथिलानगरे राजा शुभो राज्ञी मनोरमा ।
तयोर्देवरतिः पुत्रः संजातः सुगुणाकरः ॥ २ ॥

एकदा नगरे तत्र मुनीन्द्रो ज्ञानसंयुतः ।
नाम्ना देवगुरुर्धीमान्समायातः सुसंघभाक् ॥ ३ ॥
तदा महीपतिः सोपि शुभो भव्यजनैः सह ।
नत्वा मुनिं जगत्पूज्यं धर्ममाकर्ण्य पृष्टवान् ॥ ४ ॥
अहो मुने क्व मे जन्म भविष्यति विचक्षण ।
तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह सुधीर्देवगुरुः स्फुटम् ॥ ५ ॥
निजवर्चो गृहे राजं-स्त्वं भविष्यसि पापतः ।
महाकृमिर्मुनीन्द्राणां मानसे न भयं क्वचित् ॥ ६ ॥
नगर्याश्च प्रवेशो ते विट्प्रवेशो मुखे ध्रुवम् ।
छत्रभंगस्तथा विद्धि साभिज्ञानमिति स्फुटम् ॥ ७ ॥
सप्तमे च दिने भूप विद्युत्पातेन ते क्षयः ।
भविष्यति भवेदत्र प्राणिनां पापतो न किम् ॥ ८ ॥
पुरं प्रविशतश्चापि ततस्तस्य महीपतेः ।
रथाश्वचरणोद्घातान्मुखे गूथः प्रविष्टवान् ॥ ९ ॥
महावायुप्रवेगेन छत्रभंगोभवत्तदा ।
दुष्टपापोदये जन्तोः किं किं न स्याद्विरूपकम् ॥ १० ॥
सुतं प्राह ततो भूपः पुत्र वर्चोगृहेऽहकम् ।
पञ्चवर्णः कृमिः पापाद्भ-विष्यामि तदा त्वया ॥ ११ ॥
स हन्तव्य इति प्रोक्त्वा भीत्वा विद्युत्प्रपाततः ।
कारयित्वा महालोह-मंजूषां तां प्रविश्य च ॥ १२ ॥
तस्थौ गंगाहृद्रे याव-त्तावत्सप्तमवासरे ।
सा मंजूषा स्वपापेन मत्स्येनोच्छादिता द्रुतम् ॥ १३ ॥

तस्मिन्नेव क्षणे कष्टं विद्युत्पातेन स प्रभुः ।
मृत्वा वर्चोगृहे जातः कृमिजन्तुः स्वपापतः ॥ १४ ॥
स देवरतिपुत्रेण मार्यमाणो पि विट्चयम् ।
प्रणश्य गतवानित्थं भुंक्ते जन्तुः स्वकर्मकम् ॥ १५ ॥
तदा देवरतेर्वाक्या-च्छ्रुत्वा तद्वृत्तकं जनाः ।
भीत्वा संसारचेष्टाया जिनधर्मे तरां रताः ॥ १६ ॥
सोपि देवरतिर्धीमान्महावैराग्यभावतः ।
विधाय संसृतेनिन्दां मुनिर्जातो विचक्षणः ॥ १७ ॥
सकलभुवनसारं दत्तसंसारपारं
दुरितशतनिवारं यस्य वाक्यं सुतारम् ।
स सृजतु जिनदेवो देवदेवेन्द्रवन्द्यो
निजचरणसुसेवां मुक्तिपर्यन्तमुच्चैः ॥ १८ ॥

इति कथाकोशे शुभनृपस्याख्यानं समाप्तम् ।

७८—सुदृष्टेराख्यानम् ।

नत्वा जगत्त्रयाधीशैः पूजितं श्रीजिनेश्वरम् ।
वक्ष्ये सुदृष्टिसन्नाम-रत्नविज्ञानिवृत्तकम् ॥ १ ॥
उज्जयिन्यां महाराजः प्रजापालः प्रजाहितः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्ज-सेवनैकमधुव्रतः ॥ २ ॥
राज्ञी च सुप्रभा तस्य सती सद्रूपमण्डिता ।
तदेव भुवने भाति रूपं यच्छीलसंयुतम् ॥ ३ ॥

तत्रैव पत्तने जातो रत्नविज्ञानिको महान् ।
सुदृष्टिर्नामतस्तस्य भार्याभूद्विमला कुधीः ॥ ४ ॥
वक्राख्यो दुष्टधीस्तस्या गृहे छात्रः प्रवर्त्तते ।
तेन सार्द्धं दुराचारं सा करोति स्म पापिना ॥ ५ ॥
एकदा विमलायाश्च वाक्यतः सोपि वक्रकः ।
सुदृष्टिं मारयामास कुर्वन्तं कामसेवनम् ॥ ६ ॥
स्ववीर्येण समं तत्र सुदृष्टिः कर्मयोगतः ।
मृत्वासौ विमलागर्भे पुत्रोभूत्कतिचिद्दिनैः ॥ ७ ॥
अहो संसारिणो जीवाः स्वकर्मवशवर्त्तिनः ।
नाना रूपं प्रयान्त्युच्चै-र्नटाचार्यो यथा भुवि ॥ ८ ॥
अथैकदा महोद्याने चैत्रमासे मनोहरे ।
सुप्रभाया महाराज्याः क्रीडन्त्या भूभुजा समम् ॥ ९ ॥
कण्ठस्थितो महाहारो नाम्ना क्रीडाविलासकः ।
त्रुटितः प्रोल्लसत्कान्ति-मण्डितो रचनान्वितः ॥ १० ॥
केनापि स्वर्णकारेण न हारो रचितस्तथा ।
सारपुण्यं विना केन सद्विज्ञानं हि लभ्यते ॥ ११ ॥
तं हारं च समालोक्य तदा स विमलासुतः ।
भूत्वा जातिस्मरो धीमान्रचयामास पूर्ववत् ॥ १२ ॥
ज्ञानविज्ञानसद्दानं पूजनं श्रीजिनेशिनाम् ।
पूर्वाभ्यासेन जन्तूनां समायाति स्वपुण्यतः ॥ १३ ॥
प्रजापालो नृपः प्राह तदा सन्तुष्टमानसः ।
सुदृष्टेर्निर्मितो हारः कथं भो रचितस्त्वया ॥ १४ ॥

तच्छ्रुत्वा स जगादेवं भो नरेन्द्र महामते ।
अहमेव भवाम्यत्र सुदृष्टिः परमार्थतः ॥ १५ ॥
पूर्ववृत्तान्तमाकर्ण्य स राजा जैनतत्ववित् ।
ज्ञात्वा संसारवैचित्र्यं मुनिर्जातो गुणोज्वलः ॥ १६ ॥
त्रिधा वैराग्यमासाद्य सोपि श्रीविमलासुतः ।
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं स्वर्गमोक्षसुखप्रदाम् ॥ १७ ॥
मुनिर्भूत्वा विशुद्धात्मा तपः कुर्वन्मनोहरम् ।
भव्यान्सम्बोधयन्नुच्चै-र्विहरंश्च महीतले ॥ १८ ॥
सौरीपुरोत्तरे भागे यमुनाया लसत्तटे ।
शुक्लध्यानेन कर्मारि-लोकालोकप्रकाशकम् ॥ १९ ॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य भूत्वा त्रैलोक्यपूजितः ।
मुक्तिं संप्राप्तवान्स्वामी सोस्माकं शान्तयेस्तु वै ॥ २० ॥
स श्रीमान्भवसिन्धुतारणपरः सत्केवलज्ञानभाक्
कर्मारातिविनाशकाच्छिवपतिर्देवेन्द्रवृन्दार्चितः ।
लोकालोकविलोकनैकचतुरः स्वर्गापवर्गप्रदो
भूयान्मे भवतां च पूजितपदः सच्छ्रेयसे श्रीजिनः ॥२१॥

इति कथाकोशे सुदृष्टेराख्यानं समाप्तम् ।

७९—धर्मसिंहमुनेराख्यानम् ।

सर्वदेवेन्द्रचन्द्राद्यै-र्वन्दितं श्रीजिनेशिनम् ।
नत्वा श्रुताब्धिमाप्तं च धर्मसिंहकथां ब्रुवे ॥ १ ॥
दक्षिणादिपथे ख्याते कौशलादिगिरौ पुरे ।
वीरसेनो महीनाथो राज्ञी वीरमती सती ॥ २ ॥
चन्द्रभूतिस्तयोः पुत्रश्चन्द्रश्रीश्च सुताभवत् ।
रूपलावण्यसौभाग्य-मण्डिता यौवनाश्रिता ॥ ३ ॥
कौशलाख्ये तथा देशे पुरे कौशलनामनि ।
धर्मसिंहो महाराज-स्तां कन्यां परिणीतवान् ॥ ४ ॥
तया सार्द्धं महाभोगान्स भुञ्जानः स्वपुण्यतः ।
दानपूजादिसत्कर्म-तत्परः सुचिरं स्थितः ॥ ५ ॥
एकदा स महीनाथो धर्मसिंहो विशुद्धधीः ।
नत्वा दमधराचार्य-मुनीन्द्रं सत्तपोनिधिम् ॥ ६ ॥
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं सुरेन्द्राद्यैः समार्चितम् ।
त्रिधा वैराग्यमासाद्य मुनिर्जातो गुणोज्वलः ॥ ७ ॥
चन्द्रश्रीभगिनीं वीक्ष्य दुःखितां चन्द्रभूतिना ।
हठादसौ समानीय तस्याश्चैव समर्पितः ॥ ८ ॥
गत्वा सोपि पुनर्दीक्षां समादाय प्रवेगतः ।
मुनिर्भूत्वा महाघोरं करोति स्म सुधीस्तपः ॥ ९ ॥
तथैकदा समालोक्य चन्द्रभूतिं दुराशयम् ।
आगच्छन्तं मुनीन्द्रोसौ धर्मसिंहो गुणाकरः ॥ १० ॥

पुनर्मेसौ तपोभङ्गं कारयिष्यति मानसे ।
सं विचार्य तदा शीघ्रं व्रतरक्षणहेतवे ॥ ११ ॥
संप्रविश्य विशुद्धात्मा मृतहास्तिकलेवरम् ।
संन्यासेन ततो मृत्वा स्वर्गलोकं सुधीर्ययौ ॥ १२ ॥
अहो भव्यैः प्रकर्त्तव्यं कष्टेपि व्रतरक्षणम् ।
येन सौख्यं भवेदुच्चैः स्वर्गमोक्षादिसंभवम् ॥ १३ ॥
श्रीमज्जैनविशुद्धधर्मरसिकः श्रीधर्मसिंहो मुनिः
कृत्वा सारतपो जिनेन्द्रगदितं स्वर्गापवर्गप्रदम् ।
प्राप्तः स्वर्गसुखं प्रसिद्धमहिमा तत्पुण्यतो निर्मलं
स श्रीमान्गुणरत्नरंजितमतिः कुर्याच्च मे मंगलम् ॥ १४ ॥

इति कथाकोशे धर्मसिंहमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

८०—वृषभसेनस्याख्यानम् ।

नत्वा जिनं जगत्पूज्यं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ।
वक्ष्ये वृषभसेनस्य सच्चरित्रं सतामिदम् ॥ १ ॥
पुरे पाटलिपुत्राख्ये श्रेष्ठी वृषभदत्तवाक् ।
धनैर्धान्यैश्च सम्पूर्णः पूर्वपुण्येन शुद्धधीः ॥ २ ॥
भार्याभूद्वृषभश्रीश्च पुत्रो वृषभसेनकः ।
श्रीजिनेन्द्र पदाम्भोज-महासेवाविधायकः ॥ ३ ॥
तन्मातुलो धनपतिः श्रीकान्ताकामिनीपतिः ।
तयोः सद्रूपसंयुक्ता धनश्रीश्चारुकन्यका ॥ ४ ॥

तां श्रीवृषभसेनोसौ परिणीय महोत्सवैः ।
भुञ्जानो विविधान्भोगान्सुधीः सौख्येन संस्थितः ॥ ५ ॥
एकदा दमधरस्य मुनेः पार्श्वे सुभाक्तितः ।
श्रुत्वा धर्मं जिनेन्द्रोक्तं मुनिः शीघ्रं बभूव च ॥ ६ ॥
धनश्री रोदनं चक्रे ततोसौ मातुलेन च ।
गृहमानीय कष्टेन कारितो व्रतखण्डनम् ॥ ७ ॥
अहो मोहयुतो जन्तुः कार्याकार्यं न पश्यति ।
मत्तवत्कुरुते कर्म-भूरिपापविधायकम् ॥ ८ ॥
स श्रीवृषभसेनस्तु कारागारे यथा नरः ।
गृहे स्थित्वा कियत्कालं संजातश्च मुनिः सुधीः ॥ ९ ॥
पुनस्तं च समानीय प्रपंचेन स मातुलः ।
गृहे शृंखलया पापी स्थापयामास कष्टतः ॥ १० ॥
पुनर्मा व्रतसच्छैला-त्पातायिष्यति मानसे ।
संविचार्येति संन्यासं गृहीत्वा मुनिसत्तमः ॥ ११ ॥
मृत्वा समाधिना स्वर्गं संप्राप्तो निजपुण्यतः ।
दुर्जनैः पीडितश्चापि सज्जनो नाशुभे रतः ॥ १२ ॥
भवतु दुर्जनको विपदाप्रदो
विशदबुद्धिरसौ सुजनः पुनः ।
जिनपतेः पदपद्मसुसेवना-
द्भवति शर्मपतिर्निजपुण्यतः ॥ १३ ॥

इति कथाकोशे श्रीवृषभसेनाख्यानं समाप्तम् ।

८१–जयसेननृपस्याख्यानम्।

सारलक्ष्मीप्रदं नत्वा जिनेन्द्रं मुक्तिनायकम् ।
वक्ष्ये श्रीजयसेनस्य भूपतेः सत्कथानकम् ॥ १ ॥
सावस्तीपत्तने राजा जयसेनोभवत्पुरा ।
वीरसेना महाराज्ञी वीरसेनः सुतस्तयोः ॥ २ ॥
वन्दकः शिवगुप्ताख्यो निन्दकः पललम्पटः ।
सोपि राज्ञो गुरुर्जातो धिङ्मिथ्यात्वमशर्मकम् ॥ ३ ॥
एकदा नगरे तत्र मुनिवृन्दसमन्वितः ।
समायातो मुनीन्द्रस्तु यत्यादिवृषभः सुधीः ॥ ४ ॥
तत्पार्श्वे पुण्ययोगेन भव्यैः संघैः प्रमण्डितः ।
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं भूपोभूच्छ्रावकोत्तमः ॥ ५ ॥
ततस्तेन महाभक्त्या जयसेनेन भूभुजा ।
जिनेन्द्रभवनैः सर्वं मण्डितं निजमण्डलम् ॥ ६ ॥
तदा स दुर्जनः पापी बुद्धकः शिवगुप्तकः ।
तद्भूपमारणोपायं चिन्तयंश्चेतसि क्रुधा ॥ ७ ॥
पुरीं च पृथिवीं गत्वा राजानं बौद्धधार्मिकम् ।
सुमत्याख्यं जगौ सर्वं जयसेनप्रचेष्टितम् ॥ ८ ॥
ततोसौ सुमतिर्लेखं प्रेषयामास तं प्रति ।
विरूपकं त्वया चक्रे बुद्धधर्मं गृहाण च ॥ ९ ॥
तेनोक्तं जयसेनेन जैनधर्मो जगद्धितः ।
निश्चयान्निश्चलो मेस्ति किमन्यैः पापकारणैः ॥ १० ॥

ज्ञातश्रीजैनसद्धर्मः प्राणी किं केन मुह्यति ।
वायुना महता चापि चाल्यते किं सुराचलः ॥ ११ ॥
रुष्टेन प्रेषितौ तेन सुमत्याख्येन दुर्भटौ ।
मारणार्थं समागत्य सावस्त्यां तौ च वेगतः ॥ १२ ॥
स्थित्वा दुष्टौ कियत्काल-मवकाशं विना ततः ।
पश्चादागत्य तं भूप-मूचतुर्निजवृत्तकम् ॥ १३ ॥
सुमतिश्च ततः प्राह पापात्मा सेवकान्प्रति ।
अस्ति कोपि भटो यस्तु जयसेनं प्रहन्ति च ॥ १४ ॥
तन्निशम्य हिमाराख्यो राजपुत्रो दुराशयः ।
अहं तं मारयाम्युच्चै-रित्युक्त्वा पापपण्डितः ॥ १५ ॥
सावस्तीनगरीं गत्वा यत्यादिवृषभस्य सः ।
मुनेः पार्श्वे प्रपंचेन मुनि-र्भूत्वा कुधीः स्थितः ॥ १६ ॥
एकदा जयसेनोसौ राजा सद्धर्मवत्सलः ।
जिनालये मुनिं नत्वा धृत्वा लोकं बहिः पुनः ॥ १७ ॥
पादमूले मुनेः स्थित्वा कृत्वा किंचित्प्रजल्पनम् ।
यावत्सुधीर्नमस्कारं गमनाय करोति च ॥ १८ ॥
बौद्धो हिमारकः सोपि हत्वा तं जयसेनकम् ।
नष्टः शीघ्रं महानिन्द्यो लोके बुद्धाश्रितो जनः ॥ १९ ॥
तमालोक्य मुनिः सोपि यत्यादिवृषभः सुधीः ।
दर्शनोड्डाहनाशाय लिखित्वा भित्तिभागके ॥ २० ॥
नृपो हिमारकेणैव मारितः पापकर्मणा ।
इति स्वयं विदार्योच्चै-रसिधेनुकयोदरम् ॥ २१ ॥

संन्यासं च समादाय निश्चलो मेरुवत्तराम् ।
मृत्वा स्वर्गालयं प्राप्य देवो जातो गुणोज्वलः ॥ २२ ॥
वीरसेनकुमारो यो जयसेनसुतस्तदा ।
दृष्ट्वा तौ मरणं प्राप्तौ भित्तौ वीक्ष्याक्षराणि च ॥ २३ ॥
प्रशंसां सुतरां कृत्वा मुनीन्द्रस्य विचक्षणः ।
धर्मे श्रीमज्जिनेन्द्रोक्ते संजातो तीव्रनिश्चलः ॥ २४ ॥
दुष्टात्मा कुरुते दोषं धर्मे श्रीमज्जिनेशिनाम् ।
स स्वभावेन निर्दोषो निरभ्रो भास्करो यथा ॥ २५ ॥
यः श्रीदेवनिकायभूपतिशतैर्नागेन्द्रसत्खेचरैः
पूज्यो भक्तिभरेण शर्मनिलयो धर्मो जिनेन्द्रोदितः ।
नाना दुःखविनाशको भवहरः स्वर्गापवर्गप्रदः
स श्रीमान्भवतां जगत्त्रयहितो दद्याच्छुभं मङ्गलम् ॥२६॥

इति कथाकोशे जयसेननृपस्याख्यानं समाप्तम् ।

८२–शकटालमुनेराख्यानम्

नत्वा पादद्वयं जैनं शर्मदं त्रिजगद्धितम् ।
ब्रुवेहं शकटालस्य मुनेर्वृत्तं बुधैर्मतम् ॥ १ ॥
पुरे पाटलिपुत्रे भू-द्राजा नन्दोतिभद्रधीः ।
मंत्री श्रीशकटालाख्यो जैनधर्मरतस्तराम् ॥ २ ॥
द्वितीयस्तु कुधीर्मंत्री वरादिरुचिनामभाक् ।
तौ परस्परमत्यन्तं वैरिणौ भवत स्म च ॥ ३ ॥

एकदा मुनिभिर्युक्तो महापद्मो मुनीश्वरः ।
तत्रायातो जगत्पूज्यो जिनतत्वविदांवरः ॥ ४ ॥
तत्पार्श्वे श्रीजिनेन्द्रोक्तं धर्मं शर्माकरं द्विधा ।
समाकर्ण्य सुधीर्मंत्री शकटालो गुणोज्वलः ॥ ५ ॥
मुनिर्भूत्वा लसद्भक्त्या ज्ञात्वा शास्त्रार्थमुत्तमम् ।
आचार्यत्वं समासाद्य गुरोः पादप्रसादतः ॥ ६ ॥
कुर्वन्विहारमत्युच्चै-र्भव्यान्सम्बोधयन्सुखम् ।
कुर्वन्धर्मोद्यमं पूतं दुर्गतिच्छेदकारणम् ॥ ७ ॥
पुनः पाटलिपुत्राख्यं पुरमागत्य शुद्धधीः ।
नन्दस्यान्तःपुरे चर्यां कृत्वा स्वस्थानकं गतः ॥ ८ ॥
पूर्ववैरेण पापात्मा वरादिरुचिकस्तदा ।
नन्दं भूपं प्रति प्राह भो नरेन्द्र विचक्षण ॥ ९ ॥
भिक्षामिषेण ते गेहं संप्रविश्य प्रवेगतः ।
तवान्तःपुरके कष्टं शकटालः सुधूर्त्तकः ॥ १० ॥
अन्यायं च विधायैव स्वस्थानं गतवानिति ।
पापी दुर्गतिभाक् प्राणी किं करोति न पातकम् ॥ ११ ॥
ततो नन्देन भूभर्त्ता महाकोपेन तत्क्षणे ।
प्रेषितः शकटालस्य घातको मारणेच्छया ॥ १२ ॥
अहो मूढमतिर्जीवः प्रेरितो दुर्जनेन च ।
कार्याकार्यं न वेत्त्येव करोत्येव कुकर्म सः ॥ १३ ॥
शकटालो मुनीन्द्रोसौ दृष्ट्वा तं घातकं खरम् ।
ज्ञात्वा तन्मंत्रिणो दुष्ट-चेष्टितं पापकारणम् ॥ १४ ॥

संन्यासेन सुधीर्मृत्वा स्वर्लोकं च गतः सुखम् ।
दुष्टः करोतु दुष्टत्वं भवेन्नित्यं सतां शुभम् ॥ १५ ॥

सुनन्दोपि तदा राजा कृत्वा सर्वपरीक्षणम् ।
ज्ञात्वा मुनिं सुनिर्दोषं त्यक्त्वा कोपं प्रवेगतः ॥ १६ ॥

महापद्ममुनेः पाद-मूले सद्भक्तिनिर्भरः ।
श्रुत्वा धर्मं जिनैः प्रोक्तं सारसम्पद्विधायकम् ॥ १७ ॥

निन्दां गर्हां निजां कृत्वा दानपूजाव्रतान्विते ।
धर्मे श्रीमज्जिनेन्द्राणां संजातः सुतरां रतः ॥ १८ ॥

भवेज्जन्तुः कुसंगेन महापापस्य भाजनम् ।
स एव सद्गुरुं प्राप्य संभवेत्पुण्यभाजनम् ॥ १९ ॥

तस्माद्भव्यैः प्रकर्त्तव्यं सद्गुरोः सेवनं सदा ।
प्राप्यते येन सत्सौख्यं स्वर्गमोक्षभवं मुदा ॥ २० ॥

सम्यग्दर्शनबोधवृत्तसुतपोरत्नोत्कराराधना–
माला श्रीजिनसारसूत्रसहिता पूर्वं बुधैर्निर्मिता ।
सद्बोधाम्बुधिभिर्जगत्त्रयहितैः सा शर्मणे श्रीप्रभा–
चन्द्राद्यैस्तदनुग्रहेण सुधिया चक्रे मयापि श्रिये ॥ २१ ॥

इति कथाकोशे शकटालमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

८३—श्रद्धाख्यानम् ।

विशुद्धकेवलज्ञान-प्रकाशितजगत्त्रयम् ।
नत्वा जिनं प्रवक्ष्यामि श्रद्धाख्यानं सतां प्रियम् ॥ १ ॥
कुरुजांगलसद्देशे हस्तिनागपुरे शुभे ।
विनयंधरभूपालो विनयादिवती प्रिया ॥ २ ॥
श्रेष्ठी वृषभसेनाख्य-स्तन्नाम्नी श्रेष्ठिनी मता ।
तयोः पुत्रस्तु संजातो जिनदासो गुणोज्वलः ॥ ३ ॥
एकदा तस्य भूभर्त्तुः कामासक्तस्य कर्मतः ।
महाव्याधिः समुत्पन्नो भूरिकामो न शान्तये ॥ ४ ॥
वैद्या न शक्नुवन्ति स्म तं व्याधिं संचिकित्सितुम् ।
पीडितस्तेन भूनाथो दुर्जनेन च पापिना ॥ ५ ॥
ततः सिद्धार्थसन्नाम्ना शुद्धश्रावकमंत्रिणा ।
पादौषधमुनेः पाद-प्रक्षालनजलं शुभम् ॥ ६ ॥
दत्तं तस्मै नरेन्द्राय सर्वव्याधिविनाशकम् ।
श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोज-चंचरीकेण निर्मलम् ॥ ७ ॥
श्रद्धादिगुणसंयुक्तो विनयंधरभूपतिः ।
पीत्वा तज्जलमत्युच्चैः संजातो रोगवर्जितः ॥ ८ ॥
तज्जलास्वादनादेव गतो व्याधिः प्रवेगतः ।
भास्करस्योदये शीघ्रं प्रयात्येव यथा तमः ॥ ९ ॥
प्रभावः श्रीमुनीन्द्राणां तपसः केन वर्ण्यते ।
यत्पादक्षालनं तोयं सर्वव्याधिक्षयप्रदम् ॥ १० ॥

यथा सिद्धार्थमंत्री च सत्तोयं भूभुजे ददौ ।
तथा भव्यैः प्रदातव्यं धर्मपानीयमङ्गिनाम् ॥ ११ ॥
स श्रीपादौषधः स्वामी मुनीन्द्रो गुणसागरः ।
अस्तु मे शर्मणे नित्यं जैनतत्वविदांवरः ॥ १२ ॥
श्रद्धा श्रीजिनधर्मकर्मणि सतां दुःखौघविध्वंसिनी
देवेन्द्रादिनरेन्द्रचक्रिपदवीशर्मप्रदास्तोकतः ।
बाहुल्येन करोति या शुभतरा सत्केवलद्योतनं
व्यक्तानन्तचतुष्टयं शिवकरं सा शर्मणे वास्तु वै ॥ १३ ॥

इति कथाकोशे श्रद्धाख्यानं समाप्तम् ।

८४—स्वात्मनिन्दाफलाख्यानम् ।

सर्वदेवेन्द्रचन्द्राद्यैः पूजितं श्रीजिनेश्वरम् ।
संप्रणम्य प्रवक्ष्येहं स्वात्मनिन्दाफलोत्करम् ॥ १ ॥
काशीदेशे सुविख्याते पूते वाणारसी पुरे ।
राजा विशाखदत्तोभू-त्तद्राज्ञी कनकप्रभा ॥ २ ॥
चित्रकारो विचित्राख्यो नानाचित्रविधायकः ।
विचित्रादिपताकाख्या तस्य भार्या बभूव च ॥ ३ ॥
तयोर्बुद्धिमती पुत्री संजाता सुविचक्षणा ।
एकदा तस्य भूपस्य मन्दिरे वातिसुन्दरे ॥ ४ ॥
विचित्रश्चित्रकारस्य चित्रं चित्रयतः पितुः ।
बुद्धिमत्या समादाय भोजनं गतया तया ॥ ५ ॥

लीलया लिखितं तत्र भूपतेर्मणिकुट्टिमे ।
स्वच्छं मयूरपिच्छं त-द्गृह्णन् राजाल्पधीर्मतः ॥ ६ ॥
तथान्यदिवसे राज्ञो दर्शयंश्चित्रमद्भुतम् ।
भणितः स्वपिता चेति तया पुत्र्या सुधूर्त्तया ॥ ७ ॥
शीघ्रमागच्छ भो तात मा कुरु त्वं विलम्बलनम् ।
यौवनं साम्प्रतं याति भोजनस्य विचक्षण ॥ ८ ॥
तद्वचस्तु समाकर्ण्य भूपतिश्चित्रिताशयः ।
मुखं पश्यन्प्रमूर्खोसौ भणितश्च तया पुनः ॥ ९ ॥
तथान्यदा तया चापि कुड्यप्रच्छादने शुभे ।
अपनीते द्वितीये च कुड्ये चित्रावलोकने ॥ १० ॥
स राजा भणितो मूर्ख-स्ततः सोपि महीपतिः ।
पृष्ट्वा तत्कारणं सर्वं तुष्टस्तां परिणीय च ॥ ११ ॥
सर्वस्वान्तःपुरे चक्रे सुप्रधानां सुवल्लभाम् ।
गुणाः कुर्वन्ति दूतत्वं पुण्यतो भव्यदेहिनाम् ॥ १२ ॥
तस्याः सेवागतं सर्वं दुष्टमन्तःपुरं तदा ।
मस्तके टोल्लकाद्दत्वा गच्छति स्म दिनं प्रति ॥ १३ ॥
ततो बुद्धिमती सा च संजाता दुर्बला सती ।
जिनालयं प्रविश्योच्चैः पापस्य विलयप्रदम् ॥ १४ ॥
जिनेन्द्रप्रतिमाग्रे च कार्यसिद्धिविधायिनि ।
आत्मनिन्दां करोति स्म भक्तिभारेण मण्डिता ॥ १५ ॥
श्रीजिनेन्द्रजगद्वन्द्य स्वर्गमोक्षप्रदायक ।
अहं दीनकुलोत्पन्ना कस्य दोषोत्र दीयते ॥ १६ ॥

त्वमेव शरणं तात दुःखदावाग्निवारिद ।
किमन्यैर्बहुभिर्देवैः कामक्रोधादिदूषितैः ॥ १७ ॥
एकान्ते निन्दनं चेति कुर्वती स्वगृहे स्थिता ।
पृष्टापि भूभुजा वक्ति नैव दौर्बल्यकारणम् ॥ १८ ॥
अथैकस्मिन्दिने श्रीम-ज्जिनेन्द्रभवनं शुभम् ।
पूर्वं प्राप्तेन तद्राज्ञा श्रुत्वा तद्दुःखकारणम् ॥ १९ ॥
अन्तःपुरं सुनिर्भर्त्स्य कृत्वा सेवापरं तराम् ।
सती बुद्धिमती सा च सुप्रधाना कृता मुदा ॥ २० ॥
एवमन्यैर्बुधैश्चापि श्रीजिनाग्रे सुभक्तितः ।
क्षुल्लकाद्यैः प्रकर्त्तव्या स्वात्मनिन्दा शुभश्रिये ॥ २१ ॥
शुभकुलोत्तमशर्मविधायिनी
जिनपतेः पदभक्तिरसौ सदा ।
भवतु दुर्गतिदुःखविनाशिनी
शिवपदं मम देव यतो मुदा ॥ २२ ॥

इति कथाकोशे आत्मनिंदाप्राप्तफलदृष्टान्ताख्यानं समाप्तम् ।

८५–आत्मनिन्दाख्यानम् ।

सर्वदोषप्रहर्त्तारं कर्त्तारं शर्मणः सताम् ।
नत्वा जिनं प्रवक्ष्येहं स्त्रीकथां गर्हणाश्रिताम् ॥ १ ॥
अयोध्यानगरे राजा दुर्योधन इतीरितः ।
श्रीदेवीकामिनीनाथः संजातो न्यायमण्डितः ॥ २ ॥

बभूव ब्राह्मणस्तत्र सर्वोपाध्यायनामभाक् ।
ब्राह्मणी तस्य वीराख्या यौवनोन्मत्तमानसा ॥ ३ ॥

सार्द्धं छात्रेण संसक्ता पापिनी साग्निभूतिना ।
हत्वा पतिं निजं वृद्धं सर्वोपाध्यायकं तदा ॥ ४ ॥

छत्रिकायां समारोप्य कृष्णरात्रौ श्मशानकम् ।
निक्षेप्तुं च गता तत्र कोपाद्व्यन्तरदेवता ॥ ५ ॥

छत्रिकां कीलयामास मस्तके संजगाद च ।
प्रभाते पुरनारीणा-मग्रतस्तु गृहे गृहे ॥ ६ ॥

दुराचारंस्त्वया स्वस्य कथ्यते गर्हणोत्करैः ।
तदा ते पतति व्यक्तं मस्तकाच्छत्रिका द्रुतम् ॥ ७ ॥

तया तथा कृते शीघ्रं छत्रिका पतिता क्षितौ ।
सा लोके च विशुद्धाभू-द्ब्राह्मणी निजगर्हणात् ॥ ८ ॥

तथान्यैस्तु बुधैः कार्यं गर्हणं स्वस्य शुद्धये ।
गुरूणामग्रतो भक्त्या दोषके पापभीरुभिः ॥ ९ ॥

शल्येनैव यथा प्रपीडिततनुर्निष्काश्य शल्यं भटः
संप्राप्नोति सुखं तथा च सुधियः श्रीजैनसूत्रान्वितान् ।
श्रित्वा श्रीमुनिनायकाञ्छुभतरान्भूत्वा च शल्योज्झिताः
स्वात्मोत्पन्नकुदोषगर्हणभरैर्नित्यं भजन्तु श्रियम् ॥ १० ॥

इति कथाकोश आत्मगर्हणाख्यानं समाप्तम् ।

८६—सोमशर्ममुनेराख्यानम् ।

सम्प्रणम्य जिनाधीशं सारधर्मोपदेशकम् ।
सोमशर्ममुनेर्वच्मि शर्मदं सुकथानकम् ॥ १ ॥

आलोचनैर्गर्हणनिन्दनैश्च
व्रतोपवासैः स्तुतिसत्कथाभिः ।
एभिस्तु योगैः क्षपणं करोमि
विषप्रतीघातमिवाप्रमत्तः ॥ २ ॥

अथात्र भरते क्षेत्रे पुण्ड्राख्यविषये शुभे ।
देवीकोट्टपुरे जातो ब्राह्मणः सोमशर्मवाक् ॥ ३ ॥
वेदवेदाङ्गपारज्ञः सोमिल्याब्राह्मणीपतिः ।
संजातौ चाग्निभूत्याख्य-वायुभूती तयोः सुतौ ॥ ४ ॥
तत्रैव नगरे विष्णु-दत्तनामा द्विजोपरः ।
विष्णुश्रीकामिनीनाथो भूरिवित्तसमन्वितः ॥ ५ ॥
ऋणं श्रीविष्णुदत्तस्य गृहीत्वा सोमशर्मकः ।
एकदा धर्ममाकर्ण्य मुनेः पार्श्वे जिनेशिनाम् ॥ ६ ॥
दीक्षामादाय सद्भक्त्या मुनिर्भूत्वा विचक्षणः ।
कृत्वा विहारमत्युच्चैः प्राप्तः कोट्टपुरं पुनः ॥ ७ ॥
दृष्ट्वासौ विष्णुदत्तेन धृत्वा द्रव्यं प्रयाचितः ।
सोमशर्ममुनेः पुत्रौ निर्धनौ तौ तु साम्प्रतम् ॥ ८ ॥
द्रव्यं मे देहि भो धीर नो चेद्धर्मं सुशर्मदम् ।
तच्छ्रुत्वा सोमशर्माख्यं तं मुनिं सुतपोनिधिम् ॥ ९ ॥

वीरभद्रमहाचार्य-वाक्यतस्तु श्मशानके ।
धर्मं विक्रीणयन्तं च प्रत्यक्षीभूय देवता ॥ १० ॥
संजगाद मुने स्वामिन्धर्मस्ते कीदृशो भुवि ।
ततः प्राह मुनिः सोपि सोमशर्मा गुणोज्वलः ॥ ११ ॥
मूलोत्तरैर्गुणैर्युक्तो दशलाक्षणिको महान् ।
धर्मो देवि मम श्रीम-ज्जिनेन्द्रैर्भाषितः शुभः ॥ १२ ॥
तत्समाकर्ण्य सा देवी सन्तुष्टा भक्तिभारतः ।
नत्वा मुनिं जगद्वन्द्यं संजगौ व्यक्तभाषया ॥ १३ ॥

धम्मो जयवसियरणं धम्मो चिंतामणी अणग्घेओ ।
धम्मो सुहवसुधारा धम्मो कामदुहा धेणू ॥
किं जंपिएण बहुणा जं चं दीसइ सम्मातियलोए ।
इंदियमणोहिरामं तं तं धम्मफलं सव्वं ॥

सर्वलोकोत्तमस्यास्य नास्ति मूल्यं सुधर्मणः ।
किं तु सर्वोपसर्गस्य विनाशार्थं महामुनेः ॥ १४ ॥
एकवारं त्रिमुष्ट्या च समुत्पाटितकेशजम् ।
मूल्यलेशं ददामीमं श्रीमतां शर्मकारिणाम् ॥ १५ ॥
इत्युक्त्वासौ लसत्कान्ति-प्रद्योतितककुब्मुखम् ।
रत्नराशिं विधायोच्चै-र्देवता स्वगृहं गता ॥ १६ ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्म-प्रभावः केन वर्ण्यते ।
यो धर्मः शर्मदो नित्यं सुरेन्द्राद्यैः समर्चितः ॥ १७ ॥
प्रभाते तत्तपोलक्ष्मी-सत्प्रभावप्रवीक्षणात् ।
विष्णुदत्तो द्विजश्चापि नत्वा तं मुनिनायकम् ॥ १८ ॥

संजगाद मुने धीर धन्यस्त्वं जैनतत्वविद् ।
दुर्धरोरुतपोयुक्तो विरक्तो मोहकर्मणि ॥ १९ ॥
अहं दुष्कर्मयोगेन वंचितो धनतस्करैः ।
अतः परं भवत्पाद-पद्मयुग्माश्रयं भजे ॥ २० ॥
इत्यादिकैः शुभैर्वाक्यैः स्तुत्वा तं भक्तिनिर्भरः ।
पादमूले मुनेस्तस्य दीक्षामादाय निर्मदः ॥ २१ ॥
मुनिर्भूत्वा गुरोर्भक्त्या स्वर्मोक्षसुखभागभूत् ।
अहो धर्माश्रितो जन्तुः को वा न स्यान्महासुखी ॥ २२ ॥
सर्वमन्यजनाश्चान्ये धर्मे श्रीमज्जिनेशिनाम् ।
तं प्रभावं समालोक्य संजाता भक्तिनिर्भराः ॥ २३ ॥
तद्धनैः श्रावकैश्चापि कोटितीर्थाभिधानकः ।
चैत्यालयो जिनेन्द्राणां कारितः शर्मदायकः ॥ २४ ॥

श्रीमत्सारजिनेन्द्रदेवगदितं त्रैलोक्यसंपूजितं
नाना शर्मविधायकं भवहरं स्वर्मोक्षदं सत्तपः ।
आराध्यैव विशुद्धभक्तिभरतो ये साधवो धीधनाः
प्राप्ता मुक्तिसुखं विनाशरहितं कुर्यस्तु ते मे श्रियम् ॥२५॥

इति कथाकोशे श्रीसोमशर्ममुनेराख्यानं समाप्तम् ।

८७—कालाध्ययनाख्यानम् ।

यस्य ज्ञानं जगत्सार-संसाराम्भोधिपारदम् ।
तं प्रणम्य जिनं वक्ष्ये कालाध्ययनवृत्तकम् ॥ १ ॥
वीरभद्रो जगद्भद्रो मुनीन्द्रो जैनतत्ववित् ।
एकदासौ महाटव्या-महोरात्रं पठंश्छ्रुतम् ॥ २ ॥
श्रुतदेव्या तया दृष्ट-स्ततः सम्बोधनाय च ।
धृत्वा गोकुलिकारूपं समागत्य निशि स्फुटम् ॥ ३ ॥
सुगन्धिमधुरं तक्रं गृहीस्वेति स्व लीलया ।
सा जल्पन्ती मुनेः पार्श्वे चक्रे पर्यटनं तदा ॥ ४ ॥
वीरभद्रो मुनिः प्राह शास्त्राभ्यासैकमानसः ।
मुग्धे किं गृहिलासीति तक्रं गृह्णाति कोधुना ॥ ५ ॥
निशायां निर्जने देशे तच्छ्रुत्वा देवतावदत् ।
त्वमेव गृहीलोऽकाले पठस्यत्रागमं यतः ॥ ६ ॥
ततोसौ मुनिरालोक्य नक्षत्राणि नभस्तले ।
प्रबुद्धो गुरुसान्निध्यं गत्वालोच्य निजक्रियाम् ॥ ७ ॥
शास्त्रं संपठति स्मोच्चैः काले काले तथान्यदा ।
तं पठन्तं जिनैः प्रोक्तं स्वागमं मुनिसत्तमम् ॥ ८ ॥
दृष्ट्वासौ देवता तुष्टा विशुद्धाष्टविधार्चनैः ।
पूजयामास सद्भक्त्या सद्गुणैः को न पूजितः ॥ ९ ॥
ततोसौ वीरभद्रस्तु मुनीन्द्रो ज्ञानमण्डितः ।
दर्शनज्ञानचारित्रैः परलोकं सुधीर्गतः ॥ १० ॥

तस्माच्छ्रीजिनभाषितं शुभतरं ज्ञानं जगन्मोहनं
नित्यं सारविभूतिशर्मजनकं स्वर्गापवर्गप्रदम् ।
युक्ता भक्तिभरेण निर्मलधियो विश्वप्रदीपं हितं
श्रित्वा शोककलंकपंकहरणं कुर्वन्तु सन्तः सुखम् ॥११॥

इति कथाकोशे कालाध्ययनाख्यानं समाप्तम् ।

८८–अकालाध्ययनाख्यानम् ।

नत्वा जिनं जगद्वन्द्यं केवलज्ञानलोचनम् ।
अकालाख्यानकं वक्ष्ये सतां सम्बोधहेतवे ॥ १ ॥
शिवनन्दी मुनिः कश्चि-देकदा गुरुवाक्यतः ।
श्रीमच्छ्रवणनक्षत्रो-दये स्वाध्यायकालकः ॥ २ ॥
भवत्येवं परिज्ञात्वा तथापि प्रौढकर्मतः ।
अकाले संपठन्मिथ्या-समाधिमरणेन सः ॥ ३ ॥
गंगानद्यां महामत्स्यः संजातः पापकर्मणा ।
जिनाज्ञालोपनेनैवं प्राणी दुर्गतिभाग्भवेत् ॥ ४ ॥
ततश्चैकदिने सोपि मत्स्यस्तु पुलिने शुभे ।
साधुपाठं समाकर्ण्य भूत्वा जातिस्मरोभवत् ॥ ५ ॥
अहो पठितमूर्खोहं जैनवाक्यपराङ्मुखः ।
संजातः पापतो मत्स्यो दुष्टकर्मविधायकः ॥ ६ ॥
इत्यात्मनिन्दनं कृत्वा गृहीत्वा त्रिजगद्धितम् ।
सम्यक्त्वं भक्तिभारेण संयुक्तं सदणुव्रतैः ॥ ७ ॥

समाराध्य जिनेन्द्रस्य पादपद्मद्वयं मुदा ।
स्वर्गे महर्धिको जातो देवः सत्पुण्यसम्बलः ॥ ८ ॥
धर्मस्याराधकः स्वर्गी भवेत्पापी विराधकः ।
पूर्वोसौ सत्सुखोपेतः परो दुःखाश्रितो जनः ॥ ९ ॥
इति ज्ञात्वा बुधैर्नित्यं धर्मः श्रीजिनभाषितः ।
आराध्यो भक्तितो नित्यं शक्त्या शर्मशतप्रदः ॥ १० ॥

विमलतरविभूतिः प्राणिनां शुद्धकीर्ति-
भवति विशदमूर्त्तिर्ज्ञानतश्चारुशान्तिः ।
असुरसुरनरेन्द्रैः खेचरेन्द्रैः प्रपूज्यं
जिनपतिवरबोधं संभजन्तु प्रभव्याः ॥ ११ ॥

इति कथाकोशे अकालाध्ययनाख्यानं समाप्तम् ।

८९–विनयाख्यानम् ।

सर्वं देवेन्द्रनागेन्द्र-नरेन्द्राद्यैः समर्चितम् ।
नत्वा जिनं प्रवक्ष्येहं विनयाख्यानकं शुभम् ॥ १ ॥
वत्सदेशे सुविख्याते कौशाम्बीपत्तने शुभे ।
राजाभूद्धनसेनाख्यो विष्णुभक्तो विमुग्धधीः ॥ २ ॥
धनश्रीः श्रीरिवात्यन्त-सुन्दरा तस्य कामिनी ।
श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोज-सद्भृङ्गी श्राविकोत्तमा ॥ ३ ॥
सुप्रतिष्ठाभिधस्तत्र पुरे भागवतस्तथा ।
तद्राजाग्रासने भुंक्ते भोजनं कुतपोव्रतः ॥ ४ ॥

विद्युद्वेगस्त्वकं चापि यत्र मां पश्यसि स्फुटम् ।
तत्राष्टाङ्गनमस्कारं कृत्वा सद्भक्तिनिर्भरः ॥ २७ ॥
भवत्पादप्रसादेन जीवामीति प्रजल्पसि ।
तदा विद्याप्रसिद्धिस्ते न चेत्सिद्धापि याति सा ॥ २८ ॥
सर्वं करोमि तेनोक्तं यद्भवद्भिः प्रजल्पितम् ।
ततस्तस्मै निजां विद्यां दत्वासौ स्वगृहं गतः ॥ २९ ॥
सोपि विद्याप्रभावेन कृत्वा चारुविकुर्वणाम् ।
सिद्धा विद्येति संज्ञात्वा सुप्रतिष्ठाख्यो विष्णुभाक् ॥ ३० ॥
तद्वेलातिक्रमे प्राप्तो भोजनार्थं नृपान्तिकम् ।
राज्ञा पृष्टः कथं वेला-तिक्रमो भगवन्नभूत् ॥ ३१ ॥
प्रोक्तं तेन मृषा वाक्यं लम्पटेन कुवादिना ।
भो नरेन्द्र चिरं चारु-तपोमाहात्म्यतोद्य मे ॥ ३२ ॥
सर्वे हरिहरब्रह्मा-सुराद्या भक्तिनिर्भराः ।
मां समभ्यर्च्य योगीन्द्रं स्वस्थानं संययुर्मुदा ॥ ३३ ॥
तेन राजन्बृहद्वेला संजातेति तथापरम् ।
अभूत्प्रभो नभोभागे गमनागमनं च मे ॥ ३४ ॥
ततः श्रीधनसेनोसौ भूपतिः प्राह भो द्विज ।
त्वं प्रभाते महाश्चर्यं सर्वं मे दर्शय ध्रुवम् ॥ ३५ ॥
दर्शयिष्यामि चेत्युक्त्वा स कृत्वा भोजनं गतः ।
प्रभाते मठिकायां च राजादीनां मनोहरम् ॥ ३६ ॥
दर्शयत्येव ब्रह्मादि-रूपं यावत्कृतोद्यमः ॥
तावच्चण्डालरूपेण तत्रायातौ च तौ पुनः ॥ ३७ ॥

तदा दृष्ट्वा वदत्सोपि मातंगौ दुष्टचेष्टितौ ।
कस्मादिमौ समायातौ नष्टा विद्येति जल्पनात् ॥ ३८ ॥
किं कारणं नृपः प्राह भगवन्ब्रूहि मे स्फुटम् ।
प्रोक्तं तेन यथार्थं च श्रुत्वा सोपि महीपतिः ॥ ३९ ॥
तौ प्रणम्य लसद्भक्त्या चण्डालौ पूर्वयुक्तितः ।
ततो विद्यां समादाय तां परीक्ष्य प्रहर्षतः ॥ ४० ॥
सम्प्राप्तः स्वगृहं शीघ्रं विद्यालाभो हि शर्मदः ।
येन जन्तुर्भवत्येव नित्यं सत्सौख्यभाजनम् ॥ ४१ ॥
अन्यदा स्वसभामध्ये विष्टरस्थो महीपतिः ।
तं चण्डालं समायातं दृष्ट्वा भक्तिनिर्भरः ॥ ४२ ॥
सम्प्रणम्य जगादोच्चैर्भो स्वामिंस्त्वत्प्रसादतः ।
जीवामीति ततः सोपि विद्युत्प्रभखगाधिपः ॥ ४३ ॥
विलोक्य विनयं तस्य सुधीः संतुष्टमानसः ।
स्वरूपं प्रकटीकृत्य तस्मै भूपाय शर्मदाम् ॥ ४४ ॥
दत्वा विद्यां तथान्यां च सम्प्राप्तो निजमन्दिरम् ।
गुरूणां विनयेनोच्चैः किं न जायेत सुन्दरम् ॥ ४५ ॥
तदाश्चर्यं समालोक्य स राजा धनसेनवाक् ।
विद्युद्वेगा तथान्ये च संजाताः श्रावकोत्तमाः ॥ ४६ ॥
अन्यैश्चापि महाभव्यैः स्वर्गमोक्षसुखप्रदः ।
गुरूणां विनयः कार्यो विशुद्धपरिणामतः ॥ ४७ ॥
सर्वकार्यप्रसिद्धिं च या करोति क्षणार्द्धतः ।
अस्तु सा सद्गुरोर्भक्तिः क्रियासन्दोहभूषणम् ॥ ४८ ॥

वन्द्यते स गुरुर्नित्यं यः संसारमहार्णवम् ।
स्वयं तरति पूतात्मा भव्यानां तारणक्षमः ॥ ४९ ॥

यस्य श्रीजिनपादपद्मयुगले देवेन्द्रचन्द्रार्चिते
शास्त्रे सद्विनयस्तथा मुनिजने जैने सदा तिष्ठति ।
तस्य श्रीजयकीर्तिकान्तिविलसद्बोधादयः सद्गुणाः
प्रीत्यां पार्श्वनिवासिनोतिनितरां तिष्ठन्ति शर्मप्रदाः ॥५०॥

इति कथाकोशे विनयाख्यानं समाप्तम् ।

९०—अवग्रहाख्यानम् ।

पादपद्मद्वयं नत्वा जिनेन्द्रस्य शुभप्रदम् ।
उपधानकथा वक्ष्ये यतः सौख्यं भजाम्यहम् ॥ १ ॥
अहिच्छत्रपुरे राजा वसुपालो विचक्षणः ।
श्रीमज्जैनमते भक्तो वसुमत्यभिधा प्रिया ॥ २ ॥
तेन श्रीवसुपालेन कारिते भुवनोत्तमे ।
लसत्सहस्रकूटे श्री-जिनेन्द्रभवने शुभे ॥ ३ ॥
श्रीमत्पार्श्वजिनेन्द्रस्य प्रतिमा पापनाशिनी ।
तत्रास्ते चैकदा तस्यां भूपतेर्वचनेन च ॥ ४ ॥
दिने लेपं ददात्युच्चै-र्लेपकाराः कलान्विताः ।
मांसादिसेविनस्ते तु ततो रात्रौ स लेपकः ॥ ५ ॥
पतत्येव क्षितौ शीघ्रं कदर्थ्यन्ते च तेखिलाः ।
एवं च कतिचिद्वारैः खेदक्षुण्णे नृपादिके ॥ ६ ॥

तदैकेन परिज्ञात्वा लेपकारेण धीमता ।
देवताधिष्ठितां दिव्यां जिनेन्द्रप्रतिमां हिताम् ॥ ७ ॥
कार्यसिद्धिर्भवेद्याव-त्तावत्कालं सुनिश्चितम् ।
अवग्रहं समादाय मासादेर्मुनिपार्श्वतः ॥ ८ ॥
तस्यां लेपः कृतस्तेन स लेपः संस्थितस्तदा ।
कार्यसिद्धिर्भवेत्येवं प्राणिनां व्रतशालिनाम् ॥ ९ ॥
तदासौ वसुपालेन भूभुजा परया मुदा ।
नानावस्त्रसुवर्णाद्यैः पूजितो लेपकारकः ॥ १० ॥
तथा कार्यप्रसिद्ध्यर्थं भक्त्या ज्ञानादिकर्मणि ।
अवग्रहः प्रकर्त्तव्यो मुन्यादिबुधसत्तमैः ॥ ११ ॥
जिनपतिकथितोसौ बोधसिन्धुः प्रयुक्त्या
विशदतरमुनीन्द्रैः सेवितः शर्महेतुः ।
सुरनरखचरेन्द्रैः पूजितो भक्तिमांद्रैः
स भवतु मम नित्यं केवलज्ञानकर्त्ता ॥ १२ ॥

इति कथाकोशे अवग्रहाख्यानं समाप्तम् ।

९१—अभिमानस्याख्यानम् ।

विशुद्धकेवलज्ञानं नत्वा श्रीमज्जिनेश्वरम् ।
बहुमानकथां वच्मि सारशर्मप्रदायिनीम् ॥ १ ॥
काशीदेशे सुविख्याते जातो वाराणसीपुरे ।
राजा वृषध्वजो धीमान्स्वप्रजाप्रतिपालकः ॥ २ ॥

वसुमत्यभिधा तस्य महादेवी बभूव च ।
रूपलावण्यसौभाग्य-मण्डिता पूर्वपुण्यतः ॥ ३ ॥
तथा गंगानदीतीरे पलासग्रामवासकः ।
नाम्नाशोकोभवद्धीमान्महागोकुलिकस्तदा ॥ ४ ॥
ददात्यसौ नरेन्द्राय तस्मै संवत्सरं प्रति ।
सद्घृतैः पूर्णकुंभानां सहस्रं करमुत्तमम् ॥ ५ ॥
तस्य भार्याभवन्नन्दा सती वन्ध्या स्वकर्मतः ।
साशोकाय सुधीर्भार्या रोचते नैव मानसे ॥ ६ ॥
रूपशीलादियुक्तापि कामिनी पुत्रवर्जिता ।
पुंसश्चित्ते समायाति नैव वल्लीव निष्फला ॥ ७ ॥
अशोकस्तु तदा सोपि सुधीर्गोकुलिको महान् ।
पुत्रार्थं कामिनीमन्यां सुनन्दां परिणीतवान् ॥ ८ ॥
तयोश्च कलहे जाते स्त्रियोस्तेन च धीमता ।
अर्द्धमर्द्धं विधायोच्चै-र्दत्तं सर्वं गृहादिकम् ॥ ९ ॥
नन्दा नित्यं विशुद्ध्यादि-भाजनादिप्रयत्नकम् ।
दानमानादिसत्पूजां गोपालानां विधाय च ॥ १० ॥
घृतकुंभसहस्रार्द्धं कृत्वा संवत्सरं प्रति ।
ददाति स्म स्वनाथाय राजदेयं गुणोज्वला ॥ ११ ॥
सुनन्दा च स्वरूपादि-महागर्वेण दूषिता ।
गोपालानां कुधीः पूजां नैव यत्नं करोति च ॥ १२ ॥
तस्या गोपालकाः सर्वे स्वयं दुग्धं पिबन्ति च ।
तस्मात्तस्य घृतं जातं प्रमादाद्दतितुच्छकम् ॥ १३ ॥

नन्दयान्यघृतं चापि दत्तं गोकुलिकेन तु ।
निर्घाटिता सुनन्दा सा सौभाग्येन प्रगर्विता ॥ १४ ॥
नन्दा नन्दप्रदा सा च स्वपुण्येन तदा सती ।
स्वगेहे सर्ववित्तादौ सुप्रधानाभवच्छुभा ॥ १५ ॥
एवं मुन्यादिभिर्जैन-धर्मकर्मणि शर्मदम् ।
पूजादानादिकं कार्यं नित्यं सद्बोधसिद्धये ॥ १६ ॥
श्रीमज्जैनपदाम्बुजेत्र नितरां स्वर्मोक्षसौख्यप्रदे
शास्त्रे श्रीजिनभाषिते शुभतरे धर्मे गुरौ सज्जने ।
ये यच्छन्ति विशुद्धभक्तिभरतः सद्भूरिमानादिकं
तेषां सारयशः सुबोधविलसच्छ्रीशर्म नित्यं भवेत् ॥ १७ ॥

इति कथाकोशे बहुमानाख्यानं समाप्तम् ।

१२—अनिह्नवाख्यानम् ।

यस्य सत्केवलज्ञाने भाति विश्वमणूपमम् ।
तं जिनेन्द्रं प्रणम्योच्चै-रनिह्नवकथां ब्रुवे ॥ १ ॥
अवन्तिविषये श्रीमा-नुज्जयिन्यां विचक्षणः ।
राजाभूद्धृतिषेणाख्य-स्तद्राज्ञी मलयावती ॥ २ ॥
चण्डप्रद्योतनः पुत्रस्तयोर्जातो गुणोज्वलः ।
रूपलावण्यसौभाग्य-माण्डितः पूर्वपुण्यतः ॥ ३ ॥
दक्षिणादिपथे वेना-तटाख्ये नगरे तथा ।
ब्राह्मणः सोमशर्माभूत्सोमाख्या ब्राह्मणी तयोः ॥ ४ ॥

सुपुत्रः कालसंदीवः सर्वविद्याविराजितः ।
उज्जयिन्यां समागत्य स श्रीसोमसुतो महान् ॥ ५ ॥
चण्डप्रद्योतनं चारु-लिपीश्चाष्टादशोत्तमाः ।
पाठयामास पूतात्मा कालसंदीववाक् सुधीः ॥ ६ ॥
एकां म्लेच्छलिपिं तेन तं सुपाठयता तथा ।
कूटं पठन्प्रभोः पुत्रो हतः पादेन सोवदत् ॥ ७ ॥
यदाहं संभविष्यामि भूपतिस्तु तदा तव ।
पादं संखण्डयिष्यामि युक्तं स्वल्पमतिः शिशुः ॥ ८ ॥
ततस्तं पाठयित्वासौ कालसंदीवको द्विजः ।
गत्वा दक्षिणदेशं च मुनिर्जातो गुणोज्वलः ॥ ९ ॥
सोपि श्रीधृतिषेणाख्यो राजा श्रीजिनभक्तिभाक् ।
चण्डप्रद्योतनायोच्चै-र्दत्वा राज्यं तपोगृहीत् ॥ १० ॥
एकदा तस्य भूपस्य चण्डप्रद्योतनस्य हि ।
लेखः संप्रेषितो म्लेच्छ-राजेनोच्चैः स्वकार्यतः ॥ ११ ॥
केनापि वाचितो नैव स लेखस्तु ततो नृपः ।
स्वयं वाचयति स्मोच्चै-स्तं लेखं तुष्टमानसः ॥ १२ ॥
स्मृत्वासौ सद्गुरुं चित्ते तं समानीय भक्तितः ।
पूजयामास शुद्धात्मा तत्पदाम्बुजमद्भुतम् ॥ १३ ॥
भवन्ति सद्गुरोर्वाचो भव्यानां शर्मदायकाः ।
यथा चौषधयोर्जन्तो-र्भवेयुश्चारुसौख्यदाः ॥ १४ ॥
सोपि श्रीकालसंदीवो मुनिः श्रीजिनसूत्रवित् ।
कस्मैचिच्छ्वेतसदीव-नाम्ने दीक्षां जिनोदिताम् ॥ १५ ॥

दत्वा कुर्वन्विहारं च भव्यान्सम्बोधयन्सुधीः ।
श्रीमद्वीरजिनेन्द्रस्य विपुलाख्यगिरौ स्थिताम् ॥ १६ ॥
समवादिसृतिं प्राप्तो महाशर्मविधायिनीम् ।
कृत्वा तद्वन्दनां भक्त्या संस्थितो विमलाशयः ॥ १७ ॥
श्वेतसंदीवकश्चापि नूतनो मुनिसत्तमः ।
समवादिसृतेर्बाह्ये योगे स्वातापने स्थितः ॥ १८ ॥
निर्गच्छता तदा श्रीमच्छ्रेणिकेन महीभुजा ।
दृष्टः कस्ते गुरुश्चेति संपृष्टोसौ सुभक्तितः ॥ १९ ॥
स च प्राह मुनिः श्रीमन्द्वर्द्धमानो गुरुर्मम ।
इत्युक्ते पाण्डुरं तन्च शरीरं कृष्णतामितम् ॥ २० ॥
ततो व्याघुटितः श्रीमाञ्छ्रेणिको गौतमं मुनिम् ।
तच्छरीरस्य कृष्णत्व-कारणं पृष्टवान्नृपः ॥ २१ ॥
तेनोक्तं ज्ञानिना भूप स्वगुरोर्निह्नवाद्ध्रुवम् ।
तत्कायः कृष्णवर्णोभू-त्तत्समाकर्ण्य धीमता ॥ २२ ॥
शीघ्रं पश्चात्समागत्य तत्समीपं महीभुजा ।
श्रेणिकेन शुभैर्वाक्यै-र्भक्त्या सम्बोधितः स च ॥ २३ ॥
ततो सौ श्वेतसंदीवो मुनिः कृत्वा सुनिन्दनम् ।
शुक्लध्यानेन संहत्वा घातिकर्मचतुष्टयम् ॥ २४ ॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य लोकालोकप्रकाशकम् ।
पूजितस्त्रिजगद्वन्द्यैः संप्राप्तो मोक्षमक्षयम् ॥ २५ ॥
ततो भव्यैर्न कर्त्तव्यो निह्नवः स्वगुरोः कदा ।
समाराध्यो गुरुर्यस्मात्स्वर्गमोक्षसुखप्रदः ॥ २६ ॥

सश्रीकेवललोचनोतिचतुरो भव्यौघसम्बोधको
देवेन्द्रादिनरेन्द्रखेचरशतैर्भक्त्या सदाभ्यर्चितः ।
व्यक्तानन्तचतुष्टयो गुणनिधिः श्रीश्वेतसंदीववाक्
कुर्यान्मे भवशान्तिमक्षयसुखं शीघ्रं जिनः शर्मदम् ॥ २७ ॥

इति कथाकोशे निह्नवाख्यानं समाप्तम् ।

९३—व्यंजनहीनाख्यानम् ।

नत्वा श्रीमज्जिनेन्द्रस्य पादपद्मद्वयं मुदा ।
वक्ष्ये व्यंजनहीनस्य कथां सम्बोधहेतवे ॥ १ ॥
देशे मगधसंज्ञे भूत्पुरे राजगृहे सुधीः ।
वीरसेनो महाराजो वीरसेना प्रिया तयोः ॥ २ ॥
सिंहनामा सुतो जात-स्तस्योपाध्यायकोभवत् ।
सोमशर्मा सुधीः सर्व-शास्त्रव्याख्याविचक्षणः ॥ ३ ॥
सुरम्यविषये ख्याते पोदनादिपुरे तथा ।
राजा सिंहरथस्तस्यो-परि प्राप्तेन तेन तु ॥ ४ ॥
वीरसेनेन भूभर्त्ता पोदनाख्यपुरात्तदा ।
सिंहोध्यापयितव्योसौ सुलेखः प्रेषितो गृहम् ॥ ५ ॥
सिंहोध्यापयितव्यः स शब्दस्यैव विचारणे ।
'ध्यै'स्मृतीति प्रचिन्ताया-मस्यधातोः प्रयोगकम् ॥ ६ ॥
ज्ञात्वा कारयितव्यस्तु चिन्तां राज्यादिके सुतः ।
सिंहो पाठयितव्यो न जगौ चेति कुवाचकः ॥ ७ ॥

इत्याकारे प्रलुप्ते च व्याख्याते भ्रान्तितस्तदा ।
पाठितो नैव सिंहोसौ हा कष्टं मूढचेष्टितम् ॥ ८ ॥
आगतेन ततो राज्ञा वीरसेनेन धीमता ।
ज्ञात्वा तत्कारणं कष्टं वाचको दण्डितः क्रुधा ॥ ९ ॥
तस्मादेवं न कर्त्तव्यः प्रमादः साधुभिः क्वचित् ।
येन कार्यस्य हानिः स्या-दर्थसन्दोहनाशिनी ॥ १० ॥

यथौषधं हीनगुणत्वमाश्रितं
निहन्ति नैवात्र शरीरवेदनाम् ।
तथाक्षरैर्हीनगुणाश्रितं श्रुतं
हितं न तत्तच्च शुभं सुधीः पठेत् ॥ ११ ॥

इति कथाकोशे व्यंजनहीनाख्यानं समाप्तम् ।

१४–अर्थहीनाख्यानम् ।

सर्वकल्याणकैपूर्चै-श्चार्चितांस्त्रिदशादिभिः ।
नत्वा जिनेश्वरान्वक्ष्ये अर्थहीनकथानकम् ॥ १ ॥
विनीतविषये रम्ये पुरेयोध्याभिधानके ।
राजाभूद्वसुपालाख्यो वसुमत्यभिधा प्रिया ॥ २ ॥
तयोः पुत्रः समुत्पन्नो वसुमित्रो विचक्षणः ।
तस्योपाध्यायको जातो गर्गनामा गुणोज्वलः ॥ ३ ॥
अवन्तिविषये पुर्या-मुज्जयिन्यां तथाभवत् ।
वीरदत्तो महाराजा वीरदत्ता सुवल्लभा ॥ ४ ॥

अयं श्रीवीरदत्ताख्यो वसुपालस्य भूभुजः ।
मानभङ्गं करोत्युच्चै-स्ततः स वसुपालकः ॥ ५ ॥
उज्जयिन्यां समागत्य तस्योपरि महाक्रुधा ।
गतेषु दिवसेषूच्चै-र्वसुमत्यादिकान्प्रति ॥ ६ ॥
पुत्रोध्यापयितव्योसौ वसुमित्रोतिसादरम् ।
शालिभक्तं मसिस्पृक्तं सर्पिर्युक्तं दिनं प्रति ॥ ७ ॥
गर्गोपाध्यायकस्योच्चै-र्दीयते भोजनाय च ।
लेखं संप्रेषयामास भूपश्चेति निजं गृहम् ॥ ८ ॥
विनीतानगरीं प्राप्तः स लेखस्तु प्रमादतः ।
वाचितो वाचकेनैव महामुग्धेन कर्मतः ॥ ९ ॥
सुतोध्यापयितव्योसौ तथा गर्गाय धीमते ।
मसिर्घृतं सुभक्तं च दीयते भोजनक्षणे ॥ १० ॥
चूर्णीकृत्य ततोङ्गारं घृतभक्तेन मिश्रितम् ।
दत्तं तस्मै तकैर्मूढै-रुपाध्यायाय सेवकैः ॥ ११ ॥
आगतेन ततो राज्ञा समाधानं सुभक्तितः ।
उपाध्यायश्च पृष्टोसौ मंजगाविति भो नृप ॥ १२ ॥
अस्ति मे कुशलं देव भवत्पुण्यप्रसादतः ।
किन्तु तेत्र कुलाचारै-र्मसिं भोक्तुं क्षमोस्मि न ॥ १३ ॥
तदा श्रीवसुपालेन पृष्टा राज्ञी च कारणम् ।
तं लेखं दर्शयामास सा सती गुणमण्डिता ॥ १४ ॥
ततस्तेन नरेन्द्रेण वाचकस्य महाक्रुधा ।
मुण्डनादिखरारोहैः कृतो दण्डस्तु कष्टदः ॥ १५ ॥

एवमन्यैर्न कर्त्तव्यं साधुभिस्तु प्रमादतः ।
सदर्थस्याप्यनर्थत्वं सर्वशास्त्रविचक्षणैः ॥ १६ ॥

तस्माच्छ्रीजिनभाषितं शुभतरं कीर्तिप्रमोदप्रदं
ज्ञानं ज्ञानघनैर्विशुद्धचरणैः सद्भिः सदा सेवितम् ।
युक्त्या भक्तिभरेण निर्मलधियो भव्या भजन्त्यत्र ये
तेषां सारसुखं प्रबोधविलसच्छ्रीसंभवं संभवेत् ॥ १७ ॥

इति कथाकोशे अर्थहीनाख्यानं समाप्तम् ।

९५—व्यंजनार्थहीनस्याख्यानम् ।

विशुद्धकेवलज्ञानं नत्वा श्रीमज्जिनेश्वरम् ।
व्यंजनार्थप्रहीनस्य प्रवक्ष्येहं कथानकम् ॥ १ ॥
कुरुजांगलसद्देशे हस्तिनागपुरे परे ।
महापद्मोभवद्राजा जिनपादाब्जषट्पदः ॥ २ ॥
तस्य राज्ञी महासाध्वी पद्मश्री रूपशालिनी ।
श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्म-कर्मसन्दोहभाविनी ॥ ३ ॥
तथा सुरम्यदेशे च पोदनाख्यमहापुरे ।
सिंहनादो महीनाथ-स्तस्योपरि महाक्रुधा ॥ ४ ॥
स श्रीमांश्च महापद्मः पोदनादिपुरं गतः ।
तत्र श्रीमज्जिनेन्द्राणां महास्तंभसहस्रकम् ॥ ५ ॥
सहस्रकूटसन्नाम मन्दिरं शर्ममन्दिरम् ।
दृष्ट्वा सन्तुष्टचेतस्को लसद्धर्मानुरागतः ॥ ६ ॥

ईदृशं श्रीजिनागारं मत्पुरे सौख्यकारणम् ।
कारयामि जगत्सारं संविचार्येति मानसे ॥ ७ ॥
महास्तंभसहस्रस्य कर्त्तव्यः संग्रहो ध्रुवम् ।
इत्युच्चैः प्रेषयामास पत्रकं स्वपुरं प्रति ॥ ८ ॥
वाचितं वाचकेनाशु भ्रान्त्या स्तभसहस्रकम् ।
ग्राह्यं चेति तदाकर्ण्य तत्रस्थैर्वेगतो जनैः ॥ ९ ॥
गृहीत्वा स्तंभशब्देन महाच्छागसहस्रकम् ।
पोषितं बहुयत्नेन हा कष्टं मूढचेष्टितम् ॥ १० ॥
ततो राज्ञा समागत्य महापद्मेन धीमता ।
प्रोक्तं भो यन्मयादिष्टं तन्मे दर्शयथ ध्रुवम् ॥ ११ ॥
दर्शिताश्च जनैश्छागा-स्ततो रुष्टेन भूभुजा ।
आज्ञाता मारणे लोका-स्ततस्तैरिति जल्पितम् ॥ १२ ॥
किं कुर्मो भो महीनाथ वयं प्रेषणकारिणा ।
वाचकेन यदादिष्टं तदस्माभिर्विनिर्मितम् ॥ १३ ॥
तदा तेन प्रकोपेन महापद्मेन भूभुजा ।
वाचको दण्डितो गाढं प्रमादो न सुखायते ॥ १४ ॥
एवमन्यैर्न कर्त्तव्यः प्रमादः साधुभिर्जनैः ।
ज्ञानध्यानादिसत्कार्ये जैनतत्वविचक्षणैः ॥ १५ ॥
इत्थं श्रीजिनभाषितं शुभतरं ज्ञात्वा सुशास्त्रं बुधै-
स्त्यक्त्वा मोहविधायकं भयकरं त्रेधा प्रमादं सदा ।
धर्म्ये कर्मणि शर्मकोटिजनके सज्ज्ञातदानादिके
भक्त्या श्रीजिनपूजने शुभतरे कार्या मतिः श्रेयसे ॥ १६ ॥

इति कथाकोशे व्यंजनार्थहीनाख्यानं समाप्तम् ।

९६–हीनाधिकाक्षराख्यानम् ।

नत्वा जिनं जगत्पूज्यं केवलज्ञानलोचनम् ।
हीनाधिकाक्षराख्यानं प्रवक्ष्ये भव्यरञ्जनम् ॥ १ ॥
सुराष्ट्रविषये श्रीम-दुर्जयन्तमहागिरौ ।
श्रीमच्चन्द्रगुहामध्ये जैनतत्वाब्धिचन्द्रमाः ॥ २ ॥
धरसेनो महाचार्यो ज्ञात्वा स्तोकं स्वजीवितम् ।
अविच्छित्तिनिमित्तं च शास्त्रस्योच्चैर्विचक्षणः ॥ ३ ॥
आन्ध्रदेशे सुविख्याते वेनातटपुरे परे ।
जिनयात्रासमायात-महाचार्यान्प्रति द्रुतम् ॥ ४ ॥
प्राज्ञौ कृतार्थतां प्राप्तौ नूतनौ द्वौ स्थिरौ मुनी ।
सिद्धान्तोद्धरणे योग्यौ प्रेषणीयौ मदन्तिके ॥ ५ ॥
दत्वा लेखमिति व्यक्तं स्वकीयं ब्रह्मचारिणम् ।
प्रेषयामास पूतात्मा जैनधर्मधुरन्धरः ॥ ६ ॥
तं लेखं तैः समालोक्य मुनीन्द्रैस्तुष्टमानसैः ।
तथाभूतौ मुनी भक्तौ प्रोल्लसद्धर्मरागिणौ ॥ ७ ॥
पुष्पदन्ताख्यभूतादि-बलिसंज्ञौ गुणोज्वलौ ।
प्रेषितौ परया भक्त्या सिद्धान्तोद्धरणे क्षमौ ॥ ८ ॥
तयोरागमने पूर्वं सूरिः पश्चिमसन्निशि ।
स्वप्ने शुभ्रतरौ दिव्यौ नूतनौ वृषभोत्तमौ ॥ ९ ॥
पतन्तौ पादयोः स्वस्य दृष्ट्वा सद्भक्तिनिर्भरौ ।
धरसेनो महाचार्यः प्रोल्लसत्प्रमदान्वितः ॥ १० ॥

सर्वसंन्देहसन्दोह-ध्वंसिनी श्रुतदेवता ।
जयत्वत्र सतां नित्यं वदन्नित्थं समुत्थितः ॥ ११ ॥
प्रभाते तौ समायातौ द्वौ मुनी भक्तिपूर्वकम् ।
नत्वा तत्पादपद्मं च संस्तुतिं चक्रतुर्मुदा ॥ १२ ॥
दिनत्रयं गुरुः सोपि तयोः कृत्वा यथोचितम्
हीनाधिकाक्षरे पूर्वे विद्ये माधयितुं तदा ॥ १३ ॥
परीक्षार्थं सुधीस्ताभ्यां ददाति स्म विचक्षणः ।
तौ समादाय तौ मंत्रौ गिरौ रैवतके शुभे ॥ १४ ॥
श्रीमन्नेमिजिनेन्द्रस्य शुभे सिद्धशिलातले ।
मुनी साधयितुं धीरौ प्रवृत्तौ शुद्धमानसौ ॥ १५ ॥
हीनाक्षरेण संयुक्तां विद्यां साधयतो मुनेः ।
काणादेवी समायाता परस्योद्दन्तुरा मुनेः ॥ १६ ॥
देवतानां विरूपत्वं नेदृशं भवति ध्रुवम् ।
परस्परं विचार्येति मंत्रव्याकरणेन च ॥ १७ ॥
न्यूनाधिकाक्षरं ज्ञात्वा कृत्वा मंत्रविशुद्धिताम् ।
तयोः साधयतो युक्त्या श्रुतदेव्यौ समागतौ ॥ १८ ॥
ततस्तौ द्वौ समागत्य गुरोः पार्श्वे सुभक्तितः ।
देवतादर्शनस्योच्चैः प्राचतुश्चारुवृत्तकम् ॥ १९ ॥
तत्समाकर्ण्य योगीन्द्रो धरसेनो गुणोज्वलः ।
तुष्टस्तौ पाठयामास जैनसिद्धान्तसञ्चयम् ॥ २० ॥
पठित्वा च मुनीन्द्रौ तौ गुरोः सेवाविधायिनौ ॥
जातौ सिद्धान्तकर्त्तारौ जैनधर्मधुरन्धरौ ॥ २१ ॥

एतैर्यथा मुनीन्द्रैस्तु शास्त्रोद्धारो कृतो भुवि ।
तथा ह्यन्यैर्महाभव्यैः कार्योसौ धर्मवत्सलैः ॥ २२ ॥
स श्रीमान्धरसेननामसुगुरुः श्रीजैनसिद्धान्तस—
द्वार्द्धीदुर्धरपुष्पदन्तसुमुनिः श्रीभूतपूर्वो बलिः ।
एते सन्मुनयो जगत्त्रयहिताः स्वर्गामरैरर्चिताः
कुर्युर्मे जिनधर्मकर्मणि मतिः स्वर्गापवर्गप्रदे ॥ २३ ॥

इति महामुनीनामाख्यानं समाप्तम् ।

१७-सुव्रतमुनेराख्यानम् ।

श्रीजिनं सर्व देवेन्द्र-समर्चितपदद्वयम् ।
नत्वा सुव्रतयोगीन्द्र-वृत्तं वक्ष्ये हतामयम् ॥ १ ॥
सुराष्ट्रविषये रम्ये द्वारावत्यां महापुरि ।
हरिवंशे समुत्पन्नः कृष्णनामान्तिमो हरिः ॥ २ ॥
सत्यभामादिसद्राज्ञी-समूहे प्राणवल्लभः ।
त्रिखण्डेशो महीनाथ-सहस्रैः परिसेवितः ॥ ३ ॥
एकदासौ महाराजः श्रीमन्नेमिजिनेशिनः ।
समवादिसृतिं गच्छन्वन्दनार्थं सुखप्रदाम् ॥ ४ ॥
मार्गे सुव्रतनामानं मुनीन्द्रं सुतपोनिधिम् ।
व्याधिक्षीणाङ्गमालोक्य सुधीर्धर्मानुरागतः ॥ ५ ॥
जीवकाख्यमहावैद्य-प्रोक्तशुद्धौषधान्वितान् ।
भक्त्या सर्वगृहेषूच्चैः कारयामास मोदकान् ॥ ६ ॥

तन्मोदकशुभाहारैः सर्वत्र स मुनीश्वरः ।
संजातो विगतव्याधि-श्चारुचारित्रमण्डितः ॥ ७ ॥
तेन श्रीवासुदेवेन लसदौषधिदानतः ।
श्रीमत्तीर्थकरस्योच्चैः पूतं गोत्रमुपार्जितम् ॥ ८ ॥
महापात्रप्रदानेन देहिनां शर्मकारिणा ।
सतां सद्भक्तियुक्तानां किं न जायेत भूतले ॥ ९ ॥
तथैकदा मुनिः सोपि निर्व्याधिर्भूभुजा मुदा ।
दृष्टः पृष्टो मुने स्वामि-न्नस्ति देहे ममाधिता ॥ १० ॥
तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह निस्पृहः स्वशरीरके ।
कायोशुचिर्भवेद्भूप क्षणान्नानाप्रकारभाक् ॥ ११ ॥
तत्समाकर्ण्य चक्रेशो मुनेर्वाक्यं सुनिर्मलम् ।
नत्वा तं त्रिजगत्पूज्यं चक्रे चित्ते प्रशंसनम् ॥ १२ ॥
जीवाख्यः स वैद्योपि तन्निशम्य स्वमानमे ।
अहो मे मुनिनानेन गुणो नैव प्रवर्णितः ॥ १३ ॥
निन्दां चेति चकारासौ मृत्वार्त्तध्यानयोगतः ।
नर्मदा सुनदीतीरे महान्मर्कटकोभवत् ॥ १४ ॥
मूढप्राणी न जानाति मुनीनां वृत्तलक्षणम् ।
कृत्वा निन्दां जगद्वन्द्ये स्वयं याति कुयोनिताम् ॥ १५ ॥
एकदा वानरः सोपि तत्र वृक्षतले मुनिम् ।
पर्यंकस्थं पतच्छाखा-भिन्नोरस्कं सुनिश्चलम् ॥ १६ ॥
समालोक्य स्वपुण्येन भूत्वा जातिस्मरो द्रुतम् ।
क्रोधभावं परित्यज्य भूरिशाखामृगैः सह ॥ १७ ॥

अन्यशाखाप्रवल्लीभि-स्तां समाकृष्य यत्नतः ।
शाखां दूरे विधायोच्चैः पूर्वसंस्कारतो मुदा ॥ १८ ॥
महौषधं समानीय व्रणे तस्य महामुनेः ।
ददौ धर्मानुरागेण सारपुण्यं गृहीतवान् ॥ १९ ॥
जन्म जन्म यदभ्यस्तं प्राणिना शर्मकारणम् ।
तेनाभ्यासेन तेनोच्चै-स्तदेव क्रियते पुनः ॥ २० ॥
ततस्तेन मुनीन्द्रेण स्वावधिज्ञानचक्षुषा ।
प्रोक्त्वा तत्पूर्ववृत्तान्तं शीघ्रं सम्बोधितो हि सः ॥ २१ ॥
तदासौ मर्कटो धीमान्मुनेर्वाक्यप्रसादतः ।
श्रुत्वा धर्मं जिनेन्द्रोक्तं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ॥ २२ ॥
सम्यक्त्वाणुव्रतान्युच्चै-र्गृहीत्वा भूरिभक्तितः ।
प्रतिपाल्य सुधीः सप्त-दिनैः संन्यासपूर्वकम् ॥ २३ ॥
मृत्वा सौधर्मकल्पे च देवो जातो महर्द्धिकः ।
जैनधर्मरतो जन्तुः किं न प्राप्नोति सत्सुखम् ॥ २४ ॥
मर्कटोपि सुरो जातो जैनधर्मप्रसादतः ।
तस्माद्धर्माद्गुरोश्चापि किं परं शर्मकारणम् ॥ २५ ॥
स जयतु जिनधर्मो यत्प्रसादाज्जनोयं
भवति सुरनरेन्द्रश्रीशिवश्रीपतिश्च ।
तदिह विदिततत्त्वैः श्रीजिनेन्द्रोक्तधर्मे
परमपदसुखाप्त्यै सारयत्नो विधेयः ॥ २६ ॥

इतिकथाकोशे श्रीसुव्रतमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

१८–हरिषेणाख्यानम् ।

नत्वा श्रीमज्जिनं भक्त्या केवलज्ञानलोचनम् ।
कथ्यते हरिषेणस्य कथाशयवशाश्रिता ॥ १ ॥
अंगदेशे सुविख्याते कांपिल्यनगरे वरे ।
राजा सिंहध्वजस्तस्य राज्ञी वप्रा गुणोज्वला ॥ २ ॥
तस्याः श्रीहरिषेणाख्यो-भवत्पुत्रो विचक्षणः ।
भटाग्रणीः सतां मान्यो दाता भोक्ता सुलक्षणः ॥ ३ ॥
सा वप्रा श्राविका श्रीम-ज्जिनपादाब्जषट्पदी ।
नन्दीश्वरमहापूजां कारयत्येव भक्तितः ॥ ४ ॥
तथा प्रभोर्द्वितीया च राज्ञी लक्ष्मीमती प्रिया ।
सैकदा भूपतिं प्राह कुदृष्टिः स्वमदोद्धता ॥ ५ ॥
भो प्रभो पत्तने पूर्वं मदीयो ब्रह्मणो रथः ।
भ्रमत्वद्य तदाकर्ण्य राज्ञा प्रोक्तं भवत्विति ॥ ६ ॥
तच्छ्रुत्वा सा सती वप्रा राज्ञी सद्धर्मवत्सला ।
पूर्वं मे रथयात्रायां जातायां दत्तसम्पदि ॥ ७ ॥
भोजनादौ प्रवृत्तिर्मे प्रतिज्ञामिति मानसे ।
करोति स्म सतां नित्यं शरणं धर्म एव हि ॥ ८ ॥
भोजनार्थं समागत्य हरिषेणः सुतोत्तमः ।
दृष्ट्वा तां मातरं पृष्ट्वा कारणं निर्गतो गृहात् ॥ ९ ॥
विद्युच्चौरस्य संप्राप्तः पल्लिकामतिनिर्भयः ।
तं विलोक्य शुकः प्राह दुष्टात्मा तस्करान्प्रति ॥ १० ॥

अहो राजसुतो याति युष्माभिर्द्धियते ध्रुवम् ।
दुष्टानां संगतिं प्राप्तः प्राणी वक्ति कुतो हितम् ॥ ११ ॥
ततो निर्गत्य वेगेन हरिषेणो विचक्षणः ।
संप्राप्तस्तापसस्याशु शतमन्योश्च पल्लिकाम् ॥ १२ ॥
तत्रापि तं समालोक्य शुकश्चान्यः शुभाशयः ।
यत्राकृतिर्गुणास्तत्र संवसन्ति स्वमानसे ॥ १३ ॥
इत्याकलय्य संप्राह राजपुत्रोयमद्भुतः ।
यात्युच्चैर्गौरवं यूयं शीघ्रं संकुरुतास्य भो ॥ १४ ॥
तच्छ्रुत्वा हरिषेणेन प्रोक्त्वा पूर्वकोदितम् ।
पृष्टः कीरो द्वितीयस्तु कथं भो गौरवं मम ॥ १५ ॥
भवान्कारयतीहोच्चै-स्तदाकर्ण्य शुको जगौ ।
श्रृणु त्वं राजपुत्राद्य वक्ष्येहं कारणं तव ॥ १६ ॥
माताप्येका पिताप्येको मम तस्य च पक्षिणः ।
अहं मुनीभिरानीतः स च नीतो गवाशनैः ॥ १७ ॥
गवाशनानां स गिरः श्रृणोति
अहं च राजन्मुनिपुङ्गवानाम् ।
प्रत्यक्षमेतद्भवता हि दृष्टं
संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति ॥ १८ ॥
अथासौ तापसः पूर्वं शतमन्युश्चवर्तते ।
चम्पायां भूपती राज्ञी नागवत्यभिधा सती ॥ १९॥
जनादिमेजयः पुत्रः पुत्री च मदनावली ।
तस्या निमित्तिकेनोक्त-श्चोदशः शर्मकारणम् ॥ २० ॥
षट्खण्डाधिपतेरेषा भावि स्त्रीरत्नमुत्तमम् ।
काले कल्पशते चापि नान्यथा ज्ञानिनो वचः ॥ २१ ॥

अथोड्रूविषये राजा कलादिकलनामकः ।
तमादेशं समाकर्ण्य याचयामास तां सतीम् ॥ २२ ॥
अलब्ध्वा च समागत्य महाकोपेन वेगतः ।
चम्पां वेष्टितवान्गाढं कामान्धः कुरुते न किम् ॥ २३ ॥
नित्यं युद्धे सति क्रूरे गृहीत्वा मदनावलीम् ।
सुरंगद्वारतो नाग-वती नष्ट्वा प्रवेगतः ॥ २४ ॥
पल्लिकायां समागत्य शतमन्योश्च वृत्तकम् ।
प्रोक्त्वा तत्र स्थिता याव-त्तावद्वक्ष्ये कथान्तरम् ॥ २५ ॥
पूर्वं च हरिषेणस्य तस्यां रागः प्रवर्तते ।
कन्यायां नितरां तस्मा-त्तापसैर्मुग्धमानसैः ॥ २६ ॥
निर्घाटितेन तेनोक्तं हरिषेणेन धीमता ।
यदीमां कन्यकां पूतां विवाहविधिना ध्रुवम् ॥ २७ ॥
अहं परिणयिष्यामि तदा सद्भक्तिपूर्वकम् ।
स्वदेशे कारयिष्यामि योजने योजने शुभान् ॥ २८ ॥
श्रीमज्जिनालयान्पूतान्पवित्रीकृतभूतलान् ।
स्वर्मोक्षगामिनां चित्ते जैनभक्तिर्निरन्तरम् ॥ २९ ॥
सिन्धुदेशेथ विख्याते नाम्ना सिन्धुतटे पुरे ।
राजा सिन्धुनदो राज्ञी सिन्धुमत्यभिधा तयोः ॥ ३० ॥
सिन्धुदेव्यादिपुत्रीणां शतं रूपगुणान्वितम् ।
नैमित्तिकेन चादिष्टं चाक्रिणस्तदपि ध्रुवम् ॥ ३१ ॥
सिन्धुनद्यां तथा सर्व-कन्यास्नानं निरूपितम् ।
सहैव हरिषेणेन रागोत्पत्तिश्च जल्पिता ॥ ३२ ॥

तत्रासौ हरिषेणश्च जित्वा देशमहागजम् ।
ताः कन्याः परिणीयोच्चै-श्चित्रशालां सुखस्थितः ॥ ३३ ॥
तदा वेगवतीनाम्ना विद्याधर्य्या निशि द्रुतम् ।
सुप्तो नीतस्ततस्तेन प्रोत्थितेन नभस्तले ॥ ३४ ॥
दृष्ट्वा तारावलीं कोपा-त्तां हन्तुं खेचरीं स्वयम् ।
बद्धामुष्टिस्तदा कृत्वा प्राञ्जलिं सापि संजगौ ॥ ३५ ॥
शृणु स्वामिन्खगाद्रौ हि सूर्योदरमहापुरे ।
राजा श्रीन्द्रधनुर्धीमान् राज्ञी बुद्धिमती तयोः ॥ ३६ ॥
सुपुत्री जयचन्द्राख्या पुरुषद्वेषकारिणी ।
आदेशश्चेति संजात-स्तस्याः कन्याशतप्रियः ॥ ३७ ॥
भावी प्राणप्रियस्तस्मान्मया ते रूपपट्टकम् ।
तस्याः संदर्शितं सापि त्वय्यासक्ता बभूव च ॥ ३८ ॥
तत्समीपं ततो देव नीयते त्वं सुपुण्यभाक् ।
इत्याकर्ण्य प्रहर्षेण प्राप्तोसौ खेचराचलम् ॥ ३९ ॥
तद्विवाहे परिप्राप्ते गंगाधरमहीधरौ ।
कन्यामैथुनिकौ युद्धं कर्त्तुकामौ समागतौ ॥ ४० ॥
तत्संग्रामे सुरत्नानि संनिधानानि सद्भटः ।
लब्ध्वा श्रीहरिषेणोसौ भूत्वा षट्खण्डनायकः ॥ ४१ ॥
मदनादिवलीं भूत्या परिणीय निजं गृहम् ।
गत्वा मनुस्तथा जैन-रथयात्रां विधाय च ॥ ४२ ॥
सुधीः संकारयामास श्रीमज्जैनालयांस्तथा ।
अहो पुण्यवतां पुंसां किं शुभं यन्न जायते ॥ ४३ ॥

स जयतु जिनदेवो देवदेवेन्द्रवन्द्यो
यदुदितवरधर्मे शर्मभागी जनः स्यात् ।
गुणगणमणिखानिः स्वर्गमोक्षप्रयोनिः
सकलभुवनचन्द्रः केवलज्ञानसान्द्रः ॥ ४४ ॥

इति कथाकोशे हरिषेणचक्रवर्त्तिन आख्यानं समाप्तम् ।

९९—परगुणग्रहणाख्यानम् ।

नमस्कृत्य जिनं देवं सुरासुरसमर्च्चितम् ।
वक्ष्येहं परजन्तूनां गुणग्रहणसत्कथाम् ॥ १ ॥
धर्मानुरागतः स्वर्गे सौधर्मेण च धीमता ।
प्रोक्तं स्वस्य सभामध्ये कुर्वता गुणिनां कथाम् ॥ २ ॥
यस्त्यक्त्वा पर दोषौघान्स्वल्पं चान्यगुणं मुदा ।
सुधीर्विस्तारयत्युच्चै-रुत्तमः स जगत्त्रये ॥ ३ ॥
तत्समाकर्ण्य चैकेन पृष्टः स तु सुधाशिना ।
किं कोपि विद्यते देव तथाभूतस्तु भूतले ॥ ४ ॥
सौधर्मेन्द्रस्ततः प्राह द्वारावत्यां गुणोज्वलः ।
वासुदेवोन्तिमोप्यस्ति कृष्णनामा महाप्रभुः ॥ ५ ॥
ततः स वेगतो देवः समागत्य महीतलम् ।
श्रीमन्नेमिजिनाधीश-वन्दनार्थं प्रगच्छतः ॥ ६ ॥
तस्य त्रिखण्डभूपस्य परीक्षार्थं स्वमायया ।
मार्गे दुर्गन्धताक्रान्तं मृतकुक्कुररूपकम् ॥ ७ ॥

धृत्वा स्थितस्तदङ्गोत्थ-महादुर्गन्धतो द्रुतम् ।
सर्वसेनाजनो नष्टस्तदा सोपि सुरः पुनः ॥ ८ ॥
द्वितीयविप्ररूपेण समागत्य प्रपञ्चतः ।
वासुदेवाग्रतश्चक्रे कुक्कुरस्थप्रदूषणम् ॥ ९ ॥
तदा श्रीवासुदेवेन प्रोक्तं भो कुक्कुराननेः ।
कीदृशी स्फटिकाकारा दृश्यते दन्तसन्ततिः ॥ १० ॥
तच्छ्रुत्वा मानसे तुष्टो भूत्वासौ प्रकटः सुरः ।
प्रोक्त्वा सर्वं तमभ्यर्च्य त्रिखंण्डेशं दिवं गतः ॥ ११ ॥

एवं सुभव्यैर्जिनभक्तियुक्तै—
स्त्यक्त्वात्र दोषान्परलोकजातान् ।
नित्यं तु साधुप्रगुणो हि भक्त्या
ग्राह्यो गुणज्ञैर्वरशर्मसिद्ध्यै ॥ १२ ॥

इति कथाकोशे परगुणग्रहणाख्यानं समाप्तम् ।

१००—दुर्लभमानवपर्यायदृष्टान्ताः ।

विशुद्धं केवलज्ञानं नत्वा श्रीमज्जिनेश्वरम् ।
दृष्टान्तैर्दशभिर्वच्मि मनुष्यत्वं सुदुर्लभम् ॥ १ ॥

यथा—

चोल्लय पासय धण्णं जूवा रदणाणि सुमिण चक्कं वा ।
कुम्मं जुग परमाणु दस दिट्ठंता मणुयलंभे ॥

पूर्वं चोल्लकदृष्टान्तं शृण्वन्तु सुधियो जनाः ।
श्रीमन्नेमिजिनाधीशे मुक्तिप्राप्ते जगद्धिते ॥ २ ॥

विनीतविषयेऽयोध्यां नगर्यां ब्रह्मदत्तवाक् ।
षट्खण्डाधिपतिर्जातश्चक्रिणामन्तिमो महान् ॥ ३ ॥
सहस्रभटनामाभू-त्तत्सामन्तो गुणोज्वलः ।
तस्य कान्ता सुमित्राख्या वसुदेवस्तयोः सुतः ॥ ४ ॥
मृते तस्मिन्सहस्रादि-भटे सामन्तके ततः ।
वसुदेवः सुतः सोपि मूर्खः सेवादिकर्मसु ॥ ५ ॥
प्राप्तो नैव पितुः स्थानं निधानं भूरिसम्पदाम् ।
विना सेवादिभिः कस्मात्प्राप्यते राजमानिता ॥ ६ ॥
तदा सुमित्रया सोपि स्थित्वा जीर्णे कुटीरके ।
जनन्या पोषितो यत्ना-द्वसुदेवो निजाशया ॥ ७ ॥
कट्यां बध्वा शुभं भारं ताम्बूलादिकमोदकम् ।
शीघ्रं च गमनेनोच्चैः स श्रमं कारितस्तया ॥ ८ ॥
इत्यसौ शिक्षतस्तस्य चक्रेशस्य कुलेशिनः ।
अङ्गरक्षणसेवायां संस्थितो नवयौवनः ॥ ९ ॥
एकदा चक्रवर्त्ती च महाटव्यां प्रवेगतः ।
दुष्टाश्वेन समानीतः क्षुत्पिपासादिपीडितः ॥ १० ॥
तत्रासौ वसुदेवेन तेन संशीघ्रगामिना ।
दत्वा भक्ष्यादिकं वस्तु चक्रवर्ती सुखीकृतः ॥ ११ ॥
प्रस्तावे स्तोकमप्युच्चै-र्दत्तं शर्मप्रदं भवेत् ।
क्षीयमाने यथा दीपे तैलं संवर्द्धते शिखा ॥ १२ ॥
ततो हृष्टेन तैनेव कस्त्वं पृष्टो जगौ च सः ।
सहस्रभटपुत्रोहं तत्समाकर्ण्य चक्रिणा ॥ १३ ॥

तस्मै व्याघुटितो दत्वा स्वकीयं रत्नकंकणम् ।
अयोध्यायां समागत्य भणितस्तलरक्षकः ॥ १४ ॥
मदीयं कंकणं नष्टं त्वं गवेषय वेगतः ।
तच्छ्रुत्वा कोट्टपालश्च द्रुतं शालास्थितं तदा ॥ १५ ॥
कंकणस्य मुदा वार्त्तां प्रकुर्वन्तं विलोक्य तम् ।
वसुदेवं समानीय दर्शयामास चक्रिणः ॥ १६ ॥
तं दृष्ट्वा चक्रभृत्प्राह याचय त्वं स्ववाञ्छितम् ।
तेनोक्तं देव जानाति माता मे च ततो गृहम् ॥ १७ ॥
गत्वा तां मातरं पृष्ट्वा सुमित्रां गुणशालिनीम् ।
पुनश्चागत्य भूपालो वसुदेवेन याचितः ॥ १८ ॥
दीयते भो महीनाथ युष्माभिः सुविचक्षणैः ।
प्रमोदजनकं चारु मह्यं चोल्लकभोजनम् ॥ १९ ॥
ब्रह्मदत्तो नृपः प्राह कीदृशं तच्च भोजनम् ।
तच्छ्रुत्वा वसुदेवोपि जगाद शृणु भूपते ॥ २० ॥
पूर्वं भवद्गृहे देव प्रोल्लसद्गौरवेण च ।
स्नानभोजनसद्भूषा-मनोवाञ्छितसद्धनम् ॥ २१ ॥
लब्ध्वा पश्चात्तवप्राण-वल्लभान्तःपुरे तथा ।
महामुकुटबद्धादि-परिवारगृहेषु च ॥ २२ ॥
क्रमादेवं परिप्राप्य पुनस्तेन क्रमेण वै ।
सर्वं सम्प्राप्यते भूप मया श्रीमत्सुवाक्यतः ॥ २३ ॥
तदाश्चर्यं न भो भव्याः कदाचित्प्राप्यतेखिलम् ।
मनुष्यत्वं पुनर्नष्टं प्राप्यते नैव भूतले ॥ २४ ॥

संज्ञात्वेति बुधैस्त्यक्त्वा दुर्मार्गे दुःखकारणम् ।
श्रीमज्जिनेन्द्रसद्भक्ति-र्विधेया शर्मकारणम् ॥ २५ ॥

१-इति चोल्लकदृष्टान्तः ।

अथ पाशक दृष्टान्तः कथ्यते मगधाभिधे ।
देशे पुरे शतद्वारे शतद्वाराख्यभूपतिः ॥ २६ ॥
तेन द्वारशतं राज्ञा कारितं स्वपुरे परे ।
एकादश सहस्राणि स्तंभानां द्वारकं प्रति ॥ २७ ॥
स्तंभे स्तंभे श्रयः प्रोक्तास्तथा षण्णवतिर्बुधैः ।
एकैकस्यां तथा श्र्यां च द्यूतकारकदम्बकाः ॥ २८ ॥
पाशकाभ्यां च ते सर्वे रमन्ते द्यूतकारकाः ।
एकदा शिवशर्माख्य-ब्राह्मणेन प्रयाचिताः ॥ २९ ॥
सर्वत्रैको यदा दावः पतत्येव तदा ध्रुवम् ।
जितं द्रव्यं प्रदातव्यं युष्माभिर्मह्यमित्यलम् ॥ ३० ॥
एवमस्त्विति तैः प्रोक्ते तस्मिन्नेव दिने तदा ।
एकदा यश्च सर्वत्र संपपात विधेर्वशात् ॥ ३१ ॥
तत्सर्वं विप्रकः सोपि मुदा द्रव्यं गृहीतवान् ।
पुनः सोपि तथा द्रव्यं सर्वं प्राप्नोति कर्मतः ॥ ३२ ॥
नैव शीघ्रं मनुष्यत्वं नष्टं सम्प्राप्यते क्षितौ ।
ज्ञात्वा चित्ते कथाभावं सद्भिः कार्या शुभे मतिः ॥ ३३ ॥
तत्र पुण्यं जिनेन्द्राणां भक्त्या पादद्वयार्चनैः ।
पात्रदानैः व्रतैः शीलैः सोपवासैर्मतं बुधैः ॥ ३४ ॥

२-इति पाशकदृष्टान्तः ।

धान्यदृष्टान्तकं वक्ष्ये संक्षेपेण सतां हितम् ।
जम्बूद्वीपप्रमाणं च योजनैकं सहस्रतः ॥ ३५ ॥
गंभीरा सर्षपैर्गर्त्ता पूरिता सा दिने दिने ।
एकैकसर्षपेणोच्चैः क्षीयते कालयोगतः ॥ ३६ ॥
नष्टं नैव मनुष्यत्वं प्राप्यते चाल्पपुण्यकैः ।
तस्मात्पुण्यं जिनेन्द्रोक्तं संश्रयन्तु बुधोत्तमाः ॥ ३८ ॥
तथान्यो धान्यदृष्टान्तो विनीतविषये शुभे ।
अयोध्यापत्तने राजा प्रजापालभिधानभाक् ॥ ३८ ॥
राजगेहात्तथा शत्रु-र्जितशत्रुर्महीपतिः ।
अयोध्यापुरमुद्दिश्य गृहीतुं संचचाल च ॥ ३९ ॥
तत्समाकर्ण्य भूपालः प्रजापालः प्रजां प्रतिः ।
जगौ सर्वजनैः सर्व-धान्यमेकत्र मिश्रितम् ॥ ४० ॥
संख्यां कृत्वा समानीय कोष्ठागारे मम द्रुतम् ।
रक्षणीयं प्रयत्नेन तैर्जनैस्तु तथा कृतम् ॥ ४१ ॥
ततस्तस्मिन्समागत्य जितशत्रौ मदोद्धते ।
असमर्थत्वमासाद्य पश्चाद्ल्याघुटिते सति ॥ ४२ ॥
प्रजालोकैर्निजं धान्यं याचितः स महीपतिः ।
प्रजापालस्ततः प्राह परिज्ञाय निजं निजम् ॥ ४३ ॥
युष्माभिर्गृह्यते धान्यं राजानो विकटाशया ।
कचित्तत्संभवत्येव केनोपायेन पुण्यतः ॥ ४४ ॥
न नष्टं प्राप्यते शीघ्रं मनुष्यत्वं सुदुर्लभम् ।
मत्वेति परमप्रीत्या सन्तः कुर्वन्तु सच्छुभम् ॥ ४५ ॥

१-इति धान्यदृष्टान्तः

द्यूतदृष्टान्तमावच्मि शतद्वारपुरे तथा ।
द्वाराः पञ्चशतान्येव द्वारे द्वारे मनोहरे ॥ ४६ ॥
शालाः पञ्चशतान्युच्चैः शालां शालां प्रति ध्रुवम् ।
द्यूतकारसहस्रार्द्धं संम्प्रोक्त सुविचक्षणैः ॥ ४७ ॥
एकस्तत्र चयीनामा द्यूतकारः प्रवर्तते ।
द्यूतकाराश्च ते सर्वे जित्वा सर्वकपर्दकान् ॥ ४८ ॥
गताः सर्वदिशास्वाशु स्वेच्छया स चयी पुनः ।
तेषां च द्यूतकाराणां कदाचित्कर्मयोगतः ॥ ४९ ॥
मेलापकं करोत्येव न पुनर्नष्टतामितम् ।
प्राप्यते सुमनुष्यत्वं जन्तुभिस्तुच्छपुण्यकैः ॥ ५० ॥
अन्यस्मिन्द्यूतदृष्टान्ते तस्मिन्नेव पुरेभवत् ।
नाम्ना निर्लक्षणो द्यूत-कारः स्वप्नेपि पापतः ॥ ५१ ॥
संप्राप्नोति जयं नैव कदाचिच्छुभयोगतः ।
जित्वा कपर्दकान्सर्वान्ददौ कार्पटिकादिषु ॥ ५२ ॥
ते सर्वे तान्समादाय प्राप्ताः सर्वदिशासुखम् ।
कदाचित्कर्मयोगेन सर्वे कार्पटिकादयः ॥ ५३ ॥
भवन्त्येकत्र नैवात्र नृत्वं सम्प्राप्यते गतम् ।
कर्तव्या च ततो भव्यै-र्धर्मसेवा शुभश्रिये ॥ ५४ ॥

४–इति द्यूतदृष्टान्तः ।

रत्नदृष्टान्तमावच्मि सतां सम्बोधहेतवे ।
श्रीमद्भरतचक्रेशो द्वितीयः सगरो महान् ॥ ५५ ॥

तृतीयो मघवा चक्री तुर्यः सनत्कुमारवाक् ।
शान्तिनाथस्तथा कुन्थु-ररश्चक्री च सप्तमः ॥ ५६ ॥
सुभौमाख्यो महापद्मो हरिषेणो गुणोज्वलः ।
चक्री श्रीजयसेनाख्यो ब्रह्मदत्तोन्तिमो मतः ॥ ५७ ॥
एतेषां चक्रिणां चारु-चूडामणिसमूहकः ।
देवैः सर्वो गृहीतस्तु यथा ते चक्रवर्त्तिनः ॥ ५८ ॥
प्रोल्लसन्मणयस्तेपि पृथ्वीकायाश्च ते क्षितौ ।
तेपि देवा कदाप्यत्र मिलन्त्येकत्र नैव च ॥ ५९ ॥
तथा नष्टं मनुष्यत्वं विपुण्यैः प्राप्यते न हि ।
संविचार्य बुधैस्तस्माद्विधेयो जैनसद्वृषः ॥ ६० ॥

५-इति रत्नदृष्टान्तः ।

तथा स्वप्नप्रदृष्टान्तो-वन्तिदेशे मनोहरे ।
उज्जयिन्यां महापुर्यां हल्लाख्यः काचवाहकः ॥ ६१ ॥
तदा काष्ठान्यटव्यास्तु समानयाति सोन्यदा ।
उद्याने काष्ठभारं च धृत्वा भूरिश्रमाश्रितः ॥ ६२ ॥
सुप्तः स्वप्नेऽभवत्सर्व-भूमिचक्राधिपो महान् ।
भार्ययोत्थापितः पश्चा-द्वाहति स्म स्वभारकम् ॥ ६३ ॥
यथा स्वप्नोत्थितः सोपि नैव चक्री कदाचन ।
तथा नष्टं मनुष्यत्वं प्राप्यते न विपुण्यकैः ॥ ६४ ॥

६-इति स्वप्नदृष्टान्तः ।

वक्ष्येहं चक्रदृष्टान्तं स्तंभा द्वाविंशति दृढाः ।
स्तंभे स्तंभेभवच्चक्रं चक्रे चक्रे बुधैर्मतम् ॥ ६५ ॥

आराणां च सहस्रं स्या-दारे चारे प्ररन्ध्रकम् ।
चक्राणां विपरीतत्वा-त्क्रमणे सुभटैस्तदा ॥ ६६ ॥
स्तंभानामुपरिस्था च राधा संविध्यते शुभात् ।
काकंदीपत्तने राजा-भवद्रुपदनामकः ॥ ६७ ॥
तत्पुत्रीं द्रौपदीनाम्नीं रूपसौभाग्यशालिनीम् ।
अर्जुनेन महीभर्त्रा स्वयंवरविधौ मुदा ॥ ६८ ॥
राधावेधं विधायोच्चै-र्गृहीता द्रौपदी सती ।
पुण्योदयेन जन्तूनां किं न स्याच्छर्मनिर्मलम् ॥ ६९ ॥
तदुच्चैर्घटते सर्वं नैव नष्टा नृजन्मता ।
विना प्रन्यक्तपुण्येन तस्मात्तत्क्रियते बुधैः ॥ ७० ॥

७-इति चक्रदृष्टान्तः ।

कूर्मदृष्टान्तकं प्राहुर्भव्यानां पूर्वसूरयः ।
स्वयंभूरमणे ख्याते समुद्रे सुमहत्यपि ॥ ७१ ॥
छादिते चर्मणा तस्मिन्कूर्मो जन्तुर्महानभूत् ।
परिभ्रमञ्जले तत्र सोपि वर्षसहस्रकम् ॥ ७२ ॥
सूक्ष्मचर्मप्ररन्ध्रेण सूर्यं दृष्ट्वा कदाचन ।
पश्चादागत्य तं सूर्यं तस्मिन्नैव प्ररन्ध्रके ॥ ७३ ॥
दर्शयन्स्वकुटुम्बस्य स्वयं पश्यति भास्करम् ।
प्राप्यते न मनुष्यत्वं यत्प्रमादेन हारितम् ॥ ७४ ॥

८-इति कूर्मदृष्टान्तः ।

शृण्वन्तु युगदृष्टान्तं सज्जनाश्चारुचेतसः ।
प्रमाणं योजनानां हि लक्षद्वयसमायते ॥ ७५ ॥

पूर्वक्षारसमुद्रे च युगच्छिद्राद्विनिर्गता ।
कदाचित्समिला तत्र पतिता काष्ठनिर्मिता ॥ ७६ ॥
तथा पश्चिमवारांशौ युगं भ्रमति नित्यशः ।
तस्मिन्नेव युगच्छिद्रे कथंचित्कालयोगतः ॥ ७७ ॥
याति सा समिला चापि नैव नष्टं नृजन्म वै ।
प्राप्यते वेगतो भव्या-स्ततः कुर्वन्तु सच्छुभम् ॥ ७८ ॥

९–इति युगदृष्टान्तः ।

परमाणुप्रदृष्टान्तः कथ्यते दशमो मया ।
सर्वं चक्रेशिनां दण्ड-रत्नं हस्तचतुष्टयम् ॥ ७९ ॥
काले तस्य प्रदण्डस्य सर्वत्र परमाणवः ।
रूपान्तरं परिप्राप्य कदाचिच्च पुनस्तथा ॥ ८० ॥
दण्डरत्नत्वमायान्ति नृत्वं न प्राप्यते गतम् ।
ज्ञात्वेति पण्डितैः कार्यं शर्मकोटि प्रदं शुभम् ॥ ८१ ॥

१०–इति परमाणुदृष्टान्तः ।

भयशतैरिह दुर्लभतामितं
परमसार नृजन्म जगद्धितम् ।
बुधजनाः सुविचार्य शुभश्रिये
जिनवृषं प्रभजन्तु जगद्धितम् ॥ ८२ ॥

इति कथाकोशे मनुष्यभवदुर्लभत्ववर्णने दश दृष्टान्ताः समाप्ताः ।

१०१-भावानुरागरक्ताख्यानम् ।

जिनपादद्वयं नत्वा सर्वसौख्यप्रदायकम् ।
भावानुरागरक्तस्य प्रवक्ष्येहं कथानकम् ॥ १ ॥
अवंतिविषये चारू-ज्जयिन्यां भूपतिर्महान् ।
धर्मपालः प्रिया तस्य धर्मश्रीर्धर्मवत्सला ॥ २ ॥
श्रेष्ठी सागरदत्ताख्यः सुभद्रा श्रेष्ठिनी तयोः ।
नागदत्तोभवत्पुत्रो जिनपादाब्जषट्पदः ॥ ३ ॥
तथा समुद्रदत्तस्य श्रेष्ठिनो रूपमण्डिता ।
पुत्री समुद्रदत्तायां प्रियंगुश्रीर्बभूव हि ॥ ४ ॥
तेन श्रीनागदत्तेन सा सती सुमहोत्सवैः ।
दानपूजाकुलाचारैः परिणीता गुणोज्वला ॥ ५ ॥
तस्या मैथुनिकः कोपि नागसेनो दुराशयः ।
तदा वैरं वहंश्चित्ते संस्थितः स्वगृहे कुधीः ॥ ६ ॥
एकदोपोषितः स श्री-नागदत्तो विचक्षणः ।
धर्मानुरागसंयुक्तः श्रीमज्जैनालये मुदा ॥ ७ ॥
कायोत्सर्गे स्थितो धीमांस्तं विलोक्य कुचेतसा ।
नागसेनेन हारं स्वं धृत्वा तत्पादयोस्तले ॥ ८ ॥
अयं चौरो भवेदित्थं पूत्कारः पापिना कृतः ।
दुष्टात्मा निन्दितं कर्म किं करोति न कोपतः ॥ ९ ॥
तत्समाकर्ण्य दृष्ट्वा च तलारेण प्रवेगतः ।
राज्ञः प्रोक्तं क्रुधा तेन मार्यतामिति जल्पितम् ॥ १० ॥
नीतोसौ मारणार्थं च नागदत्तस्तलारकैः ।
यः खड्गस्तद्गले मुक्त-स्तदा तत्पुण्ययोगतः ॥ ११ ॥

संजातः प्रोल्लसत्कान्ति-र्हारो वा द्युमणिद्युतिः ।
देववृन्दैर्नभोभागात्पुष्पवृष्टिः कृता स्तुतिः ॥ १२ ॥
अहो धर्मानुरागेण साधूनां साधुकारिताम् ।
के के भव्या न कुर्वन्ति यत्र सद्दृष्टयो भुवि ॥ १३ ॥
तद्दर्शनान्महास्फीतौ जैनधर्मस्थशर्मिणः ।
धर्मपालमहीनाथ-नागदत्तौ सुभक्तितः ॥ १४ ॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं मुनी जातौ विचक्षणौ ।
अन्ये चापि महाभव्या जैनधर्मे रतास्तराम् ॥ १५ ॥
सकलभुवनभव्यैः सेवितः श्रीजिनेन्द्र –
स्तदुदितवरधर्मो निर्मलः शर्महेतुः ।
विशदतरसुखश्रीः प्राप्यते यत्प्रसादा–
त्स भवतु मम शान्त्यै कर्मणां शान्तिकर्ता ॥ १६ ॥

इति कथाकोशे भावानुरागरक्ताख्यानं समाप्तम् ।

१०२–प्रेमानुरागरक्ताख्यानम् ।

संप्रणम्य जिनाधीशं प्रोल्लसद्धर्मनायकम् ।
प्रेमानुरागरक्तस्य रचयामि कथानकम् ॥१ ॥
विनीतविषये रम्ये साकेतापत्तनेभवत् ।
राजा सुवर्णवर्माख्यः सुवर्णश्रीप्रियाप्रियः ॥ २ ॥
श्रेष्ठी सुमित्रनामा च सम्पदासारसंभृतः ।
प्रेमानुरागरक्तोसौ जैनधर्मे विचक्षणः ॥ ३ ॥

एकदा पूर्वरात्रौ च स्वगृहे शुद्धमानसः ।
कायोत्सर्गेण मेरुर्वा संस्थितो निश्चलस्तराम् ॥ ४ ॥
देवेनैकेन चागत्य भार्यावित्तादिकं तदा ।
हृत्वा परीक्षितः सोपि चलितो न स्वयोगतः ॥ ५ ॥
ततो देवः समालोक्य स्थिरत्वं श्रेष्ठिनो महत् ।
कृत्वा तस्य सुमित्रस्य स्तुतिं शर्मशतंप्रदाम् ॥ ६ ॥
स्वयं च प्रकटीभूय विद्यां गगनगामिनीम् ।
दत्त्वासौ शांकरीं भक्त्या स्वर्गलोकं ययौ मुदा ॥ ७ ॥
तं प्रभावं विलोक्योच्चैः सर्वे भव्यजनास्तदा ।
श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्मे संजाता भक्तिनिर्भराः ॥ ८ ॥
केचिच्च मुनयः केचि-च्छ्रावकव्रतमण्डिताः ।
केचित्सम्यक्त्वरत्नेन राजिता धर्मवत्सलाः ॥ ९ ॥
जिनपतेः पदपद्मयुगं मुदा
परमसौख्यकरं भवतारणम् ।
यजनसंस्तवनैर्जपनादिकै—
रिह भजन्तु ततः सुजनाः श्रिये ॥ १० ॥

इति कथाकोशे प्रेमानुरागरक्ताख्यानं समाप्तम् ।

१०३—मज्जनरागाख्यानम् ।

सर्वदेवेन्द्रनागेन्द्र-समर्चितपदद्वयम् ।
नत्वा जिनं प्रवक्ष्येहं वृत्तमज्जनरागजम् ॥ १ ॥

उज्जयिन्यां महीनाथः सुधीः सागरदत्तवाक् ।
जिनदत्तवसुमित्रौ सार्थवाहौ गुणोज्वलौ ॥ २ ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्मे महामज्जनरागिणौ ।
दानपूजाव्रताद्यैश्च मण्डितौ श्रावकोत्तमौ ॥ ३ ॥
उत्तरापथमुद्दिश्य वाणिज्यार्थं विनिर्गतौ ।
अवसीरमहाभूध्र-मालादिवरभूध्रयोः ॥ ४ ॥
मध्येटव्यां गृहीते च सर्वसार्थे कुतस्करैः ।
ततोटवीं प्रविष्टौ तौ दिग्विमूढौ बभूवतुः ॥ ५ ॥
अपश्यन्तौ नरं कंचि-चारुमार्गोपदेशकम् ।
मज्जनरागरक्तौ द्वौ जैनधर्मे विचक्षणौ ॥ ६ ॥
संन्यासेन स्थितौ जैनं स्मरन्तौ चरणद्वयम् ।
अहो भव्या भवन्त्युच्चैः सौख्ये दुःखे च सद्धियः ॥ ७ ॥
तथान्यः सोमशर्माख्यो ब्राह्मणः कोपि तद्वने ।
दिग्विमूढो भ्रमन्कष्टं तयोः पार्श्वे समागतः ॥ ८ ॥
देवोर्हन्दोषनिर्मुक्तः केवलज्ञानलोचनः ।
तत्प्रणीतो भवेद्धर्मो दशलाक्षणिकः सुधीः ॥ ९ ॥
गुरुर्मायादिदुर्गन्ध-वर्जितः शीलसंयुतः ।
ज्ञानध्यानतपोलक्ष्म्या मण्डितो भवतारकः ॥ १० ॥
जीवोप्यनादिसंसिद्धो भव्याभव्यप्रभेदभाक् ।
कर्माश्रितस्तु संसारी तन्मुक्तो मुक्तिनायकः ॥ ११ ॥
इत्यादिधर्मसद्भावं श्रुत्वा पार्श्वे तयोर्द्विजः ।
त्यक्त्वा मिथ्यात्वदुर्मार्गं श्रित्वा श्रीजैनशासनम् ॥ १२ ॥

संन्यासेन सुधीः सोपि स्थित्वा चित्ते जिनं स्मरन् ।
इन्द्रनागेन्द्रचन्द्राद्यै-र्भक्त्या नित्यं समर्चितम् ॥ १३ ॥
जित्वोपसर्गकं भूरि कीटकाद्यैर्विनिर्मितम् ।
भूत्वा महर्द्धिको देवः कल्पे सौधर्मसंज्ञके ॥ १४ ॥
अत्र श्रीश्रेणिकस्योच्चै-र्भूपतेस्तनुजोभवत् ।
अभयाख्यो महाधीरो मुक्तिगामी जगद्धितः ॥ १५ ॥
जिनदत्तवसुमित्रौ मृत्वा तौ द्वौ समाधिना ।
देवौ तत्रैव सौधर्मे संजातौ सुमहर्द्धिकौ ॥ १६ ॥
यद्धर्मं त्रिजगद्धितं शुभकरं श्रित्वा सुकष्टेप्यलं
भव्या भूरि सुखं प्रकष्टविमुखं संप्राप्नुवन्ति स्वयम् ।
स श्रीमान्सुसुरेन्द्रचक्रिखचराधीशैः सदाभ्यर्चितं
दद्यान्मे भवतां च निर्मलसुखं सत्केवली श्रीजिनः ॥ १७ ॥

इति कथाकोशे मज्जनरागरक्ताख्यानं समाप्तम् ।

१०४—धर्मानुरागाख्यानम् ।

विशुद्धकेवलज्ञान-लोकालोकप्रकाशकम् ।
नमस्कृत्य जिनं वच्मि कथां धर्मानुरागजाम् ॥ १ ॥
अवन्तिविषये ख्याते प्रोज्जयिन्यां महापुरि ।
राजाभूद्धनवर्माख्यो धनश्रीकामिनीपतिः ॥ २ ॥
तयोः पुत्रः समुत्पन्नो लकुचो भूरिगर्ववान् ।
शत्रुसन्दोहमानाग्नि-शमनैकघनाघनः ॥ ३ ॥

एकदा कालमेघाख्य-म्लेच्छराजेन पीडिते ।
तद्देशेसौ कुमारश्च लकुचो बहुकोपतः ॥ ४ ॥
गत्वा स्वयं रणे धृत्वा तं रिपुं कालमेघकम् ।
समानीय द्रुतं दत्वा स्वपित्रे धनवर्मणे ॥ ५ ॥
कामचारं वरं प्राप्य ततः स्वपुरयोषिताम् ।
शीलभंगं चकारोच्चैः कामिनां सुमतिः कुतः ॥ ६ ॥
श्रेष्ठिनः पुंगलस्यापि नागधर्मास्ति कामिनी ।
भूरिरूपश्रिया युक्ता तस्यामासक्तकोभवत् ॥ ७ ॥
पुंगलोपि तदा श्रेष्ठी प्रज्वलन्कोपवह्निना ।
तं हन्तुमसमर्थः सन्तिष्ठते स्वगृहे ततः ॥ ८ ॥
उद्याने क्रीडितुं गत्वा कदाचिल्लकुचो मुदा ।
पूर्वपुण्यप्रयोगेन दृष्ट्वा तत्र मुनीश्वरम् ॥ ९ ॥
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं शीघ्रं वैराग्यमाश्रितः ।
पुंगलेन तदा ज्ञात्वा गत्वा तत्र प्रकोपतः ॥ १० ॥
वैराल्लोहशलाकाभिः सन्धिस्थानेषु कीलितम् ।
तच्छरीरं तदा सोपि जैनधर्मानुरागभाक् ॥ ११ ॥
जित्वोपसर्गकं स्वामी परलोकं गतो ध्रुवम् ।
विचित्रं भव्यजीवानां चारित्रं भुवनोत्तमम् ॥ १२ ॥
स जयतु मुनिनाथो भूरिकष्टं सुजित्वा
सपदि लकुचनामा प्राप्तवाञ्छर्मसारम् ।
गुणगणमणिरुद्रो बोधसिन्धुः प्रसान्द्रो
जिनपतिहिमरश्मिः प्रोल्लसद्रश्मियोगात् ॥ १३ ॥

इति कथाकोशे धर्मानुरागरक्ताख्यानं समाप्तम् ।

१०५—दर्शनाऽपतिताख्यानम् ।

संप्रणम्य जिनाधीशं सर्वदोषविवर्जितम् ।
दर्शनाच्चयवनाख्यानं प्रवक्ष्ये जगदर्शितम् ॥ १ ॥
पाटलीपुत्रसन्नाम्नि पत्तने सुचिरन्तने ।
जिनदत्तोभवच्छ्रेष्ठी परमेष्ठिपदे रतः ॥ २ ॥
तद्भार्या जिनदासी च तयोः पुत्रो गुणोज्वलः ।
जिनदासो विशुद्धात्मा जिनभक्तिसुतत्परः ॥ ३ ॥
एकदा जिनदासोसौ सुवर्णद्वीपतो महान् ।
सद्धनं समुपार्ज्योच्चै-रागच्छति यदाम्बुधौ ॥ ४ ॥
शतयोजनविस्तार-यानपात्रस्थितेन च ।
दुष्टचित्तेन कालाख्य-देवेनेत्थं प्रजाल्पितम् ॥ ५ ॥
जिनदास त्वया शीघ्रं कथ्यते चेदिदं वचः ।
नास्ति देवो जिनश्चापि नैव जैनं मतं भुवि ॥ ६ ॥
त्वं मया मुच्यते शीघ्रं मार्यते नान्यथा ध्रुवम् ।
तत्समाकर्ण्य तैः सर्वै-र्जिनदासादिभिर्द्रुतम् ॥ ७ ॥
मस्तकन्यस्तसद्धस्तै-र्वर्द्धमानजिनेश्वरम् ।
नमस्कृत्य महाभक्त्या संप्रोक्तं रे दुराशय ॥ ८ ॥
अस्ति श्रीमज्जिनाधीशः केवलज्ञानभास्करः ।
सर्वोत्तमं मतं तस्य वर्द्धते भुवनार्चितम् ॥ ९ ॥
तथा श्रीजिनदासोसौ सर्वेषामग्रतस्तदा ।
ब्रह्मदत्तेशिनः पञ्च-नमस्कारकथां जगौ ॥ १० ॥
तदोत्तरकुरुस्थेन निजासनसुकम्पनात् ।
अनावृत्ताख्ययक्षेण समागत्य प्रवेगतः ॥ ११ ॥

कोपाच्चक्रेण पापात्मा ताडितो मुकुटे कुधीः ।
कालदेवः कुदेवोसौ पातितो वडवानले ॥ १२ ॥
लक्ष्मीदेव्या तदागत्य सर्वे ते जैनधर्मिणः ।
अर्घ्रं दत्वा महाभक्त्या पूजिताः परमादरात् ॥ १३ ॥
ये भव्याः सारसम्यक्त्वं पालयन्ति विचक्षणाः ।
तेषां पादार्चनं भक्त्या के न कुर्वन्ति भूतले ॥ १४ ॥
ततस्ते जिनदासाद्या जिनभक्तिपरायणाः ।
समागत्य निजं गेहं संस्थिताः पुण्ययोगतः ॥ १५ ॥
जिनदासेन पृष्टश्च सावधिज्ञानलोचनः ।
मुनिः प्राह विशुद्धात्मा सर्वं तद्वैरकारणम् ॥ १६ ॥
त्रिभुवनैकहितं शिवकारणं
शुचितरं प्रभजन्तु सुदर्शनम् ।
परमसौख्यकृते सुबुधोत्तमः
किमिह चान्यमहाश्रमकारणैः ॥ १७ ॥

इति कथाकोशे दर्शनाऽपतिताख्यानं समाप्तम् ।

१०६—अत्यक्तसम्यक्त्वाख्यानम् ।

नमस्कृत्य जिनं देवं देवदेवेन्द्रवन्दितम् ।
सम्यक्त्वामुक्तकाख्यानं द्वितीयं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
लाटदेशे सुविख्याते गल्गोद्रहपत्तने ।
श्रेष्ठी श्रीजिनदत्तोभू-ज्जिनदत्तास्य कामिनी ॥ २ ॥

तयोर्जिनमतिः पुत्री रूपसौभाग्यशालिनी ।
संजाता पूर्वपुण्येन भवेद्रूपादिसम्पदा ॥ ३ ॥
द्वितीयस्तु तथा श्रेष्ठी नागदत्तो विधर्मकः ।
नागदत्ताभवत्कान्ता रुद्रदत्तः सुतस्तयोः ॥ ४ ॥
याचिता नागदत्तेन रुद्रदत्ताय सा सती ।
न दत्ता जिनदत्तेन तस्मै मिथ्यादृशे सुता ॥ ५ ॥
ततस्तौ नागदत्ताख्य-रुद्रदतौ प्रपञ्चतः ।
मुनेः समाधिगुप्तस्य पार्श्वे भूत्वान्हिकौ तदा ॥ ६ ॥
परिणीय लसद्रूपां जिनमत्यभिधां च ताम् ।
पुनर्माहेश्वरौ जातौ दुर्दृशां सुमतिः कुतः ॥ ७ ॥
रुद्रदत्तस्ततो वक्ति भो प्रिये त्वमपि द्रुतम् ।
धर्मं माहेश्वरं सारं मदीयं च गृहाण वै ॥ ८ ॥
जिनेन्द्रचरणाम्भोज-षट्पदी वदति प्रिया ।
जिनमत्यभिधा सापि न युक्तं त्रिजगद्धितम् ॥ ९ ॥
त्यक्तुं मे जैनसद्धर्मं सुरेन्द्राद्यैः समर्चितम् ।
तं शर्मदं गृहाण त्वं त्यक्त्वा मिथ्यामतं प्रभो ॥ १० ॥
स्वस्वधर्मप्रवादेन तयोर्नित्यं प्रवर्त्तते ।
कलहस्तु गृहे युक्तं कुतः सौख्यं विधर्मतः ॥ ११ ॥
धर्मं निजं निजं व्यक्तं कुर्वतोश्च तयोस्ततः ।
काले यात्येकदा तत्र पत्तने कर्मयोगतः ॥ १२ ॥
भिल्लैः प्रज्वालिते क्रुद्धै-रग्निना दुष्टमानसैः ।
जाते कोलाहले कष्टं प्राणिनां प्राणसंकटे ॥ १३ ॥

तदा श्रीजिनमत्या च भणितो रुद्रदत्तकः ।
यस्य देवः करोत्युच्चैः सर्वशान्तिं क्षणादिह ॥ १४ ॥
तस्यावाभ्यां प्रकर्त्तव्यो धर्मः शर्मकरो ध्रुवम् ।
एवमस्त्विति संप्रोक्त्वा जनान्कृत्वा च साक्षिणः ॥ १५ ॥
ततोर्घं रुद्रदत्तोसौ ददौ रुद्राय मूढधीः ।
नैव कश्चिद्विशेषोभू-द्वह्निज्वालाविजृंभिते ॥ १६ ॥
ब्रह्मादिभ्योपि दत्तार्घे नैव जातो विशेषकः ।
दुर्दृग्भ्यो दुष्टचित्तेभ्यो नैव शान्तिः कदाचन ॥ १७ ॥
जिनमत्यभिधा सापि ततः सद्धर्मवत्सला ।
दत्वार्हदादिपञ्चाना-मर्घं श्रीपरमेष्ठिनाम् ॥ १८ ॥
पादपद्मद्वयेभ्यश्च प्रोल्लसद्भक्तिनिर्भरा ।
पतिपुत्रवधूवर्गं धृत्वा स्वान्ते सुनिश्चला ॥ १९ ॥
कायोत्सर्गे स्थिता चित्ते कृत्वा पञ्च नमस्कृतिम् ।
तत्क्षणादेव संजाता वह्निशान्तिः जगद्धिता ॥ २० ॥
तं दृष्ट्वातिशयं सर्वे रुद्रदत्तादयो मुदा ।
नत्वा श्रीमज्जिनं देवं संजाताः श्रावकोत्तमाः ॥ २१ ॥
अहो श्रीजिनधर्मस्य महिमा भुवनोत्तमः
वर्ण्यते केन भूलोके स्वर्गमोक्षसुखप्रदः ॥ २२ ॥
यथा श्रीजिनमत्याख्या चक्रे सम्यक्त्वरक्षणम् ।
तथान्यैर्भव्यमुख्यैश्च तत्कार्यं सच्छुभश्रिये ॥ २३ ॥
श्रीमज्जैनपदाम्बुजेषु नितरां भृङ्गी पवित्राशया
सद्दृष्टिर्जिनशब्दपूर्वकमतिः शर्मप्रदा सा सती ।

नानावस्त्रसुवर्णरत्ननिकरैर्देवादिभिः पूजिता
सद्दृष्टिर्जिनभक्तिनिश्चलमतिः कैः कैर्न संपूज्यते ॥ २४ ॥

इति कथाकोशे अत्यक्तदर्शनाख्यानं समाप्तम् ।

१०७—सम्यक्त्वप्रभावाख्यानम् ।

श्रीजिनं त्रिजगद्देवं नमस्कृत्य सुरार्चितम् ।
ब्रुवे सम्यक्त्वमाहात्म्यं चेलिनीश्रेणिकाश्रितम् ॥ १ ॥
देशेत्र मगधे ख्याते पुरे राजगृहे शुभे ।
राजा प्रश्रेणिको राज्ञी सुप्रभा गुणमण्डिता ॥ २ ॥
पुत्रः श्रीश्रेणिको जात-स्तयोः पुत्रशिरोमणिः ।
धीरो वीरोतिगंभीरो दाता भोक्ता भटाग्रणीः ॥ ३ ॥
एकदा नागधर्मेण राज्ञा प्रत्यन्तवासिना ।
दुष्टाश्वः प्रेषितः पूर्व-वैरिणा तस्य भूपतेः ॥ ४ ॥
दुष्टस्तुरंगमः सोपि प्रेरितो नैव गच्छति ।
खांचितो याति वेगेन दुष्टानामीदृशी गतिः ॥ ५ ॥
बाह्यालीं निर्गतो राजा तेनाश्वेनैकदा मुदा ।
प्रश्रेणिको महाटव्यां नीतो दुष्टेन कष्टतः ॥ ६ ॥
तत्र पल्लीपतिख्यातो यमदण्डो यमाकृतिः ।
विद्युन्मतिः प्रिया तस्य पुत्री च तिलकावती ॥ ७ ॥
तां विलोक्य जगच्चेतो-रंजितां तिलकावतीम् ।
प्रश्रेणिकस्तदासक्तो नृपो याचितवांस्तदा ॥ ८ ॥

पुत्राय तिलकावत्याः स्वराज्यं भो महीपते ।
दातव्यं च त्वया प्रोक्त्वा यमदण्डेन तेन वै ॥ ९ ॥
तस्मै तां स्वसुतां दत्वा तिलकादिवतीं सतीम् ।
यत्नेन प्रेषितो भूपः पश्चाद्राजगृहं पुरम् ॥ १० ॥
ततः कैश्चिद्दिनैः सौख्यं भुंजानस्य महीपतेः ।
पुत्रश्चिलातपुत्राख्य-स्तस्यां जातो महाभटः ॥ ११ ॥
एकदा च नरेन्द्रेण संविचार्येति मानसे ।
राजा मद्भूरिपुत्राणां मध्ये कोत्र भविष्यति ॥ १२ ॥
पृष्टो नैमित्तिको प्राह शृणु त्वं भो नरेश्वर ।
यः सिंहासनमासीनो भेरीं सन्ताडयन्मुदा ॥ १३ ॥
पायसं कुक्कुराणां च ददत्संभोक्ष्यते स्वयम् ।
अग्निदाहो तथा हस्ति-च्छत्रसिंहासनं शुभम् ॥ १४ ॥
शीघ्रं निस्सारयत्येव स ते राज्यश्रियः सुखम् ।
भोक्ता भविष्यति व्यक्तं सन्देहो न महामते ॥ १५ ॥
तच्छ्रुत्वा तत्परीक्षार्थं प्रश्रेणिकमहीभुजा ।
भोजनं सर्वपुत्रेभ्यो दत्वा मुक्ताश्च कुक्कुराः ॥ १६ ॥
तदा सर्वे कुमारास्ते नष्टाः शीघ्रं भयाकुलाः ।
श्रेणिकस्तु सुधीश्चारु सिंहासनमधिष्ठितः ॥ १७ ॥
निजान्ते भाजनान्युच्चै-र्धृत्वा सर्वाणि दूरतः ।
एकैकं भाजनं दत्वा कुक्कुराणां स्वयं पुनः ॥ १८ ॥
भुंक्ते स्म पायसं भेरीं ताडयंश्च भटोत्तमः ।
वह्निदाहे तथा हस्ति-च्छत्रसिंहासनं द्रुतम् ॥ १९ ॥

सुधीर्निस्सारयामास बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।
संभविष्यति राजायं ततः प्रश्रेणिकः प्रभुः ॥ २० ॥
ज्ञात्वा चित्ते प्रयत्नार्थं प्रपञ्चेन विचक्षणः ।
कुक्कुरोच्छिष्टकं दोषं दत्वा तं तनयं शुभम् ॥ २१ ॥
पुरान्निस्सारयामास श्रेणिकं दोषवर्जितम् ।
भवन्ति भूतले नित्यं भूपाला गूढमंत्रकाः ॥ २२ ॥
ततः श्रीश्रेणिको धीमान्प्राप्तो मध्याह्निकेहनि ।
नन्दग्रामं तथा विप्रै-राज्यमान्यैर्मदोद्धतैः ॥ २३ ॥
तस्मान्निर्घाटितश्चापि परिव्राजकसन्मठे ।
कृत्वा तद्भोजनं तस्य गृहीत्वा विष्णुधर्मकम् ॥ २४ ॥
दक्षिणाभिमुखं पश्चा-च्चचालाथ कथान्तरम् ।
काञ्चीपुरे महाराजो वसुपालो विचक्षणः ॥ २५ ॥
वसुमत्यभिधा राज्ञी तयोः पुत्री बभूव च ।
सद्रूपयौवनोपेता वसुमित्रा गुणोज्वला ॥ २६ ॥
सोमशर्मा द्विजो मंत्री सोमश्रीब्राह्मणीप्रियः ।
तयोरभयमत्याख्या पुत्री चातिविचक्षणा ॥ २७ ॥
स मंत्री सोमशर्मा च गत्वा गंगादितीर्थकम् ।
पश्चाद्गेहं समागच्छन्मार्गे तेनैव वीक्षितः ॥ २८ ॥
प्रोक्तं च श्रेणिकेनेति विप्ररूपप्रधारिणा ।
अहो माम तव स्कन्धमारोहामि गुणोज्वल ॥ २९ ॥
मम स्कन्धं समारोह त्वकं चापि द्रुतं यतः ।
गम्यते तच्छ्रुतेस्तेन चिन्तितं ग्रहिलोस्त्ययम् ॥ ३० ॥

तथा मार्गे बृहद्ग्रामः श्रेणिकेन ह्रसो मतः ।
लघुग्रामो महानुक्तो यत्र भुक्तं सुभोजनम् ॥ ३१ ॥
धृतं वृक्षतले छत्रं मार्गे तत्संवृतं पुनः ।
पादत्राणं जले पादे धृतं हस्ते महापथि ॥ ३२ ॥
बद्धा नारी विमुक्ता वा कुट्यते चेति जल्पितम् ।
मृतोयं मृतकश्चापि जीवितो गच्छतीति वा ॥ ३३ ॥
शालिक्षेत्रं समालोक्य कुटुम्बिजनकेन च ।
एतत्किं भाक्षितं किं वा भक्ष्यते भो वद द्विज ॥ ३४ ॥
इत्यादिचेष्टितं मार्गे तं प्रकुर्वन्तमद्भुतम् ।
श्रेणिकं स द्विजो धृत्वा काञ्चीपुरबहिस्तदा ॥ ३५ ॥
स्वयं स्वगृहमायातो-भयमत्या प्रजल्पितः ।
पुत्र्या भो तात चैकाकी गतस्त्वं च समागतः ॥ ३६ ॥
तच्छ्रुत्वा सोमशर्मासौ जगौ भो पुत्रि मे पथि ।
आगच्छतो बटुश्चैको रूपवान्ग्रहिलो महान् ॥ ३७ ॥
मिलितः पुरबाह्ये स तिष्ठत्यत्र महामते ।
तत्समाकर्ण्य सा पुत्री संजगाद विचक्षणा ॥ ३८ ॥
कीदृशो ग्रहिलो सोपि भो पितश्च तदा द्विजः ।
सोमशर्मा जगौ सर्वं स्कन्धारोहणादिकम् ॥ ३९ ॥
श्रुत्वा तच्चेष्टितं कन्या तद्व्याख्यानं विधाय च ।
स्तोकं तैलं खलं तस्य प्रेषयामास मज्जने ॥ ४० ॥
याचिते भाजने चापि तदासौ कर्दमे सुधीः ।
गर्त्ताद्वयं विधायोच्चै-र्धृत्वा ते भाजने ददौ ॥ ४१ ॥

ततस्तया समाहूतः सोपि कर्दममार्गके ।
परीक्षार्थं जलं स्तोकं दत्तं तस्मै विदेशिने ॥ ४२ ॥
तेन तज्जलमादाय कर्दमं वंशकंछ्या ।
दूरीकृत्य सुधूर्त्तेन पादौ प्रक्षालितौ सुखम् ॥ ४३ ॥
तथा चक्रप्रवाले च प्रोतं सूत्रं स्वबुद्धितः ।
तच्चातुरीं समालोक्य ततोभयमती मुदा ॥ ४४ ॥
तं वरं श्रेणिकं चारु-विवाहविधिना द्रुतम् ।
स्वीचक्रे कृतपुण्यानां मांगल्यं च पदे पदे ॥ ४५ ॥
अथ कश्चिद् द्विजो धीमान्महाटव्यां दिगुप्सितः ।
जिनदत्ताभिधानस्य पार्श्वे श्रुत्वा जिनेशिनाम् ॥ ४६ ॥
धर्मं शर्माकरं योन्यः सोमशर्माभिधानकः ।
संन्यासेन मृतः प्राप्य स्वर्गं सौधर्मसंज्ञकम् ॥ ४७ ॥
तस्मादागत्य पुण्येन तत्र कांचीपुरे शुभे ।
श्रेणिकाभयमत्योश्च पुत्रोभयकुमारवाक् ॥ ४८ ॥
संजातः सुगुणोपेतश्चरमाङ्गो महाभटः ।
भाविमुक्तिवधूकान्तो वर्ण्यते केन भूतले ॥ ४९ ॥
अथ काञ्चीपुराधीशो वसुपालो गुणोज्वलः ।
गत्वा विजययात्रार्थं दृष्ट्वा तत्रैकमद्भुतम् ॥ ५० ॥
एकस्तंभसमुत्पन्नं प्रासादं श्रीजिनेशिनाम् ।
काञ्च्यां सम्प्रेषयामास लेखं श्रीसोमशर्मणः ॥ ५१ ॥
एकस्तंभोत्थितं चारु शर्मदं जिनमन्दिरम् ।
कार्यं त्वया प्रवेगेन तदासौ सोमशर्मवाक् ॥ ५२ ॥

तद्विज्ञानमजानंश्च चित्तेमुद्व्याकुलो महान् ।
पृष्ट्वा तत्कारणं तेन श्रेणिकेन महाधिया ॥ ९३ ॥
प्रासादः श्रीजिनेन्द्राणां कारितः सुमनोहरः ।
सद्विज्ञानं विना पुण्यैः प्राप्यते नैव भूतले ॥ ९४ ॥
आगतेन ततो राज्ञा दृष्ट्वा तं श्रीजिनालयम् ।
सन्तुष्टेन निजा पुत्री वसुमित्रा महोत्सवैः ॥ ९९ ॥
दत्ता श्रीवसुपालेन श्रेणिकाय गुणोज्वला ।
अतो राजगृहे जातं वक्ष्ये चान्यत्कथानकम् ॥ ९६ ॥
प्रश्रेणिको महाराजः सुधीर्वैराग्यमाश्रितः ।
दत्वा चिलातपुत्राय राज्यं जातो मुनीश्वरः ॥ ९७ ॥
ततश्चिलातपुत्रे च सर्वान्यायरते द्रुतम् ।
प्रधानैः श्रेणिकस्योच्चै-र्लेखः संप्रेषितस्तदा ॥ ९८ ॥
तं दृष्ट्वा श्रेणिकश्चापि प्रोक्त्वा भार्याद्वयं प्रति ।
पुरे राजगृहे ख्याते चारुपाण्डुकुटीं मुदा ॥ ९९ ॥
आगच्छेस्त्वमिति व्यक्तं स्वयं चागत्य वेगतः ।
पुराच्चिलातपुत्रं तं तस्मान्निर्घाट्य कण्टकम् ॥ ६० ॥
तत्र राज्ये महाप्राज्ये संस्थितो निजलीलया ।
भवेद्राज्यं समर्थस्य भूपतेर्नैव दुर्मतेः ॥ ६१ ॥
अथाभयकुमारेण पृष्टा माता क मे पिता ।
तच्छ्रुत्वाभयमत्याख्या जगौ पुत्र शृणु त्वकम् ॥ ६२ ॥
देशेऽत्र मगधे राज-गृहे पाण्डुकुटीतले ।
महाराज्यं प्रकुर्वाणः पिता ते तिष्ठति ध्रुवम् ॥ ६३ ॥

एतदाकर्ण्य पुत्रोसौ ततोभयकुमारवाक् ।
एकाकी कौतुकाच्छीघ्रं नन्दग्रामं समागतः ॥ ६४ ॥
नन्दग्रामे तदा पूर्व-निष्कासनमहाकुधा ।
निग्रहं कर्त्तुकामेन श्रेणिकेन महीभुजा ॥ ६५ ॥
आदेशः प्रेषितश्चेति यथा भो ब्राह्मणोत्तमाः ।
मृष्टतोयभृतं यूयं वटकूपं मनोहरम् ॥ ६६ ॥
शीघ्रं प्रेषयथात्रैव युष्माकं निग्रहोन्यथा ।
अस्माभिः क्रियते व्यक्तं तत्समाकर्ण्य ते द्विजाः ॥ ६७ ॥
संजाता व्याकुलाश्चित्ते ततोभयकुमारवाक् ।
पृष्ट्वा तत्कारणं सर्वं तेषां बुद्धिं ददौ सुधीः ॥ ६८ ॥
ततस्तद्वचनादेव ब्राह्मणैस्तुष्टमानसैः ।
श्रेणिकस्य महीभर्त्तु-र्विज्ञप्तिः प्रेषिता द्रुतम् ॥ ६९ ॥
अस्माभिर्भणितश्चापि कूपो नागच्छति ध्रुवम् ।
रुष्ट्वा पुरस्य बाह्येसौ संस्थितो भो महीपतेः ॥ ७० ॥
पुरुषस्य भवेत्स्त्री च-वशीकरणमुत्तमम् ।
तस्मादेव भवद्ग्राम-स्थितोदुंबरकूपिका ॥ ७१ ॥
भवद्भिः प्रेष्यते चात्र यतस्तस्यास्तु पृष्ठतः ।
समागच्छति कूपोसौ तच्छ्रुत्वा श्रेणिक प्रभुः ॥ ७२ ॥
मौनं कृत्वा स्थितो युक्तं न धूर्तो गृह्यते सुखम् ।
तथान्यदा गजो राज्ञा संख्यार्थं प्रेषितस्ततः ॥ ७३ ॥
जले नावा स पाषाणै-स्तोलितो तेन धीमता ।
आदेशस्तु पुनस्तस्य समायातो महीपतेः ॥ ७४ ॥

कूपः पूर्वदिशिस्थोसौ कार्यो पश्चिमदिक्तटे ।
ग्रामस्तेन कृतः पूर्व-दिशिस्थो धूर्त्तचेतसा ॥ ७५ ॥
मेषको प्रेषितश्चापि दुर्बलो न महान्न च ।
यथा तथा प्रयत्नेन रक्षणीयो मम ध्रुवम् ॥ ७६ ॥
तदा तद्वचनेनोच्चै-र्ब्राह्मणैः सोपि मेषकः ।
चारयित्वा तृणं भूरि स्थापितो वृकसंन्निधौ ॥ ७७ ॥
याचितं गर्गरीसंस्थं कूष्माण्डं श्रेणिकेन च ।
संवर्द्धर्य गर्गरीमध्ये प्रेषितं तैश्च तद्द्रुतम् ॥ ७८ ॥
याचितायां रजोरज्वां प्रतिच्छन्दं प्रयाचितम् ।
इत्यादिके कृते राजा महाश्चर्यं गतस्ततः ॥ ७९ ॥
लेखं सम्प्रेषयामास श्रेणिकस्तुष्टमानसः ।
सोपि वैदेशिकश्चात्र प्रेषणीयो मदन्तिके ॥ ८० ॥
न रात्रौ न दिने नैव मार्गे चोन्मार्गके न च ।
श्रुत्वेत्यामंत्रणं सोपि तदाभयकुमारवाक् ॥ ८१ ॥
सन्ध्यायां शकटैकस्मिन्भागे स्थित्वाविचक्षणः ।
समागत्य पुरं राज-गृहं भूपसभावनौ ॥ ८२ ॥
सिंहासने प्रपञ्चेन स्थितं त्यक्त्वा नरं द्रुतम् ।
अंगरक्षकमध्यस्थं जनानंदप्रवीक्षणैः ॥ ८३ ॥
ज्ञात्वा श्रीश्रेणिकं भूपं ननाम विनयान्वितः ।
तदा श्रीश्रेणिकेनोच्चैः परमानन्दनिर्भरात् ॥ ८४ ॥
समालिंग्य प्रवेगेन स पुत्रः कुलदीपकः ।
महोत्सवशतैश्चापि पत्तने प्रकटाकृतः ॥ ८५ ॥

ततः काञ्चीपुरात्तेन राज्ञाहूता स्वमन्दिरम् ।
अभयादिमती सापि वसुमित्रा च कामिनी ॥ ८६ ॥
एवं पुत्रादिसंयुक्तः श्रेणिकोसौ महीपतिः ।
यावत्संतिष्ठति सौख्यं तावद्वक्ष्ये कथान्तरम् ॥ ८७ ॥
सिन्धुदेशे सुविख्याते विशालापत्तने शुभे ।
राजाभूच्चेटको धीमान्सद्दृष्टिर्जिनभक्तिभाक् ॥ ८८ ॥
तस्य राज्ञी सुभद्राख्या सती सद्रूपमण्डिता ।
तयोः सारगुणोपेता बभूवुः सप्त पुत्रिकाः ॥ ८९ ॥
तासामाद्याभवत्पुत्री पवित्रा प्रियकारिणी ।
तत्पुण्यं वर्ण्यते केन यत्पुत्रस्तीर्थकृद्गुणी ॥ ९० ॥
मृगावती द्वितीया च तृतीया सुप्रभा मता ।
प्रभावती चतुर्थी च चेलिनी पंचमी सुता ॥ ९१ ॥
ज्येष्ठा षष्ठी तथाऽवद्या चन्दना सप्तमी सती ।
यस्या नानोपसर्गेपि स्वशीले निश्चला मतिः ॥ ९२ ॥
स चेटको महाराजो पुत्रीस्नेहेन वीक्षितुम् ।
रूपाणि सर्वपुत्रीणां कारयामास पट्टके ॥ ९३ ॥
तस्मिन्निर्मापिते पट्टे चित्रकारेण धीमता ।
पश्यन् रूपाणि भूपोसौ चेलिन्या रूपकोरुके ॥ ९४ ॥
दृष्ट्वा बिन्दुं तदा चित्र-काराय कुपितो महान् ।
ततो नत्वा नृपं प्राह चित्रकारो विचक्षणः ॥ ९५ ॥
देव द्वित्रिचतुर्वारान्सप्त वारान्मयापि च ।
प्रमृष्टोयं पतत्येव बिन्दुरस्मिंश्च रूपके ॥ ९६ ॥

ईदृशं लाञ्छनं तत्र संभविष्यति मानसे ।
संविचार्येति भो भूप ततोसौ स्फोटितो न हि ॥ ९७ ॥
तच्छ्रुत्वा चेटको भूपः परमानन्दनिर्भरः ।
ददौ तस्मिन्महादानं सतां हर्षो न निष्फलः ॥ ९८ ॥
तदासौ नृपतिः श्रीमान्प्रीत्या देवार्चनक्षणे ।
तत्पट्टकं प्रसार्योच्चै-र्जिनबिम्बप्रसन्निधौ ॥ ९९ ॥
पूजां श्रीमज्जिनेन्द्राणां सर्वकल्याणदायिनीम् ।
करोत्येव महाभक्त्या भव्यचेतोनुरंजिनीम् ॥ १०० ॥
एकदा चेटकः सोपि केनचित्कारणेन च ।
स्वसैन्येन समागत्य राजा राजगृहं पुरम् ॥ १०१ ॥
बाह्योद्याने स्थितः स्नान-धौतवस्त्रपुरस्सरम् ।
श्रीमज्जिनान्समभ्यर्च्य तत्र स्थापितपट्टके ॥ १०२ ॥
क्षिप्तवान्कुसुमादिं च तद्दृष्ट्वा श्रेणिकः प्रभुः ।
तत्पार्श्ववर्त्तिनः प्राह किमेतदिति ते जगुः ॥ १०३ ॥
राज्ञोस्य पुत्रिकाः सप्त लिखिताश्चात्र पट्टके ।
तासु पुत्र्यश्चतस्त्रस्तु परिणीता गुणोज्वलाः ॥ १०४ ॥
द्वे कन्ये चेलिनी ज्येष्ठे संजाते नवयौवने ।
चन्दना सप्तमी बाला तिस्रः सन्ति गृहे पितुः ॥ १०५ ॥
तच्छ्रुत्वा श्रेणिको राजा तयोरासक्तमानसः ।
भूत्वा स्वमंत्रिणो वार्त्तां जगौ कन्याद्वयेच्छया ॥ १०६ ॥
ततस्ते मंत्रिणश्चापि नत्वाभयकुमारकम् ।
प्राहुश्चेटकभूपस्य कन्यायुग्मं मनोहरम् ॥ १०७ ॥

पित्रा ते याचितः सोपि न दत्ते गतयौवनात् ।
ध्रुवं कार्यमिदं चापि कर्त्तव्यं क्रियतेत्र किम् ॥ १०८ ॥
श्रुत्वाभयकुमारोसौ मंत्रिवाक्यं विचक्षणः ।
नैव चिन्तासमर्थोहं सर्वकार्यविधायकः ॥ १०९ ॥
इत्युक्त्वा स्वपितुर्दिव्यं रूपमालिख्य पट्टके ।
स्वयं वणिग्वरो भूत्वा वाणिज्येन प्रवेगतः ॥ ११० ॥
विशालाख्यां पुरीं गत्वा महोपायेन पट्टकम् ।
कन्ययोः सम्प्रदर्श्योच्चै-स्तं चित्तं श्रेणिकोपरि ॥ १११ ॥
कृत्वा सुरंगिकां मार्गे गृहीत्वा ते सुकन्यके ।
संचचाल तदा सा च चेलिनी धूर्त्तमानसा ॥ ११२ ॥
त्यक्त्वाभरणवाक्येन ज्येष्ठां सद्रूपशालिनीम् ।
स्वयं तेन समं प्राप्य पुरं राजगृहं मुदा ॥ ११३ ॥
श्रेणिकस्य महीभर्त्तु-र्महोत्सवशतैर्द्रुतम् ।
राज्ञी शिरोमणिर्जाता स्वपुण्यात्प्राणवल्लभा ॥ ११४ ॥
अथासौ श्रेणिको राजा विष्णुभक्तोतिमुग्धधीः ।
चेलिनी श्रीजिनेन्द्रोक्त-सारधर्मे रता सती ॥ ११५ ॥
ततस्तयोर्द्वयोर्नित्यं स्वस्वधर्मप्रशंसने ।
विवादः संभवत्येव तथान्यदिवसे प्रभुः ॥ ११६ ॥
श्रेणिकश्चेलिनीं प्राह भो प्रिये कुलयोषिताम् ।
पतिरेव भवेद्देवस्ततो मे वचनाद्ध्रुवम् ॥ ११७ ॥
भोजनं विष्णुभक्तानां सद्गुरूणां प्रदीयते ।
त्वया सद्विनयेनेति तच्छ्रुत्वा चेलिनी सती ॥ ११८ ॥

ददामि भोजनं तेषा-मित्युक्त्वाहूय मण्डपे ।
गौरवात्स्थापयामास सर्वान्भागवतान्मुदा ॥ ११९ ॥
तत्र ते कपटोपेताः शठा ध्यानेन संस्थिताः ।
पृष्टास्तया भवन्तस्तु प्रकुर्वन्ति किमत्र भो ॥ १२० ॥
तदाकर्ण्य जगुस्तेपि त्यक्त्वा देहं मलैर्भृतम् ।
जीवं विष्णुपदं नीत्वा तिष्ठामो देवि सौख्यतः ॥ १२१ ॥
ततस्तया महादेव्या चेलिन्या सोपि मण्डपः ।
प्रज्वालितोग्निना नष्टा शीघ्रं ते वायसा यथा ॥ १२२ ॥
राज्ञा रुष्टेन सा प्रोक्ता भक्तिर्नास्ति यदि ध्रुवम् ।
किं ते मारयितुं युक्तं कष्टादेतांस्तपस्विनः ॥ १२३ ॥
तयोक्तं देव भो त्यक्त्वा कुत्सितं स्ववपुर्द्रुतम् ।
एते विष्णुपदं प्राप्ताः सारसौख्यसमन्वितम् ॥ १२४ ॥
नित्यं तत्रैव तिष्ठन्ति किमत्रागमनेन च ।
इति ज्ञात्वोपकाराय मयेदं निर्मितं प्रभो ॥ १२५ ॥
अस्यैव मम वाक्यस्य निश्चयार्थं महीपते ।
सदृष्टान्तकथां वक्ष्ये श्रूयतां परमादरात् ॥ १२६ ॥
वत्सदेशो सुविख्याते कौशाम्बीपत्तने प्रभुः ।
प्रजापालो महाराज्यं करोति स्म स्वलीलया ॥ १२७ ॥
श्रेष्ठीसागरदत्ताख्यो वसुमत्याख्रिया युतः ।
तत्रैव च समुद्रादि-दत्तश्रेष्ठी परोभवत् ॥ १२८ ॥
भार्या समुद्रदत्ताख्या श्रेष्ठिनश्च तयोर्द्वयोः ।
महास्नेहवशादुच्चै-र्वाचा बन्धोभवद्ध्रुवम् ॥ १२९ ॥

आवयोः पुत्रपुत्र्यौ यौ संजायेते परस्परम् ।
तयोर्विवाहः कर्त्तव्यो यतः प्रीतिर्भवेत्सदा ॥ १३० ॥
ततः सागरदत्तस्य वसुमत्यां सुतोजनि ।
वसुमित्राभिधः केन कर्मणासौ वशीकृतः ॥ १३१ ॥
रात्रौ दिव्यनरो भूत्वा दिने सर्पो भयानकः ।
तिष्ठति स्म गृहे चेति विचित्रा संसृतेः स्थितिः ॥ १३२ ॥
तथा समुद्रदत्तस्य नागदत्ता सुताभवत् ।
तस्यां समुद्रदत्तायां रूपलावण्यमण्डिता ॥ १३३ ॥
तेनासौ वसुमित्रेण परिणीता गुणोज्वला ।
नैव वाचा चलत्वं च सतां कष्टशतैरपि ॥ १३४ ॥
ततश्च वसुमित्रोसौ निशायां निजलीलया ।
धृत्वा पिट्टारके नित्यं कष्टं सर्पशरीरकम् ॥ १३५ ॥
भूत्वा दिव्यनरो नाग-दत्तया सह सर्वदा ।
भुंक्ते भोगान्मनोभीष्टान्विचित्रं कर्मचेष्टितम् ॥ १३६ ॥
एकदा यौवनाक्रान्तां नागदत्तां विलोक्य च ।
जगौ समुद्रदत्ता सा पुत्रीस्नेहेन दुःखिता ॥ १३७ ॥
हा विधेश्चेष्टितं कष्टं कीदृशी मे सुतोत्तमा ।
वरश्च कीदृशो जातो भीतिकारी भुजंगमः ॥ १३८ ॥
तच्छ्रुत्वा नागदत्ता सा भो मातर्मा विसूरय ।
समुद्धीर्येति वृत्तान्तं स्वभर्त्तुः संजगाद च ॥ १३९ ॥
तदाकर्ण्य समुद्रादि-दत्ता गत्वा सुतागृहम् ।
रात्रौ पिट्टारके मुक्त्वा सर्पदेहं तदा द्रुतम् ॥ १४० ॥

धृत्वा मनुष्यसद्रूपं निर्गच्छन्तं विलोक्य तम् ।
सा प्रच्छन्नं तदा भस्मी-चक्रे पिट्टारकं सती ॥ १४१ ॥
सन्दाहिते तथा तस्मिन्वसुमित्रो गुणोज्वलः ।
भुंजानो विविधान्भोगान्सदासौ पुरुषः स्थितः ॥ १४२ ॥
तथैते देव तिष्ठन्ति विष्णुलोके निरन्तरम् ।
एतदर्थं मयारब्धो देहदाहस्तपस्विनाम् ॥ १४३ ॥
तन्निशम्य महीनाथः श्रेणिकश्चेलिनीवचः ।
समर्थो नोत्तरं दातुं कोपान्मौनेन संस्थितः ॥ १४४ ॥
अथैकदा नराधीशो गतः पापर्द्धिहेतवे ।
तत्रातापेन योगस्थं यशोधरमहामुनिम् ॥ १४५ ॥
समालोक्य महाकोपान्ममेमं विघ्नकारिणम् ।
मारयामीति संचिन्त्य मुक्तवान्दुष्टकुक्कुरान् ॥ १४६ ॥
गत्वा पञ्चशतान्युच्चैः कुक्कुरास्तेपि निष्ठुराः ।
यशोधरमुनेस्तस्य तपो माहात्म्यतो द्रुतम् ॥ १४७ ॥
कृत्वा प्रदक्षिणां पाद-मूले तस्थुः सुभक्तितः ।
क्रोधान्धेन पुनस्तेन बाणा मुक्ताः सुदारुणाः ॥ १४८ ॥
शरास्तेपि बभूवुश्च पुष्पमालाः सुनिर्मलाः ।
प्रभावो मुनिनाथस्य महान्केनात्र वर्ण्यते ॥ १४९ ॥
तस्मिन्काले महीपालः सप्तमं नरकं प्रति ।
त्रयस्त्रिंशत्समुद्रायु-र्बन्धं चक्रे कुकष्टदम् ॥ १५० ॥
ततः प्रभावमालोक्य मुनेः पादाम्बुजद्वयम् ।
प्रणम्य परया भक्त्या त्यक्त्वा दुष्टाशयं नृपः ॥ १५१ ॥

पुण्येन पूर्णयोगस्य यशोधरमहामुनेः ।
वाक्यात्तत्वं जिनेन्द्रोक्तं सुरेन्द्राद्यैः समर्चितम् ॥ १९२ ॥
संश्रुत्वोपशमं सार-सम्यक्त्वं स गृहीतवान् ।
तदायुश्चतुरशीति-गुणं वर्षसहस्रकम् ॥ १९३ ॥
संचक्रे प्रथमे शीघ्रं नरके प्रस्तरादिमे ।
किं न स्याद्भव्यमुख्यानां शुभं सद्दर्शनागमे ॥ १९४ ॥
ततः पादान्तिके चित्र-गुप्तनाममहामुनेः ।
क्षायोपशमकं प्राप्य सम्यक्त्वं भक्तिनिर्भरः ॥ १९५ ॥
वर्द्धमानजिनेन्द्रस्य पादमूले जगद्गुरोः ।
गृहीत्वा शुद्धसम्यक्त्वं क्षायिकं मुक्तिदायकम् ॥ १९६ ॥
स्वीचक्रे तीर्थकृन्नाम-त्रैलोक्येशैः समर्चितम् ।
तस्माच्छ्रीश्रेणिको राजा तीर्थेशः संभविष्यति ॥ १९७ ॥
ततः सम्यक्त्वसद्रत्नं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ।
अन्यैश्चापि महाभव्यैः पालनीयं जगद्धितम् ॥ १९८ ॥
यद्देवेन्द्रनरेन्द्रशर्मजनकं दुःखौघनिर्नाशकं
सम्यक्त्वं शिवसौख्यबीजमतुलं विद्वज्जनैः सेवितम् ।
तच्छ्रीमज्जिनदेवभाषितमहातत्वार्थसारे रुचिः
प्रोक्तं श्रीश्रुतसागरैर्मुनिवरैर्भव्याः श्रयन्तु श्रिये ॥१९९॥

इति कथाकोशे शुद्धसम्यक्त्वप्राप्तमहामण्डलेश्वर-श्रीश्रेणिकमहाराजाख्यानं समाप्तम् ।

१०८-रात्रिभुक्तित्यागफलाख्यानम् ।

प्रणम्योच्चैर्जिनं देवं भारतीं सद्गुरुं क्रमात् ।
रात्रिभुक्तिपरित्याग-फलं वक्ष्ये गुणोज्वलम् ॥ १ ॥
निशाभुक्तिं त्यजन्त्येव ये भव्या धर्महेतवे ।
तेषां सतां महासौख्यं भवेल्लोकद्वये सदा ॥ २ ॥
कीर्त्तिः कान्तिर्महाशान्तिः सम्पदा विविधाः सदा ।
दीर्घायुः स्यात्सुखोपेतं रात्रिभोजनवर्जनात् ॥ ३ ॥
दारिद्र्यपीडिता नित्य-मन्धाः पुत्रादिवर्जिताः ।
महारोगशतक्रान्ताः स्युर्नरा निशिभोजनात् ॥ ४ ॥
पतत्कीटपतंगादे-र्भक्षणान्निशिभोजनम् ।
त्याज्यं पापप्रदं सद्भि-र्मांसव्रतविशुद्धये ॥ ५ ॥
दिवसस्य मुखे चान्ते मुक्त्वा द्वे द्वे सुधार्मिकैः ।
घटिके भोजनं कार्यं श्रावकाचारचञ्चुभिः ॥ ६ ॥

उक्तंच श्रीसमन्तभद्रपादैः –

अह्नोमुखेऽवसाने च यो द्वे द्वे घटिके त्यजेत् ।
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसो पुण्यभाजनम् ॥

ताम्बूलं सुजलं किञ्चि-दौषधं दोषवर्जितम् ।
मुक्त्वा कष्टेपि सन्त्याज्यं रात्रौ सद्भिः फलादिकम् ॥ ७ ॥
ये त्यजन्ति सदाहारं रात्रौ भव्याश्चतुर्विधम् ।
स्यात्षण्मासोपवासोत्थं तेषां संवत्सरे शुभम् ॥ ८ ॥
अथ श्रीजिनसूत्रोक्तां तद्दृष्टान्तकथां ब्रुवे ।
श्रीमत्प्रीतिंकरस्योच्चैः संक्षेपेण सतां श्रिये ॥ ९ ॥

इहैव भरतक्षेत्रे देशे मगधसंज्ञके।
नाना सत्संपदाकारि-जिनधर्मविराजिते ॥ १० ॥
सुप्रतिष्ठपुरे जातो जयसेनो महीपतिः ।
धार्मिको न्यायशास्त्रज्ञो स्वप्रजापालने स्थितः ॥ ११ ॥
श्रेष्ठी कुबेरदत्ताख्यो जिनपादाब्जयो रतः ।
तत्प्रिया धनमित्राख्या संजाता धर्मवत्सला ॥ १२ ॥
एकदा तौ महाभक्त्या दत्वान्नं प्रासुकं शुभम् ।
नाम्ना सागरसेनाय मुनये ज्ञानचक्षुषे ॥ १३ ॥
भो स्वामिन्नावयोः पुत्रो भविष्यति न वा सुधीः ।
नोचेद्दीक्षां गृहीष्यावो जैनीं पापप्रणाशिनीम् ॥ १४ ॥
तस्य पादौ प्रणम्येति प्रश्नं संचक्रतुस्ततः ।
मुनिः प्राह महाभाग्यो युवयोस्तनुजो महान् ॥ १५ ॥
चरमाङ्गधरो भव्यो भव्यसन्दोहतारकः ।
भविष्यतीति भो श्रेष्ठिन्भवद्वंशशिरोमणिः ॥ १६ ॥
श्रुत्वा तौ मुनिनाथोक्तं परमानन्दमापतुः ।
न भवेत्कस्य वानन्दः सद्गुरोर्वचनामृतात् ॥ १७ ॥
ततस्तयोर्जिनेन्द्राणां महास्नपनपूर्वकम् ।
कल्याणदायिनीं पूजां पात्रदानं सुखप्रदम् ॥ १८ ॥
कुर्वतोः सुखतः कैश्चिन्मासैर्जातः सुतोत्तमः ।
तदानन्दः स्वबन्धूना-मभूत्प्राप्ते निधौ यथा ॥ १९ ॥
तद्दर्शनात्समुत्पन्ना सर्वेषां प्रीतिरद्भुता।
प्रोक्तः प्रीतिंकरो नाम्ना तातायैः स महामुदा ॥ २० ॥

ततोसौ स्वगुणैः सार्द्धं प्राप्तानेकमहोत्सवः ।
वृद्धिं सम्प्राप्तवानुच्चै-र्द्वितीयेन्दुरिवामलः ॥ २१ ॥
रूपेण जितकन्दर्पः सौभाग्यजितभूतलः ।
चरमाङ्गधरत्वाच्च तद्बलं केन वर्ण्यते ॥ २२ ॥
जातेथ पञ्चमे वर्षे स तस्मै गुरवे मुदा ।
पित्रा समर्पितो भक्त्या पठनार्थं महोत्सवैः ॥ २३ ॥
कैश्चित्संवत्सरैः सोपि नानाशास्त्रमहार्णवम् ।
समुत्तीर्णः सुधीः स्थित्वा गुरुसेवातरण्डके ॥ २४ ॥
ततोसौ प्राप्तसद्विद्यो महाशास्त्रोपदेशनम् ।
श्रावकाणां करोति स्म धर्मसंवृद्धिहेतवे ॥ २५ ॥
तथाभूतं तमालोक्य स राजा जयसेनवाक् ।
पूजयामास सत्प्रीत्या कुमारं कनकादिभिः ॥ २६ ॥
एकदासौ पितुर्गेहे कुमारः प्रौढयौवनः ।
सत्यां सुसम्पदायां च यावन्नोपार्जयाम्यहम् ॥ २७ ॥
महद्धनं स्वयं तावन्न कुर्वे पाणिपीडनम् ।
संचिन्त्येति महामानो गत्वा द्वीपान्तरं मुदा ॥ २८ ॥
नाना रत्नादिकं द्रव्यं समादाय विभूतिभिः ।
सुखेन गृहमायातः पुण्येन सुलभाः श्रियः ॥ २९ ॥
ततस्तस्मै सुपुण्याय स भूपः परमादरात् ।
पृथिवीसुन्दरीं नाम्ना स्वपुत्रीं पुण्यशालिनीम् ॥ ३० ॥
अर्द्धराज्यं निजं प्राज्यं जयकोलाहनस्वनैः ।
द्वीपान्तरात्समायातां कन्यामन्या वसुन्धराम् ॥ ३१ ॥

अन्याश्चापि वणिक्पुत्रीः कल्याणविधिना ददौ ।
प्रीतिंकरकुमाराय विभूत्या गुणशालिने ॥ ३२ ॥
तथा राज्यादिसम्प्राप्ते-र्ज्ञातव्यं कारणं महत् ।
श्रीमत्महापुराणे च विस्तरेण बुधोत्तमैः ॥ ३३ ॥
अथ प्रीतिंकरो धीमान्प्राप्य राज्यादिसम्पदाः ।
स्वपुण्येन समानीता भुंजानः सुतरां सुखम् ॥ ३४ ॥
ददत्पात्राय सद्दानं नित्यं सप्तगुणान्वितः ।
महासौख्याकरं प्रीत्या नवपुण्यैर्विराजितम् ॥ ३५ ॥
पूजां श्रीमज्जिनेन्द्राणां महास्नपनपूर्वकम् ।
कुर्वन्विध्वस्तदुर्लेश्यां स्वर्मोक्षसुखकारिणीम् ॥ ३६ ॥
जिनप्रासादविम्बादि-सप्तक्षेत्राणि तर्पयन् ।
शमशस्यप्रदान्युच्चैः स्ववित्तामृतवृष्टिभिः ॥ ३७ ॥
तन्वन्परोपकारं च यथायोग्यं विचक्षणः ।
निजशीलसमायुक्तो विद्वद्गोष्ठीषु तत्परः ॥ ३८ ॥
इत्यादिश्रीजिनेन्द्रोक्त-धर्मसेवासमग्रधीः ।
संस्थितः सुखतो नित्यं स्वप्रजाः प्रतिपालयन् ॥ ३९ ॥
चिरं यावत्तदा तस्मिन्संन्यासविधिना सुखम् ।
मुनौ सागरसेनाख्ये प्राप्ते लोकान्तरं शुभम् ॥ ४० ॥
ततो मनोहरोद्याने चारणौ शर्मकारिणौ ।
ऋजुमत्याख्यमत्यन्त-विपुलौ मुनिसत्तमौ ॥ ४१ ॥
समागत्य स्थितौ सौख्यं तदाकर्ण्य सुपुण्यवान् ।
गत्वा तत्र महाभूत्या भव्यसंघसमन्वितः ॥ ४२ ॥

जलाद्यैरष्टभिर्द्रव्यैः समभ्यर्च्य तयोः क्रमात् ।
भक्त्या प्रणम्य योगीन्द्रौ तौ तपोरत्नसागरौ ॥ ४३ ॥
सद्धर्मं पृष्टवानुच्चै-र्विनयानम्रमस्तकः ।
ततो ज्येष्ठमुनिः प्राह गंभीरमधुरध्वनिः ॥ ४४ ॥
श्रृणु त्वं भो महाभव्य धर्मो हि द्विविधो मतः ।
मुनिश्रावकभेदेन जिनेन्द्राणां जगद्धितः ॥ ४५ ॥
महाधर्मो मुनीन्द्राणां पूर्वः स्वपरतारकः ।
उत्तमादिक्षमादिश्च दशलाक्षणिको भवेत् ॥ ४६ ॥
श्रावकाणां तथा धर्मं श्रृणु प्रीतिंकर ब्रुवे ।
स्वर्गादिशर्मदं पूत-मपवर्गस्य कारणम् ॥ ४७ ॥
तत्राद्यं सारसम्यक्त्वं पालनीयं बुधोत्तमैः ।
अष्टाङ्गादिप्रभेदोक्त-मुक्तिबीजं सुखप्रदम् ॥ ४८ ॥
मिथ्यात्वं दूरतस्त्याज्यं कान्तिवद्धीधनैः सदा ।
येन बद्धो भवेज्जीवो भवभ्रमणदुःखभाक् ॥ ४९ ॥
तत्त्वं जानीहि मिथ्यात्वं विपरीतं जिनेशिनाम् ।
तत्वेभ्यो यन्महाभव्य नानादुःखशतप्रदम् ॥ ५० ॥
तथा श्रीमज्जिनेन्द्रोक्त-शास्त्राणां श्रवणेन च ।
मतिर्दर्पणवत्कार्या सदा शुद्धा विचक्षणैः ॥ ५१ ॥
मद्यमांसमधु त्याज्यं सहोदुम्बरपञ्चकम् ।
यद्भक्षणाद्भवेत्प्राणी दुर्गतेर्दुःखभाजनम् ॥ ५२ ॥
अणुव्रतानि पञ्चैव सार्द्धं त्रेधा गुणव्रतैः ।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि पालनीयानि पण्डितैः ॥ ५३ ॥

रात्रिभोजनचर्मस्थ-हिंगुतोयघृतादिकम् ।
संत्याज्यं सुधिया नित्यं मांसव्रतविशुद्धये ॥ ५४ ॥
व्यसनानि तथा सप्त हेयान्युच्चैः सतां सदा ।
कुलजातिधनस्फीति-क्षयकारीणि देहिनाम् ॥ ५५ ॥
कन्दमूलं ससन्धानं नवनीतं च वर्जयेत् ।
महायत्नो विधेयो हि जलानां गालने बुधैः ॥ ५६ ॥
नित्यं पात्राय सद्दानं देयं भक्त्या सुभाक्तिकैः ।
आहारादिचतुर्भेदं नानाशर्मशतप्रदम् ॥ ५७ ॥
पात्रं तु त्रिविधं ज्ञेयं मुनिश्रावकदृष्टिभाक् ।
तेषां दानं फलत्युच्चैः सत्सुखं वटबीजवत् ॥ ५८ ॥
कार्या श्रीमज्जिनेन्द्राणां पूजा स्वर्मोक्षदायिनी ।
तोयाद्यैः श्रावकैर्नित्य-मभिषेकपुरस्सरा ॥ ५९ ॥
सत्तोयेक्षुरसाद्यैर्ये कृत्वा भक्त्या सुचिन्तनम् ।
अर्चयन्ति जिनाकारां-स्ते लभन्ते सुरार्चनम् ॥ ६० ॥
जिनसद्माकृतीनां च विधिः स्याच्छर्मणां निधिः ।
तत्प्रतिष्ठा तयोर्यात्रा दुर्गतिच्छेदकारिणी ॥ ६१ ॥
इत्यादिधर्मसद्भावं समाश्रित्य सुखार्थिभिः ।
अन्ते सल्लेखना साध्या जिमपादाब्जचिन्तनैः ॥ ६२ ॥
श्रुत्वेति मुनिनाथोक्तं द्विधा धर्मं सुखप्रदम् ।
भव्यास्ते तं समादाय जाता धर्मे तरां रताः ॥ ६३ ॥
पुनः प्रीतिंकरो भक्त्या नत्वा तं मुनिपुङ्गवम् ।
ब्रूहि भो करुणासिन्धो पूर्वजन्मेति सोवदत् ॥ ६४ ॥

तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह संज्ञानमयलोचनः ।
सुप्रतिष्ठपुरेत्रैव सद्वने मुनिसत्तमः ॥ ६५ ॥
पुरा सागरसेनाख्यः समायातस्तपोनिधिः ।
तं वन्दितुं समागत्य सर्वे राजादयो मुदा ॥ ६६ ॥
भेरीमृदंगकंसाल-महानादेन भक्तितः ।
समभ्यर्च्य मुनेः पादौ स्तुत्वा नत्वा पुरं ययुः ॥ ६७ ॥
तदा वादित्रसन्नादं श्रुत्वा कोयं जनो मृतः ।
पत्तनेत्र परिक्षिप्त्वा तं पौराः स्वगृहं गताः ॥ ६८ ॥
अहं तं भक्षयिष्यामि संचिन्त्येति स्वमानसे ।
जम्बुको मृतकासक्तः समायातोति पापधीः ॥ ६९ ॥
तमागच्छन्तमालोक्य स मुनिर्ज्ञानवीक्षणः ।
भव्योयं व्रतमादाय मुक्तिमाशु गमिष्यति ॥ ७० ॥
इति ज्ञात्वा सुकारुण्या-द्वोचद्रे शृगालक ।
त्वं पापादीदृशो जातो मुक्त्वा धर्मं जिनेशिनाम् ॥ ७१ ॥
अद्यापि मृतकासक्तो धिग्धिक्ते मूढ चेष्टितम् ।
मुञ्च मुञ्च महापापं यावन्नरकभूमिषु ॥ ७२ ॥
पतितोसि न पापेन तावत्त्वं कुरु रे शुभम् ।
स गोमायुस्तदाकर्ण्य मुनेर्वाक्यं महाहितम् ॥ ७३ ॥
चित्तं मे स्वामिना ज्ञातं शान्तो भूत्वेति संस्थितः ।
पुनर्जगाद योगीन्द्रो मत्वा तस्य प्रशान्तताम् ॥ ७४ ॥
व्रतेन्योस्मिन्समर्थोसि नैव त्वं मांसलम्पटः ।
गृहाणेदं व्रतं सारं रात्रिभोजनवर्जनम् ॥ ७५ ॥

नित्यं सौख्यप्रदं पूतं सतां चेतोनुरंजनम् ।
श्रुत्वेति जम्बुकः सोपि साधुवाक्यं जगद्धितम् ॥ ७६ ॥
त्रिः परीत्य मुनिं भक्त्या तस्मादादाय तद्व्रतम् ।
मद्यमांसादिकं पश्चा-त्त्यक्तवान्पुण्यवांस्तराम् ॥ ७७ ॥
ततः कालं नयत्येवं कश्चिच्छुद्धाशनेन च ।
यावत्संतोषभावेन नित्यं पादौ मुनेः स्मरन् ॥ ७८ ॥
एकदा तपसा क्षीणः शुष्काहारं स जम्बुकः ।
भुक्त्वा महातृषाक्रान्त-स्तोयपानाय कूपकम् ॥ ७९ ॥
संप्रविश्य सुधीः सन्ध्या-काले सोपानमार्गतः ।
दृष्ट्वा कूपे तमो गाढं सूर्योस्तं गतवानिति ॥ ८० ॥
मत्वा तथा तृषाक्रान्तो बहिरागत्य भास्करम् ।
दृष्ट्वा पुनः प्रविश्यैवं कांश्चिद्वारान्गतागतम् ॥ ८१ ॥
कृत्वा तत्र रविं नीत्वा तमस्तं स्वव्रते दृढः ।
रात्रौ तृष्णाग्निसन्तप्तो विशुद्धपरिणामभाक् ॥ ८२ ॥
स्मरन्निजगुरुं पूतं संसारांभोधितारणम् ।
मृत्वा तेनात्र पुण्येन त्वं जातोसि विचक्षणः ॥ ८३ ॥
पुत्रः श्रीमत्कुबेरादि-दत्ताख्यधनमित्रयोः ।
नाम्ना प्रीतिंकरो धीमा-न्नानासम्पद्विराजितः ॥ ८४ ॥
चरमाङ्गधरो धीरो रूपलावण्यमण्डितः ।
तस्माद्भो भव्य कर्त्तव्यं कष्टेपि व्रतरक्षणम् ॥ ८५ ॥
तच्छ्रुत्वा बहवो भव्या मुनीन्द्रोक्तं सुशर्मदम् ।
धर्मे श्रीमज्जिनेन्द्रोक्ते संसक्ता भक्तितस्तराम् ॥ ८६ ॥

तथा प्रीतिंकरः सोपि स्वभवान्तरमद्भुतम् ।
श्रुत्वा संवेगमासाद्य स्तुत्वा धर्मं जिनेशिनाम् ॥ ८७ ॥
प्रीत्या प्रणम्य तौ साधू निजात्मपरतारकौ ।
संस्मरन्व्रतमाहात्म्यं सुधीः स्वगृहमागतः ॥ ८८ ॥
ततस्त्रिविधवैराग्यं प्राप्य प्रीतिंकरो महान् ।
संसारमस्थिरं ज्ञात्वा भोगान्दुःखप्रदान्भुवि ॥ ८९ ॥
शरीरं मलसन्दोहं महापूति परिक्षयि ।
सम्पदां चपलां मत्वा चंचलामिव मोहिनीम् ॥ ९० ॥
पुत्रमित्रकलत्रादि-सर्वं बुद्धात्मनः पृथक् ।
त्यक्त्वा मोहमहाजालं भवभ्रमणकारणम ॥ ९१ ॥
श्रीमज्जिनेचन्द्राणां महास्नपनपूर्वकम् ।
कृत्वा पूजां लसद्भक्त्या सर्वकल्याणदायिनीम् ॥ ९२ ॥
दत्वा दानं यथायोग्यं स्वलक्ष्मीं स्वसुताय च ।
दत्वा प्रियंकराख्याय विधिना न्यायतत्वविन् ॥ ९३ ॥
बन्धूनापृच्छ्य सद्वाक्यैः कैश्चिद्बन्धुजनैः सह ।
गत्वा राजगृहं प्राप्य वर्द्धमानजिनेशिनः ॥ ९४ ॥
पार्श्वे शक्रादिभिः सेव्यं भक्त्या नत्वा तमद्भुतम् ।
दीक्षां जैनीं जगत्पूज्यां संजग्राह शिवप्रदाम् ॥ ९५ ॥
महत्तपस्ततः कृत्वा रत्नत्रयविशुद्धिभाक् ।
शुक्लध्यानाग्निना दग्ध्वा घातिकर्मचतुष्टयम् ॥ ९६ ॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य लोकालोकप्रकाशकम् ।
इन्द्रनागेचन्द्रार्क-खेचरेन्द्रनरार्चितः ॥ ९७ ॥

जैनधर्मामृतैर्वाक्यै-र्जगत्तापप्रहारिभिः ।
भव्यान्सम्बोध्य सन्मार्गे कृत्वा शर्मप्रभागिनः ॥ ९८ ॥
शेषकर्माणि निर्मूल्य भूत्वा सोष्टमहागुणी ।
मुक्तिं प्रीतिंकरः स्वामी सम्प्राप्तो मेस्तु शान्तये ॥ ९९ ॥
इति प्रीतिंकरस्वामि-सच्चरित्रं जगद्धितम् ।
अस्माकं भवतां भव्या भूयात्संज्ञानहेतवे ॥ १०० ॥
जिनपतिकथितं सद्धर्मलेशं श्रितोपि
प्रवरनरभवं सम्प्राप्य गोमायुरुच्चैः ।
विपुलतरसुखानि प्राप्तवान्मुक्तिलक्ष्मीं
तदिह कुरुत भव्याः सारजैनेन्द्रधर्मम् ॥ १०१ ॥

इति कथाकोशे रात्रिभुक्तित्यागफलप्राप्तप्रीतिंकरस्वामिन आख्यानं समाप्तम् ।

१०९–पात्रदानाख्यानम् ।

श्रीमत्तीर्थकरान्नत्वा वृषभादीन् जगद्गुरून् ।
सतां तान्प्रियकारिण्याः पात्रदानकथां ब्रुवे ॥ १ ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रा-स्यात्संभवा पूतभारती ।
भवत्वाशु महाज्ञान-सिन्धोः पाराय मे सती ॥ २ ॥
स सम्यग्दर्शनज्ञान-वृत्तरत्नापरिग्रहान् ।
निर्ग्रन्थान्भक्तितो वन्दे भुक्तिमुक्तिप्रदान् मुनीन् ॥ ३ ॥
आहारौषधसच्छास्त्रा-भयदानप्रभेदतः ।
प्राहुश्चत्वारि दानानि चतुराः पूर्वसूरयः ॥ ४ ॥

इतिदानादिसिद्धानि पवित्राणि जगत्त्रये ।
पात्रेषु योजितान्युच्चैः फलन्ति विपुलं फलम् ॥ ५ ॥
वटबीजं यथा चोप्तं युक्त्या सन्मृष्टभूमिषु ।
सुच्छायं फलति व्यक्तं पात्रदानं तथा सुखम् ॥ ६ ॥
एकवाप्या यथा नीरं नाना स्वादुप्रदं भवेत् ।
तरुभेदे तथा पात्र-भेदे दानं फलप्रदम् ॥ ७ ॥
पात्रं जिनाश्रयी चापि वरं नान्ये सहस्रशः ।
एककल्पतरुः सेव्यः श्रेयसे न परद्रुमाः ॥ ८ ॥
उत्कृष्टं मुनिनाथश्च मध्यमं श्रावकस्तथा ।
ज्ञेयं पात्रं जघन्यं तु सद्दृष्टिर्जिनभक्तिभाक् ॥ ९ ॥
इति त्रिविधपात्रेभ्यो दत्वा दानं सुधार्मिकैः ।
प्राप्यते किल यत्सौख्यं कथं व्यावर्ण्यते मया ॥ १० ॥
सुकान्तिकीर्तिमारोग्यं रूपसौभाग्यमद्भुतम् ।
पुण्यं सौख्यतरोर्बीजं कुलं गोत्रं च निर्मलम् ॥ ११ ॥
धनधान्यसुवर्णादि-यानजं पानकं तथा ।
पुत्रपौत्रादिसद्गेहं नानाभोगप्रसम्पदा ॥ १२ ॥
इन्द्रनागेन्द्रचक्र्यादि-पदं शर्मप्रदं सताम् ।
संगमं सुजनानां च कल्याणानि दिने दिने ॥ १३ ॥
लभन्ते विमलं सौख्यं प्राणिनः पात्रदानतः ।
क्रमेण शिवसंगं च यथासौ नाभिनन्दनः ॥ १४ ॥
ज्ञात्वेति पात्रदानोत्थं फलं विपुलशर्मदम् ।
सद्भिः सत्पात्रदानेषु मतिः कार्या सदा मुदा ॥ १५ ॥

ये भव्याः पात्रदानेन फलं प्राप्ताः पुरा परम् ।
तेषां नामान्यपि ज्ञातुं कः क्षमः श्रीजिनं विना ॥ १६ ॥
तथा सूरिवरैः प्रोक्ता प्रसिद्धा दानिनो भुवि ।
तेषां कथाप्रबन्धेऽस्मिन्सन्नामानि प्रवच्म्यहम् ॥ १७ ॥
श्रीषेणेन महीशेन श्रीमद्वृषभसेनया ।
कौण्डेशेन वराहेण प्राप्ता ख्यातिः सुदानतः ॥ १८ ॥

उक्तंच—

श्रीषेणवृषभसेने कौण्डेशः शूकरश्च दृष्टान्ताः ।
वैयावृत्तस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः ॥

श्रीषेणेन सुपात्राय दानमाहारसंज्ञकम् ।
औषधं मुनये दत्तं श्रीमद्वृषभसेनया ॥ १९ ॥
कौण्डेशेन पुरा शास्त्र-मभयं शूकरेण च ।
तेषां कथाः प्रकथ्यन्ते संक्षेपेण यथाक्रमम् ॥ २० ॥
पूर्वमाहारसद्दानं दत्वा श्रीषेणभूपतिः ।
शान्तीशः शान्तिकृज्जातः क्रमतस्तत्कथां ब्रुवे ॥ २१ ॥
जयश्रीशान्तिनाथस्त्वं भुक्तिमुक्तिप्रदो नृणाम् ।
तच्चरित्रं जगच्चित्रं संश्रितं शान्तयेस्तु नः ॥ २२ ॥
सन्तः शृण्वन्तु संक्षेपा-त्तच्चरित्रं जगद्धितम् ।
श्रुतेन येन भव्यानां भवन्ति सुखकोटयः ॥ २३ ॥
अथ जम्बूमति द्वीपे क्षेत्रे भरतसंज्ञके ।
पवित्रे श्रीजिनेन्द्रोक्त-धर्मणा शर्मकारिणा ॥ २४ ॥

मलयाख्यमहादेशे रत्नसंचयसत्पुरे ।
श्रीषेणो नामतो राजा प्रजानां हितकारकः ॥ २५ ॥
संजातः पुण्यतो धीरो दाता भोक्ता विचारवान् ।
निष्कण्टकः सदाचार-मण्डितोतीव धार्मिकः ॥ २६ ॥
तस्य राज्ञी महासाध्वी संजाता सिंहनन्दिता ।
अनन्दिता द्वितीया च रूपलावण्यमण्डिता ॥ २७ ॥
तयोः क्रमेण संजातौ पुत्रौ चन्द्रार्कसन्निभौ ।
इन्द्रोपेन्द्रादिसेनान्तौ शूरौ वीरौ बलान्वितौ ॥ २८ ॥
इत्यादिपरिवारेण स श्रीषेणः समन्वितः ।
स्वप्रजाः पालयन्नित्यं पुण्यवान्सुखतः स्थितः ॥ २९ ॥
तत्रैव सात्यकिर्नाम्ना ब्राह्मणोतिमहान्सुधीः ।
ब्राह्मणी तस्य जंबाख्या सत्यभामा सुता तयोः ॥ ३० ॥
तथा विप्रो बलग्रामे वेदवेदाङ्गपारगः ।
अग्नीलाब्राह्मणीनाथो नामतो धरणीजटः ॥ ३१ ॥
इन्द्रभूत्यग्निभूती च तयोः पुत्रौ मनःप्रियौ ।
दासीपुत्रश्च संजातः कपिलस्तस्य सूक्ष्मधीः ॥ ३२ ॥
तद्वेदाध्ययने सोपि कपिलो गूढवृत्तितः ।
वेदवेदाङ्गपारज्ञो जातो बुद्धिबलात्तराम् ॥ ३३ ॥
ग्रन्थार्थतो महाविद्वान् जातो दासीसुतोपि च ।
किं करोति नरो लोके बुद्धिः कर्मानुसारिणी ॥ ३४ ॥
तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणाः सर्वे कुपिता धरणीजटे ।
कृतं त्वया महायोग्यं यद्दासेरः सुपाठितः ॥ ३५ ॥

इतिक्रोधयुतं वाक्यं तेषां श्रुत्वा महाभिया ।
धरणीजटविप्रेण सः स्वगेहाद्बहिष्कृतः ॥ ३६ ॥
कपिलोपि विनिर्गत्य तद्ग्रामादचलाभिधात् ।
विप्ररूपं समादाय शीघ्रं रत्नपुरं ययौ ॥ ३७ ॥
असौ सात्यकिविप्रो हि तं वीक्ष्य कपिलं तदा ।
विप्रवेषेण संयुक्तं वेदवेदाङ्गपारगम् ॥ ३८ ॥
ज्ञात्वा योग्यं महाभ्रान्त्या विभूत्या निजपुत्रिकाम् ।
जम्बूभार्यासमुत्पन्नां तां ददौ सत्यभामिकाम् ॥ ३९ ॥
तस्मै सोपि समादाय तां सतीं सुखतः स्थितः ।
राज्ञा संपूजितो भूत्वा कुर्वन्व्याख्यां मनोहराम् ॥ ४० ॥
एवं वर्षाणि जातानि कानिचित्सत्यभामिका ।
दुश्चरित्रं विलोक्यैव स्वपतेः ऋतुयोगके ॥ ४१ ॥
कस्य पुत्रोयमत्यन्त-पापात्मेति ससंशयम् ।
मानसे दुःखिता यावत्संस्थिता प्रीतिवर्जिता ॥ ४२ ॥
धरणीजटविप्रश्च पापाद्दारिद्र्यपीडितः ।
रत्नसंचयमायातः श्रुत्वा कपिलवैभवम् ॥ ४३ ॥
तं ब्राह्मणं समालोक्य दूरतः कपिलो रुषा ।
सन्तप्तो मानसे चापि वेगतः परया मुदा ॥ ४४ ॥
अभ्युत्थानादिकं कृत्वा वन्दित्वा च पुनः पुनः ।
विशिष्टासनमारोप्य मातुर्मे सुसहोदरः ॥ ४५ ॥
ब्रूत भो स्वामिनो यूयं सर्वे तिष्ठन्ति सौख्यतः ।
इति पृष्ट्वा सुखस्नान-भोजनैश्चित्तरंजनैः ॥ ४६ ॥

वस्त्रादिभिः समाराध्य सर्वेषामग्रतस्तदा ।
ममायं जनकः सर्व-विप्राणामग्रणीः सुधीः ॥ ४७ ॥
आचारवान्विचारज्ञः सर्वशास्त्रविचक्षणः ।
स्वमातुर्भेदसंभीतो माययैवं जगाद च ॥ ४८ ॥
सोपि दारिद्र्ययुक्तत्वा-त्तं पुत्रं प्रतिपद्य च ।
पापं श्रितस्तदा विप्रो धिग्दारिद्र्यमशर्मकम् ॥ ४९ ॥
एवं दिनेषु जातेषु केषुचिद्दूढवृत्तितः ।
स विप्रो भक्तितः पृष्टो दत्वा सारधनं तया ॥ ५० ॥
स्वनाथपितृकः सत्य-भामया ब्रूहि भो सुधीः ।
एकान्ते किं सुतस्तेयं सत्यं सत्यवताम्वर ॥ ५१ ॥
तदीयदुष्टचारित्रा-त्प्रतीतिर्मे न वर्त्तते ।
इत्याकर्ण्य द्विजः सोपि यातुमिच्छुर्निजं गृहम् ॥ ५२ ॥
चित्ते वहन्महाद्वेषं लब्धसम्पूर्णवित्तकः ।
प्रोक्त्वा तद्वृत्तकं सर्वं वेगतः स्वगृहं गतः ॥ ५३ ॥
दुष्टात्मना स्वनाथेना-निच्छन्ती महवासताम् ।
सत्यभामाकुलाचार-मानिनी शरणं गता ॥ ५४ ॥
तं भूपतिं तदा तेन रक्षिता स्वसुतेव सा ।
कपिलोपि समायातः शोकादन्यायकं ब्रुवन् ॥ ५५ ॥
तत्कुशीलं विचार्याशु भूभुजा दुष्टमानसः ।
निर्घाटितः स्वदेशात्स लम्पटः कपटद्विजः ॥ ५६ ॥
शिष्टानां पालनं दुष्ट-निग्रहं ये महीभुजः ।
कुर्वन्ति तेन्यथा सर्वे प्रजानां धनहारिणः ॥ ५७ ॥

एकदा पुण्ययोगेन स श्रीषेणमहीपतिः ।
तपो रत्नाकरौ पूतौ पवित्रीकृतभूतलौ ॥ ५८ ॥
प्रतीक्ष्यादित्यगत्याख्या-रिंजयाख्यौ महामुनी ।
चारणौ गृहमायातौ भक्त्या ताभ्यां प्रहर्षतः ॥ ५९ ॥
दत्वान्नं विधिना प्राप पञ्चाश्चर्याणि शुद्धधीः ।
सत्यं सुपात्रदानेन किं शुभं यन्न जायते ॥ ६० ॥
रत्नवृष्टिस्तथा पुष्प-वृष्टिर्गीर्वाणदुन्दुभिः ।
त्रिधा वायुर्मरुत्साधु-कारश्चाश्चर्यपञ्चकम् ॥ ६१ ॥
ततो राज्यं विधायोच्चैः स राजा पुण्यपाकतः ।
धातकीखण्डपूर्वार्द्ध-स्थितोदक्कुरुभूतले ॥ ६२ ॥
काले मृत्वा समुत्पन्नो भोगभूभूरिभोगभाक् ।
किं न स्यात्साधुसंगेन सौख्यं स्यान्मुक्तिजं यतः ॥ ६३ ॥
ते द्वे राज्ञ्यौ तथा सा च सत्यभामा महासती ।
तत्रैवोदक्कुरूद्भोग-भूमौ राज्ञा समं तदा ॥ ६४ ॥
तिस्रो मृत्वा समुत्पन्ना-स्तत्सुदानानुमोदनात् ।
दशधा कल्पवृक्षाणां महाभोगानुरंजिताः ॥ ६५ ॥

उक्तं च—

मद्यातोद्यविभूषास्रग्-ज्योतिर्दीपगृहाङ्गकाः ।
भोजनामत्रवस्त्राङ्गा दशधा कल्पपादपाः ॥

न रोगो नैव शोकश्च न चिन्ता न दरिद्रता ।
नाल्पमृत्युर्न वैरं च न सर्पा यत्र पापिनः ॥ ६६ ॥

शीतोष्णादिकबाधा न नैव युद्धं न दुर्जनः ।
यत्र कस्यापि सेवा न मानभंगो न कस्यचित् ॥ ६७ ॥
यत्रार्यपरिणामेन सर्वे तिष्ठन्ति सौख्यतः ।
जन्मादिमृत्युपर्यन्तं पात्रदानेन देहिनः ॥ ६८ ॥
यत्रोद्भवाः स्वभावोत्थ-मार्द्दवेन सुदानिनः ।
प्रान्ते देवगतिं यान्ति शेषपुण्यप्रभावतः ॥ ६९ ॥
तत्र सौख्यं चिरं भुक्त्वा स्वपंचेन्द्रियतर्पणम् ।
स श्रीषेणो महीपाल-स्तद्दानप्रथमोदयात् ॥ ७० ॥
कैश्चिद्भवान्तरैः पूतै-र्महाभ्युदयकारकैः ।
क्षेत्रेऽस्मिन्भारते सिद्धे हस्तिनाख्यपुरोत्तमे ॥ ७१ ॥
विश्वसेनमहीभर्त्तु-रैराराज्ञ्याः सुतो महान् ।
शान्तीशः तीर्थकृज्जातः पञ्चकल्याणशर्मभाक् ॥ ७२ ॥
येऽत्र भव्याः करिष्यन्ति पात्रदानं सुभक्तितः ।
तेषां नूनं भविष्यन्ति लोकद्वयमहाश्रियः ॥ ७३ ॥
इति ज्ञात्वा बुधैर्नित्यं स्वशक्त्या बहुभक्तितः ।
देयं पात्राय सद्दानं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ॥ ७४ ॥
सद्रत्नत्रयमण्डितोऽतिविमलः श्रीमूलसंघे महान्
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुः श्रीकुन्दकुन्दान्वये ।
तच्छिष्येण सुपात्रभोजनमहादानक्षणे शर्मणे
भूयाच्छान्तिविभोः कथा विरचिता श्रीनेमिदत्तेन वः ॥७५॥

इति कथाकोशे पात्राहारदानफलप्राप्त-श्रीश्रीषेण-महाराजाख्यानं समाप्तम् ।

११०–औषधदानफलाख्यानम् ।

नत्वा श्रीमज्जिनेन्द्राणां भारत्याः सद्गुरोः क्रमान् ।
कथामौषधदानस्य वक्ष्ये त्रैलोक्यपूजितान् ॥ १ ॥
दीर्घायुः स्वस्थता चित्ते कुष्ठादिव्याधिसंक्षयः ।
नीरोगता सदानन्दो भवेदौषधदानतः ॥ २ ॥
सौभाग्यं धनधान्यं च रूपलावण्यसम्पदा ।
तेजोबलं सुखं चैव क्रमेण स्वर्गमोक्षयोः ॥ ३ ॥
ततः पात्राय सद्देयं दययान्यत्र च क्वचित् ।
दानमौषधसंज्ञं तु हितार्थैर्दोषवार्जितम ॥ ४ ॥
दानस्यास्य फलं प्राप्तं यदनेकैर्महात्मभिः ।
तत्फलं शक्यते केन वर्णयितुं जगत्त्रये ॥ ५ ॥
फलमौषधदानस्य प्राप्तं वृषभसेनया ।
तदहं जिनसूत्रेण वक्ष्ये संक्षेपतः श्रिये ॥ ६ ॥
अथेह भरतक्षेत्रे जिनजन्मपवित्रिते ।
नाम्ना जनपदे देशे सम्पदा सारसंभृते ॥ ७ ॥
कावेरीपत्तने राजा प्रजानां हितकारकः ।
उग्रसेनोभवन्नाम्ना राजविद्याविराजितः ॥ ८ ॥
श्रेष्ठी धनपतिस्तत्र जिनपादार्चने मतिः ।
तस्य भार्या महासाध्वी धनश्रीः श्रीरिवापरा ॥ ९ ॥
तयोः पूर्वार्जितैः पुण्यैः रूपलावण्यमण्डिता ।
पुत्री वृषभसेनाख्या जाता कीर्तिवदुज्ज्वला ॥ १० ॥

तस्य रूपवती धात्री नित्यं स्नानादिकं मुदा ।
करोति बहुयत्नेन पुण्यात्किं वा न जायते ॥ ११ ॥
श्रीमद्वृषभसेनायाः स्नानवारिभरेण च ।
जातायां तत्र गर्त्तायां कुक्कुरं रोगपीडितम् ॥ १२ ॥
एकदा सा समालोक्य धात्रिका पतितोत्थितम् ।
गतरोगमहाजालं तत्क्षणाजातविस्मया ॥ १३ ॥
पुत्रीस्नानजलं व्यक्तं कारणं रोगसंक्षये ।
इत्यालोच्य समादाय तज्जलं रोगनाशकम् ॥ १४ ॥
शीघ्रं तेन जलेनैव परीक्षार्थं महादरात् ।
निजमातुर्महच्चक्षु-र्व्याधिना संकदर्थिते ॥ १५ ॥
द्वादशवर्षपर्यन्तं तस्याः कुथितलोचने ।
प्रक्षाल्य निर्मलीकृत्य विलोक्यात्यन्तसुन्दरे ॥ १६ ॥
ततस्तेनाम्बुना सर्व-रोगसन्तानहारिणा ।
ख्याता रूपवती जाता सर्वव्याधिविनाशने ॥ १७ ॥
अक्षिजं कुक्षिजं रोगं शिरोजं गरलोद्भवम् ।
क्षयं नयति सा तत्र सर्वकुष्ठादिकं घनम् ॥ १८ ॥
अथैकदोग्रसेनेन स्वमंत्री रणपिङ्गलः ।
मेघपिङ्गलराजस्यो-परि संप्रेषितो द्रुतम् ॥ १९ ॥
ततोसौ बहुसैन्येन तद्देशं संप्रविष्टवान् ।
जातो महाज्वरी तत्र विषोदकनिषेवणात् ॥ २० ॥
पश्चात्स्वगृहमायातो रूपवत्या जलेन सः ।
प्राणीव गुरुवाक्येन कृतो रोगविवर्जितः ॥ २१ ॥

उग्रसेनोपि भूभर्ता कोपानलकदर्थितः ।
मेघपिङ्गलराजस्य बन्धनार्थं गतो जवात् ॥ २२ ॥
तथासौ विषनीरोत्थ-महाज्वरविर्तार्जितः ।
व्याघुट्यैव समायातः ससैन्यो मानवर्जितः ॥ २३ ॥
रणपिङ्गलतो ज्ञात्वा तज्जलं रोगनाशनम् ।
राजा याचितवांस्तूर्णं स्वरोगक्षयहेतवे ॥ २४ ॥
तदा धनश्रिया प्रोक्तं श्रेष्ठिनं प्रति भीतया ।
स्वामिन्कथं सुतास्नान-जलं भूपतिमस्तके ॥ २५ ॥
क्षेप्यते तत्समाकर्ण्य जगौ श्रेष्ठी गरिष्ठधीः ।
यदि पृच्छति राजासौ तदास्माभिः प्रकथ्यते ॥ २६ ॥
सत्यं जलस्वरूपं हि न दोषः स्यादिति ध्रुवम् ।
ब्रुवन्ति न कदा सन्तः प्राणत्यागेप्यसत्यकम् ॥ २७ ॥
एवं मंत्रे कृते तेन जलेनैव महीपतिः ।
उग्रसेनः कृतो धात्र्या तया रोगविवर्जितः ॥ २८ ॥
नीरोगेण ततो राज्ञा पृष्टा रूपवती स्फुटम् ।
सर्वं जगाद तत्तोय-स्वरूपं शर्मकारणम् ॥ २९ ॥
ततो राज्ञा समाहूतः श्रेष्ठी धनपतिः सुधीः ।
तत्कालं स समायातो दुर्लङ्घ्यं राजशासनम् ॥ ३० ॥
दत्वा तस्मै महामानं राज्ञा श्रेष्ठी स याचितः ।
श्रीमद्वृषभसेनां तां परिणेतुं गुणोज्वलाम् ॥ ३१ ॥
श्रुत्वासौ भूपतेर्वाक्यं जगौ श्रेष्ठी सुनिश्चलः ।
राजन्देवेन्द्रचन्द्रार्क-नरेन्द्रैः खचरैः कृताम् ॥ ३२ ॥

पूजामाष्टाह्निकीं पूतां स्वर्गमोक्षसुखप्रदाम् ।
जिनेन्द्रप्रतिमानां च स्नपनं पूजनं तथा ॥ ३३ ॥
करोषि यदि सद्भक्त्या पंजरस्थान्विमुञ्चसि ।
पक्षिणश्च तथा कारा-गारान्मुञ्चासि सत्वरम् ॥ ३४ ॥
मनुष्यांश्च तदा तुभ्यं ददामि मम पुत्रिकाम् ।
रूपसौभाग्यसत्पुण्य-मण्डितां कुलदीपिकाम् ॥ ३५ ॥
उग्रसेनस्तदा सर्वं कृत्वा राजा महामुदा ।
परिणीय महाभूत्या तस्य पुत्रीं सुखप्रदाम् ॥ ३६ ॥
कृत्वा पट्टमहाराज्ञीं वल्लभां तां तथैव च ।
अन्यत्कार्यं परित्यज्य नित्यं क्रीडां करोति सः ॥ ३७ ॥
तदा वृषभसेना च प्राप्य राज्ञीपदं महत् ।
दिव्यान्भोगान्प्रभुंजाना पूर्वपुण्यप्रसादतः ॥ ३८ ॥
पूजयन्ती जगत्पूज्या-ञ्जिनान्स्वर्गापवर्गदान् ।
दिव्यैरष्टमहाद्रव्यैः स्नपनादिभिरुत्तमैः ॥ ३९ ॥
मानयन्ती महासाधून्मानैर्दानैश्चतुर्विधैः ।
पालयन्ती व्रतं शीलं स्वोचितं सारशर्मदम् ॥ ४० ॥
कुर्वती परया प्रीत्या सम्मानं च सधर्मिणाम् ।
निजोन्नतेः फलं तद्धि यद्भक्तिः स्यात्सधर्मिणाम् ॥ ४१ ॥
इत्यादिकं जगत्पूज्यं जिनधर्मं सुखप्रदम् ।
संकुर्वाणा लसद्भक्त्या सा सती सुखतः स्थिता ॥ ४२ ॥
अथ तत्र महाराजो वाराणस्याः सुदुष्टधीः ।
नामतः पृथिवीचन्द्रः कारागारे स तिष्ठति ॥ ४३ ॥

स तद्विवाहकालेपि दुष्टत्वान्नैव मोचितः ।
जन्तोरतीव दुष्टस्य क्व भवेद्बन्धनक्षयः ॥ ४४ ॥
पृथिवीचन्द्रकस्यास्य राज्ञो राज्ञी प्रवर्त्तते ।
या नारायणदत्ताख्या तया मंत्रं सुमांत्रिभिः ॥ ४५ ॥
कृत्वोच्चैः पृथिवीचन्द्र-मोचनार्थं सुकारिताः ।
नाम्ना वृषभसेनायाः शाला दानस्य सर्वतः ॥ ४६ ॥
वाराणस्यां महावस्तु-रसषट्कसमन्विताः ।
तासु वै भोजनं कृत्वा यथेष्टं ब्राह्मणादयः ॥ ४७ ॥
कावेरीपत्तने तुष्टा आगच्छन्ति निरन्तरम् ।
तेभ्यस्तां वार्त्तिकां श्रुत्वा रुष्टा रूपवती तदा ॥ ४८ ॥
कथं वृषभसेने त्वं वाराणस्यां क्षुधाहराः ।
मामनापृच्छ्य सद्दान-शालाः कारयसीति च ॥ ४९ ॥
सावोचत्तत्समाकर्ण्य प्रोक्तं वृषभसेनया ।
नाकारिता मया मात-र्मन्नाम्ना किन्तु केन वै ॥ ५० ॥
केनचित्कारणेनैव कारिताः सन्ति ताः शुभे ।
तासां शुद्धिं कुरु त्वं च तवानन्दो भविष्यति ॥ ५१ ॥
ज्ञात्वा चरैस्ततो धात्र्या सर्वं च कथितं मुदा ।
श्रीमद्वृषभसेनाग्रे तद्दानस्यैव कारणम् ॥ ५२ ॥
तया च भूपतेः प्रोक्त्वा कारागारात्तदा द्रुतम् ।
स राजा पृथिवीचन्द्रो मोचितः प्रीतितस्तराम् ॥ ५३ ॥
ततः पृथिवीचन्द्रेण फलकेत्यन्तसुन्दरे ।
राज्ञो वृषभसेनायाः शुभे रूपे च कारिते ॥ ५४ ॥

यथोरधो निजं रूपं सप्रणामं च कारितम् ।
पश्चात्तयोः प्रणम्योच्चैः फलकस्तेन दर्शितः ॥ ५५ ॥
उक्तं वृषभसेनाया-स्त्वं भो देवि ममाम्बिका ।
त्वत्प्रसादेन मे जातं जन्मेति सफलं भुवि ॥ ५६ ॥
ततः सन्तोषमासाद्य राज्ञा सम्मानपूर्वकम् ।
भणितश्चोग्रसेनेन वाराणस्याः स भूपतिः ॥ ५७ ॥
गन्तव्यं भो त्वया मेघ-पिङ्गलस्योपरि द्रुतम् ।
श्रुत्वेति पृथिवीचन्द्रो तं नत्वा स्वपुरीं गतः ॥ ५८ ॥
मेघपिङ्गलराजासौ तदाकर्ण्य विचार्य च ।
ममायं पृथिवीचन्द्रो मर्मभेदीति निश्चितम् ॥ ५९ ॥
समागत्योग्रसेनस्य सामन्तोजनि भक्तितः ।
पुण्येन मित्रतामेति शत्रुः स्वैरं न संशयः ॥ ६० ॥
अथैकदोग्रसेनेन प्रतिज्ञेयं कृता मुदा ।
ममास्थानस्थितस्योच्चै-रागमिष्यति यद्ध्रुवम् ॥ ६१ ॥
तस्याहं प्राभृतस्यार्द्धं मेघपिङ्गलकाय च ।
अर्धं वृषभसेनायै दास्यामीति तथा सति ॥ ६२ ॥
रत्नकम्बलयोर्युग्म-मेकदैव समागतम् ।
एकैकं तं ददौ राजा ताभ्यां कृत्वा समानकम् ॥ ६३ ॥
किं धनं कांचनं वस्त्रं किमायुश्च परिक्षयि ।
परोपकृतये प्रोक्तं पालनीयं वचो बुधैः ॥ ६४ ॥
मेघपिङ्गलभार्या या सैकदा तं सुकम्बलम् ।
प्रयोजनेन प्रावृत्य रूपवत्याः समीपके ॥ ६५ ॥

गता तत्र प्रमादेन परिवर्त्तोऽभवत्तदा ।
तयोः कम्बलयोः कष्टं प्रमादो न सुखायते ॥ ६६ ॥
तदा वृषभसेनायाः प्रावृत्यैव च कम्बलम् ।
उग्रसेनसभामध्ये स मुग्धो मेघपिङ्गलः ॥ ६७ ॥
सेवार्थी चैकदा यात-स्तं दृष्ट्वा भूपतिस्तदा ।
महाकोपेन सन्तप्तो वह्निर्वा घृतयोगतः ॥ ६८ ॥
तदा भूपतिमालोक्य सकोपं मेघपिङ्गलः ।
ममायं कुपितो राजा ज्ञात्वेति प्रपलायितः ॥ ६९ ॥
सुदूरं गतवाञ्छीघ्रं महाहयवशीकृतः ।
दुर्जनाद्दुर्भावाद्वा सज्जनो गुणमण्डितः ॥ ७० ॥
उग्रसेनेन कोपाग्नि-सन्तप्तेनाविवेकिना ।
सती वृषभसेना सा समुद्रे पातिता वृथा ॥ ७१ ॥
धिक्कोपत्वं विमूढत्वं याभ्यां जीवो वशीकृतः ।
कदाचिन्नैव जानाति युक्तायुक्तविचारणम् ॥ ७२ ॥
तया श्रीजिनपादाब्ज-भ्रमर्या विहिता दृढम् ।
प्रतिज्ञा यद्यहं घोरा-द्देतस्मादुपसर्गतः ॥ ७३ ॥
उद्धरिष्यामि तच्चित्रं करिष्यामि महातपः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्तं जरामरणनाशनम् ॥ ७४ ॥
तदा तस्या विशुद्धाया महाशीलप्रभावतः ।
जलदेवतया तत्र कृतं सिंहासनादिकम् ॥ ७५ ॥
प्रातिहार्यं महाभक्त्या जगच्चेतोनुरंजनम् ।
अहो भव्या न तच्चित्रं सच्छीलात्किं न जायते ॥ ७६ ॥

महाग्निर्जलतामेति स्थलतामेति सागरः ।
शत्रुश्च मित्रतामेति सुधात्वं याति दुर्विषम् ॥ ७७ ॥
सच्छीलेन यशः पुण्यं निर्मलं सारसम्पदा ।
भवन्ति स्वर्गसौख्यानि क्रमेण परमं पदम् ॥ ७८ ॥
तस्माच्छीलं जिनेन्द्रोक्तं सर्वपापप्रणाशनम् ।
मनोमर्कटं रुद्ध्वा पालनीयं बुधोत्तमैः ॥ ७९ ॥
तच्छ्रुत्वा शीलमाहात्म्य-मुग्रसेनो महीपतिः ।
पश्चात्तापं तदा कृत्वा तामानेतुं गतः सतीम् ॥ ८० ॥
आगच्छन्त्या महासत्या तया वैराग्यभावतः ।
दृष्टो महामुनिस्तत्र वनमध्ये गुणान्वितः ॥ ८१ ॥
नाम्ना गुणधरो धीरः सावधिज्ञानलोचनः ।
तं प्रणम्य लसद्भक्त्या पृष्टो वृषभसेनया ॥ ८२ ॥
स्वामिन्पुराभवे किं च कृतं कर्म शुभाशुभम् ।
मया तद्ब्रूहि योगीन्द्र दयारससरित्पते ॥ ८३ ॥
तन्निशम्य मुनिः प्राह शृणु पुत्रि गदाम्यहम् ।
त्वं पूर्वस्मिन्भवेत्रैव जातासि ब्राह्मणात्मजा ॥ ८४ ॥
नागश्रीर्नामतो राज-कीये देवकुले सदा ।
सम्मार्जनं करोष्येव मुनीन्द्रश्चैकदा महान् ॥ ८५ ॥
मुनिदत्तोभिधानेन समागत्य निजेच्छया ।
तत्र निर्वातगर्त्तायां प्राकाराभ्यन्तरे तदा ॥ ८६ ॥
अपराह्णे सपर्यंक-कायोत्सर्गेण संस्थितः ।
त्वया चाज्ञानभावेन रुष्टया भणितो मुनिः ॥ ८७ ॥

कटकान्मे समायातो राजात्रैवागमिष्यति ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ नग्न त्वं करोम्यत्र सुनिर्मलम् ॥ ८८ ॥
सम्मार्जनं तदा स्वामी महाध्यानेन संस्थितः ।
स धीरो मेरुवद्गाढं न चचाल स्वयोगतः ॥ ८९ ॥
ततस्त्वयाविवेकिन्या कृतवारैर्महामुनेः ।
तस्योपरि क्रुधा कष्टं पूरयित्वा कृतं सुधीः ॥ ९० ॥
सम्मार्जनं जगत्पूज्यो यो मुनिः परमार्थतः ।
तस्य किं क्रियते कष्टं धिग्विमूढस्य चेष्टितम् ॥ ९१ ॥
प्रभाते चागतेनैव राज्ञा तत्र स्वलीलया ।
क्रीडां प्रकुर्वता वीक्ष्य तं प्रदेशं महाद्भुतम् ॥ ९२ ॥
उच्छ्वाससहितं चैव निःश्वाससहितं तथा ।
उत्खन्य स मुनिस्तेन शीघ्रं निस्सारितो मुदा ॥ ९३ ॥
त्वया तदा तमालोक्य मुनिं प्रशममन्दिरम् ।
आत्मनिन्दां तरां कृत्वा रुचिं धर्मे विधाय च ॥ ९४ ॥
महादरेण तस्यैव मुनिनाथस्य निर्मलम् ।
कृतं चौषधदानं हि महापीडाप्रशान्तये ॥ ९५ ॥
वैयावृत्यं विधायोच्चैः सर्वक्लेशविनाशनम् ।
पुत्रि तेनैव पुण्येन मृत्वेह त्वं गुणान्विता ॥ ९६ ॥
पुत्री धनपतेर्जाता धनश्रीकुक्षिसंभवा ।
सती वृषभसेनाख्या विख्याता भुवनत्रये ॥ ९७ ॥
विशिष्टौषधदानेन संजाता तेतिनिर्मला ।
सर्वौषधर्द्धिः सर्वेषां रोगाणां नाशकारिणी ॥ ९८ ॥

कतवारेण यत्स्वामी पूरितो मुग्धया त्वया ।
कृत्पापेनैव लोकेभू-द्वृथा ते च कलंकता ॥ ९९ ॥
तस्मात्पुत्रि न युक्तैव साधुपीडा कदाचन ।
स्वर्गमोक्षफलप्राप्त्यै कर्तव्यं साधुसेवनम् ॥ १०० ॥
इति श्रुत्वा मुनेर्वाक्यं जगत्तापनिवारणम् ।
श्रीमद्वृषभसेना सा सद्वैराग्यपराभवत् ॥ १०१ ॥
ततश्च परलोकाय मोचयित्वा निजं मुदा ।
राजादीनां क्षमां कृत्वा भवक्लेशविनाशिनीम् ॥ १०२ ॥
दीक्षां गुणधराख्यस्य तस्य पार्श्वे सुखप्रदाम् ।
नत्वा मुनेः पदाम्भोजं संजग्राह विचक्षणा ॥ १०३ ॥
यथा वृषभसेना सा संजातौषधदानतः ।
सर्वौषधर्द्धिसम्पन्ना तथा तत्क्रियते बुधैः ॥ १०४ ॥
गुणधरयतिनोक्तं यच्चरित्रं पवित्रं
सकलभुवनसिद्धं तन्निशाम्य प्रभव्याः ।
जिनपतिकथितेस्मिन्सारधर्मे बभूवुः
परमरुचिपरास्ते सा सती वः पुनातु ॥ १०५ ॥

इति कथाकोशे सुपात्रौषधदानफलप्राप्त-
श्रीवृषभसेनाख्यानं समाप्तम् ।

१११—शास्त्रदानफलप्राप्ताख्यानम् ।

नत्वा श्रीमज्जिनं देवं संसाराम्बुधितारणम् ।
वक्ष्येहं श्रुतदानस्यो-पाख्यानं सौख्यकारणम् ॥ १ ॥

भारतीं भुवनज्येष्ठां नमामि जिनसंभवाम् ।
अज्ञानपटलानां या सच्छलाका विनाशिनी ॥ २ ॥
मुनीनां जितमोहानां सद्रत्नत्रयशालिनाम् ।
पादपद्मानि सद्मानि पद्मायाः प्रणमाम्यहम् ॥ ३ ॥
इति श्रीजिनवाग्देवी-गुरून्नत्वा प्रकथ्यते ।
शृण्वन्तु सुधियो भव्या ज्ञानदानकथानकम् ॥ ४ ॥
यज्ज्ञानं सर्वजन्तूनां लोचनं परमोत्तमम् ।
तत्पात्राय महाभक्त्या दीयते किमतः परम् ॥ ५ ॥
ज्ञानेन विमला कीर्त्ति-र्ज्ञानेन परमं सुखम् ।
ज्ञानेन भुक्तिमुक्ती च प्राप्यते तन्निषेवणात् ॥ ६ ॥
सम्यग्ज्ञानं जिनेन्द्रोक्तं विरोधपरिवर्जितम् ।
सर्वथा भक्तितो नित्यं सेव्यं भव्यैः शुभश्रिये ॥ ७ ॥
दानैर्मानैर्जगत्सार-पूजनैः सप्रभावनैः ।
पठनैः पाठनैर्ज्ञान-माराध्य श्रीजिनोदितम् ॥ ८ ॥
वाचनापृच्छनासारा-नुप्रेक्षाम्नायसंयुतैः ।
धर्मोपदेशनैश्चैवं पंचधा ज्ञानभावना ॥ ९ ॥
कर्त्तव्या हि महाभव्यैः केवलज्ञानहेतवे ।
किमत्र बहुनोक्तेन जिनज्ञानं जगद्धितम् ॥ १० ॥
अनेकैर्भव्यमुख्यैश्च ज्ञानदानं कृतं पुरा ।
तेषां नामन्यपि प्राणी वक्तुं लोकेत्र कः क्षमः ॥ ११ ॥
कौण्डेशस्य महीभर्त्तुः प्रसिद्धा भुयनत्रये ।
या कथा ज्ञानदानस्य तामर्हत्सूत्रतो ब्रुवे ॥ १२ ॥

अथेह भरतक्षेत्रे जिनधर्मपवित्रिते ।
जातः कुरुमरिग्रामे गोपो गोविन्दनामभाक् ॥ १३ ॥
तेनैकदा महाटव्यां दृष्टं कोटरमध्यगम् ।
श्रीजैनं पुस्तकं पूतं पवित्रीकृतभूतलम् ॥ १४ ॥
तस्मादादाय सम्पूज्य भक्त्या दत्तं महात्मने ।
पद्मनन्दिमुनीन्द्राय वन्दिताय सुरेशिना ॥ १५ ॥
पूर्वं तेनैव शास्त्रेण तत्राटव्यां जितेन्द्रियाः ।
पूर्वभट्टारकाः केचित्कृत्वा व्याख्यां जगद्धिताम् ॥ १६ ॥
कारयित्वा महापूजां भाक्तिकैः स्वर्गमोक्षदाम् ।
विधाय श्रीजिनेन्द्राणां सद्धर्मे च प्रभावनाम् ॥ १७ ॥
भव्यान्सम्बोध्य सन्मार्गं प्रकाश्य श्रीजिनोदितम् ।
पुनस्तं कोटरे धृत्वा गतास्ते ध्वस्तकल्मषाः ॥ १८ ॥
बाल्यात्प्रभृति तेनैव गोविन्देन शुभप्रदा ।
तस्यैव पुस्तकस्योच्चै-श्चक्रे पूजा सदा मुदा ॥ १९ ॥
एकदाथ स गोविन्दो यमव्यालेन भक्षितः ।
कः को न वंचितो लोके यमेन प्राणहारिणा ॥ २० ॥
मृत्वा तत्रैव संजातः स निदानेन गोपकः ।
तेन पुण्येन संयुक्तो ग्रामकूटस्य नन्दनः ॥ २१ ॥
सुखेन वर्द्धितो नित्यं जनयन्प्रीतिमद्भुताम् ।
जनानां शुभपुण्येन सुभगो जनरंजनः ॥ २२ ॥
एकदासौ तमालोक्य पद्मनन्दिमुनीश्वरम् ।
जातो जातिस्मरो ज्ञात्वा पूर्वजन्मविचेष्टितम् ॥ २३ ॥

नत्वा तस्य पदाम्भोजं महाधर्मानुरागतः ।
दीक्षां जग्राह पूतात्मा परमानन्दनिर्भरः ॥ २४ ॥
कालेनैव तपस्तप्त्वा स गोविन्दचरो मुनिः ।
ततः प्राणात्यये जातः कौण्डेशो भूमिपस्तराम् ॥ २५ ॥
बालेन विजितारातिस्तेजसेव दिवाकरः ।
स्वरूपेणेव कन्दर्पः कान्त्या पूर्णेन्दुसन्निभः ॥ २६ ॥
महाविभवसम्पन्नो महासौभाग्यमण्डितः ।
महासौख्यनिवासोभून्महाकीर्त्तिविराजितः ॥ २७ ॥
भुंजानो विविधान्भोगान्पालयन्पुत्रवत्प्रजाः ।
चतुष्प्रकारजैनेन्द्र-धर्मं कुर्वन्सुखं स्थितः ॥ २८ ॥
एवं काले गलत्युच्चैः पूर्वपुण्येन सौख्यतः ।
कदाचित्सोपि संवीक्ष्य कौण्डेशः कारणं महत् ॥ २९ ॥
निस्सारश्चैष संसारो भोगा रोगा इवापरे ।
अस्थिरा सम्पदा सर्वा चञ्चला भाति मोहिनी ॥ ३० ॥
शरीरं पलसन्दोह-संभृतं दुःखराशिदम् ।
बीभत्सु पूतिसंयुक्तं क्षणादेव परिक्षयि ॥ ३१ ॥
इति ज्ञात्वा सुधीश्चित्ते जैनतत्वविदाम्वरः ।
महावैराग्यसंपन्नो राज्यं त्यक्त्वा त्रिधा द्रुतम् ॥ ३२ ॥
कृत्वा पूजां जिनेन्द्राणां शर्मकोटिविधायिनीम् ।
नत्वा गुरुं तपो धृत्वा जिनोक्तं दोषवर्जितम् ॥ ३३ ॥
संजातः पूर्वपुण्येन मुनीन्द्रः श्रुतकेवली ।
अहो भव्या न तच्चित्रं भवेद्ज्ञानेन केवली ॥ ३४ ॥

यथासौ मुनिनाथोभू-च्छ्रुतज्ञानविराजितः ।
ज्ञानदानात्तथा भव्यैः कर्त्तव्यं स्वात्मनो हितम् ॥ ३५ ॥
ये भव्याः श्रीजिनाधीश-ज्ञानसेवां जगद्धिताम् ।
महाभक्त्या प्रकुर्वन्ति स्नपनैः पूजनैस्तथा ॥ ३६ ॥
स्तवनैर्जपनैर्नित्यं पठनैः पाठनैः शुभैः ।
लिखनैर्लेखनैः पात्रै-र्दानैर्मानैर्विशेषतः ॥ ३७ ॥
महाप्रभावनाङ्गैश्च सारसम्यक्त्वहेतुभिः ।
तेषां सुखानि भव्यानां भवन्त्येव सहस्रशः ॥ ३८ ॥
धनं धान्यं कुलं गोत्रं पवित्रं चारुमङ्गलम् ।
कीर्तिः स्वायुर्महाज्ञानं विमलाः सर्वसम्पदाः ॥ ३९ ॥
किमत्र बहुनोक्तेन सर्वे सारमनोरथाः ।
स्वर्गमोक्षप्रसौख्यानि प्राप्यन्ते ज्ञानसेवया ॥ ४० ॥
अष्टादश महादोषै-र्मुक्तो जिननायकः ।
तदुक्तं वचनं नित्यं भावितं भवति श्रिये ॥ ४१ ॥
मयेति कथिता ज्ञान-दानस्यैषा कथा शुभा ।
अस्तु मे भवतां भव्या केवलज्ञानहेतवे ॥ ४२ ॥
गच्छे श्रीमति मूलसंघविमले सारस्वते सच्छुभे ।
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरू रत्नत्रयालंकृतः ।
तच्छिष्येण कथा जिनेन्द्रकथिता श्रीज्ञानदानोद्भवा
भव्यानां भवशान्तये विरचिता भूयात्सदा शर्मदा ॥४३॥

इति कथाकोशे सुपात्रदत्तज्ञानदानफलप्राप्तकौण्डेश-नृपाख्यानं समाप्तम् ।

११२—अभयदानफलप्राप्ताख्यानम् ।

श्रीमत्पादद्वयं नत्वा जिनेन्द्रस्य शुभश्रिये ।
कथामभयदानस्य भक्त्यार्हत्सूत्रतो ब्रुवे ॥ १ ॥
सरस्वती श्रिये मेस्तु भक्त्या भव्यशतार्चिता ।
महाश्रुताब्धिपाराय सतां या नौ मतल्लिका ॥ २ ॥
स्मरामि शान्तये नित्यं मुनीनां ब्रह्मशालिनाम् ।
येषां सद्भक्तितो नूनं सन्मार्गः सुखतो नृणाम् ॥ ३ ॥
इत्याप्तगुणसंस्तोत्र-मंगलेन मयाधुना ।
कथा वसतिदानस्य दृष्टान्तेन निगद्यते ॥ ४ ॥
अत्रैव भरतक्षेत्रे पवित्रे धर्मकर्मभिः ।
देशो मालवसंज्ञोभून्महाशोभाशतान्वितः ॥ ५ ॥
धनैर्धान्यैर्जनैर्नित्यं नानावस्तुसमुच्चयैः ।
भाति यः सम्पदासारै-र्निवासो वा जगच्छ्रियः ॥ ६ ॥
वनैरारामसंयुक्तैः सरिद्भिरिसमन्वितैः ।
पद्माकरैश्च संकीर्णो देवानामप्रियः प्रियः ॥ ७ ॥
नरनार्योवसन्त्युच्चै रूपलावण्यमण्डिताः ।
महाभोगशतैर्युक्ता यत्र पुण्यप्रसादतः ॥ ८ ॥
यत्र सद्मानि भान्त्युच्चै-र्जिनानां जितकर्मणाम् ।
ग्रामे ग्रामे महासार-पर्वतेषु वने वने ॥ ९ ॥
प्रोत्तुङ्गशिखरैर्नित्यं कनत्काञ्चनसद्घटैः ।
ध्वजोत्करकरैर्यानि दर्शयन्तीव सत्पथम् ॥ १० ॥

येषां दर्शनमात्रेण पवित्रजिनसद्मनाम् ।
क्षणात्पापं प्रयात्येव तत्र किं वर्ण्यते परम् ॥ ११ ॥
यत्र श्रीमुनयो नित्यं रत्नत्रयविराजिताः ।
भान्ति सत्तपसा स्वस्था मार्गा वा शिवसद्मनः ॥ १२ ॥
लसत्युच्चैर्जिनेन्द्राणां यत्र धर्मः सुशर्मदः ।
सम्यक्त्वरत्नसंपूतो दानपूजाव्रतान्वितः ॥ १३ ॥
दोषैर्मुक्तो जिनाधीशो देवदेवेन्द्रपूजितः ।
अष्टादशभिरित्यास्था केवलज्ञानशर्मभाक् ॥ १४ ॥
दशलाक्षणिको धर्मो गुरुर्निर्ग्रन्थलक्षणः ।
तत्वे जिनोदिते श्रद्धा सम्यक्त्वं चेति लक्षणम् ॥ १५ ॥
पूजां श्रीमज्जिनेन्द्राणां स्वर्मोक्षसुखदायिनीम् ।
दानं पात्रे महाभक्त्या नित्यं शर्मशतप्रदम् ॥ १६ ॥
सच्छीलमुपवासं च व्रतानि बहुभेदतः ।
यत्र भव्या विधायेति धर्मं यान्त्येव सद्गतिम् ॥ १७ ॥
तत्रोद्भवे घटग्रामे सम्पदासारसंभृते ।
संजातो देविलो नाम्ना कुंभकारो धनान्वितः ॥ १८ ॥
तत्रैव च घटग्रामे नाम्ना धर्मिलनापितः ।
ताभ्यां पथिकलोकानां वासदानायकारितम् ॥ १९ ॥
एकं देवकुलं तत्र देविलेनैकदा मुदा ।
धर्मार्थं मुनये दत्तो निवासः प्रथमं परः ॥ २० ॥
धर्मिलेन ततस्तत्र परिव्राजकक्कः कुधीः ।
समानीय धृतस्ताभ्यां मुनिस्तस्माद्बहिष्कृतः ॥ २१ ॥

सत्यं दुष्टा दुराचारा ये नराः पापवासिताः ।
तेषां नैव प्रियः साधु-रुलोकानामिवांशुमान् ॥ २२ ॥
ततश्च मुनिनाथोसौ तस्मान्निर्गत्य लीलया ।
वृक्षमूले स्थितो रात्रौ स्वशरीरेपि निस्पृहः ॥ २३ ॥
इन्द्रचन्द्रार्कनागेन्द्र-खेचरेन्द्रैः समर्चितः ।
शीतोष्णदंशमशकैः सहमानः परीषहान् ॥ २४ ॥
प्रभाते तं मुनिं दृष्ट्वा ज्ञात्वा तत्कारणं पुनः ।
देविलः कुंभकारश्च कुपितो धर्मिलाय सः ॥ २५ ॥
युद्धं कृत्वा तदा रौद्रं हत्वा तौ च परस्परम् ।
क्रमेण शूकरव्याघ्रौ संजातौ विन्ध्यपर्वते ॥ २६ ॥
यत्रैवास्ते गुहामध्ये स देविलचरः सुखम् ।
शूकरश्चैकदा तत्र समागत्य स्थितौ मुनी ॥ २७ ॥
द्वौ धीरौ दैवयोगेन पवित्रीकृतभूतलौ ।
समाधिगुप्तित्रिगुप्ती नाम्ना त्रैलोक्यपूजितौ ॥ २८ ॥
वीक्ष्य तौ यतिनौ जाति-स्मरो भूत्वा स शूकरः ।
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं व्रतं किमपि चाग्रहीत् ॥ २९ ॥
तदा मानुष्यमाघ्राय गन्धं तत्रैव चागतः ।
स नापितचरो व्याघ्रो मुनिभक्षणदुष्टधीः ॥ ३० ॥
शूकरोपि गुहाद्वारे तयो रक्षमतिस्तराम् ।
स्थित्वा व्याघ्रेण तेनैव समं युद्धं चकार सः ॥ ३१ ॥
दन्तैर्नखैः करोद्घातैः कृत्वा युद्धं परस्परम् ।
तौ तत्र मरणं प्राप्तौ तिर्यञ्चौ चातिदारुणम् ॥ ३२ ॥

शूकरो मुनिरक्षाभिः प्रायेण शुभयोगतः ।
कल्पे सौधर्मसंज्ञोभू-द्देवो नानर्द्धिको महान् ॥ ३३ ॥
निजदेहप्रभाभारै-र्निष्काशितमहातमाः ।
रूपलावण्यसौभाग्य-सुरंजितजगन्मनाः ॥ ३४ ॥
दिव्याम्बरधरो धीर-स्तिरीटादिविभूषणः ।
स्रग्वी सुकान्तिसंयुक्तो विनिर्जितसुरद्रुमः ॥ ३५ ॥
अणिमादिगुणोपेतः सावधिज्ञानलोचनः ।
पूर्वपुण्यप्रसादेन स देवो दिव्यसौख्यभाक् ॥ ३६ ॥
देवाङ्गनागणैर्युक्तः सुरासुरैः सुसेवितः ।
महाविभवसम्पन्नो महाकल्याणभाजनम् ॥ ३७ ॥
सर्वेन्द्रविलसन्मौलि-कोटिचर्चितपङ्कवाम् ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां चरणार्चनकोविदः ३८ ॥
कृत्रिमाकृत्रिमाणां च जिनेन्द्रवरसद्मनाम् ।
जिनेन्द्रप्रतिमानां च साक्षात्तीर्थेशिनां सदा ॥ ३९ ॥
पूजां प्रीत्या प्रकुर्वाणो लसत्संपत्प्रदायिनीम् ।
सत्तीर्थेषु महायात्रां दुर्गतिच्छेदकारिणीम् ॥ ४० ॥
महामुनिषु सद्भक्तिं नित्यं साधर्मिकेषु च ।
सद्वात्सल्यं वितन्वानः स देवः सुखमन्वभूत् ॥ ४१ ॥
इति श्रीजिननाथोक्त-सारधर्मप्रसादतः ।
भव्या भवन्ति सर्वत्र सुखिनो नात्र संशयः ॥ ४२ ॥
यैर्लोके धनधान्यादि-पुत्रपौत्रादिसम्पदाः ।
प्राप्यन्ते भो महाभव्या तासां धर्मो हि कारणम् ॥ ४३ ॥

पूजा श्रीमज्जिनेन्द्राणां पात्रदानं व्रतक्रिया ।
प्रौषधादिविधिः प्रोक्तः सद्धर्मोयं सतां श्रिये ॥ ४४ ॥
स व्याघ्रस्तु महापापी मुनिभक्षणमानसः ।
मृत्वा तेनैव पापेन संप्राप्तो नरकं कुधीः ॥ ४५ ॥
ज्ञात्वेति च महाभव्यैः पुण्यपापफलाफलम् ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां धर्मे कार्या मतिः सदा ॥ ४६ ॥
इति सदभयदाने पात्रभेदेन मान्ये
परमसुखनिदाने ध्वस्तपापारिमाने ।
जिनपतिकथितेस्मिन्सारसूत्रे पवित्रे
भवति जगति सिद्धा सत्कथेयं श्रिये च ॥ ४७ ॥

इति कथाकोशेऽभयदानफलप्राप्तशूकरस्याख्यानं समाप्तम् ।

११३-करकण्डुनृपस्याख्यानम् ।

श्रीमज्जिनं जगत्पूज्यं प्रणम्य प्रगदाम्यहम् ।
करकण्डुनरेन्द्रस्य सच्चरित्रं सुखावहम् ॥ १ ॥
यः पुरा श्रीजिनाधीशं व्रतेनैकेन मुग्धधीः ।
गोपालोपि समभ्यर्च्य प्राप्तवान्सुखमुत्तमम् ॥ २ ॥
तच्चरित्रं पुराणज्ञै-र्यथोक्तं पूर्वसूरिभिः ।
तेषां पादप्रसादेन संक्षेपेण तथोच्यते ॥ ३ ॥
अत्रैव भरतक्षेत्रे देशे कुन्तलसंज्ञके ।
पुरे तेरपुरे नीलमहानीलौ नरेश्वरौ ॥ ४ ॥

श्रेष्ठी श्रीवसुमित्राख्यो जिनपादाब्जषट्पदः ।
श्रेष्ठिनी वसुमत्याख्या तस्याभूद्धर्मवत्सला ॥ ५ ॥
तद्गोपो धनदत्तश्च कदाचिदटवीं गतः ।
सहस्रदलसंयुक्तं कमलं सरसि स्थितम् ॥ ६ ॥
दृष्ट्वा जग्राह तत्रस्था नागकन्या तदावदत् ।
रे रे गोपाल मे पद्मं यद्गृहीतं त्वयाधुना ॥ ७ ॥
सर्वोत्कृष्टाय दातव्यं यदीदं वाञ्छसि प्रियम् ।
ततोसौ नागकन्यायाः प्रतिपद्य वचो ध्रुवम् ॥ ८ ॥
तत्सुपद्मं समादाय गत्वा स्वश्रेष्ठिनं प्रति ।
जगौ तद्वृत्तकं सोपि श्रेष्ठी श्रीवसुमित्रवाक् ॥ ९ ॥
प्रणम्य भूपतिं प्राह पद्मवृत्तान्तमद्भुतम् ।
ततः स भूपतिश्चापि श्रेष्ठी गोपादिभिर्युतः ॥ १० ॥
सहस्रकूटनामानं गत्वा श्रीमज्जिनालयम् ।
नत्वा जिनं सुगुप्ताख्यं मुनीन्द्रं च प्रपृष्टवान् ॥ ११ ॥
ब्रूहि भो करुणासिन्धो मुने सद्धर्मतत्ववित् ।
सर्वोत्कृष्टो भवेत्कस्तु तच्छ्रुत्वा मुनिरब्रवीत् ॥ १२ ॥
भो नरेन्द्र जगत्स्वामी जिनो रागादिवर्जितः ।
उत्कृष्टोत्कृष्टमाहात्म्यो वर्तते भुवनार्चितः ॥ १३ ॥
तन्निशम्य मुनेर्वाक्यं सर्वे भूपादयो मुदा ।
जय त्वं जिननाथेति प्रोक्त्वा चक्रुर्नमस्क्रियाम् ॥ १४ ॥
तदा गोपालकः सोपि स्थित्वा श्रीमज्जिनाग्रतः ।
भो सर्वोत्कृष्ट ते पद्मं गृहाणेदमिति स्फुटम् ॥ १५ ॥

उक्त्वा जिनेन्द्रपादाब्जो-परिक्षिप्त्वा सुपंकजम् ।
गतो मुग्धजनानां च भवेत्सत्कर्म शर्मदम् ॥ १६ ॥
अत्रान्तरे कथामन्यां प्रवक्ष्ये शृणुतादरात् ।
स्रावस्तीपत्तने श्रेष्ठी सुधीः सागरदत्तवाक् ॥ १७ ॥
नागदत्ता कुधीस्तस्य भार्या पापात्प्रलम्पटा ।
सोमशर्मद्विजे कष्टं संजातासक्तमानसा ॥ १८ ॥
भवन्ति योषितः काश्चित्पापिन्यः कुलमन्दिरे ।
कृष्णधूमशिखाकोटि-सन्निभा दुष्टचेतसः ॥ १९ ॥
तदा सागरदत्तोसौ श्रेष्ठी श्रीजिनधर्मवित् ।
ज्ञात्वा तच्चेष्टितं कष्टं सुधीर्वैराग्यमाश्रितः ॥ २० ॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं भवभ्रमणनाशिनीम् ।
तपः कृत्वा दिवं गत्वा तस्मादागत्य शुद्धधीः ॥ २१ ॥
अंगदेशेत्र चम्पायां वसुपालमहीपतेः ।
वसुमत्यां सुतो राज्ञां संजातो दन्तिवाहनः ॥ २२ ॥
एवं यावत्सुखं राजा वसुपालः स तिष्ठति ।
तावत्स सोमशर्माख्यो द्विजो भ्रान्त्वा भवावलिम् ॥ २३ ॥
देशे कलिंगसंज्ञे च नर्मदातिलकाह्वयः ।
हस्ती जातः स्वपापेन प्राणी दुर्गतिभाग्भवेत् ॥ २४ ॥
केनचिच्च द्विपः सोपि वसुपालस्य भूपतेः ।
प्रेषितः कर्मयोगेन संस्थितस्तस्य मन्दिरे ॥ २५ ॥
नागदत्ता च सा मृत्वा तामलिप्तपुरे क्रमात् ।
नागदत्ता पुनर्जाता वसुदत्तवणिक्प्रिया ॥ २६ ॥

सा तदा द्वे सुते लेभे धनवत्यभिधां तथा ।
धनश्रियं च सद्रूप-मण्डितां गुणशालिनीम् ॥ २७ ॥
नागानन्दपुरे कश्चि-द्धनपालो वणिक्सुतः ।
तां धनादिवतीं कन्यां विधिना परिणीतवान् ॥ २८ ॥
वत्सदेशे सुविख्याते कोशाम्बीपत्तने शुभे ।
श्रेष्ठिनो वसुमित्रस्य धनश्रीः साभवत्प्रिया ॥ २९ ॥
तत्संसर्गेण सा तत्र धनश्रीः पुण्ययोगतः ।
श्रुत्वा धर्मं जिनेन्द्राणां संजाता श्राविकोत्तमा ॥ ३० ॥
कदाचिन्नागदत्ता च पुत्रीस्नेहेन सन्मुदा ।
धनश्रियो गृहं प्राप्ता तया पुत्र्या च सत्क्रिया ॥ ३१ ॥
प्राघूर्णक्रियां कृत्वा सा नीता मुनिसन्निधौ ।
हितान्यणुव्रतान्युच्चै-र्ग्राहिता सा पुनस्ततः ॥ ३२ ॥
बृहत्पुत्री समीपं च गता तत्र तया तदा ।
बुद्धभक्ता कृताप्येवं लब्ध्वा वारत्रयं पुनः ॥ ३३ ॥
ग्राहिताणुव्रतान्येवं धनवत्या निराकृता ।
ततश्चतुर्थवारे च गृहीत्वा तानि भक्तितः ॥ ३४ ॥
धर्मे श्रीमज्जिनेन्द्रोक्ते सारशर्मविधायिनि ।
दृढा भूत्वा स्वकालान्ते मृत्वा सत्पुण्यमाश्रिता ॥ ३५ ॥
कोशांब्यां वसुपालाख्य-भूपतेः कुलयोषितः ।
वसुमत्याः सुता जाता कुदिने शेषपापतः ॥ ३६ ॥
तदा राजादिभिः कन्या मंजूषायां निधाय सा ।
स्वनाममुद्रिकोपेता यमुनायां प्रवाहिता ॥ ३७ ॥

गंगायाः संगमं प्राप्य कुसुमाख्यमहापुरे ।
गता पद्महृदे दृष्टा मालाकारेण केनचित् ॥ ३८ ॥
नाम्ना कुसुमदत्तेन समानीय गृहं स्त्रियै ।
दत्ता कुसुममालायै तया सा बहुयत्नतः ॥ ३९ ॥
पद्महृदे यतः प्राप्ता ततः पद्मावतीति सा ।
प्रोक्त्वा संपोषिता तत्र संजाता नवयौवना ॥ ४० ॥
एकदा केनचिद्वीक्ष्य तस्या रूपं मनोहरम् ।
गत्वा शीघ्रं मुदा दन्ति-वाहनस्य प्रजल्पितम् ॥ ४१ ॥
सोप्यागत्य समालोक्य तद्रूपं चित्तरंजनम् ।
मालाकारं प्रतिप्राह ब्रूहि रे सत्यमेव च ॥ ४२ ॥
कस्येयं तनुजा चास्ति तच्छ्रुत्वा सोपि भो प्रभो ।
अस्याः पुंत्रीति मंजूषा तदग्रे क्षिप्तवान्द्रुतम् ॥ ४३ ॥
वीक्ष्य तत्रस्थितां राज-मुद्रिकां सुमनोहराम् ।
तां सज्जातिं परिज्ञात्वा दन्तिवाहनकोपि सः ॥ ४४ ॥
परिणीय महाभूत्या ततः पद्मावतीं सतीम् ।
समानीय गृहं शीघ्रं तया सार्द्धं सुखं स्थितः ॥ ४५ ॥
कियत्यपि गते काले वसुपालो नरेश्वरः ।
दृष्ट्वा स्वमस्तके श्वेतं केशं वा यमपाशकम् ॥ ४६ ॥
त्रिधा वैराग्यमासाद्य स्वराज्यं तनुजाय च ।
दत्वा तस्मै जिनेन्द्राणां महास्नपनपूर्वकम् ॥ ४७ ॥
गृहीत्वा संयमं सारं मुनिर्भूत्वा विचक्षणः ।
कृत्वा तपो जिनेन्द्रोक्तं स्वर्गं संप्राप्तवान्सुखम् ॥ ४८ ॥

राज्यं प्राप्य ततः सोपि दन्तिवाहनभूपतिः ।
भुंजानो विविधान्भोगान्संस्थितो धर्मतत्परः ॥ ४९ ॥
एकदा सा सती पद्मा-वती सुप्ता स्वमन्दिरे ।
स्वप्ने गजादिकं दृष्ट्वा स्वनाथस्य जगौ मुदा ॥ ५० ॥
तेनोक्तं ते सुतो भावी प्रतापी सिंहदर्शनात् ।
क्षत्रियाणां भवेन्मुख्यो हे प्रिये गजवीक्षणात् ॥ ५१ ॥
भास्करस्येक्षणाच्चापि प्रजाम्भोजप्रमोददः ।
इत्याकर्ण्य प्रभोर्वाक्यं सा सन्तुष्टा तरां हृदि ॥ ५२ ॥
तस्तेरपुरे गोपो धनदत्तः स शुद्धधीः ।
शेवालकहृदं प्राप्त-स्तरीतुं निजलीलया ॥ ५३ ॥
तत्र शेवालकेनोच्चे-र्वेष्टितो मरणं श्रितः ।
पुण्यात्पद्मावतीगर्भे समागत्य स्थितस्तदा ॥ ५४ ॥
तन्मृत्युं च परिज्ञाय स श्रेष्ठी वसुमित्रवाक् ।
संस्कार्य मृतकं तच्च स्वयं वैराग्यमाश्रितः ॥ ५५ ॥
नत्वा सुगुप्तनामानं मुनींद्रं भक्तिनिर्भरः ।
तस्माद्दीक्षां समादाय सत्तपोभिर्दिवं गतः ॥ ५६ ॥
अथ चम्पापुरे पद्मा-वत्यास्तस्याः सुमानसे ।
जातो दोहलकश्चेति सविद्युन्मेघवर्षणः ॥ ५७ ॥
अंकुशं स्वयमादाय धृत्वा रूपं नरस्य च ।
समारुह्य द्विपपृष्ठे कृत्वा राजानमप्यलम् ॥ ५८ ॥
पत्तनाद्बहिरित्युच्चै-र्भ्रमामि स्वेच्छया सुखम् ।
ज्ञात्वा तन्मानसं चेति दन्तिवाहनभूपतिः ॥ ५९ ॥

स्वमित्रवायुवेगेन खेचरेण महाधिया ।
कारयित्वा तदा मेघा-डम्बरं चपलान्वितम् ॥ ६० ॥
नर्मदातिलकं शीघ्र-मलं कृत्वा महागजम् ।
चटित्वा च तया सार्द्धं पूर्वोक्तविधिना पुरात् ॥ ६१ ॥
निर्गतस्तु महाभूत्या सेवकाद्यैः समन्वितः ।
अहो मनोरथः स्त्रीणां महाश्चर्यविधायकः ॥ ६२ ॥
ततः कर्मोदयात्सोपि करीन्द्रो दुष्टमानसः ।
तदंकुशं समुल्लंघ्य संचचाल प्रवेगतः ॥ ६३ ॥
महाटवीं गजः प्राप्त-स्तदा स नृपतिः सुधीः ।
वृक्षशाखां समादाय शिक्षां वा सद्गुरोर्दृढम् ॥ ६४ ॥
समुत्तीर्य ततश्चम्पा-पुरीं प्राप्तः स्वपुण्यतः ।
भवेत्पुण्यवतां पुंसा-मुपायः संकटेपि च ॥ ६५ ॥
ततोसौ नृपतिर्गेहे हा त्वं पद्मावति प्रिये ।
किं ते जातमिदं कष्टं कुर्वञ्छोकमिति स्फुटम् ॥ ६६ ॥
तदा विद्वज्जनैः श्रीम-ज्जैनतत्वविदाम्वरैः ।
सम्बोधितस्तदा दन्ति-वाहनः सुखतः स्थितः ॥ ६७ ॥
भवेत्सतां शुभं वाक्यं चन्दनादपि शीतलम् ।
अन्तस्तापं निहन्त्युच्चै-र्यत्क्षणात्सर्वदेहिनाम् ॥ ६८ ॥
सोपि हस्ती मदोन्मत्तो देशानुल्लंघ्य भूरिशः ।
गत्वा दक्षिणदेशं च सरः श्रान्तः प्रविष्टवान् ॥ ६९ ॥
तां तडागे गजारूढां विलोक्य जलदेवता ।
समुत्तार्य द्विपाच्छीघ्रं स्थापयामास तत्तटे ॥ ७० ॥

अत्रान्तरे समागत्य रुदन्तीं वीक्ष्य तां जगौ ।
मालाकारस्तु सम्बोध्य भो भगन्येहि मद्गृहम् ॥ ७१ ॥
तच्छ्रुत्वा च तया प्रोक्तं कस्त्वं सोपि भटाख्यकः ।
मालाकारोहमित्युक्त्वा हस्तिनागपुरे द्रुतम् ॥ ७२ ॥
सतीं स्वगृहमानीय स्वसारं प्रतिपद्य ताम् ।
स्थापयामास सामान्यो भवेत्कश्चिच्छुभाशयः ॥ ७३ ॥
तस्मिन्कापि गते तस्य भार्यया मारिदत्तया ।
गृहान्निर्घाटिता सा च प्राप्ता घोरं श्मशानके ॥ ७४ ॥
प्रसूता तनुजं तत्र सती सत्पुण्यसंयुतम् ।
सर्वलक्षणसम्पूर्णं विचित्रं विधिचेष्टितम् ॥ ७५ ॥
तस्मिन्नेव क्षणे तत्र तां प्रणम्य प्रभक्तितः ।
मातंगः संजगादेति मातस्त्वं स्वामिनी मम ॥ ७६ ॥
कस्त्वं तयोदिते सोपि जगौ चात्र खगाचले ।
दक्षिणश्रेणिसंस्थेस्मिन्पुरे विद्युत्प्रभे शुभे ॥ ७७ ॥
विद्युत्प्रभः खगाधीशो विद्युल्लेखास्ति कामिनी ।
तयोरहं समुत्पन्नो बालदेवाभिधः सुतः ॥ ७८ ॥
एकदा भार्यया सार्द्धं नाम्ना कनकमालया ।
दक्षिणाभिमुखं गच्छन्व्योमयानस्थितोहकम् ॥ ७९ ॥
मार्गे रामगिरौ दृष्ट्वा विमानस्खलनेन च ।
वीरभट्टारकं तस्यो-पसर्गस्तु मया कृतः ॥ ८० ॥
तदा पद्मावती देवी निजासनसुकम्पनात् ।
समागत्य जिनेन्द्राणां चरणाम्भोजषट्पदी ॥ ८१ ॥
उपसर्गं निवार्योच्चै-र्विद्याच्छेदं मम क्रुधा ।
चक्रे सद्दृष्टयो नैवं सहन्ते साधुपीडनम् ॥ ८२ ॥

विद्याच्छेदे तदा मात-र्दन्ती वा दन्तवर्जितः ।
निर्मदोहं तरां भूत्वा तां नत्वा प्रोक्तवानिति ॥ ८३ ॥
मया चाज्ञानभावेन कृतः साधूपसर्गकः ।
भो मातस्त्वं कृपां कृत्वा विद्यां मे देहि देवते ॥ ८४ ॥
पद्मावती महादेवी शान्ता भूत्वा तदा जगौ ।
हस्तिनागपुराभ्यर्णे श्मशाने भूरिभीतिदे ॥ ८५ ॥
यो बालकः गुणोपेतः संभविष्यति रे खग ।
तस्य रक्षां प्रयत्नेन त्वं करिष्यसि भक्तितः ॥ ८६ ॥
तद्राज्ये ते महाविद्याः सर्वाः सेत्स्यन्ति तच्छ्रुतेः ।
अहं मातंगवेषेण कुर्वन्यत्नं श्मशानके ॥ ८७ ॥
तिष्ठाम्यत्र तदाकर्ण्य राज्ञी पद्मावती च सा ।
सन्तुष्टा मानसे गाढं वर्द्धयैनं त्वमङ्गजम् ॥ ८८ ॥
इत्युक्त्वा तदा तस्य खेचरस्य समर्पयत् ।
सोपि बालं समादाय निधानमिव तुष्टवान् ॥ ८९ ॥
बालेदवखगाधीश-स्तं सुलक्षणसंयुतम् ।
ददौ कनकमालायै स्वस्त्रियै विलसत्प्रभम् ॥ ९० ॥
दृष्ट्वा तत्करयोः कण्डुं करकण्डुरयं सुतः ।
संप्रोक्त्वेति प्रयत्नात्तं पोषयामास सा सती ॥ ९१ ॥
अहो पूर्वप्रपुण्येन जन्तोः कष्टेपि सम्पदा ।
संभवत्येव तद्भव्यैः कार्यं पुण्यं जिनोदितम् ॥ ९२ ॥
पुण्यं सुपात्रसद्दानं पुण्यं श्रीजिनपूजनम् ।
पुण्यं व्रतोपवासाद्यैः संभवेच्छर्मदं सताम् ॥ ९३ ॥

ततः पद्मावती सा च गान्धारीक्षुल्लिकां शुभाम् ।
दृष्ट्वा सुपुण्यतो भक्त्या नत्वा प्रोक्त्वा स्ववृत्तकम् ॥ ९४ ॥
तया सार्द्धं प्रगत्वा च यत्नाल्लब्ध्वा जगाद्धितम् ।
समाधिगुप्तनामानं प्रणम्य मुनिसत्तमम् ॥ ९५ ॥
जगौ स्वामिन्कृपां कृत्वा दीक्षां मे देहि शुद्धधीः ।
तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह जैनतत्वविदाम्वरः ॥ ९६ ॥
अहो पुत्रि तवेदानीं दीक्षाकालो न विद्यते ।
पूर्वं वारत्रयं चक्रे त्वया सद्वृत्तखण्डनम् ॥ ९७ ॥
पश्चाद्व्रतं समाराध्य त्वं जातासि नृपात्मजा ।
दुःखं ते व्रतभङ्गेन जातं वारत्रयं ध्रुवम् ॥ ९८ ॥
तत्कर्माणि प्रशान्ते च पुत्रराज्यं विलोक्य वै ।
तेन सार्द्धं सुपुत्रेण दीक्षा ते संभविष्यति ॥ ९९ ॥
श्रुत्वा समाधिगुप्तस्य मुनेर्वाक्यं सुखप्रदम् ।
नत्वा तं क्षुल्लिकाभ्यर्णे भक्त्या सौख्येन सास्थिता ॥ १०० ॥
इतोसौ बालकस्तेन बालदेवखगेशिना ।
सारसर्वकलासूच्चैः संचक्रे कुशलो महान् ॥ १०१ ॥
एकदा तौ समागत्य करकण्डुखगाधिपौ ।
हस्तिनागपुरस्यैव श्मशाने लीलया स्थितौ ॥ १०२ ॥
तदा तत्र समायातो मुनीन्द्रो जयभद्रवाक् ।
दिव्यज्ञानी लब्धसत्तो मुनिवृन्दसमन्वितः ॥ १०३ ॥
केनचिद्यति ना तत्र दृष्ट्वा नरकपालके ।
मुखे लोचनयोर्जातं वेणुत्रयमनुत्तरम् ॥ १०४ ॥

गुरोः प्रोक्तमहो स्वामिन्निदं किं कौतुकं स च ।
तछ्रुत्वा जयभद्राख्यो मुनिः प्राह तपोनिधिः ॥ १०५ ॥
हस्तिनागपुरे योत्र महीराजा भविष्यति ।
अंकुशाच्छत्रदण्डाः स्यु-स्तस्य चैतत्रयेण वै ॥ १०६ ॥
विप्रेण केनचित्तत्र समाकर्ण्य मुनेर्वचः ।
वेणुत्रयं समुन्मूल्य गृहीतं सुधनाशया ॥ १०७ ॥
तस्माद्विप्रात्सुधीः सोपि करकण्डुर्गृहीतवान् ।
यस्य यन्मुनिनोद्दिष्टं तस्य तद्भवति ध्रुवम् ॥ १०८ ॥
कियद्दिनेषु तत्रैव हस्तिनागपुरे मृतः ।
बलवाहनभूपस्तु विपुत्रः कर्मयोगतः ॥ १०९ ॥
तत्सज्जनैस्तदा हस्ती प्रेषितो विधिपूर्वकम् ।
स्वराजान्वेषणायोच्चै-स्ततः सोपि महागजः ॥ ११० ॥
करकण्डुं समालोक्य सारपुण्यसमन्वितम् ।
अभिषिच्य प्रयत्नेन धृत्वा तं निजमस्तके ॥ १११ ॥
राजमन्दिरमानीय स्थापयामास विष्टरे ।
ततस्तैः सज्जनैश्चापि प्रोल्लसज्जयघोषणैः ॥ ११२ ॥
महोत्सवशतैः शीघ्रं करकण्डुर्गुणोज्वलः ।
स्वप्रभुर्विहितो भक्त्या किं न स्याज्जिनपूजनात् ॥ ११३ ॥
तत्क्षणे बालदेवस्य खेचरस्य सुपुण्यतः ।
विद्यासिद्धिरभूदुच्चै-स्ततोसौ परया मुदा ॥ ११४ ॥
पद्मावतीं सतीं तस्य मातरं तां समर्प्य च ।
सस्नेहं तं प्रणम्योच्चैः खगाद्रिं खचरोगमत् ॥ ११५ ॥

तदासौ करकण्डुश्च हस्तिनागपुरे प्रभुः ।
सर्वशत्रून्समुन्मूल्य कुर्वन्राज्यं सुखं स्थितः ॥ ११६ ॥
तत्प्रतापं समाकर्ण्य कदाचिद्दन्तिवाहनः ।
दूतं संप्रेषयामास तदन्ते सोपि दूतकः ॥ ११७ ॥
समागत्य प्रभुं नत्वा करकण्डुं जगाद च ।
भो प्रभो मत्प्रभुर्वक्ति दन्तिवाहननामभाक् ॥ ११८ ॥
त्वया राज्यं प्रकर्तव्यं कृत्वा मे सेवनं सदा ।
अन्यथा ते प्रभुत्त्वं च वर्त्तते नैव भूतले ॥ ११९ ॥
तच्छ्रुत्वासौ प्रभुः प्राह करकण्डुर्महाक्रुधा ।
रे रे दूत त्वकं याहि मारयामि न नीतिवित् ॥ १२० ॥
रणांगणे मया कार्यं भावि यत्क्रियते हि तत् ।
इत्युक्त्वा वेगतो दत्वा प्रयाणं स्वबलान्वितः ॥ १२१ ॥
गत्वा चम्पापुरीं बाह्ये संस्थितः सुभटाग्रणीः ।
कार्ये समागते न स्युः सद्भटा मन्दबुद्धयः ॥ १२२ ॥
दन्तिवाहनराजापि स्वसैन्येन विनिर्गतः ।
तदा व्यूहप्रतिव्यूह क्रमेण द्वे बले स्थिते ॥ १२३ ॥
तस्मिन्नेव क्षणे ज्ञात्वा सर्वं पद्मावती सती ।
गत्वा शीघ्रं स्वभर्तुश्च संजगौ सर्ववृत्तकम् ॥ १२४ ॥
तदा गजात्समुत्तीर्य-समागत्य च सम्मुखम् ।
पिता पुत्रश्च सोप्याशु करकण्डुर्विचक्षणः ॥ १२५ ॥
दृष्ट्वा परस्परं तत्र पितुः पादाम्बुजद्वयम् ।
ननाम विनयोपेतः सुपुत्रो भक्तिनिर्भरः ॥ १२६ ॥

दन्तिवाहनभूपोपि तं समालिंग्य सत्सुतम् ।
विभूत्या तूर्यनिर्घोषैः पुत्राद्यैः प्रविशत्पुरीम् ॥ १२७ ॥
भक्त्या जिनान्समभ्यर्च्य महास्नपनपूर्वकम् ।
तस्था गेहे सुखं धीमान्पूर्वपुण्यप्रसादतः ॥ १२८ ॥
अथान्यदिवसे राजा सोपि श्रीदन्तिवाहनः ।
विभूत्याष्टसहस्त्रोरु-कन्याभिः परमादरात् ॥ १२९ ॥
विवाहं कारयित्वाशु करकण्डोर्महाधियः ।
राजभारं च तस्यैव समर्प्य गुणशालिनः ॥ १३० ॥
स्वयं पद्मावतीदेव्या सार्द्धं पञ्चेन्द्रियोद्भवान् ।
भुंजानो विविधान्भोगान्मंदिरे सुखतः स्थितः ॥ १३१ ॥
राज्ये स्थित्वा सुधीः सोपि करकण्डुर्महानृपः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां धर्मकर्मपुरस्सरम् ॥ १३२ ॥
स्वप्रजां पुत्रवन्नित्यं पालयन्परया मुदा ।
पूर्वपुण्यप्रसादेन चिरं संतिष्ठते मुदा ॥ १३३ ॥
तदा मंत्रिवरैः प्रोक्तं प्रणम्य परमादरात् ।
श्रूयतां देव यद्भक्ते-रस्माभिः संनिगद्यते ॥ १३४ ॥
साधनीया भवद्भिस्तु चेरमाख्यस्तथा परः ।
पाण्डचश्चोलश्च राजानो गर्वपर्वतमाश्रिताः ॥ १३५ ॥
तच्छ्रुत्वासौ प्रभुस्तेषां प्रेषयामास दूतकम् ।
तेनागतेन संज्ञात्वा तेषां गर्वं च सत्वरम् ॥ १३६ ॥
गत्वा स्वयं क्रुधा युद्ध-स्थाने यावत्स्थितस्तदा ।
तेपि सम्मुखमागत्य चक्रुर्युद्धं सुदारुणम् ॥ १३७ ॥

करकण्डुस्ततो दृष्ट्वा भूपः स्वबलभङ्गकम् ।
महायुद्धं विधायोच्चै-र्धृत्वा शत्रुभूपतीन् ॥ १३८ ॥
क्रोपात्तन्मुकुटे पादं न्यसंस्तत्र विलोक्य च ।
जिनबिम्बानि हा कष्टं मया किं पापिना कृतम् ॥ १३९ ॥
इत्युक्त्वा तान्प्रति प्राह यूयं जैनाः किमत्र भो ।
तदातैरोमिति प्रोक्ते करकण्डुश्च भूपतिः ॥ १४० ॥
हा हा मया निकृष्टेन क्रोधान्धेन विनिर्मितः ।
उपसर्गो हि जैनानां महापापविधायकः ॥ १४१ ॥
इत्यात्मनिन्दनं कृत्वा कारयित्वा च तान्क्षमाम् ।
तैः सार्द्धं च समागच्छन्स्वदेशं प्रति संमुदा ॥ १४२ ॥
मार्गे तेरपुराभ्यर्णे संस्थितः सैन्यसंयुतः ।
तदागत्य च भिल्लाभ्यां तं प्रणम्य प्रजल्पितम् ॥ १४३ ॥
अस्मात्तेरपुरादस्ति दक्षिणस्यां दिशि प्रभो ।
गव्यूतिकान्तरे चारु पर्वतस्योपरिस्थितम् ॥ १४४ ॥
धाराशिवपुरं चास्ति सहस्रस्तंभसंभवम् ।
श्रीमज्जिनेन्द्रदेवस्य भवनं सुमनोहरम् ॥ १४५ ॥
तस्योपरि तथा शैल-मस्तके संप्रवर्त्तते ।
वल्मीकं तच्च सद्धस्ती शुभो भक्त्या दिनं प्रति ॥ १४६ ॥
शुण्डादण्डेन सत्तोयं गृहीत्वा कमलं सुधीः ।
समागत्य परीत्योच्चैः समभ्यर्च्य नमत्यलम् ॥ १४७ ॥
इत्याकर्ण्य प्रहर्षेण ताभ्यां दत्वोचितं द्रुतम् ।
करकण्डुर्महाराजो जिनभक्तिपरायणः ॥ १४८ ॥

गत्वा तत्र समालोक्य जिनेन्द्रभवनं शुभम् ।
समभ्यर्च्य जिनाधीशान्स्वर्गमोक्षसुखप्रदान् ॥ १४९ ॥
स्तुतिं चक्रे च सद्भक्त्या शर्मकोटिविधायिनीम् ।
प्रमादो नैव सद्दृष्टे-र्धर्मकर्मणि सर्वदा ॥ १५० ॥
ततो दृष्ट्वा च वल्मीकं पूजयन्तं महाद्विपम् ।
अत्रास्ति कारणं किंचि-च्चेतसि संविचार्य च ॥ १५१ ॥
तद्वल्मीकं समुन्मूल्य मंजूषां तत्र संस्थिताम् ।
दृष्ट्वोद्घाट्य प्रयत्नेन वीक्ष्य रत्नमयीं च सः ॥ १५२ ॥
श्रीमत्पार्श्वजिनेन्द्रस्य प्रतिमां पापनाशिनीम् ।
सन्तुष्टो मानसे चारु-सद्दृष्टिर्धर्मवत्सलः ॥ १५३ ॥
तस्याश्च भवनं चारु कारयित्वा सुभक्तितः ।
सुधीरग्गलदेवाख्यं स्थापयामास तत्र ताम् ॥ १५४ ॥
स मूलप्रतिमाङ्के च ग्रन्थिं दृष्ट्वा महीपतिः ।
शिल्पकर्मिणमा प्राह विरूपं दृश्यते तराम् ॥ १५५ ॥
इमां स्फोटय तच्छ्रुत्वा शिलाकर्मी जगाद च ।
अत्र तोयसिरा देव विद्यते तन्न भिद्यते ॥ १५६ ॥
भिद्यते चेदयं ग्रन्थि-स्तोयपूरो महानहो ।
निर्गच्छति ततस्तस्य महाग्रहवशेन च ॥ १५७ ॥
स्फोटितः शिल्पिनासौ च निर्गतो जलपूरकः ।
तस्मान्निर्गमने जातो राजादीनां च संशयः ॥ १५८ ॥
तदासौ करकण्डुश्च राजा श्रीजिनभक्तिभाक् ।
जलापनयनाग्राहं कृत्वा धर्मानुरागतः ॥ १५९ ॥

दर्भशय्यां समासीनो द्विधा संन्यासपूर्वकम् ।
तत्पुण्यतस्तदा शीघ्रं देवो नागकुमारकः ॥ १६० ॥
प्रत्यक्षीभूय तं प्राह नत्वा सद्विनयान्वितः ।
कालमाहात्म्यतो देव प्रतिमा रत्ननिर्मिता ॥ १६१ ॥
रक्षितुं शक्यते नैव तस्माच्च लयणं मया ।
तोयपूर्णं कृतं सर्वं भवद्भिस्तु ततः प्रभो ॥ १६२ ॥
जलापनयने चात्र कर्त्तव्यो नाग्रहः सुधीः ।
इत्याक्षेपेण देवेन स राजा धार्मिको महान् ॥ १६३ ॥
भक्त्या सद्धर्मशय्यायाः शीघ्रमुत्थापितो वदत् ।
केनेदं लयणं ब्रूहि कारितं सुमनोहरम् ॥ १६४ ॥
तथा वल्मीकमध्ये च प्रतिमा पापनाशिनी ।
स्थापिता केन तच्छ्रुत्वा जगौ नागकुमारकः ॥ ६५ ॥
अत्रैव विजयार्द्धेस्ति चोत्तरश्रेणिसंस्थितम् ।
नभस्तिलकमत्युच्चैः संपदाभिर्भृतं पुरम् ॥ १६६ ॥
तत्र चामितवेगाख्य-सुवेगौ खचराधिपौ ।
संजातौ श्रीजिनेन्द्राणां पादपद्मद्वये रतौ ॥ १६७ ॥
ज्येष्ठः परश्च भद्रात्मा तौ द्वौ चैकदिने मुदा ।
आर्यखण्डेत्र सद्भक्त्या समायातौ जिनालयान् ॥ १६८ ॥
वन्दितुं च समभ्यर्च्य मलयाख्यगिरौ जिनान् ।
भ्रमन्तौ पर्वते तत्र श्रीमत्पार्श्वजिनाकृतिम् ॥ १६९ ॥
दृष्ट्वा नत्वा समादाय मंजूषायां निधाय च ॥
अत्रैव सद्गिरौ चेमां मंजूषां सारयत्नतः ॥ १७० ॥

संस्थाप्य क्वापि गत्वा च पुनश्चागत्य भक्तितः ।
समुत्थापयतो याव-त्ता-वन्नोत्तिष्ठति त्वसौ ॥ १७१ ॥
ततस्तेरपुरं गत्वा प्रणम्यावधिलोचनम् ॥
मुनीन्द्रं प्राहतुः स्वामिन्कथं नोत्तिष्ठति प्रभो ॥ १७२ ॥
मंजूषिकेति संश्रुत्वा ज्ञानी प्राह मुनीश्वरः ।
अहो खगाधिपौ चेषा मंजूषा शर्मकारिणी ॥ १७३ ॥
लयणस्योपरि व्यक्तं लयणं संभविष्यति ।
वक्त्येवं च पुनर्वक्ति भावि यच्छ्रुणुतादरत् ॥ १७४ ॥
अयं सुवेगनामा च मृत्वार्त्तध्यानतो ध्रुवम् ।
गजो भूत्वा स्वमंजूषा-मिमां संपूजयिष्यति ॥ १७५ ॥
करकण्डुर्यदा राजा तां समुत्पाटयिष्याति ।
तदा द्विपस्तु संन्यासं कृत्वा स्वर्गं प्रयास्यति ॥ १७६ ॥
इत्याकर्ण्य मुनेर्वाक्यं मानसे तौ खगाधिपौ ।
प्रतिमायाः स्थिरत्वस्य संज्ञात्वा कारणं महत् ॥ १७७ ॥
पुनस्तं मुनिमानम्य पृष्टवन्तौ महामुने ।
कारितं लयणं केन शर्मदं भव्यदेहिनाम् ॥ १७८ ॥
तन्निशम्य मुनिः सोपि जगौ संज्ञानविग्रहः ।
इहैव विजयार्द्धे च दक्षिणश्रेणिसंस्थिते ॥ १७९ ॥
रथनूपुरसन्नाम्नि पुरे ख्यातौ खगाधिपौ ।
जातौ नीलमहानीलौ संग्रामे शत्रुभिः क्रुधा ॥ १८० ॥
प्राप्तविद्याधनच्छेदौ ताविहागत्य पर्वते ।
कृत्वा वासं सुखं स्थित्वा कियत्कालं सुधार्मिकौ ॥ १८१ ॥

कारयित्वा जिनेन्द्राणां लयणं सौख्यकारणम् ।
पुण्याद्विद्याः समाप्योच्चै-र्विजयार्द्धे गतौ सुखम् ॥ १८२ ॥
ततस्तौ खेचरेन्द्रौ च तपः श्रीमज्जिनोदितम् ।
कृत्वा नीलमहानीलौ प्राप्तौ स्वर्गं गुणोज्वलौ ॥ १८३ ॥
इत्यादिसर्वसम्बन्धं संश्रुत्वामितवेगवाक् ।
ज्येष्ठो दीक्षां समादाय खगेशो सुतपोनिधिः ॥ १८४ ॥
कालं समाधिना कृत्वा स्वर्गे ब्रह्मोत्तराभिधम् ।
गत्वा महर्द्धिको देवः संजातो जिनभक्तिभाक् ॥ १८५ ॥
आर्त्तध्यानेन मृत्वा स सुवेगस्तु खगाधिपः ।
हस्ती जातोयमत्युच्चै-स्तेन देवेन बोधितः ॥ १८६ ॥
भूत्वा जातिस्मरः पुण्या-त्सम्यक्त्वाणुव्रतानि च ।
समादाय च वल्मीकं भक्त्या संपूजयन्स्थितः ॥ १८७ ॥
करकण्डो महीनाथ भो त्वयोत्पाटिते सति ।
वल्मीके सोपि हस्ती च संन्यासेनात्र तिष्ठति ॥ १८८ ॥
त्वं च तेरपुरेत्रैव पुरा गोपोसि भो प्रभो ।
पूजया जिननाथस्य राजा जातोसि साम्प्रतम् ॥ १८९ ॥
तस्मादिदं जगत्सारं सुधीः श्रीमज्जिनार्चनम् ।
येन प्राणी भवत्येवं क्षणात्सत्सौख्यभाजनम् ॥ १९० ॥
इत्युच्चैस्तं सुराजानं करकण्डुं गुणोज्वलम् ।
सुधीर्नागकुमारोसौ संबोध्यैवं सुरोत्तमः ॥ १९१ ॥
नत्वा धर्मानुरागेण संप्राप्तः स्वालयं मुदा ।
अहो पुण्येन जन्तूनां मित्रत्वं तादृशं भवेत् ॥ १९२ ॥

ततस्तेन नरेन्द्रेण तृतीयदिवसे द्रुतम् ।
कारितं जैनसद्धर्म-श्रवणं तस्य दन्तिनः ॥ १९३ ॥
सोऽपि दन्ती तदा मृत्वा सम्यक्त्वपरिणामभाक् ।
सहस्रारं दिवं प्राप्य देवो जातो महर्द्धिकः ॥ १९४ ॥
पशुश्चापि सुरो भूत्वा बभूव सुखभाजनम् ।
भवेच्छ्रीमज्जिनेन्द्रोक्त-धर्मात्किं प्राणिनां धनम् ॥ १९५ ॥
करकण्डुश्च भूपालो जैनधर्मधुरंधरः ।
स्वस्य मातुस्तथा बाल-देवस्योच्चैः सुनामतः ॥ १९६ ॥
कारयित्वा सुधीस्तत्र लयणत्रयमुत्तमम् ।
तत्प्रतिष्ठां महाभूत्या शीघ्रं निर्माप्य सादरात् ॥ १९७ ॥
स्वपुत्रवसुपालाय राज्यं दत्वा विरक्तधीः ।
संसारदेहभोगांश्च ज्ञात्वासौ बुद्बुदोपमान् ॥ १९८ ॥
पित्रा क्षत्रियभूपाद्यै-श्चरमाद्यैः विचक्षणः ।
पद्मावत्या समं मात्रा दीक्षां जैनेश्वरीं श्रितः ॥ १९९ ॥
कृत्वा तपो जगत्सारं संसारम्भोधिपारदम् ।
निर्मलं निर्मलः सोऽपि संन्यासेन समं स्थिरः ॥ २०० ॥
ध्यायन्पादाम्बुजद्वन्द्वं जिनेन्द्राणां सुखप्रदम् ।
सहस्रारं दिवं प्राप्तः करकण्डुमुनीश्वरः ॥ २०१ ॥
दन्तिवाहनभूपाद्याः कालान्ते तेऽपि सद्धियः ।
स्वस्वपुण्यानुसारेण स्वर्गलोकं ययुः सुखम् ॥ २०२ ॥
पुरा पद्मेन संपूज्य श्रीजिनं कोटिशर्मदम् ।
करकण्डुः सुखं प्राप्तः किं पुनश्चाष्टधार्चनैः ॥ २०३ ॥

ये भव्याः श्रीजिनेन्द्राणां भक्त्या पादद्वयार्चनम् ।
नित्यमेव प्रकुर्वन्ति ते लभन्ते परं सुखम् ॥ २०४ ॥

गोपालो धनदत्तवागपि पुरा मुग्धोऽपि पद्मेन च
श्रीमज्जैनपदाम्बुजं शुभतरं संपूज्य पूज्योभवत् ।
देवाद्यैः करकण्डुनामनृपतिः श्रीमत्प्रभाचन्द्रव–
तस्माद्भव्यजनैर्जिनेन्द्रचरणाम्भोजं सदाभ्यर्च्यते ॥२०५॥

इति कथाकोशे जिनपूजाफलप्राप्तकरकण्डुनृपते-राख्यानं समाप्तम् ।

११४–जिनपूजाफलप्राप्तभेकाख्यानम् ।

श्रीमज्जिनं जगत्पूज्यं भारतीं भुवनोत्तमाम् ।
वक्ष्येहं सद्गुरुं नत्वा जिनपूजाफलोदयम् ॥ १ ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां पूजा पापप्रणाशिनी ।
स्वर्गमोक्षप्रदा प्रोक्ता प्रत्यक्षं परमागमे ॥ २ ॥
यः करोति सुधीर्भक्त्या पवित्रो धर्महेतवे ।
स एव दर्शने शुद्धो महाभव्यो न संशयः ॥ ३ ॥
यस्तस्या निन्दकः पापी स निन्द्यो जगति ध्रुवम् ।
दुःखदारिद्र्यरोगादि-दुर्गतेर्भाजनं भवेत् ॥ ४ ॥
स्नपनं पूजनं प्रीत्या स्तवनं जपनं तथा ।
जिनानामाकृतीनां च कुर्याद्भव्यमतल्लिकः ॥ ५ ॥

जिनयात्राप्रतिष्ठाभि-र्गरिष्ठाभिर्विशिष्टधीः ।
प्रासादप्रतिमोद्धारैः कुर्याद्धर्मप्रभावनाम् ॥ ६ ॥
यस्यां संक्रियमाणायां सत्यं स्वर्गापवर्गयोः ।
प्राप्यते कारणं पूतं सम्यग्दर्शनमुत्तमम् ॥ ७ ॥
इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्क-नरेन्द्रार्चितपंकजाः ।
श्रीजिनेन्द्राः सदा पूज्याः सतां शर्मश्रिये मुदा ॥ ८ ॥
जिनेन्द्रार्चा महापुण्यं प्रसिद्धवचनं यतः ।
जिनपूजासमं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ॥ ९ ॥
अनेकैर्भव्यसंमुख्यै-र्भरतादिभिरुत्तमैः ।
प्राप्तं जिनेन्द्रपूजायाः फलं केनात्र वर्ण्यते ॥ १० ॥
जलाद्यैरष्टभिर्द्रव्यै-र्जिनार्चायाः किमुच्यते ।
पद्मेनैकेन भेकेन फलं प्राप्तं यदुत्तमम् ॥ ११ ॥

तथा च समन्तभद्रस्वामिभिरुक्तं—

अर्हच्चरणसपर्या महानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥

अस्य कथा—

अथ जम्बूमति द्वीपे मेरोर्दक्षिण दिक्कृते ।
क्षेत्रे तीर्थेशिनां जन्म-पवित्रेत्रैव भारते ॥ १२ ॥
देशोस्ति मगधो नाम्ना निवेशो वा जगच्छ्रियः ।
जना यत्र वसन्त्युच्चै-र्धनैर्धान्यैः सुधर्मतः ॥ १३ ॥
तत्र राजगृहं नाम नगरं गुणिभिर्वरम् ।
भोगोपभोगसामग्री-प्राप्त्या यत्र निरन्तरम् । ॥ १४ ॥

यन्नराः सुरशोभाढ्या नार्यो वा सुरकन्यकाः ।
सम्यक्त्वव्रतसम्पन्ना-स्तस्मात्स्वर्गाधिकं पुरम् ॥ १५ ॥
यत्र शर्मकरो धर्मः प्रसिद्धो जिनभाषितः ।
तस्य किं वर्ण्यते शोभा त्रैलोक्यप्रीतिदायिनी ॥ १६ ॥
तत्पाताभूत्पवित्रात्मा श्रेणिको दर्शनप्रियः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्ज-सेवनैकमधुव्रतः ॥ १७ ॥
यः प्रतापः स्वशत्रूणां शान्तो वा चन्द्रमाः सताम् ।
प्रजानां पालने नित्यं पिता वा हितकारकः ॥ १८ ॥
तस्य राज्ञी महासाध्वी रूपसौभाग्यशालिनी ।
चेलिनी जिनचन्द्राणां चरणार्चनकोविदा ॥ १९ ॥
सम्यक्त्वव्रतसद्भूषा-रत्नभूषाविराजिता ।
सर्वविज्ञानसम्पन्ना जिनवाणीव सुन्दरा ॥ २० ॥
नागदत्तोभवच्छ्रेष्ठी परमेष्ठिपराङ्मुखः ।
श्रेष्ठिनी भवदत्ताख्या तस्याभूत्प्राणवल्लभा ॥ २१ ॥
सर्वदासौ महामाया-वेष्टितः श्रेष्ठिकः कुधीः ।
एकदा स्वाङ्गणे वाप्यां मृत्वा भेको महानभूत् ॥ २२ ॥
नरो मृत्वा यतो जातः पापात्तोयचरोत्र सः ।
तस्मात्पापं न कर्त्तव्यं भो भव्याः संकटेपि च ॥ २३ ॥
कदाचित्सा समायाता भवदत्ता जलार्थिनी ।
तां विलोक्य स मण्डूको जातो जातिस्मरस्ततः ॥ २३ ॥
तस्याः समीपमामत्य तदङ्गे चटितो द्रुतम् ।
निर्घाटितस्तया सोपि रोमाञ्चितशरीरया ॥ २५ ॥

तथापि पूर्वसम्बन्धाद्द-र्दुरः प्रीतिनिर्भरः ।
तस्यामुच्चैश्चटत्येव मत्वेति प्राक्तनी प्रिया ॥ २६ ॥
ततस्तया ममेष्टोयं कोपि जातः कुयोनिजः ।
इति ज्ञात्वावधिज्ञानी पृष्टः श्रीसुव्रतो मुनिः ॥ २७ ॥
तेनोक्तं सुव्रताख्येन मुनिना ज्ञानचक्षुषा ।
मूढस्ते नागदत्तोयं पतिर्मायासमन्वितः ॥ २८ ॥
संजातः पापतः पुत्रि मण्डूको मोहमण्डितः ।
श्रुत्वेति तं मुनिं नत्वा भक्त्या संसारतारणम् ॥ २९ ॥
तयासौ मोहतो नीत्वा दर्दुरः स्वगृहे धृतः ।
तत्र हृष्टमनाः सोपि तस्थौ यावत्ततोन्यदा ॥ ३० ॥
आगत्य वनपालस्तं राजानं श्रेणिकं मुदा ।
नत्वा व्यजिज्ञपद्देव दिव्ये वैभारपर्वते ॥ ३१ ॥
इन्द्रनागेन्द्रचन्द्राद्यैः समर्चितपदद्वयः ।
वर्द्धमानो जिनेन्द्रोसौ समायातो जगत्प्रियः ॥ ३२ ॥
श्रुत्वेति श्रेणिको राजा जिनभक्तिपरायणः ।
दत्वा तस्मै महादानं परोक्षे कृतवन्दनः ॥ ३३ ॥
आनन्ददायिनीं भेरीं दापयित्वातिसंभ्रमी ।
चलच्चामरसद्भूत्या चलितो निश्चलाशयः ॥ ३४ ॥
समवादिसृतिं दृष्ट्वा हृष्टो राजा जगद्धिताम् ।
मेघमालां मयूरो वा धातुर्वादीव सद्रसम् ॥ ३५ ॥
तं वीक्ष्य केवलज्ञान-लोचनं परमेष्ठिनम् ।
प्रणम्य प्रातिहार्यादि-संयुक्तं सेवितं सुरैः ॥ ३६ ॥

विशिष्टाष्टमहाद्रव्यै-र्जलाद्यैर्जिनपुङ्गवम् ।
संपूज्य जगतां पूज्यं चकार स्तवनं शुभम् ॥ ३७ ॥
जय त्वं जिनदेवात्र कर्मेन्धनहुताशनः ।
दुःखवारिधिदावाग्नि-शमनैकघनाघनः ॥ ३८ ॥
जय त्वं जिनसज्ज्ञानो लोकालोकप्रकाशकः ।
वचनांशुलसज्जालै-र्भव्यपद्मविकाशकः ॥ ३९ ॥
जय जन्मजरामृत्यु-ज्वरनाशभिषग्वरः ।
अनेकगुणमाणिक्य-रोहणाद्रे महास्थिरः ॥ ४० ॥
त्वं त्राता जगतां तात त्वं त्रैलोक्यविभूषणम् ।
त्वं ह्यकारणसब्दन्धु-स्त्वमाप त्क्षयकारणम् ॥ ४१ ॥
त्वत्पादसेवया देव यत्सुखं प्राप्यते ध्रुवम् ।
अन्यैर्भूरितरक्लेशैः स्वप्ने तदपि दुर्लभम् ॥ ४२ ॥
ततः श्रीमज्जिनाधीश भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी ।
त्वद्भक्तिर्मे सदा भूया-दासंसारं शुभप्रदा ॥ ४३ ॥
इति स्तुत्वा जिनाधीशं भक्त्या नत्वा मुहुर्मुहुः ।
गौतमादीन्मुनींश्चापि प्रणम्य श्रेणिकः स्थितः ॥ ४४ ॥
तथा च भवदत्तादौ जिनभक्त्या गते सति ।
वन्दनार्थं जिनेन्द्रस्य शर्मकोटिविधायिनः ॥ ४५ ॥
श्रुत्वा सुरखगेन्द्रादि-वादित्रध्वनिमम्बरे ।
प्रोल्लसज्जयघोषं च स भेको जातसंस्मृतिः ॥ ४६ ॥
तद्वापीसंभवं पद्मं समादाय समुत्सुकः ।
श्रीमज्जिनेद्रपादाब्ज-पूजार्थं चलितो भृशम् ॥ ४७ ॥

मार्गे गच्छन्मुदा हस्ति-पादेनैव प्रचम्पितः ।
त्रैलोक्यप्रभुपूज्यस्य वर्द्धमानजिनेशिनः ॥ ४८ ॥
पूजानुरागतोत्यन्त-समर्जितशुभोदयात् ।
मृत्वा सौधर्मकल्पेसौ देवो जातो महर्द्धिकः ॥ ४९ ॥
क्व भेकः क्व च देवोभू-न्न हि चित्रं जगत्त्रये ।
जिनपूजाप्रसादेन किं शुभं यन्न जायते ॥ ५० ॥
तत्र चान्तर्मुहूर्तेन भूत्वासौ नवयौवनः ।
रूपलावण्यसम्पन्नः पूर्वपुण्येन संयुतः ॥ ५१ ॥
नाना रत्नप्रभाजालै-र्जटिलो दिव्यवस्त्रभाक् ।
सुगन्धकुसुमोद्दाम-मालालंकृतविग्रहः ॥ ५२ ॥
लब्ध्वावधिमहाबोध-ज्ञानं पूर्वभवान्तरे ।
पूजया जिननाथस्य भावनामात्रतो यतः ॥ ५३ ॥
देवो जातोस्मि दिव्योहं तस्मात्सा क्रियते तराम् ।
संविचार्येति सद्भक्त्या मुकुटाग्रे विधाय च ॥ ५४ ॥
भेकाचिन्हं महाभूत्या समागत्य सुरोत्तमः ।
प्रवृत्तो जिनपादाब्ज-पूजां कर्त्तुं प्रहर्षतः ॥ ५५ ॥
तं पूजां जिनराजस्य कुर्वाणं शर्मदायिनीम् ।
विलोक्य श्रेणिको राजा नत्वा संपृष्टवान्गुरुम् ॥ ५६ ॥
स्वामिन्नस्य किरीटाग्रे भेकचिन्हं प्रवर्त्तते ।
तस्य कि कारणं ब्रूहि संशयध्वान्तभास्करः ॥ ५७ ॥
तच्छ्रुत्वा गौतमस्वामी संज्ञानमयविग्रहः ।
अवोचत्तस्य वृत्तान्तं सर्वमेव प्रपञ्चतः ॥ ५८ ॥

श्रुत्वा तद्भव्यलोकास्ते सर्वे श्रीश्रेणिकादयः ।
पूजाफलं जगत्सारं तस्यां जातास्तरां रताः ॥ ५९ ॥

मत्वेति श्रीजिनेन्द्राणां पूजातिशयमुत्तमम् ।
महाभव्यैः सदाकार्या जिनार्चा शर्मकारिणी ॥ ६० ॥

धनं धान्यं महाभाग्यं सौभाग्यं राज्यसम्पदा ।
पुत्रमित्रकलत्रं च सत्कुलं गोत्रमुत्तमम् ॥ ६१ ।

दीर्घायुर्दुर्गतेर्नाशो विनाशः पापसन्ततेः ।
अभीष्टफलसम्प्राप्ति-र्मणिमुक्ताफलादिकम् ॥ ६२ ॥

सम्यक्त्वं मुक्तिसद्बीजं भवभ्रमणनाशनम् ।
सद्विद्या सच्चरित्रं च सौख्यं स्वर्गापवर्गयोः ॥ ६३ ॥

प्राप्यते भो महाभव्या जिनपूजाप्रसादतः ।
तस्मात्प्रमादमुत्सृत्य कार्या सा सौख्यदायिनी ॥ ६४ ॥

सम्यक्त्वद्रुमसिञ्चने शुभतरा कादम्बिनी बोधदा
भव्यानां वरभारतीव नितरां दूती सतां सम्पदे ।
मुक्तिप्रोन्नतमन्दिरस्य सुखदा सोपानपंक्तिः शुभा
पायाद्वस्तु समस्तसौख्यजननी पूजा जिनानां सदा ॥६५॥

शक्राः स्नानविधायिनः सुरगिरिः स्नानप्रपीठं पयः
सिन्धुर्यस्य सुकुण्डिका सुरगणाः सत्किंकराः सादराः ।
नर्त्तक्योप्सरसः सुकीर्त्तिमुखरा गन्धर्वसन्नाकिनो
जाता जन्ममहोत्सवेत्र भवतां स श्रीजिनः शं क्रियात् ॥६६॥

श्रीमच्चारुमयूरवाहनपरा पद्मासना निर्मला
मिथ्याध्वान्तभरप्रणाशविलसद्भास्वत्प्रभाभासुरा ।
भव्याब्जप्रवनप्रमोदजननी सन्मार्गसंदर्शिनी
देवेन्द्रादिसमर्चिता जिनपतेर्जीयात्सतां भारती ॥ ६७ ॥

जातः श्रीमति मूलसंघतिलके सारस्वते सच्छुभे
गच्छे स्वच्छतरे प्रसिद्धमहिमा श्रीकुन्दकुन्दान्वये ।
श्रीजैनागमसिन्धुवर्द्धनविधुर्विद्वज्जनैः सेवितः
श्रीमत्सूरिमतल्लिको गुणनिधिर्जीयात्प्रभाचन्द्रवाक् ॥ ६८ ॥

श्रीमज्जैनपदाब्जसारमधुकृच्छ्रीमूलसंघाग्रणीः
सम्यग्दर्शनसाधुबोधविलसच्चारित्रचूडामणिः
विद्यानन्दिगुरुप्रपट्टकमलोल्लासप्रदो भास्करः
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुर्भूयात्सतां शर्मणे ॥ ६९ ॥

श्रीसर्वज्ञविशुद्धिभक्तिनिरतो भव्यौघसम्बोधकः
कामक्रूरकरीन्द्रदुर्मदलये कण्ठीरवो निष्ठुरः ।
ज्ञानध्यानरतः प्रसिद्धमहिमा रत्नत्रयालंकृतः
कुर्याच्छर्मसतां प्रमोदजनकः श्रीसिंहनन्दी ॥ ७० ॥

प्रोद्यत्सम्यक्त्वरत्नो जिनकथितमहासप्तभङ्गीतरङ्गै—
र्निर्धूतैकान्तमिथ्यामतमलनिकरः क्रोधनक्रादिदूरः ।
श्रीमज्जैनेन्द्रवाक्यामृतविशदरसः श्रीजिनेन्दुप्रवृद्धि—
र्जीयान्मे सूरिवर्यो व्रतनिचयलसत्पुण्यपण्यः श्रुताब्धिः॥७१॥